चन्द्रकान्त

वेदान्तज्ञानका मुख्यग्रन्थ

तृतीय प्रवाह—अच्युतपदारोहण

गुजराती भाषामें मूलग्रन्थकर्त्ता

इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

संपादक—'गुजराती'

(हिन्दी आवृत्ति)

द्वितीय भाग

"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेसमें मणिलाल इच्छा
छापकर प्रसिद्ध किया.
सासून बिल्डिंग्स, सर्कल कोट मुंबई.

विक्रमाब्द १९७७ सन १९२०

मूल्य रु. ४-८-०

विवेक

(प्रथमावृत्ति)

संधिकाल (प्रातः और संध्यासमय) का 'प्रकाश' सदा विचित्रतासे भरपूर होता है और इस 'प्रकाश' की प्रभामें अनेक रंग हिलोरें लेते जान पड़ते हैं। उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दी (सदी) के मिलन समय (संधिकाल) में आँखोंकि समीप विलक्षणताही ऊपर नीचे हो रही है:—सबमें व्याप्त चैतन्य आत्माका विवेचन सिर्फ जड़भूमिकाहीकी भाषामें उपमा रहित की जाती है और अद्भुत अद्वैत दर्शन जो विश्वके विश्वका वेद है, प्रेमकी एकताका गूढ़ मंत्र है और जिसके सहवाससे नई दिव्य दृष्टि ही पैदा होती है, जिस स्वरूपके देखनेसे विश्वको विश्व पैदा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है, उस अद्वितीय दर्शनको जड़वादी, प्रेमके तंत्र (हिकमत) को न जाननेवालोंने अरुचिकर, जड़, आनन्दरहित नीरस बना डाला है। अद्वैत दर्शनके अधिकारी लोग, जो दुरुपयोग कर छलछिद्र (प्रतारणा) और पापकीही बढ़ती करते हैं, वह सिर्फ उस कुतर्कका फल है जो सिर्फ शब्दोंकि भ्रमसे पैदा होती है। इस कुतर्कने मनुष्यके जीवनको उदार (पारमार्थिक) स्थलसे भ्रष्ट कर कैसी दशामें ला पटका है, इसके लिये शब्द नहीं हैं। अद्वितीय ब्रह्म, प्रेम ब्रह्मका स्पर्श करो, स्पर्श मात्रसे विपुल विश्वैक्य अनुभवमें आवेगा—'जगद्बंधु' के वैभवसे नहीं। चेतनको जानो, कर्तव्यमें नई स्फूर्ति आवेगी। शब्दोंका झूठा व्यापार त्यागो, नये जीवनकी स्थितिमें उतरोगे—स्वार्थके साथ परमार्थ (उपकार) का कैसा समीपी संबंध है, यह जानोगे। यह सनातन है कि अभेदके प्रकाशमें दयाका जाननेवालाही भेदके भ्रमके पारको पहुँच पाता है। अलंघ्य (जो पार न किया जा सके) प्रेमके पारको पानेको पानेवालाही अद्वितीय प्रेमके सच्चे स्वरूपका दर्शन पा सकता है। इस ग्रंथका उद्देश अंत रहित भेदकी अभेदता बतलाना है।—भेदकी आरसी (आयना) में अभेदका दर्शन कराना है।

विश्वका प्रेम ऐसी अभेदतासे एकता (योग) का ज्ञान कराता है। यदि बारीक नजरसे चारों तरफ या एक तरफ बुद्धिमत्तासे देखोगे तो दीख पड़ेगा कि राज्य या व्यवहार, धर्म या कर्म सर्वोमें अद्वितीय (एक) परब्रह्म दिखाई देता है! परन्तु इसका भेद जाननेवाला भी नहीं जान सकता, तो अजानकी क्या सामर्थ्य? परन्तु

यह सत्य है। जो सादा और किसी भी टीमटाम बिना है, उसको जाननेके लिये आजकलकी प्रवृत्ति–प्रकृति समर्थ नहीं। वह तो किसी नई नई तरंगोंमें ही हिलोरें लेती है। वह राग द्वेषमें भटकती है। वह संसारमें जो कुछ नया और सत्य देखती है—विश्वमें उससे जुदाही है। उसके लिये पुराण झूठे दुनिया-दारीमें कुशल लोग दैवी संपत्के लिये निर्माण हुई उत्कृष्ट अभिलाषा, पारमार्थिक उदार और उत्कर्षकारक बातोंको तुच्छ और आराम करनेके समयकी गप्पोंमें डाल देते हैं। ऐसी शेखीसे भरी हुई चतुराई शायद व्यवहारमें ठीक मानी जाय; परन्तु वह हानि करनेवाली और सोनेकी थालीमें लोहेकी मेखके समान है। व्यवहार कुशल मनुष्य कनक (सोना) कान्ता (स्त्री) और कीर्ति (यश) को भलेही भजें, अनेक घटाटोपकर बादशाही भले भोगें परन्तु ईश्वरमें लीन परम रहस्योंके जाननेवालेका आनन्दमय संसार उसीका है। उसीमें वह आनन्दकी हिलोरें लेता है। ऐसे आनन्दकी तरंगोमें लीन हुए जीवके लिये चाहे संसार जल जाय, मरजाय, घर जाय, उसकी उसे परवा नहीं, उसके और जो प्रेमका शुद्ध स्वरूप समझता है उसके लिये इस द्वैतमें अद्वैतरूप दीखता हुआ तीसरा प्रवाह है। यह प्रवाह अभेदताके बहुत बड़े और इंद्रियोंसे न जाने जानेवाले स्थानमें बह गया है। तुम मेरे साथ आओ वहां (कहां ? ब्रह्मधाममें) तुमको मणिमाणिक्यमय अमर सुन्दर किनारा दीख पड़ेगा, स्वाभाविक आनन्दका सागर दीखेगा, पंचतत्त्वोंका बना विश्व दिखेगा। वहां छूनेसे तेज लगनेवाले रत्न नहीं, उनपर तो क्षणभर भी बैठा नहीं जा सकता—बैठतेही ताप (जलन) होती। परंतु वहां वे रत्नोंके आसन जो सबसे कोमल और सबसे अधिक सुख देनेवाले हैं, दिखेंगे। एकतासे अनेकताका लय होते दिखेगा। मेरे जैसे होओ, वहां तुमको नित्यकी सुखद सारंगी सुनाई देगी। वासनासे लुभानेवाली नहीं परन्तु विश्वैक्यके विपुल हृदयकारक गानके मंत्रकी अश्राव्य (जो कभी न सुनी गई हो) ध्वनि सुनानेवाली अप्सरायें दिखेंगी। वहां मैं तुम्हें बताऊंगा कि जो आनंद इस विश्वमें है वह आनंद वहां नहीं है। यहांका आनन्द, प्रकाशसे झिलझिलाता है और नित्य है—आँखोंको दुःख नहीं परन्तु सुख देता है। जिस आनन्दमें व्यवहारचतुर आनन्द मानता है वह थोड़े समयका है। परमार्थचतुरका आनन्द अद्वितीय और नित्य है! प्रवाहके परेका आनन्द चिरस्थिर है, युवा या जरा (वृद्धापन) से रहित है—मन और शरीरके परेका अमर (परमेश्वर) प्रेममय है। अभेदमें विजय पानेसे जो शान्तिमय आनन्द प्राप्त होता है वह, प्रेम—जीवन और सत्ताके

परम फलका देनेवाला है। यह फल इच्छाओंके नाश होनेसे प्राप्त होता है. वासना-रहित होनाही मोक्ष—दिव्य प्रेमी बननाही मोक्ष—जन्म मरण रहित होनाही मोक्ष और वही ब्रह्म। यह ब्रह्म कहां है ? इच्छाओंको नाशकर, जन्ममरणको पारकर, परब्रह्मका स्वरूप देखनेके लिये धन्वन्तरिके कहे हुए दिव्य नेत्र लाओ। तुम्हें बताऊंगा कि वह ब्रह्म यहीं है। *

ऐसे अभेदपनका मार्ग बतानेवाला यह ग्रंथ है। रचना मेरी नवीन की हुई मालूम होगी। अद्वैतवादियोंको शंका होगी परंतु गूढ़तामें सतत (सदा) अभ्यासका प्रकाश जाननेसे साधकको 'सत्य' तत्त्वका दर्शन होगा। ऐसा होते भी मैं जानता हूँ कि इस दर्शनकी अपनी कृतिमें मैंने कहां ठोकर खाई है। मैं जानता हूँ कि कहां कमी रही है, मैं जानता हूँ कि मेरी रक्षा नहीं है। अभेद ही नित्य है, तो भी ऐसे अभेदको मैंने भेदवाला बताकर अभेदपनेका अवलम्बन लिया है। और यह भी जानता हूँ कि भेदसे अभेदका—अनंत लीलामय अभेदका ही दर्शन करानेका मैंने प्रयास भी किया है। इस प्रयास (परिश्रम) का प्रकाश करनेके लिये विवेचककी जरूरत है। जहां मुझसे बना है वहां मैं स्वयम् विवेचक बना हूँ। परंतु ग्रंथ विस्तारके भयसे और ऐसे विस्तारवाले विवेचनके प्रतिवाचक जिज्ञासुका भाव बराबर हो या न हो, इस शंकासे मैंने बहुतसा छोड़ दिया है। तो भी यदि हजारमें एक भी जिज्ञासुका इस पर प्रेम होगा, लाखोंमेंसे एकाधिकको भी गंभीर विचार कर सकने तककी बात प्राप्त होगी तो समझूंगा कि मैंने कुछ किया है और यही मेरा संतोष, यही आनंद और यही पुरुषार्थका फल है।

गुजराती चन्द्रकान्तके पहले भागको प्रकाशित हुए आज दशवर्ष होते हैं। पूरा करनेकी बड़ी इच्छा थी परंतु कार्यवशात् बहुत समयतक उसपर ध्यान नहीं

---

* स्वर्गके वैद्यराज धन्वन्तरि, इस लोकमें आयुर्वेदका प्रचार होनेके लिये, काशीके राजाके यहाँ जन्म ले, ऐश्वर्य और सुखको प्राप्त कर, वनवासी हुए। उनके साथ बहुतसे शिष्य थे। उनको आयुर्वेदका संपूर्ण ज्ञान हुआ। इसके बाद एक समय सब शिष्योंने पूछा, "हे देव! आपने हम लोगोंको वनस्पति आदिके गुण दोष बताये, शरीरमें रहनेवाली शिरायें कहां कहां रहती हैं, वे स्थान भी बताये, किन किन जगहोंसे रोग पैदा होते हैं वे जगहें भी बताईं, वायुका स्थान, कफका स्थान, पित्तका स्थान बताया, परंतु जिस जीवके द्वारा यह सारा शरीर सब काम कर सकता है, उसका स्थान नहीं बताया।" यह सुन ऋषि देव बोले "वह स्थान देखनेके लिये दिव्य चक्षु (आंखें) चाहिये। वे लाओ, मैं तुमको वह स्थान बताऊंगा।"

दिया जा सका। थोड़ा लिखकर, प्रेसमें दिया, फिर विघ्न आपड़ा और इससे किसी किसी स्थानमें दोष रह गये हैं—खेदप्रद दोष हैं। उनके लिये पाठक क्षमा करेंगे। तो भी दीर्घ समयमें भी यह अद्वैत दर्शन प्रकट होता है। इस विषयमें मेरी इतनीही प्रार्थना है कि ईश्वरकी भक्तिसे शून्य और संसारके कामोंमें मस्त जिन्होंने प्रेमियों, प्रेम, मृदुता और सर्वमयतासे शराबोर (लदबद) अभेद—अद्वैत प्रेमको नीरस गांठ जैसा बना डाला है वे इस प्रेमके रहस्यको समझें तो मेरा परिश्रम सफल ही है। शान्ति

देवशयनी एकादशी
संवत् १९५७

इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

प्रणय

प्राचीन परमार्थवीर ज्ञानी महात्माओंने शास्त्रवचन, गुरुके आदेश और अपने अनुभवसे जिस परम भावनाका दर्शन कराया है, उसमें व्यवहार और परमार्थ, संसार और मोक्षके तत्त्वोंका दर्शन करा, परम सत्य अद्वैत आत्मदर्शन के अनिर्वचनीय (जो वचनों से कहे न जा सकें) भव्य प्रकाशमें जगतके जीवोंको ला रखा है और उसके सामर्थ्यमें मोहित हो, मोक्ष, मुक्ति, परमधाम, निर्वाण कैवल्य, ऐसे भिन्न भिन्न नामोंसे कहे जानेवाले पदको पानेकी आतुरतामें मोहित हुए जीवोंको डाला है इसे परमपद कहो या सत्यज्ञान कहो, उसका स्वरूप बहुत सादेपनसे और सीमारहित दिखाया है। धर्मकी आजकलकी प्रचलित प्रवृत्ति स्पष्टतासे दिखलाती है कि इस जगतके जीवोंको कल्याणकी परम इच्छा है। जीवन क्षणभंगुर है। कबतक टिकनेवाला है, । कोई नहीं जानता। जीवन ऐसा क्षणिक है कि क्षणमात्रमें यह देह निस्तेज हो जायगी परंतु फिर वह तेज कहां जायगा है और वहां क्या गति होगी, यह सब अंधकार (अज्ञात) में है तो भी उसको जाननेके लिये प्राणीमात्र आतुर हैं—इनमें प्रत्येक प्राणी अगाध प्रवृत्तिमान प्राणी भी जन्ममरण के जंजालसे छूट मुक्तिही प्राप्त करनेको आतुर रहता है:—कोई सामीप्य मुक्तिका तो कोई सायुज्य मुक्तिका, कोई सालोक्य मुक्तिका तो कोई सारूप्य मुक्तिका अभिलाषी है। इस तरह प्रभुसेवनमें ही आसक्ति बतलाता है—इस लिये कि यद्यपि प्राणीमात्रमें संसारकी प्रवृत्ति दुःखदायी नहीं मानी, परंतु जो अगोचर (इंद्रियोंसे परे)—अदृश्य होने पर भी सत्ताधारी है उसी में सुख माना है।

जीवको कोई बतलाता है कि यही सुख सत्य है। परंतु यह सुख एकान्त वनकी पर्णकुटीमें रहनेसे भी नहीं मिल सकता, पर्वतकी एकान्त कन्दराओंमें—जहां चन्द्र सूर्य या ताराओंका प्रकाश नहीं जा सकता—समाधि लगानेसे भी नहीं मिलता अथवा मंदिर मंदिर फिरकर घंटानाद बजा, पापका परिताप कर अपने गाल पर तमाचा मार नाक दाबनेसे भी नहीं मिलता, परंतु समष्टिरूप—परमरूपसे खींचा जाकर जो जीव ईश्वरमें कामना रहित प्रेम करता है वही उसको पाता है—जो फलकी आशा रहित हो भजता है—वासना रहित हो भजता है, उसको ही उसका फल समयानुसार मिलता है। यह फल अद्वैत मंत्रसे मिलता है, परम प्रेमसे प्राप्त होता है—विशुद्ध प्रेमसे अनुभवमें आता और वही परम सुखका स्थान है।

यह स्थान कल्पित नहीं है, परंतु सत्य है और उसको परम पुरुषार्थका अभिमान रखनेवाला नहीं परंतु अपने आत्मतत्त्वका अनुभव कर प्रेमी ही भोगनेको भाग्यशाली बनता है।

ऐसा भाग्य भोगनेको अनेक जीव आतुर हैं, यह इस मणिकी सेवासे समझमें आता है। अनेक जीवोंकी आतुरता पूर्ण होने जीवन और प्रेमका ऐक्य अपरोक्ष भोगनेके लिये भाग्यशाली बननेका सत्य इस ग्रंथमें बतलाया है, आत्मा मात्रकी एकता परमात्मामें अनुभवित होनेसे यह कार्य सफल होता है। अहंप्रत्ययका नाशही इस सब सुखप्राप्तिका मूल है। निष्काम अनन्य भक्तिही प्रभुका सामीप्य करती है। ऐसा सुख प्राप्त करनेको अनेक प्राणी तरसते हैं। परंतु साधन रहित, प्रयत्नहीनोंको वह कैसे प्राप्त हो सके? तो भी कुछ कुछ प्रयत्न होने लगा है, यह आनन्दकी बात है। परमात्मामें पूर्ण प्रेम कर एकता करनाही सब साधनोंमें श्रेष्ठ-तम साधन है। ऐसा साधन इस ग्रंथमें बतलाया है, इसीसे उसके प्रति लोगोंकी अच्छी भावना हो सकी है। उसके लिये उसीको प्रणाम करो. जो सबको सुन्दर मतिका दाता है।

मूल (गुजराती) ग्रंथकी इस द्वितीयावृत्तिमें असाधारण फेरफार किया गया है। बहुत परिवर्धन किया गया है। बहुतोंकी ऐसी भी इच्छा मालूम हुई है कि इसपर संपूर्ण टीका हो तो बहुत उचित हो। इसके लिये अवकाश चाहिये। इस ग्रंथके तीसरे भागका प्रारंभ किया गया है और उसको पूरा करना है, इससे मेरी अपेक्षा कोई और ही व्यक्ति इस ग्रंथपर टीका करे तो बहुत उचित हो और टीका अधिक उत्तम हो, ऐसी मेरी धारणा है। दूसरा पुरुष अधिक स्वतंत्रतासे टीका लिख सकता है—इसी लिये टीकाका काम मैंने छोड़ दिया है और जिस कामको मैंने प्रारंभ किया है उसीकी पूर्णतामें लगा हूँ।

इस ग्रंथमें बतलाये हुए कई सिद्धान्तोंके संबंधमें जो मतांधतासे मुक्त नहीं हैं ऐसे कई लोगोंने पत्रद्वारा आक्षेप किये हैं। ऐसे भ्रममें पड़े हुए आत्माओंको मुझे बतलाना है कि दैवी संपत्को विजयवती दर्शानेमें स्वरूप अनुसंधानसे ही परम लाभ है और अभेद आनंदकी तान बिना—परम प्रेम बिना—मुक्तिही नहीं, यह बतलानेमें ही मेरा आग्रह है। क्योंकि आत्माकी उन्नति ही प्रधान कारण है और उसे सिद्ध करनेके लिये ही मैंने कई सिद्धान्त दर्शाये हैं, कुछ मतमतान्तरवाले पर आक्षेप करनेके हेतुसेही नहीं—या कोई मतवादी उन्मार्गगामी हो इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट हो जाय उसके हेतुसे नहीं है। जो एक देवके प्रेमका भोगी होगा, परंतु अभेदानंदका भक्त न होगा प्रेमका अनुभव

करनेवाला न होगा, जिसने अपने अनुभवसे प्रेमका अनुभव नहीं किया होगा ऐसे—अभेद प्रेमके रसको न जाननेवाले मुग्ध मनुष्यके लिये मेरा यह प्रयत्न नहीं है, परंतु प्रयत्न तो उसके लिये है जो सर्वाकार, सर्वमय, एकरस, परमात्माके ऊंचे स्थानमें प्रेमका भोगी बना है और जिसने अनन्यतामें ही सब अर्पण किया है। श्रीमद्-भागवतमें कहा है कि 'सर्वदेव—नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति'। उसी तरह किसी भी देव, पंथ मत या दर्शनके प्रति मेरा भेदभाव नहीं है। यह भेद केवल अज्ञान-मूलक है। इससे योग्य अधिकारी उसमें नहीं पड़ते। सारे संसारके एक छोरसे दूसरे छोर तकके महात्माओंने जिस अनन्य भक्ति अभेदताको परम श्रेष्ठ माना है उसी भक्तिमें विलीन होनाही परम साधन है। जिसकी वृत्ति ऐसी न हुई हो और जो भेदभावका अनुभव करता हो, उससे मेरी विनती है कि इस ग्रंथके दोनों भागोंका अच्छी तरहसे अभ्यास करे। जिससे उसकी 'स्व' अभिमान—ग्रंथि नष्ट हो जाय। श्रीगीतामें भी बतलाया है कि 'स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्'॥ इस तरह जो अन्य देवोंके उपासक हैं वे उन देवोंकी उपासना करते हैं जिसका फल तो उन्हें मिलेगा, परंतु जैसे महा-राजकी सभामें बैठनेवाले मंत्री अमात्य, सेनापति, पंडितजी आदि भिन्न भिन्न मनुष्योंकी सेवाका फल जुदा जुदा होता है, परंतु राजाका फल उन सब फलोंसे श्रेष्ठ होता है। उसी तरह इस विश्वके राजाकी सेवा भी सबसे उत्तम मुक्तिफल देनेवाली है। शिवगण पुष्पदंतने भी कहा है 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।' सारा जल जैसे एक समुद्रमेंही जाता है वैसे ही सारे मार्ग, पंथ, संप्रदाय आदिमें रहनेवाले जीवोंको अधिकार प्राप्त होनेपर मालूम होता है कि सारे मार्गोंका उपास्य तूही एक है—परमात्मा एकही है—दो प्रभु नहीं हैं। तो भी मेरी बातोंके संबंधमें किसीको किसी भी तरहकी भेदवृत्ति दिखे, टीका करने योग्य दिखे, शंका योग्य मालूम हो तो वैसे पंडितमन्योंके लिये महाकवि भवभूतिके इस वचनसे ही मैं संतोष मानूँगा कि 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः'॥

देवशयनी
१९५८ } इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

बुद्धियोग

(तृतीयावृत्ति)

विनाशी अर्थात् नाश होनेवाले मोह, माया, ममतासे भरे हुए दुःखदायी होने पर भी आदि (आपातत:) में रमणीय लगनेवाले झंझट पूर्ण संसारसे उच्चतम दशामें ले जानेवाले और जहां जानेके बाद फिर लौटना नहीं पड़ता, ऐसे अक्षर धाम (नाश न होनेवाले स्थान) की कामना करनेवाले अच्युतपुरके प्रवासियोंके स्वरूपकी खोज करनेके लिये रचे गये, गुजराती चन्द्रकान्तके दूसरे भागकी तीसरी आवृत्ति लोगोंके सामने रखते हुए दो शब्द बोलना अनुचित न होगा। जीवन एक यात्रा है और इस यात्रामें अनेक प्रकारकी प्रकृति (ईश्वरकी इच्छा) और विकृति (परिवर्तन) का अनुभव होता है । संसारमें लगे हुए (प्रवृत्तिमय) जीवनको किसी वक्त किसी समय चलित स्थितमें करते समय उच्चतर स्थितिकी अपेक्षा (आशा) हुए विना नहीं रहती । ऐसे पुरुषकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) तृप्त करनेके लिये इस ग्रंथकी रचना की गई है। जीवन मायिक (मायस-वाला) या झूठा है, ऐसा माननेका कोई खास कारण नहीं है, इसमें अनंत शक्तियां समाई हुई हैं, परन्तु उनको जानने-विकसित करनेके लिये, साधारण मनुष्यकी बुद्धि नहीं पहुंच सकनेसे, उनके लिये यह प्रयत्न किया गया है और संतोषकी बात है कि ऐसे जीव अपनी शक्तिके अनुसार इसे ग्रहण कर सके हैं ।

तत्त्ववेत्ता (जीव ब्रह्मके जाननेवाले) किसी भी व्यवहार, समाज या अभि-प्रायकी परवा करनेवाले नहीं हैं । वे बडी बडी पदवियां प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले नहीं हैं । समाज और भोजन मंडली, आनन्द क्रीडा रंडियोंका नाच कराके लोगोंमें अच्छे बुरे कहलानेकी हौस रखनेवाले नहीं हैं। दुनियाँ कितने घोड़ोंकी शक्तिसे कितनी आगे बढती है, उसकी परवा करनेवाले नहीं हैं। परन्तु आत्मस्वरूपमें मस्त होकर उन्नत जीवन बिताते हैं।—और बड़े राजाके दरबारके पंडितमन्योंकी कल्पनाशक्तिकी मंदता (कमजोरी) और अल्पता (लघुता) विचार कर उन्हें हँसी आती है । लोग ऐसे तत्त्ववेत्ताओंकी मसखरी करते हैं परंतु जब ये तत्त्ववेत्ता ढकोसला (आडम्बर) पूर्ण संसारके व्यवहारकुशल मनुष्योंकी भ्रम-पूर्ण स्थूल चतुराईको छेद भेदकर चूर्ण कर डालते हैं तो दुनियाँ चित्रके समान स्थिर होकर टकटक देखा करती है ! यह ग्रंथ, उन लोगोंके लिये नहीं है, जो

संसारके मौज मजामें डूबे हुए हैं, परंतु उनके लिये है जो मानवी जीवनको दैवी जीवन बनानेकी—परमतत्त्व (परमेश्वर) की जिज्ञासा रखनेवाले हैं। आंखोंमें लगाये हुए काजलको जैसे आंखें नहीं देख सकतीं वैसेही अज्ञानियोंकी अज्ञानसे ढँकी हुई बुद्धि जीवनके अंतमें कालिमा लगानेवाली, परन्तु वर्तमान समयमें जगमग दिखनेवाली चीजोंकोही कल्याणकारी देखती है—वह कालिमाको नहीं देख सकती। मायाके उपासक भलेही उनका सेवन कर, अज्ञान, आलस, जड़ता, प्रमाद, मूढ़ता आदि तामस सृष्टिमें निद्रालुकी तरह सुख मानें, परन्तु उनसे समय प्राप्ति बिना जाग्रत नहीं हो सकेगी। इसमें कर्मोंकी परिपक्वता (विपाक) साधन है शुद्ध कर्मही पुरुषोंको जीवात्मा और परमतत्त्वका शोधक बनाते हैं और इसलिये भी यह ग्रंथ आदर करनेके योग्य मालूम हुआ है।

इस संसारमें दो प्रकारकी संपत्ति हैं। दैवी और आसुरी। चाहे जैसा पंडित और सूक्ष्मदर्शी हो, परंतु आवरण रहित शुद्ध सत्त्वगुणी बुद्धि बिना दैवी संपत्ति जाननेको भाग्यशाली नहीं बनता। विक्षेप (मनकी चंचलता) और आवरणशक्ति (माया) बुद्धि प्रसारमें ग्रहकी तरह रुकावट डालनेवाली है। इससे राजस और तामस, जीव दैवी संपत्तिसे विमुखही रहता है और ऐसे जीवोंको निवृत्ति (छुटकारा) पानेके साधन नहीं होते। दैवी संपत्ति प्राप्त करनेको नियत किये हुए यम, नियम, भक्ति, अपने स्वरूपका अनुभव, परमशान्ति और परमात्मामें दृढ़ निष्ठा (विश्वास) ही श्रेष्ठ है। यही आनन्दकी प्राप्ति कराते हैं। जबतक मनुष्य "ममत्व" का त्याग नहीं करता तबतक वह विवेक—विज्ञानका अधिकारी नहीं होता।

इस लोकके जीव आमके वृक्षका उपभोग करनेवालोंके समान तीन तरहके हैं। आमके बोनेवाले, उसके फलोंको बेचनेवाले और फलका रस लेनेवालोंको जैसे भिन्न भिन्न फलकी प्राप्ति होती है, वैसेही भिन्न भिन्न रुचिके जीवोंको भिन्न भिन्न फल, तत्त्वज्ञानसे मिलता है। परन्तु जैसे आमके फलका रस लेनेवाला जीव अच्छीतरह—सच्चा आनंद—सच्चा स्वाद चखने—भोगनेको भाग्यशाली बनता है वैसेही तत्त्वज्ञान सच्चा आनंद भोगनेको तो वही जीव भाग्यशाली होता है जो तत्त्वके सच्चे स्वरूपका मजा चखता है।

इस ग्रंथकी पहिली आवृत्ति प्रकट होनेपर कई मतवादियोंकी ओरसे शंका समाधानके लिये कई ओरसे ऊहापोहके लिये और बहुतोंकी ओरसे विवादके लिये पत्र मिले थे। उनमेंसे जिज्ञासुओंका समाधान किया गया है और विवाद बुद्धिसे या मतान्धपनसे आये हुए पत्रोंको नमस्कारसे ही स्वागत किया है। लोग भिन्न भिन्न

रुचिके होते हैं। किसीको ठंडा अच्छा लगता तो किसीको उष्ण (गर्म) परंतु अबाधित तत्त्व तो एकही स्वरूपमें रहता है। अल्पज्ञ जीव उसके स्वरूपसे अजान रहता है। ऐसे अज्ञानी जीवोंको तत्त्वके स्वरूपका ज्ञान कराकर सद्गुणके रास्तेमें लानेका काम महात्मा पुरुषोंका है। वह काम अल्पज्ञ जीवका नहीं है। परंतु इस ग्रंथका जो कुछ भी विषय थोडेसे लोगोंको आदरणीय हुआ है वह मुझको कम आनंद देनेवाला नहीं है।

गुजरातीकी तीसरी आवृत्तिमें कई जगहोंमें विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है, अशुद्ध दोष भी सुधारे गये हैं और चन्द्रकान्तके उपासकोंको विशेष सरल होनेके लिये उसका उचित सुधार भी किया गया है। अस्थिर जीवनमें लोककल्याणके लिये जो कुछ अल्प सेवा मुझसे हो सकी है वह मैंने की है, अच्छे बुरेकी जांच करनेका काम विद्वानोंका है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते॥

भगवानके इस वचनके अनुसार जो परमात्मा सबकी बुद्धिका प्रेरक है, उसके इच्छानुसार मनुष्य जातिको सद्गुणका मार्ग ग्रहण करनेके लिये और उनके मनमें ऊंचे विचारोंका बीज बोनेके लिये मैंने यह प्रयत्न किया है। इसके सफल करनेका काम तो उसी प्रभुके हाथमें है, जो भक्तजनोंको बुद्धियोग—सुन्दर मतिका योग देनेकी सत्ता रखनेवाला है। उस प्रभुको प्रेमपूर्वक प्रणाम है।

बम्बई
संवत् १९६५ कार्तिक पूर्णिमा

इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

अनुक्रमणिका

तृतीयप्रवाह—अच्युतपदारोहण

पीठीका.

वटुक उपदेश अथवा ब्रह्मलग्नका प्रारंभ.

महालहरी—परम पद

चन्द्रकान्त.

तृतीय प्रवाह–अच्युतपदारोहण

पीठिका

मङ्गलम्.

मंगलं भगवान्विष्णुर्मंगलं गरुडध्वजः ॥
मंगलं पुंडरीकाक्षो मंगलायतनं हरिः ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् विष्णु, गरुडध्वज, पुंडरीकाक्ष और हरि ये भगवान के मांगलिक नाम मंगल करें।

शक्यं यन्न विशेषतो निगदितुं प्रेम्णैव यच्चिन्तितं
मृद्वङ्गीवदनेन्दुमण्डलमिव स्वान्ते विधत्ते मुदम्।
यन्मुग्धानयनांतचेष्टितमिवाध्यक्षेऽपि नो लक्षितं
तत्तेजो विनयादमन्दहृदयानन्दाय वन्दामहे ॥ २ ॥

अर्थ—जिस तेजका वर्णन किसी भी तरह विशेषतासे करना शक्तिसे परे (अशक्य) है, सुन्दरीके मुख रूपी चन्द्रमण्डलके द्वारा प्रेमपूर्वक चिंतन करनेसे जो तेज अन्तःकरणमें आनन्द देता है और समीप होते हुए भी मुग्धा स्त्रियोंके कटाक्षोंसे जो तेज जाना नहीं जाता, उस तेजको हृदयके अपार आनन्दके लिये विनयपूर्वक वंदन करता हूं।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यंति पश्यंतु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिंदीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥ ३ ॥

अर्थ–योगी ध्यानके अभ्याससे वश किये हुए मनके द्वारा गुणरहित और क्रियारहित अनिर्वचनीय तेजोमूर्ति परब्रह्मको देखता हो तो भले ही देखे ! परंतु यमुनाके तट पर अनिर्वचनीय श्यामरंगरूप जो तेज दौड़ा करता है वह तेज बहुत समय तक हमारे नेत्रोंको नित्य आनन्द दे ।

ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं त्वां नमामि ॥ ४ ॥

अर्थ—परब्रह्मरूप, आनंदरूप, परम सुख देनेवाले, एक मूर्ति, ज्ञान मूर्ति, सुख दुःख रहित, आकाशके समान निरुपाधिक 'तत्वमसि' महावाक्यसे ज्ञानमें आनेवाले, एक, नित्य अर्थात् नाशरहित, मलरहित, अचल, सबकी बुद्धिके साक्षीभूत, उत्पत्ति रहित, तीनों गुणोंसे रहित और सद्गुरु जैसे तुमको मैं नमन करता हूं ।

मृद्वीका रसिता सिता समसिता स्फीतं च पीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः ।
सत्यं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः कचिल्लक्षितः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे जीव पृथ्वी पर बारंबार भटकते हुए, तूने बहुत समय तक द्राक्षका स्वाद लिया है. शक्कर खाई, दूध पिया, स्वर्गमें जानेके बाद अमृतका स्वाद भी लिया है और रंभा नामकी अप्सराके अधरों (ओटों) का पान भी किया है परंतु सच बता तुझको किसी भी पदार्थमें कृष्ण जैसे दो शब्दोंकी डकार आई है ?

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम् ।
लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वंदे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥ ६ ॥

अर्थ—शान्त आकृतवाले, सर्पकी सेजपर सोनेवाले, नाभिमें कमलवाले, देवोंके देव, विश्वके आधारभूत, आकाशके समान अलिप्त, मेघ जैसे श्याम-रंगवाले, कल्याणरूप अंगवाले, लक्ष्मीके पति, कमल जैसे नेत्रवाले, ध्यानसे योगियोंके ज्ञानमें आनेवाले, संसारके भयको दूर करनेवाले सबलोकोंके एक नाथ विष्णुको मैं वंदन करता हूं.

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतांधकारोदयः ।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनासञ्चयः ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीहरिके चरण कमलोंका भजन ही तीर्थ है निर्मल बुद्धि ही रत्न है, जिसके सुननेसे द्वैतरूप अंधकारका नाशहो वही शास्त्र है, तत्त्वज्ञान ही नित्य उपकार करनेमें प्रेमी मित्र है और दुःख देनेमें कुशल दुष्ट वासनाका समूह ही शत्रु है.

चन्द्रकान्त.

तृतीयप्रवाह—अच्युतपदारोहण.

प्रवेशिका.

वेदस्याध्ययनं कृतं परिचितं शास्त्रं पुराणं श्रुतम् ।
सर्वं व्यर्थमिदं पदं न कमलाकान्तस्य चेत्कीर्तितम् ॥
उत्खातं सदृशीकृतं विरचितस्सेकोऽम्भसा भूयसा ।
सर्वं निष्फलमालवालवलये क्षिप्तं न बीजं यदि ॥

अर्थ—क्यारी खोदकर चारोंतरफसे एकसी मेड़ें (बंधान) बना बहुतसा जल भरा जाय, किन्तु उसमें बीज न बोया जाय तो सब व्यर्थ जाता है. इसी प्रकार वेदोंका अध्ययन किया हो शास्त्रोंको जानता हो और पुराणोंको सुना हो किन्तु यदि कमलाकान्त, लक्ष्मीपति परमेश्वरके चरणकमलोंका गुणगान न किया हो तो यह सब वेदाध्ययन आदिका परिश्रम व्यर्थ ही जाता है.

अद्भुत बटुकदर्शन.

दिन कोई चार घड़ी चढ़ा था. वनमें पशु पक्षी अपने अपने काममें लग गये थे. आमकी डालियों पर लटकेहुए पके फलोंका स्वाद चखनेके लिए तोते और कोयल मधुर शब्द करते हुए जहां तहां उड़बैठ रहे थे. सुन्दर और दूरतक फैले हुए सरोवरके स्वर्ण जैसे निर्मल जलमें विचित्र और सुगंधवाले कमलके फूल खिल रहे थे. विविध भांतिके फूलेहुए फूलोंके सुगंधसे पूर्ण परागका रस लेनेके लिये श्याम भ्रमर सर्वत्र गुंजार करते फिर रहे थे. हिमालयके ऊपरी भागमें बर्फके पिघलनेसे निर्मल नीरके झरने झरझर शब्द करते हुए बह रहे थे. सदा फलफूलोंसे पूर्ण रहनेवाले अलौकिक वृक्ष अपनी सुन्दरतासे दर्शकोंके चित्त चुरा रहे थे. वनमें चंदनके

वृक्ष अधिक होनेसे पवन शीतल मंद सुगंध वह रहा था. मौसम गर्मीका था किन्तु हिमाद्रिके पास होनेसे प्रातःकालके सूर्यका प्रकाश बहुत ही भला लगता था. वन यद्यपि बहुत घना था तो भी उसके वृक्षोंकी रचना ऐसी थी मानो किसीने नाप नाप कर की हो. ऐसी स्वाभाविक रचना होनेसे उस वनमें विचरना बहुत ही भला लगता था.

इसी समय उत्तर दिशाकी ओरसे कुछ प्रकाश दिखने लगा. धीरे धीरे वह प्रकाश दूरसे पास आतासा जान पड़ा. और थोड़ी देरमें पास आ पहुँचा. पास आनेपर वह सिर्फ प्रकाश ही नहीं किन्तु एक बहुत ही सुन्दर और तेजस्वी बालकसा साफ मालूम हुआ. इसकी दिव्यकान्तिका सच्चा वर्णन तो कोई समर्थ कवीश्वर ही कर सकता है. इस बालककी अवस्थाका अनुमान नहीं हो सकता था. क्योंकि उसके शरीरके सारे अंग ऐसे सुकोमल थे जैसे हालके पैदाहुए बालकके होते हैं. किन्तु उसके शरीरकी ऊँचाई और जो चिह्न वह लिये था उनसे अनुमान होसकता था कि वह प्रायः आठ वर्षका होगा वह सिर्फ कौपीन (लंगोटी) पहरे था. कमरमें मुंज मेखला पड़ी थी. उसके सहारे उसने लंगोटी खोंसी थी. इतनी कठिन होनेपर भी मुञ्जको उसकी कमर कैसे सह सकती थी यह जानना कठिन है. इसके बायें कंधे पर तीन रेखाओंसे मिला हुआ जनेऊ शोभा देरहा था. यह उसकी नाभीसे ऊपर था. मस्तकपर कुछ शुभ्र कान्ति पड़ रही थी और सुनहरी अलकें चारों ओर फैली हुई थीं. उनके बीचमें अनेक बालोंका एक जटाजूट बँधा था. अत्यन्त भव्य और लम्बे चौड़े मस्तक, शंख-समान कंठ, दोनों भुजाओं और छाती पर पवित्र यज्ञभस्मका त्रिपुंड्र (तिलक) किये हुए था बायीं कांखमें बँधा हुआ एक काला मृग-छाला तथा बायें हाथमें गेंड़ेके सींगका बना एक कमंडलु लिये था. दाहिने हाथमें एक पलास (छेवलेका) दंड लिये था जो कंधे पर पड़ा था. इसके सिवा केसर कुंकुम और दूसरी सुवासित चीजोंकी मिली हुई गंधसे मस्तक पर तिलक कर अक्षत लगाये था. गलेमें विचित्र रीतिसे गुँथी हुई बहुत सुन्दर फूलोंकी माला पड़ी थी. जटाजूटमें चारोंतरफ सुन्दर फूल खोंसे था.

इन सब चिह्नोंसे जान पड़ता था कि वह कोई ऋषि-पुत्र है और हालहीमें ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले प्राचीन परिपाटीके अनुसार गुरुके घर वेदाध्ययन करनेको जानेके लिये शीघ्रतासे निकल पड़ा है. उसके मुखकी कान्ति देख कर मालूम होता था कि अब उसे किसी विद्याकी आवश्यकता नहीं है. अर्थात्

वह सर्वविद्या सम्पन्न दीखता था. उसके ओष्ठ वार वार नियमसे हिल रहे थे. इससे मालूम होता था कि वह भगवन्नामरूप किसी मंत्रका जप कर रहा है. उसकी चाल स्वाभाविक तेज होनेसे ऐसी थी कि उससे यह प्रकट न होता था कि वह उत्कंठासे कहीं जा रहा है अभिप्राय यह कि, वह सव इच्छाओंसे हीन सृष्टि स्वभावके अनुसार विचर रहा था. इतनेमें एकाएक महा भयंकर सिंह गर्जना करते हुए झपाटेसे उसके आगे आपहुँचा. किन्तु विस्मयकी वात है कि उसने न तो जरा भी परवा की और न उसकी ओर ही को देखा! सिंह भी इस वालकको देखते ही एकाएक शान्तवृत्तिसे पूँछ हिलाता हुआ एक ओरको मुखमोड़ प्रणाम करके चला गया. वैसे ही वड़े वड़े मतवाले हाथी, वाघ, भालू, भेड़िये, स्वानकुत्ते आदि दूसरे वन–पशु भी इसको देख अपना खूनीस्वभाव छोड़ दीन होकर फिर रहे थे. यह भी उन्हींकी तरह निर्भीकतासे उनके झुण्डके वीच होकर आनंदसे जारहा था. इस प्रकार वह आगेके सघन वृक्षोंकी ओटमें पहुँचते ही दृष्टिसे वाहर होगया और फिर वहुत समय तक नहीं दिखा.

वरेप्सुका वृत्तान्त.

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेश.

पंथी ऋषियोंकी बातचीत.

जिस ओरको यह अद्भुत बालक अदृश्य होता हुआ जान पड़ा, उस ओर दूर तक देखनेसे अंतरिक्षमें कबूतरके रंग जैसा धुएँका समूह दिखाई देता था. अधिक पास जानेसे इस धुएँवाली जगहमें बहुतसी ध्वजा और पताकाएँ फहरातीसी जान पड़वी थीं. यह दृश्य उस मार्गसे होकर जानेवाले बटोहियोंके मनमें सहजही ऐसा प्रश्न उत्पंन्न करता था. कि "वहां क्या होता होगा"? कुछ देरमें उस रास्तेसे होकर पुण्यरूप ब्रह्मर्षि जाते हुए जान पड़े जो अनेक पवित्र मनवाले और चाहे जैसे दुष्ट हृदयवाले लोगोंको दर्शनमात्रसे सुमार्गमें चलनेकी इच्छा करानेवाले थे. उनकी गतिसे विदित होता था कि वे उसी स्थानकी ओर जारहे हैं जहां पहिले पवित्र धुआं दीखता था. वे आपसमें धर्मसम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी, यज्ञादिसम्बन्धी और उनके द्वारा होकर स्वर्गादिक लोककी प्राप्तिसम्बन्धी अनेक बातें करते जा रहे थे. उनकी बातचीतसे ऐसा जान पड़ता था कि वहांसे कुछ ही दूरी पर कोई राजा भारी यज्ञ कर रहा था, वहीं ये सब उसके दर्शनको जा रहे थे. उस समय उनमेंसे एकने यह प्रश्न किया "श्रेष्ठ द्विजवरो! मैंने जो सुना है कि यह यज्ञ करनेवाला वरेप्सु राजा, इतना बड़ा यज्ञ जो अपार धन और सत्ता (अधिकार) विना नहीं होसकता, किसी विशेष दृढ़ कामनाके लिए ही करता है यह क्या सत्य है? यदि ऐसा होतो उसकी कौनसी ऐसी सबल कामना है. क्या आप लोगोंमेंसे किसीको मालूम है!" यह सुन कर उस ऋषिमंडलीका एक वृद्ध ऋषि बोला; "वत्स! महात्मा पुरुषोंको शास्त्रकी ऐसी आज्ञा है कि यज्ञादिक बड़े बड़े काम, कामना (इच्छा) रहित करके ईश्वरको अर्पण करना चाहिए. उनको करके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए. यद्यपि ऐसे यज्ञका परिणाम (अन्तफल) बहुत ही श्रेष्ठ है, तो

भी पहले कामना रहित कर्म करना प्रत्येक मनुष्यको अच्छा नहीं लगता. फलकी आशा न रख ऐसे श्रेष्ट कर्म करनेकी मनोवृत्ति तो किसी भाग्यशाली अधिकारी पुरुषको ही होती है इस संसारमें ऐसे तो विरले ही पुरुष हैं. मनुष्योंमें वहुतसे लोग अपने सब काम फलकी आशाहीसे करनेवाले हैं और वैसे ही यह राजा भी यज्ञ करता है. उसके मनमें एक वलवती इच्छा है किन्तु वह कैसे पैदा हुई यह जाननेके लिये उसका सारा इतिहास जाननेकी आवश्यकता है, उसे तुम सुनो. मैं कभी कभी इस प्रसंगमें पड़ा हूँ इससे मैं राजाकी पहलेकी दशाका इतिहास जानता हूँ.

वरेप्सु राजर्षि कौन है ?

इतना कहकर कुछ देरमें वह वृद्ध ऋषि बोला, राजा वरेप्सु वचपनमें वहुत ही निकृष्ट (नीची) स्थितिमें था. उसके माता पिता उसे वहुत छोटी उमरमें छोड़ कर स्वर्गवासी हुए, इस लिए उसे वनमें वसनेवाले एक ऋषिके आश्रय (आसरे) में रहना पड़ा. जव उसकी उमर ग्यारह वर्षकी हुई तो उसी ऋषिने उसका उपवीत (जनेऊ) संस्कार भी किया. इसके पीछे उसे शिक्षा देने लगा. ऋषि वहुत ही दयालु था इस लिए वरेप्सुको अपने पुत्रकी तरह ही मानता और उसके मनमें किसी तरह यह भाव उत्पन्न होने नहीं देता था कि उसके मातापिता मर गये हैं. ऋषिने अपने लड़कोंके साथ उसे भी कुछ ही समयमें वेद वेदाङ्ग और उसके पुरुपार्थमें काम आनेवाली धनुर्विद्या सिखादी. फिर, ऋषिके घरमें श्रौत अग्निहोत्र होनेसे उस सम्बन्धकी दर्शपौर्णमासादि इष्टि और दूसरी सारी क्रियाएँ भी वह पूर्ण रीतिसे स्वयम् ही सीख गया. एक समय वह ऋषिके शिष्यों और पुत्रोंके साथ वनमें दर्भ समिधादिक लेनेको गया था. वहां वहुतसे वालक जोती हुई भूमिमें ऊगे हुए कोमल दर्भ (कुश) उखाड़ने लगे. कोई कोई पीपल, खैर, गूलर, आक इत्यादि वृक्षोंकी लकड़ियां तोड़ कर वोझा वाँधने लगे और वनफल लेनेके लिये पेड़ों पर चढ़ गये. वहुतसे लड़के नानाप्रकारके फूल विनने लगे और कई एक पासके कटे हुए खेतोंसे धान, जव आदि अनाजकी वालोंका सीला करने लगे. कुछ समयमें अपना अपना काम कर सब लड़के जमाकी हुई वस्तुओंको लेकर आश्रमकी ओर चलने लगे. दो पहरका समय था. एक तो भारी धूप पड़ रही थी और दूसरे वनमें स्वादिष्ट फल खानेसे कई वालकोंको प्यास लगी. आश्रम दूर था और नदी तो आश्रमसे भी दूर थी इससे जलकी

चाह करनेवाले बालक बहुत अकुलाने लगे और एक दूसरेसे जल्द चलनेको कहने लगे. चलते चलते क्षत्रियपुत्र वरेप्सु, "जो प्याससे व्याकुल हो रहा था." बोला, "अहो! ऐसे समयमें कोई हमें जल लाकर पिलावे तो उसे कितना बड़ा आशीर्वाद मिले!" यह सुन कर एक ऋषि-पुत्र बोला, "वाह! कितनी बड़ी उल्टी बात है और संगतिका असर कितना बड़ा होता है! हम ब्राह्मण भले आशीर्वादकी बात कहें और "कोई पानी लाकर पिलावे," ऐसी वांछनावाला वचन कहें तो शोभा भी दे, परन्तु यह क्षत्रिय पुत्र भी ऐसा कहता है. यह बड़ा आश्चर्य है. वास्तवमें यह हमारी संगतिका ही परिणाम है. यदि इसके अधिकारमें कोई छोटामोटा भी एक राज्य होवे तो दूसरे किसी पर आशा न रख, अपने बल और गुरुसेवाद्वारा प्राप्तकी हुई विद्याके बलसे यह मनचाही वस्तु प्राप्त करले. यह बात सच थी. केवल बहुत समयके कारण ही वरेप्सुको अपनी जातिका स्वभाव याद न रहा. ऋषि पुत्रके ये सब वचन सुनते ही उसको अपनी जातिका स्मरण हो आया और जैसे कोई सिंहका बच्चा जन्मते ही पकड़कर मनुष्योंकी संगतिमें आ जाता, सदा मनुष्योंके द्वारा पकाया हुआ मांस खाकर निर्बल अक्रूर (सीधा) और गाय जैसा शान्त बन जाता है, परन्तु एकाधिक बार सिंहनाद सुनता अथवा लहू या कच्चा मांसादिकका स्वादलेता, तो तुरंत ही उसे अपनी जातिका स्मरण हो आता और वह एकदम महाभयंकर और क्रूर बन कर उसी समय मनुष्योंका संग छोड़ वनमें चला जाता है, उसी तरह वरेप्सुके संबंधमें भी हुआ। उसके हृदयमें एकदम क्षात्रधर्मका सच्चा अभिमान पैदा हुआ, ब्राह्मणका सात्विक स्वभाव दूर हो कर उसमें एकदम राजसी क्षात्र प्रकृतिने प्रवेश किया और गुरुकी कृपासे प्राप्त हुई धनुर्विद्याका स्मरण कर वह बोला "हे द्विजवरो! हे गुरुपुत्रो! क्षमा करो धीरज रक्खो! मैं अभीतक राजा नहीं हूं किन्तु ऐसा आशीर्वाद देओ कि भविष्यत्‌में राजा हो जाऊं. मैं ब्राह्मणका बालक नहीं हूं परन्तु क्षत्रिय बालक हूं, इसका मुझे आपने स्मरण कराया है तो अब मैं आप सबकी सेवा करता हूं. क्या करूं? इस समय मेरे पास कोई शस्त्रास्त्र नहीं है, नहीं तो आज गुरुचरण कृपासे मिली हुई विद्याका अनुभव करता. किन्तु चिन्ता नहीं; अस्त्रकी कोई जरूरत नहीं है" ऐसा कह कर तुरंत उसने अपनी कांख (बगल) में दबाये हुए दर्भ (कुश) के पूलेसे एक सींक उँगलीमें दाब मेघास्त्र बाणका मंत्र पढ़ कर आकाशकी ओर फेंका. सब बालक एक दूसरेका मुँह देख विचार करने लगे, इतनेमें

निर्मल आकाश चहुँओरसे उमड़ती हुई घटाओंसे घिर आया और उसी क्षण घोर गर्जनाके साथ मूसलधार पानी वरसने लगा ! प्याससे व्याकुल हुए सारे ऋषिवालक आनन्द और आश्चर्यपूर्वक अमृत समान जल पीकर शान्त हुए और वरेप्सुको एक स्वरसे आशीर्वाद देने लगे कि " तेरा कल्याण हो तेरी पढ़ी हुई विद्या सफल हो, दूसरेके हाथमें गई हुई तेरे मातापिताकी राज्यसमृद्धि तुझे फिर प्राप्त हो ! " थोड़ी देरमें वर्षा बंद हुई और सव वालक वरेप्सुकी प्रशंसा और उसके कल्याणकी कामना करते हुए आश्रमकी ओर चले.

फिर सव ऋषिपुत्र अनेक प्रकारकी विद्या संवंधी वातें करने लगे परन्तु इस समय वरेप्सुका मन दूसरी ही तरंगोंके समुद्रमें गोते खारहा था. आजकी घड़ी तक उसका मन ब्राह्मणोंके श्रौत स्मार्तादिक कर्मानुष्ठान, अनेक व्रत, नियम और तपश्चरण तथा अनेक शास्त्रों और विद्याओंकी उपासनामें लगता था. अव उसकी वह वृत्ति वदल गई. वह वृत्ति अव राजसुखकी ओर जालगी. अव वह इस विचारमें मग्न हो गया है कि राज्य समृद्धि प्राप्त करनेकी उतावली जैसे वने तैसे की जाय. थोड़ी देरमें आश्रम आ पहुँचा. सव अपनी अपनी लाई हुई वस्तु गुरुको निवेदन कर भिक्षाके लिए गये. किन्तु वेरप्सु नहीं गया. अव उसे भिक्षा मांगना अच्छा नहीं लगा उसका गुरु जव वैश्वदेवकर यज्ञशालाके वाहर भूतवलि देनेको गया, तव वह यज्ञशालामें जाकर अग्निहोत्रके कुण्डमें जलते हुए अग्निदेवको प्रणाम कर विनय करने लगा कि " हे यज्ञनारायण ! तू सव देवोंका मुखरूप और प्राणिमात्रके जठरमें निवास करनेवाला होनेसे सवका साक्षी अन्तर्यामी ईश्वर और कल्याण रूप है इस लिए ऐसी कृपा कर कि जिससे मेरे अन्तःकरणमें पैदा हुई तरंगें (इच्छाएँ) शीघ्र सत्य और सफल हों ! " इतना कह गुरुके आनेका समय जान कर वह वाहर चला गया और भोजनकरनेके वाद पाठशालामें आकर वैठ गया. वहां उसे अकेला और विचारमें डूवा हुआ देख कर गुरुने पूछा "वत्स वेरप्सु ! आज तू कुछ उदाससा क्यों दीखता है ? क्या तुझे किसीने कुछ कहा है ? अथवा कोई दोष लगाया है. जो हो सो वतादे. मैं उसका शीघ्र ही उपाय करूँगा. " वारंवार पूछनेपर भी जव वरेप्सु मुँहसे कुछ न वोल सका, तो गुरुने फिर पूछा " वत्स ! तू अपने मनमें वहुत अकुलातासा जान पड़ता है. क्या कोई कठिन पाठ (सवक) तेरे ध्यानमें नहीं वैठता ? अथवा तेरे मातापिता तुझे याद हो आए हैं ? परंतु वैसा होना तो संभव नहीं, क्योंकि आजतक मैंने ऐसा कोईभी प्रसंग

आने नहीं दिया जिससे तुझे बुरा लगे और मातापिताकी याद हो आवे. यह भी नहीं होसकता कि वे तुझे स्मरण हो आवें. क्योंकि वे तो तेरा प्यार करनेके पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे. विश्वपुरमें शांतिसे राज्य करनेवाले तेरे मातापिताको दुष्ट विदेशी राजाने लड़ाईमें मार डाला. तब तेरी माता तुझे लेकर यहां आ रही. कुछ दिनोंमें वह भी मृत्युको प्राप्त हुई, जिससे तू अकेला रह गया. परंतु ईश्वरकी कृपासे यहीं तेरा अच्छी तरहसे पालन पोषण हुआ है. यद्यपि तेरी जातिका मैंने तुझे स्मरण भी होने नहीं दिया तो भी प्रयत्न कर तुझे अच्छी तरहसे धनुर्विद्या इसी लिए सिखलाई है कि जिससे भविष्यतमें वह तेरे काम आवे और अपने मातापिताकी राज्य समृद्धि फिरसे प्राप्तकर तू उसकी रक्षा कर सके. अब तुझे और किसी विद्याकी जरूरत नहीं है फिर तू उमरमें भी योग्य हो गया है. इस लिए मेरा मन चाहता है कि मैं तुझे अपनी सिखाई हुई विद्याका सदुपयोग करते हुए देखूं इससे हे पुत्र ! तू घबरा मत और किस लिए उदास है वह मुझसे कह. ”

गुरुकी ऐसी बातें सुनकर वरेप्सुने कई अंशोंमें अपनी मनोकामना पूर्ण हुई जानी. वह मनमें हर्षित होकर बोला; “ पिताजी ! (वरेप्सुने ऋषिको पिताजी इस लिए कहा कि उसने उन्हें पिताके समान ही देखाथा.) आप जो कहते हैं वही विचार मेरे मनमें भी दौड़ रहा है और इसीसे मुझे अब किसी भी काममें या स्थानमें चैन नहीं पड़ता. मेरा मन इतना उतावला होगया है कि उसके लिये आपके आज्ञादेने भरकी देर है ” गुरुने कहा “ बहुत ही अच्छा है. ऐसा हो तो मैं बहुत प्रसन्न हूं. परंतु वैसा होने के लिए तेरे पास अभी साधनोंकी कमी है. उसे पूरा करनेके लिए तुझे एक भारी उपाय करना पड़ेगा और मैं चाहता हूं कि ईश्वर उसमें तेरी सहायता करे. ”

यह सुन कर वरेप्सु पूछने लगा; “ अब मुझको किस उपायकी जरूरत है ! ” गुरुने कहा; “तू अकेला है राजनीति भी नहीं जानता और आजतक तुझे किसीसे लड़ाई करनेका प्रसंग भी नहीं आया. इस लिए उसके लिए तुझे किसी राजा अथवा उसकी बहुतसी सेनाकी सहायताकी आवश्यकता है इस लिए सकाम देशका राजा मेरा स्नेही है, उसके पाससे तुझको सहायता मिलनेके लिए मैं प्रबंध करूंगा. ” वरेप्सु बोला; “ पिताजी ! इतनी बड़ी खटपट करनेकी क्या आवश्यकता है ? मुझे सिर्फ आपके आशीर्वादकी ही आवश्यकता है और सब तो आपकी कृपासे मुझे प्राप्त ही है. आपकी

सिखलाई हुई विद्या समय पर मेरे काम आवे, इतना ही बहुत है ! " गुरु बोला; " धन्य है वत्स ! तेरे ऐसे दृढ़ निश्चयसे मुझे बड़ा ही संतोष होता है और मुझे भरोसा है कि तू अपनी इच्छाको अवश्य पूरी करेगा. तेरी ऐसी योग्यता देख, मेरे पास, तेरे बलको सब तरहसे पूरा करनेको जो अमूल्य साधन हैं वे तुझको देनेके लिये मैं पलभर भी आगापीछा नहीं करूंगा. इस लिए जा गंगामें नहाकर भरे हुए कमंडलु सहित जल्द आ. मैं यज्ञशालामें बैठता हूं. " ऐसा कह कर गुरुदेव उठ खड़े हुए और वरेप्सु उसी क्षण गंगातटमें स्नान करने को चला.

थोड़ी देर में स्नानसे शुद्ध होकर वह फिर आया. गुरु यज्ञशालामें काले मृगचर्म पर विराजे हुए थे. वैश्वदेवका होम किये बहुत देर न हुई थी, इस लिए अग्निदेव भी बिना राखके धधक रहे थे. भीतर जाते ही गुरुजीने वरेप्सुको अग्निदेवके सम्मुख पूर्वकी ओर मुँह करके बैठनेकी आज्ञा दी. गुरुके आज्ञानुसार एक दर्भासन पर बैठ कर वरेप्सुने ललाटादिक अंगोंमें यज्ञभस्मका त्रिपुंड्र (तिलक) किया. फिर गुरुने कहा " हे सुपुत्र ! आचमन प्राणायाम करके चित्तको स्थिरकर, दृष्टि एकाग्रकर और यज्ञनारायणको प्रणाम दण्डवत कर, और मैं उनके प्रसाद रूपसे जो मंत्र बोलूं उसे अच्छी तरहसे ध्यानमें रख. " ऐसा कहकर ऋषिने अनेक ऐसे अस्त्र, जिनके प्रयोगका जाननेवाला योधा, एक ही समयमें सारी पृथ्वीको भारी भयसे बचानेको समर्थ हो सके, मंत्र, ऋषि, छंद और देवता सहित उसे दिया. (सिखलाया) उसी तरह उन अस्त्रोंको छोड़कर फिर वापस मँगानेका प्रयोग (विधि) भी सिखलाया. फिर बैठे बैठे मंत्रादिकोंका वहीं जप कर ऋषिने उसे बाणसे भरा हुआ एक भाथा और भारी बलसे भी न टूटनेवाला एक धनुष तथा वज्रकी तरह शत्रुके शरीरको चूर्णकर देनेवाली गदा और तीन आयुध देकर कहा; " पुत्र ! सज जा, इस बीतते हुए शुभ कल्याणमय समयमें इन आयुधोंको धारण करनेकी मुहूर्त साधले. तेरा कल्याण हो और तू अपने बलसे अपनी और अपने अनुयायी वर्गकी (प्रजा तथा सेवक वर्गकी) रक्षाकरनेको समर्थ हो. "

गुरुके आशीर्वचन सुनकर वरेप्सु खड़ा हो गया और गुरुके चरणोंमें पड़ यज्ञनारायणको बारंबार दंडवत् प्रणामकर कंधेमें भाथा और एक हाथमें धनुष तथा दूसरे में गदा धारणकर गुरुके आगे खड़ा रहा. उस समय वह ऐसा शोभता था जैसे पिताके वचनोंसे वनमें गये हुए और पंचवटीके आश्र-

समें धनुष बाण धारण किये हुए रामचन्द्र हों. क्योंकि अबतक ऋषिके साथ रहनेसे उसके मस्तक पर भी श्रीरामकी तरह जटा मुकुट था और कमरमें चीरवस्त्र[1] पहरे था. ऋषिने प्रेमसे उसे हृदयमें लगाकर कहा; "हे वत्स! अब तेरा मुहूर्त सध गया, इस लिए आयुधों (शस्त्रास्त्रों)को नीचे रख दे. और जब तेरी इच्छा हो तब कार्यके लिए रवाना होना" वरेप्सुने कहा; "नहीं कृपानाथ! अब भला आयुधोंको नीचे क्यों रक्खूं? मैं तो आपके मुखकमलसे केवल 'रवाना हो" ये अक्षर ही निकलनेका मार्ग देख रहा हूं." उसका ऐसा उत्साह देख गुरु प्रसन्न होकर बोले; "वाह! ऐसा हो तो एक क्षण भी देर न कर. यह बीतती हुई घड़ी बहुत ही अच्छी है. जा, ईश्वरकी कृपासे तू अपने काममें जय लाभ करेगा.

गुरुके मुँहसे इतने वचन सुनते ही वरेप्सुने अगाध प्रेमसे उनके चरणोंमें सिर नवाया और फिर ऋषि पत्नीके पास जा प्रणामकर उनका आशीर्वाद लेकर बाहर आया. उसे कपड़ा लत्ता, पोथी पुस्तक अथवा दूसरी कोई भी वस्तु लेनेकी जरूरत न थी. उसे जो चाहिए सो सब पास ही धनुष और भाथेमें था! ज्यों ही बाहर आया त्यों ही वह यज्ञशाला, आश्रम, वहांके वृक्षादि और उस पुण्यमयी भूमिको प्रणामकरके चलने लगा. समय बीत गया था तो भी उसे इस बड़ी भारी इच्छा (महेच्छा)में भोजन करनेकी याद न रही. गुरुने पहले बातचीत करते समय विश्वपुरीका मार्ग बता दिया था, इस लिए आश्रमसे बाहर निकलते ही उसने सीधा मार्ग धर लिया इधर उधर आड़ा तिरछा मार्ग देखे बिना ही वह झपाटेसे रास्ता पार करने लगा. विश्वपुरी वहांसे अनुमान दस कोस थी और रास्ता गंगाके किनारे किनारे जंगलसे होकर सीधा वहां तक गया था वरेप्सु उस सब मार्गको तय करके संध्याके पहिले ही वहां पहुँच गया. दूरहीसे उसने उस नगरीके बहुत ही ऊँचे सुन्दर दुर्ग और उनसे भी आकाशमें ऊंचे गये हुए नगर बीचके राजमंदिर (राजमहल) पर फहराती हुई ध्वजा पताकावाले शिखर देखे. दुर्ग (किला)के बड़े दरवाजेके सबसे ऊँचे छत पर नक्कारखानेसे नक्कारे और तालके नाद सहित संध्या समयके अनुकूल बहुत ऊँचे और मनोहर स्वरसे गाती हुई नौबत मानो अपने गंभीर गानसे विश्वपुरीके दरबारकी रोबदार समृद्धि (ऐश्वर्य) और राज्य बलकी कीर्ति गा रही थी.

---

१ वृक्षकी छाल या दर्भ (कुश) का बना हुआ कपड़ा.

उसके शब्द वरेप्सुके कानोंमें दूरसे पड़ कर हृदयको व्यथित करने लगे. इन गान शब्दोंको सुनते ही उसके क्रोधावेशमें दुगुनी वृद्धि होगई. वह अपने मनमें कहने लगा कि " दैव और कालबल कितना वली है कि जिस जगह मेरा तीर्थरूप पिता इससे भी अधिक सुख भोगता था आज वह मेरे शत्रुके हाथमें है ! किन्तु हे ईश्वर ! अब मैं अपने पिताका अधिकार फिर स्वाधीन करूं तभी पृथ्वी पर मेरा जीवन है नहीं तो मैं देहको धारण नहीं करूंगा." ऐसे संकल्प विकल्प करते हुए वीर वरेप्सु नगरके पास आ रहा है. उसकी चालकी धमकसे पृथ्वीको धमकते देखकर देखनेवालोंके मनमें अनेक प्रश्न उठने लगे. वे सोचने लगे कि " अरे ! यह तेजस्वी जवान तो शायद कोई ऋषिपुत्र अथवा वेशधारी या तपसे भूला हुआ तपस्वी होगा. पर इनमेंसे कौन है? क्योंकि इसके वेश परसे ऋषिपुत्र कहें तो ऋषि कुमार धनुष बाणको धारण नहीं करते, यदि शस्त्रास्त्रोंपरसे राजपुत्र कहें तो वह ऐसे चीर जटा आदिको धारण नहीं करता. रास्ता चलनेवालोंके मनमें ऐसी शंका पैदा होती है, किन्तु उसके तेजके आगे किसीकी हिम्मत नहीं होती कि उससे इस विषयपर कुछ पूछें !

ऐसा करते हुए वह नगरके पास आ पहुँचा. समय होनेके पहले उसने गंगाके तटपर जाकर संध्या समयकी संध्योपासना की. फिर वहांसे उठकर विचार करने लगा कि "इस नगरके राजाको अपने यहां आनेकी खबर देनेके लिए क्या उपाय करना चाहिए ! क्या उसे युद्धकरनेका संदेशा कहला भेजूं, या उसपर एकदम शस्त्र प्रहार करूं ? परंतु नहीं, शत्रुको सावधान किये विना संकटमें डालना वीरोंका धर्म नहीं. पहले हमें उसको सावधान करना चाहिए. ऐसा सोच कर पीपलका पत्ता लेकर उसने उसपर बाणकी अनी (नोक)से अपने आनेका समाचार लिख उसकी पुड़िया बना कर और अपने उसी बाणकी फणीके साथ बांध धनुप खींचकर उसे राजाके पास भेजनेको छोड़ दिया. वह बाण धनुपसे छूटकर मंत्र बलसे उसी समय आकाशमार्गमें जा कर राजसभामें पहुँचा और सब समाजको आश्चर्यमें डाल कर सिंहासन पर बैठे हुए राजाकी आंखोंके आगे जा गिरा. संध्या होजानेसे सभाके उठनेकी तैयारी थी परन्तु अकस्मात् आ कर गिरनेवाले बाणको देख सबके मनमें अनेक तरंगें उठने लगीं. प्रधानने तुरंत ही राजाके हुक्मसे बाणको हाथमें लेकर पत्र छोरा और खोलकर पढ़ने लगा. उसमें लिखा था; " बीमारीकी अवस्थामें विना कारण मेरे पिताको मार कर तूने उनका राज्य अपने

अधीन किया है. उसे मेरे पास आ कर शीघ्र सौंप दे नहीं तो लड़ाई लेनेको तैयार हो. लिखा विश्वपाल सुत वरेप्सु"

पत्रका यह समाचार सुनते ही सारी सभा सन्न रह गई. राजाके हृदयमें भी बड़ी धड़कन हुई. परंतु वह ऊपरी तौरसे बोला "अः इसमें क्या रक्खा है. राज्यके लोभमें तो ऐसे न जाने कितने चोट्टे बदमाशी करते फिरते हैं. परंतु राज्य क्या कहीं रास्तेमें पड़ा हुआ है?" इतना कह कर सभा विसर्जन करनेकी आज्ञा देने लगा, इतनेमें सामने पड़ा हुआ बाण ऊपर उठ उठ कर नीचे गिरने लगा. यह देख कर प्रधानने कहा, "राजाधिराज! यह बाण पत्रका उत्तर मांगता है. इसे क्या कहते हैं?" यह सुन राजा एकदम उद्धतपनेसे बाणको हाथसे उठा कर दूसरे हाथसे मरोड़ तोड़नेका प्रयत्न करने लगा. इतनेमें बाण बिजलीकी चमकके समान हाथसे ऐसे जोरसे छटका कि उसके धक्केसे राजा लुढ़क पड़ा और बाणका पंख लगनेसे उसका मुकुट जमीन पर जा पड़ा. इससे राजा अपने मनमें बड़ा लज्जित हुआ, परंतु प्रकट कुछ भी न बोल कर सभा विसर्जन कर अन्तःपुर (रनिवास) में चला गया.

वरेप्सुका युद्ध.

इधर वरेप्सु समाचारकी बाट देखते खड़ा था, इतनेमें उसका भेजा हुआ बाण विना किसी समाचारके ज्योंका त्यों लौट आया. अपने पत्रका अनादर होनेसे वरेप्सुको बड़ा क्रोध हुआ और वह सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए. इतनेमें नगरसे किसीकी सवारी आते जान पड़ी. दो घुड़सवार आगे दौड़कर "हटो हटो रास्ता छोड़ो, राजकुमारी आरही हैं" कहते हुए आगे आ पहुँचे. सवारी कुछ दूर थी उसी समय वरेप्सुको रास्ता चलनेवालोंसे पूछनेपर मालूम हुआ कि 'पासके बगीचेमें जगदंबाका मंदिर है, वहां दर्शनोंके लिये अपनी सहेलियोंके साथ राजपुत्री जाती है. अनायास मौका मिला जानकर वरेप्सु अपने मनमें बहुत ही खुश हुआ और साथ ही वह भी धीरेसे भगवतीके मंदिरकी ओर चला गया. राजकन्या देवीके मंदिरके आगे जा कर पालकीसे शीघ्र उतर पड़ी फिर दो सखियोंको साथ ले कर मंदिरमें गई. वरेप्सुने तुरंत अपना काम निकालनेका विचार किया किन्तु उसको स्मरण हो आया कि "अरे! अभी मैं ब्रह्मचारी हूं मेरा समावर्तन (गुरुके घर विद्या पढ़ कर अपने घर लौटनेका) संस्कार भी नहीं हुआ ऐसी अवस्थामें मैं राजकन्याका हरण कैसे कर सकता

हूं! हरण करनेके लिए उसे छूना पड़ेगा और छूनेसे तो मेरा ब्रह्मचर्य व्रत खंडित हो जायगा" क्षत्रिय धर्मके अनुसार जबर्दस्ती कन्या-हरण किया जा सकता है. इस लिए वरेप्सुकी शंका ठीक नहीं थी. वरेप्सु क्षत्रिय-पुत्र था किन्तु ब्राह्मणोंमें पलनेके कारण ही उसे ऐसी शंका हुई थी तो भी उसने सोचा कि 'यह बहुत अच्छा योग आकर उपस्थित हुआ है और कन्याको विना छुए मैं अपने अधीन कर सकता हूं. उसने तुरंत ही भड़ाभड़ मंदिरका दरवाजा बंद कर दिया और अपनी रक्षा करनेके लिए हाथमें गदा लेकर खड़ा हो गया.

कन्याके साथवाले घुड़सवार एकाएक इस तूफानको देख हके बक्के होकर दरवाजा खोलनेका प्रयत्न करने लगे. परंतु वीर वरेप्सुनें उन्हें एक ही हाथसे हटा दिया और अधिक धूमधाम मचानेवालोंको वहीं साफ भी कर दिया. कुछ सवार तुरंत नगरीकी ओर दौड़े उन्होंने राजासे जाकर कहा कि "राजकन्या देवीके दर्शनको गई थी उसको वहां तपस्वी जैसे किसी युवा पुरुषने अकस्मात् मंदिरहीमें बंदकर किवाड़ लगा दिये है और साथके सेवकोंको भी खूब मारा है" यह सुनते ही राजाको दिग्भ्रम होगया. उसने उसी समय प्रधानको बुलाकर एक छोटी सेनाके साथ शीघ्र जाकर राज-कन्याको छुड़ा लानेकी आज्ञा दी. तुरंत रण तुरही बजवाई, अनेक कामोंमें लगे हुए सैनिकोंके मनमें धड़कन हुई. शंख, नरसिंघाके घोर शब्दोंकी सूचना सुनकर सैनिक लोग सब काम छोड़ अपने वाहन (सवारी) कपड़े और आयुध (शस्त्रास्त्र) सजने लगे. फिर आपसमें घुसपुसकर पूछने लगे कि मामला क्या है? कहां जाना है? कौनसी बला आई? सारे नगरमें भी भारी होहल्ला (कोलाहल) मच गया कि न जाने अकस्मात् यह कौनसा तूफान आया है.

यहां मंदिरमें कैद होनेसे राजकन्या अपनी दो सखियोंके साथ खूब रोने लगी. उसीतरह बाहरकी सखियां भी कोलाहल मचाने लगीं. उनको धीरज देकर राजकन्याको सम्बोधनकर वरेप्सु बोला; "राजकुमारी! तू मत घबरा. मुझको तेरा हरण करना नहीं है. क्योंकि अभी मैं ब्रह्मचारी हूं. मेरा मतलब तो कुछ और ही है. वह पूरा होते ही मैं तुझे तेरे पिताको सौंप दूंगा." इस प्रकार वह स्त्रियोंको धैर्य देरहा था कि, इतनेहीमें बड़ी बड़ी मसालोंके प्रकाशमें वहां राजसेना आ पहुँची. उसने भयंकर रणवाजोंकी गर्जना सहित

मंदिरको घेर लिया और पकड़ो पकड़ो, मारो मारो, यह चोट्टा कौन है? क्यों सताया है? पकड़ो, कैद करो, मारो देखो भागने न पावे. ऐसा चिल्लाते हुए बहुतसे बलीवीरोंकी एक टुकड़ी मसालोंके साथ वरेप्सुकी ओर आने लगी. यहां तो वरेप्सु रास्ता ही देखता खड़ा था. उसने कहा "अच्छा आओ, चोट्टा नहीं; परंतु यहां तुम जैसे चोट्टोंको शिक्षा देनेवाला खड़ा है. इस लिए सचेत होकर इष्ट देवका स्मरण करो!" ऐसा उत्तर देते ही धनुपसे धड़ा धड़ बाण छोड़ने लगा. उसकी भीषण और अचूक मारसे सेनाके वीर आश्चर्य कारक रीतिसे जमीन पर उछल उछलकर गिरने लगे. कुछ भी कर सकनेके पहिले सैनिक लोग अपने अनेक वीरोंको जमीन पर अचेत पड़े देख विड़र भागे और नगरमें आकर प्रधानसे कहा कि काम बड़ा कठिन है और बहुतसे वीर मारे गये हैं. प्रधान घबराया. वह राजासे कहने लगा "महाराज! आपने यदि मेरा कहना मानकर संध्याके समय आये हुए पत्रका कुछ भी उत्तर दे दिया होता तो इस अँधेरी रातमें लड़ाईमें मरनेका समय तो न आता." किन्तु राजाने बिना विचार किये ही उद्धत (गँवार) पनेसे एकदम बड़ी सेना सजानेका हुक्म दे दिया. उसने हजारों मसालों सहित स्वयं प्रधानको ही लड़ाईमें चढ़ाई करनेकी आज्ञा देकर कहा; "एक उद्धत बालकको, जिसके पास कुछ सेना नहीं है, पकड़ लेनेमें क्या देर लगना है? प्रधान बड़ी साहसवाली सेना सहित आकर वरेप्सु पर एकदम टूट पड़ा और घमासान युद्ध मचा दिया परंतु ऐसा न था कि जिससे गुरूकी पूर्ण कृपाका प्रसाद पाया हुआ वीर वरेप्सु किसी तरह भी जीता जाय. उसने चारों दिशाओंमें असंख्य बाणोंका वज्रके समान ऐसा जाल बाँध दिया कि अपना सारा बल लगाकर वीर थक गये तो भी उसपर किसी तरहका कलंक नहीं आया। फिर, जैसे बादलोंके हट जानेसे चन्द्र प्रकाशित होता है उस तरह अपने आसपासका जाल समेटकर वह महाभयंकर गर्जना द्वारा योधाओंके हृदयको दहलते हुए बड़ी सावधानीसे अपने हाथकी सफाई दिखाने लगा। उसके तेजस्वी धनुषसे एक ही समय बिजलीकी तरह अनेक चमकते हुए शरों (बाणों)ने छूटकर सारी सेनामें खलबली मचा दी. बाणोंकी मारसे अनेक वीर पृथ्वीपर धड़ाधड़ गिरने लगे. बहुतोंका सिर आकाशमें उड़ने लगा। कईके शस्त्रास्त्र सहित हाथ, भुजाएँ, पैर और नाक, तथा कान, शरकी झपाझप लगती हुई मारसे छिदकर गिरने लगे. बहुतसे घोड़े और हाथी

चिग्घार चिग्घारकर मरने लगे. इस प्रकार फौजमें भारी भगदर पड़नेसे प्रधान जी लेकर भागा।

राजकन्या ये सब काम मंदिरकी एक खिड़कीसे देखा करती थी. वह वरेप्सुके ऐसे पराक्रमसे बहुत चकित हुई. उसने मनमें निश्चय किया कि यह पराक्रमी वीर तो अवश्य ही ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होगा. यह यद्यपि अभी ब्रह्मचारी है परंतु अंतमें विवाह अवश्य ही करेगा. इस लिए इसके सिवा मैं औरके साथ अपना विवाह नहीं करूंगी. यह विचार उसने अपनी सखियोंसे जनाया, उन्होंने भी आनन्दित होकर उसमें अपनी संम्मति दी.

प्रधानको प्राण लेकर नगरकी ओर भाग आया देखकर विषयसेन बहुत ही घबराया. वह गहरे विचारमें पड़ गया कि अब क्या करना चाहिए! कोई पहरभर रात शेष थी इसी समय प्रधानके साथ बैठकर उसने मनसूबा बांधा कि "रातमें लड़ाई करना अपने लिए विशेष हानि कारक है, अब रातभी थोड़ी है, इस लिए दिन होते तक हमें लड़ाईमें नहीं जाना चाहिए. सिर्फ वहां छिपकर यह देखना चाहिए कि कन्याको लेकर यह वीर किसी समय भाग न जाय. प्रधानने कहा ‘ यह वीर कुछ कन्या हरण करनेको थोड़े ही आया कि जिससे उसको लेकर भाग जायगा। लड़ाईका कारण तो आपने उसके उस पत्रसे ही जान लिया है. वह लड़ाई किये विना नहीं रहेगा. इस लिए महाराज! दूसरी सब सावधानी छोड़कर सिर्फ युद्धकी पूरी तैयारी करनेकी हमें जरुरत है." उन्होंने नगरकी सारी सेनाको सूचित किया कि दिन निकलनेके पहले ही सब वीर युद्धस्थलमें जानेको तैयार रहें. जैसे तैसे सूर्योदय होने लगा भेरी बजी और शेष रही सारी सेना सजाकर राजा स्वयम् रणांगणमें आ खड़ा हुआ और जब उसने मंदिरके दरवाजेके आगे आकर देखा तो वरेप्सु धनुषके सहारे वहां तैयार खड़ा था. पहले दिन भोजन नहीं किया था, दश कोस पैदल चलकर आया था और रातभर असीम परिश्रम कर लड़ता रहा, तो भी वह जरा भी आराम न कर राजाके आनेकी बाट ही देखते खड़ा था. राजाको आया हुआ देखकर भयंकर सिंहकी तरह वह गर्जना करते हुए बोला, रे विषयांध विषयसेन, अमृतके समान और सब महात्माजनोंकी ईश्वरोपासनाके लिए ही नियत किया हुआ यह सबेरेका शुभ समय विषयोंके सेवनमें बितानेवाला और उसके भीतर सिर्फ सूर्यको अर्घ्य प्रदान करनेकी भी सावधानी न रख झूठा क्षत्रिय नाम धरानेवाला तेरे समान दूसरा

कौन मूर्ख होगा ? यह तो ठीक है. कोई चिन्ता नहीं. सूर्योदयको अभी बहुत देर है. अर्घ्य प्रदानका समय होते तक तो मैं उस सर्वसाक्षी सविता देवको तेरे मस्तकरूप कमलपुष्प और तेरे ही रक्तसे भरी हुई अंजलिवाला उत्तम अर्घ्य देऊंगा. उठ सचेत हो और प्रभुको याद कर ! " यह सुनकर राजा विषयसेनके कुछ भी उत्तर देनेके पहले ही वरेप्सुने सारी सेनापर अस्त्र-वर्षा करदी. उसने क्षणही भरमें सारे योद्धाओंको घबरा दिया. यह देख योद्धाओंको धीरज देकर राजाने वरेप्सुको बांधनेके लिए नागफांसका प्रयोग किया. परन्तु इसके पहले ही उसने नागास्त्र छोड़कर सारी सेनामें बड़े बड़े भुजंग ही भुजंग (सांप) कर दिये. ये भुजंग योद्धा और वाह-नोंके पैरोंमें लिपट लिपटकर काटने लगे इसे देख तुरंत ही राजाने गरुड़ास्त्र बाण छोड़ा देखते देखते असंख्य गरुड़ आकर सर्पोंको नाश और वरेप्सुको तंग करने लगे. पर वरेप्सु चुपचाप खड़ा न था. उसके धनुपसे नागास्त्र बाण छूटते ही आकाशसे बड़ेबड़े नग* (पहाड़) आकर धड़ाधड़ गिरने लगे जिससे तमाम गरुड़ोंके उड़ जानेपर पहाड़ोंने विषयसेनकी बहुतसी सेनाको घानीकी तरह पीस डाला. राजाकी अपार सेना चारों तरफ थोड़ीसी रह गई. राजाका रथ भी टूट गया. राजा दूसरे रथमें बैठा । परन्तु इस गड़बड़में वरेप्सुने छलांग मारकर राजाके रथका पाश (फांस) खींच लिया और युद्ध करनेके पहले ही उसे जल्दीसे उसीके पाशसे बांधकर नये रथसे नीचे गिरा दिया ! राजा कैद होगया और वीर वरेप्सुकी जय हुई. बंदी राजासे वरेप्सुने कहा "हे अन्यायी ! मेरे पिताके प्राण यद्यपि तूने नाहक लिए थे, परन्तु मेरे आगे तू दीनतासे बँधा हुआ पड़ा है, यह देखकर तुझपर मुझे दया आती है और तुझे मैं अपनी शरणमें पड़ा हुआ देखकर ही नहीं मार सकता ।"

वरेप्सुको राज्यप्राप्ति.

इस तरह वह कही रहा था कि अपनी ओर उसने दशवीश ऋषि पुत्रोंकी टोली आते देखी. ये लोग वरेप्सुके गुरुजीके पुत्र और शिष्य थे. इन शिष्योंको गुरूने वरेप्सुकी खबर लेनेको भेजा था. पहले दिन वरेप्सु गुरूके यहां से विश्वपुरीकी ओर चल निकला था. उसके चले आने पर सब शिष्य भिक्षा मांग कर लौटे और आश्रममें वरेप्सुको न देखकर

* संस्कृतमें नग, पर्वतको कहते हैं.

गुरुजीसे पूछने लगे कि वह कहां गया. गुरुजीने आदिसे अन्ततक सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा, पुत्रो तुम्हारा सहाध्यायी[1] वरेप्सु, अब तक वनमें बसनेवाला एक विद्यार्थी था, किन्तु अब वह फिर राज्याभिलाषी होकर राज्य प्राप्त करनेको गया है और मुझे निश्चय है कि मैंने यत्न करके उसे जो अमूल्य विद्या सिखाई है उसके बलसे वह भविष्यत्में अवश्य ही राज्याधिकारी होगा परंतु उसने कभी भी युद्धका अनुभव नहीं किया. वह अभी बालक है. इस लिए तुममेंसे कुछ लोग कल सवेरे विश्वपुरीको जाओ और उसका सब समाचार जान और उसे देखकर मुझसे कहो. उसका राजयोग बहुत अच्छा है. इससे यदि उसको राज्य प्राप्त हुआ हो तो विना किसी देरके तुरंत राजसिंहासनपर बैठा देना और संध्याको मुझे खबर देना. गुरुजीकी यह आज्ञा सुनकर ऋषिपुत्र बड़े सवेरे उठ स्नानादि क्रियाकर विश्वपुरीकी ओर रवाना हुए और अनुमान डेढ़ पहर दिन चढ़ते वरेप्सुके प्रियबंधु विश्वपुरीके बगीचेमें आ पहुँचे. उन्हें किसीसे यह पूछने और ढूंढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी कि वरेप्सु कहां होगा. क्योंकि वीरोंकी हलचल और वाहनोंकी चीत्कार सुननेसे वे स्वयम् ही देवीके मंदिरकी ओर चले आये. मंदिरके दरवाजेके आगे पाशसे बँधे अशक्त होकर पड़े हुए अपने शत्रूके सामने क्रोधसे अंधा हुआ वरेप्सु भयंकर सिंहकी तरह खड़ा हुआ उन्हें देख पड़ा. उसके मुँहकी क्रोधाकृति, भालेके समान खड़े हुए रोयें और शस्त्रोंके लगनेसे होने वाले घावोंके कारण लहू लुहान हुआ सारा शरीर, फूले हुए टेसूके समान दीखता था. उसी तरह क्रोधसे शिथिल और अति प्रचंड उसका शरीर देखकर, उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ. वे बड़े हर्षसे "वीर वरेप्सुकी जयहो !" की गर्जना करते हुए समीप आ पहुँचे. उन्हें देखकर वरेप्सुने नमस्कार किया और विस्मयसे पूछने लगा "आप सब यहां कहां थे ?"

वे आपसमें बातें करते थे, इतनेमें 'राजा मरा, राजा पड़ा' ऐसी झूठी अफवाहें उड़ानेके लिए नगरसे रानी और राजाके कुटुम्बी लोग रोते हुए संग्राम भूमिमें आ पहुँचे किन्तु उसे जीता देखकर शान्त हुए. उस समय अपने मनमें राजा इतना लज्जित हुआ कि मेरी ऐसी दशा स्त्री और नौकर देखें इससे तो मैं आत्मघात करलूं यही अच्छा. मैं लड़ाईमें ही माराजाता तो मुझे

---

१ साथका पढ़नेवाला साथी.

ऐसा अपमान तो सहन करना नहीं पड़ता. इस लिए वह प्रकट रूपसे बोला; "हे वीर! मुझे तूने जीता क्यों छोड़ा है? मेरी यह कमरकी तलवार निकालकर मेरा शिर अलग करदे." परंतु निर्बलका मारना वीरका धर्म नहीं, ऐसा प्रत्युत्तर मिलनेसे उसने प्रतिज्ञा की कि अब मैं जंगलमें तपश्चर्या करके ही उमर पूरी करूंगा!

इस प्रकार विजय प्राप्त वरेप्सुको ऋषि पुत्रोंने फिर कहा "बन्धु! अब देरकरनेका काम नहीं है. नगरमें चलो और राज्यका मुहूर्त साधलो. राजकन्याको तुरंत मंदिरसे बाहर कर उसके पिताको सौंपकर वरेप्सु ऋषिपुत्रोंके साथ नगरके बीचमें बने हुए राजमहलके सामने आया. उसको आते हुए देखकर वहांके द्वारपाल नौकर आदि इधर उधर भागने लगे. उन्हें समझा और धीरज देकर पास बुलाया और उनके द्वारा सभाके मुख्य मुख्य अधिकारियोंको बुलवाकर उन्हींके सामने ऋषि पुत्रोंसे राजतिलक करवाया उसी समय भारी जय घोष सहित राज्यासनके राजदंडपर वरेप्सुके नामका ध्वजा आरोपित किया गया और उसीके नामका जीतका बाजा बजवाकर नगर और राज्यमें उसकी आज्ञा फिरवाई गई!

वरेप्सुने फिर रथ—म्याना आदि सवारी सहित बहुतसे अधिकारियोंको बंधनमें पड़े हुए राजाको लानेके लिए भेजा. राजाने उन्हें उत्तर दिया कि "अब तो इस संसारमें जीनेके बदले मृत्युको प्राप्त होऊँ अथवा निर्जन स्थानमें जाकर प्रभुका आराधन करूं यही मैं उत्तम समझता हूं. अब तो मैं यहांसे जंगलमें जाऊँगा. परंतु अपनी यह लड़की, जिसको व्याहके योग्य होनेसे साथमें ले जाना उचित नहीं है तुम्हारे साथ इस लिए भेजता हूं कि वीर वरेप्सु इसको अपनी पत्नीवत् स्वीकार करे. उसने पहले इसे हरण किया और क्षात्र धर्मके अनुसार इस कार्यमें विजय प्राप्त होनेसे वह इस कन्याका पति होनेको योग्य है." इतना कहनेसे वरेप्सुके नौकरोंने विषयसेन राजाको बंधनसे मुक्तकर दिया, उसी समय वह रानी सहित एक रथमें बैठकर जंगलको चला गया. नौकरोंने नगरमें आकर वरेप्सुको यह समाचार सुनाया और राजकन्या उसके अधीन करदी.

वरेप्सुने आजका दिन तो गुरुपुत्रों सहित ब्रह्मभोजन, पुण्यदान आदि धर्मके कामोंमें बिताया. दूसरे दिन एक बड़ी सेना सजाकर अपने गुरुजीको नगरमें लानेके लिए उनके आश्रममें गया. गुरुजीने हर्षपूर्वक उसे हृदयसे

लगा लिया और कहा, "पुत्र ! अब मुझे पूर्ण संतोष हुआ है. इस लिए विषयसेनकी कन्याका विवाह कर परम सुख भोग, और नीतिसे प्रजाका पालन कर. यही मेरा आशीर्वाद है" दूसरे दिन राजपुत्रके बहुत प्रार्थना करनेपर गुरुजी अपने परिवार और शिष्य समूहके साथ विश्वपुरीको गये और वहां बहुत दिनोंतक रहकर, शुभ मूहूर्त आते ही राजकन्याके साथ वरेप्सुका ब्याह आरंभ किया तथा अनेक आशीर्वाद देकर वहांसे फिर अपने आश्रमको लौट आये."

अप्सरासमागम.

इतनी कथा कह थोड़ी देर शान्त रहकर वह वृद्ध ऋषि फिर बोला, "द्विजवरो ! इस तरह बहुत कठिन अवस्थामें उत्पन्न और पाला हुआ वरेप्सु सत्संग होने और पुरुषार्थ करनेसे धीरे धीरे श्रेष्ठ स्थितिमें आ पहुँचा. परंतु इतनेहीसे संतुष्ट न होकर उसने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक देशोंको जीतकर राज्यकी सीमा बढ़ाई उसकी हुकूमत लम्बी चौड़ी भूमिमें चलने लगी. प्रजाके बहुत प्रसन्न होनेसे सब जगह उसकी प्रशंसा होने लगी और बालकसे वृद्धतक सवेरे उसके मंगलकारी नामका स्मरण करने लगे.

इस प्रकार राज्य, धन, धर्म और कीर्तिसे बड़ा समृद्ध शाली वरेप्सु राजा, एक समय अपने साथ बहुतसी सेना लेकर राज्यमें दौरा करनेको निकला. राज्यमें दौरा करनेसे राजाको अपने राज्यके प्रत्येक स्थान, नगर और गाँवमें रहनेवाली प्रजा सुखी है अथवा दुःखी, वह अपना निर्वाह किस तरह करती है, प्रत्येक स्थानमें कौन कौनसी वस्तुएँ पैदा होती हैं, उन उन स्थानोंमें नियत किये गये अधिकारी न्यायसे वर्ताव करते हैं या नहीं, धर्मका पालन होता या नहीं और अपनी सत्ता (अधिकार) प्रजाको प्रिय है या नहीं, आदि बातें मालूम होतीं हैं. वह अनेक देश, नगर, गाँव वन और उपवनोंको देखते हुए अपने राज्यकी उत्तर सीमाके पासवाले दूरके त्रिविष्य नामके ऊँचे वन प्रदेशमें जा पहुँचा. यह प्रदेश बिलकुल अलौकिक रचना और शोभावाले वन तथा सब स्वाभाविक सृष्टिकी सुन्दरतासे नित्य परिपूर्ण रहता है. अप्सराओंके सहित देवता भी अनेकबार स्वर्गका नंदनवन छोड़कर यहां क्रीड़ा करने आते हैं. ऐसे सुन्दर रमणीक वनको देखकर वरेप्सुको उसे अच्छी तरहसे देखनेकी इच्छा हुई. सैन्यका पड़ाव सीमा पर ही डालकर, अकेले घोड़ेपर सवार होकर वह वनमें चला.

वनभूमि सुवर्ण जैसी थी. नये पत्तों, फूलों और फलोंके भारसे सदा झुके हुए घटादार वृक्ष चारों तरफ फैले हुए थे! उनपर मनहर शब्दोंसे विलास करते हुए अनेक सुन्दर पक्षी कल्लोल कररहे थे. खिले हुए विचित्र कमलके फूलोंसे ढँका हुआ निर्मल जलवाला और हंस, चतक, सारस, मोर आदि पक्षियोंसे घिरा हुआ सरोवर दिखाई देता था. अनेक प्रकारके फूलोंसे निकलकर उत्तम सुगंधसे सना हुआ पवन बहरहा था. मृग आदि निर्दोष वन्य पशुओंकी दौड़ती हुई पांतें आंखोंको आनंद देती थीं. वृक्षोंसे गिरे हुए विचित्र फूलोंसे ढँकी हुई पृथ्वी ऐसी लगती थी मानो किसी राजाने यज्ञ करनेके लिए पूजन करके उसे तुष्ट किया हो. यह सब देखकर वरेप्सु आनन्दमें डूब गया. यह शोभा देखते हुए वह इतनी दूर निकल गया और समय भी इतना बीत गया कि उसका उसे स्मरण नहीं रहा. ठीक मध्याह्न (तीसरा पहर) हुआ, घोड़ा भी थकने लगा, तो भी वृक्षोंकी घटा इतनी घनी थी कि कहींसे आकाश खुला हुआ न दिखनेसे सूर्यनारायणके दर्शन भी न हो सकते थे. ऐसी अलौकिक रचना देखते, पक्षियोंका कल-रव सुनते, जलके झरने देखते हुए वरेप्सु अब भी आगे ही बढ़ते गया. चलते चलते वह एक सरोवर पर जा पहुँचा. सरोवरके जलपर सूर्यका प्रकाश पड़नेसे उसे मालूम हुआ कि मध्याह्न होगया है तो भी मैं अपने आह्निक कर्मको क्यों भूल जाता हूँ? वह तुरंत घोड़ेसे उतर पड़ा. घोड़ेको एक अशोक वृक्षकी जड़से बांधकर, कपड़े उतार सरोवरमें नहानेको उतरा. सरोवरका जल अमृतके समान मीठा और सोनेके समान स्वच्छ था. अत्यन्त गहरे जलमें भी उसकी तली साफ दीखती थी. कीचड़का तो उसमें नाम भी नहीं था. स्नान करनेके बाद वरेप्सुने यथाविधि मध्याह्न संध्या, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण इत्यादि नित्यकर्म करके फिर कपड़े पहने. थोड़ी देर विश्रामकर उसने फिर भी आगे बढ़नेका विचार किया. पहले तो इस अलौकिक वनकी शोभा देख कर ही मनुष्यकी भूख प्यास शान्त हो जाती और सारे दुःख भूल जाते थे तो भी भूख प्यासको शान्त करनेके साधनोंकी यहां कुछ कमी भी नहीं थी. अनेक प्रकारके स्वादिष्ट और गुणकारी दिव्यफल, वृक्षोंपर और उनके नीचे तैयार पड़े थे. उनमेंसे मीठे और आरोग्य वर्धक फल बीनकर राजाने ईश्वरको अर्पण[1] कर भक्षण किये. इससे उसे ऐसा संतोष हुआ

---

[1] ईश्वरको निवेदन करके इस लिए भक्षण किया कि संसारकी सब चीजें ईश्वर

मानो पांचो पकान्न खाया हो. फिर वह अशोक वृक्षके नीचे लेटकर आनंदमें डूब गया. थोड़ी देरमें अत्यंत सुखद पवनकी लहरोंसे वह आनन्ददायी नींदकी गोदमें सोगया.

न तो वह गाढ़ी नींदमें था न जागता ही था. इस प्रकार सोते हुए उसने एक चमत्कार देखा। उसको मालूम हुआ कि कोई ऐसी सुन्दर दिव्य स्त्री जिसे उसने आजतक कभी भी नहीं देखा, पास आकर अपने हाथोंसे उसके पैरोंको दाव रही है. वरेप्सुके शरीरको उसके अत्यन्त कोमल हाथोंका स्पर्श होरहा है वह मानों राजाको वहुत सुन्दर और तेजस्वी देखकर मोहित होगई है और इसीसे उसके शरीरसे लिपट जानेको आतुर होरही है. परन्तु राजाकी अपेक्षा अपना पद उत्तम देखकर ऐसा करनेसे लज्जित होती और मनमें डरती है कि यदि मैं ऐसा करूंगी तो कोई देख लेगा. ऐसा मालूम हुआ कि वह कमलकी पँखुरीके समान वड़े कोमल तथा मृगके समान अपने नोकदार (तीक्ष्ण) सुन्दर नेत्रोंको फेरकर इधर उधर देख रही है. इतनेमें उस दिव्य स्त्रीको ऐसा मालूम हुआ मानो किसीने उसे देख लिया है. इस लिए वह एकदम खड़ी होगई और अपने हाथके वहुत ही सुन्दर फूलोंको राजाकी छातीपर रखकर वहांसे विजलीकी चमकके समान गायव होगई !!

राजा एकदम जाग उठा. वह विरहवेदना और आश्चर्यसे वहुत घवरा गया. उसने खड़े होकर इधर उधर चारों तरफ देखा किन्तु कहीं भी वह नवयौवना दिखाई न पड़ी तव हार कर ' अरे यह तो नींदमें व्यर्थ ही मुझे दिखी ' ऐसा मनमें कहकर वह फिर वैठ गया. परंतु उसका मन शान्त नहीं हुआ. वैठे हुए भी वह चारो तरफ देखरहा था. वह सोचरहा था कि उसको मैंने स्वप्नमें देखा या जागतेमें ? इतनेमें उसकी दृष्टि अपने शरीरपर पड़े हुए फूलों पर गई. फूलोंको देखकर उसके हृदयकी लहर (तरंग) दूनी तेज हो गई. उसको निश्चय हुआ कि, नहीं, यह स्वप्न अथवा धोखा नहीं है, किन्तु-सत्य है. क्योंकि जाते समय उस सुन्दरीने चिह्नोंकी भांति मुझ पर जो पुष्प डाले हैं वे ये प्रत्यक्ष हैं. वरेप्सु अपने मनमें ऐसी उधेड़वुन कर ही रहा था कि इतनेमें उसे अपने सामनेकी दूरकी वृक्ष लताओंमें कोई कपड़ा फहराता हुआ देख पड़ा. वह वहुत देरतक उसकी ओर देखता रहा.

की है और उसीकी कृपासे हम मनुष्योंको मिली हैं. इस लिए प्रत्येक वस्तु पहले सद्भावसे ईश्वरको अर्पणकर उसके प्रसाद रूपसे ही हमें उपयोगमें लानी चाहिए.

उसी समय उसे कोई स्त्री जाती हुई देख पड़ी. वह तुरंत ही खड़ा होगया और घोड़ेको वहीं छोड़कर जल्दीसे उसी दिशाकी ओर चला. जब वह सघन वनके बीचमें पहुँचा तो वह जानेवाली स्त्री पीछे फिर फिर कर तिरछे नेत्रोंसे उसके हृदयको बेधती हुई देखने लगी. वह राजाको देखते ही वृक्षकी ओटमें छिपजाती परंतु फिर थोड़ी देरमें अपनी मोहक दृष्टि उसकी ओर फेंकती हुई जल्द जल्द चलने लगती थी. ज्यों ज्यों राजा उसका सुन्दर मुँह देखता गया त्यों त्यों उसका मन और भी मोहित होता गया. वह और पास गया तो उसके शरीरका दिव्य और विचित्र रंगका बहुत ही महीन कपड़ा, जिसमेंसे उसके सिरकी वेणी तथा शरीरके प्रत्येक अंग बिलकुल ही साफ दिखते थे, देखकर विरहाकुल बन गया. उसके पैरोंकी दिव्य झांझसे होनेवाली बहुत ही सुहावनी धीमी झनकार, कपड़ों शरीर और बालोंमें लगा हुआ भिन्न भिन्न और सुगंधित द्रव्य और वायुके साथ उसका आनेवाला बहुत ही मस्त परिमल, गौर शरीर होने परभी तपाये हुए सोनेके समान उसकी दिव्य कान्ति अर्थात् सुन्दरतासे परिपूर्ण प्रतिमाके समान देखकर राजाकी एक भी मनोवृत्ति हाथमें नहीं रही. जागृत (उत्तेजित) होकर सब इन्द्रियोंने उसे उन्मत्त बना दिया. राजाकी सद्वृत्ति चली गई. वह धैर्य खो बैठा और जल्दीसे दौड़ा. कुछ समयमें उस दिव्यांगना (प्रतिभा पूर्ण स्त्री)के समीप जा पहुँचा. इस समय वह अपने पवित्र और मुख्य धर्मको भूल गया. व्यभिचारी पुरुषकी तरह उसके मनमें यहभी शंका न हुई कि मैं किसी दूसरी स्त्रीकी अभिलाषा (इच्छा) करता हूँ. कामके वश होकर वह पास गया और अकस्मात् दौड़कर उससे लिपट गया वह ज्योंही उसे दोनों हाथोंसे पूरे प्रेमके जोशमें आकर आलिंगन करने लगा त्योंही वह रमणी बिजलीकी चमककी तरह उसके दोनों हाथोंके बीचसे सड़ाकसे सटक गई और देखते देखते उसकी आंखोंके आगेकी अति सुन्दर पल्लव घटामें लोप होगई ! यह देख कर राजा ' अ ह: ह: ह: ह: ' करके रोने लगा: मानो उसको भारी घाव लगा हो. विरह बाणसे विद्ध हुए हृदयकी महा पीड़ाके कारण धड़ामसे जमीन पर पछाड़ खानेसे वह उसी समय मूर्छित होगया.

वह तरुणी स्वर्गकी एक अप्सरा थी. उस दिन बहुतसी अप्सराओंका समूह एक विमानमें बैठकर इस सुन्दर वनमें विहार करनेको आया था. वह अप्सरा भी सबके साथ वनलीला देखनेको आई थी. वनके एक बहुत ही रमणीक स्थानमें विमान उतारा गया. फिर बहुतसी सखियां जल क्रीड़ा

करनेको सरोवरमें पैठीं. कई एक किनारे पर खेलने लगीं और बहुतसी वनकी शोभा देखते हुए वृक्षलताओंमें जहां तहां फिरती थीं. इनमेंसे यह अप्सरा, वनमें अकेली फिरते फिरते दूर निकल गई. वह फिरते फिरते वहां आ पहुँची जहां राजा सोता था. उसने राजाको एक पेड़के नीचे सोते देखा. राजा यद्यपि इसी भूतलका था तो भी उसके शरीरकी सुन्दरता, राजतेज और बल पराक्रम अलौकिक (स्वर्गीय) था. इससे उस अप्सराका मन उसपर मोहित हो गया. वह राजाके पैरोंके पास आकर खड़ी रही, और उसके जगानेके लिए पैरों पर हाथ फेरने लगी. परंतु ऐसा करते हुए मनमें भय करती थी कि ऐसा न हो कि कहीं मेरी कोई सखी देख ले और मेरा तिरस्कार कर यह बात देवराज इन्द्रसे कह दे तो मुझे भारी दण्ड मिले. इसी भयसे वह चमकती और चारों तरफ देखती थी. थोड़ी देरमें पासके वृक्षोंमें हवाके झोकोंके लगनेसे कुछ खड़खड़ाहट हुई. उसको सुनते ही उसने सोचा कि सचमुच ही मेरी कोई सखी आगई है. इससे वह झटसे अलग होगई और अपने हाथोंके फूलोंको राजा पर छोड़कर वहांसे शीघ्र चली गई. जब राजा उसके पीछे पड़ा तो वह भी उस समय कामके वश होगई, किन्तु अपने क्रीड़ा स्थानके पास पहुँच जानेसे 'अरे यह क्या ? यह तो गजब हुआ. अब तो मेरी बात सखियोंने जरूर ही जान ली होगी.' इस भयसे वह राजाके हाथोंके बीचसे सटक गई और बड़ी जल्दीसे धड़कते हुए हृदयसे सखियोंके बीचमें जा पहुँची. उसकी धड़कती हुई छाती और थरथराते अंग, तथा सांसभर दौड़ती आती देखकर कई सखियां पूछने लगीं, " सखि तिलोत्तमा यह क्या है ! तू किस भयमें है ? मृत्युलोकमें हम स्वर्ग वासियोंको और क्या भय है ? कुछ संकट हो तो बता, हम लोग उसे दूर करें. " दूसरी कई सखियां हँसी करती हुई बोलीं, " अरे भय तो क्या किन्तु इसकी यह दौड़ कुछ और ही प्रकारकी जान पड़ती है. कोई नवयुवा रगीला मिला होगा. यह सुनकर अप्सरा तिलोत्तमाने विचार किया कि मेरी बात जब ये सब सखियां जान ही गई हैं तो मैं उसे प्रकट क्यों न कर दूँ. फिर धीरज धर मनको शान्तकर, तिलोत्तमा बोली; " तुमने जैसा कहा वैसाही है. मैं वृक्षोंके समूहमें फिर रही थी, इतनेमें मुझे दूरसे देख कर एक सुन्दर पुरुष मेरे पीछे लगा है जिससे मैं सरपट दौड़ कर यहां आ रही हूँ. " यह सुनकर वे बोलीं, वाह ! यहां मनुष्य कहांसे ? ऐसा हो तो, हमें यहां अब अधिक समयतक ठहरना उचित नहीं, चलो. "

सारी अप्सरायें उसी समय झट विमानपर जा बैठीं. विमान अनेक तरहके शब्द करता हुआ उड़ा और धीरे धीरे ऊँचे चढ़ गया. और फिर जोरसे गतिमें आगया. इस प्रकार वनकी शोभा देखते जाती हुई वे अप्सराएँ अपने रास्तेकी वनघटामें मूर्छित पड़े हुए एक तेजस्वी पुरुपको देख कर बड़े विस्मयमें पड़ीं. फिर सब एक साथ बोल उठीं 'अहाहा! देखो, देखो वही पुरुप. वाह! वाह! कैसा सुन्दर रूप है.' उसी समय काम वश हुई वह अप्सरा बोली "यही मेरे पीछे लगाथा और मैं सोचती हूँ कि मुझे पा न सकनेके कारण ही उसकी यह दशा हुई होगी." कई उसके पास जाकर देखनेकी आन्तरिक इच्छासे फिर बोलीं, "अरे यह कबतक इस दशामें पड़ा रहेगा? न जाने कहांसे आया होगा और कहां जायगा? फिर जब हम लोगोंके लिये ही इसकी यह स्थिति हुई है, तो हमें इसको ऐसी ही दशामें छोड़ जाना योग्य नहीं." इस बातमें सबका मत एक होनेसे उन्होंने विमानको जल्दीसे नीचे उतारा. इन अप्सराओंमेंसे एक अप्सराने जमीनपर आ राजाके आगे खड़ी होकर कहा "हे वीर! हे राजन्! (इसके तेजको देखकर अप्सराने सोचा यह राजा ही होगा) तुझे क्या अपनी रानी और राज्यकी चिन्ता नहीं कि जिससे इस निर्जन वनमें तू निश्चिन्त सोरहा है? हे रूपसुन्दर! युद्ध करते समय क्या किसी मर्मस्थानमें बलवान् योद्धाके बाणकी चोट लगी है, अथवा हममेंसे किसी रमणीके कटाक्ष बाणसे तेरा मर्मस्थान (हृदय) भिद गया है? उठ, सावधान हो और नगरकी ओर जा." ऐसा कह कर उसने तुरंत अपने पासके अमृत रससे उसके मुँह आंखों और गालोंको सींचा, इतनेमें वरेप्सु अँगड़ाई लेकर तुरंत उठ बैठा और व्याकुलके समान "हे सुन्दरी, हे रमणी, तू क्यों भाग गई? हाय! हे कुटिल! क्या तुझको धिक्कार नहीं है कि तूने मुझको स्वयम् छेड़ा और फिर छोड़कर चली गई? ऐसे उद्गारोंसहित निःश्वास छोड़ने लगा. और जब थोड़ी देरमें आंखें खोल सावधानीसे देखने लगा तो पहले देखी हुई रमणीके समान उसे अनेक रमणियां दीख पड़ीं. उन्हें देखकर उसके आश्चर्यकी सीमा न रही. उसी तरह ये सब अप्सराएं भी उसकी कान्ति और छटा देखकर मोहित हो गईं. वह वृद्ध ऋषि सब ब्राह्मणोंको सम्बोधनकर फिर कहने लगा, हे द्विजवरो! इसपरसे आप लोगोंको यह तो मालूम ही हुआ होगा कि अप्सराओंने जिस पुरुषको मूर्च्छित अवस्थामें पड़े हुए देखा था वह राजा वरेप्सु ही था. उसने उन अप्सराओंको

देखकर कहा "अहो पहले मैंने जैसी कभी नहीं देखी ऐसी कान्तिवाली, हे युवतियों, तुम कौन हो? यह दिव्य विमान भी जिसको मैंने आज पहले ही पहल देखा है, परन्तु वर्णन सुननेसे अनुमान कर सकता हूँ कि यह विमान ही है और स्वर्गकी वस्तु है, वह इस भूतलमें कैसे आया?" ऐसा पूछते हुए उसने विमानमें उस अप्सराको बैठे देखा जिसे देख उसके पीछे दौड़कर मूर्छित हुआ था. उसको सम्बोधन कर वह बोला "अय निर्दय! मेरी दुरवस्थाकर इस प्रकार सखियोंमें क्यों दूर जाकर बैठी है? पहले प्रेमका चिह्न दिखाकर फिर इस तरह त्याग करना क्या तुझ जैसी को उचित है? चाहे मेरे पास आ, नहीं तो मुझको अपने पास लेजा और सुखी कर. हे सुन्दरी! तेरी सुन्दरताको देख कर तो इस भूमिका सौन्दर्यरूप यह अनुपम वन भी लज्जित होता है. ऐसे अद्भुत शरीरसे क्या तू इस शोभामय स्थानकी शोभा और भी बढ़ा रही है? क्या तेरे और तेरी इन सखियोंके रहनेका इससे भी बढ़कर कोई विशेष स्थान है? हे शोभाकी खान (लावण्यमयी) अब मुझको दुःखी करना तुझे उचित नहीं है. तू मुझे त्याग देगी तो मेरे प्राण मेरा शरीर छोड़ देंगे और इसका पाप तुझे लगेगा."

यह सुनकर वह अप्सरा बोली "हे वीर! तू जो कहता है सो सत्य है. तेरी सुन्दरता ऐसी है कि जिसको देखकर स्त्री जातिको स्वयम् मोह उत्पन्न हुए विना नहीं रहता. मुझको भी वैसा ही होनेसे मैं तुझको प्राप्त करनेको ललचाई, परन्तु वैसा होनेसे मैं धर्मनीतिके मार्गको पार कर जाती हूँ. मर्यादाको तोड़ डालती हूं. इतना ही नहीं किन्तु अपने नियंता (राजा) देवराज-इन्द्रकी समर्थ आज्ञा न माननेवाली होऊंगी और इससे न जाने मुझे कितना बड़ा दण्ड मिलेगा. ऐसा स्मरण होनेसे मैंने बड़ी कठिनाईसे अपने मनको खींच लिया है. तथापि वह अभीतक पूरी तरहसे खींचा ही नहीं जासका है. हमारा निवासस्थान इस भूलोकसे बहुत ही श्रेष्ठ, अपार सुखरूप और दिव्य है. वह स्वर्गके नामसे विदित (जाहिर) है. हम जातकी अप्सराएँ हैं. हमारा-कर्तव्य गीत और नाच द्वारा इन्द्रादिक देवोंको प्रसन्न करना है. यदि तेरा और अपना मन प्रसन्न करनेको अर्थात् तेरे प्रेम पाशमें बँधकर मैं अपने अप्सरा पदको छोड़कर यहां रहूं तो पहलेके बड़े पुण्य समूहसे प्राप्त हुआ यह सुखशा पद फिर मुझे न मिले. इतना ही नहीं किन्तु मुझे बड़ा भारी शाप भोगना पड़े. और यदि तुझे साथ लेकर स्वर्गमें जाऊँ तो पहिले तो अधिकार न

होनेसे तू वहां प्रवेश ही करनेको समर्थ न हो सकेगा और यदि किसी तरह प्रवेश भी करा दिया गया तो उसी समय बात प्रकट होजायगी और तेरे तथा मेरे नाश होनेका अवसर उपस्थित होगा."

यह सुनकर राजा बोला; "अहो ! तुम्हारा स्वर्गस्थान इतना उत्तम है. कि उसमें मुझको प्रवेश करनेका भी अधिकार नहीं है; मुझको बताओ वहां किसको प्रवेश करनेका अधिकार है ? तुम स्वर्गवासियोंको छोड़कर क्या दूसरा कोई अधिकारी ही नहीं है ? ऐसा है तो तुम्हें हमारी भूमिपर आनेका क्या अधिकार है ?

वह अप्सरा बोली; " हां, हमारा स्वर्गस्थान बहुत ही उत्तम है, वहां मनुष्यको जानेका अधिकार नहीं है." परन्तु मनुष्योंमें भी जो तप सत्कर्म और योग शक्तिके बलसे देवरूप हुआ है, वह यदपि अपने बलसे मनुष्य देहसे भी वहां जा सकता है. फिर मनुष्योंमें भी बहुत ही पुण्यवान् प्राणी जो अपने वर्णाश्रम धर्मको अच्छीतरह पालन करते हुए दान, तप, व्रताचरण, यजन, पूजन इत्यादि अनेक पुण्य कर्म करता है, वह अपने मनुष्य शरीरको छोड़ने पर दिव्य देह धर कर वहां आता और अपार सुख भोगता है. हमें तो तीनों लोकोंमें जानेका अधिकार है स्वर्गवासी जैसे सुख भोगनेमें श्रेष्ठ हैं, वैसे ही मनुष्योंसे उनका अधिकार भी श्रेष्ठ है. स्वर्गसे लगाकर हमारे नीचेका भुवर्लोक और उससे भी नीचे तुम मनुष्योंका यह भूलोक तीनोंमें इन्द्रराजाकी राजसत्ता है, इस लिए जहां इन्द्रका अधिकार है वहां हमें सब जगह फिरनेका अधिकार है.

यह सुनकर राजा बोला; "ऐसे पुण्यवान् और अच्छे कामोंके योगसे दिव्य देह धरकर जानेवाले मनुष्य प्राणियोंकी संख्या तो स्वर्गमें आजकल थोड़ी ही होगी." अप्सरा बोली; "नहीं, नहीं." जितनी चाहिए उतनी है ! विचार कर देखो तो सारा स्वर्गलोक केवल पुण्यवान् मनुष्य प्राणियोंसे ही भरा है. स्वर्गमें बसनेवाले तो क्या, किन्तु उनपर अधिकार (हुकूमत) चलानेवाले देवता और उन देवोंके अधिपति (मालिक) अर्थात् सारे स्वर्गलोकके राजा इन्द्र भी पूर्वजन्मके अपार पुण्यवान् मनुष्य प्राणी ही हैं. तेरी दृष्टिके आगे खड़ी हुई हम और हमारी नाईं तथा हमसे भी अधिक अधिकारवाली स्वर्गमें बसनेवाली दूसरी अप्सराएँ भी पूर्वजन्मकी कोई महापुण्यभागिनी मनुष्य अबलाएँ ही थीं.

वरेप्सु विस्मित होकर बोला; "अहा ! तो क्या मनुष्योंमेंसे ही स्वर्गाधिकारी हो सकते हैं ?" तब तो मैं सोचता हूँ वह पद प्राप्त करनेके साधन भी नियत करके रक्खे गये होंगे न ?

"अप्सराने कहा; "माता पिताकी सेवा करनेवाला पुत्र, सच्चे प्रेमसे पतिकी यथार्थ सेवा करनेवाली पत्नी, अपनेको समर्पण कर स्वामीकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाला सेवक, अपनेसे बड़े श्रेष्ठ—गुरु—जनोंकी सेवा करनेवाला छोटा आदमी, पुत्रके समान प्रजाकी रक्षा और पालन करनेवाला राजा, अग्निहोत्रादि क्रियामें लगा रहनेवाला ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य (द्विज), धर्म और दूसरेकी भलाईके लिए प्राण देनेवाला स्त्री वा पुरुष और धर्म युद्धमें पीठ न दिखाकर प्राण देनेवाला योद्धा इत्यादि मनुष्य संसारमें धन्य हैं. वे इस देहको छोड़नेके बाद स्वर्गके अधिकारी होते हैं."

इतना कहकर वह अप्सरा चुप हो रही, परन्तु राजा वरेप्सुको सन्तोष नहीं हुआ. इसमें तो इसके नामके ही समान गुण थे (वर अर्थात् श्रेष्ठ, इप्सु अर्थात् इच्छा रखनेवाला इस लिए वरेप्सु) उसने पूछा; "हे दिव्य रमणी ! यह तो ठीक है परन्तु स्वर्गमें सबसे श्रेष्ठ जो इन्द्रका पद है, वह किस साधनसे मिल सकता है ?"

यह प्रश्न सुन सब अप्सराएँ हँस कर बोलीं; "वाह ! यह पद प्राप्त करनेका साधन तो इसके नामसे ही साफ समझमें आता है. मृत्युलोकमें जो मनुष्य एक सौ अश्वमेध यज्ञ करता है उसे स्वर्गमें इन्द्रपदका अधिकार प्राप्त होता है." इस लिए इन्द्रका नाम 'शतक्रतु—सौ यज्ञ करनेवाला' है. इसकी अपार सत्ता है, इसका सुख अपार है. इसका अत्यन्त तेज है. इसका बल अप्रतिम (अद्वितीय) है. यह तीनों लोकका मालिक है, और हम सब स्वर्गवासी, सब देवता तथा सब लोकपाल इसकी आज्ञा मानते हैं. इस लिए हे वीर ! इस प्रकार तू और मैं दोनों अनधिकारी और परतन्त्र है इस लिए तू अपनी अभिलाषा छोड़ दे. और शान्त होकर अपने स्थानमें जा तथा स्वर्ग प्राप्त करनेके लिए उत्तम पुण्य साधन कर !

यह सुनकर वरेप्सु बड़े गंभीर विचार और नई तर्कनाओंमें पड़ा. फिर उसके कुछ भी बोलने या कह सकनेके पहले ही सब अप्सराएँ विमानमें सजकर बैठीं और राजाके देखते देखते विमान मीठे मीठे बाजोंका शब्द करते हुए आकाशकी ओर उड़ गया. राजा ऊपर देखता ही रहा और वह

जाता है ! वह जाता है ! ऐसा कहते हुए विमान थोड़ी देरमें बहुत दूर निकल जानेसे दृष्टिसे गायव हो गया.

आशा निराशा और नई नई इच्छाओंकी बाढ़में गोते खाता हुआ वरेप्सु उदास मन जैसे तैसे वहांसे फिर आया. वह धीरे धीरे चलता हुआ अपने घोड़ेके पास आया बहुत देर तक अकेला रहनेसे घोड़ा भी अधीर हो उठा था. वह राजाको देखते ही प्रसन्नता प्रकट करने लगा. राजाने सोचा यदि यहां विलम्ब करूंगा तो उदासीनता बढ़ती जायगी. इस लिए घोड़े-पर सवार होकर वहांसे पीछे फिरा. रास्तेमें चलते हुए उसके मनमें अनेक तरंगें उत्पन्न हुईं. विमान, अप्सराएँ, उनका रूप, उनके दिव्य कपड़े और गहने, उनकी अनोखी स्वर्गकी सुख समृद्धि आदि वस्तुएँ एक पलभर भी उ-सकी आंखोंके आगेसे नहीं हटीं. उसने सोचा, मैं कौन सत्कर्म करूं जिससे ये वस्तुएँ प्राप्त कर सकूं. इन वस्तुओंको प्राप्त करके अधीन रहकर भोग-नेमें क्या है ? सारा स्वर्ग इन्द्रके अधीन है । सचमुच सुखको भोगनेवाला तो वही है. उसका पद भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है. तो उसके ही लिए किसी उद्योगका प्रारंभ क्यों न करूं ? इन्द्रपद, सौ अश्वमेधका फल है. मैं राजा हूँ गुरुकी कृपासे बलवान् हूँ. इस लिए मेरे लिये अश्वमेध यज्ञ करना कठिन नही है. बस मैं सौ यज्ञ करूंगा. ” ऐसा निश्चय कर वरेप्सु अधीर हो उठा और संध्या समय होते होते अपनी सेनामें आ पहुँचा.

अश्वमेध यज्ञकी पूजा.

वरेप्सुके राज्यका दौरा पूरा होगया था इस लिए उसने दूसरी किसी जगहमें अधिक समयतक पड़ाव नहीं किया. वह जैसे तैसे जल्दीसे विश्व-पुरीमें आया. उसकी गैरहाजिरीमें जो राजकाज हुआ था उसे सँभालकर सबसे पहले अश्वमेधका काम हाथमें लिया. उसने निमंत्रण भेजकर राज्यमें अनेक ऋषियोंको बुलवाया और उनकी सभा कर विचार किया कि अश्वमेध यज्ञ कैसे और कब हो, तथा उसमें क्या क्या सामान चाहिए, इन सब बातोंका अनुभव प्राप्त किया. सबकी सलाहसे एक ओर बहुत ही अच्छा मुहूर्त ठीक कर, विद्वान शिल्पी और याज्ञिकोंकी देखरेखमें यज्ञशाला बनवानेका काम प्रारंभ किया. दूसरी तरफ देश देशान्तरोंसे सामान एकत्र करनेमें लगा अनेक स्थानोंसे खोजकर श्यामकर्ण[1] घोड़ा लानेके लिये घोड़ोंके चतुर

[1] श्यामकर्ण अश्व—उसे कहते हैं जिसका सारा अंग सफेद पर दोनों कान ही केवल काले हों. ऐसा ही घोड़ा, अश्वमेध यज्ञके काममें आता है.

पालनेवालोंको आज्ञा दी तथा सैनिकों और सेनापतिको आज्ञा दी कि प्रत्येक देश और नगरमें यज्ञके अश्वकी रक्षा करनेके लिए उसके पीछे जाना होगा और मौका आनेपर भारी लड़ाई भी करनी पड़ेगी. इस लिए शस्त्रास्त्र सवारी और युद्धके सामानसे अच्छी तरह सजकर तैयार रहो. खोजनेसे श्यामकर्ण घोड़ा मिला. सामान एकत्र हुआ. यज्ञशाला तैयार हुई. मुहूर्तका दिन भी आपहुँचा. वरेप्सुने यज्ञ दीक्षा ली और घोड़ा फिरनेके लिए देश देशान्तरोंको चला. येज्ञकी सब क्रियाओंमें परम कुशल ऋत्विजों (यज्ञके पुजारियों) का वरणकर यज्ञका काम प्रारंभ किया. अग्निके लिए अपार घी और दूसरे बहुत द्रव्य (यज्ञमें होम किये जानेका सामान) होम करके देवोंको तृप्त कर ऋत्विज (यज्ञ करानेवालों) और दूसरे ब्राह्मणोंको अपार दक्षिणा, भोजन तथा वस्त्रालंकारादि (कपड़े जेवर आदि) से तृप्त कर, वरेप्सुने एक एक करके निन्यानवे यज्ञ पूरे किये. उसका एक सोमयज्ञ बाकी है। अब वह इन्द्रके पदका अधिकारी हुआ है. उस वरेप्सुके बल और विभवको धन्य है जिसने ऐसा बड़ा सुन्दर काम (सदनुष्ठान) पूर्णरीतिसे समाप्त किया. अब इस लोक (संसार) में भी वह इन्द्रके ही समान है.

ऐसा बड़ा काम और भारी धर्मानुष्ठान, जिसमें अपार धन, श्रम और बल तथा समय लगाना पड़ता है, शायद किसीका ही पूरा हो सकता है.

---

१ अश्वमेध यज्ञमें यह नियम मुख्य है कि यज्ञ करनेवाले राजाकी तरफसे श्यामकर्ण घोड़ेको, अमूल्य साज और मणि माणिक्यके अलंकारोंसे सजकर विधिवत् पूजनकरके यज्ञके लिए नियतकर देशमें स्वतंत्रतासे छोड़ देते हैं. इस घोड़ेको कोई दौड़ाता या हाँकता नहीं है. वह अपनी इच्छासे जहाँ चाहे जाय या खड़ा रहे. ऐसा ही उस सेनाको भी करना पड़ता है जो इसकी रक्षाके लिए साथ भेजी जाती है इसके मस्तक (ललाट) में सोनेका एक पत्र बांधदेते हैं उस पत्रमें लिखा रहता है कि ‘ यज्ञ दीक्षित अमुक राजा सब राजाओंको सूचित करता है कि इस घोड़ेको देख कर वे सभासदकी तरह शीघ्र हमारे यज्ञमें उपस्थित हों नही तो लड़ाईके लिए तैयार हों. ’ इस सूचनासे जो राजा कम-बलवान् होते हैं वे तो उसी समय ‘ कर ’ भर देते हैं, परंतु कोई राजा बलवान् हुआ तो उस घोड़ेको पकड़कर अपने यहां बाँध रखता है. तब उसको छुड़ानेके लिए रक्षक सेनाको लड़ाई करनी पड़ती है. उसमें यदि कर्म संयोगसे सेना हार गई तो राजाका प्रारंभ किया हुआ यज्ञ वहीं अटक जाता है. इस प्रकार सर्वत्र विजयकर प्रायः बारह महीने (एक वर्ष) में घोड़ा फिर आता है, तब उसके शरीरविभाग देवादिकोंको बलि देकर यज्ञ पूर्ण किया जाता है.

वरेप्सुने भी आजतक सामने आये हुए अनेक विघ्नोंसे टक्कर लेकर यहांतक अपना मन चाहा काम पूरा किया. सोम-यज्ञ होनेसे उसमें अनेक विघ्न और चमत्कार होना सम्भव हैं इस लिए उस समय बहुतसे ब्रह्मर्षि राजर्षि और देश देशके मनुष्योंके समूह दर्शन करनेको आये होंगे.

हे मुनिश्रेष्ठ! देखो इस वनकी वृक्ष घटाओंमें अनेक तरहके परिमलसे पूर्ण पवित्र धुआँ, हवाके कारण आकाशमें छा रहा है: चारों ओरसे मनुष्य आते हुए दिखाई देते हैं और ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोंका घोष ऐसा मालूम होता है मानों कमलवनमें भौंरे गुंजार रहे हों. मुझको मालूम होता है कि हम लोग यज्ञ स्थानके पास पहुँच गये हैं. अभी दो पहर होनेको देर है इस लिए जल्दी चलो तो मध्याह्नका कृत्य करनेके लिए ऋत्विजोंको अवकाश दे कर यज्ञका काम बंद करनेके पहले हमलोग यज्ञशालामें पहुँचकर एकाधिक इष्टि (यज्ञक्रिया) देख सकें.

इतना कहकर वह वृद्ध ऋषि चुप हो रहा. सब लोग कुछ और आगे चले तो यज्ञमण्डप दीखने लगा. फिर सब ऋषि जल्दीसे चलकर मण्डपके समीप जा पहुँचे. वहां राजाकी ओरसे विदेशसे आनेवाले मनुष्योंका सत्कार करनेके लिए जो अधिकारी नियुक्त किये गये थे उन्होंने उन सबोंका उचित सत्कार किया और सब ऋषियोंके उतारनेको बनाये गये पवित्र स्थानमें इस ऋषि मण्डलको उतार दिया.

स्वात्मशोधन.

यज्ञस्थानदर्शन.

वरेप्सु राजाके प्रारम्भ किये हुए यज्ञके मण्डपसे वड़ी लम्बी चौड़ी भूमि घिर गई थी. उसके एक ओर देशान्तरोंसे आये हुए राजे टिकाये गये थे, एक बाजूमें अनेक आश्रमों और वनोंसे आये हुए ऋषि अपने अग्निहोत्र सहित विराजते थे. एक तरफ दूसरे देशके प्रतिष्ठित सज्जनोंका डेरा था. दूसरी तरफ साधारण लोगोंको उतारनेका प्रबन्ध था. एक ओर इन आनेवालोंके भोजनके लिए भोजन सामग्री इकट्ठीकी गई थी. यज्ञशालाके बीचमें यज्ञका बड़ा भारी मण्डप बना था. उसकी शोभा देखकर राजाके वैभवका पूरा ज्ञान होता था. मण्डपके चारों दिशाके आसपासकी भूमि, जहाँसे होकर मण्डपमें जानेको मार्ग था, अनेक प्रकारके चौकोंसे पूरनेके बाद सुगंध और फूलोंसे पूजित थी. मण्डपकी चारों तरफ अनेक प्रकारके फूलोंके वृक्षोंकी क्यारियाँ खिले हुए फूलोंसे बहुतही शोभायमान होरही थीं. सोने और चाँदी जैसी मूल्यवान् धातुके खंभों (स्तम्भों) से मण्डप बनाया गया था. मण्डपके गुम्बजपर हीरेसे जड़े हुए सोनेका शिखर (कलश) जगमगा रहा था. प्रत्येक दिक्पाल और आवाहित (निमन्त्रित) ग्रहादि देवोंके चिह्नवाली जरीकी रंगविरंगी ध्वजा पताकाएँ चारों तरफ फहरा रही थीं. मण्डप चारों तरफ आम, अशोक इत्यादिके पत्तोंसे छाया हुआ था. यज्ञ मण्डप फूलोंके गुच्छोंसे बनाये हुए तोरणोंसे सजाया गया था. चारों दिशाके चार दरवाजोंपर मणिमुक्ताफलके अमूल्य तोरण बँधे थे. उन चारों दरवाजोंपर द्वाररक्षकके समान नियुक्त किये गये चारों वेदोंके जाननेवाले ऋत्विजोंकी आज्ञासे प्रवेशकर यज्ञ मण्डपमें जाना होता था. वहां यज्ञकी प्रत्येक क्रियाके लिए भिन्न भिन्न शालाएँ बनी थीं. एक तरफ यज्ञ कार्यके लिए सभासद्के समान नियुक्त हुए ऋषियोंके आसन रक्खे थे. दूसरी तरफ आये हुए ऋषि विराजमान थे. उनके पीछे क्रमसे राजे,

गृहस्थ और साधारण लोग बैठे थे. चारों दिशाओंमें बनी हुई वेदियोंपर आवाहित (मन्त्रों द्वारा बुलाये गये) देवोंके आसन बने थे. एक दिशाकी ओर यज्ञके पशुओंके लिए अनेक खंभे बने थे. बीचमें बड़ा भारी यज्ञकुण्ड था. उसके आगे उचित आसनपर आचार्य, होता, उद्गाता, अध्वर्यु और क्रमसे सब ऋत्विज बैठे थे. अध्वर्यु (यज्ञ करानेवाला मुख्य ब्राह्मण) मंत्र पढ़ता और उसके अनुसार आचार्य लोग सावधानीसे प्रत्येक क्रिया करते तथा होता द्रव्यको होमता था. समय समय पर जब किसी किसी देवताके सूक्त (वेदके मन्त्रोंका समूह) पढ़नेका प्रसंग आता तो चारों वेदके ऋत्विज अपनी अपनी वेदी और शाखाकी परिपाटीके अनुसार क्रमसे उन सूक्तोंको विधिवत् पढ़ते थे. उसे देखकर सब सभा अद्भुत ईश्वरीभावमें मग्न हो जाती थी. फिर प्रत्येक इष्टि (यज्ञ करनेकी क्रिया) के प्रारंभमें जब सामवेदी ऋत्विज सामदेव्य नामका सामगान करता था उस समय सारी यज्ञशाला मानो एक रसरूप बनकर आनन्दमें हिलोरें लेती थी. विशाल यज्ञकुण्डसे धकधक कर जलती हुई अग्निसे ज्वालाएँ निकल रही थीं. ऊपरसे एक बड़ी नालीक समान अटूट धारासे घड़घड़ करता हुआ बहुतसा घी यज्ञकुण्डमें होमा जा रहा था. खैर, गूलर, पीपल, बीजा, चंदन आदि समिध काष्ठसे जलती हुई अग्निमें अपार पायसान्न (दूधपाक, क्षीर) यव, तिल, शक्कर, द्राक्षादिमेवा, पंचामृत, अनेक सुगंधित पदार्थ और शास्त्रोंमें कहे हुए दूसरे सब हुतद्रव्य (होमसामग्री) को ऋत्विज होमते थे. उस समय स्वाहा, स्वाहा, शब्दकी भारी गर्जना हो रही थी. यज्ञ करनेवालोंकी पुरानी रीतिके अनुसार राजाकी ऐसी प्रतिज्ञा थी कि यज्ञके समय भूखेको भोजन और भिक्षुकको उसकी इच्छाके अनुसार दान दिये विना नहीं रहना चाहिए. इस लिए इस यज्ञमें आनेवालोंको तो क्या परंतु यज्ञशालाके पाससे होकर आने जाने वाले किसी भी प्राणीको भोजन पान कराये विना जाने नहीं दिया जाता था. दूसरे आने जाने वालोंको खबर करनेके लिए यज्ञशालाकी चारों दिशाओंमें बनाए हुए ऊंचे दरवाजों पर धर्मकी बड़ी बड़ी ध्वजाएँ फहराती थीं और उनपर लिखा था 'इस राहसे जानेवाले सब लोगोंको राजराजेन्द्र (सम्राट) वरेप्सुका प्रार्थना पूर्वक निमन्त्रण है, इस लिए कोई भी इच्छाभर भोजन किए विना न जावे.' फिर इन दरवाजोंपर गड़गड़कर बजते हुए नगारे और हर्षका आलाप करनेवाली नौबत भी ऐसी बज रही थी मानो अपने ऊँचे शब्दोंसे दूरसे जानेवाले पथिकों

और विदेशियोंको यज्ञमें आनेका न्यौता (आमंत्रण) दे रही हो. राज्य-स्थान विश्वपुरी और पासके दूसरे नगरोंसे अनेक प्रकारकी पूजाकी भेट (उपहार) लेकर दर्शनको आनेवाले प्रजाके झुण्डसे यज्ञशालामें भारी भीड़ हो गई थी. अमूल्य और विचित्र कपड़ों तथा जेवरसे सुशोभित सुन्दरियाँ समयके अनकूल सुन्दर स्वरसे महाराजा वरेप्सुके निर्मल यशवाले गीत गाती थीं; इससे सब जगह भारी आनन्द छा रहा था. इस यज्ञमें दुंदुभी, ताल, वीणा, वेणु इत्यादि अनेक विचित्र बाजोंके साथ जय जय कारके शब्दोंसे महा घोष (भारी शब्द) हो रहा था. पूर्णाहुतिकी तैयारी थी. उस समय राजा अनेक प्रकारके महादान करनेके लिए संकल्प किए जानेवाले जलकी सोनेकी झारी सहित पूजा पानी और सामग्री लेकर बैठा था. वह एकके बाद एक मुनिको सम्मान (आदर) और आग्रह पूर्वक आसनपर बैठाकर उसका पूजन करता था, और मणि, सोना, पृथ्वी, गाय इत्यादिका मन चाहा (इच्छित) दान देता था. इतनेमें एक बड़ा कौतुक (आश्चर्य) हुआ.

वरेप्सुका सर्वस्वदान.

वह अलौकिक दिव्यरूपवाला बालक, जो तुरंतकी यज्ञोपवीत दीक्षा लिया हुआ और शरीरकी कोमलतापरसे तुरंतका जन्मा जैसा जान पड़ता था और जिसके दर्शन पहले हम लोगोंने जंगलमें किए थे, अकस्मात् यज्ञशालामें आता हुआ जान पड़ा. लोगोंकी भीड़से जब वह मुख्य द्वारसे होकर भीतर आने लगा तब उसका रूप और तेज देखकर लोग आपसे आप दूर हट कर रास्ता देने लगे. इतनी भारी भीड़ होनेपर भी किसीको बिना छुए वह यज्ञ मंडपके पास, जहां राजा दान देनेको बैठा था, आ पहुँचा. इस महात्मा बटुकको किसी तरहके दान अथवा मानकी इच्छा न थी. वह वहां अनायास ही आ पहुँचाथा या आत्मप्रेरणाके योगसे किसी बड़े कामके लिए आया था, यह बतलाना कठिन और समयके अनुरूप नहीं है. उसको एकाएक आया देख कर राजा आदि सबको बड़ा विस्मय (कौतूहल) हुआ. उसकी दिव्यकान्तिने एकही समय सबकी चित्त वृत्तिको खींच लिया. सबको ऐसा मालूम हुआ मानो यज्ञकी समाप्तिके समय रा-

---

१ इच्छित दान वह कहलाता है जो लेनेवालेकी इच्छाके अनुसार उसकी मनचाही वस्तु देकर उसे तृप्त किया जाय.

जाको दर्शन देनेके लिए साक्षात् यज्ञनारायणप्रभु ही इस रूपसे यहाँ पधारे (आये) हों.

फिर, राजाने पाद्य, अर्घ्य आदिक पूजन उपचार (सामान) से उस महात्मा वटुक (अवसे हम इसको इसी नामसे पुकारेंगे) का अच्छी तरहसे सत्कारकर सिर झुकाकर प्रणाम किया. राजाने वड़ा संतोप माना कि ऐसे समय ऐसा पवित्र ब्रह्मचारी आ पहुँचा है अतः मैं वड़ा भाग्यशाली हूं और इस महात्माको कोई उत्तम दान देकर कृतार्थ होऊंगा. ऐसे विचारसे उसने उस वाल वटुकको एक रत्नसे जड़े हुए उत्तम आसनपर वैठाया और हाथ जोड़कर विनयकी कि "हे वटुक! आप भले पधारे, अपने नाम और गोत्रका उच्चारणकर आपको जो अच्छा लगे वह दान माँगें." राजाके ऐसे वचन सुनकर वटुक वोला; "हे दीक्षित राजा! मैं यहां किसी चीजका दान लेने नहीं आया. मुझको किसी चीजकी जरूरत नहीं है. परंतु तेरे विशेप कहने (आग्रह) से ही यदि मैं दान लेनेको तैयार होऊं तो मेरा मन चाहा (इच्छित) दान तू नहीं दे सकेगा. तुझको यदि स्वयम् ही किसी चीजकी इच्छा हो तो वेडर होकर माँग, मैं उसे पूर्ण करूंगा." आठ वर्षके ब्राह्मण वालकके ऐसे अद्भुत वचन सुनकर सारा ऋपिमंडल, सव राजे और प्रजासहित वरेप्सु भी आश्चर्यसे चकित होगया. 'जो दान मैं माँगूं उसे तू नहीं दे सकेगा' उसके ये वचन सुनकर वरेप्सु अपने मनमें लज्जितसा हो गया. उसने सोचा 'मैं शतयाजी[1] हुआ तो भी, क्या यह वालक कहता है उस तरह उसे माँगा हुआ दान देनेको समर्थ नहीं हूँ? ऐसा होतो मेरा यह शतयाजीपन झूठा समझना चाहिए. और मेरी कीर्ति और इस सदनुष्ठानको वड़ा कलंक लगना चाहिए. ऐसा इस वालकको क्या मांगना था? यदि इसका माँगा हुआ दान मैं न दूँ तो अपनेको तो क्या अपने पूर्वके समर्थ यज्ञ करनेवालोंकी दान शीलताकी प्रथाको भी क्या मैं लज्जित नहीं करूंगा? मेरे पास क्या नहीं है? मैं कौनसी वस्तु देनेको समर्थ नहीं हूं? वह इस शरीर अथवा प्राणको भी माँगेगा तो मैं दानके लिए देनेको तैयार हूँ.' इससे ज्यादा और वह माँगेगा क्या? यह वालक अपने लड़कपनकी अज्ञानताके कारण ऐसे विस्मयकी वात वोलता है! किसी चीजकी इच्छा न रखकर इसके इस तरह वोलनेसे

---

१ सौ यज्ञ करनेवाला.

मालूम होता है कि यह सचमुच एक बहुत बड़ा पुरुष होगा. अस्तु, चाहे जो हो, परन्तु मैं अब इसे यहांसे जाने न दूँगा." ऐसा विचार कर राजाने उस बालकसे फिर भी हाथ जोड़कर विनयकी, कि "हे ब्रह्मदेव ! हे महा-तेजस्वी किसी बातका विशेष विचार न कर तुम्हारी जो इच्छा हो वह आज मुझसे अवश्य माँगो." यह सुनकर वह दिव्य ब्रह्मचारी बोला; राजा व्यर्थ आग्रह क्यों करता है. माँगनेमें तो कुछ देर नहीं लगेगी परंतु देना कठिन होजायगा. इस तरह बालकको बोलते हुए देखकर सबने निश्चय किया कि यह बालक, बालक नहीं किन्तु कोई कारण रूप अवतारी पुरुष है. राजाको उसके दानके अधिकारी और पुरोहित भी समझाने लगे कि, महाराज ! आप दान देनेके लिए विशेष जोर (आग्रह) न करें. आपका यह आखिरी यज्ञ है और उसमें यह विचित्र बालक एकाएक आगया है, यह अवश्य विघ्न करनेवाला मालूम होता है. पूर्वकालमें बलिराजाको भी ऐसा ही हुआ था. बलिने वामन प्रभुके हाथमें तीन पैर पृथ्वीके दानका संकल्प किया, परन्तु संकल्पका जल बलिके हाथमें पड़ते ही वामनजीका शरीर महा प्रचण्ड होगया और पलभरमें उससे दशो दिशाएँ पूर्ण हो गईं. परमात्माने सिर्फ दो पैरोंसे तीनों लोक नाप लिए और तीसरे पैरके लिए स्थान माँगा. तब निरुपाय होकर बलिने अपने शरीर रूपी भूमिपर तीसरे पैरको नापनेको कहा इतनेमें वामनजीने वैसाही करके उसे पातालमें दाब दिया, जो अब-तक वहीं रहता है. महाराज ! यह भी कोई ऐसा ही प्रसंग दीख पड़ता है. इस लिए तू इस बटुकको दान देनेका आग्रह न करें."

मंत्रियोंके इन शब्दोंको सुनकर वरेप्सु बोला; "चाहे जो हो, चाहे जैसा हुआ करे, परंतु यज्ञ करनेवालेके जो नियम हैं वे यथार्थ रीतिसे पाले न जायँ तो यज्ञका पूरा फल नहीं मिलता. मनमें दान देनेका संकल्प कर फिर मैं कहूँ कि 'न दूँगा' तो मैं भारी अपराधी होऊँ. चाहे जो हो, कर्मका लिखा झूठा नहीं होता. भावी मिटती नहीं. कौन जानता है ? शायद दान देनेसेही मुझे बड़ा लाभ हो. यह बटुक जो माँगेगा उसके देनेमें मैं कभी भी आगा पीछा नहीं करूंगा." फिर राजा, बटुकको सम्बोधन कर बोला; "ब्रह्मपुत्र ! देर न करो, इच्छा हो सो माँगो." यह सुनकर बटुक बोला; "शान्ति ! शान्ति ! धन्य ! धन्य ! हे राजन् ! यदि तेरी ऐसी ही इच्छा है तो सचेत होजा, मुझको देनेके लिए तुझे कहींसे कोई

चीज लानी न पड़ेगी न उसके लिए परिश्रम करना पड़ेगा. मेरी माँग (याचना) यही है कि जो तेरा है सो मेरा हो. ”

वटुककी ऐसी विचित्र माँग सुनकर, राजा आदि सब सन्न रह गये. कोई धन माँगता, अन्न माँगता, कपड़े माँगता, घोड़ा, हाथी या रथ माँगता, गाँव माँगता और बहुत करता तो देश माँगता, परन्तु इस तरह सर्वस्व माँगनेका साहस कौन करता ?

इस याचनासे बहुत देरतक राजा चुप रहा किन्तु अन्तमें उसने अपनी उदार बुद्धिसे विचार किया कि; “ अः यह कौन बड़ी बात है, ईश्वरकी कृपासे जब मेरा यह काम पूरा हुआ है, तो अब मुझे राज्यादिकसे विशेष मतलब क्या है ? मैं यह सब इसको अर्पण करूंगा ? ” ऐसा विचार कर उसने कहा; “ ऋषिपुत्र मेरा धन्य भाग्य है कि आप जैसे याचक मेरे यहां पधारे हैं. लीजिए, पहले मेरी यह धन धान्यरूप सब सम्पत्ति आपको अर्पण है, मेरे हाथी, घोड़े, रथ और वीर योद्धाओंवाली सारी सेना आपको अर्पण है. असंख्य देशोंमें फैली हुई अपनी सब राज्यसत्ता भी मैं आपको अर्पण करता हूं. यह सब आप ग्रहण करें. ” इतना कहकर संकल्प द्वारा राजा वटुकके हाथमें जल डालनेको तैयार हुआ, तब वटुक बोला “ ऐसा क्यों ? इस संसारमें (जिसमें तेरा अधिकार है) क्या तेरा इतना ही है ? क्षणभर विचार कर राजा बोला; “ अब तो मेरी दूसरी कुछ भी चीज नहीं है ! किन्तु हां, मेरी यह रानी है, इसे भी मैं आपको अर्पण करता हूँ. अब आप सन्तुष्ट हुए ? ” ऋषिपुत्रने कहा; “ राजा ! अभी तो तेरा बहुत कुछ वाकी है. ” राजा फिर भी विचार करने लगा; “अरे ! अब क्या वाकी है ?” इतनेमें उसकी नजर अपने हाथकी रत्न जड़ित अंगूठी और पहुँची पर जा पड़ी. उसी क्षण उसने अंगूठी, पहुँची और शरीरके कपड़े तथा अमूल्य गहने उतारकर वटुकके आगे रख दिये और कहा; “ क्यों प्रभु ! अब सन्तोष है ? ” वटुकने कहा; “ नहीं, अभी बहुत वाकी है. ” इस जवावसे राजा विस्मित होगया. वह विचार कर बोला; “ अब क्या वाकी है ? यह मेरा पहरा हुआ कपड़ा वाकी रहता हो तो इसे भी लीजिए; ऐसा कहकर उसने सिर्फ धोतीको रख कर वाकी सब कपड़े देदिये और कहा; “ अब संकल्प लीजिए. ” वटुक बोला; “ नहीं, अभी बहुतसी चीजें कहाँ आई हैं ? ” वटुकका ऐसा उत्तर सुन राजा विचार करने लगा;

"निश्चय ही यह बालक किसी हठमें पड़ा है, इसी लिए बाकी है, अभी और बाकी है, ऐसा कह रहा है. परंतु अब इसे कैसे सन्तुष्ट करूं." इस प्रकार राजाको व्याकुल जानकर बटुक बोला; " राजन्! तेरे विचारसे इतनेमें सब चीजें आगई हों तो अब संकल्प कर!" शास्त्रकी विधिके अनुसार संकल्प करते हुए राजा बोला; "मैं वरेप्सु, इस ऋषि पुत्रको यह सर्वस्व दान अर्पण कर." इतना वाक्य पूरा करनेके पहिले ही बीचमें बटुक बोल-उठा; "हाँ, हाँ, हाँ, राजा! यह सब ठीक है, परंतु वरेप्सु कौन?" तब राजा कुछ धीरज छोड़ छातीमें हाथ ठोककर बोला; कौन? यह स्वयम् मैं!"

बटुक बोला; नहीं, यह तो छाती और उसपर पड़ा हुआ हाथ और मैं बोलता है सो तो शरीरका एक भाग मुँह है! इन तीनोंमेंसे वरेप्सु कौन है?" राजा बोला; " किन्तु ये छाती हाथ और मुँह मेरे ही हैं न?" यह सुन बटुक हँसकर बोला; " वाह! तब तो तू मुझे ठगतासा जान पड़ता है. अभी तो तेरी कहलानेवाली तेरे पास बहुतसी चीजें हैं. इस लिए मैं यह दान नहीं लेता. यदि देना हो तो जितना तेरा हो सब विचार कर मुझको दे."

राजा फिर सन्न रह गया और शरीरके प्रत्येक अंगोंपर नजर डालकर विचार करने लगा कि 'बेशक, इस बटुकके कहे अनुसार मेरे पास अभी बहुतसी चीजें बाकी हैं. छाती, मुँह, हाथ, पेट, पैर, सिर—यों तो सब शरीर मेरा है इस लिए वे सबही उसे अर्पण करना चाहिए.' फिर राजा प्रकट रूपसे बोला; " ऋषिदेव, क्षमा करो, मैं अज्ञानतासे नहीं जानसका परंतु अब यह शरीर आपको अर्पण है. इस लिए संकल्प लीजिए." ऐसा कहकर हाथसे झारी द्वारा जल देने लगा. तब बटुक बोला; राजा, अब इस हाथसे जल कैसे दिया जा सकता है? क्योंकि हाथ आदि तेरा सारा शरीर तो दान दिये जाने की वस्तु है."

राजा फिर विचार करने लगा; "अब क्या करूँ? दान किस तरह दूं?" इस प्रकार कई तरहसे विचार किया, किन्तु कोई भी उपाय सूझ न पड़ा तब घबरा कर बोला; " महाराज, मैंने तो बहुत कुछ मनमें विचार कर देखा परन्तु कुछ भी सूझ नहीं पड़ता, इस लिए आप ही कृपा कर बताइए. कि मैं क्या करूँ?" यह सुनकर बटुक बोला; " अहो! अभी तो तेरे पास बड़ी समृद्धि दीख पड़ती है उसको दिये बिना मैं कैसे दान लेऊँ?" राजा बोला;

मैंने अपना शरीरतक आपको अर्पण कर दिया, अब मेरे पास क्या है ?" वटुकने कहा "सावधान होकर देख, अभी तूने कहा है कि, मैंने बहुत कुछ विचार कर देखा है, परन्तु मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता, तो वह विचार तूने किसके साथ किया ?" राजाने उत्तर दिया, "अपने मनके साथ" वटुकने पूछा; "तब यह मन तो तू किसीका बिना व्याज लाया होगा ?" राजाने कहा, "नहीं, नहीं, यह मन तो मेरा है, परन्तु उसे मैं आपको अर्पण करनेको भूल गया, पर यह मन तो दीखता नहीं तब अर्पण कैसे करूंगा ?" वटुकने मुस्कुराते हुए कहा, "वत्स ! जबतक तूने अपना मन मुझे अर्पण नहीं किया तबतक उसका उपयोग करनेके लिए तुझे पूरा अधिकार है, तू स्वतन्त्र है, इस लिए शान्तहो और अच्छी तरह विचार कर देख."

राजा बहुत देर तक चुप रहकर फिर बोला; "ऋषिपुत्र, अब तो बहुत हुआ, हद हो गया, मैंने तो ऐसा कहीं नहीं देखा. यह तो बुद्धिकी परिसीमा (अंत) हो गई. मैंने बहुतेरा विचार किया, मनन किया और तर्क दौड़ा कर भी देखा, परंतु कुछ सूझ नहीं पड़ता, और अब तो जी घबराता है !"

राजा यह बोल ही रहा था कि वटुक बोल उठा; "अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात हैं. अभी तूने अपने पास कुछ छिपा रक्खा है और वह सबसे श्रेष्ठ और अमूल्य रत्न है परन्तु दैवेच्छासे जब तूने स्वयम् ही प्रकट कर दिया है तो अब मैं उसे दानमें लिए बिना तुझे छोड़नेवाला नहीं हूँ."

राजा बोला; "नहीं कृपानाथ ! मैं सत्य कहता हूँ कि मैंने कुछ भी नहीं छिपायाहै. केवल जान न सकनेके कारण, अर्थात् मेरा मन वहांतक न पहुंच सकनेके कारण ही मेरे पास यदि कुछ रह गया हो तो मैं नहीं जानता. इस लिए कृपाकर आपही मुझको बतलावें. मैं उसे पूर्ण प्रेमसे आपको संकल्प करूंगा."

वटुकने कहा; "क्यों, तूने अभी ही कहा है, कि, अब तो मुझको कुछ सूझ नहीं पड़ता है और जीव अकुलाता है ? तो वह जीव किसका है ?"

राजा बोला; "हाँ, हाँ, ऋषिदेव, जीव तो ठीक, मेरा है परन्तु अब मैं आपसे विनय करता हूँ कि इसके सिवा, अभी मेरे पास और भी कुछ रह गया हो और उसे मैं न जानता होऊं तो कृपाकर मुझे बतलाइए मैं उसका भी संकल्प करदूँ."

वटुक बोला; "अब तेरे पास कुछ भी नहीं रहा, अब तो केवल तूही एक सत्य शुद्ध हो रहा है, परन्तु जब तू अपनी यह सब समृद्धि मुझे देदेगा

तभी !. तूने तो सिर्फ अभी जाना है कि तेरे पास इतनी बड़ी पूँजी है। परंतु अब यह सब मुझे शीघ्र देदे, देर क्यों करता है ? " राजा यज्ञ आदि अनेक अच्छे अच्छे काम करके, महा पुण्यवान् और पापहीन हुआ था अर्थात् उसका अन्तःकरण शुद्ध होनेमें देर न थी. बटुकके ये अंतिम बचन सुनकर मानो वह गहरी नींदसे जगा हो अथवा घने अंधेरेसे सूर्यके प्रकाशमें आया हो. वह सावधान होकर विचार करने लगा; ' अहो ! मेरे पास अभी इतनी बहुतसी चीजें थीं परन्तु अब मैं उन सबसे अलग और अकेला हूँ, तो मैं कौन हूँ, और मैं कैसा होऊंगा ? ' मनमें ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उसके समाधानके लिए राजाने बटुकराजसे हाथ जोड़ कर पूछा. " देव ! मुझको बतलाओ कि मैं कौन हूँ ? " तब बटुक बोला; " तूने ठीक पूछा है, सुन, जिसको महापुरुष अविनाशी, अविकारी, अव्यय, अनादि, अजन्मा, देवोंके देव, सर्वेश्वर, निर्गुण, निरंजन, निराकार आदि अनेक विशेषणोंसे जानते हैं, जो केवल एक, नित्य, सत्य श्रेष्ठ, चैतन्य, ज्ञान और आनन्दरूप है, जो सब चराचर जगतका पैदा करनेवाला, सब जीवोंका पिता, पालन करनेवाला आदि और अन्तरूप है, फिर भी जो चराचर जगतमें साक्षी रूपसे निवास कर रहा है, सबका गतिरूप है, सर्व शक्तिमान है, अपार है, अनंत है, अर्थात् यह दीखनेवाला और न दीखनेवाला सब उसीसे पैदा होने पर भी जो परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध है, और जिसको जान लेने पर फिर और कुछ जाननेको बाकी नही रहजाता, जिसकी प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई भी लाभ नहीं है और जिससे बढ़कर दूसरा सुख ही नहीं है, वही स्वयम् तू है. " यह सुनकर राजा बोला; " अहो ! मैं ऐसा हूं ? नहीं, नहीं, यह तो मुझे असंभव लगता है. क्योंकि आपने तो मुझे अपार शक्ति और अनुपम गुणवाला परम–ईश्वर कहा. आपने यह भी कहा कि इस ज्ञानरूप परम–ईश्वरको जान लेने पर फिर और कुछ जाननेको बाकी नहीं रहता, तो जब मैं स्वयम् ही वह हूँ तो यह कैसे हो सकता है कि मैं स्वयम् अपनेहीको देख या जान न सकूं ? क्या अज्ञानता इतनी बड़ी है ! बटुकने कहा, ' हाँ, अज्ञानता इससे भी बड़ी है. तुझको तो अपने महत्पुण्यकर्मोंके प्रतापसे इतना भी सुनने और जाननेका समय आया कि " मैं स्वयम् परमात्मा हूँ ! " परन्तु दूसरे संस्कार हीन पापी प्राणी, जिनसे अच्छे कर्म तो दूररहें किन्तु केवल बुरे ही कर्म होते हैं, इतने बड़े अज्ञानके अंधकारमें पड़े रहते हैं कि उन्हें अपने ही कल्याणकी कुछ खबर नहीं

रहती कि 'हम कौन हैं, कहांसे आये हैं और कहां जाना है' इसके लिए कभी पलभर भी उनको विचार नहीं होता. वे तो केवल शिश्न (मैथुन) और पेटकी फिकर में उन्हींका हमेशा विचार किया करते हैं. तब राजाने पूछा; "हाँ, यह बात तो सत्य है, मुझको भी अभी तक ऐसा ही था. परन्तु ऐसा होनेका कारण क्या है?" वटुकने कहा, "हमें अपना स्वरूप जानने में बाधा देने वाले तीन सबल कारण होते हैं, उनको नाश करनेमें वह पुरुष असमर्थ होता है. एकतो अनेक जन्मोंके समेटे हुए पाप और पुण्यका समूह रूपी मल, जिससे प्राणीका अन्तःकरण मैला रहता है, अर्थात् उसे यह मालूम नहीं होता कि सत्य क्या है? जैसे दर्पण (आयना) साफ हो तो उसमें देखनेसे मुँह ज्योंका त्यों साफ और स्पष्ट दीखता है परंतु यदि किसी तरहका चिकना मैल जमकर कांच ढँक गया हो तो उसमें किसी चीजका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और कोई वस्तु दीख भी नहीं सकती. दूसरा कारण, मनकी चंचलता रूप विक्षेप शक्ति (अशान्ति) है. इससे मन व्यग्र अर्थात् अस्थिर रह कर चारो ओर भटकता फिरता है और वह सत्य स्वरूपको नहीं देख सकता. परन्तु जब मन स्थिर हो तभी वह सत्य स्वरूप देखनेमें आता है. तीसरा कारण, उस स्वरूपके ऊपर आया हुआ आवरण अर्थात् ढक्कन रूप अज्ञान (अविद्या) है. इसीसे सत्य स्वरूप नहीं जान पड़ता." यह सुनकर राजा बोला. "कृपानाथ, तब तो मुझको मेरे स्वरूपका दर्शन कराओ! ये बाधा डालनेवाले कारण क्या किसी तरहसे दूर नहीं हो सकते?" वटुक बोला; "अधिकारी और मुमुक्षु पुरुष वेदोंमें कहे हुए साधनोंके द्वारा उन्हें दूर कर सकता है और तीनोंके लिए साधन भी भिन्न भिन्न तीन हैं." राजाने पूछा, "वे कौनसे साधन है?" वटुक बोला; "मल मिटानेवाला कर्म योग साधन, विक्षेप मिटानेवाला उपासना योग और आवरण दूर करनेवाला ज्ञानयोग साधन है. ये तीनों परस्पर उपकार करनेवाले हैं. ज्ञान उत्पन्न करनेको उपासना साधन लाभकारी है और उपासना सिद्ध करनेको चित्त शुद्ध करनेवाला कर्म साधन है." राजा बोला; कर्म उपासना और ज्ञान ये क्या हैं?" वटुकने कहा; "वर्णाश्रम धर्मका पालन कर यज्ञादिक क्रिया करना कर्म, संसारको पैदा करनेवाले परमात्माकी भक्ति करके मनको उसमें दृढ़तासे लगाना उपासना और परमात्मा कैसा है, कहां है इसको अच्छी तरहसे जानना और निर्वासनिक (संकल्प रहित) बनकर

ब्रह्मके साथ जीवकी एकता मानना ज्ञान है. " राजाने कहा; " अहो! तब तो मुझको अपने स्वरूपके दर्शन होनेको अभी बहुत देर है, क्यों महाराज!" बटुक बोला; "इतनी देर नहीं है जितनी तू सोच रहा है. क्योंकि तीनों साधनोंमें प्रारंभिक साधन जो कर्म है उसको तो तूने अच्छी तरहसे पूर्ण कर लिया है. उसमें सिर्फ थोड़ीसी कसर रहगई है. उसको दूर करना चाहिए." यह सुनकर राजा अपनी शंका मिटानेके लिए कुछ कहना ही चाहता था कि बटुक फिर बोल उठा; " परन्तु विस्मयकी बात है, कि तुझको जो काम करना है उसको छोड़कर तू कितने आगे निकल गया है! इस लिए इस विषय पर फिर बातचीत करूँगा. इस समय तू मुझे दान दे. "

यह सुनकर राजा तुरंत अपनी जगहमें आकर विचार करने लगा. "अहो! मैं अपना सर्वस्व ऋषिपुत्रको अर्पण करता हूँ और अब तक जिसे मैं अपना स्वरूप मानता था, वह मेरा देह अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) तथा जीवात्मा मैं स्वयम् नहीं हूँ परन्तु ये सब मुझसे भिन्न हैं. इन्हें भी जब दानमें देना है, तो मैं अब दान किस तरह दूँ? मैं दान देनेवाला यदि अपने सत्य स्वरूपको समझा होता तो उसके द्वारा दान दे सकता. जितना मैं जानता हूं वह तो सब मेरा है परन्तु मैं स्वयम् अपना नहीं हूँ. यह भी आश्चर्य ही है! यद्यपि मैं स्वयम् अपनेको नहीं देख सकता, तो भी इतना तो समझ सकता हूँ कि मेरा जीव, मन, आदि यद्यपि मेरे शरीरमें ही थे और हैं, तो भी मैं उनको नही जानता और नहीं देखता तथा मैं स्वयम् भी इस शरीरके अधीन हो रहा हूँ और इस शरीरमें ही हूँ तो भी उन्हें नहीं देखता! मालूम होता है कि इन सब चीजोंको दे देनेपर जो कुछ बच रहेगा वही मैं हूँ: इस लिए मैं इन सब वस्तुओंसे भरे हुए इस शरीर सहित ऋषिपुत्रके आगे जा गिरूँ, अर्थात् ज्ञाता होनेसे ऋषिपुत्र इनमेंसे मुझको अकेला रखकर बाकी सब चीजें ले लेगा! ऐसा विचार कर राजा आसन परसे नीचे उतरा और " लीजिए महाराज, मेरा यह सब आपको अर्पण है. " ऐसा कहकर ब्रह्मचारीके पैरों पर गिर पड़ा! जो लोग यज्ञ और दर्शन करनेको आये थे तथा जो सब काम छोड़कर अब तक राजा और ब्रह्मचारीकी ये विचित्र बातें सुननेको एकाग्रचित्तसे बैठे हुए थे, इस तरह देखकर " अहाहा क्या माँग है. कैसा आश्चर्य! धन्य है इसकी सूक्ष्म बुद्धिको! ऐसा कहकर सब भारी आश्चर्यमें डूब गए और अब फिर क्या होता है, यह जाननेको उत्कंठासे खड़े रहे.

इस प्रकार राजा अपना सर्वस्व दान कर सब झगड़ोंसे मुक्त हुआ सही, परन्तु कुछ इतनेहीसे उसकी स्वाभाविक मनोवासना निर्मूल (नष्ट) नहीं हुई. इससे उसने तुरंत ही सोचा (जैसा कि सांसारिक मनुष्य मात्रको स्वाभाविक रीतिसे विचार होता है) कि 'अब मैं क्या करूँगा? अरे! अब मेरा क्या होगा? मैं तो अपना सब दे बैठा! अरे क्या मैं अभागी नहीं हूँ?" परन्तु उसके मनकी अति गंभीर गुफामें जिस बातकी निर्भयता थी उसका संतोष था. इस लिए उसको तुरंत ही शान्ति मिली!

वरेप्सुका मरणवृत्त.

उसके मनमें विचार हुआ; "अः मैं जो सब दे बैठा, उसका मुझको काम ही क्या था? यह देहादिक और राज्यादिक तो मुझको व्यर्थ ही न थे? अब मैं अपने शताश्वमेध (सौ अश्वमेध) के अनुष्ठानसे देवताओंका राजा इन्द्र होऊंगा. इस इन्द्रपदसे मेरा यहांका यह सब कुछ अधिक न था. इतना ही नहीं, परन्तु इस पदका अधिकार प्राप्त करते समय मुझको यह राज्य और देह इत्यादि सबका स्वयमही त्याग करना पड़ता. उन अप्सराओंने मुझसे कहा था कि वहां (स्वर्गमें) जानेके लिए तो प्राणीको दिव्य देह धारण करना पड़ता है. इन्द्र होनेवाले पुरुषको इतनी बड़ी सत्ता मिलती है कि उसके आगे यह मेरा राज्य तो क्या परंतु जिसमें मेरे जैसे असंख्य राज्य हैं ऐसी सारी पृथ्वी और उसके सहित स्वर्ग तथा पाताल मिलकर तीनों लोकका वह अधिपति (ईश्वर) होता है. इस प्रकार राजाने अपने मनको शान्त किया. परन्तु इसमें उसकी भारी भूल थी. वह भूल अन्तर्यामी (हृदयकी बात जाननेवाले) बटुकने तुरंत ही जानकर उसे पुतलीके समान बैठे देखकर कहा "राजा, उठ, तू यह क्या करता है? तेरे जैसे दाता (दान करनेवाले) को क्या ऐसी वंचना करना उचित है? तू पड़ा पड़ा मनसे जो विचार कररहा है वह मुझसे छिपा नहीं है! जिस मनसे तू विचार करता है वह मन अब तेरा नहीं है और उससे विचार करनेको तुझको अधिकार भी नहीं है. तेरा मन, आत्मा, देह, इन्द्रिय इत्यादि सब जब दूसरेके हैं तो उनके द्वारा होनेवाले काम क्या दूसरेके नहीं है? तूने राज्य दिया, इससे राज्यकी प्रजा, पृथ्वी और राज्यका अधिकार इन सबका संकल्प होगया. देह, मन आदिके साथ उनके धर्म, अधिकार और कर्म सभी दानमें दिए जा चुके. इस पर भी तू नहीं समझता

हो तो मेरी माँगके अनुसार, जो तेरा था वह सब मेरा हुआ. वैसे ही उनके आश्रयमें रहकर तेरे किये हुए पाप पुण्य आदि भी सब मेरे हुए हैं अर्थात् उनके कारण सुख दुःखादि जो फल तुझे भोगनेको थे वे सब अर्पण करनेसे अब मुझको भोगने पड़ेंगे. तो भी तू अभी सोचता है कि तुझे इन्द्रपद भोगना है और इन्द्र होनेसे तू तीनों लोकोंका अधीश्वर होगा." यह कितना उल्टा है? वत्स! इस इन्द्रपद पर अब तेरा क्या अधिकार रहा? यह तो सभी मेरा होगया है!"

ऋषिपुत्रके ये अंतिम शब्द सुनते ही वरेप्सु राजा बड़े दुःखसे एकाएक पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिरपड़ा. वह तुरंत ही मूर्छित हो गया. उसकी सबसे बड़ी तृष्णा और आशा इस समय निर्मूल होकर उखड़ गई. उसने सोचा कि, अरे, सभी खो बैठा. उसने जो कुछ किया था, जो बड़े बड़े कष्ट उठाए थे, जो अपार धन खर्च किया था और इन सबके द्वारा बहुत समयके अपार परिश्रमसे जो सौ अश्वमेधरूप बड़ा काम पूरा हुआ था वह सब प्राप्त न होनेवाले इन्द्रपदके लिए ही था, वह सब व्यर्थ होगया बटुकको राजा अपना जो सर्वस्व अर्पण कर बैठा था वह भी तो उस प्राप्त न होनेवाले (अलभ्य) इन्द्रपदके लिए ही था. क्योंकि माँगा हुआ दान दिया जाय तभी यज्ञ पूरा होता है और सौ यज्ञ पूरे हों तो इन्द्रपदका अधिकार मिलता है.

राजाकी ऐसी मूर्छित अवस्था होते ही सभामंडपमें बैठे हुए सब लोगोंका जी उड़ गया. रानी, प्रधान, पुरोहित, और दूसरे सब सेवक विवश हो गए. यज्ञ क्रिया बंद होगई. ब्राह्मण वेद पढ़नेसे रह गए. सुन्दरियोंका गीत रुक गया. बाजोंका नाद और नकारोंका घोर शब्द एकदम बंद हो गया. राजाकी ऐसी दशा होनेके कारण सब क्रियाएँ बंद होनेसे सारे यज्ञस्थलमें हजारों और लाखों मनुष्योंकी भीड़ होनेपर भी सब चुपचाप थे. सबके अन्तःकरण खेद और शोकसे छागये. 'अरे, एकदम क्या होगया?' 'हा, ऐसा निर्दय याचक (माँगनेवाला) और कौन होगा?' 'अरे, यह बालक याचक नहीं परन्तु कोई कारण रूप है.' 'अरेरे! इसको जो चाहिए सो सब देनेको राजा तैयार था तो भी इसने उसकी ऐसी दशा क्यों करदी?' 'अरे, जम, जमाई और जाचक इन तीनोंको दया नहीं होती!' हाय, हाय, अब क्या होगा?' आदि अनेक दुःखोद्गारों सहित सब उसाँसें लेने लगे. एक ओर शीघ्रतासे अनेक उपायों द्वारा राजाकी

संभाल होने लगी दूसरी ओर लोग इस शोचनीय दुर्घटनाके कारण अत्यंत खेद करने लगे. सब दर्शक वटुककी ओर क्रोधकी नजरसे देखने लगे. कई तो साफ साफ कहने लगे कि 'रंगमें भंग करनेवाला और आनन्दमें वज्र गिरानेवाला यह बालक यहां कालरूप होकर आया होगा.'

राजाको सचेत करनेके लिए लगातार कई उपाय किये गये. कई दवाएँ दी गईं और जन्मसे उसके आश्रयमें रहनेवाले बड़े धन्वन्तरिके समान राजवैद्यने उसको सचेत करनेके लिए अपार प्रयत्न किये, परन्तु सब व्यर्थ हुए. किसीका कुछ भी न चला. सबने हाथ मलकर आशा छोड़ दी. सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी. वहां पर जितना आनन्द और श्री सौभाग्य प्रकाशित हो रही थी उसके बदले एकाएक उतनाही शोक और उदासी छागई. सबके मुँह उतर गये. कंठ बैठ गये. कोई किसीसे कुछ बोल न सका. इस महा गंभीर शोकका कारण सिर्फ वटुक बालक ही था. परन्तु उसके मुहँ पर शोक, खेद अथवा उदासीनता कोई चिह्न न दीखता था. वह तो वैसाही था और उसी आनन्दमें बैठे हुए ईश्वरका भजन कर रहा था तथा उसकी जीभ जरा भी उस कामसे विराम न लेती थी.

रानी विषयवाला.

ऐसे गम्भीर समयमें किसीको कुछ भी न सूझता था कि अब क्या करना चाहिए. शोकके समुद्रमें डूबी हुई वरेप्सुकी रानी जो बड़ी पतिव्रता और बुद्धिमती थी, खड़ी होगई. उसका नाम विषयवाला था. उसने विनयपूर्वक इस प्रकार बोलना प्रारम्भ किया कि जिससे सबलोग सुन सकें. उसने कहा, "हे समर्थ पूज्य महात्मा जनों और याज्ञिको तथा सुज्ञ प्रजा जनो! देखो कुछ देर पहले क्या था और अब क्या होगया है? ईश्वरी मायाका अद्भुत चमत्कार आप सबने प्रत्यक्ष देखलिया. मैं देखती हूँ कि आप लोग महा शोक और खेदमें डूब गये हैं. मैं देखती हूं कि इस सबका कारण इन ऋषिपुत्रको समझकर बहुतसे लोग इन महात्माको दोषी मानकर धिक्कार रहे हैं. परन्तु मनसे भी इन देवोंके देव, प्रभुके प्रभु महात्मा वटुक मुनिको ऐसा अपमान करना महा पाप है. ये ब्रह्मदेव ईश्वरके समान सब मनुष्योंके पूजनीय हैं इस लिए यदि मेरी प्रजा ऐसा अनर्थ करेगी तो वह दोष मेरा और मेरे स्वामीका ही कहा जायगा. अत एव मेरी सबसे प्रार्थना है कि ऐसा

न करें. इस सब ऋषिमंडलसे मेरी विनय है कि आप सब समर्थ हो, सर्वज्ञ हो, देवोंके भी पूज्य हो और अपने अपने तपोवल और योगबलसे ईश्वरके समान सब तरह समर्थ हो. इस लिए मुझको ऐसे शोक सागरसे पार करनेको शक्तिमान् हो. यज्ञकी पूर्णाहुतिका समय बीता जाता है, मेरे पति ऐसी अचेत दशामें हैं और उनके प्राण शरीरको छोड़कर चले गयेहैं". इतना कहते कहते उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और कंठ गद् गद् हो गया. वह धैर्य धरकर फिर बोली "अब आप सब बतलावें कि मुझे क्या करना उचित है. क्या सूर्यके समान इस प्रतापी मुनिजनके समाजके बीचसे मेरे स्वामीका महा पुण्यवान् आत्मा योंही चला जायगा ? क्या मैं इतने बड़े पुण्यके अन्तमें बिना कारण विधवा होकर बैठूँगी ? परन्तु मेरा दैव ही ऐसा होगा तो किसे दोष दूँ ? किन्तु यह इतिहास अनेक युगों-तक क्या बड़े बड़े ब्रह्मवेत्ता (ईश्वरको जाननेवाले) योगियोंकी कीर्तिको कलंकित नहीं करेगा ?" रानीका ऐसा गम्भीर और मर्म पूर्ण भाषण सुन-कर सब ऋषि मुनि परस्पर देखने लगे और इसे क्या उत्तर दें इस विचा-रकी विषमतामें पड़ गये. इतनेमें एक बड़ा जटाधारी वृद्ध ऋषि, जो यज्ञमें ब्रह्मा अथवा होताका पद धारण करके बैठा था, खड़ा होकर रानीको सम्बोधन करके कहने लगा. "कल्याण ! कल्याण ! मंगल ! मंगल ! हे राजमाता ! तेरे पुण्योंका अन्त नहीं है. अपने पुण्योंके प्रतापसे तू वरेप्सु जैसे धर्मधुरंधर भूपति (राजा) की पत्नी हुई है. अब तू धैर्य धर. रानी ! तू जरा भी मत घबरा ! तुझे स्मरण रखना चाहिए कि अच्छे कर्म (सत्कर्म) करनेवालेका अमंगल कभी नहीं होता, तेरे पतिको पुरो-हितादिकोंने बहुत रोका तो भी उसने इस महामुनि बटुकको दान देनेके लिए आग्रह करनेमें पीछे न देखा, उसीका यह परिणाम है. परन्तु इससे तू घबरा मत. तू अनुमानसे ही विचारकर देख कि जिसने इतने बड़े चक्रवर्ती राजाके सामने बिना किसी शंकाके सिर्फ दोही शब्दोंमें इतना बड़ा दान माँग लिया है वह महाप्रभुके सिवा और कौन होसकता है ? यह बटुक साधारण देखनेमें बाल बुद्धि मालूम होता है परंतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर इसका अनुपम तेज बतलाता है कि यह कोई महासमर्थ आत्मा है. यह बालक नहीं परन्तु वृद्धोंका भी वृद्ध है. यह साधारण ब्राह्मणपुत्र नहीं परन्तु बड़ा समर्थ ऋषियोंका ऋषि और देवोंका भी देव है. इसे सब, छली और निर्दय याचक समझते हैं परन्तु मुझे तो ज्ञान दृष्टिसे यह बटुक वेशधारी होते

हुए भी सारे त्रैलोक्यकी समृद्धिसे भी निस्पृह (निरीह, विना इच्छाका) दाताओंका भी दाता और दयाका भण्डार रूप दीखता है. इस लिए, राजपत्नि ! जो ऐसा दुष्कर प्रसंग लाया है, वही वटुक तेरे मनको समाधान (शान्त) करनेको समर्थ है. सबको छोड़कर तू उसीकी शरणमें जा. राजाने तुझे भी दानमें दे दिया है इस लिए तू भी उसीकी सम्पत्ति है."

इतना कहकर ऋषि चुप हो रहा. उसके वचनोंको अमूल्य उपदेश मानकर रानीने हृदयमें धीरज धारण किया. वह तुरंतही वटुकको प्रणामकर बड़ी नम्रतासे कहने लगी; "ऋषि पुत्र ! महात्मा ! यह तो मैं नहीं जानतीहूँ कि आप सचमुच कौन हैं परन्तु हे समर्थ ! मेरे पतिने मुझे आपको अर्पण कर दिया है इस लिए मैं आपकी नम्र दासी हूँ, और आप मेरे तारनेवाले हो, इस लिए कठिनतासे पार होनेवाले इस प्रसंगसे तरनेके लिए (दुःखसे छूटनेको) मैं आपकी शरणमें आई हूँ, अब कृपाकर आप आज्ञा दें कि मैं क्या करूँ." वटुक बोला, "देवि ! कल्याणि ! तू क्यों शोच करती है. यह संसार निरा झूठा है और इसका संबंध भी झूठा ही है. तू देख, कौन किसका संबंधी है ? तू राजाको अपना और राजा तुझको अपना मानता था परन्तु वह संबंध कहाँ रहा ? समय आने पर सब अपने अपने रास्ते चले जाते हैं. जिसे तू अपना पति मानती है वह अकेला ही चला गया और तेरे मनका भाव भी नहीं पूँछा. अधिक तो क्या परंतु अपने माने हुए इस देहको भी छोड़कर वह परलोकको चला गया. इसी तरह इस संसारमें पैदा हुए प्राणी मात्रके संबंधमें समझना चाहिए. सुशीले ! उसके साथ अब तेरा क्या संबंध है ? उसके लिए तू कल्पान्त क्यों करती है ? वह तो अपने रास्ते गया. इस लिए अब तू शान्त होकर अपने आत्माके कल्याणका प्रयत्न कर." यह सुनकर रानी फिर बोली " ब्रह्मपुत्र ! आप कहते हो वह सत्य है, परंतु यदि संसार सर्वथा झूठा हो तो उसमें किये हुए व्यवहार भी क्या झूठे नहीं हैं ? यदि ऐसा हो तो कल्याणके लिए किये गये प्रयत्न भी कैसे सच्चे होसकते हैं ?" वटुकने उत्तर दिया; "रानी! तत्वकी दृष्टिसे देखनेपर सब परमात्मासे ही पैदा होनेसे झूठा कुछ भी नहीं है, परन्तु मेरे कहनेका असल मतलब यह है कि यह संसार प्रवाही (बहनेवाला) अर्थात् पानीके प्रवाहकी भाँति बहता ही जाता है याने जो आज है वह कल नहीं. सब समय स्थिर रहनेवाला कुछ भी नहीं है. सब अनित्य है. इस लिए जो नित्य, सब समय रहनेवाला कल्याण है उसे प्राप्त करनेके लिए ही जीवों

को प्रेम युक्त रहना चाहिए. संसारका संबंध सच्चा मानाजाय तो भी कब तक? ऋणका बंधन छूटा कि बस. फिर तो सब अपने अपने रास्ते चले ही जाते हैं!" रानी बोली "महाराज! यदि ऋणानुबंध (ऋणका बंधन) पूर्ण होने तक संसारका संबंध सत्य है तो इसीको मैं कल्याणरूप मानती हूँ. संसारमें नर (पुरुष) देह कल्याणका सबसे अच्छा द्वार माना गया है. वह देह धारण किये हुए किसी अच्छे पुरुषके साथ ऋणानुबंधसे ही संबंध जुड़ना क्या अलभ्य नहीं है? हम स्त्री लोग बहुतसी बातोंमें अनधिकारिणी और पराधीना हैं. ऐसी दशामें यह ऋण संबंध ही हमारा कल्याणकारी न होता तो मेरे इस पतिके समान पुण्यवान् पुरुषके साथ मेरा संबंध कैसे होता? और मैं आपके समान महात्माका अलभ्य (प्राप्त न होनेवाला) दर्शन कैसे कर पाती? ऋणानुबंधन द्वारा, स्त्री पवित्र पुरुषकी सहचारिणी (साथमें चलनेवाली) होती है और सिर्फ उसीके पीछे चलनेसे, उसके किये हुए अच्छे कर्मोंकी भागिनी (हिस्सेदार) होती है. मेरे पति राजाके साथ किसी ऋणानुबंधनहीसे संबंध भले हो, परंतु इससे बढ़कर संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है. इसकी गतिसे मेरी गति और इसके कल्याणमें मेरा कल्याण समाया हुआ है. इस लिए ऋषिपुत्र! आपके चरणोंमें मेरी यह अंतिम प्रार्थना है कि यदि किसी भी उपायसे मेरा स्वामी जीवित हो सके तो मुझ अबलापर दया करो और मेरे नाथको जीवन दान दो. नहीं तो म तुरंत उनके पीछे जाऊँगी. उनके बिना मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकूँगी. पतिव्रताका धर्म है कि पतिकी छायाके समान अर्थात् उसके पीछे चलनेवाली हो. उससे देह, मन, धन, अथवा सत्साधनोंसे क्षणभर भी अलग नहीं रहना चाहिए." रानीके ऐसे वचन सुन बटुक कुछ हँस कर बोला; "राजपत्नि! तेरा कल्याण हो! तेरे ऐसे पवित्र निश्चयसे मुझे बड़ा आनंद होता है. तेरा कल्याण हो. तेरे मनका दुःख दूर हो. तेरी जैसी सती ही संसारमें कल्याणरूपा हैं. सती! तू निर्भय हो. राजाको सिर्फ अपने ही अज्ञानसे यह दशा प्राप्त हुई है और उसकी दृढ़ वासनासे ही उसका अमर आत्मा शरीर छोड़कर चला गया है. क्योंकि उसको भारी चिन्ता थी कि "मेरा सर्वस्व चला गया." परन्तु अभी उसको इस संसारमें बहुत कुछ करना है, इस लिए शीघ्रही लौटेगा. उसे इस अंतिम यज्ञका फल मिलना आवश्यक है. पहले तू ऋत्विजों द्वारा यज्ञकी पूर्णाहुति करा और फल उसके हाथमें अर्पण कर."

वरेप्सुका पुनर्जन्म.

ऋत्विजोंने वटुककी आज्ञासे फिर यज्ञ आरंभ किया. शीघ्र पूर्णाहुति हुई, आचार्य अनुष्ठानका श्रेय (फल) संकल्पित कर वह जल राजाके सम्मुख लाया और वटुककी आज्ञासे, राजाके दाहिने हाथमें डालते ही एका-एक उसके शरीरमें चेतनता आई. कुछ ही समयमें सबको आश्चर्यमें डालते हुए राजा जमुहाई लेकर बैठ गया और मानो कुछ नया ही दृश्य देखकर आया हो इस तरह "अहो गुरुजी! अहो परमगुरु! हे त्राता! हे त्राता! हे शरण्य! (शरण दाता) हे दीन वत्सल! हे संसारको पार करनेवाले! (भवच्छेदक) हे दयालु! क्षमा करो, क्षमा करो, मैं आपकी शरणमें हूँ! इत्यादि कहते हुए उठ कर वटुकके चरणोंमें जा पड़ा और उन पर सिर धर कर ऐसे प्रेमसे पकड़ लिया कि उसके प्रेमाश्रुओंसे वटुकके दोनों कोमल चरण भींज गए. इस प्रकार सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि अभी तक तो राजा मरणावस्था भोगता था वह क्या है और यह एकदम उठ कर गुरु गुरु कहता हुआ वटुकके चरणोंपर जा पड़ा यह क्या है! ऋषिपुत्रने जान लिया कि यह रहस्य जाननेके लिए सबकी उत्कंठा (प्रबलेच्छा) है इस लिए उन्हें धीरज देकर राजाको हाथ पकड़ कर उठाया और हृदयसे लगाकर अनेक आशीर्वाद देकर कहा; "वत्स! निष्पाप! धैर्य धर! घबरा नहीं, शान्त हो. इतनी देर तक तू कहाँ फिरनेको गया था? तेरी साँस इतनी क्यों चढ़ी है? क्या तू किसी भयमें आ पड़ा है? इस संसारमें तो भय पाने योग्य अब कुछ भी नहीं है. तू निर्भय होगया है. सदाके लिए भयहीन होगया है. तेरी वासना अब दूर हुई है. भवभेद (संसारका भेद) दूर होगया है. तृष्णा दूर हुई है. सुख समीप आया है और भेद मिट गया है. तो भी तू घबराया हुआ सा क्यों जान पड़ता है?" यह सुनकर राजा बोला; "प्रभु! गुरुदेव! यह सब आपहीकी कृपाका प्रताप है और आपके दयालु चरणोंके दर्शन होनेसे मैंने अलभ्य (जो प्राप्त न हो सके) लाभ पाया है! गुरुदेव! आप तो सर्वज्ञ हो! परन्तु मेरे हृदयमें जो आश्चर्य भरा हुआ है वह नहीं समाता. आप मुझसे पूछते हैं तो मैं जहाँ जहाँ घूम आया हूँ वहाँका सारा हाल निवेदन करता हूँ." ऐसा कह कर वरेप्सु सब लोगोंके सामने अपने मरण कालका अद्भुत और आश्चर्यपूर्ण वृत्तान्त कहने लगा.

परलोकमें प्रवास.

वरेप्सु बोला; " गुरु देव ! आपने जब मुझसे कहा कि ' इस यज्ञसे होनेवाला इन्द्रपद तो मेरा है इसमें तेरा कुछ भी अधिकार नहीं है. " तो आपके ये अंतिम वचन सुनते ही, मुझे अपार खेद हुआ कि ' अरे ! अबतो मैं अपना सब खो बैठा, तो मेरा क्या रहा ? अपार श्रम, द्रव्य और समयको लगाकर मैंने जो महाभारत यज्ञानुष्ठान किया वह सिर्फ इन्द्र पदकी आशा हीसे किया है, परन्तु हाय ! मेरी यह आशा व्यर्थ गई. इस भारी खेदसे मैं बहुतही दुखित हुआ और उसकी व्याकुलता सहन न कर सकनेसे मेरा आत्मा शरीरको तुरंत ही त्यागकर थोड़ी देरके लिए न जाने कहाँ गुम हो गया. बहुत देरतक तो, मुझे कुछ भान ही न रहा कि " मैं कहाँ था और कहाँ हूँ अथवा मैं हूँ या नहीं. फिर जब चेत में आया तो मैंने अनेक दिव्य तेजस्वी पुरुषोंको अपनी ओर आते हुए देखा. उनमेंसे बहुतोंके पास अनेक प्रकारके बाजे थे जिनके समान इस पृथ्वी पर किसी भी स्थानमें मेरे देखने सुननेमें नहीं आये. उन सबके एक साथ होने वाले मनोहर स्वरसे मुझको परम आनन्द हुआ उनके साथ मुकुट कुंडलादि दिव्य वस्त्राभूषण धारण किए हुए दूसरे भी महात्मा पुरुषोंके दर्शन हुए. वे किसी बड़े पदके अधिकारी मालूम होते थे. वे अच्छी अच्छी सवारियोंमें बैठे हुए थे. उनमेंसे भी दो पुरुष सबके आगे, सबसे अच्छी सवारियोंमें बैठनेसे सबके मुखिया (प्रमुख) मालूम होते थे.फिर उन सबके आगे चार आदमी दिव्य पालकी लिए हुए जा रहे थे. जिसमें कोई भी नहीं था. उसकी शोभाका तो अन्त ही नहीं है. उसमें सुन्दर रत्न जड़ित और कोमल बैठक, तकिया तथा मशरूका गोल गद्दा बिछा हुआ था. ऊपर मणिमुक्ताकी झालरवाला दिव्य छत्र लगा हुआ था. ऐसा छत्र तो इतना बड़ा राजा होनेपर भी मैंने अपने जीवनमें कभी नहीं देखा था.

सचेत होने पर सर्वत्र मुझे प्रकाशमय मालूम होने लगा अर्थात् मैं इस लौकिक साधारण प्रकाशको छोड़कर किसी दिव्य प्रकाशका अनुभव करने लगा. इतनेमें इससे भी अधिक प्रकाशवाले पहले कहे हुए दिव्य पुरुषोंका समाज, विचित्र बाजों और जय जय शब्दके घोषके साथ मेरे आगे आ पहुचा. उसने आते ही मुझपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करके मुझे उठालिया और बड़े आदरसे उस खाली पालकीमें बैठाकर तथा दूसरीमें आप बैठकर बड़ी जय गर्जना सहित पीछे को फिरा. मेरी पालकी आगे और वह सब समाज पीछे

चलता था. देखते देखते वहुत ही दूर परन्तु अति रमणीक मार्गमें आकर हम लोग एक वहुत ही सुशोभित नगरीके पास जा पहुँचे. हम लोग उस नगरीके वड़े दरवाजेमें पैठनेकी तैयारीमें थे, इतनेमें वड़ी धूमधामसे एक सवारी हमारे सामने आती हुई माळूम हुई. इस सवारीका मुखिया, मेरे साथके अधिकारियोंसे भी कोई वड़ा अधिकारी और उस नगरका स्वामी ही जैसा दीखता था. वह मेरा स्वागत करनेको आया था और मुझको देखते ही वड़े मानसे मेरा सत्कार कर जयनाद पूर्वक मेरे साथ उस सवारी सहित पीछेको लौटा. हम सव वजाते गाते हुए नगरीमें गए. गुरुमहाराज! मेरा—अरे भूल गया, आपका यह विश्वपुर सारी पृथ्वीमें शोभाका स्थान है! परन्तु यह उस दिव्य नगरीकी शोभाके आगे गिनतीमें भी नहीं है. वह नगरी वहुत ही वड़ी थी. उसके वीचमें वने हुए अति सुशोभित भव्य मंदिरमें मुझे ले गए. मैं समझता हूँ वह राज मंदिर होगा. विस्तार (लम्वाई चौड़ाई) में वह अपनी पृथ्वीके एकाधिक वड़े नगर जैसा था. उसके वीचमें एक वहुत ही अच्छी सभा थी. जिसमें उतार कर मुझे एक महातेजस्वी रत्नजड़ित आसन पर वैठाया. वहाँ मेरी आदरपूर्वक पूजा करनेके पीछे मेरे साथ आनेवाला वह समर्थ अधिकारी पुरुष, अपने आसन पर वैठ गया. पालकी लेकर मुझे वुलानेको आनेवाले वे दोनों अधिकारी लोग उसके दोनों वाजूके आसनों पर वैठ गये. एक एक करके अधिकारी आने लगे. क्षणभरमें सभा भर गई, यह देखकर मुझे निश्चय हुआ कि मुख्य आसन पर वैठनेवाला राजा और उसकी दोनों वाजुओंमें वैठनेवाले दो प्रधान हैं. इस सभामें वैठनेवाले महापुण्यवान् और वुद्धिमान् अधिकारियोंको मैं अच्छी तरहसे देख सका. इतनेमें दाहिनी वाजूमें वैठा हुआ प्रधान खड़ा हुआ. वह देवेश (देवोंके देव इन्द्र) से वोला; "प्रभु आपके आज्ञानुसार नृपेश्वर (राजाओंके ईश्वर) वरेप्सु महाराजका शुभागमन यहाँ पर हुआ है, अव क्या आज्ञा होती है?" राजाने वायीं वाजूमें वैठे हुए प्रधानकी ओर देखा, वह तुरंत ही खड़ा होकर कहने लगा; "प्रभो! महाराजा वरेप्सुने जन्मसे लेकर राज्य मिलने तक ऋषिके साथ रहकर केवल सत्संग और वेदाध्ययनमें निष्पाप और पवित्र जीवन (आयुष्य) विताया है. राज्य प्राप्तिके लिए लड़ाईमें भी किसी तरहका अधर्म नहीं किया और राज्य मिलने पर भी सर्वोत्तम नीति और उत्कृष्ट प्रेमसे प्रजाका पालन किया है. इसका राज्य धर्मराज्य है. राज्यका दौरा करते समय वनमें फि-

रते हुए अप्सराको देखकर कुदृष्टि तो की परन्तु अधर्म होने नही पाया. इन्द्रपदकी कामनासे हीन होकर एक एक करके सौ अश्वमेध यज्ञ किए. इसके पुण्य अपार हैं. और होम तथा वलिदानके लिए उपयोगमें लाये हुए पशु सम्बन्धी पाप भी वहुत हैं. महा समर्थ ब्रह्मनिष्ठ ऋषिपुत्र वटुकको स्त्री, राज्य देहादि सर्वस्व अर्पण करनेसे महाराजाको जो पुण्यलाभ हुआ है उसकी गणना (गिनती) करनेको मैं असमर्थ हूँ. परन्तु वैसा करके पीछे उसके मनमें क्षोभ हुआ कि "हाय हाय! मैंने अपना सर्वस्व दे दिया इस लिए अव मैं क्या करूँगा?" इससे यह दान दूपित भी हुआ है. फिर तो आपने इसको तुरंत ही यहाँ ले आनेकी आज्ञा दी इतनेमें हम यहाँ ले आये हैं. यही मेरी याददास्त है."

इतना कहकर प्रधान वैठ गया. फिर राजा खड़ा होकर कहने लगा; "अहो! जवसे मैंने अपने राज्यका अधिकार हाथमें लिया है तवसे आजतक इस न्यायके स्थानमें ऐसे प्रतापी राजर्पि थोड़े ही आये हैं. इस महान् राजर्षि वरेप्सुने राज्यपालक और धर्मरक्षककी तरह प्राप्त हुआ अपना अधिकार वहुत ही योग्य रीतिसे पूरा किया है. इस उमर तक इसके किये हुए पाप पुण्योंकी यह सची याददास्त है. यही चित्रगुप्तने अभी पढ़कर सुनायी है और जिसको हम सव अधिकारी तथा यह राजर्पि भी जानता है; इस परसे हम कह सकते हैं कि इस पुण्यवान् पुरुषकी योग्यता वड़ी भारी है और इसका न्याय करना हमारे अधिकारके वाहर है. क्योंकि भविष्यत (आनेवाले समय) में हम इस प्रतापी पुरुपको किसी समय पूज्यपाद महाराजा देवेन्द्रकी पदवीमें विराजे हुए देखेंगे. कदाचित् यह राजर्पि उससे भी वड़ा पद भोगेगा. इस लिए मैं सोचता हूँ कि इसको अव शीघ्र अमरपुरीकी ओर जाना चाहिए, परन्तु पहले तो इसको इसके पापका फल मिलना चाहिए. ऋपिपुत्रको दान दे देनेपर शान्त होकर किसी वातका खेद न कर दानको दूपित न करता तो इसका कुछ भी न होता. हम लोग इस राजर्पिका दर्शन भी नहीं कर पाते, और न जाने इसको कौनसा पद मिला होता. परन्तु इसकी इच्छा–कामना–वासना वड़ी प्रवल होतेसे सव कामोंका विपाक (बुरे कामोंका वदला) इसे स्वयम् आकर प्राप्त हुआ है."

वरेप्सु वटुकको संबोधन कर वोला; "इससे मैं यह अच्छी तरह समझ

सका हूँ कि पहले मैंने जो सुना था कि सब प्राणियोंके अच्छे बुरे--पुण्य--पापके कामोंका न्याय करनेवाले धर्मराज अथवा यमराज कहलाते हैं, वे यही अधिकारी हैं. वे दो प्रधान, चित्र और गुप्त हैं और यह नगरी यमपुरी है. मैं उस ऊँचे आसन पर बैठे बैठे मनमें निश्चय कर रहा था और इन सब कामोंको देखकर विस्मित होरहा था इतनेमें यमराज आदि सब सभा खड़ी हो गई. मानो वे मुझको किसी जगहमें भेज रहे हों, इस तरह सब बड़े आदरसे मेरे साथ सभाके बाहर आए. हम सब जब उस बड़े भारी मंदिरके दरवाजेके आगे आए तो वहाँ कुछ अलौकिक वस्तु दीख पड़ी सूर्यके समान तेजस्वी और बहुत बड़ा एक विमान वहाँ खड़ा किया गया था. गुरुमहाराज! मैं उस विमानकी शोभाका क्या वर्णन करूँ? यह सारा विमान दिव्य सुवर्ण (सोना) और दिव्य रत्नोंसे बना हुआ था. उसमें बैठनेके स्थान, सुन्दर आसन, कोमल (मखमली) शय्या (चारपाई) और तुलना न हो सकने योग्य क्रीड़ा स्थान आदि देखकर, यमराजकी सभाकी सबसे बड़ी समृद्धि, जिसको देखकर मैं पहले बहुत विस्मित हुआ था, बिलकुल फीकी लगी. विमान पर बहुत ही मीठे स्वरसे बाजे बज रहे थे. बहुतसे तरुण, प्रतिभाशील पुरुष छत्र चामर आदि सेवाके सामान लेकर खड़े थे. बहुतसी दिव्य सुन्दरियाँ मीठे शब्दोंमें गान करते हुए गंध, पुष्प, आदि दिव्य सामग्री लेकर खड़ी थीं. ऐसा अनुपम (उपमा न हो सकने योग्य) विमान हमसे कुछही दूर था, इतनेमें मैंने एक आश्चर्य देखा.

मेरा हृदय आनंद और आश्चर्यसे पूर्ण था. परन्तु धर्मराजके मर्मसे भरे हुए भाषणके लिए मुझे विचार हुआ करता था, कि उन्होंने मेरे पापोंको फिरसे याद किया और कहा कि इन पापोंका विपाक प्राप्त हुआ है. परंतु वे सब तो आनंदमय देखनेमें आते थे इससे जान पड़ता था कि मेरे आदरके लिए उन्होंने कदाचित् उन पापोंको दूर कर दिया होगा. परंतु इतनेमें जोरसे हवा आगई. थोड़ी देरमें ऐसी भयंकर, घोर, गहरी घटा घिर आई कि चहुं ओर अंधकार ही अंधकार हो गया आँखें बंद हो गईं. यमराज तथा सभासदोंमेंसे मैं किसी को भी नहीं देख सका. मैं घबराया और विचार करने लगा कि यह क्या हुआ. इतने में हवाका वेग कुछ कम हुआ. आँख खोलकर देखा तो मैं एक बड़े ही लम्बे चौड़े अंधेरे मैदानमें खड़ा हुआ जान पड़ा. मेरे सिवा वहाँ और कोई न था. वहाँ चारो तरफसे बड़ी ही दुःख देनेवाली चीत्कार सुनाई देती थी. गुरुराज, इस लोक (संसार) के

लिए मैंने बड़ी बड़ी भीषण लड़ाइयाँ लड़ीं और केवल एक गर्जनासे अच्छे अच्छे वीरोंके हृदयको दहल देता था पर इस भयंकर स्थानमें वार वार महादुःखदायी चीत्कार सुननेसे मेरा कठिन हृदय फटने लगा. मुझे इतना भय हुआ कि, अरेरे ! इस जगहमें मेरी सहायता करनेवाला कोई नहीं है. ऐसा जानकर मैं खूब रोया और सहायताके लिए बड़ी चीत्कार करने लगा. इतनेमें मुझको दूरसे ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे सामने आगीके गोले आते हों. थोड़ी देरमें वह अग्नि पास आगई और एक धकधककरती हुई स्त्रीका आकार दीख पड़ा. उसे देख कर मैं चिल्ला उठा. अग्निके समान धकधकाती हुई वह स्त्री हाथ फैलाकर मेरे चारो ओर फिरने लगी और बड़े भीषण शब्दोंमें मुझसे कहने लगी 'खड़ा रह, भागता कहाँ है ? वनमें तो उस अप्सराके पीछे प्रेमसे पागल होकर विरही बनकर दौड़ा था और अब क्या मैं अच्छी नहीं लगती ? आ आ मुझे लिपटने (आलिंगन) दे. मैं तुझको जाने नहीं दूँगी.' गुरु महाराज ! इससे मैं बहुत घबराया और चिल्लाया, परंतु वहाँ कौन सहायता करता ? जैसे जैसे मैं दौड़ता और जिधर जिधर जाता उधर ही उधर वह मेरे आगे आकर, हाथ फैलाकर मुझे बाँहमें भरलेनेके लिए तड़फती थी. उस समय मैं बहुत पछताया कि वनमें देखी हुई अप्सराकी इच्छा न करता तो मेरे लिए यह समय भी न आता. मैंने चिल्लाकर कहा 'अरे, मैं भूलगया. मैंने बुरा किया.' परंतु उससे क्या होता था ? दयालु गुरुदेव ! इस भयसे मैं छूटा नहीं कि एक और कठिन प्रसंग, एक बड़ा भारी भय मुझ पर आकर टूट पड़ा. मुझे सैकड़ों और हजारों भयंकर गर्जनाएँ सुनाई पड़ने लगीं और जान पड़ा मानो चारो ओरसे कोई दौड़ रहे हैं. जैसे कोई भारी सेना आती हो इस तरह घोर शब्द होने लगा. देखते देखते वज्रके समान बड़ी पैनी डाढ़ोंवाले और भालेके समान तेज और बड़े सींगवाले असंख्य पशु दशो दिशाओंसे मेरी ओरको दौड़ आए और मुझे मारने लगे. वहाँ मैं अकेला था और पशु असंख्य थे. मेरे पास कोई हथियार भी नहीं था. मेरी धनुर्विद्या और गुरुके सिखाए हुए दिव्य अस्त्रोंके प्रयोग वहाँ काम नहीं आये. अरे रे ! किसीने भी मेरी सहायता नहीं की ! अरे मेरे शरीरमें हजारों हाथियोंका बल था परंतु वहाँ मैं कुछ पराक्रम नहीं दिखला सका. देव! आ हा हा ! कितना त्रास ! (डर) कितना दुःख ! दुःखका अंत हो गया. उस समय दयावाली चीत्कार करनेके सिवा मैं और कुछ नहीं कर सकता था. उस समय मैं विनय या प्रार्थना किससे करता ? क्षमा भी किससे

माँगता ? ये सारे पशु तो महाँ भयंकर और फाड़ खानेवाले पशु ही थे. चिल्ला चिल्ला कर मैं थक गया. गला बैठ गया. आँखें पैठ गई. शरीर टूट गया. उस समय फिर अग्निकी ज्वालाके समान वह भयंकर स्त्री दुष्टताकी अनेक भावभंगी करके, कहने लगी 'क्यों' अब क्यों, रोता है ? इन्द्रपद क्या योंहीं मिल जाता है ? यज्ञ करते समय इन्द्र बननेकी उमंगमें असंख्य पशुओंका बलिदान कर प्राण लेते समय क्या क्षण भर भी पीछेकी ओर देखा था ? अरे दुष्ट कामी ! निर्दोष गरीब प्राणियोंको मारनेसे उनको अपार दुख होता होगा, इसका क्या कुछ भी विचार तू मनमें लाया था ? अरे ! अरे ! तुझे यहाँ क्यों लाए ! बता अब ये पशु तुझको कैसे छोड़ेंगे ? अरे सहायताके लिए किसको चिल्लाता है ? इन्द्र तू हो और सहायताको कौन आवे ? इन्द्र होने की आशामें पहले तो बटुकको दान दिया पीछे पछताया कि दान न देता तो अच्छा, तो ले अब अपना किया हुआ यह तूही भोग ! क्या जानता नहीं था कि यह महात्मा दान लेकर सब दुखोंसे मुक्त करदेगा. परंतु नहीं रे, तुझको तो इन्द्रासनका महा सुख भोगना है. अब उसे भले ही भोग ! पर पहले तो इन कराल पशुओंके साथका इन्द्र पद भोगले, फिर दूसरी बात होगी. परंतु राजा ! तू मुझको लिपटने कब देगा ? ऐसा कहकर वह अग्निज्वालाके समान क्रूर राक्षसी बार बार हाथ फैलाकर मुझे बाँहोंमें भरने लगी, तब वे पशु भी इकट्ठे होकर फुफकारकरके मुझपर दौड़े और वज्रके समान अपने पैने सींगोंसे मुझको मारने लगे. अरे दैव ! अब मैं क्या करूँ ? कितना रोऊँ ? कितना चिल्लाऊँ ? किसको याद करूँ ? मेरा कोई उपाय नहीं रहा. परंतु गुरुराज ! हृदयमें तीरके समान चुभे हुए जलती हुई उस राक्षसीके उपदेशरूपी वचन भूले नहीं थे इस लिए मुझको उसी समय विचार हुआ कि " अरे ! दान तो मैंने बटुकको दिया था परन्तु पछताता नहीं तो अच्छा होता. सब दान देकर मैं बटुककी शरणमें पड़ा होता तो वे मुझको इन सब दुःखोंसे मुक्त करदेते. मेरे मनमें इतना विचार आते ही वहाँ मेरी चारों तरफ अपार प्रकाश पड़ा हुआ दीख पड़ा और उसके बीच आपका यह मनोहर दिव्य स्वरूप मेरे आगे आकर खड़ा दिखा. सारे क्रूर पशु जाते रहे. वह दुष्ट राक्षसी छिप गई. घोर अंधकार भी मिट गया और अनुपम उज्वलताका राज्य छा गया. मैंने तुरंत आपको देखा और गुरुदेव ! अपार प्रेमसे धड़कते हुए हृदयसे मैंने आपके कृपालु चरणोंकी शरणमें अपना सिर रख दिया. "

इतना वृत्तान्त कहते कहते वरेप्सु राजाका हृदय प्रेमसे उमड़ आया और उसकी उमंगमें वह फिर वटुकके चरण चूमते हुए प्रेमसे पृथ्वीपर गिर पड़ा. ऋषिपुत्रने धीरज देकर फिर उठाया. तव वह फिर बोला, "शरण्य! गुरुराज! इसके पहले मैंने आपका प्रभाव ही नहीं जाना था. मुझे आपकी अगम्य लीलाकी खबर ही नहीं थी. मैंने अज्ञानतावश आपको ठगा और इसीसे मुझको अपने किये हुए कर्मोंके फल भोगनेका भयंकर समय प्राप्त हुआ था, और आपके इन कृपालु चरणोंके विना उससे बचानेवाला दूसरा कोई भी नहीं था." बीचमें वटुक बोल उठा "अच्छा, राजा, इसके पीछे क्या हुआ सो बता." राजा अपने मरनेका हाल कहने लगा:—

वह बोला; "कृपालु! जब मैं वहाँ आपके चरण कमलोंमें पड़ा तब भारी परिश्रमसे थक जानेपर विश्राम करनेसे जैसे मीठी नींद आजाती है, उसी तरह इस भारी दुःखसे शान्त होकर मैं आपकी शरण आनेसे सुपुप्ति जैसे सुखमें लीन हो गया. मैं नहीं जानता इस अवस्थामें मैं कबतक रहा इतनेमें मैं फिर पहलेके वाजोंका मधुर शब्द सुनने लगा. मैं सचेत होकर देखने लगा तो फिर मुझे आपके दर्शन नहीं हुए, परंतु ऐसा मालूम हुआ मानो पहलेका दिव्य विमान और धर्मराज सहित उनका अधिकारी वर्ग मेरा रास्ता देखते खड़े हैं. उसी समय जय जय कार शब्द गूँज उठा और मुझको आदरसे विमानपर बैठा कर तथा सिर झुका (नमन) कर सब खड़े रहे. फिर मंगल शब्द सहित विमान आकाशकी ओर उड़ा. परंतु महाराज! इन धर्मात्माओंने मुझसे इतना भी न पूछा कि तू इतनी देरतक कहाँ था और तुझे क्या क्या दुःख उठाने पड़े. उसी समय मुझको निश्चय हुआ कि धर्मराजका न्याय और दंड अचूक और अटल (अनिवार्य) है. राजासे रंक तथा मनुष्यसे देवतक सबके लिए वह समान है. शास्त्र और बड़े बड़े पुरुष जैसा कहते हैं उस तरह किए हुए कामोंका फल भोगे विना किसीका भी छुटकारा नहीं है. प्रभु! मुझको जो छुटकारा मिला वह आप जैसे समर्थकी शरणहीका कारण है.

मेरा विमान फिर झपाटेसे चला. पहले तो वह सीधा आकाशकी ओर गया परन्तु फिर उत्तरकी ओर मुड़ते हुए जान पड़ा.

कुछ समयमें वह एक बहुत ही तेजस्वी भूमिके पास जा पहुँचा. वह भूमि बहुत बड़ी थी और वहाँकी सब चीजें प्रकाशमय (तेजोमय) दीखती

थीं. आकाशसे अधर (निराधार) उस भूमंडलको देखनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी. परन्तु विमान तो उसे पार (अतिक्रमण) करके आगे चला. तब मैंने विमानमें बैठे हुए सेवकोंसे पूछा; "यह कौनसी भूमि है ? क्या सूर्यमंडल है ? उन्होंने उत्तर दिया; "नहीं महाराज, यहाँ सूर्यमंडल कहाँसे ! वह तो बहुत दूर अंतरिक्ष (आकाश) में है. जिसको छोड़ आये वह तो भुवर्लोक है." कुछ समयमें उससे भी अधिक तेजोमयी (प्रकाशवाली) एक और भूमि दिखी. उसके पास पहुँचते ही विमानमें बैठे हुए सेवक लोग जय जय शब्दकी गर्जना करने लगे और मधुर स्वरसे बाजे बजने लगे. देखते देखते उस भूमि पर मेरे विमान जैसे दूसरे बहुतसे विमान मेरे सामने उतरे और उनमें बैठे हुए दिव्य स्त्री पुरुष जय जयशब्दकी ध्वनिसहित मुझ पर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे. थोड़ी देरमें मेरे साथ सब विमान आकाशमें ही स्थिर हो रहे. आनेवाले उन दिव्यजनोंने नमन वंदनादिसे मेरा अच्छी तरहसे स्वागत किया. फिर वहाँसे सब पीछे फिरने लगे. थोडी देरमें एक अलौकिक भूमि सामने आई. उसके एक बहुत ही सुन्दर नगरमें सब विमान उतरे और एक बहुत ही भव्य और नैसर्गिक (स्वर्गीय) समृद्धिवाले बड़े भवन (महालय) के आगे जाकर खड़े हो गए.

अहा ! गुरुदेव ! वह दिव्य नगर, उसके भव्य (श्रेष्ठ) दिव्य (स्वर्गीय) निवासस्थान, अलौकिक लोग, उनकी सवारी और भोगनेका सब सामान तथा सुखके साधन आदिको देखकर मुझको जो आश्चर्य हुआ, वह चिरस्थायी (निरवधि) था. जहाँ देखो वहाँ सब तेजोमय (प्रकाशवाले) और शोभावाले ही दीखते थे. दुःख, मलिनता अथवा जरा भी अन्धकार वहाँ नहीं दीखता था. विमानसे उतर कर हम एक महलमें गये. उस महलमें एक विचित्र सभास्थान था. मैं उसका क्या वर्णन करूँ ? यमराजकी सभासे कहीं हजार गुणी सभा हो तो भी थोड़ी है. वहाँ मुझे एक दिव्य आसन पर बैठा कर दिव्य सामानसे सभाके अध्यक्ष (सभापति) ने मेरा पूजन किया. मेरे सामने ही उस सभापतिका सुन्दर आसन था. उसकी दोनों बाजुओंमें सभाके चारों तरफ दूसरे अनेक आसन रक्खे थे. उन पर बहुत ही सुन्दर शरीरवाले अधिकारी बैठे थे. उनके कानोंमें चमकते हुए सोनेके रत्न खचित कुंडल थे. सिरपर मुकुट, गलेमें मणिकी माला हाथोंमें रत्नके कंकण और बाँहोंमें बाजूबंद आदि गहने पड़े थे. एक ओर पवित्र आसनों पर बहुतसे दिव्य शरीरवाले महर्षि बैठे थे. दूसरी

और तलवार, पाश, शूल, शक्ति, परिघ, वाण और अनेक हथियार (आयुध) लिए हुए दिव्य सैनिक वैठे थे. वीचके दृढ़ आसन पर बैठा हुआ सभाध्यक्ष (सभापति) असीम कान्तिमान्, वलवान्, वड़े पराक्रमवाला, तेजस्वी और अपार सुखका भोग करनेवाला था. सभाके अधिकारियोंकी नजर उसीकी ओर थी. वे सब यह देख रहे कि वह न जाने अव क्या हुक्म देता है. इतनेमें अपार रूप और दिव्य अंगवाली कई स्त्रियाँ, विचित्र कपड़े और गहनोंसे सबका मन खींचती हुई सभामें आ उसे सिर झुका (नमन) कर खड़ी रहीं. वे मनको पार करनेवाले (मनोवोधक) स्वरसे परब्रह्मकी एकताका गान करने लगीं. मालूम होता था यह गान मेरे आदरके लिए किया गया था. उन गानेवालियोंमें कई तो वे ही अप्सराएँ थीं जिनको कई वर्ष पहले मैंने वन (अरण्य) में देखा था. उनमेंसे कुछको मैंने देखा और उसपरसे भी मुझको निश्चय हुआ कि अहो! यही स्वर्ग और यह सभाध्यक्ष ही इन्द्र है. अप्सराओंका हावभाव (भावभंगी) और गाना वड़ा आनन्द-प्रद था परन्तु मुझको उस आनन्दका जरा भी स्पर्श न हुआ. क्योंकि वनमें देखी हुई अप्सराकी इच्छा मात्रसे यमराजके यहाँ मुझको जिस (जलती हुई राक्षसीवाले) भारी संकटने घेर लिया था, वह मैं क्षणभर भी नहीं भूलता था. ऐसे गानसे भी मैं प्रसन्न नहीं हुआ, यह देखकर इन्द्र और सभाके देवादि सब लोगोंको आश्चर्य हुआ और मुझको प्रसन्न करनेके लिए इन्द्रने उससे भी अधिक नाचरंग करनेकी तैयारी आरम्भकी, परन्तु इतनेमें आकर एक भव्य पुरुषने सभामें प्रवेश किया. उसको देखते ही मैंने पहचान लिया और मेरे हृदयमें धड़कन होने लगी. यह यमराज था. मुझको ऐसा मालूम हुआ कि अभी कुछ पाप वाकी रहगया होगा उसकी यह मुझको सजा देगा. परन्तु वैसा न था. उसने आकर इन्द्र महाराजसे वहुतसी विनयकी और फिर अपने आसन पर बैठ गया. उसके लिए वहाँ पहलेहीसे एक ऊँचा आसन तैयार रक्खा गया था. मैं सोचता हूँ यह उस सभामें नित्य वैठनेवाला होगा. यमराजके आसन पर बैठनेके वाद इन्द्र महाराज खड़े हुए और इस प्रकार कहने लगे.

यह वरेप्सु राजर्षि है, जिसके लिए अभी कोई योग्य पदवी नियत न करनेसे हम इसी नामसे पुकारेंगे, इस महात्माके पुण्योंका पार नहीं है. इसका सारा जीवन ही पुण्यरूप है. इसने अपार दक्षिणावाला यज्ञ करके, यज्ञनारायण देवको वहुत प्रसन्न किया है और उससे, प्राप्त न होनेवाले (अलभ्य)

इन्द्रपदको भविष्यतमें प्राप्त करनेका अधिकार संपादन किया है. समय आते ही इसको वह सत्ता (अधिकार) अर्पण की जायगी. परंतु वह समय अभी बहुत दूर है. क्योंकि ऐसे अधिकारी अभी बहुत हैं जो इस समृद्ध अधिकारकी पदवी प्राप्त कर चुके हैं और जिनके लिए इन्द्र पदके अधिकार प्राप्त करनेका समय भी स्थिर हो चुका है. वे सब एक एक कर जब अपना अधिकार भोग लेंगे तो उनके पीछे यह राजर्षि उस पद पर सुशोभित होगा. तबतक इसको रखनेके लिए कोई अच्छी जगह आवश्यक है. इस समय जगहके लिए ही प्रबंध करना जरूरी है. परंतु भूलोक (पृथ्वी) के न्याय शासन करनेवाले धर्मराजने अपनी विशेष याददास्तके अनुसार अभी मुझको बतलाया है कि इस पुण्यात्मा पुरुषने अपना सर्वस्व एक महात्मा ब्राह्मण पुत्रको दान कर दिया है और इससे इस पुरुषका अधिकार इतना बड़ा माना जाता है कि हमसे इसकी तुलना नहीं हो सकती. तो फिर इस संबधमें प्रबंध करना हमसे कैसे बनेगा? यह काम हमारे अधिकारके बाहर है. इस लिए मैं सोचताहूं कि यह पुण्य पुरुष पितामहके दर्शनोंके लिए भाग्य शाली हो!'

इन्द्रका यह भाषण पूरा होते ही सारी सभा जय जय कारसे गर्ज उठी और मुझपर फूलोंकी वर्षा होते ही इन्द्र सहित सब सभासद खड़े हो गये. मैं भी उठा. मेरे साथ सब महात्मा सभा स्थानके बाहर आये. वहाँ पर एक बहुत ही श्रेष्ठ, बड़ा, और शोभाका समूह विमान आकर खड़ा था. इन्द्र मुझको साथ लेकर उसमें बैठगया. उसने पूजाकी बहुतसी सामग्री साथमें लेली आज्ञा होते ही विमान आकाशकी ओर उड़ा सब देवता जयजय शब्द करते वहीं रह गये. अहा! गुरु महाराज! इस विमानका क्या ही वेग था आते समय रास्तेमें बहुतसे दिव्य स्थान देखनेको मिलते थे. ज्यों ही मैं इन्द्रसे यह पूछनेको तैयार होता कि वे कौनसे स्थान हैं और वहाँ कौन लोग रहते हैं त्योंही दूसरे स्थान आजाते और ज्योंहीं दूसरेके विषयमें पूछने लगता त्योंही तीसरे आजाते. इसतरह एक एक कर अनेक स्थान और एक ही तरह की बहुतसी जगहोंके अनेक समूहोंके आगेसे विमान ऊँचे ही ऊँचे बढ़ चला. ऐसा एक स्थान अथवा उनका समूह एक लोक कहलाता है. क्योंकि जब ऐसा एक समूह आया तो देवराज इन्द्रने मुझसे कहा कि यह महर्लोक है. दूसरा आया तो जनलोक और उसके बाद तीसरा भूमि खंड आया तो उसका नाम तपलोक बतलाया. गुरुदेव! ये सब स्थान और स्थानसमूह

एकसे एक बढ़कर और सबसे अधिक तेजस्वी थे. परंतु मैं जरा भी देख या जान न सका कि उन स्थानोंमें क्या होगा, और वहाँ कैसे कैसे लोग रहते होंगे! इतनेमें सबसे श्रेष्ठ और ऊँचा सब लोकोंका मुकुटमणि महा दिव्य चौथा लोक आया. इन्द्रने मुझसे कहा 'राजर्षि! यह सत्य लोक है. इसमें इस सारे संसारको बनानेवाले पितामह अर्थात् ब्रह्मदेव विराजते हैं, इसको ब्रह्मलोक भी कहते हैं.'

हमारा विमान उस लोकमें उतरा. वह ब्रह्म सभाके आगे जा कर खड़ा हुआ. मेरे साथ देवराज विमानसे उतर कर ब्रह्म सभामें गए. वहाँके तेज और सौभाग्यसे मैं बिलकुल विस्मित हो गया. अब तक मैंने जितना भी चमत्कार देखा था वह सब इस सभा स्थानके आगे कुछ भी न था. पहलेकी सारी दिव्य सृष्टि मुझे इस ब्रह्म सभाके आगे तुच्छ (न कुछ) और फीकी लगी. सभास्थान अनेक दिव्य दर्शकोंसे भरपूर था. बहुतसी दिव्य स्त्रियाँ और पुरुष, जिनके तेजको साधारण आदमी देख भी नहीं सकते थे, हाथ जोड़कर संसारको बनानेवाले (जगत्पिता) ब्रह्मदेवकी स्तुति कर रहे थे. वे साधारण देवदेवी नहीं परन्तु अनेक भूमंडल, अनेक दिव्य लोकोंके अधिकार भोगनेवाले थे. गुरुदेव! जैसे आपका वर्णन सुनते हैं वैसे ही वहाँ वीणाधारी देवर्षि नारद और उन्हींके समान दूसरे असंख्य देवर्षि भी विराजते थे. वहाँ पाँच वर्षके बालकके समान ब्रह्माके चार पुत्र सनकादिक और दूसरे बहुतसे महर्षियोंका पुण्यरूप समूह भी विराजमान् था. चार वेद, उपवेद, सब छंद, और वाणीकी अधिष्ठात्री ब्रह्मशक्ति सरस्वती भी वहाँ सुशोभित थीं. सूर्यादि सब ग्रहमंडल और दूसरे सब भूमंडलके सुन्दर अधिष्ठाता देव और उन मंडलों पर अधिकार भोगनेवाले अधिकारी आदिसे सभास्थान परिपूर्ण था. इन सबके बीचमें बहुत ही श्रेष्ठ आसन पर सूर्यके समान सबको प्रकाशित करनेवाले पितामह ब्रह्मदेव विराजमान थे. यहाँ पर इनको हमलोग चार मुँहवाला जानते हैं परन्तु गुरुराज! मैं तो उनको अनंत मुहवाला कहूँ तो भी वह उपमा न्यून है! क्योंकि इन स्वयम्भू (आप ही पैदा होनेवाले) की अपार शक्तिसे सभास्थानमें बैठे हुए सबकी भिन्न भिन्न इच्छाओं और प्रार्थनाओंका समाधान एक साथ होता था. ऐसा परम अद्भुत स्वरूप देखकर मेरे आनंदका ठिकाना नहीं रहा. अपने साथ लाई हुई दिव्य सामग्रीसे इन्द्र उन प्रभुकी पूजा करने लगा. परन्तु मैं तो सब सामग्रीमें सिर्फ मैं ही था. मैं जय-जय करते हुए उनके चरणोंके आगे दंडवन्नमस्कार करनेको गिर पड़ा.

सारे ब्रह्माण्डके पिता स्वरूप ब्रह्मदेव मुझको देखते ही परम कृपा पूर्ण वचनोंसे इन्द्रसे कुछ बोले. वह सुनते ही इन्द्र दंडवत् प्रणाम कर, मुझको ले कर पीछे फिरा! वह ब्रह्मसभाके बाहर आया. इससे मैं सोचने लगा कि, 'अहो! इस स्थानमें आने अथवा प्रवेश करनेका क्या मेरा अधिकार नहीं है? परन्तु यदि ऐसा होता तो इन्द्र मुझे यहाँ लाता ही क्यों? परन्तु हाय, मैं भूलगया. मैंने तो जो अनुष्ठान किया है वह स्वर्गका राजा होनेकी इच्छासे किया है. उससे बढ़ कर कोई महदनुष्ठान (बड़ा अनुष्ठान) कर इस ब्रह्मलोकमें बसनेका अधिकार प्राप्त किया होता तो क्या ही अच्छा था! सत्यलोकके सामने वैसे हजारों स्वर्ग इकट्ठे हों तो भी क्या? इस तरह दुःखित (व्यग्र) चित्तसे मैं इन्द्रके साथ बाहर आया और खिन्न हृदयसे विमानमें बैठा गया. उसी समय वह विमान पीछे फिरा. सत्यलोकका सुन्दर चित्र हृदयमें दृढ़तासे बैठ जानेसे मेरी खिन्नता क्षण क्षण बढ़ती जा रही थी. मैं बड़ा दुखित होगया. गुरु महाराज! जीवका आदिसे ही विलक्षण स्वभाव है. जिस चीजका वह भोग करता है उससे विशेष उत्तम पदार्थ देखने या जाननेमें आताहै तो उसका मन उस पदार्थको प्राप्त करनेके लिए अधीर हो उठता है. पहलेका पदार्थ उसे अच्छा ही नहीं लगता. उसी तरह जब तक वह उत्तम पदार्थ उस जीवको नहीं मिलता तब तक वह कहीं जरा भी चैन नहीं पाता. इसी तरह मैं भी सत्यलोककी इच्छासे बहुत ही दुःखी होगया था. इतनेमें इन्द्रकी इच्छाके अनुसार चलनेवाला विमान भी दैवेच्छासे या मेरे दुःखके कारण ही आकाशमें अटक गया. इन्द्रने बहुतसे उपाय किए, तो भी वह वहाँसे जरा भी न डिगा. इससे इन्द्र भी बहुत चिन्तित हुआ. वह सोचने लगा कि इसका क्या कारण है? इतनेमें आकाशमें बहुत ही मीठी गर्जनाके साथ कुछ वाणी सुनाई पड़ी. इन्द्र सहित मैं बड़ी सावधानी और शान्त चित्तसे उस दिव्य वाणी (बोली) को सुनने लगा.

"हे राजन्! हे वरेप्सु! हे मनुष्य रत्न! तू दुःखित न हो. तेरा पुण्य अपार है और उसमें भी तेरे यहाँ भिक्षुकके रूपमें आनेवाले महात्मा वटुकका मिलना (समागम) तुझको अपार पुण्यका देनेवाला है. उन्हींके मिलनेसे तू सत्यलोकके दर्शनको भाग्यशाली हुआ है. इतना ही नहीं परन्तु उन्हें सर्वस्व दान दे कर तू अपने संस्कारके सब तरहके पाप और पुण्यरूप मलसे मुक्तहुआ है. तेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है. तू इच्छा रहित हुआ है और सबके ईश्वर परमात्माके दर्शन करनेकी तुझमें योग्यता (सामर्थ्य)

आई है. तू कई जन्मोंसे सबसे अच्छी वस्तुकी इच्छा करता आता है, और उसके लिए ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए अच्छे अच्छे उपाय भी किए हैं. इससे उस दयालुने तुझपर दया कर बिना प्रयत्न किए तुझको वटुकरूप महात्मा गुरुका समागम (मेल) कराया है. सर्व शक्तिमान् परमेश्वरने, गुरुरूप तत्व ही ऐसा बनाया है कि जिसकी श्रेष्ठता (महत्ता) की तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती. गुरु तत्वमें परमेश्वर स्वयम् पूर्ण रूपसे विराजते हैं और उस (गुरु) के द्वारा जगतका कल्याण (भला) करते हैं. तू विचार कर कि तेरे यज्ञमें भिक्षुकरूपसे आनेवाले तेरे गुरुने कैसी बड़ी युक्तिसे सिर्फ एक ही वचनसे तेरे अगणित (अनंत) जन्मोंके पुण्य और पापरूपी कठिन मलसे तुझे मुक्त और पवित्र कर दिया है ! तो भी बहुत प्रबल इच्छा होनेसे मायाने तुझे पीछे ढकेलनेका प्रयत्न किया और तेरे मनको इतने भारी भ्रममें डाल दिया कि जिसके कारण तुझको मरनेकी दशा प्राप्त हुई. यह प्रसंग देख कर ईश्वरकी प्रेरणासे तुझको स्वयम् अपने मनको समझानेके लिए इस दिव्य लोकमें आना पड़ा है. परन्तु भूलोकमें अभी तेरा जीवन शेष है इस लिए वहाँ जा कर उस गुरुकी कृपा प्राप्त कर अपनी श्रेष्ठ इच्छा (वरेच्छा) पूर्ण कर.

आत्माका अनुभव.

अंतिम शब्द पूरे होते ही अटका हुआ विमान अचानक चलने लगा. हम दोनों प्रसन्न हुए. थोड़ी देरमें हमें ऐसा मालूम हुआ मानो किसी बहुत ही बड़ी विपत्तिमें पड़ना चाहते हैं. ठीक रास्ता छोड़ कर विमान बड़ी तेजीसे किसी दूसरे रास्तेमें ले जाते हुए जान पड़ा. थोड़ी देरमें तो सत्य लोक को भी न जाने किस दिशामें छोड़ मानो तेज हवाके कठिन परदेको फाड़कर विमान आगे बढ़ने लगा. परंतु ऐसा करते हुए मानो विमानकी गति भंग हो गई हो इस तरह वह डोलने लगा और वातावरण (वायुमंडल) उसे टक्कर मारने लगा और इस सबबसे बड़ा भयंकर शब्द और हलचल होने लगा. मैं तो घबराहटसे बिलकुल विचलित हो गया. थोड़ी देरमें मुझको मानो किसीने उछालकर फेंक दिया हो इस तरह मैं विमानसे उलट कर उस घने वायुके पर्देसे परे (उधर) जा पड़ा ! इन्द्र भी मेरे समान ही अरक्षित हो गया होगा या नहीं वह और उसका विमान कहाँ गया होगा, उसकी क्या दशा हुई होगी, यह मैं कुछ भी नहीं जानता. क्योंकि फिर उसका समागम (मेल) मुझसे नहीं हुआ.

इस पर्देकी उस ओर तो सिर्फ प्रकाश ही प्रकाश था. इसे सत्यलोक तक भी मैंने कहीं विलकुल ही नहीं देखा था और इससे मैं उसे महा प्रकाश नाम दूँ, महत तेज कहूँ, या अपार तेज कहूँ तो इनमेंसे एक भी उपमासे मेरे मनको शान्ति नहीं होती. वहाँ हजारों, लाखों, या करोड़ों सूर्य एक साथ उदय होते तो भी उनके एकत्र प्रकाशसे यह प्रकाश अधिक था. लौकिक तेज (अग्नि, सूर्य आदि) का स्वभाव उष्ण (गर्म) होता है पर यह प्रकाश तो उल्टा, उससे करोड़ों चन्द्रके प्रकाशके समान शीतल (ठंडा) और सुख देनेवाला था. ज्यों ही मैंने उस प्रकाशमें प्रवेश किया त्यों ही मुझे स्वाभाविक रीतिसे अपार आनन्द और सुख होने लगा. सत्यलोक तक मैंने अनेक दिव्य और सुन्दर पदार्थ देखे थे और उनसे होनेवाले असंख्य सुख भी अनुभव किए थे. परन्तु ऐसा सुख ऐसा अपार और अद्भुत सुख देख कर वे सब मुझे तुच्छ जान पड़े.. हमें प्रत्येक सुख और आनन्द किसी पदार्थके उपभोगसे होता है उसका अनुभव हम सिर्फ अपने मनके द्वारा करते हैं, वह हमें आँखोंके सामने दिखलाई नहीं देता. परन्तु यह तो दीख पड़नेवाला मूर्तिमान् आनन्द था, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है. यह आनन्द, अतुलित (जो तौला न जा सके) सुख, अद्भुत तेज, कहाँ तक और कितना था, मैं सोचता हूँ उसका किसीको भी पार न मिला होगा. यदि ऐसा कहा जाय कि यहाँ सुख और आनन्दका सागर भरा था तो भी यह उपमा उसके आगे विलकुल तुच्छ लगती है और यदि यह कहूँ कि ऐसे सुख और आनन्दके समुद्र भरे थे तो वे समुद्र भिन्न भिन्न होनेसे, यह उपमा, किसी भी तरहके विभाग विना, अखंड एक रसरूपसे भरे हुए उस आनन्दके सम्बन्धमें दूषित ठहरेगी. इस लिए मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि वह अपार सुख और आनन्द वर्णन करनेके योग्य नहीं था. उसमें मैं हिलोरें लेने लगा और उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने लगा. गुरु महाराज! यहाँ मुझे अत्यन्त सुख होने लगा इससे उस अतुल तेजको मैं आनन्दकी उपमा देकर वर्णन करता हूँ, परन्तु यथार्थ में वह क्या पदार्थ होगा, यह जाननेके लिए मुझको वहुत कुछ विचार हुआ. इन्द्रलोक, सत्यलोक, आदि स्थानोंमें मैंने जो कुछ आनन्द पाया, वह निर्दोष, परिपूर्ण या स्वतन्त्र नहीं था. क्योंकि वहाँ ऐसा सोच कर कि यहाँ मेरा अधिकार नहीं, वे पदार्थ मेरे निजके नहीं परन्तु दूसरेके हैं मेरा मन पीछे

हटता था. परन्तु इस अपार आनन्दके विषयमें ऐसा न था. इसमें तो मुझे परकीयपन (द्वैताभास) दीखता ही नहीं था. यह आनन्द तो स्वतन्त्र और अपना ही मालूम हुआ. इससे अपने जीवात्मा तक सब चीजोंका आपको दान दे चुकने पर जैसी प्रबल इच्छा (उत्कण्ठा) मुझको हुई थी कि दान देनेवाला बाकी रहा मैं कौन हूँ और कैसा हूँ, वैसी ही उत्कण्ठा उस समय उसके जाननेकी हुई और यह बात भी मुझे आप ही आप याद आई. उसी समय सहज ही मैंने अपनी ओर देखा तो क्या कहूँ! अहा! गुरु महाराज! वहाँ प्रकाशित होनेवाला प्रकाश और मैं एक ही जान पड़ा! उससे मैं जरा भी भिन्न नहीं था. उसमें और मुझमें जरा भी भेद नहीं था! मैं भी वही आनन्द रूप! दिव्य! तेजोमय! आनन्दमय! कैवल्यरूप! अरे मैं तो अतुलित सुख और अद्भुत तेजोमय ही जान पड़ा. मैं अपनी और उसकी ओर बारबार देखते हुए थक गया. परन्तु मुझमें और उसमें कोई भी भेद मालूम नहीं हुआ. अहा! मेरा स्वरूप ऐसा! यही मैं स्वयम्! ऐसा जान कर मेरे हृदयके सारे सन्देह दूर हो गये. मेरी सब शंकाएँ मिट गईं. मेरी कोई भी आवश्यकता और इच्छा शेष नहीं रही. इतनेमें फिर भी मैंने उसमें एक बड़ा आश्चर्य देखा!

जैसे बिलकुल साफ और एकसा जल भरा हुआ हो, और उसमें बर्फका[1] एक बड़ा टुकड़ा डालो, तो यद्यपि वह सब प्रकारसे साफ ही है, तो भी भरे हुए जलसे अलग, प्रकाशित और सफेद दीखता है उसी तरह उस अपार तेजोमय आनन्दमें (मानो सारा तेज एकत्र हुआ हो और वह, उस सबसे अधिक प्रकाशित मालूम हो) वैसी बड़ी प्रकाशवाली एक विचित्र मूर्तिके दर्शन हुए. यह मूर्ति ऐसी दीखती थी जैसी अनुमान छः से आठ वर्षकी अवस्थावाले शिशुकी प्रभाव श्री होती है. इसके अंगअंगकी कोमलता और सुन्दरताका मैं कहाँतक वर्णन करूँ! कैसा इसका दिव्य रसीला रूप है! कैसी इसके मुखकी श्री है! भूलोक (पृथ्वी) से लगा कर सत्यलोक तक सारे विश्व (ब्रह्माण्ड) की सब सुन्दरता, इस आनन्दमय बालकरूपी सुन्दर मूर्तिका एक अंश भी नहीं कही जायगी. इसके सुन्दर अंगोंपर कपड़े और गहने भी आनन्दमय ही मालूम हुए. तो भी वे अनेक (रंग बिरंगी) विचित्रतासे भरे हुए दीखते थे. कमलके समान उसके सुन्दर

[1] पानीका जमा हुआ बर्फका गोल कंकड़.

कोमल पैरोंमें सोनेके रत्नसे जड़े हुए अमूल्य नूपुर थे. वे भी वास्तवमें इस दिव्य तेजोमय या आनन्दमय जैसे ही थे. कमरमें सुन्दर रेशमके कपड़ेका पीताम्बर भी आनन्दमय ही था. उस पर कञ्चनके समान पड़ी हुई रत्नजड़ित कटिमेखला, हाथोंकी उँगलियोंकी मुँदरियाँ, कलाइयों पर पड़ी हुई रत्न पहुँची, बाँहोंके बाजूबंद, छाती तक लटकती हुई और बहुत विचित्र लटकनवाली गलेकी आनन्दसुन्दर मणि-माला, कानों में चंचल मछलीके आकारके रत्नकुण्डल, बिम्बफलके समान ओठों पर और सुएकी चोंचके समान नोकवाली कोमल नाकके सिरेसे लटकती हुई मुक्ताफलकी बेसर, प्रकाश पूर्ण मस्तक पर विचित्र रत्नोंसे जड़ित और मयूरके पंखोंसे बहुतही शोभा देनेवाला सुन्दर मुकुट यद्यपि कुछ विचित्र अवश्य दीखते थे, तो भी यथार्थमें आनन्दमय ही थे. आनन्दके सिवा वहाँ और कुछ नहीं था. कमलके समान आँख मुँहवाले सुन्दरताके समुद्ररूपी इस बालकको देखकर मुझे अत्यन्त भक्तिभाव उत्पन्न हुआ. उस समय मुझे स्वयं निश्चय हुआ कि इससे अधिक अच्छा, इससे अधिक सुन्दर और इससे बढ़ कर विशेष सुखमय, तेजोमय, पूर्ण और कुछ भी नहीं है मैं भी सारे शरीरसे आनन्दमय ही बन गया. इससे मुझे अपार भक्ति उत्पन्न हुई और उस स्नेहकी उमंगमें मैं उससे लिपटनेको दौड़ा. परन्तु क्षणभरमें तो उसके और मेरे बीचमें हजारों, लाखों और करोड़ों कोसका अंतर हो गया. जैसे मैं पहलेके धक्केसे उस विमानसे उछल पड़ा था वैसे ही फिर धक्केसे मैं पहले जैसे तेज वायुकेके घेरेमें आ पड़ा और इसके बाद मेरा क्या हुआ और किस तरह मैं यहाँ आया, यह मैं नहीं जानता."

राजाका यह अद्भुत वृत्तान्त—अनुभव सुनकर महात्मा वटुकको कुछ भी नूतनता मालूम नहीं हुई. परन्तु रानी, प्रधान, आदि सेवकों, ऋषियों, राजाओं और प्रजा आदि सब जनसमूह आनन्द सहित आश्चर्यमें डूब गया. राजाकी मृत्यु देखकर जिन लोगोंने वटुक पर क्रोध किया था वे सब इस समय उसे साक्षात् ईश्वरके समान जानकर पूर्ण आदर और प्रेमभावसे देखने लगे. सबके हृदयका आनन्द चेहरे पर झलकने लगा. सारे यज्ञ स्थानमें मंगल छागया. ऐसा देखकर आनन्दकी उमंगमें राजा "जय जय श्री गुरुदेव!" शब्दकी गर्जना कर फिर वटुकके पैरों पर गिर पड़ा. तब और लोग भी बारंबार मंगलकारी जय जय शब्दकी ऊँची ध्वनि करने लगे और यह ध्वनि सारे यज्ञस्थानमें गूँजकर आकाश तक पहुँच गई! सब जने

भक्तिभावसे उस ब्रह्मचारीको हाथ जोड़ और सिर झुका कर प्रणाम करने लगे.

फिर बटुक हँस कर बोला; " अब तूने यह जाना कि तू कौन और कैसा है ? तेरा सन्देह दूर हुआ ? " राजाने कहा; " गुरुदेव ! आपके चरणोंकी कृपासे मैं अपने स्वरूपके लिए निःशंक हुआ. परन्तु उसके पहले मैंने जो कुछ देखा, उसमें मुझे बड़ी शंका है और उस को दूर करनेके लिए मुझको बड़ी जिज्ञासा है. जैसा हम यहाँ सुनते हैं वैसा यमलोकमें यमराजका स्वरूप क्रूर या भयंकर नहीं हैं. इन्द्रपुरीमें इन्द्रके मुँहसे मैंने सुना है कि ' यह वरेप्सु राजर्षि इन्द्रपदका अधिकारी हुआ है सही, परन्तु उसको वह अधिकार प्राप्त होनेके लिए अभी बहुत समय चाहिए. क्योंकि अभी उस अधिकार पर दूसरे बहुतसे अधिकारियोंको आना है. उनके बाद वरेप्सुकी बारी आयगी. ' प्रभु ! यदि इस अधिकार पर मेरे जैसे दूसरे बहुतसे पुरुष हों तो फिर इस अधिकारकी क्या बड़ाई (महत्ता) है ? "

इन्द्रपदकी महत्ता.

राजाके ये वचन सुनकर, बटुक महात्माने कहा; "अरे ! महत्ता किसकी ? जो अविद्यामें डूबे हैं, मूर्ख हैं, उन्हें यह पद और इससे भी बड़ा अधिकार महत्तावाला लगता है, परन्तु इस नाश होनेवाले पदमें क्या श्रेष्ठता, स्थिरता, सत्यता और आनन्द हो सकते हैं ? सत्यलोकके अधिकारी ब्रह्मदेवके सबेरेसे सन्ध्या समय तक सिर्फ एक दिनमें ही इस इन्द्रपद पर एक एक कर चौदह इन्द्र बदल जाते हैं और उनमेंसे हर एकका अधिकार नियत समयमें पूरा (नष्ट) हो जानेकी उन्हें बड़ी चिन्ता रहती है. यमराजका स्वरूप जैसा तुझे लगा, वैसा सबको नहीं लगता. वैसे ही जैसा मान वहाँ तुझको मिला वैसा सबको नहीं मिलता. पुण्यवान् प्राणीको यमराज शान्त स्वरूपसे दर्शन देते हैं परन्तु पापी लोग उस धर्म मूर्तिको बड़े भयंकर रूपमें देखते हैं. "

राजाने फिर पूछा; " महाराज ! जब ब्रह्मदेवके एक दिनमें चौदह इन्द्रोंका अधिकार भुगत जाता है तो ब्रह्मदेवका दिन कितना बड़ा होता है ? "

ऋषिपुत्र बोला; " ब्रह्माके दिनमें तो बहुत बड़ा समय बीत जाता है. हम मनुष्योंके समयके प्रमाणसे हिसाब लगाया जाय तो जब हमारे सत्तरह

लाख अट्ठाइस हजार (१७२८०००) वर्ष बीत जायँ तो सत्ययुग पूरा होता है. बारह लाख छान्वे हजार (१२९६०००) वर्ष तक त्रेतायुग चलता है. आठ लाख चौंसठ हजार (८६४००० वर्षोंका द्वापरयुग कहलाता है और चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) वर्षका कलियुगका प्रमाण है. इस तरह एक एक कर अपना अधिकार भोगते हुए क्रमशः जब चारों युग पूरे होते हैं तब उसको एक चौकड़ी कहते हैं. ब्रह्मको जाननेवाले उसे महायुग कहते हैं इसके वर्षोंकी संख्या तेंतालीस लाख बत्तीस हजार (४३२००००) वर्षकी होती है ऐसे महायुग जब एक एक कर हजार बार बीत जायँ तो ब्रह्मदेवका एक दिन पूरा होता है. इतने दिनमें अर्थात् सबेरेसे संध्या तक स्वर्गमें एक एक कर चौदह इन्द्र, इन्द्रासन पर बैठते हैं और उसी तरह पृथ्वी पर भी चौदह समयके अधिकारी (कालसत्ताधीश) होते हैं जो मनुके नामसे जाने जाते हैं. एक मनुसे दूसरे मनुके होते तक जो समय बीतता है उसको मन्वन्तर कहते हैं. स्वर्गमें इंद्र और पृथ्वी पर मनु, ये दोनों एक साथ बदलते हैं. ब्रह्मदेवके इस बीतनेवाले दिनमें ६ मनु और ६ इंद्र हो चुके. हैं आजकल सातवें मनुका मन्वन्तर चलरहा है. इससे स्वर्गमें भी सातवाँ इन्द्र है. उसका नाम पुरंदर है. उसके अधिकारका प्रायः आधा समय बीत चुका है. उसके बाद बलि राजा इंद्र होंगे, जो अपना अधिकार प्राप्त होने तक पातालमें रहे हैं. बलिके बाद अद्भुत, उसके पीछे शंभु फिर क्रमसे वैधृति, ऋतधामा, दिवस्पति और शुचि महात्मा भी, जिनको आजकल अलग अलग स्थानोंमें बसाया है, इंद्रासन पर बैठेंगे. जब ये सब इन्द्र पदके अधिकारी पूर्ण रीतिसे अपना अपना अधिकार भोग चुकेंगे तब तेरे इंद्र होनेकी बारी आयेगी. परंतु उन सबका अधिकार होने पर तो पितामह ब्रह्मदेवका दिन ही पूरा होजायगा, अर्थात् सब प्रपंच (सृष्टि व्यवहार) छोड़कर वे महात्मा बहुत समय तक नींदके वशमें होजायँगे. अभी हमने ब्रह्माके १००० दिनोंका जितना प्रणाम बतलाया है, उतनी ही बड़ी (एक हजार महायुगकी) उनकी रात है, इससे एक हजार महायुग (दिनों) तक ब्रह्मदेव योगनिन्द्रा (समाधि) में लीन रहेंगे. उस समय इस सृष्टि (संसार) की जो दशा होगी उसको महात्मा लोग प्रलयके नामसे मानते हैं. यह प्रलय–नित्य प्रलय कहलाता है. इस समय इस भूलोकसे लगाकर इंद्रलोक तककी सृष्टि जलमें डूब जायगी और जलके सिवा और कुछ न रहेगा और उस समय सारे इंद्रलोकका

भी अंत हो जायगा तो फिर इंद्रपदके अधिकारकी क्या महत्ता, क्या श्रेष्ठता क्या नित्यता (स्थिरता) और क्या सत्यता है? यद्यपि इस प्रलयसे इंद्र होनेवालोंका अधिकार नष्ट नहीं होता, उन्हें तो ब्रह्मदेवके जागने पर जब नया कल्प आरंभ होगा तो क्रमसे अपने कियेका फल मिलेगा ही, परंतु तब तक उनका भी लय ही रहता है. ”

यह सुनकर वरेप्सु बोला; “ गुरु महाराज! तो क्या इस दिव्य इंद्रलोकका भी लय हो जाता है ? ” बटुकने कहा; हाँ इन्द्र लोकका तो क्या परंतु उससे ऊपर रहनेवाले महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकका भी समय आनेपर लय (नाश) हो जाता है. ब्रह्मदेवके एक दिन रातको (रात और दिन दोनों मिलकर) कल्प कहते हैं. ऐसे तीस कल्प हों तो उनका एक महीना वैसे बारह महीनोंका उनका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्मदेवकी पूरी आयु (उमर) स्थिरकी गई है। उसमें पचास पचास वर्षके दो भागकर हरएकको परार्ध कहते हैं पहला परार्ध और दूसरा परार्ध. इनमेंसे ब्रह्मदेवका पहला परार्ध तो बीत चुका है और यह दूसरा परार्ध चल रहा है. इसमें यह पहला वर्ष और पहला महीना चल रहा है. दूसरा परार्ध पूरा होने पर ब्रह्मदेव योग मायाके द्वारा अपने आत्माको खींच सब विश्वका आधार भूत-अपने देहका त्याग करेंगे और उस समय सारे विश्वका भी लय (अंत) हो जायगा. जब यह महाप्रलय होगा तब जड़ चेतन रूप सब जगत् जलरूप महाभूतमें मिल जायगा, जल अग्निरूप महाभूतमें लीन हो जायगा, अग्निवायुमें और वायु आकाशमें मिल जायगा और फिर सबसे अंतमें महाभूत शून्य आकाश ही रह जायगा ! ! ”

इतनी बात पूरी करते ही वरेप्सु बीचमें बोल उठा; “ महाराज ! तो समय आने पर क्या इस तरह सबका नाश ही होना है, ! तो नाश न होनेवाला अविनाशी क्या है ? क्या नाश न होनेवाला कुछ भी नहीं है ?”

बटुकने कहा; “ ऐसा कैसे हो सकता है ? तू स्वयम् अनुभव कर आया है तो भी क्या याद नहीं रहा ? सत्यलोकसे चलकर तेरा विमान तुझे कहाँ लेगया, और वहाँ तूने क्या देखा ? जिसको तूने अभी ही कह सुनाया उसे फिर भूल गया ? यही परमात्माका स्थान, यही अविनाशीस्थान, यही अच्युतपद (जिस स्थानसे पतन न हो) यही सब-

से बड़े सुखका स्थान, यही परमानन्दपुरी, यही सदा बना रहनेवाला शान्तिका स्थान है. जिस घने वायुके घेरेकी उस ओर तूने प्रकाशमय सुखका थोड़ासा अनुभव किया वह सुख कभी नाश नहीं होता है. वहाँ जानेवाला कभी नहीं लौटता. वहाँ चंद्र सूर्य या अग्निका प्रकाश नहीं है, परन्तु वह स्वयम् ही प्रकाशमान या प्रकाशरूप है. इस प्रकाशरूपसे ही ये सूर्य–अग्नि–विजली आदि स्थूलतेज प्रकाशित हो रहे हैं. इससे बढ़कर और कोई भी सुख नहीं है और इसको प्राप्त कर लेने पर फिर (यह स्वरूप हो जाने पर) दूसरा कुछ भी बड़ा लाभ बाकी नहीं रहजाता. यही परब्रह्म, यही सच्चिदानन्द प्रभु! यही ॐ तत् सत् निर्देशसे जाना हुआ ब्रह्म है. फिर वहाँ तूने जो ज्ञानमय, चैतन्य निराकार और बहुत ही विचित्र बालकरूप देखा, वह उस आनन्दरूप परमात्माका निराकार और साकार स्वरूप है. इस स्वरूपका तुझको थोड़ासा दर्शन हुआ परन्तु वह पुरुषोत्तम तो वहाँ उसी तरह अपने सारे लोक रचकर आनन्दमय विराजता है. ये लोक बहुत बड़े, सिर्फ आनन्दरूप और देश, काल तथा आकारसे रहित हैं. इस संसारको पार कर ईश्वरकी भक्तिमें लगा हुआ परमज्ञानी भक्तजन ही ऐसे आनन्दरूप उस लोकमें परमेश्वरके समीप रहकर परमानंद तत्वका अनुभव करता है. वह भी परमेश्वर रूप ही है. उसीमें मिल गया है. तो भी उसकी सेवा करनेमें ही बड़प्पन मान कर सदा उसके सेवक रूपसे आनन्दमग्न रहता है. वहाँ सिर्फ श्रीब्रह्मदेव, उनके पुत्र सनकादिक और देवर्षि नारदको छोड़कर और कोई नहीं जा सकता. तूने जो अनुभव किया वह अपने सौभाग्यसे, परंतु यह तू जानता ही है कि अधिकार विना वहाँ तू क्षणभर भी नहीं टिक सका; राजन्! महासमर्थ तपस्वीके समान पवित्र ऋषि, सिद्ध योगी, इन्द्रादि देवता इस परमात्म स्वरूपके दर्शन करनेको तरसते हैं. असंख्य साधक अनेक तरहसे उसकी इच्छा करते हैं, परन्तु कोई प्रेम पूर्ण भाग्यशाली भक्तिरूप मार्गसे वहाँ जा सकता, उसका दर्शन करता और उसकी कृपा प्राप्त कर उसकी भक्तिमें मग्न हो जाता तथा उस परम धाममें अचल निवास करता

देश अर्थात् स्थान, काल अर्थात् समय, वस्तु अर्थात् स्वरूप. देशकाल और वस्तु इन तीनोंसे रहित, जो अक्षरधाम, नष्ट न हो; भ्रष्ट न हो ऐसा धाम (स्थान) है. अर्थात् यह स्थान सिर्फ आनन्द मय ब्रह्मरूप है, इसमें स्थान, समय या स्वरूप कुछ भी [नहीं] होता।

है. निष्पाप ! तू भी इस अच्युतपदके बनानेवाले ईश्वरका अनन्य भक्त होनेका अधिकारी हुआ है. इस लिए दृढ़तासे अब तू अभयपद प्राप्त करनेका प्रयत्न कर. सत्यलोकसे रवाना होने पर भी आकाशवाणीसे तुझको यही उपदेश हुआ था न ?"

यह सुन वरेप्सु बोला; "हाँ कृपानाथ ! आकाशवाणीसे मुझको ऐसा ही उपदेश हुआ था, उसमें मुख्य बात यह थी कि मैं गुरुकी शरणमें रह कर नाश न होनेवाले सर्वेश्वर परमात्माकी उपासना करूँ ! प्रभु ! मेरे परमपूज्य गुरु तो आप ही हो और मैं अब सब तरहसे आपकी ही शरणमें पड़ा हूँ. मन, देह, स्त्री, धन भंडार, सेना, राज्य, पृथ्वी और अंतमें मेरे अच्छे बुरे सब काम आदि आपके ही हैं. इन सब पर आपका ही अधिकार है और मैं सब तरह आपहीका हूँ. इससे अब मुझे स्वतंत्र रूपसे 'मैं' कहने, मनमें विचार करने या संकल्प करनेका भी अधिकार नही हैं. मेरे सब कुछ आप ही हैं और आपकी आज्ञा मानना ही मेरा पवित्र कर्तव्य है. मैं तो सब झगड़ों और प्रपंचों (सांसारिक कामों) से मुक्त होगया हूँ."

इस तरह कहकर वरेप्सु उस ऋषि पुत्रके आगे हाथ जोड़ कर चुपचाप खड़ा रहा. वह एक अक्षर भी नहीं बोला. उसकी नजर वटुकके सुन्दर कोमल चरणोंसे पलभर भी नहीं हटती थी. वह इकटक (अनिमेष) उन्हींको देखता रहा.

बहुत देर तक वह इसी तरह रहा. वह ऐसा जड़ हो गया मानो उसमें जीव (चैतन्य) नहीं है. मूर्ति ही खड़ी की गई है ! वैसे ही अटल भजनमें लीन होनेसे वटुकके भी सिर्फ ओंठ ही हिलतेथे. सब लोगोंको फिर भी आश्चर्य हुआ. इतनेमें सबके मनकी उत्कंठा जानकर वटुक बोला.

वटुककी आज्ञा—जीवन मुक्त दशाका प्रारंभ.

"राजन् ! तेरा विश्वास सत्य है. सब कुछ दान करनेसे तू मेरा हो गया है और अब मेरी आज्ञा ही तू अपना कर्तव्य मानता है यह अनुचित नहीं है. पर अब इस तरह काम करनेको तैयार हो. इस यज्ञकी पूर्णाहुति होगई है इससे सौ अश्वमेध रूप तेरा बड़ा भारी काम पूरा होगया है. इस काममें किसी भी बातकी कमी नहीं रही. अब इस

यज्ञ कार्यका विधिपूर्वक विसर्जन कर ऋत्विज और ऋष्यादिको संतुष्टकरके उनके स्थानमें पधरा और रक्षाके लिए यह राज्यादि मैं तुझको फिर सौंपता हूँ, उसको नियमसे भोग. मुझको तूने जो चीजें दानकी हैं, उन्हें मैंने परमात्माको अर्पण कर दिया है इससे तूने अपना सब कुछ मुझको नहीं परन्तु मेरे द्वारा परमात्माको अर्पण किया है. सब ब्रह्मार्पण किया है और वह भी तूने सब इच्छाओंको त्यागकर बिलकुल कामना रहित होकर नियमसे अर्पण किया है, इस लिए यह ब्रह्म समर्पण हुआ है. तेरे अर्पण किये हुए सब पदार्थोंमेंसे जीवात्मा, मन, इंद्रियाँ, देह, स्त्री और सेना भंडार राज्यादि सब तरहसे पूर्ण और हरे भरे सारी पदार्थ जबतक अपने स्वरूपमें बने रहकर अपना जीवन बितावें और जबतक इस लोकमें तेरे रहनेका समय नियत किया गया है तबतक मैं इन्हें रक्षा करनेके लिए तुझको ही सौंपताहूँ, तू ममता छोड़कर अर्थात् मेरा है मैं हूँ आदि छोड़ कर, ये सब मेरे नहीं परन्तु परमात्माको ही अर्पण किए हुए हैं और उसकी पवित्र आज्ञासे उसके सेवककी भाँति मुझको दोप रहित रूपसे उनकी रक्षा करना है ऐसा विचार रख कर तू रक्षा कर. जैसे किसी धनवान् व्यापारीके व्यापारका काम काज उसकी तरफसे मुकर्रर किया हुआ नौकर करता है और उसको अपना ही व्यापार समझकर बड़े प्रेमसे करता है परन्तु मनमें जानता है कि इसमें मेरा कुछ भी स्वत्व नहीं हैं इस सब पर सेठजीका ही अधिकार है व्यापारके कामकी जवाबदारी और लाभ हानिके झगड़ोंसे मैं सदा अलग ही रहता हूँ और लाभ हो तो सेठका है और हानि हो तो भी सेठकी है मैं तो सिर्फ यहाँसे वहाँ चि-ट्ठियाँ ले जाने और लानेका नौकर होनेसे जितना हो सकता है उतना काम करनेका अधिकारी हूँ. ऐसा सोचकर उसको कुछ भी चिन्ता नहीं होती उसी तरह तुझको इस प्रजाका पालन करना है. जैसे वह कर्म-चारी कभी अन्यायसे व्यवहार करता या अपनी इच्छाके अनुसार काम करता है तो दण्डपानेका भागी होता है, उसी तरह निष्पाप! तू इसे राज्य आदिको मेरी आज्ञासे निरपेक्ष (तटस्थ) रूपसे पालन कर अर्थात् इस सबको अपना न जान कर न्यायसे वर्ताव कर अर्थात् इस संबंधमें किसी बातपर अनुराग न कर."

वटुककी यह बात सुनकर, लोगोंमें आनन्द छागया, परन्तु राजाका मन इन सबसे उल्टी बाजू पर था. वटुककी यह आज्ञा सुन कर उसके मनको

चिन्ता होने लगी कि, ' हरे! हरे ! इन सब प्रपंचोंसे जब मैं कठि-नाईसे छूटसका था तो फिर गुरुजी मेरे गलेमें यह फाँसी क्यों डालते है ? जरा भी अन्यायसे वर्ताव हो जाता है तो उससे कितने बड़े दण्डका भागी होना पड़ता है, इसका अनुभव उसे यमलोकमें हो चुका था और वह अनु-भव उसके हृदयसे पलभर भी नहीं विसरता था. इस लिए राजाने विचार किया कि, ' यह मन बड़े नीच स्वभावका है, जरा भी इसको संसारका स्वाद मिलेगा तो उसमें पूर्ण अनुराग और ममत्व (मेरा है) कर बैठेगा और उससे मुझे फिर अपराधी बनना पड़ेगा. परन्तु गुरुजी जो आज्ञा देंगे वह माननी ही पड़ेगी. इस चंचल मनको हर तरह अनुराग रहित बनाए रखनेके लिए उनकी कृपा ही सहायक हो. "

इस तरह राजाने अपने मनको शान्त किया. संध्या होने लगी, इससे आचार्यादि ऋत्विज, ब्रह्मर्षि, राजर्षि और दूसरे सब तीन वर्णके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) संध्या समयकी संध्योपासना करनेके लिए गंगाके किनारे जाने को तैयार हुए, तब राजाने वटुकसे विनयकी "गुरुदेव! समय हो जानेसे सब ऋत्विजादि अपने अपने आह्निक (नित्यकर्म) में प्रवृत्ति होने लगे हैं । इस लिए आज्ञा हो तो यज्ञ विसर्जनका काम दूसरे समयके लिए रख दूँ. " आज्ञा होते ही राजा गुरु-देवके नामकी जय ध्वनि सहित उन्हें प्रणाम करके खड़ा हो गया और सब लोग आनंदसे जाने लगे ।

चन्द्रकान्त.

बटुक उपदेश

अथवा.

ब्रह्मलग्नका प्रारंभ

मङ्गल उपदेशाष्टक.

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसंदेहवृत्तेः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिःको निषेधः ॥१॥

अर्थ—वेदोंसे जो जाना न जाय और सत्व, रज, तम इन गुणोंसे रहित तत्व (ब्रह्म)का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, जिसकी संदेहवृत्ति नष्ट हो गई है ऐसे जीवका भेद और अभेदभाव तुरंत मिट जाता है, पुण्य और पाप नाश हो जाते हैं माया और मोह भी नष्ट हो जाते हैं । ऐसे सत्वादि गुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि (शास्त्राज्ञा) और क्या निषेध (शास्त्रविरुद्ध कर्मका निषेध)है ? ॥ १ ॥

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव संततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिःको निषेधः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे सब पात्रों (वर्तन) में व्याप्त हुआ सारा आकाश एक ही है, वैसे ही सब शरीरोंके बाहर और भीतर व्याप्त हुआ पूर्णरूप परमात्मा भी एक ही है ऐसा जानकर और उस कारण रूप परमात्मासे भिन्न दूसरा कुछ भी कार्य नहीं, ऐसा जानकर सत्वादि गुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है? ॥२॥

हेम्नः कार्ये हुतवहगतं हेम एवेति यद्वत्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमध्ये ।
एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ३ ॥

अर्थ—सोनेके कड़े, कुंडल, छल्ला, मुँदरी (अंगूठी) आदि जेवर आगमें डालनेसे जैसे फिर सोना ही हो जाते हैं, दूधमें जैसे दूध मिलानेसे स्वाद और रूप एकसा होनेसे दूधरूप ही हो जाता है, और पानीमें जैसे पानी मिलानेसे रसरूप समान होनेसे पानीरूप ही हो जाता है, इसी तरह त्वं पदार्थरूप जीव समानरूप होनेसे तत्पदार्थरूप (प्रेमरूप) परब्रह्ममें (श्रीकृष्णादिक प्रभुकी तानमें मस्त हो जाता है) मिल जाता है, ऐसे सत्वादिक गुणोंसे रहित (प्रेमरूप) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है ? ॥ ३ ॥

यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूतं
उर्वी ह्यापोऽनलमनिलखं जीवमेवं क्रमेण ।
यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूतं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ४ ॥

अर्थ—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, और आकाशरूप यह सब चौदह लोकरूपी ब्रह्माण्ड समानरूप होनेसे जैसे परब्रह्ममें एकरूप हो जाता है और सेंधव-नमककी डली जैसे खारे समुद्रमें मिलनेसे समुद्ररूप हो जाती है, उसी तरह जीवात्मा भी एकरूप होनेसे परमात्मासे मिलते ही वही रूप हो जाता है उस तरह सत्वादिगुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और निषेध है ? ॥ ४ ॥

यद्वन्नद्योदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
तद्वज्जीवालयपरिगतौ सामरस्यैकभूतौ ।
भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे नदी और समुद्र दोनों समान रसरूप हैं और समुद्रमें मिलनेसे वह समुद्रपनको प्राप्त करती है उसी तरह जीवात्मा और परमात्मा भी समानरूप होनेसे एक साथ मिल जाने पर फिर भेदरहित परब्रह्म सच्चिदानन्द रूपको प्राप्त होता है, तो सत्वादिक गुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है ? ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा वेद्यं परमथ पदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं ।
भूत्वा नित्यं सदुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ६ ॥

अर्थ—आत्मस्वरूपके बोधरूप और जानने योग्य परम पदको जानकर सब शरीरके भीतर और बाहर रहनेवाले एक परमात्माको देख और नित्य त्रिकालाबाध्य स्वयं प्रकाश परमात्म स्वरूप होकर सत्वादिगुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है ? ॥ ६ ॥

कार्याकार्ये किमपि सततं नैव कर्तृत्वमस्ति
जीवन्मुक्तस्थितिरवगतो दग्धवस्त्रावभासः ।
एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो वियुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ७ ॥

अर्थ—जब आत्मतत्वका ज्ञान होजाता है तो कार्य और अकार्य कर्ता और अकर्तापन, कुछ भी नहीं रहता, परंतु जले हुए कपडेके आभासकी तरह सिर्फ शरीर रहजाता है. ऐसी ही जीवन्मुक्तकी दशा है. इस तरह अनन्त लयरूप हुए शरीरमें रहते हुए भी आत्मा उससे जुदा माना जाता है ऐसे सत्वादिक गुणोंसे रहित तुरीयावस्था (परत्मामाकी प्रेम तरंग) में विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है ? ॥ ७ ॥

कस्मात्कोऽहं किमपि च भवान्कोऽयमत्र प्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम् ।
आनन्दाख्यं समरसघने बाह्यमन्तर्विहीने
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह विश्व किससे हुआ है ? मैं कौन हूँ ? यह विश्व क्या है ? तू कौन है ? ब्रह्ममें यह प्रपंच कौनसी वस्तु है ? ऐसा विचार करनेके बाद जीवात्मा पूर्ण तत्वको प्रकाश करनेवाले, आकाशके समान निराकार, आनंदमूर्ति, स्वयंप्रकाश परमात्म स्वरूपको प्राप्त होता है, और उसके बाद सबके साथ रसरूपसे समान होनेसे सघनरूप और भीतर बाहरके भेदसे रिक्त सत्वादिक गुणोंसे रहित (प्रेममूर्ति) परब्रह्ममें विहार करनेवाले जीवात्माको क्या विधि और क्या निषेध है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ८ ॥

बटुक उपदेश.

अथवा

ब्रह्मलग्नका प्रारंभ.

प्रथम बिन्दु

संसारसुख वंध्यापुत्रके समान है.

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥

यह संसार आदिमें भी नहीं, अंतमें भी नहीं, और वर्तमानमें भी नहीं है, परन्तु मिथ्या होने पर भी सत्यके समान जान पड़ता है.

संध्या वंदनादि हो चुकने पर रातको राजाने बटुकको यज्ञशालाके एक सुन्दर स्थानमें निवास कराया और स्वयम् आज्ञाकारी सेवककी तरह उसकी सेवामें खड़ा रहा. उसने गुरुदेवसे भोजन आदिके लिए बहुत आग्रह किया परंतु बटुकने थोड़ेसे फलोंके सिवा और कुछ भी नहीं खाया. बटुकके तेजरूप और विचित्र ज्ञानशक्तिसे लोगोंको अपार मोह हो जानेसे उसकी ही स्वर्गीय मूर्ति सबके मनमें बस गई थी. रातको भी उसके पास देशी विदेशी जिज्ञासु (तत्वज्ञानके अभिलाषी) लोगोंकी एक भारी सभा भरगई, जुड़े हुए ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंमेंसे कई परीक्षा लेने और कई अपनी शंकाएँ मिटानेके लिए बटुकसे अनेक विषय और शास्त्र संबंधी प्रश्न करने लगे और उनके उत्तर सुनकर सबको बहुत ही आनन्द और आश्चर्य होने लगा. बटुकके उत्तर देनेकी शक्ति ऐसी

अद्भुत थी कि सिर्फ एकही उदाहरणको सुनकर प्रश्न करनेवालोंके मनको एक ही साथ समाधान हो जाता था और उनको फिर पूछनेकी जरूरत नहीं रहती थी. परमार्थ और प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) में उसकी अपार शक्ति थी. ऐसा देखकर आनन्द और आश्चर्यमें डूबे हुए सभासद परस्पर ये बातें करने लगे; "वाह! इस बालककी कैसी बुद्धि है! इसका कैसा ज्ञान है! लौकिक और पारलौकिक दोनों बातोंका पूरा अनुभव प्राप्त किया हुआ मानो यह साक्षात् शुकदेव मुनि है" कई एक ऐसा भी कहते थे "पूर्व जन्मका कोई योगभ्रष्ट होनेसे इसका पारमार्थिक ज्ञान तो शायद, इसमें उदय भी हो आया हो, परंतु इतनी छोटी उमरमें इसका सांसारिक ज्ञानमें प्रवीण होना विश्वासके योग्य नहीं है! इस लिए लो न, अपने मनकी इससे कोई एक बात पूछलें तो इसकी भी तुरन्त ही परीक्षा हो जाय."

रातके चन्द्रकी शीतल किरणोंसे मनुष्योंका हृदय भी शीतल हो गया था. चारों ओर सिर्फ शान्ति ही शान्ति छा रही थी. केवल पवित्र गंगाजलका कल कल शब्द सुनाई देरहा था. ऐसी शान्तिमें वटुकमुनि परब्रह्मका दर्शन कररहा था. थोड़ी देर तक सब चुप रहे. फिर एक जिज्ञासुने पूछा; "ब्रह्मपुत्र! देखते हैं कि आपके अमूल्य और अनुपम वचनसे सबके मनको समाधान हो गया है, इस लिए मुझको विश्वास होता है कि आपके द्वारा मेरे भी मन की एक अभिलाषा पूर्ण होगी. मुझको वारंवार यह शंका होती है कि इस असार संसारमें अनेक प्रकारके सुख हैं और मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा उनको प्राप्त भी कर सकता है परन्तु इस संसारमें सबसे बढ़ कर कौनसा सुख है कि जिसको प्राप्त करनेसे मनुष्य धन्य और कृतकृत्य कहलाता है.!"

यह सुन वटुक मुस्कुरा कर बोला; "प्रश्न अच्छा है. परन्तु क्या कहूँ मुझको प्रश्नकर्त्ताकी इच्छाके विरुद्ध कहना पड़ेगा, क्योंकि सबसे अच्छा सुख किसको बतलाऊँ? जहाँ मूल वस्तुहीका अभाव हो वहाँ फिर सबसे श्रेष्ठ वस्तु किसकी हो सकती है? इस विषयमें एक बात कहता हूँ, उसे सुनो.."

एक धूर्त (छली) अपने साथ अपने ही जैसे कई चेले (शिष्य) बना कर स्वयम् बड़ा सिद्ध बन गाँव गाँव और स्थान स्थानमें फिरा करता और भोले भाले लोगोंको ठगने और धोखा देनेके लिए अनेक मन्त्र जन्त्र

करके अपनी सिद्धाई दिखलाता था. वह किसीको पुत्र देने कहता, किसीको स्त्री मिलादेने कहता और इस तरह पैसे लेता, किसीको धन प्राप्त होनेका प्रयोग बता कर ठगता था. ऐसे बताए हुए प्रयोगोंसे जब लोगोंका सोचा हुआ काम पूरा नहीं होता था तो निराश हुए लोग उसके पास आकर रोने लगते थे. उस समय वह उनको इस तरह समझाता था; "अरे! तुम्हारा काम कैसे सिद्ध हो? तुमने अमुक अमुक नियमोंका पालन नहीं किया और बतलाई हुई चीजोंमेंसे तुम यह चीज नहीं लासके. आदि कह और अन्तमें मायामें लिपटे हुए लोगोंको भुलावा दे कर कहता कि, अच्छा 'जाओ, जब तुम मेरे पीछे ही पड़े हो तो खरहेका सींग लेआओ, उसके मध्यके भागसे मैं तुमको ऐसी वशीकरण धूप बना दूँगा कि तुम जिसको यह धूप दोगे वही तुम्हारी आँखोंसे देखेगा.' अर्थात् तुम्हारा ही हो जायगा. फिर दूसरोंसे कहता; 'भाई, यदि तुम अच्छी तरहसे खोज कर वन्ध्या-पुत्रके सिरके बाल लेआओगे तो अपना जन्म भरका दुःख गया समझो. मैं उसका एक डोरा बना दूँगा उसे तुम अपनी स्त्रीकी कमरमें बाँधना, उसको तुरन्त ही गर्भ रहजायगा. परन्तु देखो वन्ध्याके किसी सपूतके ही केश (बाल) लाना क्योंकि तुमको भी वैसा ही सपूत चाहिए है!!"

ऐसा उपदेश सुनकर दो भोले भाले स्त्री पुरुष, जिनके लड़के बच्चे नहीं थे, यात्रा करनेके बहाने वन्ध्याके सत्पुत्रकी खोज करनेको निकले. भोले और पापहीन होनेसे ईश्वरने उनको ऐसी सुमति दी कि वे उसकी खोज करनेके उद्देशसे प्रत्येक तीर्थ स्थानमें फिरने लगे और इस बहानेसे उनसे अनायास अच्छे कर्म होते गए. उनके पुण्यसे उन्हें एक तीर्थमें किसी सज्जन महात्माके दर्शन हुए. उसने सहज ही पूछा, "भाई! तुम इतने उदास और दीनके समान क्यों दीखते हो?" उन वृद्ध दम्पतिने कहा, "महाराज! हम वृद्धावस्थाको पहुँच गए तो भी अभी तक निस्सन्तान हैं. एक सिद्धने हमें पुत्रप्राप्तिका उपाय बतलाया है उसीकी खोज करते हैं परन्तु आज वर्षों बीते और बहुत परिश्रम भी किया तथापि अबतक किसी स्थानमें उसका पता नहीं लगता और इस लिए हम अपने प्रारब्धके लिए चिन्तातुर हैं." उन भोले लोगोंकी ये बातें सुन कर महात्मा बोला, 'क्या मुझसे कहोगे कि वह कौनसा उपाय है? उन स्त्रीपुरुषोंने कहा; 'हाँ हमें वन्ध्याके सत्पुत्रके केश (बाल) चाहिए हैं इतना सुनते ही महात्मा विस्मित होकर बोला, "क्या? वन्ध्या और उसका सुपुत्र

और फिर उसके बाल ! ! यह कैसी विचित्रता है ! ! वन्ध्या फिर वह सत्पुत्र-वती और उसके पुत्रके मस्तकके बाल यह सब कैसे हो सकते हैं ? ऐसी भँवरमें तुमको किसने गोता खिलाया है ? हरे हरे ! संसारमें कैसे दुष्ट और धूर्त लोग बसते हैं. इन भोले पाप रहित मनुष्योंको उसने कितना भटकाया और कितना दुःखी किया है. ऐसा अमूल्य उपाय और अपनी सिद्धिकी प्रतिष्ठा बतलानेके लिए उसने इन भोले लोगोंसे बहुतसा धन भी ठगा होगा और जो सेवा कराई होगी वह जुदी ही. भाई, पुत्र तो क्या, परन्तु जिसकी कोखसे किसी भी तरहकी सन्तति न हुई हो उस स्त्रीको वन्ध्या (बाँझ) कहते हैं, तो फिर उसके पुत्र कहाँसे हो ? और जिसके पुत्र हो वह वन्ध्या ही क्यों कहलाए ? वन्ध्याका पुत्र तो वास्तवमें कुछ वस्तु ही नहीं है तो फिर वन्ध्याके सत्पुत्र होना कितनी बड़ी झूठी बात है ? भोले भक्तो ! वह ठग इतनेसे ही नहीं रुका. उसने तो तुमसे वन्ध्याके सत्पुत्रके केश मँगाए हैं ! यह क्या है ? यदि तू अन्तःकरणसे इस धूर्त महात्माका कथन सत्य मानता हो तो अपनी वन्ध्यास्त्रीके सत्पुत्रके केश काट कर उसके पास क्यों नहीं ले जाता ? दूसरी वन्ध्या स्त्रीके सत्पुत्रके केश लानेके लिए इधर उधर धक्के क्यों खाता है ? तुझे क्या इसमें स्पष्ट परस्पर विरोध सम्बन्ध नहीं दीखता ? "

इतना कह कर वह महात्मा फिर दम्पतिसे बोला, " अरे निष्पाप मनुष्यो ! किसी बड़े छलिएने तुमको छला है और उसकी कही हुई बात पूरी न होनेसे तुम कहीं फिर उसके पास जाकर उत्तर न माँगो इस लिए उसने बहुत समयतकके लिए तुमको इस तरह भटकाया है. पुत्र या संतति पैदा करनेके लिए यद्यपि मनुष्य कारण है तो भी लोग जिसको दैव–प्रारब्ध–कर्म कहते हैं वह सचा कारण बहुत ही गुप्त है. मनुष्यको अपने पूर्व जन्मके किए हुए कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध भोगे बिना छुटकारा नहीं है. इस लिए संतति होनेके लिए ऐसे व्यर्थ यत्न कर दुःखी होना अज्ञान है. शास्त्रोंमें संतति होनेके लिए कई दैवी उपाय बतलाये हैं सही, परंतु वे बहुत कठिन हैं और ऐसा भारी प्रयत्न करके यदि प्राप्त ही करना तो क्या सिर्फ एक नाशवंत पुत्र ? पुत्रसे क्या होता है ? पुत्र, सुपुत्र निकला तो ठीक, परंतु कहीं कुपुत्र निकला तो सारे कुलको बोर देता है. ऐसे पुत्रसे क्या कल्याण होता है ? परंतु परमार्थको न जाननेवाले अज्ञान लोग पुत्रको इस लिए चाहते हैं कि उसके पैदा होनेके समयसे पालन पोषण

कर बड़ा होने तक प्यार करनेका लाभ मिलता और वह वृद्धावस्थामें हमारा पालन पोषण और सेवा करता तथा मरनेके पीछे अच्छी क्रिया करके मोक्ष दिलाता है. परंतु ईश्वरके बनाए हुए नियमसे यह विचार इहलोक और परलोक दोनों बिगाड़नेवाला है. संसारमें मनुष्यके जितने संबंधी होते हैं वे सब पूर्वके ऋणानुबंधसे आकर मिलते हैं. उनका ऋण पूरा हुआ कि सब अपने अपने रास्ते चले जाते हैं कोई जीव पुत्र होकर जन्मलेता है, परन्तु यदि वह पूर्वका वैरी हुआ तो पुत्र भावसे सुख अथवा आनंद देनेके बदले वैर साधता और अनेक प्रकारसे दुःखी करता है. यदि पूर्व जन्मका ऋण देनेवाला हुआ तो पुत्ररूपसे जन्मले, पिताकी सेवा करने और कमा कर खिलानेके बदले उल्टा बड़े दुःखसे पैदाकी हुई पिताकी संपत्ति पर तागड़धिन्ना करता और सेवा करनेके बदले लट्ठ लगाता है. विवाह करने पर स्त्री को लेकर जुदा हो रहता अथवा स्वतंत्रतासे वर्ताव करता है. इस लिए भाई ! वृद्धावस्थामें कौन सेवा करनेवाला है ? फिर जो यह माना जाता है कि मरनेके पीछे पिण्ड प्रदानादि क्रिया करके पुत्र मोक्ष दिलाता है. यह भी सत्य नहीं है. इस संसारसे उद्धार पाने, कठिनाईसे पार किये जानेवाले संसारके बंधनसे छूटनेके लिए दूसरा कोई भी काम नहीं आता । जीव स्वयम् अपना तारनेवाला और स्वयम् ही अपना डुबानेवाला है अर्थात् संसारसे अपना मोक्ष होनेके लिए अपना ही पुरुषार्थ काम आता है. श्रीकृष्णने भी अर्जुनको उपदेश देते हुए बतलाया है कि, 'आत्मा ह्येवात्मनो बंधुः' । आत्मैव रिपुरात्मनः * ॥ इसमें पुत्र क्या मोक्ष दे सकता है ? पुत्र यदि सुपुत्र निकला तो उससे यह अवश्य हो सकता है कि पिताके मरनेके पीछे शास्त्रमें कही हुई उत्तम क्रिया कर, मरते समय होनेवाली किसी दुर्वासनाके कारण माता पिताको प्राप्त हुई अधोगतिसे मुक्त करे, किन्तु और बातें तो इधर उधर भटकानेवाली हैं. पिताको जो 'पुम्' नामके नर्कसे तारता है वह पुत्र कहलाता है अर्थात् गृहस्थाश्रमको चलाते समय अपनेसे होनेवाले अनेक ऐसे पाप जिनके कारण मनुष्यको मरनेके बाद 'पुम्' नामके घोर नर्कका कष्ट भोगना

---

* आत्मा स्वयम् ही अपना बंधु अर्थात् भला करनेवाला—तारनेवाला और स्वयम् ही अपना वैरी अर्थात् निर्बल करनेवाला—अधोगतिमें फेंकनेवाला है ।

पड़ता है, पुत्रके द्वारा विधि पूर्वककी जानेवाली मरणोत्तर क्रियासे नष्ट हो जाते हैं और इससे जीव बुरी गति पानेसे बचता और दूसरे जन्ममें अच्छे मार्गका अवलंबन करता है. यही काम सत्पुत्रसे पूरा होता है. परंतु बार बार होनेवाले जन्ममरण रूप भवबंधनसे पुत्र मुक्त नहीं करा सकता. इस बंधनको छुड़ानेवाला तो अविद्याका नाश और विद्याकी प्राप्ति है. परमात्मामें एकता—जगन्नियंता (संसारको चलानेवाले)के महामंगल नामका स्मरण और उसके चरणकमलोंका ध्यान ही मुक्तिका स्थान है. इस लिए भाविक मनुष्यो ! तुम यह सब झूठा परिश्रम छोड़कर अपने घर जाओ. चित्तको दृढ़तासे स्थिरकर संसारके बंधनसे छूटनेके लिए सारे दुःखोंको काटनेवाले और अविनाशी सुखके देनेवाले श्रीहरिकी शरण जा कर निरंतर सेवन करो.'

इस बातको सुनकर वे दम्पति अपनी भूलके अंधरेसे जागृत होकर बहुत सन्तुष्ट हुए. वे उस माहात्माके पैरों पर गिर कर अपने उद्धारका रास्ता जाननेके लिए विनय करने लगे. उस महात्माने भी उनको अधिकारी जान कर भगवानके नामका उपदेश दिया और 'तुम्हारा कल्याण हो ' ऐसा आशीर्वाद दे कर विदा किया. अपने गाँवमें आकर उन्होंने उस धूर्तके कपटकार्य प्रसिद्ध किये और मायामें फँसे हुए अनेक जीवोंको अंधे कुएमें पड़नेसे रोका और स्वयम् एक चित्तसे उस महात्माके उपदेशके अनुसार ईश्वरकी भक्ति कर अंतमें अच्छी गतिको प्राप्त किया.

यह कथा समाप्त कर बटुकने पूछनेवाले जीवको सम्बोधन करके कहा; जैसे वंध्या कभी पुत्र या सत्पुत्रवती नहीं होती है वैसे ही इस संसारमें सुखकी अच्छी भावना करना भी सिर्फ मायाकी धूर्तता है. मनुष्य समझता है कि इस जगतमें सुख तो होना ही चाहिए, परन्तु जगत तो स्वयम् मिथ्या है मिथ्यासे सत्य पदार्थ कैसे प्राप्त हो सकता है ? सत्यसे ही सत्य प्रकट होता है, असत्यसे सत्य प्रकट नहीं होता. गुलाबसे गुलाबकी प्राप्ति होती; परन्तु जो मनुष्य कौंचसे गुलाब प्राप्त करना चाहता है वह सिर्फ अज्ञानका ही काम है. जिसका प्रारंभ नहीं, मध्यम नहीं उसका अंत भी क्या होगा ? इसी तरह सबको इस संसारके सुखके लिए जानना चाहिए. इस लोकमें सुखनामकी, कोई वस्तु ही नहीं है, परन्तु जब अन्तःकरणकी वृत्ति पदार्थके रूपमें होती है तब वह कुछ नवीनता दिख-

लाती है और मोहको पैदाकरके भ्रममें डालती है. वही इस लोकमें सुख शब्दसे जाना जाता है। यह चार दिनोंकी चाँदनी है. उसमें जरा मस्त हुए कि वही दुःखरूप लगती है तब यह सुख काहे का? चिदाभास (ईश्वरके प्रकाश) द्वारा जो पदार्थ प्रकाशित होता है, जो नित्य सत्य और प्रकाशरूप है वही सुख है और तो सब भ्रम ही समझो. तीनों कालमें एक रहनेवाला सत्य सुख तो इस लोकमें है ही नहीं तो मैं किसको बतलाऊँ कि इसका नाम 'सुख' है.

द्वितीय बिन्दु.

सुख कहाँ है ?

न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥

इन्द्रको भी कुछ सुख नहीं, वैसे ही चक्रवर्तीको भी नहीं, परन्तु एकान्तमें जीवन वितानेवाले विरक्त (संसार त्यागी) मुनिको ही सुख होता है ।

बटुकने फिर कहा; " तुम सबके मनको एकसा समाधान होनेके लिए मैं फिर एक विस्तृत कथा कहता हूँ, उसको सुनो. संसारमें सुखनामका कोई पदार्थ ही नहीं है परंतु यह बात तुम्हारे मनमें नहीं पैठेगी, इस लिए जैसे तुमने प्रश्न किया है वैसे ही एक क्षत्रिय पुत्रको भी सबसे श्रेष्ठ सुख जाननेकी इच्छा हुई थी, और उसने शारीरिक परिश्रम कर सुखकी खोज की थी तथा उससे वह जो कुछ प्राप्त कर सका था, उसका इतिहास कहता हूँ उसे तुम सुनो. इस कथासे तुम्हारे संशयका नाश हो जायगा और इस लोकमें सुख है या सिर्फ सुखका आभास है इसका तुम निश्चय कर सकोगे और यह भी जान सकोगे कि " सुख " किसमें है इतना कह कर बटुक नीचे लिखा इतिहास कहने लगा.

किसी समय शारीर * नामके देशमें मनश्चन्द्र † नामका बड़ा पराक्रमी मंत्री राज्यका कामकाज चलाता था. राज्यका स्वामी तो आत्मसेन ‡ नामका राजा था. परन्तु वह कुछ विलक्षण स्वभावका होनेसे मनश्चन्द्र मंत्रीने उसे अपने बुद्धि बलसे ऐसा वश कर लिया था कि मंत्री जैसा नचाता वह पुत-

* शारीर देश अर्थात् शरीर संबंधी देश, अथवा शरीर रूपी जो देश, उसका राज्य.
† मनश्चन्द्र अर्थात् मन. ‡ आत्मसेन अर्थात् शुद्ध जीवात्मा.

लीकी तरह वैसा ही नाचता था. राज्यका सारा कार्यभार मंत्रीकी इच्छाके अनुसार ही चलता था. मंत्री बुद्धिमान्, साहसी और लोकप्रिय होते हुए भी स्वभावका बड़ा ही नीच, छिछोरा, स्वतंत्र, मिजाजी, घमंडी और चंचल था. इसने उसने अपने पुत्रका नाम विलासवर्मा * रक्खा था.

विलासवर्माको उसका पिता मनश्चंद्र छुटपनमें बहुत ही लाड़ प्यार करता था. इससे वह जवान होते ही निरा विलासी और मनमौजी निकला. वह पिताकी आज्ञा पर पानी फेरने लगा. 'यथा तातस्तथा सुतः' "जैसा बाप वैसा बेटा." इस कहावतकी तरह मनश्चन्द्रके समान उसमें भी गुण प्रकट होने लगे और इसके कारण वह अनेक प्रकारके क्लेशकरके स्वयम् विडम्बना (अड़चन)में पड़ता था और उनके द्वारा मनश्चन्द्रको भी अनेकवार दुःखमें डालता था. मनश्चन्द्रने उसे बहुतेरा समझाया, उसे अच्छे मार्गमें लानेकी बहुतसी युक्तियाँ भी कीं. परंतु वे सब निष्फल हुईं. इससे हैरान होकर उसने पुत्रको अपने राज्यसे देश निकाला दिया और कहा, " आजसे तुझको समझना चाहिए कि न तो तू मेरा पुत्र है और न मैं तेरा पिता हूँ. "

पिताके नाराज होनेसे विलासवर्मा एक सुन्दर घोड़े पर सवार होकर विदेशको चला. नगरके बाहर आते ही उसने सोचा अब कहाँ जाऊँ? उसको कुछ भी न सूझा. राज्यकी सीमा पर आकर वह एक वृक्षके नीचे घोड़ेको अटका कर विचार करने लगा कि अब क्या करना चाहिए? इतनेमें सामनेसे एक युवा पुरुष निरे सादे परन्तु स्वच्छ सुन्दर कपड़े और जेवर पहरे हुए घोड़े पर सवार हुआ आते दिखलाई दिया. उसने उसी समय उसे देखा और शर्मके मारे मुँह फेर घोड़ेको फिरा कर वहाँसे खसक जानेका विचार किया, परन्तु इतनेमें वह मनुष्य पास आ पहुँचा और बड़े प्रेमसे बोला. " प्रिय बंधु विलासवर्मा! आज कहाँकी तैयारी है ? भाई आज तुम अकेले और उदास क्यों दीखते हो ? क्या मित्रोंमेंसे कोई साथ नहीं है ? " इस तरह उस आनेवाले पुरुषने दो चार बातें पूछीं; परंतु उन सबके उत्तरमें विलासवर्माने सिर्फ दोनों हाथ जोड़ कर वंदना की और विना कुछ बोले नीचे को देखने लगा. वह मनमें कहने लगा, " यहाँ यह पाप कहाँसे आगया ?

---

* मनकापुत्र संकल्प और उसके अज्ञानके कारण विषय भोगकी इच्छा होती है इस लिए मनश्चन्द्रका पुत्र विलासवर्मा कल्पना किया गया है.

जिससे मैं दूर रहना चाहता हूँ वह मुँहके पास ही आकर खड़ा रहता है. यह दैवकी लीला है. यह अदृश्य दुःख कहाँसे आ पड़ा ? यह ऐसा ढीठ है कि किसी तरह यहाँसे नहीं टलेगा और अपनी शेखी हांक कर ज्ञानकी बड़ी बड़ी बात करने लगेगा. अब तो बुरी दशा हुई. मैं यहाँ खड़े रहनेके बदले एकदम चला गया होता तो अच्छा था. परंतु जब आँखसे आँख मिलही गई तो प्रणाम नमस्कार किए विना कैसे चलता ? वह इस तरह विचार करही रहा था इतनेमें वह मनुष्य फिर बोला; 'विलास भाई! घबराओ मत और मुझसे शर्माओ भी नहीं. शायद तुम्हारे मनमें मैं दूसरा लगता होऊँगा, परंतु मेरे मनमें वैसा भाव नहीं है. मैं तो तुम्हें अपना प्रिय सहोदर (भाई) ही मानता हूँ. उसके लिए अन्तर्यामी श्रीहरि साक्षी हैं. भाई! तुम्हारे मनमें जो कुछ दुःख संकट, उपाधि, आधि या व्याधि हो और जिसके कारण तुम्हें इतनी बड़ी उदासीनता हुई हो वह मुझे कारण सहित बतलाओ. किसी तरहकी शंका न करो. दिल खोल कर कहो जिससे उसका उपाय शुरू किया जाय. जो प्रयत्न बनेगा मैं तुम्हारे हितके लिए अवश्य करूँगा. और तुमको चाहे जैसा भयङ्कर संकट हो तो भी उससे मुक्त करूँगा. प्रजामेंसे तुमको कोई दुःख देही नहीं सकता, परन्तु शायद पिताजीकी तरफकी कोई अड़चन होगी तो इसको भी जहाँ तक बनेगा मैं दूर करूँगा. मेरे पिताने यद्यपि माके सहित मुझको छुटपनहीसे जुदा रक्खा है, परंतु होगा. यह तो उनके तरंगी स्वभावकी बात है, तो भी तुम जानते ही हो कि उनकी तरफसे मुझको राजगढ़में आने जानेकी कोई मनाई नहीं है.

किसी किसी समय राजकार्य और घरू कामोंमें भी उन्होंने मेरे प्रकट किए हुए विचारोंको मान दिया है. इस लिए तुम सारी शंकाको छोड़कर मुझसे अपनी उदासीनताका कारण बतलाओ.

यह भाषण सुनकर विलासवर्मा आश्चर्यमें डूब गया और अधिक लज्जित होकर विचार करने लगा, "अहा! इस शान्तिसेनकी सज्जनताका मैं क्या बयान करूँ ? विना कारण और विना अपराधके मैंने इसे सैकड़ों और हजारों बार भारी पीड़ा और अड़चन (विडम्बना) में डाला होगा. यह कैसा भ्रातृभाव है कि इस बातका विना विचार किए कि इससे मेरा कुछ भी देह संबंध है या नहीं मैंने इसको कई बार असह्य कुवचन भी कहे होंगे.

अरे, मुझ दुष्टने इसको कई बार मार डालनेकी भी प्रतिज्ञा की होगी परंतु इसने आजतक मेरी ओरको जरा भी क्रोधकी नजरसे नहीं देखा. बल्कि इस समय मुझको ऐसे दुःखसे घिराहुआ देख कर अनेक तरहसे सहायक बननेका वचन और धीरज देरहा है. मुझे भरोसा कि इसके आगे यदि मैं सची सची बातें बता दूँगा तो यह अवश्य ही मेरा सहायक होगा. परन्तु भाग्य ! मुझको धिक्कार है कि सदाचारका व्यवहार करके मैं सत्संगमें नहीं जाता."

इतना विचार करने पर भी विलासवर्मा लज्जाके मारे कुछ न बोल सका. उसके मुँह पर बंधुभाव और क्षमा माँगनेकी छाया दीख रही थी और आँखोंमें आँसू भर आये थे ऐसा देख कर वह जवान पुरुष जिसकी बात चीतसे हम जान सके हैं कि वह विलासवर्माका सौतेला भाई होगा और जिसका नाम अत्यंत श्रेष्ठ स्वभावको शोभा देने वाला शान्तिसेन या शान्तसेन था, दयाके वश होकर विलासके पास अपना घोड़ा लेगया और आलिङ्गन करनेके समान उसके कंधोंमें बाँहें डाल कर प्रमसे बोला; " मेरे प्यारे भाई मत घबरा ! मैं वचन देता हूँ कि मैं तेरे सारे संकटमें तेरा सहायक होऊँगा और जी जातेतक परिश्रम करके तुझे उसमेंसे छुड़ाऊँगा । तूने पहले मेरे प्रति जो व्यवहार किया है उसके सबबसे तुझको खेद होता होगा परन्तु उसमें क्या ? मेरे मनमें तो यह बात नहीं हैं. मैं इस तरहके किसी भी दोषको नहीं गिनता क्योंकि छोटा भाई होनेसे तेरे अनेक दोष सह कर भी तेरा कल्याण ही चाहना मेरा सनातन धर्म है. आगे पीछेकी सब बातें भूल जा और व्याकुलता त्याग कर जो हो सो मुझसे बतला तू निश्चय मान कि मैं तुझको अपनेसे जरा भी दूसरा नहीं समझता. इससे जो तुझको दुःख है वह मेरा दुःख है उसके लिए तुझको मेरे आगे बातें करनेमें जरा भी शंका नहीं करनी चाहिए."

ऐसा सुनकर विलासवर्मा दीन स्वरसे बोला; " पूज्य बड़े भाई ! (वह ऐसे मानसे उससे पहले कभी नहीं बोला था) क्या कहूँ ? अबसे मुझको इस हृदयपुर या शारीरदेशकी सीमामें * भी रहनेकी आज्ञा नहीं है. मुझसे पिताजी बहुत ही नाराज हो गये हैं. उन्होंने मेरा सदाके लिए निष्काशन

---

* मनका मुख्य स्थान हृदय है, हृदयका स्थान शरीरमें है. मनसे ही विलास वैभवकी इच्छा–कामना—विषयवासना पैदा होती है, और शान्ति भी उससे ही जन्मपाती है.

करदिया है. इसमें मैं स्वयम् अपराधी हूँ. हर तरहसे पिताजीको सतानेमें मैंने जरा भी कसर नहीं की * परन्तु भाई, इस समय मैंने अच्छे वर्तावसे चलनेके लिए उनके आगे दृढ़ प्रतिज्ञा की तो भी उन्होंने मेरी एक न सुनी और मुझको आज्ञा दी कि 'तू मेरे राज्यमें न रह' उनकी इस आज्ञाके अधीन हो कर मैं तुरंत ही चल पड़ा. मैं नगरसे वाहर चला आया सही, परन्तु वृक्षों और मनुष्यों विना जंगलका सूना रास्ता देख कर उसी समय मेरे मनमें धड़कन होने लगी. मुझको विचार हुआ कि अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? मुझे एक भी दिशा नहीं सूझी इतनेमें तुम्हें आते देख लज्जित होकर ठहर गया और यहाँसे चले जानेका विचार किया. परन्तु सौभाग्यसे वैसा न हो सकनेसे मुझे तुम्हारा साथ हो सका है। इस लिए वड़े भाई, अब मैं तुम्हारी शरणमें हूँ और चाहता हूँ कि ऐसा उपाय वतलाओ जिससे मुझको लाभ हो." यह सुन कर शान्तिसेन कुछ उत्तर देता ही था कि विलास फिर बोला; " भाई तुम यह सोचते होगे कि पिताको इस विषयमें कुछ समझावें परन्तु ऐसा करनेकी कोई जरूरत नहीं है. मैं स्वयम् ऐसी पराधीनतामें रहना नहीं चाहता. इस लिए उनकी आज्ञा मानकर, उनकी सीमासे शीघ्र निकल जाना ही सुपुत्रको अधिक उचित है."

उसका ऐसा निश्चय देख कर शान्तिसेनने कहा " विलास भाई ! तू सब वातोंमें चतुर विद्वान्, और पराक्रमी है तो भी छोटी उमर होनेसे अब तू यदि स्वतंत्रतासे रहनेके वदले पिताजीके आश्रयमें रहता तो मुझको बहुत अच्छा लगता. परन्तु जब तू अन्तिम निश्चय ही कर चुका है तो अच्छा, कुछ चिन्ता नहीं, थोड़ी देर ठहर, मैं पहले अपनी मातुश्री और गुरुदेवकी आज्ञा ले आऊँ, फिर हम दोनों साथ ही निकलें."

---

* मतलब यह कि विलासने मनको वहुत वहकाया उस पर बड़े बड़े अधिकार जमाना चाहे. परंतु मनका धर्म है कि अधिक विलास—विषय भोगनेके पीछे उससे विरक्ति—कुछ समयकी विरक्ति अलवत्ता होती है तब वह विलासको धिक्कारता है—छोड़ता है और शान्तिको गोदमें लेता है. विलास—विषयसे जब मन विरक्त हो जाता है तभी वह उसके दूर करनेके आवेशमें आकर विचार करता है. शुद्ध मन विलास—विषय—भोगेच्छाको सदाके लिए त्याग करता है परन्तु क्षण विरागी मन विषयको छोड़ता और फिर उसके अधीन हो जाता है.

इतना कह कर शान्तिसेन नगरमें गया और थोड़े दिनोंको गौंतरी (गाँव जाने) के लिए अपनी माता प्रज्ञा देवीकी* आज्ञा ले कर फिर तुरंत ही आ पहुँचा. उसे शीघ्र लौट आया देख कर विलास आश्चर्यसे बोला; " भाई! वाह इतनी देरमें मातुश्री और गुरुदेवकी आज्ञा लेकर आ भी गये." शान्तिसेनने कहा; " नहीं, गुरुदेवका आश्रम तो इस दिशाकी ओर जंगलमें अपने रास्ते ही पर आयेगा, इस लिए जाते समय वहींसे हो कर चलेंगे. माताजी तो कहीं भी नगर छोड़कर जानेको साफ इनकार करती थीं. परन्तु जब मैंने तेरे विषयकी बातें निवेदनकीं कि " मैं राज्यकी सीमासे विलासको किसी निर्भय और उत्तम स्थानमें वाहर छोड़कर कुछ दिनोंमें लौट आऊँगा. " तो यह सुन कर तेरे विषयमें माजीने बहुत दुःख किया और कुछ भी आनाकानी न कर मुझको आज्ञा देकर कहा कि ' एकदम विलासको ऐसे क्यों त्याग दिया. अरे! पुत्र तो लड़कपनके कारण शायद कुपुत्रपन करे भी परन्तु पिताको क्रोध कर ऐसा करते कभी नहीं देखा. परन्तु होगा, जो हुआ सो हुआ. अव तू उसके साथ जा, वह छोटा है नगर छोड़कर आजतक कहीं गया भी नहीं, इस लिए घवरायगा. तू उसमें और अपनेमें कुछ भेद न रखकर ऐसा करना जिससे वह सुखी हो. ऐसा कहते हुए

---

* मनश्चन्द्रके दो विवाहिता स्त्रियाँ थीं; प्रज्ञादेवी (ज्ञानबुद्धि) और दुर्मति (भोगतृष्णा) मनश्चन्द्र का स्वभाव चंचल, निडर, कार्याकार्यकी वृत्ति न जाननेवाला था इससे वह पहले व्याही हुई प्रज्ञादेवीके उत्तम आचरणसे प्रसन्न नहीं हुआ और अपनी वृत्तिके अनुकूल दुर्मति देवीके, जो मोहक वैभवविलासनी, अयोग्य आचरणवाली प्रवृत्तिमान (मायामें भुलानेवाली) और थेई थेईकी तानमें रहनेवाली थी साथमें विवाह किया. वह राजाके स्वभावके अनुकूल थी, किसी किसी समय तो वह राजाको बहुत बहँकाती थी. राजा उसका दास होगया और प्रज्ञाको उसने छोड़ (त्याग) दिया. प्रज्ञाका पुत्र शान्तिसेन और दुर्मतिका पुत्र विलास था.

इस कथामें यह समझाना है कि मनश्चन्द्र तो मन है और प्रज्ञा सद्बुद्धि—ज्ञान बुद्धि है मन प्रज्ञाके अधीन हो तो शान्ति पाता है, सत्संकल्प होते हैं—उत्तम विचार आते हैं और उनके अनुसार काम करके अपने स्वामी जीवात्माका कल्याण कर सकते हैं. परन्तु मनकी स्वाभाविक इच्छा तो मायिक असत् बुद्धिकी आश्रयी और चंचल है. इससे उसको सद्बुद्धि प्रिय नहीं लगती—ज्ञान नहीं भाता. वह तुरंत असत् बुद्धिका दास वन जाता है—शीघ्र भोगतृष्णाका आश्रय ग्रहण करता है अर्थात् उससे असत् संकल्परूपी विलास पुत्र जन्मता है अर्थात् वह भोग तृष्णामें पड़ता है.

मातुश्रीकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे, तब मेरा भी हृदय भर आया इससे मैं अधिक समय तक न ठहरकर उनके वरदहस्त (वर देनेवाला हाथ) को अपने सिरपर धराकर और प्रणाम करके लौट आया."

यह सुनकर विलास बोला; " भाई ! इस संसारमें यथार्थमें दुष्टोंका सिरताज तो सिर्फ मैं ही हूँ मेरे लिए जो वे इतनी दुःखी हुईं और अपने प्रिय पुत्र तुमको मेरी सहायताको भेजा ऐसी दयालु माताको भी तो अपनी दुष्ट माताके कहनेसे मैंने दुःख देनेमें कुछ कसर नहीं की है. तो भी मेरे प्रति उनका वात्सल्यभाव जरा भी नहीं घटा, यह कितना वन्दनीय है ? ज्येष्ठ भ्राता ! मैं तुम्हारा सदाका अपराधी हूँ. और उसके लिए हजारों बार तुमसे क्षमा माँगता हूँ. परन्तु अब कहो, क्या आज्ञा है ? शान्तिसेन बोला; " चलो विलम्ब क्या है ? गुरु महाराजका आश्रम आगे आता है, वहाँ उनको प्रणाम करके तुरन्त रास्ता लेंगे." इस तरह बातें करते हुए वे दोनों चल पड़े.

विश्वारण्यका शुभमतिगिरि.

विलासवर्मा और शान्तिसेन जंगलकी ओर चले. अनुमान कोस भर गये होंगे इतनेमें एक सुन्दर अमराई आई. शान्तिसेनने विलासवर्माको बतलाया, " देखो वह मेरे गुरुदेवका आश्रम है. " दोनों आश्रमके पास जाकर पर्णकुटीमें गये. अत्यन्त सुन्दर फुलवाड़ीके बीचमें बनी हुई एक पवित्र पर्णशालामें गुरु महात्मा बैठे थे. वे ऐसे दीखते थे कि सिर्फ उनके दर्शनसे ही अनेक दुःख दूर हो जाते थे. सामने जाते ही शान्तिसेनने गुरुदेवके चरणकमलोंमें दंडवन्नमस्कार किया; देखादेखी विलासवर्माने भी वैसा ही किया. गुरुदेव आशीर्वचन पूर्वक शान्तिसेनको सम्बोधन करके बोले; " वत्स ! आज इतनी देरमें कैसे लौट आये ? यह साथ में कौन है ?—शान्तिसेनने विलासवर्माका परिचय कराया और विनयकी कि; " कृपानाथ ! इस मेरे छोटे भाई विलासके लिए आप कोई ऐसा उत्तम स्थान बतायें जहाँ रहकर यह सुखी रहे. " यह सुन कर गुरुने कहा; " भाई शान्तिसेन ! तू क्या जानता नहीं है कि इस शरीर देशकी सीमाके मिलन स्थानमें ही विश्वारण्य *नामका एक बड़ा प्रदेश स्थित है.

* विश्वारण्य अथवा संसार सागर ये दोनों एक ही हैं. विश्वरूपी महा वन होते हुए भी उसमें क्या सुख और क्या शोभा है ? यथार्थमें विश्वरूपी महावन (अरण्य) में दुःख

शोभा और सुखके लिए इस देशका जितना वर्णन किया जाय वह थोड़ा है. वहाँ सारी शोभाएँ, सब चमत्कृतियाँ, अनेक सुख और दुःख भी साथ ही रहते हैं और वह अपार विचित्रतासे परिपूर्ण है. उसमें अनेक राज्य और अपार देश जंगल और नगर हैं जिसको जो चाहिए उसके भीतर वह सब है. उसमें 'शुभमति नामका एक बहुत ही विस्तीर्ण पर्वत है, जिसके शिखरपर स्थित सुन्दर वनकी शोभा वर्णन करनेके योग्य नहीं है. वहाँ अनेक ऋषि, सिद्ध, तपस्वी इत्यादिके आश्रम हैं. इसको किसी ऐसे ही पवित्र आश्रममें रख आओ, परंतु वहाँ विलासको सचेत होकर चलना पड़ेगा. इसको उस पर्वतसे कभी उतरना नहीं चाहिए क्योंकि वहाँ अनेक भूल भुलैयाँ हैं. ये भूल भुलैयाँ शोभामें यद्यपि गुलाबरूप हैं, परन्तु बिलकुल कठिन काटोंसे परिपूर्ण है. वहाँ दूध जितना सफेद दीखता है उसे उतना सफेद नहीं समझना चाहिए. और किसीसे प्रीति भी नहीं करनी चाहिए. इसको तो वहाँ नाम पैदा करनेके लिए रहकर फिर पिताके सामने मान पूर्वक आनेकी इच्छा रखनी चाहिए.

इस प्रकार बहुतसी चितावनी देकर गुरु चुप हो रहे. बाद गुरुका आशीर्वाद लेकर दोनों राजपुत्र वहाँसे रवाना हुए. कई दिनोंमें वे शरीर देशकी सीमा संधिके विश्वारण्यमें प्रविष्ट हुए. एक एक कर उसकी विचित्रताएँ देख देखकर विलासवर्मा दंग रह गया. शान्तिसेनने उसको समझाया कि; " भाई जब तू अभीसे ऐसा मोहित होरहा है, तो कुछ दिन यहाँ रहने पर तो न जाने कैसा हो जायगा! धीरज रख और धीरे धीरे विवेक सीख. यह विश्वारण्य है. इसमें वैसे ही चमत्कार भरे हैं जैसे गुरुजीने कहा था. हमें इन सबसे कुछ प्रयोजन नहीं. हमें तो पहले शुभमतिगिरि पर जा कर एकाधिक महात्मा मुनीश्वरके आश्रमकी खोज करनी चाहिए.

ही है परंतु जो विद्याका उपासक हो कर विवेकी होता है वही उसको जानता है और इससे वह उसका त्याग करता है और इस अरण्यमें जो शुभमतिगिरि सद् सद्विवेकबुद्धि-वाला पर्वत है, उसपर–कठिनाईसे–सब इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला ही चढ़ सकता है. विश्वमें अनेक चमत्कृतियाँ भी हैं यह प्रत्यक्ष ही है. शुभमति पर शुभेच्छावाला ही रह सकता है. इस शुभमतिगिरि पर भी बहुतसी भूलभुलैयाँ हैं अर्थात् सत् प्राप्तिके अनेक रास्ते हैं.

इस तरह बात चीत करते हुए वे शुभमतिगिरि पर गये. उसका प्रत्येक शिखर नये पत्तेवाले वन वृक्षोंसे ढँका हुआ था. जगह जगह पर तपस्वियोंके पुण्य आश्रम बने हुए थे. इनमेंसे किसी भी एक आश्रममें विलासको रखनेके लिए शान्तिसेनका विचार था, परन्तु विलासको वे नहीं भाये. क्योंकि आरंभसे ही उसका स्वभाव विलासी और इच्छानुसार आचरण करनेवाला था. ऋषि मुनि तो नीति नियम और भक्तिके रास्तेमें चलनेवाले थे. इसको उनके साथमें रहना कैसे भावे ? * सद् बुद्धिके पास सदा शान्ति रहती है. पर इसने अपने रहनेके लिए एक स्वतंत्र आश्रम पसंद किया. शान्तिसेन उसको वहाँ रखकर कुछ दिनोंमें अपने देशको लौटनेके लिए तैयार हुआ. तब विलासका मन कदराया और वह आँखोंमें आँसू भर कर कहने लगा, भाई क्या इस जंगलमें मुझको अकेला छोड़कर तुम चले जाओगे? फिर यहाँ मेरा कौन सगा और कौन स्नेही है ? मुझको कौन उत्तम मार्ग बतलाएगा. मैं किसके आगे अपने दुःख सुखकी बातें कहूँगा ? तब शान्तिसेनने धीरज दे कर कहा, " भाई मैं क्या करूँ ? तू जानता ही है कि माताजी घरमें अकेली हैं, उनके कहे हुए समयसे अधिक दिन बीत जानेसे, मेरे विना उनको जरा भी चैन नहीं पड़ता होगा. वे सदा मेरा ही रास्ता देखती होंगी. फिर गुरु देवको भी मेरे विना बहुत कुछ अड़चन होती होगी. इससे अब विना गये तो मेरा छुटकारा ही नहीं है. परंतु मैं कभी कभी तेरे पास आकर तेरी खबर लेता रहूँगा. यहाँ तुझको किसी तरहका दुःख नहीं होगा. क्योंकि इन सब ऋषि, मुनियोंके समूहके भीतर रहनेसे तू सदा निर्भय है; इसपर भी तुझपर यदि कोई संकट आपड़े तो मेरा स्मरण करना, मैं तेरे पास तुरंत आ जाऊँगा. मुझको गुरु महाराजकी कृपासे स्मरणगामीपनकी अद्भुत शक्ति प्राप्त हुई है. परंतु याद रखना कि जो नीचका साथ नहीं करता वह शुभमतिगिरि छोड़कर कहीं भी नहीं जाता. तू हमेशा अच्छा आचरण करेगा तो प्रभु कृपा करेंगे. किसी समय पिताजीकी भी इच्छा तुझको घरमें बुलानेकी होगी. अच्छा, अब जय जय गुरुदेव. " इतना कहके उसे आशीर्वाद देकर शान्तिसेन वहाँसे प्रज्ञादेवीके घरकी ओर लौटा और विलासवर्मा शुभमतिगिरि पर अकेला रह गया.

---

* जिसकी वृत्ति, विषय—विलासमय बन गई है, उसको शान्ति कैसे रुच सकती है. वह नीति नियम का पालन कैसे कर सकता है ? इन्द्रियोंको कैसे रोक सकता है ?

विलासतो विलास ही है. 'यथा नाम तथा गुणः' जन्मसे आजतक पिताके आश्रयमें रह कर वह सदा विलास और सुख ही भोगता रहा. इससे इस जंगलके दुःख उससे कैसे सहे जायँ? धीरे धीरे वह अपने आस-पासके आश्रमोंमें जाने लगा और देखा कि वहाँ स्त्रियों और पुरुषोंको पहरने ओढ़नेके लिए वल्कल वस्त्र (वृक्षोंकी छालके कपड़े), साथरीके लिए कुशकी चटाइयाँ, खानेको कंदमूल फल या वन धान्य (एक प्रकारके धान जो विना बोये उपते हैं (पसई.) और काम करनेको तप, अग्निहोत्र वेदाध्ययनादि धर्म कार्य और बोलनेको थोड़ा तथा सच्चा था. वह अपने मनमें कहने लगा, "अरे! यह मैं कैसे सह सकूँगा? यह तो महादुःख और जीते जी कारागार (जेलखाना) है! मनको तो यहाँ जरा भी स्वतंत्रता नहीं मिलती. इस तप वफमें क्या रक्खा है? इसमें क्या सुख होगा? ये मूर्ख लोग न जाने ऐसे ही दुःखमें दिन पूरे कर, किसी परलोकके–जिसको किसीनि ने देखा भी नहीं कि, वहाँ सुख है या दुःख, और जो सुख सिर्फ शास्त्रके पोथोंमें भरा है, उस अनिश्चित और कल्पनासे खड़े किए गये सुखको वहाँ जाकर भोगनेके लिए, इस जगतके सुन्दर सुखका भोगना छोड़ कर व्यर्थ क्यों पचे मरते हैं. अरे! सारे विश्वारण्यमें क्या ऐसा ही दुःख है? नहीं, नहीं. किसी जगहमें भी सुख तो होगा ही. इस लिए मैं तो वहीं जाऊँगा जहाँ सुख होगा और इच्छानुसार मनको आनन्दमें फिरनेको मिलेगा."

अनुभव पहला—मायाका दुःख.

इस जगतमें चित्त–मनकी चंचल वृत्तियाँ ही सब अर्थ, सुख और दुःखका हेतु हैं. वही अनेक तरहकी निर्दयताके काम कराती हैं वही नई नई सृष्टि रचती हैं और वही उसका नाश देखकर दुखी होती हैं. इस लिए प्राज्ञ (बुद्धिमान्) लोगोंने चित्तको क्षीण (कमजोर) करनेके लिए कहा है. चित्त क्षीण हुआ कि सब क्षीण हुआ. मनको वशमें न रखने-वाले जीवकी बड़ी दुर्गति होती है. मनोनिग्रह बिना चित्तकी शुद्धि नहीं होती, उसके विना जगतकी मोहनी (मोहकता) नहीं जाती और ब्रह्मभावका उदय नहीं होता. विना ब्रह्मभावनाके शान्ति नहीं मिलती, शान्ति विना त्याग वृत्ति नहीं होती और त्याग विना वैराग्य नहीं होता, वैराग्य विना संकल्प (इच्छा) नष्ट नहीं होते और इच्छाका नाश हुए विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है. परन्तु विलासका चित्त तो प्रवृ-

त्तिमें ही लोटपोट (सना) होरहा था. इससे वह नई नई इच्छाओंमें झोंके खारहा था. ऊपर लिखे अनुसार उसे विचार हुआ और उस विचारमें मग्न होकर वह एक दिन घूमते हुए उस गिरिके वनसे निकल कर उसकी तलेटी (पहाड़के नीचेकी जगह) में गया. वहाँ जाकर बहुत ही रमणीक फूलोंके बागोंमें फिरने लगा. बहुत समयका थका हुआ था इससे वह एक पेड़के नीचे जरा विश्राम करनेको बैठा और वनकी शोभा देखते हुए आनन्द सहित विचार करने लगा कि, " अहा ! ऐसी सुन्दर शोभा और इतना बड़ा आनंद होते हुए भी शान्तिसेन और गुरुजीने तलेटीके वनमें आनेसे क्यों रोका था ? चाहे कितना भी अच्छा हो परंतु है तो सौतेला भाई ही ! जैसे हो मैं अकेला दुःखमें रो मरूँ, इसीमें तो उसको मजा है. परन्तु यह विलासभी तो ऐसा मूर्ख नहीं है कि किसीके भुलावेमें आजावे. अब तो मैं यहीं या इससे भी जो अच्छा स्थान होगा वहाँ जा कर रहूँगा और जहाँ तहाँ आनन्दमें फिरूँगा. " ऐसे विचारोंकी उधेड़बुनमें नींदसे उसकी आँखें तलमलाने लगीं और वह वहीं लेट रहा, इतनेमें उसे मंजुल मंद और मीठा गान सुन पड़ा. गानके शब्द इतने मोहक और चित्ताकर्षक थे कि उनकी तान विलासके कानोंमें पड़ते ही वह झट उठ बैठा और व्याकुल के समान चारों तरफ देखने लगा. परंतु कुछ भी उसे दिखलाई नहीं दिया. उसने चारों तरफ पचीस पचीस कदम फिरकर अच्छी तरहसे खोजा परन्तु उसकी समझमें नहीं आसका कि ये मधुर शब्द किसके थे. इस मोहक मधुर गानके आलापसे व्याकुल और पागल हुए विलासको यह जाननेकी बड़ी उत्कंठा हुई कि यह स्वर किसका है. यह स्वर जाननेके लिए उसने सारा दिन वहीं बिता दिया परंतु न तो उसको कोई गाते हुए मिला और न कोई दिखलाई ही दिया. साँझ होने पर दुःखित हृदयसे खेद करते हुए वह फिर अपने स्थानको लौटा, परंतु रात भर उसे चैन नहीं पड़ा. उसके हृदयमें यह मधुर स्वर भर गया था इससे दूसरे दिन सवेरेसे ही वह गिरिसे नीचे उतरा और फुलवाड़ियोंमें चारो तरफ भटकते फिरा, परंतु वहाँ किसीको न देख कर फिर पहलेके स्थान पर जा बैठा. देर बहुत हो गई थी. दोपहर बीतकर तीसरा पहर भी होनेको आया; तब पहले दिनका आलाप उसको फिर सुनाई दिया. उसी समय वह हर्ष पूर्वक वहाँसे खड़ा हो गया और यह आलाप किस ओरसे आरहा है यह निश्चय करके फिर उस ओरको बढ़ा.

वह कुछ दूर गया था. वहाँ नये पत्तोंवाली एक अमराई लगी हुई थी और उसके बीचमें एक छोटा परंतु विचित्र कमलोंसे पूर्ण, सजल और सुन्दर सरोवर था. विलास बहुत भटका था परंतु दो दिनों तक यह स्थान उसे नहीं दिखा था. सरोवरके तटपर एक अशोकके नीचे कोई सुन्दर बाला बैठी हुई थी. उसकी सखियाँ आसपासकी पुष्पलताओंमें फिर रही थीं उनको पास बुलानेके लिए वह आनंदमें आकर आलाप कर रही थी. उसको देखते ही विलासवर्मा आश्चर्यसे चित्रवत् स्तब्ध (स्थिर) हो गया. वह चेतमें आकर उससे बात चीत करनेके लिए पासमें जानेका विचार करने लगा इतनेमें उसको देखते ही वह बाला चौंक पड़ी और "अरे! यह कौन है?" कह कर सटक गई तथा फिर नहीं दिखी. विलास फिर जैसेका तैसा होकर अपने भाग्यको दोष देते हुए बोला:—"अहा! कहाँ पहले मेरे वनवासी और कहाँ यह सुकुमारी! यह इतनी सुखी है. अरे! जिसके सिर्फ दर्शनसे मेरी यह दशा होगई है वह स्त्री मेरेपास हो तो मैं कितना सुखी न होजाऊँ? इसका जब शरीर ऐसा सुकोमल और उसपर पड़े हुए कपड़े तथा गहने ऐसे सुख देनेवाले हैं तो उसके और सुख साधनोंमें क्या कमी होगी? वास्तवमें इस विश्वारण्य (जगत) में ऐसी सुन्दर स्त्रीके पति होनेसे बढ़कर दूसरा कोई भी बड़ा सुख नहीं है और मैं यदि ऐसे भाग्यसे सचमुचही हीन हूँ, तो मेरा जीवन किस कामका है? अब तो उस शुभमतिगिरि पर कभी न रहूँगा. बस, अब तो यहीं मुकाम करूँगा. परन्तु वह सुकुमारबाला कहाँ गई होगी? चाहे जहाँ गई हो, कल तो फिर आयगी ही क्योंकि यह तो उसके विहारका स्थान (खेलनेका स्थान) मालूम होता है. इस विश्वाससे विलासवर्माने सारा दिन और सारी रात वहीं बितादी.

दूसरे दिन सवेरेसे ही वह बालाकी बाट देखने लगा. आशा ही आशामें वह सारा दिन भी बीत गया परन्तु कोई नहीं आया. इससे उसकी अवस्था और भी दुखित हो गई. इसी तरह उसने दूसरी रात भी बड़े कष्टसे काटी. जबसे वह यहाँ आया तबसे कुछ खाया पीया भी नहीं था. इससे उसकी आँखें भीतर पैठ गईं. गाल बैठ गये और पेटमें बड़ा भारी गढ़ा पड़ गया. तीसरा दिन हुआ परंतु उसकी आशा पूरी नहीं हुई. उसने थककर विचार किया; "कौन जाने वह सुन्दरी यहाँ न आकर कहीं अन्यत्र खेलनेको चली गई हो" अब मुझे उसकी खोज करनी

चाहिए. ऐसा विचार कर वह खड़ा हो गया, परंतु तीन दिनोंका भूखा होनेसे उसकी आँखोंमें अँधेरा छा गया. चारो तरफ हरा–पीला दीखने लगा. परन्तु इससे क्या ? क्या उसकी वृत्ति जरा भी हिली ? वह तो पलपलमें उस सुकुमारीका स्मरण करनेसे अधिक वलवती हो रही थी !

राजाको सम्बोधन कर ऋषि पुत्र (वटुक) बोला; "अहा ! वरेप्सु ! सिर्फ पल भर देखनेसे विलासवर्माको उस सुकुमारीका इतना ध्यान हो गया कि इतना निदिध्यास (सतत ध्यान) वह यदि श्रीहरिके चरण-कमलोंका करता तो उसको उस कपालु प्रभुका अवश्य सम्मिलन होता, परन्तु वह कैसे हो ? जगन्माता शक्ति जिन चरणकमलोंका निरंतर सेवन करती है और समर्थ मुनिगण, योगी और शिव ब्रह्मादि जिनका वारंवार ध्यान धरते हैं उन पवित्र चरणोंका स्मरण विलासके समान मायामें फँसे हुए जीवको कैसे हो ? खैर, अव उसका क्या होता है सो सुनो.

ज्यों त्यों कर विलास खड़ा हुआ और उस सुकुमारी सुन्दरीकी खोजके लिए लता घटामें फिरने लगा । चलते चलते उसको ठोकरें लगने लगीं. वह तड़फड़ा कर इधर उधर गिरने लगा. और कभी कभी गढ़े टेकरी या घनी झाड़ियोंसे टकराने लगा । आसपासके वृक्षोंसे सहजही शब्द या खड़खड़ाहट सुननेसे वह उसके पास दौड़ा जाता और कुछ न देख कर निराश हो जाता था । इस तरह फिरते हुए आगे दीखनेवाले दूरके कुंजसे उसे पहलेके जैसा मोहक स्वर सुनाई दिया. इतना ही नहीं; परन्तु थोड़ी देरके वाद हवामें फहराते हुए उसे चित्र विचित्र कपड़े भी दिखलाई दिए. उनको देखते ही मानों उसमें नया चैतन्य और वल आ गया हो इस तरह वह विना रास्ता देखे ऊँची नजर किए हुए जल्दीसे उस ओरको दौड़ा परन्तु आधी दूर जाने पर ही वह इतने जोर और विचित्रतासे चिल्लाया मानो भारी भयमें पड़ गया हो और आँ ! आँ ! आँ ! आँ ! इन शब्दोंके सिवा दूसरा कुछ भी वोलनेके पहले वह वहाँका वहाँ ही लुप्त (गायव) होगया ! वहाँ उसकी सँभाल करनेवाला कौन था ? उसका क्या हुआ, वह कहाँ गुम हो गया और एकदम किस वड़े दुःखमें जा पड़ा, इसे कौन जाने ? कोई नहीं. किसीको भी उसका पता लगनेवाला नहीं था. एक वड़ी गुफा जिसके आगे कदाचित् एक वहुत वड़ा कुआ ही था, चारो

तरफ किनारे पर ऊगी हुई झाड़ियों और छोटे छोटे झाड़ोंसे ढँक गया था. उसके ढालू और वनस्पतियोंसे ढँके हुए किनारेसे दौड़ते समय वह उसीमें जा पड़ा. हरे! हरे! क्या ही दुःखद दशा है. मायामें लुब्ध हुए लोगोंकी यही दशा है. एक भक्तने कहा है. 'तजि माया सेइय परलोका, मिटै सकल भव संभव शोका.' वह गढ़ा महा भयंकर था और योंहीं बहुत दिनोंका पड़ा होनेसे साँप बिच्छू आदि अनेक विषाक्त जीवोंका निवास स्थान बन गया था. दोपहरको उसमें पूरे सूर्यका प्रकाश भी नहीं पड़ता था. कितना कष्ट! कितना संताप! इसमें और यमराजके घरकी नरक यातनामें क्या अन्तर है? स्त्रीकी सिर्फ अभिलाषासे ही जब कुंभीपाक नर्कके समान ऐसा महा दुःख आ पड़ा, तो स्त्रीको स्वीकार कर सदा उसका संगहो तो फिर कौन कष्ट बाकी रह सकता है? परन्तु विषयी लोगोंको इतना बड़ा ज्ञान होने पर भी उससे उनकी आसक्ति नहीं हटती और उनको वही मीठा लगता है? स्त्रीका मुँह, ओठ, चलन वलन यही सब उन्हें मीठे लगते हैं. वैसा ही विलासवर्मा को भी हुआ. ऐसे भयंकर अंधे कुएमें गिरने पर भी उसे उस सुकुमारीकी अभिलाषाके लिए कुछ कुविचार नहीं हुआ वह उल्टा अपने भाग्यको धिक्कारने लगा कि, "हाय! मेरे दुर्भाग्यमें क्या उस स्त्री रत्नका लाभ नहीं लिखा है?" इतने में एक बड़ी बिच्छू उसके कंधे पर गिरी, उसको हाथसे उठा कर फेंकते समय कंधे और हाथ दोनों स्थानों पर उसका जहरीला डंक लग गया. यह उसके कष्टका प्रारंभ था. कुएँमें गिरते समय सारा शरीर छिल गया था और जमीनसे पछाड़ खानेसे हड्डियाँ चूर चूर हो गई थीं, उसमें फिर यह अति असह्य नई वेदना खड़ी होगई. थोड़ी देर तक उसको मूर्छा आगई. परन्तु कुछ समयमें आप ही आप पीड़ा कम होनेसे वह कुछ चेतमें आकर विलाप करने लगा; "अरे, पिताने मुझे त्याग दिया, तो भी मैंने शान्तिसेनका कहना माना होता और शुभमतिगिरिसे शीघ्र न उतरता तो मुझको ऐसा दुःख न सहना पड़ता. परन्तु मैं स्वयम् ही दुष्ट हूँ. मेरा अब यहाँ कौन साथी है! शान्तिसेनने वचन दिया था कि दुःखमें मैं तेरा सहायक होऊँगा. परंतु कौन किसका सहायक होता है! कहाँ वह और कहाँ मैं! शान्तिसेन! मेरी रक्षाकर! अब मेरी अन्य गति नहीं है." ऐसा अंतिम निःश्वास छोड़ कर वह खूब रोने लगा, इतनेमें उसे तुरंत ही सुनाई दिया, "मत घबरा! मत घबरा! भाई! मैं आ पहुँचा और अभी तुझे बाहर

निकालता हूँ." ऐसा बोलता हुआ कोई एक युवा पुरुष उस बड़े पुराने कुएँके किनारे पर आकर खड़ा होगया और अपने पासके अंकुशसे किनारेके झाड़ोंको खींच खींच कर तलवारसे काटने लगा. थोड़ी देरमें किनारा साफ होगया कुएमें प्रकाश पड़ते ही विलासने ऊपरको देखा, तो किनारे पर उसका बड़ा भाई शांतिसेन खड़ा हुआ दिखा.

विलासका सब दुःख दूर हो गया. शान्तिसेनने अपने घोड़के आगे पीछेकी मोटी रस्सियाँ मिला कर कुए में डालीं और उनका दूसरा सिरा खूब जोरसे विलासको पकड़ा कर उसके द्वारा उसको बाहर निकाल लिया. फिर उसको धीरज देकर कहा; "भाई! यह सब किसके लिए हुआ? मेरे और गुरु महाराजके कहने पर तुझको विश्वास नहीं हुआ. यह उसीका फल है. भाई! इकबारगी यह दशा तुझको कैसे प्राप्त होगई सो मुझसे कह."

पहले तो विलास लज्जाके मारे नीचेको देखता रहा. परंतु शांतिसेनके विशेप पूछने पर ऊपरकी सब घटनाएँ कह सुनाई. शान्तिसेनने कहा ऐसा क्यों हुआ? यह तो सब तूने सुखी होनेके लिये किया था; परंतु इसका फल क्या तुझको ऐसे सुखमें मिला? भाई! कह, इस जगतमें सच्चा सुख है? बांधव! जगतमें सुख है ही कहाँ जिसके प्राप्त करनेका तू प्रयत्न कररहा है? जगतमें सर्वत्र दुःख ही है संसार रचते समय ब्रह्मदेवने सुख पैदा ही नहीं किया. सर्वत्र दुःख ही दुःख है. जिन जिन उपायोंसे वह जितना कम हो सकता है उतनेको सुख मानते हैं. तो भी अज्ञानसे घिरे हुए अज्ञ मनुष्य उसके दूर करनेको जो उपाय किया करते हैं वे दुःखको घटानेवाले नहीं परंतु उसको बढ़ानेवाले होते हैं. इस माया पूर्ण संसारमें सुख प्राप्त करनेकी इच्छा करना ही पहले दुःख, अरे महा दुःखोंका बीजाँकुर रूप है. इस बातकी सत्यताके लिए पहले अपना उदाहरण देख जा तब ध्यानमें आजायगा. यद्यपि तुझे शुभमति-गिरि पर रहनेवाले ऋपि मुनियोंके समागममें लाकर मैंने रक्खा था, परंतु उनके सादे और संतोप पूर्ण आचरण तुझको दुःखद लगे और देखनेमें भव्य परंतु परिणाममें कष्टदायी इस बड़े सुखकी तूने इच्छाकी. उस इच्छाको पूर्ण करनेके लिए तू वहाँसे नीचे उतरा और नीचे उतर कर सुखकी लालसासे चारों तरफ भटकने लगा. तभी वह मोहक—चित्तको

लुभानेवाला—सत्‌को भुलानेवाला मोहकष्टमें फसानेवाला—मधुर शब्द तुझे सुनाई दिया । शब्द सुनते ही सूक्ष्मरूपमें रहनेवाले दुःखने एकदम प्रचंड रूप धारण कर तुझे घेर लिया. अस्तु ! ऐसा होने पर भी तुझे उससे छूटनेका सच्चा उपाय नहीं सूझता. सूझे ही किसको ? क्योंकि मायामें फस जाने पर ज्ञान और उमर निकल जानेपर वैराग्य कब फलदायी होता है ? मायाके सपाटेमें एक बार भी आजाने पर फिर छूटना अशक्य है. मायामें लिपटने पर उससे छूटनेके लिए जो उपाय किए जाते हैं वे उसमें और भी फसानेवाले होते जाते हैं । पहलेसे ही विचार कर फसनेवाली भूमिमें पैर न रक्खा गया हो तो ठीक है, परंतु भूल चूकसे भी एक बार उसमें पैर रक्खा गया कि उससे निकलनेके लिए फिर ज्यों ज्यों अधिक प्रयत्न किए जाते हैं त्यों त्यों फसनेवाला प्राणी अधिकाधिक नीचेकी ओरको धँसता जाता है और अंतमें यहाँ तक धँस जाता है कि समय पर यदि कोई सहायक न मिले तो उसी दलदलमें मृत्युको प्राप्त करता है. तुझे भी इसी तरह इस दुःखसे छूटनेका उपाय नहीं सूझा । इतना ही नहीं परंतु तूने यह भी नहीं जाना कि यह दुःख है. तुझे तो वह और भी सुख ही मालूम हुआ और ऐसा मधुर शब्द किसने किया होगा, उसे मैं फिर कब सुनूँगा ऐसे इच्छारूप दलदलमें तू और भी फसताही गया और उन शब्दोंके सुननेकी इच्छा अथवा आतुरतारूप मायासे उत्पन्न हुए दुःखके प्राप्त करनेको (अर्थात् वह इच्छा पूर्ण करनेको) दूसरे दिन सारे वनमें अच्छी तरह भटका किया. तेरी इच्छा पूरी हुई अर्थात् वह मधुर शब्द तुझको फिर सुनाई दिया परंतु इतनेसे ही अंत नहीं हुआ. बकरा निकालते ऊँट पैठा. पहलेके मोहक मधुरशब्द सुननेकी इच्छा—कामना पूर्ण होते ही तुझको शान्ति होनी चाहिए थी, परन्तु वह न हो कर फिर एक बहुत ही प्रबल नई कामना पैदा हुई कि, 'जब यह शब्द इतना अधिक मधुर और मोहक है तो वह गानेवाला कैसा न होगा ! अरे, उसे तो देखना ही चाहिए. उसके लिए तू आगे बढ़ा, तेरी वह कामना भी पूर्ण हुई अर्थात् तूने वह मधुर आलाप करनेवाली सुकुमारी देखी और इससे तुझको कुछ सुख (आनन्द) हुआ. अब तुझे इतनेसे शान्त होना चाहिए था ? परन्तु नहीं, इस सुखने भी फिर एक बहुत बड़े दुःखको पैदा किया, अर्थात् तू उस सुकुमारी पर मोहित हो गया और तेरी इच्छा उससे व्याह करनेको हुई. ऐसा होनेसे तू उस सुखेच्छारूप कीचमें बिलकुल

छातीतक डूब गया, उसके मोहसे तेरा अन्तःकरण तन्मय (उसीमें डूब जाना) हो गया और तूने अन्न जल भी त्याग दिया. ऐसा होनेसे, जैसे छाती तक कीचमें धँसे हुए मनुष्यका बाहर निकलना या बचना अशक्य है, अर्थात् वह स्वयम् तो बाहर निकल ही नहीं सकता, परंतु दूरसे देखे हुए किसी मनुष्यको अपनी सहायताके लिए बुलानेको हिले डुले तो और भी धँसता ही जाता है वैसा तुझे भी हुआ झाड़ीमें कपड़ा फहराते हुए देखकर तू उस सुकुमारीको प्राप्त करनेकी आशासे उस ओरको दौड़ा. अहा! मोह! परन्तु वैसा करनेसे तेरी क्या दशा हुई सो तू देख! यह अंधकूप आदि सब तेरी आँखोंके आगे ही होनेसे इनके फिर वर्णन करनेकी जरूरत नहीं है."

दुःखका अवसर कम होना ही सुख है.

इतना कह कर शान्तिसेन फिर भी बोला; "भाई विलास! इस परसे तूने देखलिया है कि इस विश्वारण्यमें (संसारमें) यथार्थमें देखा जाय तो जरा भी सुख नहीं, परंतु दुःख ही है. इस दुःखकी तात्कालिक (क्षणिक) निवृत्ति (छुटकारा) ही सुख माना जाता है. कोई मनुष्य दो मनका भार लेकर चला जाता हो और अधिक बोझ सहन न कर सकनेसे बहुत अकुलाता हो परंतु किसी विश्रामस्थानमें जल्दीसे उसको डाल दे तो वह अपनेको सुखी हुआ मानता है, परंतु यथार्थमें तो जैसा वह भार ढोनेके पहले था, उससे अधिक सुखी नहीं हुआ उसका सिर्फ भाररूप दुःख दूर हो गया, और उसीका दूर होना सुख है. वैसी ही तेरी भी दशा है.

"हमें इससे भी अधिक दृढ़ और स्वाभाविक उदाहरण क्षुधातुर मनुष्यका लेना चाहिए. भूख प्राणी मात्रको स्वाभाविक दुःख लगा हुआ है. कोई सबल स्वस्थ मनुष्य दूसरोंके साथ आनंदमें बातचीत कररहा था, इतनेमें नित्यका समय होनेसे उसको भूख लगी, परंतु उस समय किसी तरहकी अड़चन आपड़नेसे उसे अन्न नहीं मिला. ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों उसे अधिकाधिक भूख सताने लगी जिससे वह इतना घबराया कि उसे किसी तरह चैन नहीं पड़ा. अधिक कहनेसे क्या है? भूखका दुःख कैसा होता है यह तू अबतक अनुभव कर रहा है. भूखकी भारी दाहसे अंतमें उसे मूर्छा आगई और

आँखोंमें हरापीला दीखने लगा. वह अचेत होकर जमीनपर गिर पड़ा, इतनेमें उसके किसी सुहृद मित्रको मालूम हुआ और वह उसी समय उसके पास आया तथा उसको कुछ चेतमें लाकर उसी समय स्वादिष्ट भोजन कराया. वह पेट भर खाकर जब तृप्त हुआ (अघा गया) तो उसके मुँहसे यह पद्य युक्त वचन निकल पड़ा:—

अहो ! धन्योऽसि मे मित्र सुखं पूर्णं कृतं त्वया ।

इसके उत्तरमें खिलानेवालेने श्लोकका शेष चरण पूरा करते हुए कहा:—

न सुखं कृतवानस्मि तव दुःख गतं महत् ॥ १ ॥

दोहा

खानेवाला बोला:—

'अहा ! मुझे कैसो सुखी, कीन्ह्यो मेरे मित्र;'

खिलानेवालेने उत्तर दिया:—

'सुख मैं कुछ कीन्ह्यों नहीं, पर दुःख गयो विचित्र;'

खानेवाला बोला:—

'अतिशय सुख मोको भयो, 'नहि' कह सो तुव भूल;'

खिलानेवालेने उत्तर दिया:—

'सुख तो होता है नहीं, पर दुःख गयो अतूल;'

खानेवाला बोला:—

'क्यों नहिं ! यह भोजन भला दीन्ह्यों भरि शुभ पात्र;'

खिलानेवालेने उत्तर दिया:—

'पर होती नहिं भूख तो, भावत नहिं तिल मात्र;'

खानेवाला बोला:—

'मन मेरा माने नहीं, सुख कीन्ह्यों तैं सत्य;'

खिलानेवालेने उत्तर दिया:—

'ऐसा हो तो और खा, भोजन मीठा अत्य.;'

वह पुरुष पहले ही खूब अघा चुका था इस लिए उस दूसरे अन्न पात्र (भोजनके थाल) को देखकर थर्रा उठा और खिलानेवालेका मतलब समझ गया. उसने सोचा यथार्थ इसमें मुझको वास्तविक नया सुख कुछभी नहीं हुआ, परन्तु मेरा भूखरूपी दुःख दूर हो गया, इसीसे मुझको सुख मालूम हुआ. उसने कहा:—

'अब मुझको भावे नहीं पचे न होवे रोग;'
हाँ हाँ, समझ्यो दुःख गयो, नहिं कछु सुख संजोग;
इसी तरह सब दुःखोंके लिए समझना चाहिए;,

यह दृष्टान्त पूर्ण होते ही विलासवर्मा, जिसकी चित्तवृत्ति इस दुःखके अनुभव और शान्तिसेनके प्रसंगसे उस सुकुमारीकी ओरसे कुछ पीछे फिरी थी, बोला, "बड़े भाई अब क्षमा करो. पायसान्न (दूधमें पका हुआ भोजन) या मिष्टान्न तो दूर रहा परन्तु तीन दिन हुए मैंने वनका एक फल भी नहीं चीखा. इस लिए अब तो जी जाता है!" शान्तिसेनने कहा, "भाई, हाथका किया हुआ ही हृदयको पीड़ित करता है. जी जानेमें बाकी ही क्या था? परन्तु प्रभुने कुछ कृपा कर दी इसीसे तेरी रक्षा हो गई. इस लिए अबसे दृढ़ प्रतिज्ञ हो कि ऐसे नाशकारी सुखकी इच्छा कभी नहीं करूँगा!" ऐसा कह उसको एक वृक्षके नीचे बैठा कर वह समीपके पेड़ोंसे पके हुए स्वादिष्ट फल ले आया और दोनों जनोंने साथ बैठ कर प्रभुको अर्पण करके भोजन किया.

विलासमें चलनेकी शक्ति नहीं थी, इस लिए शान्तिसेनने उसे उठा कर घोड़े पर बैठाया और दोनों जने बातें करते हुए शुभमतिगिरिकी ओर चले. आश्रममें पहुच कर शान्तिसेनने कहा? "भाई विलास! तुझको यहाँ अकेला छोड़ कर जाते हुए मुझको बड़ा दुःख होता है परन्तु क्या करूँ? तेरे सिर्फ स्मरण करनेसे मैं माताजी और गुरुमहाराजकी आज्ञा लिए विना अकस्मात् यहाँ पर चला आया हूँ, इस लिए मैं यहाँ रुक नहीं सकता परन्तु जानेके पहले मैं तुझको यह अन्तिम और आवश्यक बात कहे जाता हूँ कि अब तुझको इस गिरिसे नीचे नहीं उतरना चाहिए. यहाँ पर कौनसी वस्तु नहीं है? किसी तरहके दुःखमें न पड़नेके लिए तो मैंने तुझको इन ऋषियोंके साथमें ला रक्खा है नहीं तो नीचेके उस "भवकाम"† प्रदेशमें जितने चाहिए उतने नगर, गाँव, जंगल, और उपवन हैं; परंतु वे सब अंतमें दुःखरूप हैं. तूने उनका दृष्टान्त भी अभी ही प्रत्यक्ष अनुभव किया है. जिसमें तू फँसा था उससे आगे उससे भी दूसरी अनेक भूलभुलैयाँ हैं और उनमें फँसे विना विरला ही कोई

† भवकाम अथवा भवराद् अर्थात् भव जो संसार उसीकी कामनावाला देश अर्थात् संसारका वासनामय देश.

रहता है. उन ऋषियोंकी स्थिति तुझको दुःखरूप लगी और उनका बिलकुल सादा जीवन तुझको नहीं भाया परंतु इस सबका कारण यह है कि तुझमें सारासार विचार करनेकी शक्ति नहीं है. सारे विश्वारण्यमें इन्हींकी स्थिति सबसे श्रेष्ठ और दुःख रहित है और यही स्थिति अंतमें अमर सुखकी देनेवाली है. इसीसे इस लोक और परलोक दोनोंका सारा सुख मिल सकता है. फिर, इन ऋषि आदिके समागम करनेमें कुछ श्रम भी करना नहीं पड़ता. क्योंकि वे समर्थ होते हुए भी अहंकार, दंभ, बड़प्पन, अत्याचार निर्दयता, इत्यादि दुर्गुणोंसे रहित बड़े दयालु स्नेही और निरभिमानी हैं, और उनसे क्रोध लोभ मोह इत्यादि दुर्गुण सदा दूर रहते हैं. शरणमें आनेवालेका वे सहज ही कल्याण करते हैं. इस लिए उन्हींके समागममें समय बिताना. अवकाश मिलने पर मैं तेरी खबर लेता रहूँगा." इतना कहकर; जय जय गुरुदेव ध्वनि करते हुए शान्तिसेन वहाँसे विदा हुआ.

शान्तिसेनके उपदेशसे विलासको स्मशानवैराग्य उत्पन्न हुआ और सुखके लिए हाय हाय करना छोड़ कर उसने वहीं पड़े रहनेका निश्चय किया सवेरे वह गंगामें जाकर स्नान संध्या आदि नित्य कर्म कर आता, भूख लगने पर वृक्षोंसे इच्छानुसार फल लाकर खाता और फिरते हुए क्षणभर किसी ऋषिके भी आश्रममें जा बैठता था. वहाँके आश्रममें जो जो मुनि रहते थे उनके पास विद्यार्थी वेद पढ़ते और शास्त्रोंका अध्ययन कर, आनन्दमें समय बिताते थे. कई ब्रह्मवेत्ता (ईश्वरको जाननेवाले) महात्मा पूर्ण (निर्विकल्प) समाधिसे ब्रह्मतत्वका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव करते और जितेन्द्रिय तथा शान्त मन होकर अनादि अविद्यासे पैदा हुए अंधकारको—अपने स्वरूपसे एकता देख कर नाश करते थे. वे शुद्ध सोनेके समान थे. वे सत्व रज और तमरूप मलका त्याग किए हुए थे. छलछिद्र आदिसे मुक्त होनेसे सबके शान्तिदाता परमात्माके स्वरूप—सुखरूप सत्यानंदके रससागरमें निमग्न होते थे. वह इसी तरह हर जगह देखता था. परन्तु सुख क्या है और किसमें होगा, कहाँ होगा इसकी उसको जरा भी खबर नहीं थी. जब वह अकेला पड़ता तो उसे वह सुकुमारी याद हो आती, परन्तु साथ ही उसे वह अंधा कुआँ भी तुरंत ही याद हो आता था जिससे उदास होकर उसे यह विचार त्यागना पड़ता था. ऐसी अस्वस्थ दशामें उसने बहुतसा समय बिताया. इतनेमें उसे पीछे फिर सुख खोजनेका एक और कारण मिला.

अनुभव दूसरा—संसारमें रहनेसे क्या लाभ है?

एक दिन विलास, भोजनके लिए वनमें फल लेनेको गया. फिरते समय उसे रास्तेके एक आश्रमसे स्त्री पुरुषोंका एक बड़ा भारी दल निकल कर कुछ दूर दिखनेवाले शिखरकी ओर जाते दीखलाई दिया. यह क्या है यह जाननेके लिए विलास उसके पास गया. वहाँ उसके मनको भड़कानेवाला अकस्मात प्रसंग आकर उपस्थित हुआ. अर्थात् पर्वतकी तलहटीकी वाटिकामें उसने जो बाला देखी थी वही सुकुमार बाला उसे वहाँ फिर दिखलाई दी. उस समय वह जान सका कि यह सुकुमारी कौन है? आगे पीछे भीड़में हथियार लिए हुए पुरुष चल रहे थे, उनके बीचमें कई साधारण स्त्रियोंसे घिरी हुई एक प्रौढ़ा (तरुणी) स्त्रीके साथ यह बाला चल रही थी. इस प्रौढ़ा स्त्रीको देख कर भी सहज ही अनुमान हो सकता था कि यह किसी राजाकी रानी होगी और ये स्त्रियाँ तथा पुरुष उसकी दास दासियाँ होंगी विलासने सोचा; यह सुकुमारी राजाकी लड़की है और मैं राजाका पुत्र हूँ अर्थात् मेरा और इसका संबन्ध होना कुछ असंगत नहीं है. परन्तु दैव! उसे मैं कैसे प्राप्त करूँ? उसका हरण करूँ तो यद्यपि यह गांधर्व विवाहकी प्रथा उचित है, परन्तु ऐसा, करनेसे तो लड़ाईका अवसर भी असकता है! मेरे पास सेना या रथादि कुछ भी सामान नहीं है तब कैसे बनेगा?" ऐसा सोच कर वह किसी दूसरे उपायसे काम करनेके लिए विचार करने लगा. विलास इस तरहकी युक्तियाँ खोजनेमें स्वभावहीसे चतुरथा. उसको तुरंत ही एक उपाय सूझ गया. पहले उसने बीचके रास्ते से जा कर एक सेवकसे पूछ कर मालूम कर लिया कि उन लोगोंका स्वामी संभवनामके किसी देशका राजा है. वह अपने राज्यमें दौरा करनेको निकला है और अनायास रास्तेमें प्राप्त हुए इस सत्समागमका लाभ लेनेके लिए ऋषियोंके आश्रमकी ओर जा रहा है. उसने अपने साथकी सेनाको पर्वतकी तराईमें उतारा है और रानी तथा पुत्री सहित इस प्रथम शिविर (राजाके पड़ाव) में ठहरकर दिनरात ऋषियोंका समागम कर रहा है. उसकी लड़की व्याहनेके योग्य हो गई है इस लिए उसीके समान रूपगुण वाले राजपुत्रकी खोजकरनेके लिए वह यहाँसे जल्द जानेवाला है.

बहुत दिनोंतक वनमें बसनेसे विलास बिलकुल वनवासी तपस्वी जैसा तो हो ही रहाथा अतः सिरके बालोंको जटाकी तरह बाँध विभूति (भस्म)

आदि धारण कर वह ऋषिपुत्र के समान बन गया और इसी वेशमें राजाके आगे जाकर उस पुत्रीको माँगनेका विचार किया. राजा पड़ाव (शिबिर) में बैठा था, उस समय वह उसके आगे जाकर खड़ा हुआ. राजा उसे ऋषि पुत्र समझ सम्मान पूर्वक खड़ा होकर आसन देने लगा. इतनेमें वह बोला; " राजन्! मुझको यहाँ बैठना नहीं है, मैं तो एक मतलबसे आया हूँ. मैंने सुना है तेरे यहाँ विवाह योग्य कन्या है, मैं राजर्षि पुत्र हूँ और गुरुके पास विद्याभ्यास पूर्ण कर अब पाणिग्रहण (विवाह) करनेकी इच्छा रखता हूँ. इस लिए तेरी कन्या " विलासवर्माके ये अंतिम शब्द पूरे भी न हो पाये कि राजा स्वयम् ही बोल उठा: " धन्य भाग्य! मुझको तो इसीकी जरूरत है. आप ही आप ऐसा अवसर (प्रसंग) आजानेसे मैं अपनेको भाग्यशाली समझता हूँ. मैं इस बातकी बड़ी चिन्तामें था और उसके लिए कल रवानाही होनेको था. आप भले पधारे. आप कौन और कहाँके रहने वाले हैं ? विलासने कहा; " मैं शारीरदेशके स्वामी मनश्चन्द्रका पुत्र हूँ, मेरा नाम विलासवर्मा है. यह सुन कर राजा और रानी प्रसन्न हुए और उन्होंने विलासको सन्मानपूर्वक अपने यहाँ रक्खा. " अच्छे कामके लिए ढील न करनी चाहिए " ऐसा विचार कर राजाने वनमें ही ऋषियों-को निमंत्रण कर ब्याहकी तैयारी करली और विधिपूर्वक विलासवर्माके साथ राजकन्याका विवाह कर दिया.

इस विवाहसे विलासकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गई, उसने सोचा अब मैं सचमुच सुखी हुआ. यह है भी सत्य क्योंकि बहुत समयसे जिसको जिस वस्तुकी चाह होती है वह वस्तु अंतमें आनंदरूपहै या नहीं इस विषयके विचार करनेका कामतो बुद्धिमान् और विवेकियोंका ही होता है. कई दिनों तक तो विलास अपने श्वशुर (इस राजा)के साथहीमें रहा. उस सम-यके भीतर उसने नई ब्याही अपनी स्त्रीके साथ जो सुखानुभव किया, उससे उसने शान्तिसेनके पहले उपदेशको बिलकुल धिक्कार निकाला. उसने शान्तिसनके इस कथनको तुच्छ और झूठा माना कि " विश्वारण्यमें सुख ही नहीं है और सुखकी इच्छा करना ही दुःख रूप है. "

कुछ समयमें राजाने वहाँसे चलनेकी तैयारी की और राजकन्या विला-सवतीको विलासके अधीन कर अपने नगरकी ओर चला. परन्तु जाते समय उसने बहुतसी दास दासियाँ, घोड़े, हाथी, रथादि समृद्धि और

वहुत कुछ धन देकर विलाससे कहा, "जमाई जी अब तुम भी अपने देशमें जाकर सुखी होओ." राजा नहीं जानता था कि मनश्चन्द्रने उसे देशसे वाहर निकाल दिया है !

राजा विदा हुआ. विलास स्वतंत्रतासे अपनी प्रियाके साथ रस रंगमें प्रवृत्त हुआ. उसने यह मनचाही वस्तु पा कर अपनेको वहुत ही सुखी माना और सुखका अनुभव करने लगा. परन्तु अव उसको यह सूझ पड़ा कि मेरे माथे कितना वड़ा वोझ आ पड़ा है. जव वह अकेला था तव उसे जीविकाकी तो कुछ परवाह ही नहीं थी. जव भूख लगती तव वनसे वनफल ले आता और घोड़ेका पेट पर्णशालाके आस पासके चारेसे भर जाता था. परन्तु अव वह एक वड़े कुटुम्वका स्वामी (भर्त्ता) हुआ था. हाथी, घोड़े, दासदासियाँ और वहुतसे शस्त्रधारी (हाथियार वाले) रक्षक आदिसे वने हुए एक छोटेसे राज्यके पोषण करनेका भार उसके ऊपर आ पड़ा. उसका तो वनफलसे चल जाता था परन्तु राजकन्याके समान पत्नी और यह सव समूह वनफल पर कैसे रक्खा जा सकता है ? राजकुमारी तो नित्य मिठाई खानेवाली और रंगमहलमें रहनेवाली थी, इससे वह पर्णशालामें नहीं रह सकती. वहुत दिनों तक तो वह राजाके दिए हुए तंवुओंमें ही रहा और उसीके दिए हुए धनसे धूमधाम भी कीया. परन्तु यह सव कव तक चलता ? काममें लाया जाय तो समुद्रका पानी भी वढ़ा जाता है. कुछ ही समयमें खर्चके लाले पड़ने लगे. अपने राजसी कुटुम्व और नौकर चाकरोंके पोषणके लिए उसको वड़ी चिन्ता पैदा हुई. और जव विलासवतीने उसको स्वदेश जानेके लिए कहा तो विलासने समझाया कि, "मैं अपने पितासे नाराज होकर देशान्तर चला आया हूँ. इस लिए अभी वहाँ नहीं जाऊँगा." फिर निर्वाहके लिए उसने हर तरहसे धन संग्रह (इकट्ठा) करनेका प्रयत्न आरम्भ किया. शुभसतिगिरिसे नीचे उतरकर उसने तराईके उपवनमें पड़ाव डाला. क्योंकि किसी शहर वा देशमें जाकर रहे तो उसे उस देशके राजाकी प्रजा वनकर रहना पड़े और स्वतंत्रतासे काम न किये जा सकें. इस लिए उसने स्वतंत्र ही रहनेका निश्चय कर, वहाँ एक नगर वसाना आरम्भ किया. न्यायसे ही धन संग्रह करना ठीक है, परन्तु वह वहुत कठिन है. विलासने न्याय अन्यायका प्रश्न किनारे रख कर काम करना आरम्भ कर दिया. वह राजाके दिए हुए रक्षक सवारोंका एक दल

बनाकर निकल पड़ा और रास्तेमें आने जानेवाले यात्रियों, व्यापारियों तथा हो सकता तो छोटे बड़े गाँवोंको भी लूट पाट कर अपार धन लाने लगा. यह बुरा काम करते समय स्त्री बालक आदि निरपराधियोंकी हिंसा भी होजाय तो उसकी वह जरा परवा नहीं करता था. ऐसे पापकर्मोंसे उसने बहुतसा धन एकत्र किया और वहाँ एक सुन्दर महल बनाकर विलासवती सहित उसमें आनंद करने लगा. धीरे धीरे उसने अपनी भीड़में हथियार बंद मनुष्योंकी वृद्धि कर एक अच्छी सेना तैयार कर ली और उनके रहनेके लिए अपने ही पास घर बनाकर वहाँ नगरके समान एक बस्ती बसा ली.

विलासने अपनी स्थितिमें इतना फेरफार कर दिया सही, परन्तु उसका मूलपाया धिक्कार किए जानेवाली सिर्फ लूट फाँस थी. बहुतसे कुटु-म्बियोंको निराधार और जन्मदाता माता पिताओंको दुखी कर बहुतसे निरपराधियोंके प्राण लेकर तथा ऐसे ऐसे नाना अनर्थ करके वह धन प्राप्त करता था. इससे आस पासके सब छोटे बड़े राज्योंमें उसके लिए बहुत बड़ा द्वेषभाव उत्पन्न हुआ. विलास जैसे निर्दय, भयंकर लुटेरेके प्रतिदिन बढ़ते हुए त्राससे उन सब राज्योंने एकत्र होकर मेल किया और अपने एकत्रबलसे इस दुष्टके पराजय (निग्रह) करनेका निश्चय किया. नियत समय पर सब राज्योंसे सेना सजकर उस पर चढ़ आई और धोखेसे उसने विलासके नगरको घेर लिया. इस समय कई सवारों सहित विलास किसी जगह बहुतसा धन लूटनेकी आशासे भाग्यवश बाहर निकल गया था. इससे वह नहीं पकड़ा गया. तब निरुपाय होकर दूसरे राजाओंने उसकी जमा की हुई सारी समृद्धि सहित उसका महल और सारा शहर लूट लिया. दास दासियों और रक्षकोंको बाँध लिया और अंतमें विलास-वतीकी भी दुर्दशा कर उसे अकेली छोड़ कर * सब लोग विलासकी खोज करनेको निकले. विलास किसी पासहीके गाँवमें लूट फाँस कर रहा था. अपने दूतोंसे यह समाचार सुन कर वह जी लेकर भागा, तब ये सेनायें भी उसके पीछे पड़ीं. वह बड़ी घबराहटमें पड़ा. हर एक राज्यका चोर होनेसे उसे कहीं भी जाकर रहने और किसीके यहाँ प्रश्रय

---

* वे लोग विलासवतीको भी कैद कर लेते, परन्तु अकेली छोड़ देनेका कारण यही था कि उसका पिता सम्भवदेशका बड़ा समर्थ राजा था. इस लिए उन्होंने सोचा कि वह कहीं नाराज न हो जाय.

पानेका स्थान नहीं दिखा. वह रात दिन भागते फिरा. अंतमें पिताके शरीर देशमें जा पहुँचा. वहाँ जानेके लिए उसकी बड़ी अनिच्छा थी परन्तु क्या करे? कोई उपाय न होनेसे उसने चुप चाप हृदय नगरमें प्रवेश किया और पिताको मालूम हुए विना अन्तःपुर (घरमें जहाँ स्त्रियाँ रहती हैं) में अपनी माता भोगतृष्णासे मिलकर उसके एकान्त महलमें जाछिपा राजाओंकी एकत्र सेना—उसका पीछा न छोड़ उसके पीछेही पीछे आ पहुँची और चारों ओरसे हृदय नगरको घेर लिया.

विना कारण ऐसे शत्रुओंसे अकस्मात् अपने नगरको घिरा हुआ देख कर मनश्चन्द्र घबरा उठा. आये हुए संकटको दूर करनेके लिए उसे कोई भी उपाय नहीं सूझा. संकटके समयमें ही मनुष्यको अपने सच्चे सहायक सुहृद या स्नेहीकी यादआती है और चाहे वह दूर हो और उसको सताया भी हो तो भी उसके लिए उसको बड़ा पछतावा होता है. मनश्चन्द्रने दूतों द्वारा पुछवाया कि उनके ऐसा करनेका क्या कारण है? उत्तर मिला कि विलासवर्मा नामका हमारा अपराधी लुटेरा हृदय नगरमें आ छिपा है उसको हमारे अधीन करो, या लड़ाई लो. मनश्चन्द्र विस्मित हो सिर पर हाथ रख कर बोला, 'विलास तो मेरा पुत्र है! अरे, इस दुष्टको मैंने इसके कुटिल क्लेशमय स्वभावके कारण त्याग दिया तो भी इसको ज्ञान नहीं हुआ. मैंने इसे दूर कर दिया था फिर भी इसने आकर मुझको संकटमें डालदिया! अब मैं क्या करूँ? कुछ नहीं, अब तो यह उसे अवश्यही भोगे. इस दुष्टके लिए युद्धकर मैं लाखों जीवोंका नाश नहीं करूँगा. निर्लज्ज न जाने कहाँ छिपा होगा? ऐसा विचार कर वह उसकी खोज कराने लगा. परन्तु कहीं भी पता न लगा. बहुत दिनों तक विलास हाथ नहीं आया. इससे शत्रु और भी नाराज हुए और यह समझ कर कि उसका पिताही उसे जान बूझ कर छिपाता है वे एकदम शस्त्र चलाने लगे. मनश्चन्द्रको निरुपाय होकर लड़ाई लेनी पड़ी, परन्तु बहुतसे शत्रुओंके एकत्र बलके आगे उसका क्या चले? शत्रु एकदम टूट पड़े. वे मनश्चन्द्रको कैद करनेकी तैयारीमें थे, इतनेमें अड़चनमें फँसा हुआ मनश्चन्द्र पछता कर ठंडी साँसें छोड़ने लगा कि, "हरे हरे! मैंने कैसे अनर्थका काम किया है जिस दुष्टको मैं बहुत ही प्यारा जानता और लाड़ करता था, उसके कुकर्मसे मैं आज ऐसे प्रसंगमें आ पड़ा हूँ और जो ऐसे अनेक संकटोंमें सिंहकी तरह सहायक होनेवाला

मेरा ज्येष्ट पुत्र था उसे मैंने बिना कारण नाराज कर राज्यसे बाहर निकाल दिया है. परमात्मा ! अभी वह सुपूत होता तो इन शत्रुओंकी क्या शक्ति थी." इतना स्मरण करते ही स्मरणगामी शान्तिसेन वहाँ सिंहकी तरह गर्जना करते हुए प्रकट हो गया और मनश्चन्द्रको धीरज दे कर अपने योद्धाओंको उत्तेजित करते हुए अपने युद्धकौशलसे शत्रुकी सेनाको नाश (पराभव) करने लगा. उसके दिव्य वाणोंसे शत्रु त्राहि त्राहि कर भागने लगे. शत्रु पराजित हो हृदय-नगरको छोड़कर चले गए.

छिपा हुआ विलासवर्मा, जो अपने पिताको मुँह दिखलाना नहीं चाहता था इस चिन्तामें था कि उसकी स्त्री और परिवारका क्या हुआ होगा. उसने जब सुना कि शान्तिसेनके प्रतापसे शत्रु भाग गए तो वहाँसे रातोरात छिप कर चलेजानेका विचार किया और वेश बदलकर रातको हृदयपुर छोड़ दिया. वनमें जाते समय उसका एक दूत आ मिला. उसने समाचार दिया कि, "विलासवती इस महादुःखसे मृतकसी होकर महलमें रो रही है. शत्रुओंने उसे घेर रक्खा है और महलके आस-पास शत्रुके सैकड़ों हथियारबंद सवार फिरा करते हैं." यह सुन भय-भीत हो कर विलासवर्मा जंगलके तिरछे रास्तोंसे छिपता हुआ अपने नगरके पास जा पहुँचा. परन्तु उसे जरा भी भीतर जानेका साहस नहीं हुआ. वहाँ उसने शत्रुओंका पूर्ण अधिकार देखा. उसके पास कुछ सामान भी नहीं था. अब क्या करना चाहिए? यह विचार कर वह उदास हो गया. दिन गुजर गया संध्या होनेको आई. रातको शत्रु आदिका आकस्मिक भय न हो जाय, इस लिए वह एक ऊँचेसे पेड़पर चढ़ गया. वहाँसे उसका नगर दीखने लगा. अपना बसाया हुआ यह सुन्दर नगर आज शत्रुओंके हाथमें पड़नेसे उजड़ कर सुनसान हो गया है, यह देख कर उसको बहुत बड़ा दुःख हुआ और जब इस विचारसे वह चारों तरफ देखने लगा तो जहाँ तहाँ सारे नगरमें शत्रु सवारोंके चमकते हुए भालोंके सिवा दूसरा कुछ भी नजर नहीं आया. सब मनोहर मन्दिर और ऊँचे महल निर्जन पड़े हैं. दिनमें कौवे उड़ते हैं. इन सबके बीचमें उसका जो सबसे ऊँचा और सुशोभित महल है वह भी ऊजड़ पड़ा हुआ है. उससे ऐसा उलटा दृश्य देखा नहीं गया.' वह अपनी नजर उस ओरसे हटाने-वालाही था कि इतनेमें उसे उस ऊँचे महलमें फिरती हुई एक अबला (स्त्री) दिखलाई दी पर इतनी दूरसे यह जाना नहीं जा सकता था कि वह

कौन है. वह स्त्री दीन थी. उसके शरीर पर एक ही वस्त्र था, दोनों हाथमें सौभाग्यके चिह्न कंकण चूड़ीके सिवा और कुछ भी आभूषण या अलंकार नहीं थे. शरीर उसका बहुत गोरा होने पर भी मुखकमल सूखा हुआ और आँखें भीतरको पैठी हुई थीं. निराश होने पर उसकी आँखोंसे आँसू टपक रहे थे. थोड़ी देरतक इधर उधर फिरनेके पीछे उसने उस ओरको देखा जिस ओर विलास था. विलासने देखा कि यह मेरी वही विलासवती प्रिया है जिसके लिए मैं प्राण देनेको तैयार हुआ था और जिसके कारण इतने बड़े संकटमें आ पड़ा हूँ. आँखोंके आगे अपनी प्यारी-की ऐसी दुर्गति देख कर विलासको कैसे धीरज होता ? अपनी आँखोंसे निकलते हुए आँसुओंकी धारा रोकनेके लिए इस समय उससे कुछ भी उपाय नहीं हो सका. इसी समय विलासवती सिसक सिसक कर रोतीसी मालूम हुई और अपने उद्धारके लिए पतिरूप सहायकारी नौकाके आ मिल-नेकी आशायुत व्याकुलतासे चारों तरफ देखती हुई जान पड़ी. इस तरह चारो ओर देख देख कर जब वह थक गई परन्तु बहुत देरतक कोई भी उसे दिखलाई नहीं दिया तब निराश होनेसे शोकके मारे उसे मूर्छा आ गई और वह महलके ऊपर ही पछाड़ खाकर धड़ामसे गिर पड़ी. बहुत देरतक वह उसी अवस्थामें पड़ी रही, परन्तु उसका आश्वासन करनेके लिए वहाँ दासदासी आदि कोई भी नहीं आए.

का नहि पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय ॥

विलासतीको पछाड़ खाते देख कर मानो गहरा घाव लगा हो इस तरह विलास भी घबरा उठा. वृक्षकी पकड़ी हुई डाल टूट जानेसे वह भी उसी समय धड़ड़ड़ कर जमीनसे आ लगा. राजाको सम्बोधन कर बटुक बोला, वरेप्सु ! संसारमें सुखके लाभको देखा ? कहाँ माता पिता, कहाँ बंधु, कहाँ कुटुम्ब, कहाँ समृद्धि, कहाँ राजपाट, कहाँ अपनी अर्धांगना और कहाँ स्वयम् ! इस तरह सब अस्तव्यस्त हो जाने पर अपनी इतनी दुर्दशा होते हुए भी विलासको अभी संसार सुखसे कुछ अरुचि नहीं हुई. उसे तो फिर किसी उपायसे इस महादुःखसे छूट कर बड़ा सुख प्राप्त करनेकी इच्छा थी. परन्तु फिर भी वह उसमें कैसे फँसता है सो सुन.

इतना कह कर सब सभाको सुनाते हुए ऋषिपुत्रने विलासका वृत्तान्त फिर आरंभ किया. वह बोला ! जब विलासवर्मा जमीन पर गिरपड़ा तो

अपनी इच्छासे फिरता हुआ उसका एक जासूस वहाँ जा पहुँचा. वह देखता है तो वृक्षसे और कोई नहीं परन्तु उसका स्वामी विलासवर्मा ही गिरा है. पास जाकर उसने उसे सम्हाला और उठा कर बहुत समयमें चेतमें लाया. तब अपनी अवस्थाके लिए विलास उससे बड़ा खेद करने लगा. परन्तु गुप्तचरने उसको धीरज देकर कहा, "महाराज! यह घबरानेका समय नहीं है. धीरज रख कर दुःखसे छूटनेका कोई उपाय खोजना ही अपना कर्तव्य है. उठ कर बैठो. मुझको एक उपाय सूझा है. उचित जँचे तो उसे काममें लाओ." जासूसकी यह बात सुन कर विलास कुछ शान्त हुआ और वह कौन उपाय है सो पूछने लगा. दूतने कहा, "महाराज! आपके श्वशुरजी बड़े समर्थ हैं, इस लिए उनके पाससे कुछ सेनाकी सहायता माँगी जाय तो अपना संकट सहजहीमें दूर हो जायगा." विलासको यह विचार उचित जँचा. सेनाकी सहायता माँगनेके लिए उसने तुरन्त अपने उसी दूतको अपने दूरदेशमें बसनेवाले श्वशुरके पास भेजदिया.

कुछ दिनोंमें वह दूत एक छोटी, परन्तु, बलवान् सेना साथ ले आया और फिर विलाससे मिला. समय आधीरातका था, उसी समय वह अपने नगरमें महलके आसपास रक्षा करनेवाले शत्रुके सवारों पर एकादम टूटपड़ा और एकही सपाटेमें उन्हें पीस डाला तथा बहुत समयके वियोग दुःखसे दुःखी रहनेवाली विलासवतीको फिर अपने आश्रयमें ले लिया.

वह सोचने लगा कि अब मुझको यहाँ रहना चाहिए या नहीं. यदि रहूँ तो रक्षाके लिए क्या उपाय करूँ ? इतनेमें शत्रु राज्योंमें चारोतरफ खबर हो गई कि फिर शत्रु पूर्णबलके साथ उनपर चढ़ आया है. उनके एकत्र बलके आगे विलासका बल कुछ भी नहीं था. उन्होंने एकाएक विलासके नगरको घेर लिया और विलास उससे छूटनेको सब तरह निरुपाय हो गया. वह भाग भी नहीं सका. उसकी सेनाने कुछ समय तक तो टक्कर लिया, परंतु अंतमें शत्रुओंने महलमें घुसकर विलास और उसकी रानी (पत्नी) दोनोंको पकड़कर बाँध लिया. इतनाही नहीं परन्तु उन्हें अच्छी तरहसे सताया और मनभर पीटा भी. बहुतसे वीरोंकी तो ऐसी इच्छा थी कि इस दुष्टको एकदमही मार डालो परंतु सेनापतिकी इच्छा न होनेसे वे उसे बाँध कर साथ ले चले.

वरेप्सु! इस समय विलासके मनकी क्या अवस्था होगी इसका विचार कर; उसको जानकी थी. उसने विचार किया, 'अब मैं इस कालके मुँहसे बचनेवाला नहीं'. परंतु हाय! मेरी यह दशा होनेका क्या कारण है? क्या मेरे कुकर्म ही नहीं हैं? अरे जब मैं अकेला था तब मेरे कोई भी शत्रु मित्र नहीं था. अपने निर्वाहके लिए मुझको कुछ भी चिंता नहीं थी. परन्तु इस स्त्रीकी इच्छासे ही मैंने सारे संकट बटोर लिए हैं. अब इन संकटोंसे मुझको कौन बचायगा? अरे मैंने अपने हितचिंतक शान्तिसेनका कहना नहीं माना, परंतु अब मैं किस मुँहसे उसकी सहायता माँगूँ? प्रियबंधु! अब तो तुझको मैं अपना मुँह भी दिखलानेमें लज्जित होता हूँ. इस संसाररूप वनमें सब संकट, सब दुःख, सब अनिष्ट करके इस लोकका विगाड़नेवाला और परलोकसे गिरानेवाला काम है. अरे अरे! स्त्री सब कामोंकी जड़ है और सब अनिष्टोंका साक्षात स्वरूप है.'

इस प्रकार विलास अपने मनमें संताप कर ही रहा था, इतनेमें शत्रुसेनाके बीचमें एक बड़ी भयंकर गर्जना हुई. उसी समय वहाँ एक धनुषधारी बलवान् पुरुष आ पहुँचा. उसके धनुषसे बिजलीके समान एक ही साथ छूटनेवाले असंख्य बाण शत्रु योद्धाओंके मर्मस्थानको छेदने लगे. सारा दृश्य क्षणभरमें बदल गया. भाग भाग और हाय हायकी पुकार मच गई, एकाएक ऐसी भगदड़ देख कर सेनापति घबरा उठा और सैनिक लोग जी लेकर भागने लगे, परन्तु इससे उनकी रक्षा होना संभव नहीं था. स्मरणगामी शान्तिसेनके बाणोंके मारे वे पीछेही को हटते जाते थे. चारों तरफ आतंक छा गया, घबराहट बढ़ गई, हाहाकार मच गया समय देख कर शत्रुओंने उसी समय विलासको शान्तिसेनके अधीन कर हार मान ली और संधि करनेकी विनय की. संधिकी शर्तोंमें निश्चय हुआ कि सब राज्य मिलकर विलासको अमुक राज्यका भाग देओ और उसके काममें बाधा मत दो.

इस तरह विलास बंधन मुक्त हुआ, और अपने बड़े भाई शान्तिसेनके पैरों पर गिर पड़ा. फिर भी शान्तिसेनने अनेक उदाहरणोंसे उसको पहलेके समान बहुत कुछ समझा कर कहा कि, "तुझसे कहते कहते मेरी जीभ घिस गई कि इस विश्वारण्यमें सच्चा सुख नहीं है. सुखका आभासरूप सिर्फ दुःख ही है, जैसे सीपमें चाँदीका भ्रम होता है, परंतु वह चाँदी नहीं है वैसे ही संसारमें सुखकी भ्रान्ति होती हैं, परन्तु सुख नहीं है तो भी तू नहीं समझता और ऐसे ऐसे प्राणान्त संकटोंमें आ पडता है तो भला अब

तो कुछ विचार कर. आजतक जो हुआ सो हुआ, परंतु अबसे तेरे पास जो कुछ है उसीमें संतुष्ट रह. विशेष सुखकी तृष्णा न कर. ऐसा कह कर शान्तिसेनने उसको राज्यारूढ़ किया और विलास अपनी प्यारी पत्नी सहित फिर संसार सुखका अनुभव करने लगा.

मायारूप संतति.

इस तरह विषयसुख भोगते हुए बहुतसा समय बीतजाने पर भी मालूम नहीं हुआ. बहुत दिनोंसे दाम्पत्य सुख भोगते रहनेसे उसके मधुर फलरूपसे विलासको एकाधिक पुत्रकी इच्छा हुई और देखते देखते वह भी थोड़ेही दिनोंमें पूर्ण होगई. उसके एक एक कर पाँच पुत्र पैदा हुए * वे जवान भी हुए. विलास अपनेको धन्य मानने लगा. परन्तु वे लड़के उसके समान ही निकले! वे बहुत उन्मत्त और बुरे कामके करनेवाले हुए और व्यभिचार, निर्दयता, राजद्रोह, विग्रह (लड़ाई) आदि नीच कामोंके द्वारा विलासको सताने लगे. पहले तो उन्हें प्यार (लाड़) करके मुँह लगाया और अब यदि कुछ कहता तो वे बराबरी करते थे और दण्ड देने पर वात्सल्यके कारण विलासवती उनका पक्ष लेकर उसके सामने होती थी. इससे दिनों दिन पतिपत्नीके दाम्पत्य प्रेममें अन्तर पड़ता गया, घरमें दुःखने डेरा डाल दिया. राजपुत्र अपने पिता राजा विलासवर्मा और परस्पर लड़ाई करने लगे और राज्यमें ऊधम मचाने लगे. ऐसा करने पर उनको जब कभी विलास दबाता तो वे अपना अपना राज्य भाग बाँट देनेका दबाव डालते थे. टंटा मिटानेके लिए विलासने वैसा करना निश्चय कर उनको उचित रीतिसे भाग करके दे भी दिया, परन्तु वह उनको न रुचनेसे उन्होंने अपने पिताको कैद कर या मार कर बीचसे अँटकावके काँटेको दूर करनेका प्रस्ताव किया. क्योंकि वे यह समझते थे कि पिताने राज्यका बड़ा भाग 'अपने लिए रख कर' बाकी हम लोगोंमें बाँट दिया है, और हम पर अंकुश रखनेकी इच्छा रखता है. विलासको यह विचार मालूम होते ही वह बेतरह घबराया और जी बचानेका उपाय सोचने लगा. अपनी जिस स्त्री विलासवतीके लिए उसने अपार कष्ट सहे थे उससे भी अनबन होगई थी, इससे उसको बातें करनेका भी सुभीता नहीं था. इस समय उसकी स्त्री, लड़के, धन राज्य आदि सब सुख, शिवकंठमें रहने वाले हलाहलके

* विलाससे पैदा होनेवाले पुत्र काम, क्रोध, लोभ, मोह, और मत्सर हैं.

समान हो गए. और उनसे अपने शरीर और आत्माकी अब कैसे रक्षा करे यह उसके लिए बड़ा गम्भीर प्रश्न होगया. अन्तमें उसने सब लालसा छोड़, छिप कर भाग जाना उचित समझा तथा कोई जान न जाय इस लिए जैसे अंग राजा अपने लड़के वेन और अपनी स्त्रीके दुःखसे भयभीत होकर रातको भाग निकला था वैसे ही विलास भी एक रातको वहाँसे सदाके लिए भाग निकला.

सुखकी शोध.

नगर छोड़ कर वह एकान्त जंगलमें एक घने वृक्षके नीचे जाकर बैठगया और बीतनेवाली दुर्घटनाओंसे मूर्ख बन कर आगे पीछेके सब प्रसंगों तथा आए हुए दुःखोंको याद कर जोरसे रोने लगा. कुछ समयमें जब शान्त हुआ तो विचार करने लगा, "अहो ! इस संसार (विश्वारण्य) में क्या कहीं पर सुख ही नहीं है ? क्या शान्तिसेनका कहना ही सत्य होगा ? चाहे जो हो, परन्तु मुझको विश्वास कैसे हो ? ये हजारों और लाखों मनुष्य जो सुखमें निश्चिन्त डोलते फिरते हैं क्या सुखी नहीं है ? परन्तु हाँ, इससे इतना तो अनुभव करनेका हेतु मिलता है कि सुख शायद दैवाधीन हो. तो अपने दैवको अनुकूल करनेके लिए अब मुझे यत्न करना चाहिए. ऐसा निश्चय करके उसने संसार सुख प्राप्तिके लिए एकान्त वनमें जा,सुखके अगाध सिंधुरूप श्रीभगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिए उग्र तप आरंभ कर दिया. जब मनुष्य एक वस्तुसे हैरान हो जाता है तो दूसरी वस्तु पर एकाग्र चित्तसे ध्यान देता है. विलासवर्मा भी इस संसारमें श्रेष्ठ सुख प्राप्त करनेके लिए अनेक खटपटें करके थक गया था. इस लिए वह एकाग्र मनसे शंकरके भजनमें तल्लीन हो गया. पहले उसने वनफल खा कर एक महीने तक तप किया, फिर फूल और पत्र पर रहने लगा. इस तरह तीन महीने बीतने पर, सिर्फ जलके आहारसे और भी तीन महीने रहनेका संकल्प किया. ऐसे बड़े कष्टसे उसके शरीरमें सिर्फ रक्तमांस और सूखी हड्डियाँ रह गई.—वह–अस्थि पंजर मात्र रह गया. ऐसे उग्र तपसे भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए. उन्होंने अपने परिवार सहित प्रकट हो कर संसार सुखकी कामना करनेवाले विलासको दर्शन दिए. विलासवर्मा मृतप्राय हो रहा था. उसमें उठने, विनय करने या बोलने आदिकी भी शक्ति नहीं थी. शंकर भगवानने उस पर अपने जटाजूटका गंगाजल सींच

कर सचेत किया और फिर कहा, ' भक्त ! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूँ, इस लिए तेरी जो इच्छा हो वह वर माँग.' उमापतिको देखकर विलासवर्मा हर्षित हुआ और खड़ा हो कर साष्टांग नमस्कार कर बोला, प्रभो ! देवोंके भी देव महादेव ! आज मैंने आपके दर्शन पाये इससे मुझ पापीके भाग्यका पार नहीं है. ईश्वर ! आप अंतर्यामी हैं इससे सबके मनकी जानते हैं, परन्तु आज्ञा करते हैं तो माँगता हूँ. देव ! इस जगत्में सबको सुख देनेवाले आप हैं और मैं सुख पानेकी इच्छासे अनेक उपाय करके हार गया हूँ तो भी आपकी कृपा विना सुख प्राप्त नहीं कर सका. इससे कृपा कर मुझे अब इस विश्वारण्यका सर्वोत्तम सुख दो. ऐसे वचन सुन कर शंकर बोले, ' राजा ! धन, राज्य, समृद्धि, स्त्री, पुत्र, मान, महत्ता, आयुष्य, विद्या, बल, इत्यादिमेंसे जो कुछ अच्छा लगे सो माँग, परन्तु तू जो एक सर्वोत्तम सुख माँगता है, वह मैं तुझे किस तरह दूँ ! वैसा निराला सुख तो संसारके बनानेवाले (स्रष्टा) ने इस संसारमें पैदा ही नहीं किया. तू जैसा सुख माँगता है वैसा सुख तो इस संसारमें है ही नहीं परन्तु जो कुछ सुख माना जाता है, वही सिर्फ मैंने तुझसे कहा है, और वह सुख धन राज्यादि समृद्धियोंके अंग हैं. इस लिए उनमेंसे तुझको कौनसा सुख दूँ सो कह.' भगवान् शंकरके ऐसे वचन सुन कर राजा बोला; 'प्रभो, इन सबमें जो सर्वोत्तम सुख है वह मुझे दो.' शिवजीने कहा, ' राजन् ! इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले ये सब विषय सुख बराबर ही हैं, अर्थात् ये सुख अनुभव करनेवालेको समान ही आनन्द देते हैं, परन्तु तटस्थ देखनेवालेको ये छोटे बड़े या कम ज्यादा लगते हैं, इसका कारण सुखके भोगनेवालेकी छोटी बड़ी योग्यता (स्थिति) है. राजाको रानीका और सुअरको सुअरीका संग वास्तवमें एकसा आनन्द देता है, परन्तु देखनेवालेकी नजरमें राजाका आनन्द श्रेष्ठ और सुअरका बिलकुल तुच्छ लगता है, वह सिर्फ राजा और सुअरकी श्रेष्ठ (उत्तम) और कनिष्ठ (हीन) स्थितिके कारण है. इस लिए जगतमें तुझको जिसका जो सुख उत्तम लगता हो उसका जैसा समान सुख भले ही माँग ले.' राजाने कहा, ' कृपानाथ ! ऐसा उत्तम सुखी कौन होगा यह तो मैं जानता नहीं ! इस लिए आपकी आज्ञा हो तो मैं सबको देख आऊँ और तब उस जीवके सुख जैसा सुख माँगू.' ' अस्तु, अपने इच्छित सुखकी खोज कर तू फिर इस जगहमें आकर मेरी याद करना, मैं

तुझको वर दूँगा.' ऐसा कह कर श्रीशंकर भगवान् उसी समय वहाँसे अंतर्धान होगये ! और राजा उन्हें प्रणाम कर, जगत्में सबसे श्रेष्ठ सुखकी खोज करनेको चला.

अनेकानुभव.

सृष्टि वर्गकी गिनती करनेके समान विलास पहले प्रत्येक वर्णके सुख खोजने लगा. उसको सबसे श्रेष्ठ ऋषि मुनियोंसे, जिनका अनुभव उसे शुभमति गिरि पर हुआ था संक्षेपमें ही निश्चय हुआ कि 'यह सुख अपने कामका नहीं है. इस विश्वारण्यमें ब्रह्मवेत्ता मुनिगण सबसे श्रेष्ठ और पवित्र कहलाते हैं, परन्तु उनके समान दुःखी कोई भी नहीं है. सुखका तो उनके पास नाम भी नहीं है. सुखकी बातें तो दूर रहीं, उनको शान्तिसे खाने पीने बैठने सोने या बातचीत करनेका भी अवकाश नहीं मिलता. वे नित्य अपने कर्म उपासना वेदाध्ययन, जप, तप और यज्ञयागादिकोंमें लगे रहते हैं. उनकी स्त्री और लड़कों आदि की भी यही दशा है. अपनेको वे चाहे जितना सुखी मानते हों या इसके बाद परलोक आदिमें वैसे सुखी होनेकी आशा रखते हों, परन्तु मुझको यह सुख नहीं चाहिए. हमारे क्षत्रिय वर्णका सुख कैसा है, इस विषयका विचार करनेसे मालूम होता है कि क्षत्रिय राजा ब्राह्मणोंको छोड़ कर बाकी सब वर्णोंसे श्रेष्ठ है. इतना ही नहीं परन्तु वह सब प्रजा पर राजसत्ता चलानेवाला है. धन, धान्य, सम्पत्ति, सेनादि, दास दासियाँ, इन सब सुखके साधनोंका स्वामी है. परन्तु क्या उसका जैसा सुख मैं माँगूँ ? छिः ! छिः ! मैं भी तो राजा ही था न ? हमारे क्षत्रिय वर्णके राजा जो सुख भोगते हैं, वे सुख साधन सभी मेरे पास थे, उस दशामें भी मैं राज सुखकी झलकके सिवा अधिक सुख नहीं प्राप्त कर सका. अरे ! इसमें तो सुखका आभास मात्र परन्तु दुःखका अपार सागर भरा है ! प्रजाका पालन करने, उनको राजी रखने, शत्रुओं और चोर आदि अनेक उपद्रवोंसे उनकी रक्षा करने और उनके पाससे कर (लगान) आदिके लेनेमें अनेक दुःख हैं. फिर इन दुःखोंसे प्राप्त होनेवाला राज्य भी तो अकेले सुखपूर्वक भोगा नहीं जा सकता. उसके लिए, मेरे समान अपने कुटुम्बमें भी बहुत दुःख पैदा होते हैं, और अंतमें प्राण या राज्य छोड़नेका अवसर आता है. इस लिए यह सुख भी मुझे नहीं चाहिए.'

ऐसा निश्चय कर राजा विलासवर्मा एक साधारण मनुष्यके वेशमें, सुखी मनुष्यकी खोज करनेको अनेक देश, नगर, वन गाँव और रमणीक स्थानोंमें भ्रमण करते हुए एक बड़े और सकल समृद्धिसे पूर्ण शहरमें जा पहुँचा. पहले वहाँ उस शहरके रास्ते रास्ते और गली गली फिर कर वह उसकी शोभा संपत्तिसे आश्चर्य चकित हो गया. वहाँका प्रत्येक मनुष्य और जीव उसको महान् अद्भुत सुखका अनुभव करते हुए माळूम हुआ. वहाँके पुरुष मानो सुन्दरता (लावण्य)के पुतले ही थे. वे अत्यंत अमूल्य और विचित्र कपड़े तथा जेवर पहरनेवाले, अतर, फुलेल, चन्दन, केसर कस्तूरी इत्यादिका सेवन करनेवाले, सदा मीठी चीजोंका भोजन करनेवाले, रथ, म्याना, पालकी, आदि सवारियोंमें सवार होकर आनंदसे विचरनेवाले और बहुत रमणीय तथा सुशोभित ऊँचे महलोंमें रहनेवाले दिखलाई दिए. उसे जगह जगह राग रंग नाचगीत और आनन्द ही आनंद देखनेको मिला. पहले तो उसको ऐसा लगा कि, अहा ! यहाँ तो सभी सुखी हैं. दुःखका नाम भी सुननेमें नहीं आता ! यह तो सुखका ही नगर है ! यह निस्सन्देह मेरे पसंदकी जगह है. परन्तु इसमें अब यह देखना है कि सबसे सुखी कौन है ? इसका निश्चय करके उसके जैसा सुखका वर शंकरसे माँगूँगा.'

महात्मा वटुक बोला; वरेप्सु ! ज्यों ज्यों कोई वस्तु अधिक सहवास या उपयोगमें आती जाती है, त्यों त्यों मनुष्यको उसकी महत्ता कम लगती और उसकी आवश्यकता (अभाव) बढ़ती जाती है. वह चाहे फिर बड़े ही महत्वकी क्यों न हो तो भी क्या हुआ अधिक साथ रहनेसे छोटेसे छोटा दोष भी जाननेमें आजाता है. विलासको भी ऐसा ही हुआ. पहले उसे सभी सुखमय लगा था परंतु धीरे धीरे उसमें भेद दीखने लगा और वह मनुष्योंकी ऊपरी स्थिति देख कर अमुक जन सुखी है या बहुत दुःखी है और यह थोड़ा सुखी है इत्यादि दिखावे परसे अनुमान करने लगा. इस लिए ऐसे सुखी दीखनेवाले मनुष्योंसे वह उनके सुखके विषयमें पूछने और जहाँतक हो सका वहाँतक सूक्ष्म रीतिसे खोज करने लगा.

प्रसंग पहला—सत्ता वैभवमें भय.

एक दिन विलास उस नगरके राजपथ पर फिर रहा था, इतनेमें, उसे बड़े धूमधामसे आती हुई एक सेना दिखी. सेनामें विचित्र कपड़ों और जेवरोंसे सजे हुए असंख्य वीरसैनिक अमूल्य घोड़ों पर खुले हथियारों सहित

बैठे हुए थे वहाँ नाना प्रकारके बाजे बज रहे थे. सेनाके बीचमें एक सुन्दर और ऊँचा पुरुष था. वह बेश कीमती हीरा मोती पहरे था. और सोनेसे सजे हुए हाथी पर रत्न जड़ित अम्बारीमें बैठा हुआ था। उसके दोनों ओर चँवर डुल रही थीं. उसके रूप सौन्दर्य, वस्त्रालंकार और समृद्धिकी शोभाका पार नहीं था. सेवक लोग खम खम कर रहे थे. वंदीजन (भाट) यशोगान करते थे. रास्तेके दोनों तरफ बने हुए महलों और अटारियोंसे नगरकी सुन्दर स्त्रियाँ उस पर अनेक तरहके फूलोंकी वर्षा कर रही थीं. आगे आगे चोपदार विरुदावली सुना रहा था और नगरनिवासी बार बार उसके दीर्घायुकी कामना कर, जय जयकारकी ध्वनि करते थे. यह पुरुष उस नगरका राजा था. विलासने उसकी ऐसी समृद्धि और शोभा देख कर निश्चय किया कि बस इसके सुखके आगे और सब धूल है. इसके समान सुखी कोई भी नहीं है. इस बातका निश्चय करनेके लिए उसने नगरके लोगोंसे ठीक ठिकाना पूछा. इससे भी उसको निश्चय हुआ कि यह राजा सब तरहसे सुखी है. प्रजाका प्रेम, उसके प्रधानसे लगा कर एक छोटे सिपाही तक सब नौकर आज्ञाकारी, स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब और बंधुजनोंमें पूर्ण मेल और शांति, धनधान्यसे भरे हुए भंडार और स्वस्थ शरीरको देखते हुए उसके जैसा इस संसारमें सुखी और कौन है ? उसके सुखमें किसी बातकी कमी नहीं थी. अज्ञानसे घिरा हुआ विलास आगे न बढ़ कर उसीके समान सुखकी अभिलाषा करने लगा.

परन्तु इस बातको एक दो दिन भी नहीं हुए थे इतनेमें आगेके रास्तेसे विलास लौट रहा था, उस समय उसे कुछ जुदा ही देखनेको मिला. उसने उसी राजाको महा भयंकर कवच (जिरह बख्तर) टोप आदि लड़ाईके सामानसे सजे और वैसे ही सैनिकों तथा घोर गर्जनावाले युद्ध बाजोंके शब्दों सहित शीघ्रतासे जाते हुए देखा. सारे नगरमें इस समय आनंदके बदले भय छा रहा था. सब प्रजा इसी चिन्तामें निमग्न थी कि न जाने अब क्या होता है ? पूछनेसे मालूम हुआ कि यह राजा किसी चढ़ाई करनेवाले बड़े शत्रुको हटानेके लिए जा रहा था और उसको वहाँ जय मिलेगा या नहीं, इस लिए भारी चिन्ता थी. विलासने सोचा अरे अरे ! यह तो मेरी ही नाईं दुःख द्वंद्वोंसे घिरा हुआ है. राजाको किस बातका सुख है ? इसकी उपाधिका तो पार ही नहीं है. सचा सुख तो किसी निरुपाधिक मनुष्यहीको होगा.

प्रसंग दूसरा—सुख नहिं सोवे आपो आप.

एक दिन वह ऐसे विचारोंमें चला जा रहा था, इतनेमें उसके सामनेवाले रास्तेसे एक गाड़ी आते दिखी. उसमें एक बहुत मोटा ताजा आदमी बैठा हुआ था. उसके लक्षणोंसे जान पड़ता था कि वह कोई बड़ा गृहस्थ था. गाड़ीके आगे आगे दो नौकर रास्ता चलनेवालोंको हटानेके लिए "चलो हटो" कहके दौड़ रहे थे और कुछ नौकर चलती हुई गाड़ीकी दोनों बाजूकी पाँवड़ियों पर सेठका हुक्म बजानेको खड़े थे. धम धम धम कर गाड़ी चली आती थी. रास्तेके लोग सेठको सिर झुका कर प्रणाम करते थे. ऐसे धूम धामसे सेठको आते हुए देख कर विलासने विचार किया, वास्तवमें यह कोई महासुखी जीव मालूम होता है इसको कोई भी रोग दुःख नहीं है. इतनेमें सेठने गाड़ी खड़ी करनेको कह कर बाजूमें खड़े हुए एक नौकरसे कुछ कहा. नौकर तुरन्त उतर पड़ा और गाड़ी आगे चली गई. उतरा हुआ नौकर उसी रास्तेको लौटा जिससे गाड़ी आई थी. विलास उसके साथ होगया, और धीरेसे उससे बातें करने लगा. विलास बोला; "क्यों भाई, इस गाड़ीमें बैठकर कौन गया" नौकरने कहा; तुम नहीं जानते ? 'यह नगर सेठ हैं.' विलासने पूछा; यह बहुत सुखी हैं यह बात ठीक है न ? नौकरने कहा; इसमें क्या पूछना है ? इनके समान आज कौन सुखी होगा ? इनसे पूछ कर राजा भी काम करता है. इनका नाम सारे नगर और देशमें किसीसे छिपा नहीं, इनके यहाँ लक्ष्मीका पार नहीं, इनके घरमें हजारों नौकर चाकर, इनके यहाँ बहुत बड़ा पुत्र परिवार, इनके यहाँ दान धर्मकी थाह नहीं, इनकी कोठियाँ देश देशान्तर और शहर शहरमें है, जिनमें लाखों और करोड़ों रुपयोंका लेन देन होता है; इनके सुखका क्या कहना है ! विलासने पूछा; 'अच्छा, तुम उनके खास नौकर हो, न ? उन्हें छोड़कर तुम पीछे क्यों फिरे ?' नौकरने कहा देशावरकी एक कोठीसे कुछ गलतीकी खबर आई है इस लिए उसमें क्या गड़बड़ है यह जाननेके लिए गुमास्तेको सेठके घरमें वही बस्ता लेकर आनेके लिए दूकान पर कहने जाता हूँ. आजकल राज्यमें भी गड़बड़ मची हुई है. उसके लिए भी चिन्ता होरही है कि न जाने क्या होगा ? जहाँ लक्ष्मीबाई होती है वहाँ, जहाँ लक्ष्मीबाई नहीं होती वहाँसे तोफान आ पड़ते हैं.' विलास

बोला; 'तब तो सेठको आजकल अच्छी तरह जागना पड़ता होगा?' नौकर बोला; "जी हाँ, परन्तु इनकी सावधानी तो निरन्तर ऐसी ही रहती है इस लिए कोई भी नौकर चाकर भूल नहीं कर सकता. ये स्वयमही सब काम जाँच करते हैं. इससे उनको पूरी नींद लेनेका भी अवकाश नहीं मिलता.' विलास बोला; 'तब तो इन्हें भारी दुःखी कहना चाहिए. इतनी समृद्धि होते हुए भी सुखसे सोनेका अवकाश नहीं, यह क्या ?' नौकरने कहा; 'जानते नहीं कि छोटेको छोटा जंजाल और बड़ेको बड़ा जंजाल रहता है. सुखसे सोवें तो दूसरे ही दिन दिवाला न निकालें ?

इतना कह कर वह कुछ जल्दीसे चलने लगा. तब विलासने सोचा; 'बस हुआ, खूब पाया. जितना बड़ा उतना ही बुरा. बाहरसे सिर्फ सुखी दीखता है, अन्यथा इसके दुःखका तो पार ही नहीं है. इसकी हालत तो कुत्तेसे भी गई बीती है. यह काहे का सेठ ? यह तो पैसेका नौकर है. जो मनुष्य पैसा जमा करने और उसकी रखवाली करनेको ही पैदा होता है उसको स्वप्नमें भी सुख नहीं है. ऐसा सुख मुझे नहीं चाहिए. मुझे तो उपाधि रहित अखंड सुख चाहिए.' ऐसा विचारते हुए वह वहाँसे पीछे फिरा.

विलासको अब धन और बड़प्पनसे घृणा होगई. वह ऐसा समझ कर कि उनमें तो सुख है ही नहीं, साधारण स्थितिके मनुष्योंकी ओर अवलोकन करने लगा.

प्रसंग तीसरा—ब्याहेको पीड़ा और कुँवारेको लालसा.

एक रातको विलासने एक हट्टे कट्टे जवानको सुन्दर कपड़े पहने हुए एक तंबोलीकी दूकानके आगे खड़ा हुआ देखा. उसको देखनेसे मालूम होता था कि वह नीरोग (स्वस्थ) और निश्चिंत था उसे किसीकी भी परवा नहीं थी. तंबोलीने उसको आदरसे बैठाया और अच्छा बीड़ा बनाकर दिया. इतनेमें वहाँसे उसका कोई जान पहँचानका आदमी निकला। उसने उसे भी पास बुलाकर बैठाया और पान बीड़ी दी. फिर निश्चिन्त होकर वे गप्पें मारते हुए आनन्दमग्न दिखे. यह सब विलास दूरसे देख रहा था. उसे मालूम हुआ कि यह लट्ठ भारती और उसका वह मित्र ही सुखी है. अपने मनको सन्तुष्ट करनेके लिए वह उनके पास गया और एक ओर छिप कर खड़ा होगया. इतनेमें वह युवा कहने लगा; क्यों भाई, अब तो तुम मिलतेही नहीं ? उस बातका क्या किया ?

तब उस मित्रने कहा, 'भाई, उतावली क्यों करते हो ? धीरे धीरे सब बातें अच्छी होंगी. भला विवाहके काममें उतावली करनेसे कैसे बनेगा ? यह सुनकर उसने कहा भाई, तुम जानते हो कि उसके बिना मेरी कैसी दशा होरही है, जबसे उसको देखा है तबसे नींद नहीं आती और न अन्नही भाता है. जब किसी भी उपायसे उससे साथ ब्याह होजायगा तब मुझको चैन पड़ेगा. अगर गृहस्थाश्रम करना हो तो वैसी स्त्रीके साथ करना चाहिए नहीं तो ब्रह्मचर्यमें आयु बिताना ही अच्छा. तुम भी तो जबसे गृहस्थाश्रमी हुए तभीसे सुखी हो, नहीं तो पहले क्या कहते थे ? ' यह सुन उसका मित्र सिरपर हाथ रखकर बोला; 'भाई क्या कहूँ ? ब्याहके लड्डू खाय वह भी पछताय न खाय वह भी पछताय. जब तक ब्याह नहीं हुआ था तब तक मुझको भी तुम्हारी ही नाईं मालूम होता था कि जो कुछ सुख है वह सब विवाह करके संसार सुख भोगने, पुत्रोंको प्यार करने और विवाह कर पोषण करनेमें ही है. परन्तु अब सब मनोरथ पूरा हुआ. जैसे कोई बड़ा कैदी हो उस तरह मैं अनेक तरहकी सांसारिक बेड़ियोंसे जकड़ा हुआ हूँ. क्या करूँ शास्त्रकी आज्ञा माननी पड़ती है, नहीं तो इन सारे प्रपंचों (घर बार स्त्री पुत्रादि सब) को छोड़कर त्यागी बनजाता.

विलास इतनेसे ही दुखित हो कर बोला; 'अरे ! यह दोनों तो महादुखी दिखाई देते हैं एक को ब्याह न करनेका दुःख है तो दूसेरको ब्याहे जानेकी पीड़ा है. रे सुख ! तू कहाँ है ? ऐसा कह वह लम्बी साँस छोड़ कर वहाँसे चलता बना और विचार करने लगा; इन दोनोंकी बातें सुननेसे तो वास्तवमें ऐसी लगती हैं मानो गृहस्थाश्रममें कोई जरा भी सुखी नहीं है. इस लिए संसारको त्याग कर उपाधि हीन होनेमें ही सुख भरा होगा.

प्रसंग चौथा—संन्यासीको क्या सुख है ?

ऐसे विचारसे वह संन्यासियोंके मठ, पर्णकुटी (पत्तोंकी झोपड़ी) और मन्दिरोंकी खोज करने लगा परन्तु वहाँसे कुछ सार खोज कर नहीं लासका. फिरते फिरते एक दिन उसने राजपथ पर एक संन्यासीको जाते हुए देखा. सन्यासीके एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें जलसे पूर्ण कमण्डलु था. लज्जाकी रक्षा करनेके लिए उसके पास सिर्फ एक लँगोटी पर लिपटे हुए भगवा वस्त्रके एक टुकड़ेकेसिवा दूसरा कोई कपड़ा नहीं था. मुँहसे वह

प्रणव शब्दका जाप करते हुए एकाग्र दृष्टिसे चला जारहा था. जो लोग उसे रास्तेमें प्रणाम किया करते थे, उनसे वह "नारायण नारायण" कहता था. विलासने सोचा, यही सचा सुखी है. इसके जब कुछ भी स्पृहा (इच्छा) नहीं मालूम होती, तब उपाधि तो फिर होवे ही किसकी ? ऐसा सोच कर वह बहुत दूर तक उसके पीछे पीछे गया. इतनेमें एक मुहल्लेके नाकेके पास स्वामीजी कुछ देरको खड़े हुए इतनेमें वह दण्डवत् करके बोला; कहिए महाराज ! दुःखोंसे त्रास पाये हुएको संसारमें सुखरूप रास्ता कौनसा है ? 'स्वामी बोला; संन्यस्थके समान दूसरा मार्ग ही नहीं है. इसके द्वारा लोग संसारके सब दुःखोंसे मुक्त होजाते हैं, और उनको परमपदकी प्राप्ति होती है' विलास बोला; 'ऐसा हो तो मुझको इस विपयकी बहुतसी बातें जाननी है. क्योंकि मैं भी'—वाक्य पूरा होते न होते स्वामी वहाँसे चल पड़ा और बोला, भाई यह बात तो पीछे होगी अभी तो मुझको भिक्षाके लिए जाना है. भिक्षा न मिलनेसे कल दिन भर उपवास हुआ और आज भी दोपहर होनेपर है तो भी ठिकाना नहीं है. इस लिए समय बीत जायगा तो कहीं ठिकाना न लगेगा ! तू किसी दूसरे समय मेरे आश्रममें आना.'

हरे ! हरे ! यहाँ तो और भी दुःखका पहाड़ दीखता है ! ' विलास अपने मनमें विचार करने लगा, 'इस संन्यासमें तो श्रीगणेशमें ही भोजनोंकी बाधा है. पेटके लिए नित्य उठ कर दूसरेकी आशा. इतना होने पर भी स्वामीजी संन्यासके समान और सुख ही नहीं मानते. हुआ, बस यहाँपर भी खूब पाया.

बटुक बोला; वरेप्सु ! इस तरह विलासवर्मा सब जगह फिर फिर कर असंख्यात प्रयत्न कर ब्राह्मणादिक चारो वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि चारो आश्रम और दूसरी प्रत्येक जातिके असंख्य मनुष्योंकी स्थिति देख देख कर हार गया, परन्तु उनमें उसे कोई भी मनुष्य सुखी नहीं दिखा: इससे वह निराश होकर मनमें बड़बड़ाया, 'मैं सोचता हूँ कि नर जाति दुःखरूपही पैदा हुई है, परन्तु स्त्री जाति उसमें नहीं है. क्योंकि पुरुषके सिर पर तो संसारका सब भार रहता है, परंतु स्त्रियोंको क्या है ? पुरुष कमाता और वे तो खा पीकर तागड़धिन्ना ही किया करती हैं. इस लिए स्त्रियाँ ही वास्तवमें सुखकी भोगनेवाली होंगी. उनको कमाने धमानेकी

चिन्ता होतीही नहीं क्योंकि पुरुषकी कमाई पर मौज मारा करती हैं. पुरुष तो स्त्रीका एक प्रकारका नौकर और स्त्रीके सुखका एक साधन है. इस लिए इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियोंको ही सुख होना चाहिए यदि रामा हो और साथ ही रमा (लक्ष्मी) भी हो तथा विनयी और बुद्धिशाली पुत्र हों, पुत्रोंकी संतति हो तो इससे अधिक सुख क्या होगा ? इस लिए संसारमें स्त्रियाँ ही वास्तवमें सुखी हैं.

प्रसंग पाँचवाँ—दुखी स्त्रियोंका दल.

ऐसे निश्चयसे फिरता हुआ विलास एक वार एक मंदिरके सामने खड़ा था इतनेमें अनेक पुरुष और मनमोहनी सुन्दरियोंकी टोली दर्शनकरनेके लिए आते जाते दिखी. दर्शन करके कुछ देरमें एक टोली वाहर आई. उसमें सब स्त्रियाँ ही थीं. उनकी लावण्यता और स्वरूप सौन्दर्यसे चकित हुआ विलास उनको देखते हुए उनके पीछे चलने लगा. उनके मंद मंद हास्य, मधुर वाणी और धीमी वातचीतसे विलास अपने मनमें कहने लगा, अहा ! यथार्थमें परमेश्वरने सुखको तो स्त्री जातिमें ही लाकर रक्खा है. इनमेंसे जरा भी किसीके मुँहपर दुःखका बोध नहीं होता. फिर यही नहीं कि वे स्वयम् सुखी हैं, परंतु अपने रूप सौंदर्यके कारण वे दूसरोंके मनको भी अपनी ओर खींचनेमें अहोभाग्य मानती हैं। वाह ! अब मुझको सच्चा पता लगा ! इतनेमें उनमेंसे एक स्त्रीको कुछ आगे पैर रखती हुई देख कर दूसरीको कहते सुना; 'क्यों कृष्णा ! हमारे साथ क्या अच्छा नहीं लगा ? यह सुन कृष्णा कुछ हँस कर बोली ' बहन ! ' ऐसा कहीं होसकता है ? जानती तो हो कि साँझ होनेको चली है पुरुषोंके घर आनेकी वेला है हमें अपनी सँभाल करनी है ? तब एक दूसरी बोली; ओ हो !! पतिवाली तो एक तुम्ही होगी; सबके घरमें पुरुष हैं और सबके घरमें काम भी है; परंतु तुम्हारी जैंसी तावेदारी तो कहीं नहीं देखी जाती. ' यह सुनकर पहलीने उत्तर दिया; 'कैसा बहन ! तावेदारी तो ठीकही है. स्त्री तो पुरुषकी तावेदार है ही ! पुरुषसे ही तो अपना निर्वाह है. विना पुरुषकी स्त्री विना शिरकी पगड़ीके समान है. सारेदिन काम कर जलवलके जो घर आते हैं उनके लिए क्या हमें इतनी भी सावधानी नहिं करनी चाहिए ? जहाँपर ऐसा नहीं होता वहाँ देखो न तकरार, टंटा, मारपीट, रोना कूटना और दुःखका ढेर लगा रहता है. ' इतनेमें

एक अधेड़ स्त्री बोल उठी; हाँ बाई ! तावेदार तो हजार वार. उनसे हम और हमसे वे हैं.' यह सुन कर वह स्त्री अलग हो कर चलती बनी, इतनेमें दूसरी भी जल्दी जल्दी चलने लगी. तब उनमेंसे एक स्त्री पीछे हो गई. इसको देख कर उस अधेड़ स्त्रीने कहा; ' बेटा, धीरे धीरे आ, उन सबको जाने दे. हम धीरे धीरे जायँगी.' यह सुन दूसरी स्त्रियाँ भी खड़ी होकर पूछने लगीं; ' क्यों बाई ! क्या इसके पेटमें गर्भ है ? कितने महीने हुए ? अभीसे इतनी कमजोर क्यों हो गई है ? अधेड़ स्त्री आँखोंमें आँसू भर कर बोली, ' क्या करें बाई ? ईश्वरकी मरजी. एक वार तो छठे महीने अधूरा गया और बड़ी बड़ी तकलीफें उठाईं और इसवक्त फिर भी यह अभीसे अशक्त हो गई है इससे मुझको तो जरा भी चैन नहीं पड़ता. अभागा है बाई अपना यह स्त्री अवतार ! प्रत्येक स्त्रीके सिर पर यह गर्भकी अवस्था बड़ी भयंकर और मौतकी निशानी है. फिर गर्भ पूरा होकर किसी तरह यदि छुटकारा भी मिलगया तो इतनेसे ही वस नहीं है.'

उस अधेड़ स्त्रीकी बातका अनुमोदन करते हुए एक दूसरी स्त्री गिड़गिड़ा कर बोली; हाँ बहन ! नहा धोकर राजीखुशीसे उठे तभी जानो उठी. देखो न मेरी इस देवरानीको (अपने पास खड़ी हुई एक स्त्रीकी ओर उँगली बताके) वारवार ऐसा होता है. इतना दुःख उठा और नहा कर उठती है तो भी बिचारीका लड़का नहीं जीता नहीं तो क्या सुन्दर रत्न जैसे तीन लड़के होकर चले जाते ?

यह सुन कर फिर भी एक दूसरी स्त्री बोली; " होगा बाई, लड़का पैदा तो होते हैं. किसी दिन ईश्वर खिलानेका भी समय लायगा. परन्तु मुझ जैसी अभागनीके दुःखोंका कहीं पार है कि जो लड़केका मुँह भी नहीं देखती ? क्या करूँ एकएक कर सात लड़कियाँ पैदा हुईं तो भी ईश्वरने अभी एक पुत्रकी आशा नहीं कराई.'

इतना कहते ही उसकी आँखें डबडबा आईं, तब उसके सामने खड़ी हुई स्त्री उसाँस लेकर फिर बोली; ' बहन, इतना क्यों कदराती हो ? पेट है तो प्रभु किसी दिन मीठा मुँह करायगा; परन्तु सोचो तो, मुझ जैसी अभागिनी, कि जिनकी कोख (कुक्ष) में ताला देदिया गया है भला अपने दिन कैसे काटती होंगी ? सवेरे उठ कर जिसका कोई मुँह भी न देखे या नाम भी न ले, ऐसी मुझ पापिनीका कोई जन्म है ?

ऐसा कह कर वह रो पड़ी उसे धीरज देकर वह अधेड़ स्त्री बोली; 'बाई इतना दुःख क्यों करती हो? अभी कुछ बूढ़ी थोड़ी ही होगई हो. धीरजका फल मीठा होता है. तुम्हारी नियत अगर अच्छी है तो ईश्वर कभी अच्छा दिन दिखायगाही. मेरी जिठानीको परमेश्वरने पचास वर्षमें पुत्र दिया. परन्तु इस विचारी दुःखवशाके (इस नामकी स्त्रीको आगे करके बोली) दुःखोंकी तो सीमा ही नहीं है. बिचारीने बहुतोंका हाथ पकड़ा यही भर है पर आज पन्द्रह वर्ष हुए कुछ भी नहीं होता. कहो अब इससे तुम कितनी अच्छी हो? इस लिए बाई! श्वशुर और मातापिताके कुलकी लाज रखकर सबूरीसे रहना ही अपना काम है. ईश्वर सब अच्छा ही करेगा! देखो न संसारमें किसको सुख है? विस्तार बढ़नेसे भी कहीं सुख होता है? कुछ नहीं. जैसा फोड़ा वैसी पीड़ा.' इतनेमें धम धम करती हुई पीछेसे एक गाड़ी आई, जिससे वे झटपट किनारे हो गईं और अपने अपने रास्ते चलती बनीं.

यह सुनकर विलास बिलकुल शान्त हो गया. वह जोरसे बोला, हरे! हरे! यहाँ तो एक नहीं अनेक दुःखोंकी नदियाँ वहती दिखलाई देती हैं. तो क्या सुखकी आशा मैं छोड़ दूँ? नहीं, नहीं, स्त्री और पुरुष ये दोनों तो संसारके जुएँ (बैलोंके कंधेमें डाल कर जिससे हल जोता जाता है) हैं, परन्तु बालकोंको इसकी पीड़ा नहीं होती. वे निरे निर्दोष होते हैं. इस लिए वहीं सुख होना चाहिए.' ऐसे विचारसे वह एक दूसरेके साथ जहाँ तहाँ आनन्द क्रीड़ा करते हुए बालकोंकी अवस्थाका सूक्ष्मतासे अवलोकन करने लगा.

प्रसंग छठा—शैशव अवस्थामें सुख नहीं है.

एक दिन वह एक तंग गलीके नाकेके पाससे होकर जारहा था, इतनेमें उसे वहाँ चारसे आठ वर्षतककी उमरके दस बारह लड़के खेलते हुए दिखलाई दिए. इनका खेल बिलकुल निर्दोष और मनोहर लगनेसे वह पास जाकर खड़ा रहा और वे क्या करते हैं यह एकाग्र चित्तसे देखने लगा. वहाँ एक बालक हाथमें सुन्दर खिलौना लेकर आया. उसको देख कर दूसरे लड़के जिनके पास वैसा खिलौना नहीं था, आतुरतासे उसकी ओर देखने लगे और एक तो रोते रोते अपनी माताको बुला कर वैसा खिलौना लाकर देनेके लिए सताने भी लगा. समझानेसे भी बहुत रोया, तब माता उसे मारने लगी और घसीट कर घर ले गई.

इतनेमें दूसरा बालक कुछ स्वादिष्ट पदार्थ खाते हुए वहाँ आया. दूसरे लड़के उस चीजको देख कर लालचमें आये इससे वह उन्हें भी थोड़ी थोड़ी देने लगा, यह देख कर उसकी मा घरसे बोली; 'क्योंरे गोपाल, खानेकी चीज क्या लड़कोंको बाँट देनेके लिए तुझे दी है? चल इधर आ, अपने बापको आने दे फिर तेरी बात है.' पिताका नाम सुनते ही लड़का भयभीत हो कर घरको चला गया.

तब किसीने फिर तीसरे लड़केको हाँक मारी 'क्योंरे गोविन्द! कब तक खेलेगा? खेल कर अबतक अघाया नहीं? चल, घर आ, बाहर ही बाहर फिरता रहता है, सीतमें शर्दी लग जायगी.' लड़का तुरन्त नीचा मुँह करके घर भाग गया.

इतनेमें फिर भी किसीने एक लड़केको बुलाया; 'हरि, ए हरि! सबकको तैयार किए बिना ही खेलनेको चला गया क्यों? पाठ याद करनेमें मुँह दुःखता होगा? गुरुजीको क्या उत्तर देगा? आनन्दसे खेलता हुआ वह लड़का एकदम चिन्तातुर हो गया और खेल छोड़ कर चला गया.

इतनेमें दो चार बालक हाथमें वही बस्ता लेकर वहाँसे जाते हुए दिखलाई दिये. उनको देखते ही ये खेलनेवाले सब लड़के बोले; 'आज तो बहुत विलम्ब हो गया, शालाका समय बीत गया, गुरुजी मारेंगे, जल्दी चलो! ऐसा कह कर सब झटपट खड़े हो गये और खेल छोड़ कर चलते बने.

यह देख कर विलास बिलकुल निराश हो गया; वह बोला; 'अरे निर्दोष बालकोंको भी आरामसे बैठने या इच्छानुसार खेलनेका सुख नहीं है, तो औरोंको सुख कहाँसे होगा?

प्रसंग सातवाँ–कुवारियोंका भय (त्रास).

इतनेमें आगे बढ़ते हुए उसने कई कन्याएँ आनन्द पूर्वक जाते हुए देखीं. ये कन्याएँ कपड़ों और जेवरोंसे सजी हुई देव कन्याओंके समान शोभती थीं. वह उनके पीछे पीछे जा रहा था. इतनेमें एक बोली, 'बहनों, जरा जल्दी चलो न, देर होगी तो मेरी मा नाराज होगी.' तब दूसरी बोली क्यों बहन, इतना बड़ा कौन काम है?' उसने कहा भला कूड़ा कचरा कब बुहारूँगी लोटा बर्तन कब मलूँगी और चूल्हा चौका कब करूँगी? सारा काम मैं ही तो करती हूँ! सिर्फ रसोई बनाना नहीं आती, तो भी मा रसोई बनाते समय मुझको पास बैठा कर रसोई बनाना सिखलाती है. रसोई बनाना

तो मैं कभीकी सीख गई होती, परंतु सीखनेसे थोड़ा रह गई. परंतु देखो न, गोदावरी यद्यपि मुझसे बड़ी है तो भी उसको रसोई नहीं आती इस लिए इसकी मा रोज दुःख रोया करती है.' यह सुन कर गोदावरी बोली; 'क्या करूँ बहन?' सारा दिन दूसरा काम करते बीते तो रसोई बनाना कैसे सीखूँ? न जाने कितने घड़े पानीके भरने पड़ते हैं. परंतु यह कृष्णा भी तो मेरी जैसी ही है. हाँ, यह पढ़नेको जाती है! यह सुन कृष्णा बोली, मुझको तो अपने छोटे भाई बहनको खिलाना पड़ता है. ऐसी बातें करते हुए एक गली आई उसीमें वे सब कन्याएँ चली गईं. विलास बिलकुल निराश हो कर पीछे लौटा. उसका सारा उत्साह अब बिलकुल भंग हो गया और उसकी सुख खोजनेकी आशा निर्मूलसी हो गई. उसका मुँह उतर गया और अब क्या करना चाहिए, इस विचारमें वह बहुत ही उदास हो कर इधर उधर भटकने लगा.

प्रसंग आठवाँ—अमृतमें विष.

इस तरह थक कर और उदास होकर विलास एक घरके चबूतरे पर बैठा था, इतनेमें कोई विचारशील, मनुष्य वहाँसे जाते हुए दिखा. उसे ऐसे शोचमें डूबा देख कर वह पास आकर विनयपूर्वक पूछने लगा; भाई, तुम कौन हो? और ऐसे क्यों बैठे हो? विलासने कहा; 'भाई मैं बटोही हूँ और जिस कामके लिए बहुत समयसे भटकता था उसके लिए आज बिल-कुल निराश हो जानेसे उदास हूँ.' उसने पूछा; 'कौनसा काम था?' इस पर विलासने उसे अपने सुख खोजनेकी सारी बीती हुई बातें बता कर कहा; 'भाई, मैं जगह जगह और मनुष्य मनुष्यकी जाँच कर चुका; ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्रादि चार वर्ण और दूसरे सब उपवर्ण, ब्रह्म-चर्यादिक चारों आश्रम तथा जंगम (चल) साधु और अभ्यागत वैरागी इत्यादि उपाश्रम, रागी, विरागी, त्यागी, रोगी, भोगी और जोगी; सेठ नौकर और साधारण नौकर चाकर तथा राजारंक और गुलाम प्रत्येक वर्गके मनुष्य, रानीसे लगा कर एक भिखारिन तक सब स्त्रियाँ और राज-पुत्रसे लगा कर बिलकुल दरिद्र तक सब बालक बालिकाएँ आदि सब मनुष्यों और उनकी स्थितिका बड़ी बारीकीसे अवलोकन किया है, परन्तु इन सबसे सिर्फ यही सार निकला कि उनमेंसे कोई भी सुखी नहीं है. उनमें फिर एक चमत्कार यह देखा कि जिसकी जैसी ऊँची स्थिति है उसको

एकाधिक ऐसा भारी दुःख होता है कि जिसके आगे दूसरे सब सुखोंको तुच्छ कहें तो भी अनुचित नहीं है. सब कहीं दुःख ही दुःख. जोगीको जोग और भोगीको भोगका दुःख है परन्तु सुखका कहीं लेश भी देखनेमें नहीं आता. क्या ईश्वरने सुख पैदा ही नहीं किया ?' यह सुन कर वह मनुष्य बोला; भाई पान्थ, तू भूलता है; क्या ऐसा कहीं बिलकुल अन्धेरा होता है, क्या जगत्में सुख है ही नहीं ? तुझसे खोज करते नहीं बना. इस नगरहीमें ऐसे अनेक सुखी मैं जानता हूँ जिनके सुखका पार नहीं है. यह सुन विलासने कहा; हाँ हाँ; परन्तु नगर सेठसे बढ़ कर तो कोई नहीं है न ? उसका सुख तो मैंने देखा है. उस पुरुषने कहा; 'अः नगर सेठ या उसके समान दूसरे लोगोंको तो धन इकट्ठा करने, बढ़ाने और उसकी रक्षा करने आदिकी अनेक चिन्ताएँ बनी रहती हैं, इससे वे तुझे दुःखी लगेंगे ही. परन्तु जिनको इस बातकी जरा भी चिन्ता नहीं होती और जो दूसरे सब सुखोंके भोगनेवाले हैं ऐसे अनेक लोग मैं तुझको यहीं बता सकता हूँ, और फिर उन सबसे एक साहूकार तो ऐसा भाग्यशाली है कि जिसको स्वप्नमें भी कभी दुःख नहीं हुआ है. वास्तवमें उसके सुखके लिए ऐसा कोई भी नहीं है जो स्वीकार न करे. संसारमें सुखका पहला साधन जो धन है उसका उसके घरमें अखण्ड भाण्डार है. पुराने समयमें उसके बड़ोंको किसी महात्माने यह आशीर्वाद दिया है कि चाहे जितना धन नित्य प्रति खर्च किया जाय तो भी उसमेंसे जरा भी नहीं घटेगा. इससे उसको संग्रह या रक्षा करनेकी जरा भी परवा नहीं है. दूसरा साधन स्त्री है. वह भी उसके यहाँ ऐसी अनुपम है कि जिसके रूप, गुण और पातिव्रत्यकी तुलना संसारमें किसी स्त्रीसे नहीं हो सकती. वह स्त्री साक्षात् सीता है. रामको सीताके प्रति जितना प्रेम और सीताको रामके प्रति जैसा भक्तिभाव था, वैसाही उस जोड़ेमें है. सगा, कुटुम्ब, परिवार, दास दासियाँ आदि सब दूसरे पोष्यजन उसे परमेश्वरके तुल्य मानते हैं. वह स्वयम् भी अति कान्तिमान्, विद्वान्, गुणवान् और जवान है. कुछ ही वर्ष हुए उसका पिता उसको यह सारी सम्पत्ति देकर स्वर्गको सिधारा, इससे वह सब तरह स्वतन्त्र है. मैं उसकी समृद्धि तुझे कहाँतक गिनाऊँ ? हाथी, घोड़ा रथ, पालकी, म्याना, चोपदार, खवास, शरीररक्षक और हथियारबंद नौकर आदि रिसालेका ऐसा ठाठ है कि जैसा किसी राजाके यहाँ भी नहीं होता. इस समृद्धिके अनु-

सार इसके पुण्यका भी पार नहीं है. हजारों, लाखों, और करोड़ों रुपये नित्य निराश्रितोंको आश्रय देनेमें खर्च होते हैं, सैकड़ों गौएँ दानमें दी जाती हैं; अनेक भूखेप्यासेको अन्नजल और जिनके पास कपड़े नहीं हैं उनको कपड़े आदिके दानका तो कुछ शुमार ही नहीं रहता. इसके दरवाजेसे कोई भी भिखारी कभी निराश हो कर नहीं लौटा. भूखेको भोजन और प्यासेको पानी तो वे जब जायँ तब ही तैयार रहता है उसने अनेक पाठशालाएँ बनवा कर उनमें अनेक विद्यार्थियोंको विद्या-दान देनेका प्रबंध कर दिया है. बड़े ताजमहलके समान उसके घरके आगे निरंतर भाट चारणादि बंदीजनों और भिखारियोंके आशीर्वादका घोष गूँजता रहता है. ऐसे पुण्यात्मा भाग्यशालीके तो दर्शन करनेसे भी पाप दूर होते हैं परंतु मैं सोचताहूँ तूने उसको नहीं देखा है. यदि इच्छा हो तो वह देवदर्शनको गया है, और अभी इसी रास्तेसे हो कर लौटेगा, इस लिए कुछ समयतक ठहर कर उस सुखात्मा प्रभुके दर्शन करके पवित्र हो.'

इस तरह वह बातें कर ही रहा था कि इतनेमें उस रास्तेसे एक भीड़ आते दिखी. आगे पीछे बहुतसे नौकर दौड़ रहे थे, और बीचमें एक सुन्दर पालकी आती थी. यह देखते ही उस मनुष्यने विलाससे कहा, देख ! वह यही साहूकार है. न मान तो स्वयम् जा कर मेरी बातकी सचाईका निश्चय कर !

बस, देर क्या थी ! विलास तुरन्त ही खड़ा हो गया और उस पालकीके पीछे पीछे चलने लगा, पालकी भरे बाजारके बीचसे होकर एक बड़े भव्य मन्दिरके सामने गई. रास्तेमें उसके नौकर सोने चाँदीके सिक्के लुटाते थे और भिक्षुक 'जय जय ! बहुत जिओ, वंश बेल बढ़े, कल्याण हो, ऐसा आशीर्वाद दे रहे थे. घरके सामने आते ही सेठ उतर पड़ा और दरवाजे पर खड़े भिक्षुकोंको उनकी इच्छा भर सन्तुष्ट करनेके लिए अपने कामदारोंको आज्ञा देकर कटकट करता अपने ऊँचे महल पर चढ़ गया. विलासने देखा तो उसके यहाँकी समृद्धि उससे भी अधिक थी जो उसने सुनी थी ! परन्तु वह बहुत भटका था, इस लिए उसे इतनेसे सन्तोष नहीं हुआ. इससे सूक्ष्म दृष्टिसे उसने इसकी जाँच करनेका निश्चय किया. वह उस महलके आगे नित्य सबेरेसे शामतक जाकर बैठता और चर्चा सुनता था. इस तरह अनुमान पंद्रह दिन बीतनेको हुए परन्तु उसे वहाँ किसी तरहका भी

दुःख नहीं दिखा. जब वह उस सेठको देखता तो उसका मुखकमल हास्य-पूर्ण ही दीखता था. स्त्री भी आनन्द पूर्ण थी और सेवक भी आज्ञाकारी थे. वह मनमें खुश हुआ कि, 'सत्य ही यहाँपर सुख है. मैं शंकरसे यही सुख माँगूं.' विलासको वहाँ नित्य बैठे देख कर कामदार आदि पूछने लगे, 'क्यों भाई तुम्हें क्या चाहिए? तुम्हारी क्या आशा है? जो कुछ जरूरत हो वह कहो, जो चाहिए वह तुम्हें सेठजी देंगे.' विलासने कहा, कुछ भी नहीं चाहिए, मैं माँगनेको नहीं आया; परन्तु इतनी इच्छा है कि ऐसे पुण्यात्मा सेठसे घड़ीभर भेट हो जाय तो अच्छा!

यह सुन कामदारने सेठसे जा कर विनय की कि अपने महलके सामने कोई एक विदेशी, बहुत दिनोंसे नित्य प्रति आ कर बैठता है, कुछ देते हैं तो लेता नहीं सिर्फ आपकी मुलाकातकी इच्छा प्रकट करता है; इस लिए आज्ञा हो तो उसे ऊपर आने दूं.' सेठ प्रसन्न होकर बोला, 'अच्छा उसको मेरे पास ले आओ.

सेठकी आज्ञा होते ही कामदार नीचे आ कर विलासको सेठके पास बुला ले गया. वह पंथीके वेशमें था. वह कामदारके साथ अनेक छत कोठों, खिड़कियों, बैठक और विलास भवनोंको पार करता हुआ सातवें महलमें पहुँचा. वहाँ सेठ अपने स्नेहियों और मुख्य कारबारियोंके साथ निर्दोष हास्य विनोद कर रहा था. यों तो सारे भवनही की शोभा अप्रतिम (उपमा रहित) थी, परन्तु जहाँ सेठ बैठा था उस दीवानखानेमें पैर रखते ही विलासके आश्चर्यका ठिकाना न रहा. इसकी बैठक, कई तरहके आसन, पलंग, झूलनखाट, चन्दोवा वितान और ऐसे ही अनेक सुख साधनोंसे सजी रहनेसे ऐसी लगती थी मानो इन्द्रभवन है! वहाँ सेठ एक सुन्दर आसन पर बैठा था और आसपास इष्टमित्र बैठे थे. बहुतही मधुर और बारीक स्वरसे सितार आदि बाजे बज रहे थे. गुलाबका इत्र महक रहा था. इन सबसे आप ही आप निश्चय होता था कि दुःख तो इस स्थानसे हजारों कोस दूर रहता है. विलासका आत्मा तो भीतर जाते बिलकुल ही शान्त हो गया.

विलासको आ हुआ देख कर उसके चहरे परसे सेठने कोई बड़ा आदमी समझकर आदरसत्कार करके एक आसन पर बैठाया और आनेका कारण पूछा. उसने कहा, सेठजी! आज मेरा धन्य भाग्य है. क्योंकि

आशाही आशामें बहुत समयके भटके और बिलकुल निराश हुए मुझ प्राणीकी आशा आज सफल हुई है. अपने बहुत समयके अनुभवसे मुझको ऐसा निश्चय हुआ है कि संसारमें कोई भी सुखी नहीं है. परंतु आज ऐसे भूले हुए मुझ जीवको सबके भोग करनेवाले और सब दुःखोंसे रहित आपका समागम होनेसे मैं कृतकृत्य हुआ हूँ. बहुत दिनोंके अनुभवसे मुझको निश्चय तो हो ही गया था कि आप सब तरहके दुःखोंसे रहित और संपूर्ण—सर्वोत्कृष्ट सुख भोगनेवाले हैं, परंतु आप जैसे महाभाग्यवान् पुरुषकी स्थिति कैसी दर्शनीय होगी, यह प्रत्यक्ष जाननेकी उमंगसे ही मैं यहाँ तक आपके दर्शनोंको चला आया हूँ. अब मुझे पूर्ण संतोष हुआ, आपका कल्याण हो और आपका सुख अखंड बना रहे.

इतना कह कर विलास वहाँसे उठ खड़ा हुआ और जानेका विचार करने लगा. परंतु इसके बोलनेसे सेठने विचार किया कि, 'मैं सुखी हूँ, इतना निश्चय करलेनेसे इसको क्या लाभ है? इसको कुछ लेनेकी तो इच्छा है नहीं. इस लिए इस काममें इसका कुछ अवश्य मतलब होना चाहिए.' ऐसा विचारकर वह बोला, 'अजी पंथी. ऐसी उतावली क्यों करते हो? तुम्हें कोई दूसरी इच्छा न हो तो अच्छी बात है परंतु यहाँतक परिश्रम करके मेरे यहाँ पधारे हो तो अब भोजन किए बिना कैसे जावोगे? बैठो, समय हो गया है, देर नहीं है. इस तरह आग्रहपूर्वक विलासको रोक लिया. थोड़ी देरमें वहाँ एक सुन्दरी आई और हाथ जोड़कर सेठसे भोजन करनेको चलनेके लिए प्रार्थना करने लगी. सब विनोदीमंडल, विसर्जित हुआ और सेठ अपने पाहुने विलासवर्माको साथ लेकर आई हुई दासीके साथ पाकशालामें गया.

वहाँ सामनेका ठाठ देखकर विलास तल्लीन हो गया. दासीने शरीरमें सुगंधित तैलादिक लगाकर विलासको गर्म जलसे नहलाया, उत्तम पीताम्बर पहरनेको दिया तथा सेठकी बगलमें रत्नजड़ित सोनेके पीढ़े (पाटे) पर बैठाकर शरीरमें सुन्दर गंध लगाया फूलोंकी माला पहनाई. सामने सोनेकी दूसरी चौकी रखी थी उस पर कंचन (सोने) का थाल आने पर एक अत्यन्त मनोहर, मदनमस्त और अमूल्य कपड़ों जेवरोंसे सजी हुइ अद्भुत सुन्दरी वहाँ पाकशालासे आई और अनेक स्वादिष्ट पकान्न सामग्री परोसने लगी. यह सेठानी थी. इसकी कान्ति, अत्यन्त मोह भरे नेत्रकटाक्ष और हावभावसे पूर्ण देख कर विलासकी सुधबुध भूल गई.

भोजन परोसा गया सेठने उसे श्रीहरिको निवेदन किया और फिर विलास सहित खाने लगा.

एक समय विलासवर्मा वहुत वड़ा राजा और वहुत वड़ी समृद्धिका भोक्ता था. विलासवतीके समान उसकी स्त्री थी, तो भी उसने ऐसे ठाठसे उसके हाथसे कभी भोजन नहीं किया था. आज विलासको भोजन करते हुए निश्चय हुआ कि जो कुछ सुख है वह यहीं है. ऐसा दूसरी जगह कहीं नहीं है. इस लिए शंकरके पास जाकर मैं शीघ्रही इस सेठका सा सुख माँगलूँ. थोड़ी देरमें दोनों खा चुके, सेठानीने पान दिये. दोनोंने कपड़े वदले. फिर साथही साथ सेठ और विलास दोनों वैठकमें आए. यहाँ कोई नहीं था, इससे सेठने आदरपूर्वक विलासको वैठा कर अपने मनमें उत्पन्न हुए प्रश्नके रहस्य जाननेका विचार किया.

वह वोला, 'भाई, तुम सच सच कहना कि तुम्हें किसी दूसरी चीजकी इच्छा न होते भी मैं सर्वाङ्ग सुखी हूँ या नहीं, सिर्फ यह जाननेकी क्या आवश्यकता थी? तुम्हें यदि कोई अमूल्य वस्तु चाहती हो और उसके माँगनेमें संकोच होता हो तो संकोच करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि यह जो कुछ है, सव सिर्फ परमार्थके लिए ही है; इससे जो हो वह निःशंक हो कर यथार्थ कहो.' यह सुन कर विलासने अपना सारा हाल कह सुनाया. उसने कहा 'श्रेष्ठ! भाग्यवंत! सुखी जन! इस तरह इस विश्वारण्यमें मैंने जो जो प्रयत्न किये वे अंतमें दुःखरूप ही निकले और जिन जिनको मैं सुख मानता था वे सव दुःख ही रूप दिखे. तव उनसे हैरान हो वनमें जाकर तप करके मैंने शिवजीसे सुख माँगा. शिवजीने ज्यों त्यों समझा कर कहा कि 'संसारमें तो सुख ही नहीं है.' परन्तु मैं कव माननेवाला था? मेरी सची हठ देख कर शंकरने कहा, 'तू सव जगह खोज और जो सुख तुझको जरा भी दुःख विना श्रेष्ठ मालूम हो वह मुझसे माँग ले.' शंकरकी इस आज्ञासे मैं सुखकी खोजको निकला. परंतु कैलासपतिने जैसा कहा था वैसा ही हुआ अव तक मैंने कहीं सुख नहीं देखा. जहाँ जहाँ देखा वहाँ वहाँ ऊपरसे तो सुख सही दिखा परंतु भीतर दुःखका समूह दिखा. मेरा यत्न आज सफल हुआ है. इस लिए आपहीके सुख जैसा सुख मैं शंकरसे माँग लूँगा. क्यों कि आप सव तरहसे सुखी हैं. यही नही, परंतु आपका सुख सव तरह परिपूर्ण और अप्रतिम–अद्भुत है. उस सव सुखमें अत्यन्त वृद्धि करनेवाली

आपकी धर्मपत्नी है, जिसके आगे इन्द्राणीको भी मैं तुच्छ समझता हूँ. अहा ! आप धन्य भाग्य हैं ! !

यह सुन कर सेठ इस तरह उदास हो गया मानो एकाएक बड़े दुःखके समुद्रमें डूब गया हो. उसने गहरी साँस छोड़ी और थोड़ी देरमें उसकी आँखोंमें आँसू भर आये. बहुत देरतक तो वह कुछ बोल ही नहीं सका. यह देख कर विलासको बड़ा आश्चर्य हुआ और ऐसा होनेका क्या कारण होगा, यह जाननेके लिए वह अधीर हो उठा. वह अपने पासके कपड़ेसे सेठके आँसू पोंछकर बड़ी नम्रतासे पूछने लगा. तब गहरी साँस ले कर सेठ गद् गद् स्वरसे बोला, 'पंथी ! विदेशी ! सुखेच्छु ! संसारके गुरु शंकरका वचन कभी झूठा नहीं है. संसारमें कहीं भी पूर्ण सुख नहीं है, फिर यहाँपर कहाँसे होगा ? इस लिए मेरी विनय इतनी है कि तू अब सुख प्राप्त करनेका झूठा प्रयत्न छोड़, संतोषी बन कर फिर शंकरकी शरणमें जा ! परन्तु इससे तो विलासका संदेह और भी बढ़ गया और उसने सोचा कि, अरे ! जहाँपर बिलकुल दुःखका अभाव है, वहाँ फिर ऐसा भारी दुःख क्या होगा ? यह जाननेके लिए उसने सेठसे बहुत विनय कर प्रतिज्ञा कराई कि, 'यदि आप मुझसे सच्ची बात न कहेंगे तो मैं अपने प्राण छोड़ दूँगा.' इससे निरुपाय हो कर सेठने कहा, 'भाई ! तुझको अब भी सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो उससे मैं निराश नहीं करता, परंतु इतना कहे देता हूँ कि; मेरा जैसा सुख शंकरसे तू न माँगना, क्योंकि तेरी आँखोंमें मैं सुखी दीखता हूँ. परंतु मेरे समान इस पृथ्वी पर कोई भी दुःखी नहीं है. प्रभुने दुःखका पहाड़ पैदा किया था उसमेंसे प्रभुकी आज्ञासे सबने मनचाहा दुःख ले लिया, तो भी पहाड़ ज्योंका त्योंही बना रहा; क्योंकि दुःख लेना किसको अच्छा लगता, ऐसे समय अंतमें मैं बच रहा था. इससे शेष रहा दुःख अपनी अकृपा प्रकट करनेके लिए प्रभुने मुझ पर छोड़ दिया है. अब बता मेरा दुःख कितना बड़ा होगा ? मेरा दुःख किसीसे कहने लायक नहीं, परंतु तूने सच्ची प्रतिज्ञाकी है तो तुझसे कहना ही पड़ता है. परंतु यह सुननेके लिए जैसी प्रतिज्ञा की है, वैसे ही यह बात भी फिर किसी दूसरेसे न कहने की प्रतिज्ञा कर तो कहूँ.' विलासने सेठके आगे दृढ़ प्रतिज्ञा की तब सेठने कहना आरंभ किया.

सेठ बोला; विदेशी! तू जिसे इन्द्राणीकी भी उपमा देना छोटी समझता है, उस मेरी प्रिया और मुझमें आपसमें बड़ा प्रेम है. मेरे विना उससे और उसके विना मुझसे क्षण भर भी नहीं रहा जाता. हम दोनोंकी कोई शिकायत होने पर भी उससे, हम दोनोंमें एक दूसरेको कुछ ऊँचानीचा बोलनेका अवसर नहीं आया. वह दृढ़ पतिव्रता और मैं एक पत्नीव्रत धारी हूँ. हम एक दूसरेसे संतुष्ट थे और उस समय तो ऐसा मानते थे कि हमारे समान इस संसारमें कोई भी सुखी नहीं है. हम नित्य प्रति ऐसे सुख सागरमें हिलोरें लेते थे, इतनेमें दैव संयोगसे वह स्त्री बीमार पड़ी और दवा करने पर भी रोगने उसके शरीरमें घर कर लिया. बढ़ते बढ़ते वह खूब बढ़ गया, देश देशान्तरोंसे अनेक समर्थ वैद्य और दूसरे दैवी उपाय करनेवाले पुरुषोंको बुलवाया, परंतु कुछ टिकी नहीं लगी. गल गल कर उसका अंत आ गया. हम सबने उसकी आशा छोड़ दी. हम सब कुटुम्बियों और वैद्यादिको ऐसा निश्चय हुआ कि अब वह नहीं बचेगी, अतः हम उसके परलोकके सुखके लिए अपार दान धर्म कराने लगे. उसके आत्माको इतना कष्ट होता था कि वह हमसे देखा भी नहीं जा सकता था और हम चाहते थे कि अब इसका अंत हो जाय तो बहुत अच्छा हो. परंतु किसी तरह भी उसका जी नहीं जाता. इससे मेरे मनको बहुत दुःख और विचार हुआ कि, दैव इसका आत्मा किस वासनाके कारण इस बड़े कष्टसे नहीं छूटता. फिर गहरी साँस ले कर मैं जल्दीसे बोल उठा, 'प्रभु! इस स्त्रीका कष्ट मुझे भलेही हो परंतु इसके आत्माका छुटकारा हो जावे, अब मुझसे इसका दुःख देखा नहीं जाता. हाय! ऐसा स्त्री रत्न मुझको कहाँ मिलेगा?' यह सुनते ही उसकी आँखोंसे चौधारा आँसू निकलने लगे. इस समय उसके कोमल, परंतु भयानक बीमारीसे बिलकुल फीके मुँह पर हाथ फेर कर मैंने अंतिम चुम्बन लिया. उसकी इस दयाजनक—महा खेदकारक अवस्थासे मुझे भी बहुत रुलाई आई. उसका सिर अपनी पालथीमें लेकर मैंने छातीसे लगाया और धीरे धीरे रोते हुए पूछा; प्रिये! तेरा दुःख मुझसे सहा या देखा नहीं जाता. हे मृदुभाषिणी! अब इस महा संकटसे अपने आत्माको शीघ्र पार कर और स्वर्गमें जा कर इस वियोगी पतिकी राह देख. प्रिय तेरे विना मैं एक पलभर भी जीता नहीं रह सकूँगा; इस लिए थोड़े ही समयमें तेरे समान इस मिथ्या भूत जगतको छोड़ कर

मैं तुझसे जा मिलूँगा (अर्थात् मैं आ मिलूँगा) परंतु प्रिये! इतना होते भी तेरा आत्मा देहसे क्यों नहीं छूटता? वह किसमें अटका हुआ है? तू कोई भी बात नहीं छिपाना तेरे मनमें जो कुछ छिपी इच्छा, आकांक्षा या वासना हो और जिसके कारण तेरा आत्मा इस कष्टदायी देहसे लिपट रहा हो वह इस समय मुझसे साफ साफ कह दे. तू निश्चय मान कि तुझको छोड़ कर इस जगतमें मुझे दूसरा कुछ भी प्यारा नहीं है. इससे तुझको जो प्यारा हो वह करनेमें मैं जरा भी देर नहीं करूँगा. मुझे ऐसा जान पड़ा कि मानो यह सुन कर मेरी स्त्रीको बड़ी शांति मिली है और यह भी जान पड़ा मानो वह मुझसे कुछ कहना चाहती है परंतु निरुपाय! उससे बोला नहीं जाता, कंठ बैठ गया था और भीतर पैठी हुई सिर्फ आँखें इकटक हो रही थीं. ऐसा देख कर मुझको वैद्यकी दी हुई हिरण्यगर्भकी मात्रा याद आई. उसी समय मैंने वह दवा पेटी (सन्दूक) से निकाल कर और घिस कर उसे पिला दी. यह दवा बड़ी चमत्कारक थी, इस लिए उसका अंश उसके पेटमें पहुँचते ही उसको चेतनता आई. जीभ खुली, पैठी हुई आँखें ठिकाने आ गईं और उसने बोलनेके लिए कुछ खँखारा. मैं उसके मुँहके पास कान लगा कर बैठा तब बहुतही धीरे और लड़खड़ाते हुए स्वरसे वह कुछ बोलने लगी. पहले तो मैं उसकी कोई भी बात नहीं समझ सका, परंतु धीरे धीरे दृष्टि फेरनें और उसके बोलनेके भावसे मुझको मालूम हुआ कि उसके मनमें सिर्फ एक बात खटक रही है कि, 'अहा! मैं इस समय जो इतनी बड़ी मान्य हूँ और यह सब दौलत, साहबी, मान, और संक्षेपमें कहनेसे इंद्राणीके समान सब सुख—जो सिर्फ मुझपरही अवलम्बित हैं—की स्वामिनी हूँ, मेरे मरने पर उस सबकी स्वामिनी कोई दूसरीही होगी. अभी मुझ पर तुम्हारी अत्यन्त प्रीति है, परंतु मेरे मरने पर क्या कुटुम्बी तुम्हारा व्याह फिर न करेंगे? हाय अब मुझे तुम कहाँ मिलोगे?,' हे विदेशी मित्र! उसके इन वचनोंसे मेरा हृदय भिद गया. मैं रो पड़ा और उससे दृढ़ प्रतिज्ञाकी कि, 'प्रिये! तेरे विना जगतकी सब स्त्रियाँ मेरी माताके तुल्य हैं. इस लिए मैं, प्राणान्त होने पर भी दूसरा विवाह नहीं करूँगा.' परंतु इससे उसको विश्वास नहीं हुआ. संसारमें कौन किसका विश्वास करता है? सब मतलबके साथी हैं तो अपनी स्त्रीको निःस्वार्थ कैसे मानूँ? मायामें फँसा हुआ उसका आत्मा मायाको छोड़नेमें असमर्थ था.

मेरे बहुत कुछ समझाने पर भी जब उसको निश्चय नहीं हुआ, तब उसके सच्चे प्रेममें डूबनेवाला मैं उसी समय खड़ा हो गया और संदूकसे एक तेज हथियार लाकर उसके सामने खड़ा होकर बोला, 'प्राणवल्लभे ? सत्य कहता हूँ कि तेरे पीछे मैं कभी भी दूसरी स्त्री नहीं करूँगा तो भी तेरी तसल्ली नहीं होती तो, ले, स्त्री सुखके भोगनेका मुख्य साधनही मैं समूल नष्ट किये देता हूँ.' ऐसा कह कर उसके समक्षही मैंने हथियारसे अपनी उपस्थ इंद्रिय नष्ट कर दी.

ऐसा भयंकर काम देख कर उसका आत्मा डूब गया और चक्कर आनेसे मैं भी नीचे गिर कर अचेत हो गया. बहुत देर तक सब सन्न रहा फिर मैं चेतमें आया, तो मुझको बड़ी पीड़ा जान पड़ी. सौभाग्यसे यह अच्छा हुआ कि उस समय यह घटना और किसीने नहीं जानी. घरमें कई प्रकारकी दवाइयाँ तैयार थीं इससे घाव पर ऐसी मलम पट्टी लगाई जिससे वह तुरंत आराम हो जाय. खूनसे भरे हुए कपड़े आदि एकत्र कर ऐसी जगहमें रखे जहाँ कोई देख न सके !

इतना कह कर सेठ फिर बोला; 'हे सुखके ढूँढ़नेवाले बटोही ! इसके बाद मैं स्त्रीकी खाटके पास बैठ गया. उसका शरीर छू कर देखा तो ठंडा और आँखें पैठी हुई थीं. मुझे निश्चय हुआ कि अब इसका आत्मा पंचतत्वोंसे बने हुए इस पुतलेको छोड़कर चला गया, परंतु इससे मुझे जो शोक होना चाहिए उससे अपनी पीड़ाका शोक अधिक था. यह बात किसीको मालूम न हो इस भयसे हृदयको बहुतही कड़ा करके मैं देहकी पीड़ा सहने लगा. ऐसा करते हुए सबेरा हुआ. सोये हुए लोग एक एक कर जाग उठे और मेरे पास आकर बैठने लगे. उन्होंने आ कर देखा तो मेरी स्त्रीके शरीरमें धीरे धीरे गर्मी आने लगी थी और आँखें बंद रहनेसे अनुमान किया गया कि उसको कुछ आराम है. मैं सारी रात जागता रहा था इस लिए सबने मुझसे सोनेके लिए आग्रह किया और वे उसकी संभाल करनेको बैठे. मैं थक गया था इस लिए उठा और एक बाजूके पलंगपर जा कर ज्योंही लेटा त्योंही मुझे नींद आ गई. उसीके साथ पीड़ा भी शांत हुई.

सेठ बोला; 'सुखकी इच्छा करनेवाले मित्र !' बहुत देरमें नींद पूरी हुई, नींद पूरी होने पर मैं उठ बैठा. पहर भर दिन चढ़ा था फिर

स्त्रीके पास गया तो लोग मुझको धीरज देकर कहने लगे कि, अब चिन्ता करनेकी कोई जरूरत नहीं है, ईश्वर सब कुछ अच्छा करेगा! आज तो सेठानीने माँग कर पानी पिया और बहुत दिनोंमें करवट बदला है, इस लिए अब शान्तिही समझना चाहिए और हे सुखेच्छु पथिक! ऐसाही हुआ भी! धीरे धीरे (उत्तरोत्तर) वह अच्छी होने लगी. पंद्रह दिन होते न होते तो वह आधे चेतमें आ गई. और एक महीनेमें पूर्ण स्वस्थ हो गई तथा उसमें कुछ भी दुःख या कमजोरी नहीं रही. मैं भी बिलकुल चंगा हो गया. मेरा जोड़ा जैसा पहले था वैसा ही फिर मिला. हम दोनों जन, युवावस्थाके उस शिखर पर चढ़ बैठे, जिसपर स्त्रीको सुन्दर पुरुष और पुरुषको रंगीली स्त्री बिना दूसरा सब कुछ तुच्छ लगता है. हमें संसारके संपूर्ण सुखको लूटनेका समय आया, उस समयमें वही मेरी स्त्री और मैं ही उसका पति था. कहो प्यारे मित्र! हमारे संसार सुखमें अब क्या कमी है?'

यह बात सुन कर विलास चित्रवत् बन गया. उसकी सब मनोवृत्तियाँ ठंडी पड़ गईं और बहुत देरतक वह सेठके मुँहकी ओरही देखता रहा. फिर बोला, 'अहो! क्या यह सत्य है? ऐसा ही हो तो इस संसारमें तुम्हारी नाई दुःखी कोई भी नहीं और वह दुःख कोई जान भी नहीं सकता. परंतु ऐसा कबतक चलेगा? सेठ बोला; 'क्या करूँ? संसार छोड़ कर अकेले वनमें चला जाऊँ तो मेरे पीछे मेरी युवा स्त्रीकी क्या दशा हो और दोनों जन जायँ तो निर्वंश होनेसे हमारे अपार धनके भोगनेवाले विधर्मी हों! इस लिए जबतक श्रीहरिकी इच्छा होगी तबतक हम एक दूसरेको देखते हुए अपने जलते हृदयको शील—संतोषरूपी जलसे सींच, धनको अपनेही हाथसे अच्छे कामोंमें लगा शान्त हो कर भगवत् साधनाके लिए चले जायँगे.' विलास बोला, "तो सेठजी, सुख तो संसारमें अब है ही नहीं न?" सेठने कहा, 'नहीं! बिलकुल ही नहीं. संसारमें वही सुखकी इच्छा रक्खे जो मूर्ख हो; संसार स्वयम दुःखरूप है. यदि अग्निमें शीतलता हो तो संसारमें सुख हो. यह संसार अपार तापत्रासरूप जलसे भरे हुए समुद्रके समान है. इस धधकते हुए समुद्रकी लहरोंसे बचनेके लिए जब समुद्रगत जीव व्यर्थ परिश्रम कर छटपटाता तो आधारके लिए उसमें उठती हुई तरंगोंको लकड़ीकी पटिया समझकर वह कितना सुखी होता है परंतु जब पकड़ने जाता है तो हाथमें नहीं आती, अंतमें निराश होकर वह डूब मरता है... इसी तरह सुख है.

संसारमें जो कुछ सुख दीखता है वह वास्तविक सुख नहीं परंतु बड़े भारी दुःखका बीज है. इस लिए हे सुख चाहनेवाले राही ! यदि तेरी सुख प्राप्त करनेकी वास्तविक इच्छा हो तो वह सुख संसारमें नहीं, परंतु जिसने तुझे संसारमें सुखकी खोज करनेको भेजा है उसी परम परमात्मा जगद्गुरु शंकरके चरणकमलोंमें है इस लिए ये सारी झूठी खटपटें छोड़ कर उस कृपालु महादेवकी शरणमें जा. '

अधिकारी.

सेठका कहा हुआ विलासने अच्छी तरह समझ लिया और कुछ देर ठहर कर वह सेठको प्रमाण करके वहाँसे चला. वह थोड़ी देरमें वहीं आ पहुँचा जहाँ पर तप किया था. वह गम्भीरतासे विचार कर वहीं बैठ गया. फिर स्नानादि कर चित्तको स्थिर रख कर शिवका ध्यान किया और दर्शन पानेके लिए मनोमय नम्र प्रार्थना की. इतनेमें शंकर प्रकट हुए और बोले; क्यों भक्त ! तूने सुखकी खोज की ? बता, अब तुझे कैसा सुख दूँ ? विलास हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और कहने लगा, ' कृपालु प्रभो ! मैं मूर्ख अधम, पापी और मायामें फँसा हुआ आपके प्रभावको नहीं जान सका; क्षमा करो ! क्षमा करो ! मैंने अच्छी तरहसे जान लिया है कि महा सुखका मूल तो आपके चरण कमल ही हैं, इस लिए सदाके लिए मैं तुम्हारी शरणमें हूँ. प्रभो ! जो परम सुखका सत्यमार्ग हो वह मुझे बताओ. अब तो प्रभु ! इस संसारकी त्रिविध तापरूप दावानलकी ज्वालासे मैं झुलसा जाता हूँ, मुझे पार करो. मुझको सुख नहीं मिला और सुखके स्थानरूप जो आप हैं उनको मैंने नहीं पहचाना, यह मेरा ही अज्ञान है. यह संसार झूठा, प्रपंची और इन्द्रायणके फलके समान है. उससे मैंने सुखकी इच्छा की, यह मेरी अज्ञानता है. सत्य सुख तो ब्रह्मानंदमें ही है; वही आनन्द सत्य है, नित्य है, दुःखरहित है, अमर है, अविकारी है. इस सुखरूप अनुभवसे परिपूर्ण, पवित्र, बर्फके समान ठंडे, कानों और मनको सुख देनेवाले सुखानंद-सागरमें मुझको स्नान कराओ. मेरी कुछ भी गति नहीं है, मेरी गति सिर्फ आपही हो ! आप ही अविद्याके हरनेवाले हो सर्वोत्तम आनंद स्वरूप हो, सर्व व्यापक हो, सर्व नियंता (स्वामी) हो, सबके कारण (आदि) हो, नित्य हो और मैं, जो अभी कुछ दूसरा ही हूँ उस मुझको

मेरे कल्याणका साधन (उपाय) बताओ. वाणी शब्द, शास्त्र और विद्वानकी विद्वत्ता, ये सब 'इस लोकके सारे भोगोंको भोगनेके लिए हैं मोक्षके लिए—नित्यके सुखके लिए नहीं. सुखके लिए तो दूसरा ही कुछ है, वह मुझको बताओ सुख तो कुछ दूसरी ही चीज है, वह मुझे दो. मुझे संसारका सुख नहीं चाहिए इससे मैं तृप्त हो गया हूँ, अब संसार सुखको छोड़ कर दूसरा सुख चाहिए. जो अखंड है, वह मुझको दो.' यह कह कर उसने शिवके चरणोंमें अपना सिर रख दिया.

इतना कह कर महात्मा वटुक बोला, ' वरेप्सु ! इस तरह अनेक दुःख सहनकर और सारे संसारमें भटक भटक कर सुखके लिए बिलकुल निराश हुए विलासवर्माको अंतमें उन दुःखोंका अच्छा फल मिला, अर्थात् उसे देवोंके भी देव शंकरकी शरण मिली इससे वह अखंड सुखका भोक्ता हुआ.

वरेप्सु बोला, ' कृपानाथ ! शंकरकी शरण जानेसे यह राजपुत्र किस तरह अखंड सुखका भोक्ता हुआ वह कहो. वटुकने फिर भी अपनी मधुर वाणीरूप अमृतकी वर्षा आरंभ की.

शिवजीका उपदेश.

वटुक बोला; " विलासको इस तरह अनन्य भावसे शरण आया देख कर शंकर बहुत प्रसन्न हो बोले; ' वत्स ! अब तू मुमुक्षु अर्थात् इस अविनाशी अखंड सुखकी प्राप्तिका अधिकारी हुआ है, इस लिए मैं जो कहूँ उस पर एकाग्र होकर ध्यान दे. यह संसार दुःखरूप ही है, इस लिए सुखकी इच्छावाला तू पहले अपने मनको उसके प्रत्येक पदार्थसे पीछे हटाकर एक जगह अपने हृदयमें स्थिर कर. जगतमें तेरा कोई भी नहीं है जिसको तू अपना समझ कर प्रीति करेगा वह तुझे पीछे बड़े जोरसे पकड़ और पछाड़ कर बड़े दुःखकी कीचमें डुबा देनेवाला है इस लिए इस बातका बारबार और अच्छी तरह मनन कर, मनको, जो सब माया का—बंधनका कारण है स्वाधीन कर. इससे विराग व्यापेगा और विरागसे स्थिर हुआ तेरा मन फिर नहीं भटकेगा.' इस समय रातथी इससे वन बिलकुल शान्त था. दूसरी सब जगह घना अँधेरा था. परंतु वहाँ शंकरके प्रकट होनेसे दिव्य प्रकाश पड़ रहा था. रातमें फिरनेवाले वनचर प्राणी भी इस प्रकाशसे भय भीत हो कर दूर भाग गए थे. ऐसे समय शंकर विलाससे फिर बोले, ' मुमुक्षु अपने दोनों पैरोंकी एँड़ियाँ

दोनों जंघोंके शिरे पर रख पाल्थी मारकर उत्तरकी ओर बैठ. दोनों हाथ घुँटनों पर रख, नजरको एकाग्र (स्थिर) कर आँखें बंदकरके, साँसको, बिलकुल धीमी करके नियममें रख.' विलास इसी तरह करते हुए मन और तनको पर्वतके शिखरके समान स्थिर करके बैठा. फिर शंकर बोले; 'अब अपनी मनोमय दृष्टिसे अपने आगे पीछे, आस पास और ऊपर नीचे, सर्वत्र दीयेकी ज्योतिके मध्य भागके समान अथवा सूर्यकी किरण (बिंब)के जैसा प्रकाश देख. क्षण भरतक तू इसके सिवा और कुछ भी न देख. इस प्रकाशके बीचमें अपनी मनोमय दृष्टिके आगे एक विस्तृत और कोमल हरियालीसे पूर्ण मैदान देख. उसमें खड़े हुए नये केलेके वृक्ष और खिले हुए गुलाब मोगरा, चँबेली, इत्यादि फूलोंके गुच्छे देख. चारों किनारेसे निर्मल झरने झर रहे हैं, और मैदानकी सुकोमल तृणवाली भूमि पर अनेक कल्पतरु शोभित हो रहे हैं, उनकी घटाके नीचे एक छः सात वर्षका जो बालक खेल रहा है, उसे भी देख. यह बहुत ही सुन्दर और सुकोमल है. इसका शरीर आषाढ़के घिरे हुए मेघोंके समान श्याम है, तो भी वह मरकत मणिके समान दिव्य कान्तिवाला है. बिजलीके समान तेजस्वी है रेशमी पीताम्बरका कछोटा कसे है. कंधों पर भी वैसेही पिछौरी ओढ़े है, मस्तकपर रत्नसे जड़ा हुआ किरीट (मुकुट) पहरे है जो चारो ओर मयूर पंखोंसे बहुत शोभित है. फिर सिरके अत्यंत चिकने श्याम केशोंसे, जो मुकुटसे ढँके रहने पर भी बाहर कपाल पर झूल रहे हैं, उसका चंद्रके समान मुखमंडल बहुत ही शोभायमान दीखता है. कानमें बड़े प्रकाश वाले कुंडल हैं, उनका प्रकाश गाल पर पड़ रहा है, उसकी नाकके आगे एक अमूल्य मुक्ताफल लटक रहा है. गलेमें दिव्य रत्नोंकी माला पहरे है. लट-कनके समान अपार शोभामय कौस्तुभ मणि छाती पर विराज रहा है. दोनों बाहोंमें कड़े और पहुँचोंमें कंकणमय पहुँची है; उँगलियाँ रत्न मुंदरियोंसे शोभित हैं. कमरमें क्षुद्र घंटिका और पैरोंमें सोनेके नूपुर हैं. इसके पैर, हाथ, मुँह आदि अँग ऐसे मनोहर और कोमल है जैसे नये कमल खिले हों ! हाथ पैरके नख तारोंके समान चमक रहे हैं और उसकी मंद मुसकान और प्रवालके समान लाल ओठोंसे छिपी हुई रत्न पंक्तिस-रीखी रदन पंक्ति आप ही आप दिख जाती है. इस बालकका अद्भुतरूप तू उसके पैरोंसे लगाकर क्रमशः ऊपर मुकुट पर्यन्त खूब विचार विचार कर

फिर देख. यह विचित्र बालक सारी सृष्टिका स्वामी है गोचर और अगोचर सब चीजोंका उत्पादक है और सबको अपनी अद्भुत शक्तिद्वारा धारण कर रहा है. मैं, ब्रह्मा और विष्णु तीनों उससे ही पैदा हुए हैं. वह सबका आत्मा और प्रभु है. इस लिए मनोमय रीतिसे उसके चरणोंमें सिर झुका. केसर कस्तूरीवाला सुगंधित चंदन घिस कर उसके ललाटमें सुंदर तिलक कर. खिले हुए सुन्दर फूलों और तुलसीके दल अपने हाथसे गूँथ कर यह उत्तम माला उसके श्रीकंठमें अर्पण कर. फिर रत्न जड़ित सोनेके थालमें पकान्नको भर कर उससे भोजन करनेके लिए विनय कर. यह बालक निःस्पृही (इच्छा रहित) है, परन्तु प्रीतिके वश है इस लिए प्रीतिपूर्वक प्रार्थना करनेसे यह उपहार स्वीकार करेगा.'

इतना कह कर शंकर फिर बोले, ' अब सोनेकी झारीमें गंगाजल भर कर पीनेके लिए अर्पण कर. फिर अपने हाथसे सुगंधित मसाले डाल कर तैयार की हुई मनोमय (मानसिक) पान-बीड़ी दे. उसके दहिने हाथमें विस्तृत नालवाला नूतन खिला हुआ कमल दे, बायें हाथमें रत्न जड़ित सोनेकी मधुरवेणु (वंशी) दे और दंडवन्नमस्कार करके अपने ऊपर कृपा करनेकी प्रार्थना कर. अब इस सुन्दर दिव्य स्वरूपको एक ही बार नखसे शिखापर्यंत देख. अच्छी तरह ध्यान रख कर देख यह स्वरूप कैसी चमत्कारिक रीतिसे धीरे धीरे सूक्ष्म (छोटा) होता जाता है ! ! देखते ही देखते, देख, यह एक हाथ भरका हो गया ! फिर विचार कर देख यह बीता भरका हो गया ! अहा !-अब तो अंगूठेके सिरेके समान दीखता है ! परंतु उसके भीतर भी इसके अंग प्रत्यंग वैसेही परिपूर्ण, उतनेही सुन्दर और वैसेही दिव्य जेवरोंसे संयुक्त हैं, यह कितना अद्भुत व्यापार है. विचार कर देख यह अभी और भी सूक्ष्म होता जारहा है. वह इतना छोटा हो गया कि मसूरकी दाल जितनी जगहमें समा रहे ! अरे यह तो इससे भी छोटा हो चला; यह सरसोंके दानेके समान बिन्दुमें समा गया ! तू भी उतना ही छोटा और एकाग्र मनसे देख, क्योंकि यह तो खसखसके कणसे भी छोटा हो गया. अब यह अणु और परमाणुसे भी छोटा दीखता है ! पर वाह ! कैसा चमत्कार ! इतने सूक्ष्म रूपमें भी इसके अवयव और कपड़े जेवर उतनेही स्पष्ट और दिव्य दीखते हैं ! इस रूपको अपने मनमें दृढ़ करले क्योंकि अभी तो यह इससे भी छोटा हो जायगा ! अब तो यह बिलकुल छोटेसे छोटे परमाणुके समान

हो गया. तो भी इसकी सुन्दरता ज्योंकी त्यों बनी है. इस लिए अत्यंत सूक्ष्म मनोमय दृष्टिसे इसका दर्शन कर. यही सर्वोत्तम सुख है, यही जीव है, यही शिव है, यही परम ब्रह्म ! यही परमात्मा ! यही परमेश्वर ! यही सब जगहोंमें पूर्णरूपसे भरा हुआ है. और यही तेरे तथा सब प्राणियोंके हृदयमें साक्षी रूपसे बस रहा है. यही अपार सुखका मूल है यही परमानन्दघन है यही परमतत्वका तत्त्व है और यही सब-कारणोंका भी कारण है. यह निरंतर तेरे हृदयरूप आकाशमें बस रहा है, परन्तु इसको तू नहीं जानता; अब इसको अच्छी तरह जानले.'

इतना कह कर शंकरने ज्योंही अपना कथन समाप्त करना चाहा कि विलासके शरीरमें आनंदकी लहरें उठीं और रोमांच हो आया, सारे शरीरसे पसीना छूटने लगा और उसके साथही उसके हृदयकी गाँठ खुल गई ! उसमें एकाएक अद्भुत प्रकाश प्रकट हुआ और उसके भीतर उसे सच्चिदानंदघन परमात्माके स्वरूपके साक्षात दर्शन हुए. उसके आनंदकी सीमा नहीं रही ! वह आनंद रूपही बन गया ! उसी समय उसकी मुँदी हुई आँखें खुल गई वह बाहर भीतर सब जगह यही आनंदघन स्वरूप देखने लगा. वन, वृक्ष, वाटिका, जीव, जंतु, जल, स्थल, आकाश इत्यादि सबको उसने परमात्मस्वरूप देखा. उसे शंकर भी इसी रूपमें दिखे. इस तरह विलासवर्मा परमात्मामें तल्लीन हो गया ! उसको शरीरकी सुध नहीं रही. वह अहंवृत्ति (अपनपौ) भूल गया ! मैं कौन हूँ, क्या हूँ, यह भी याद जाती रही. सर्वत्र एक आनन्दरस ही बह रहा था.

इस तरह देख कर शंकरने उसके सिर पर हाथ रखा और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा कर कहा; 'वत्स ! तेरा कल्याण हो ! अब तू इस परमात्माके रूपका सदा स्मरण करता रह, तू मुक्त हुआ है. अब तुझे इस संसारमें जन्ममरण नहीं है. इस मंगलरूपका ध्यान करते हुए तू मनमाने विचर और शरीरका अंत होते ही उसी रूपमें लीन हो जाना !' इतना कह कर शंकर उसी क्षण अंतर्धान हो गये और विलास जन्ममरणके बंधनसे मुक्त हो. संसारमें मनमाने फिरने लगा.

बटुक बोला; बरेप्सु ! इस तरह सब ब्रह्मरूप दीखनेसे सर्वत्र समान देखनेवाला विलासवर्मा फिरते हुए कुछ समयमें शारीर देशके हृदय

नगरमें जा पहुँचा उसको बहुत दिनोंमें आया जानकर प्रधान मनश्चन्द्र अपने परिवारसहित आगे आया और बड़े आदरसे उसको नगरमें ले गया. विलासकी माता भोगतृष्णा कई वर्ष हुए मृत्युको प्राप्त हो चुकी थी, परंतु विमाता प्रज्ञादेवी, भाई शान्तिसेन, पिता मनश्चन्द्र और राजा आत्मसेन आदि सब उसकी ऐसी ब्रह्मरूप स्थिति देख कर सानंद आश्चर्यमें डूब गये और उससे आनन्दपूर्वक भेटने लगे. महात्मा शांतिसेन उससे बड़े प्रेमसे मिला. उस समय ऐसा चमत्कार हुआ कि दोनोंके शरीर, आलिंगन करतेही एक हो गये और वे दोनों मिलकर सिर्फ एकही रूप बनगये. ऐसा देख सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और अब इस पुरुष को शांतिसेन मानें या विलास, इसका विचार होने लगा! ये शान्ति-विलास अपने वृद्ध माता पिता (मनश्चन्द्र और प्रज्ञादेवी) को उनकी जीवन संध्या (अंतकाल) देख तत्वज्ञान सुनाने लगे. जिसको सुनने से ब्रह्मानंदमें प्रेममग्न हुए वे दोनों उनसे लिपट गये और उसी क्षण उन्हीं में मिलकर लीन होगये! राजा आत्मसेन जो मनश्चन्द्रकी कुटिलता और प्रपंचसे बिलकुल पराधीन और कमजोर हो गया था और घने अंधकारमें पड़े हुए अमूल्य रत्नवत् कैदमें पड़ा हुआ था (अविद्यारूप थैलीमें घुस रहा था) वह इस मन-शांति-विलासरूप दीपकके जलनेसे तेजःपूर्ण होकर दुगुना प्रकाश करने लगा. फिर वह सोचने लगा कि मुझे अपनी मूल स्थितिमें लानेवाला तो यह मन–शांति–विलासही है ऐसा विचार होतेही वह उनपर अत्यंत प्रेम करने लगा. इसी जोशमें उसने उनका दृढ़ आलिंगन किया! उसी समय एक नया रूप प्रकट होगया. जैसे एक साथ मिलनेसे दो दीपक एक रूप हो जाते हैं वैसेही आत्मसेन और मन–शांति–विलास ये एक रूप हो गये! इन सबके मिलने पर अंतमें एक पुरुष हुआ, इस लिए उसका नाम भी बदल गया. वह आत्मशांति नामको प्राप्त हो कर अखंडानंदरूपसे विराजने लगा.'

इस तरह बहुत बड़ा इतिहास कह कर महात्मा वटुक सबको सम्बोधन कर बोला "जिज्ञासुजनो! इस तरह संसारमें सबसे श्रेष्ठ सुख कौन है ईस विषयका पुराना इतिहास मैंने तुमको कह सुनाया. इससे सबकी समझमें आ गया होगा कि संसारमें तो बिलकुलही सुख नहीं हैं तो फिर श्रेष्ठ सुख कहाँसे हो? सच्चा और श्रेष्ठ सुख किसमें है,

वह तुझे विलासवर्माकी अंतिम दशासे जान लेना चाहिए.” ऐसा अद्भुत चरित्र—ब्रह्मोपदेश सुन कर, सारा जन मंडल तल्लीन हो गया था इससे चार पहर रात कैसे वीती, इसकी उन्हें खवरही नहीं रही. यह इतिहास पूरा होते होते प्रेमसे विह्वल हुआ वरेप्सु, “जय जय गुरुदेव, जय जय गुरुदेव” की गर्जना कर वटुकके पैरों पर सिर रख दिया और सारी सभा जय जय शब्दकी महाध्वनि करने लगी. वड़े प्रेमसे उस महात्माके चरणोंका वंदन किया. फिर सवेरा (उषःकाल) हो गया था, इस लिए वटुक सहित सब लोग अपने अपने स्नान संध्यादि कर्म करनेके लिए गंगा तटको चले.

तृतीय विन्दु.

दुःखका कारण मनकी शिथिलता है.

कामं प्रियानपि प्राणान्विमुंचंति मनस्विनः ।
न तु निर्वलतां यांति संकटे समुपस्थिते ॥
कृतनियमलंघनादानर्थक्यं लोकवत् ॥

अर्थ—जिस मनुष्यने मनको दृढ कर लिया है वह अपने प्रिय प्राणोंको भी तज देता है, परंतु जब संकट आ पड़ता है तो अधीर (निर्वल) नहीं होता.

वनाये हुए नियमोंका उल्लंघन करनेसे लोक (व्यवहार) की तरह अनर्थ होता है.

दूसरे दिन दोपहरको जब सब समाज फिर भरा और प्रधानआसन पर वटुक महाराज विराजे, तो एक मनुष्यने दोनों हाथ जोड़ कर नम्रतासे पूछा, " गुरुदेव! इस जगतमें वहुधा ऐसा भी देखनेमें आता है कि, जो पापकर्ममें लगानेवाला है, जो कपट करनेमें चतुर है, हजारोंके गले रेतते हुए जरा भी विचार नहीं करता, ईश्वरके दंडका जिसे भय नहीं, वह मनुष्य नित्य सुख भोगता है, साहवी करता है, हजारों मनुष्य उसे शिर झुकाते हैं, हजारों नौकर उसकी हाजिरीमें रह कर क्षमा क्षमा करते हैं और जिसने धर्मको ही अपना शरीर, घर सब अर्पण कर रखा है, जो पापका विचार भी नहीं करता, जो सब जीवों पर दया रखता है और जो यह मानता है कि अँधेरेमें या अँधेरे स्थानमें रह कर भी जो काम किये जाते हैं उनको देखनेवाला कोई है, पुण्य या पापका वदला देनेवाला कोई है, जिसके हृदयसे पलभर भी हरिका नाम नहीं हटता, ऐसा परम भक्त सदा दुःखी देखनेमें आता है, उसका व्यवहार भी वहुत विगड़ा हुआ जान पड़ता है, वह वन वन भटकता है और कोई भी मनुष्य उसे प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता. इन सवका क्या कारण होगा? कृपाकर आप कहें, क्योंकि इस विषयमें मुझे नित्य वड़ा भारी संशय सताया करता है.

बटुक मुनि बोला, " यह कोई बड़ा कौतुकवाला और ऐसा प्रश्न नहीं है जो समझमें न आसके; क्योंकि ऐसी प्रथा तो आदि अनादिसे चली आती है. पुण्यात्मा पीड़ित और पापात्मा सुखी जान पड़ता है, इसका कारण मनुष्य नहीं जानता, कारण इतनाही है कि वह अविद्यामें लिप्त और अज्ञानसे घिरा हुआ है. यह तो निश्चय ही है कि, धर्मात्मा पुरुष धर्मात्मा है और संसारको वैसाही मालूम होता है परंतु उसके भीतरके छिपे हुए घर (अन्तःकरण) में नजर डालोगे तो जानोगे कि वहाँ परमात्माका प्रेम, जो सब सुख, सब आनंद और सब कल्याणका कारण है, दृढ़तासे नहीं जमा, उसकी श्रद्धा (विश्वास) अस्थिर है और प्रतिज्ञामें शिथिलता है और यही दुःखका बड़ा कारण है. लौकिक दृष्टिसे देखते हुए इस धर्म वीरके हृदयमें अभी ऐसा वैराग्य व्याप्त नहीं हुआ कि जो नहीं होता है वह होगा नहीं और जो होना है वह मिटेगा नहीं, पर वह तो और भी भावी चिंताग्निमें सदा व्यर्थ तपा करता है. यदि इस चिंताके समय वह अपने हृदयको शांत करनेकी औषधि पिये तो वह स्वयम् सुखी हो इतनाही नहीं, परंतु साथ ही उसे सब व्यावहारिक सुख भी मिलें. जिस जीवने शास्त्रका बहुत कुछ विचार किया हो, धर्ममें पूर्ण प्रेम दिखलाया हो, लोगोंमें उसका बोध भी अच्छी तरह कराया हो, परंतु वासना (इच्छा), जो सब दुःखोंका मूल है, त्याग न किया हो तो उसको उत्तम पद, उत्तम स्थिति, कैसे प्राप्त हो ? इस विषयमें एक पुरानी कथा है, वह तुमसे कहता हूँ सुनो. "

थोड़ी देर आँखें बंद कर,, महात्मा बटुक बोला; विवेकी, विरक्त, शम (शान्ति) आदि गुणोंसे युक्त राजा युधिष्ठिर वनवास भोगता था, वहाँ एक समय श्रीकृष्णपरमात्मा पधारे. अनेक मुनियोंके बीचमें परमात्मा विराजे हुए थे, उस समय पाँचो पाण्डवोंमें बड़े राजा युधिष्ठिरने परमात्मा भगवान—श्रीकृष्णसे पूछा " महाराज ! मैं सब तरह धर्मयुक्त व्यवहार करता हूँ, कभी भी पापाचरण नहीं करता, कभी झूठ नहीं बोलता, गौब्राह्मणका प्रतिपालन करनेवाला हूँ परमात्माके चरणकमलमें सदा चित्त लगाये रहता हूँ और गुरु जनोंको मान देकर मैंने संसारके सब विषयोंको त्याग दिया है, तो भी मुझे वन जंगलोंमें भटकना पड़ता है ! ये भाई भी मेरे सबबसे विपत्ति झेलते हैं, द्रुपदराजाकी सुकुमार कन्या जो राज्यासनके योग्य है वह इस कुशकी साथरी पर सोती है और कौरव, जो अधर्मका व्यवहार

करते हैं, ईश्वरको भी नहीं डरते और जिन्होंने कपट करके मुझे वनमें भेजदिया है, वे राज्यासन भोगते हैं, इसका क्या कारण है? धर्मके विषयमें मैं नहीं जानता कि मेरी तरफसे कुछ भी कचाई है, तो भी मैं संकट झेलता हूँ. महाराज इसका क्या कारण है? वह कृपा कर आप मुझसे कहें."

श्रीकृष्ण मुस्कुरा कर बोले; "ज्ञानीको अपने स्वरूपमें प्रमाद से बढ़ कर दूसरा कुछ भी अनर्थकारी नहीं है, क्योंकि प्रमादसे मोह, मोहसे अहंवृत्ति, अहंवृत्तिसे बंधन और बंधनसे दुःख होता है और इस दुःखका कारण मनकी कदराई (प्रतिज्ञाकी शिथिलता) है. यदि मनुष्य दृढ़ रहे तो दुःख नहीं आता परंतु जब दृढ़तामें शिथिलता होती है तभी मनुष्य दुःख भोगता है. मनुष्य अपनी यह भूल देख या जान नहीं सकता; क्योंकि यदि वह देखता जानता हो तो दूसरेको दूषित न करे, परंतु अपने ही दोषको देखे."

यह सुन राजा युधिष्ठिर चुप हो रहे, परंतु अर्जुनने कहा; "भाई मेरी प्रतिज्ञामें तो कुछ भी कमी नहीं है तो भी मेरी अवस्था सबके समान ही है." श्रीकृष्णने कहा; "तेरी प्रतिज्ञा यथार्थ नहीं होगी यदि हो तो ईश्वर संकट नहीं आने दे." यह सुन अर्जुन बोला; "मेरी प्रतिज्ञा (टेक) में कुछ भी कमी (न्यून) नहीं है. आप यदि ऐसा सोचते हो तो भले ही सोचो; परन्तु मैंने तो अपना यथार्थ धर्म पाला है और अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ी." अर्जुनकी ये बातें श्रीकृष्णको नहीं रुचीं. उन्होंने उन बातोंको वहीं रोक दिया क्योंकि उन्होंने सोचा कि जबतक अर्जुनको उसकी टेककी शिथिलता नहीं बताई जायगी तबतक वह नहीं मानेगा कि सत्य क्या है? दूसरी बातोंमें कुछ समय बीतने पर अर्जुन और श्रीकृष्ण गंगातट पर फिरनेको गये. रास्तेमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा; "तेरे गलेमें जो यह माला है, वह मुझे दे." अर्जुनने कहा; "माला तो मेरे जीके बदले है." प्राण भले ही जाय परंतु माला तो मैं किसीको नहीं दूँगा. इन्द्रने जब यह माला मुझे भेट की थी तो कहा था कि, 'तू यह माला किसीको नहीं देना' इससे यह माला जी रखनेवाली है. श्रीकृष्णने कहा; "अर्जुन तेरी इस टेकसे मुझको बड़ा आनंद होता है, पर मित्र, जब प्राण-संकट आ

जाता है तो टेक नहीं रहती. नीति भी कहती है कि जब संकट आवे तब धनसे कुटुम्बकी रक्षा और जब प्राणसंकट आवे तब कुटुम्बको छोड़ कर प्राणकी रक्षा करना चाहिए." प्राण चले जाने पर फिर यह माला तेरे किस कामकी है ? उस समय इसे चाहे जो भोगे, इस लिए भाई, प्राणसंकटकी बात रहने दे. प्राण जाता हो तो यह माला तो क्या परंतु, सबका त्याग कर—धन पुत्र और स्त्रीका भी त्याग कर मनुष्य प्राणकी रक्षा करता है और उस समय सारी टेकें भूल जाता है. प्रत्येक प्राणीको पहले जीने और फिर सुख भोगनेकी इच्छा (तृष्णा) होती है इस तृष्णाकी उन्मत्त घोड़ी क्षणभरमें दूर जाती है क्षणमें दौड़ती दौड़ती अपने अड्डेमें आकर घुस जाती है और इस तरह वह सदा कामही किया करती है. जबतक इस घोड़ीका नाश न हुआ हो तब तक प्राणीकी इच्छा सबलही रहती है और तबतक प्रत्येक उपायसे सब मनुष्य प्राणोंकी रक्षा करतेही हैं. अर्जुनने कहा, 'चाहे जैसा हो परंतु मेरी टेक है कि, चाहे जो हो, चाहे जितना संकट आवे, तो भी इस मालाको नहीं छोड़ूँगा.' मेरी प्रतिज्ञा है कि यदि मैं इस मालाको त्यागूँ तो मुझे रामदुहाई है. इस प्रकार परमात्मा और उनके प्यारे सखाकी बातचीत हो रही थी, इतने में संध्या हुई. अर्जुनका नित्य नियम था कि चाहे जहाँ हो अपनी संध्या करनाही चाहिए. इस नियमके अनुसार वह कपड़े उतार कर नदीके पासके घाट पर नहाने गया. ईश्वरकी लीलाएँ बड़ी विचित्र होती हैं अर्जुन ज्योंही डुबकी मार कर पानीसे बाहर निकला और सामने देखा त्योंहीं एक भयंकर सिंह घूँउं गर्जना करते हुए मुँह फैला कर अर्जुनकी तरफ खड़ा दिखा. उस समय अर्जुनके पास अस्त्र-शस्त्र तो दूर रहे, परंतु एक धोतीके सिवा दूसरा कपड़ा भी नहीं था. सिंह गर्जना कर अर्जुन पर कूदनेको तैयार था. इस समय अर्जुनके पास कोई हथियार नहीं था इस लिए प्राणकी रक्षाके लिए उसने अपने गलेकी माला उतारी और मंत्र पढ़ कर सिंह पर फेकदी. सिंह मालाको गलेमें पहर कर अदृश्य हो गया और अर्जुन विस्मित होकर देखता रहा कि यह क्या हुआ?

फिर सायं संध्या कर अर्जुन श्रीकृष्णके पास गया और आदिसे अंततक सिंह सम्बंधी सारी बातें कह सुनाईं, परन्तु माला जानेकी बात छिपा रखी. जब वह अपने कपड़े लेनेको गया तो कपड़े पर माला पड़ी देखी. श्रीकृष्णने मुस्करा कर कहा 'क्यों अर्जुन तेरी टेक और रामदुहाई कहाँ है ? जब प्राणकी रक्षा करना हो तो सबका त्याग करना चाहिए. महात्माओंका

यह आदेश उचित ही है. क्योंकि प्राणसे ही सब है.' यह सुन कर अर्जुन शर्मा गया. और उसे मालूम हुआ कि उसकी टेक दृढ़ नहीं है. उसने मनमें निश्चय किया कि भविष्यतमें अपनी टेक शिथिल नहीं होने दूँगा. जो परमात्मा सबके हृदयमें विहार कर सबके विचारोंको जाननेवाला है उसने अर्जुनकी यह इच्छा जान ली और विचार किया कि यदि अर्जुनको अपनी टेकका अभी यह अभिमान है तो उसकी परीक्षा फिर लूँगा.

इस प्रसंगका कुछ समय बीतने पर एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन वनमें फिरते फिरते दूर निकल गये. गर्मी इतनी पड़रही थी मानो प्रलयकालकी अग्नि ही बरसती हो. यह गर्मी कलेजेको जलादेनेवाली थी. दोनों मित्र बहुत दूर आनेसे थक कर लोथपोथ हो गये थे. भूख भी कड़कके लगी थी और रास्तेमें एक वृक्ष भी नहीं था जिसकी छायातले बैठ कर शान्ति लाभ करें. कोई जलाशय भी न था जहाँ पानी पीकर विश्रांति लें. थक जानेसे अर्जुनके पैर इधर उधर पड़ने लगे. तब उसने परमात्मासे कहा भाई, मुझसे तो अब एक भी डग चला नहीं जाता. यदि थोड़ासा जल मिले तो चल सकूँगा; नहीं तो मैं तो यह बैठा." श्रीकृष्णने कहा; "जरा आगे बढ़ो वहाँ पानीकी खोज करेंगे." ऐसा कह कर श्रीकृष्ण परमात्माने अर्जुनको उठाया. इस स्थितिमें अर्जुन बातें करते कुछ आगे चला, इतनेमें एक वृक्ष दिखलाई दिया, अर्जुन वहाँ बैठ गया और परमात्मासे कहा, "मुझे कुछ खानेको ला दो." तब श्रीकृष्णने कहा, "तू यहाँ बैठ मैं गाँवसे जाकर कुछ खानेको ले आऊँ, परंतु यहाँसे तू आगे पीछे होगा तो मैं तुझको कहाँ ढूँढूँगा?" अर्जुन बोला: "अजी, राम राम कहो, विश्वास रखो कि मैं यहाँसे एक पैर भी आगे न बढूँगा. जब मुझमें एक डग भी चलनेकी शक्ति नहीं है तो आगे पीछे कहाँ जाऊँगा? यदि इस पेड़की छायासे एक पैर बाहर रखूँ तो मुझे रामदुहाई." उसी समय श्रीकृष्ण भोजन लानेको पासके गाँवमें गए.

इस समय सूर्य ऐसा तपने लगा, मानो संसारका नाश करनेके लिए बारहो आदित्य एक साथ तपने लगे हों. पानी बिना अर्जुनका गला घुँटने लगा और थूँक निकलना भी बंद हो गया. वह तड़फड़ाने लगा और थोड़ी देरमें पानी पानी कहते मूर्छित हो गया. परंतु जब कुछ होशमें आया तो भिखारियोंका एक झुण्ड किसी गृहस्थको घेरे हुए उसको

आते दिखा., गृहस्थ भिखारियोंको चिहुरे और भूने चने बाँट रहा था. अर्जुन सचेत होकर अपनी प्रतिज्ञाको भूल, स्थिरकी हुई वृक्षकी छायासे उस ओरको बढ़ा और जो आदमी चिहुरे चने बेच रहा था उससे उन्हें खरीदा. उसमेंसे कुछको खाकर पानी पिया और शेषको खाते हुए उस वृक्षकी तरफ जाने लगा. इतनेमें श्रीकृष्ण भी एक मनुष्यके हाथमें भोजन और पानीका घड़ा पकड़ाये हुए वहाँ आ पहुँचे.

अपनी प्रतिज्ञाको भंगकर अर्जुन इस समय वृक्षसे दूर खड़ा हुआ चिहुरे चने चाब रहा था. उसको देख कर श्रीकृष्णने पूछा: " अर्जुन यह क्या ? यह भोजन कहाँसे लाया ?" अर्जुन बोला " भाई, भूखके मारे प्राण व्याकुल होगये थे, इस लिए इन्हें बेचनेवालेसे लेकर खा रहा हूँ. " श्रीकृष्ण बोले; " तूने तो प्रतिज्ञाकी थी कि यहाँसे जरा भी हिलूँ तो मुझे रामदुहाई है, तो उसके पास तक कैसे गया ? " यह सुन कर अर्जुन शर्मिन्दा होकर चुप हो रहा. श्रीकृष्णने कहा, " अर्जुन ! क्या तेरी प्रतिज्ञा ऐसी ही है ? यदि तुझसे थोड़े समय तक भोजन बिना नहीं रहा गया और उसमें ही तूने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी तो फिर महत्वके दूसरे कार्यमें तू अपनी प्रतिज्ञा कैसे रखेगा ? परंतु इसमें तेरा दोष नहीं है. मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृतिही ऐसी है. पहले तूने कहा था कि मेरी टेकमें शिथिलता नहीं है, पर, अब तुझको अच्छी तरहसे मालूम हुआ होगा कि तेरी प्रतिज्ञा बिलकुल विचल है और इस लिए प्रतिज्ञामें अस्थिरताही दुःखका कारण है. यदि ज्ञाता लोग अपनी प्रतिज्ञामें बद्ध रह कर परमात्मा पर पूर्ण भरोसा रखें तो वे दुःखके बंधनसे क्यों न छूटें ? संसार रचते समय मैंने सब विधियाँ ऐसी बनाई हैं कि यदि सब प्राणी भक्तिपूर्वक मेरा भरोसा करें तो उनकी एक भी मनोभिलाषा अपूर्ण न रहे. परंतु प्राणियोंकी वृत्ति ऐसी नहीं है. उनका विश्वास—दृढ़ता—श्रद्धा निरे शिथिल हैं और इसीसे वे दुःख पाते हैं. जो मनुष्य यह संकल्प करके संसारमें दृढ़तासे विचरता है कि मेरी निन्दा करनेसे किसीको संतोष होता हो तो वह भलेही करे, वह ऐसा करके मुझ पर बड़ा अनुग्रह कर रहा है और वह मेरी प्रशंसा करे तो भलेही करे उसमें मुझको जरा भी हर्ष नहीं है जो कल्याणकी इच्छा रखता है वह बहुत दुःखसे प्राप्त किया हुआ धन भी परार्थके लिए तज कर आनंदमें रहता है. इस तरह प्राणीमात्रकी इच्छाके अनुकूल अर्थात् उनको प्रसन्न कर, उनके हितमें

तत्पर रहनेवाला मनुष्य अपनी प्रतिज्ञामें सुदृढ़ रह सकता है. परंतु अपने लाभके लिए हाय हाय करनेवाला पुरुष, इस सुखहीन संसारमें कैसे प्रतिज्ञा रख सकता है ? तुम और राजा युधिष्ठिर सबसे समान व्यवहार नहीं करते. इसीसे तुम दोनों दुःख पाते हो. जो मन, वच, कर्मसे यह चाहता है कि सब सुखी निरोगी और आनंदमय रहें, किसीको दुःख न हो, उसीको दुःख नहीं होता. अभी तू वैसा नहीं बना, यही संकटका कारण है. तुझे यदि रामकी आन पर पूर्ण विश्वास होता, तो क्या तू जानता है कि परमात्मा तेरी सहायता नहीं करता ? अवश्य करता ! परंतु तेरी रामकी यह आन दृढ़ नहीं थी, जिसे मैं अच्छी तरह बतला चुका हूँ, और जिससे तुझको विश्वास हुआ होगा कि अपने दुःखके कारण तुम सब स्वयम् ही हो. "

थोड़ी देर तक विचार शून्य हो फिर सावधान हो कर अर्जुनने, पूछा "महाराज ! तो सच्चा टेकी कैसा होता है, मुझे बताओ. श्रीकृष्णने कहा अच्छा." अर्जुन और श्रीकृष्ण फिर वहाँसे रवाना हुए. रास्तेमें कृष्णने कहा; " अर्जुन ! तू पूर्ण टेकवालेको देखना चाहता हो तो अब इस वाने (वेश)को बदल साधु बन कर गलेमें माला डाल भिक्षान्देहि कहना सीख. " दोनोंने साधु वेश धारण करके पासके गाँवमें प्रवेश किया.

इस नगरमें प्रीतिपूर्वक साधुसंतोंका सत्कार करनेवाला, सब धर्मको अच्छी तरह पालनेवाला, अपने नित्यनियमोंमें परिपूर्ण, एक धर्मनिष्ठ महावैष्णव ब्राह्मण रहता था उसके यहाँ दोनों भिक्षान्देहि कह कर खड़े रहे. ब्राह्मणने प्रणामपूर्वक उनसे भोजनके लिए प्रार्थनाकी, दोनोंने वह निमंत्रण स्वीकार करलिया, परंतु शर्त यह थी कि उस वैष्णवकी स्त्रीही भोजन तैयार करके खिलाये तो खायँ. ब्राह्मणने अपनी स्त्रीसे कहा इन महात्माओंके लिए स्वच्छ शुद्ध और पवित्र भोजन तैयार कर इन्हें भोजन कराओ. पतिकी आज्ञा मानकर उस ब्राह्मणकी दोनों स्त्रियाँ उन संतोंकी सेवामें लगीं. शीघ्रही भोजन बना कर उन्होंने उनको आसन पर बैठाया. तब अर्जुनसे श्रीकृष्णने कहा; ' अर्जुन ! जिस टेकको पूरा करनेसे मनुष्य दुःखका लेश भी नहीं पाता वह टेक तुझे अभीही मालूम होगी. ' निश्चयपूर्वक विश्वास कर कि टेक चली गई तो फिर कुछ भी नहीं रहता. जैसे उमर बीत जाने पर कामका विकार नहीं रहता, जल

सूख जाने पर सरोवर व्यर्थ है धन जाने पर परिवार व्यर्थ है और भीषण घावसा लगता है, तत्वज्ञान होने पर संसार खानेको दौड़ता है, वैसे ही टेक जाने पर आपत्तिसे रक्षा नहीं होती. जो टेकी है परमात्मामें जिसकी पूर्ण भक्ति है, और अपार संकट पड़ने पर भी जो उस भक्ति (श्रद्धा)को विचल होने नहीं देता, परंतु धीरजके साथ निवाहे जाता है, वही दुःखके पारको पाता है. इस घरका स्वामी पूर्ण टेकी है, ईश्वर पर भरोसा और श्रद्धा रखता है और चाहे प्राण भले ही चले जायँ परंतु टेक छोड़नेवाला नही है. इसकी प्रतीति तुझे आजही क्षण भरमें हो जायगी उसे तू देखना." इसी समय उस ब्राह्मणकी स्त्री सोनेकी थालीमें भोजन परोस कर उनके सामने लाई और लज्जा तथा विनयपूर्वक उन महात्माओंसे भोजन करने के लिए प्रार्थनाकी. तब श्रीकृष्णने पूछा; "सेठजी कहाँ हैं?" एक स्त्रीने कहा; "महाराज! वे दुकान पधारे हैं." श्रीकृष्णने कहा, "उनको बुलाओ उनके विना हम भोजन नहीं करेंगे." दूसरी स्त्री बोली; "महाराज! वे भोजन करके गये हैं." श्रीकृष्णने कहा; "हम और वह साथ ही भोजन करेंगे." ऐसी हठमें उन दोनों साधुओंको बैठे देख कर उस ब्राह्मणकी स्त्रीने अपने स्वामीके पास सब वृत्तान्त कहला भेजा. अब तो वह बड़े धर्म संकटमें पड़ा. बहुत कुछ विचार कर वह घर आया और महात्माओंको प्रणाम कर कहा; महाराज! मैंने भोजन कर लिया है, इस लिए आप लोग यह पवित्र भोजन पानेकी कृपा करें. मैंने आपके पहले ही भोजन कर लिया है इसे यदि आप अपराध समझते हों तो मुझको क्षमा करें. परंतु संतो! "मेरा नियम अकेले ही भोजन करनेका है. इसीसे मैंने अलग भोजन कर लिया है." श्रीकृष्णने कहा; "होगा, परंतु आज तुम मेरे साथ भोजन न करोगे तो हम उठ कर चले जायँगे." उस संतसेवीपर यह एक बड़ा धर्म संकट आ पड़ा. यदि शुद्ध पवित्र महात्मा संत भोजनकी थाली छोड़ कर चले जायँ तो एक पवित्र पुरुषके लिए इससे कष्टकारक और कौन विषय होगा! निराश होकर उस ब्राह्मणने एक पाटा (पीढ़ा) और रखवाया. इतनेमें बहुतही दुःखित चित्तसे काँपते हुए एक स्त्रीने थाली रखी. ब्राह्मणकी टेक जानेका यह वास्तविक समय था परंतु वह टेक छोड़नेवाला नहीं था. थालको सामने देख कर वह अकस्मात् बोल उठा "इन थालियोंमें आमका अथान क्यों नहीं रखा? बैठो, मैं छत परसे अथान निकाल लाऊँ." इतना कह कर वह गृहस्थ ब्राह्मण छत पर गया,

और जब वह बहुत देरतक नहीं लौटा तो पहले एक स्त्री गई, फिर दूसरी गई, परंतु उनमेंसे भी कोई नहीं लौटी. यह देख कर अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा, "क्या कारण है कि तीन आदमी अथान लेने गये, उनमेंसे एक भी नहीं लौटा. महाराज, मुझे तो इसमें कुछ भेद मालूम होता है." श्रीकृष्ण बोले "अर्जुन! यही टेक और यही प्रभुकी दृढ़ भक्ति है. चल तुझे बताऊँ टेक कैसी होती है." ऐसा कह दोनों आसनसे उठ कर छत पर गये वहाँ एक कमरेमें दोनों स्त्रियाँ और पुरुष मृतकवत् पड़े थे और उनका अंतरात्मा (जीव) परमात्माके पास चला गया था.

इन सब वृत्तान्तोंसे अर्जुन कुछ भी नहीं समझ सका; उन तीन जनोंको निर्जीव देख कर उसे चित्त भ्रम हो गया, वह श्रीकृष्णसे बोला; "महाराज! मैं इस रहस्यका कुछ भी भेद नही समझ सकता, इस लिए आप मुझे समझावें कि ये तीनों कौन हैं?" और उनके इस तरह आत्महत्या करनेका क्या कारण है? श्रीकृष्णने कहा; "अर्जुन! टेकही इस सबका कारण है."

"इसका भेद तेरी समझमें नही आता तो मैं तुझे समझाऊँगा।" ऐसा कह कर श्रीकृष्णने ज्योंही अपनी गुणमयी दैवी माया दूरकी त्योंही वे तीनों प्राणी जीवित हो कर बैठ गये. इस समय अर्जुन और श्रीकृष्णने भी अपना असलीरूप धारण कर उनको देखा और वह ब्राह्मण, हाथ जोड़ आगे खड़ा हो कर अपराधकी क्षमा माँगने लगा. श्रीकृष्णने उसको आशीर्वाद देख कर पूछा; "भक्त! मेरे परमभक्त! तेरे इस तरह करनेका क्या प्रयोजन था, वह बता." ब्राह्मण बोला: "परम नियंता, आपसे क्या छिपा है जो मैं आपको बताऊँ." आपकी यदि आज्ञा हो तो मेरे अपराधकी कथा सुनिये! मेरा पिता मुझको छुटपनमें छोड़ कर स्वर्ग सिधारा. उसने मेरा व्याह इस बड़ी स्त्रीसे किया था, इससे जब मैं और यह दोनों तरुणाईमें आये तो अपनी माताकी आज्ञासे मैं अपनी स्त्रीको लानेके लिए उसके मायके गया. आकाशमें जैसे पक्षियों और जलमें जलचरोंके पैर दिखाई नहीं देते, वैसेही भावीकी गति भी परमेश्वरके सिवा दूसरा कोई नहीं जान सकता. अपने श्वशुरके गाँवके निकट पहुँचतेही एक कौतुक हुआ. आषाढ़का महीना था; गाँवकी बहुतसी कन्याएँ गाँवके बाहर गोबर लेनेको आई थीं. उनमें यह स्त्री भी कन्यारूपसे गोबर लेने आई थी. उसने अपनी टोकरीमें बहुतसा गोबर भरा था और दूसरी कन्याएँ वहाँसे चली गई थीं, मैं घोड़े पर

बैठे हुए जा रहा था, उसने बुला कर कहा; " घोड़ेके सवार ! मेरे सिर पर यह टोकरी रखवा देगा ? " हाँ कह कर घोड़ेसे उतर ज्योंही मैंने गोबरकी टोकरी हाथमें ली त्योंही यह बोली; ' तुम दूरसे मेरे सिर पर टोकरी रख दो.' यदि मेरे शरीरमें तुमने जरा भी हाथ लगाया तो तुम्हें राम दुहाई है. मैंने कहा, ' बाला तू जरा भी चिन्ता न करना भला ' मैं तेरे शरीरका जरा भी स्पर्श न करूँगा, स्पर्श करूँ तो मुझको रामदुहाई है. गोबरकी टोकरी उसके सिर पर रख कर मैं घोड़े पर सवार हो गाँवमें आया और श्वशुरके यहाँ उतरा. मैं अपने श्वशुरसे बातें कररहा था उसी समय यह स्त्री गोबरकी टोकरी लेकर आते हुए मालूम हुई और उसी समय मैंने उसकी सखियोंके कहनेसे जाना कि जिस कन्याके सिर पर मैंने गोबरकी टोकरी रखी थी वह मेरी यही स्त्री है. बस हो चुका. इसने प्रतिज्ञा की कि मेरे शरीरको स्पर्श करो तो तुम्हें रामदुहाई है और मैंने प्रतिज्ञा की कि मैं तेरे शरीरको छुऊँ तो मुझे रामदुहाई है. इस लिए अब हरीच्छानुसार व्यवहार करनेका मैंने निश्चय किया है. इसकी सत् प्रतिज्ञा है और मैंने भी सत् प्रतिज्ञा की है. इस लिए इस संसारमें अब धर्मसे व्यवहार करना ही उत्तम और ईश्वर टेकीके कल्याणका मार्ग है.

प्रतिज्ञापालन करना ही मनुष्यका जीवन है. महाराज ! मैंने निश्चय मानलिया है कि जो भावी है वह मिटनेवाली नहीं और जो भावी नही है वह होनेवाली नही हैं. ऐसे विचारसे मैंने सदाके लिए इसे त्याग दिया और मनमें प्रार्थना भी की कि हे ईश्वर मेरी रामदुहाईका सत्य पूर्ण करनेको मुझे बल दो. फिर इस स्त्रीको ले कर मैं अपने घर आया और पहली ही रातको जब यह मेरे सोनेके कमरेमें आई तो मैंने पूछा " कुछ याद है ? " इसको स्मरण नही था मैंने सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि, ' अब तुम रामदुहाई निवाहने लिए धर्मसे वर्ताव करो और मुझे बर्तने दो. संसारके सुखको छोड़ो और धर्म पर प्रीति करो. संसारमें श्रेय (यश) नहीं परंतु धर्ममें है. ' पूर्व जन्मका इसका थोड़ा बहुत संस्कार था इससे इसने भी रामदुहाई यथार्थ रीतिसे पाली है और यह नित्य ईश्वरके ध्यानमें लगी रहती है.

एकबार ऐश्वर्य आदिको देख कर मेरी स्त्रीके मनमें विचार हुआ कि मैं कोई संतान उत्पन्न कर वंशका नाम रखूँ. इस लिए आग्रह करके इसने मेरा व्याह अपनी बहनसे करा दिया. ईश्वरकी गति बड़ी बलवती है इस

लिए अपने घरसे विदा करनेकी शुभ मुहूर्तमें ही मेरे श्वशुरने मुझे उपदेश देकर कहा, " जमाई जी ! आपने जैसे मेरी बड़ी लड़कीको सुख दिया है उसी तरह मेरी इस दूसरी लड़कीको भी सुखदेना. यदि इसमें और उसमें जरा भी भेद भाव रखो, तो तुम्हें रामदुहाई है. " देव ! देखो भावी कैसी प्रबल है. अब मैं क्या करूँ ? मैंने उसी समय ईश्वरसे प्रार्थनाकी कि भगवन् ! आपने जैसे मेरी एक रामदुहाई निवाही है उसी तरह यह दूसरी रामदुहाई भी निवाहनेको बल दो. यह स्त्री भी मेरे लिए माताके समान है. ऐसा विचार कर इसको साथ लेकर मैं विदा हुआ. घर आकर यह वृत्तान्त अपनी बड़ी स्त्रीसे कहा उस दिनसे ये दोनों बहने ईश्वरके ध्यानमें मग्न रहती हैं और यथायोग्य अपने धर्मका पालन करती हैं.

अनिच्छा और अज्ञानपनेसे प्राप्त हुई ईश्वरेच्छाको मान कर उसके अनुसार मैं संसारके सब व्यवहारोंसे दूर रहता हूँ और प्राणका अंतकाल आने पर भी मैंने यह प्रण पालनेका निश्चय करलिया है. इस लिए इस शरीरसे इन स्त्रियोंका सब संबंध त्याग दिया है. शब्दस्पर्शके सिवा इनसे सब व्यवहार बंद कर दिया है, क्योंकि शब्द स्वयम् परमात्माका ही स्वरूप है अर्थात् दूर रह कर इनसे बोलनेके सिवा और सब व्यवहार जैसे इनके हाथका भोजनकरना–पानीपीना–एकान्तमें मिलना–विचार करना आदि त्याग दिया है; क्योंकि इन व्यवहारोंसे भी किसी समय स्पर्श हो जाना संभव है. नित्यके सहवाससे सदा चंचल रहनेवाले मनके कारण, चाहे वह मन कठिनाईसे भी वशमें किया गया हो तो भी जैसे पिंजरेमें बंद किया हुआ सिंह छूट कर बड़े बड़े अनर्थ कर बैठता है उसी तरह उससे मेरी टेकको भी भय होनेसे मैंने धैर्यपूर्वक उसे बुद्धिके सहारे सब तरहसे धीरे धीरे जय किया है और ऐसा मार्ग ग्रहण किया है कि जिससे इन सब पदार्थोंका विचार तक भी न हो सके. चंचल और अस्थिर मन चाहे जब हाथसे छूट जाय इस लिए बड़े कष्टसे उसको नियममें रखनेके लिए मैंने सबका त्याग किया है और सिर्फ भक्ति तथा वैराग्यमें अपना कालक्षेप कर रहा हूँ.

आप महात्मा आज मेरे यहाँ पधारे हैं और मुझ गरीब पर दया कर भोजन करनेकी इच्छा प्रकट की है और सो भी इन स्त्रियोंके

हाथसे ही. आपके आज्ञानुसार इन स्त्रियोंने भोजन तैयार किया परंतु आप दयासागरने कृपा करके मेरे समान पापी जीवको भी एक पंक्तिमें बैठा कर भोजन करनेकी आज्ञा दी. अब यदि मैं आपके साथ भोजन करूँ तो मेरी रामदुहाईमें न्यूनता हो, मेरी प्रतिज्ञा भंग हो, क्योंकि इनके हाथका भोजन करूँ तो यह भी एक तरहका स्पर्श (छूना) ही है. मैं आपकी आज्ञाको इंकार नहीं कर सकता और यह भोजन करनेसे एक तरहका स्पर्श होता है और प्रतिज्ञा भंग होती है, इस महाखेदसे, अथानके बहाने अटारीपर जाकर मैंने परमेश्वरसे प्रार्थनाकी कि 'इस संकटसे बचाओ.' ऐसी इच्छा करनेसे उस परमेश्वरने तुरंत ही दयापूर्वक मेरे प्राणको इस शरीरसे मुक्त कर मेरी टेक रखी है. जैसे कोई बंध मोक्ष, तृप्ति, चिन्ता आरोग्य और क्षुधाके सुख दुःखका अनुभव करता है और उसीको वे मालूम होते हैं वैसे ही टेकमें शिथिलताका दुःख भी वही जानता है जो उसे भोगता है.

उस ब्राह्मणकी ऐसी दृढ़ता देख कर अर्जुन चकित हो गया. श्रीकृष्णने फिर कहा; "इन स्त्रियोंने शरीर छोड़ा वह सिर्फ इस भयसे ही छोड़ा है कि अपने पतिके मरजाने पर फिर लोकापवाद होगा." परंतु ये दोनों महासती हैं पतिकी धर्मप्रतिज्ञा सफल करनेवाली हैं. स्त्रियोंका धर्म यह है कि सब तरहसे पतिके धर्मकार्यमें सहायक रहें. पतिकी आज्ञा शिरोधार्य करें और यह विचार कर उसीकी भक्तिमें लगी रहें कि पति जैसे इस लोकमें काम और अर्थका देनेवाला है वैसे ही परलोकमें धर्म और मोक्षका दाता है. इस नित्यधर्मका अनुसरण करनेवाली इन सत्यव्रतशाली स्त्रियोंका जीवन धन्य है. यही योगिनी हैं. क्योंकि संकल्प (इच्छा) का संन्यास (त्याग) किये विना कोई भी योगी नहीं हो सकता है और ब्रह्मदेव! तुम श्रेष्ठ हो! आप जानते हो कि मैं कृष्ण और मेरा यह सखा अर्जुन है. इस लिए मेरी आज्ञा मानो और आजसे तुम संसारके सुखोंको भोगो. तुम तीनोंका यह नया जन्म हुआ है और इस लिए तुम्हारी पूर्व जन्मकी रामदुहाई तुम तीनोंको बंधनमें डालनेवाली नहीं है.

फिर श्रीकृष्ण और अर्जुन उस ब्राह्मणको आशीर्वाद देकर वहाँसे विदा हुए और वह ब्राह्मणगृहस्थ अनेक जन्मोंके सुकृतयोगसे ज्ञान भक्तिपूर्वक परमात्माकी सेवा कर संसारके अलौकिक सुखभोग स्त्रियोंके सहित श्रेष्ठ (परम) गतिको प्राप्त हुआ.

मार्गमें जाते हुए अर्जुनने कहा; "महाराज! इस ब्रह्मदेवके सामने तो मेरी टेक किसी भी गणनामें नहीं है." तब श्रीकृष्ण बोले, काम, क्रोध और लोभ ही मनुष्यको सब संकट पैदा करते हैं. ये तीनों अहंकार वृत्तियाँ मनुष्यकी दृढ़से दृढ़ टेकमें भी शिथिलता प्रकट करती हैं. चाहे जैसे प्रबलको भी शिथिल कर देती हैं. ये तीनों वृत्तियाँ ईश्वरकी भक्तिको भी समयानुसार शिथिल कर देतीं और इसीसे मनुष्य शिथिल रहता है. जो मनुष्य इस विश्वाससे वर्ताव करता है कि ईश्वर ही मेरी लज्जा श्रद्धा (विश्वास) को सुदृढ़ रखेगा; उसीकी कामना ईश्वर पूर्ण करता है उसीकी संकटसे रक्षा करता है. परंतु यदि ईश्वरमें रहनेवाली श्रद्धामें शिथिलता हो तो ऐसे मनुष्यकी टेक ईश्वर कैसे रखे ? जिस समय सिंह तेरे सामने आया था उस समय यदि तेरी टेक सबल होती तो वह पानीमें तेरा क्या कर सकता था ? और यदि थोड़ी देरतक भोजन नहीं मिलता तो कुछ तेरे प्राण तो चलेही नहीं जाते. तेरी टेकमें कितनी शिथिलता है यह बतलानेके लिए ही मैंने यह सारी माया रची थी. अर्जुन ! जो मनुष्य अपनी टेक निबाहता है वह चाहे तीनों ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी कभी संकट नहीं पाता. दुःखका कारण अपनी टेक–विश्वास—श्रद्धामें भरोसा न होना है और हरि भक्ति–परायणतामें शिथिलता होती ही है.

यह कथा कह कर गुरु वामदेवजी बोले; 'भक्तो! जब कभी मनुष्य पर कोई संकट आये तो उसे निश्चित रूपसे जानना चाहिए कि ईश्वरके प्रति उसकी जो आस्था (विश्वास) है उसमें कचाई है. व्यवहारमें शिथिल मनुष्य नित्य देव–दर्शन करता है, घरके बाहर जाकर ईश्वरकी सेवा करता है रात दिन हरि भजन करता है तालियाँ बजा कर हरिकीर्तन करता है परंतु जब उस पर संकट आता है तो वह स्वयम् और दूसरे मनुष्य ऐसा मानते हैं कि अहो ! यह तो बड़ा साधु है, इस पर यह संकट कैसा ? देखनेमें तो उस मनुष्यमें साधुके सब लक्षण हैं परंतु उसकी टेक–ईश्वरी टेक–शिथिल होनेसे ही वह दुःख भोगता है. परंतु यह बात कौन जानता है ? जब स्वयम् दुःख भोक्ता ही नहीं जानता तो दूसरा कौन जाने ?'

चतुर्थ बिन्दु.

बटुक कौन है ?

निखिलं दृश्यविशेषं दृग्रूपत्वेन पश्यतां विदुषाम् ।
बन्धो नाऽपि न मुक्तिर्न च परमात्मत्वमपि न जीवत्वम् ॥

अर्थ—ज्ञानी द्रष्टाके समान संपूर्ण मिथ्या पदार्थोंको देखते हैं तो भी इनको बंधन नहीं होता, मुक्ति नहीं होती, परमात्मपन भी नहीं होता, और न जीवपन ही होता है, अर्थात् वे अलिप्त रहते हैं.

दूसरे दिन सवेरे अपने अपने नित्य कर्म करके, सब ऋत्विज आदि तैयार हुए तब बटुकके आज्ञानुसार वरेप्सुने, यज्ञ समाप्ति कर्मके उपलक्षमें अपार दक्षिणा दे कर ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया और आये हुए सब लोगोंको विदाई और अंतिम सत्कार करनेके लिए एक सुन्दर सजे हुए मंडपमें बड़ी सभा की. उसमें बहुतसे महर्षि, मुनि, ब्राह्मण, देशदेशके राजे महाराजे, प्रतिष्ठित गृहस्थ, सेठ साहूकार और अनेक पण्डित तथा महात्मागण बैठे थे. उनके मध्यमें, सबकी संमतिसे प्रधान आसन बड़े आग्रहसे महात्मा बटुकको दिया गया. पहली पूजा भी इस ब्रह्मनिष्ठ बालककी ही की गई. बटुककी अद्भुत ज्ञान शक्ति देख कर, किसीको भी यह साहस न हुआ कि इसके लिए इंकार कर सके.

इस समय सबके मनमें सन्देह पैदा हुआ कि इतनी बड़ी ईश्वरी शक्तिवाला यह बालक कौन और किसका पुत्र होगा ? अबतक कोई भी यह बात उससे पूछ न सका था. उस मंडपमें ब्राह्मण वेदोच्चार कर रहे थे और महाराज वरेप्सु अपनी भार्या सहित गंध, फूलोंकी माला वस्त्र आभूषण और अपार धन आदि उपहारों द्वारा ऋष्यादिक सभासदोंका पूजन कर रहा था और जैसी जिसकी योग्यता थी उसके अनुसार राज पुरोहितकी सूचनासे

उसका पूजन करता था. सभामें बैठे हुए सब जनोंका यथायोग्य पूजन हुआ, तब अत्यंत संतुष्ट होकर ऋषि और मुनि वेदमंत्रोंसे उसको आशीर्वाद देने लगे, इतनेमें एक कौतुक हुआ.

यज्ञशालाके उत्तरी दरवाजेकी ओरसे एक वृद्ध ऋषि दौड़ते हुए आते दिखाई दिया. उसके मुँहमें साँस नहीं समाती थी, सिरका जटाजूट छूट गया था शरीरमें पसीनेकी धार बह रही थी. वह सभाकी ओर आकर चारो तरफ देखने लगा और बीचके ऊँचे सिंहासन पर महात्मा वटुकको बैठे हुए देखतेही " हे पुत्र ! ओ पुत्र ! " आदि शब्दोंद्वारा दूरहीसे पुकारने लगा.

इस समय वाद्यों और वेदमंत्रोंका भारी शब्द हो रहा था, इस लिए उस ऋषिके शोरको कोई नहीं सुन सका ? इससे वह बहुतही घबराया और अधीर होकर एकदम सभाके बीचमें दौड़ आया. उसने सिंहासन पर बैठे हुए वटुकको अपनी बाहोंमें भरकर दोनों भुजाओंके द्वारा हृदयसे लगा लिया और, "प्रिय पुत्र ! अरे मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्र ! तू जन्मते ही ऐसा निर्दय क्यों बन गया ? इस वृद्ध पिता और वृद्धावस्थामें पुत्र देखकर विक्षिप्त हुई अपनी माता पर भी क्या तुझे दया न आई ? तू इस तरह खेल रहा है ? चल, घर जाकर अपनी वियोगिनी माताके हृदयको शान्त कर. " ऐसा कहता हुआ उसे लेजानेके लिए वह वृद्ध मुनि, वटुकको उठाने लगा, परंतु वटुक नहीं उठा, तब थककर उसके आगे खड़ा होकर वह मुनि बोला; " पुत्र ! चार दिनोंसे अन्नजल छोड़कर, तेरे पीछे अनेक वन, उपवन और आश्रमोंमें भटक भटक कर थके हुए अपने इस पिताको तू क्यों दुःखी करता है ? तेरे बिना तेरी माताने भी अन्नजल त्याग दिया है और अब तेरा वियोग यदि अधिक समय तक रहेगा तो वह प्राण छोड़ देगी ! पुत्र ! क्या तू ऐसा दुःख देनेके लिए ही हमारे यहाँ पैदा हुआ है ! वत्स ! हम दोनों तुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक मानते हैं ! तेरी माताने पुत्रसुख प्राप्त करनेकी अपार उत्कंठासे तप व्रतादि अनेक कष्ट सहकर तुझे प्राप्त किया है उसका क्या यही फल है ? "

यह देख कर सारी सभा एकदम शान्त और आश्चर्य चकित हो गई ! और सब लोग यह जानने लिए कि अब क्या होता है, एक दृष्टिसे पिता-पुत्रकी ओर देखने लगे. तब खड़े होकर वटुकने उस आये हुए ऋषिको प्रणामकर कहा, "अहो ऋषिवर्य ! आप इतने अधीर क्यों हुए हैं ? आपकी

क्या कोई अमूल्य वस्तु खो गई है ? या किसी प्रिय मनुष्यका वियोग हुआ है ? अथवा आप पर किसी तरहका संकट आ पड़ा है ? या तुम्हारे मनमें कुछ मोह हो जानेसे तुम ऐसे हक्के वक्के होकर दौड़ धूप कर रहे हो ? या कुछ कौतुक देखा है ? अथवा अविद्याके कारण भ्रम हुआ है ? कहो देव ! आपको क्या हुआ है ! शांत हो, और आपको ऐसा मोह होनेका क्या कारण है वह कृपाकर मुझसे कहो." ऐसा सुन कर थोड़ी देर विचार करके ऋषि वोला; " पुत्र मैं आतुर नहीं हूँ, मेरी अमूल्य वस्तु भी नहीं गुमी, वियोग नहीं हुआ, और भय नहीं है न मोह और मनमें अस्थिरताही है. मैं अविद्यासे भी भुलावेमें नहीं पड़ा हूँ. तू जो कहता है उनमेंसे कुछ भी नहीं हुआ. परंतु हाँ, मुझको कौतुक अवश्य हुआ है. "

" जिसके वियोगसे मैं इतना आतुर (अधीर) हूँ और जो मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त होनेपर भी ऐसी वातें करता है मानो उसका जन्मसे मेरे साथ कुछ भी संबंध नहीं है, उसका ऐसा करना एक वड़ा कौतुक नहीं तो और क्या है ? परन्तु पुत्र ! मुझको मालूम होता है कि तुझे किसीने जादू किया है, अथवा तेरी सुन्दरता देखकर किसी दुष्टने तुझपर अपनी नीच विद्याका प्रयोग किया है! विना इसके तेरी वुद्धिमें इतना भारी मोह हो ही नहीं सकता कि तू अपने पिता, मुझको भी नहीं पहचानता ? परंतु कुछ चिंता नहीं. मैं यज्ञनारायणके प्रतापसे उन सव उपद्रवोंको दूर करूँगा. परंतु अव तू यहाँसे मेरे साथ शीघ्र घर चल " यह सुनकर वटुक वोला; " ऋषिदेव ! इस संसारमें कौन पिता और कौन पुत्र है ? और फिर घर किसका और वार किसका है ? आप समझते हैं कि मेरी वुद्धिमें मोह हुआ है परंतु आपके इस वचनामृतका पानकर तो मैं देखता हूँ कि आप स्वयमही महामोहसागरमें पड़े हुए है. तुम नहीं जानते कि यह जगतरूप कार्य सव मिथ्या है और उसके सव व्यवहार भी वैसेही झूठे हैं, तो फिर उसमें कौन पिता और कौन पुत्र है, ऐसा विचार आपको नहीं होता, इसीसे मैं पूछता हूँ कि मोह तुमको हुआ है या मुझको ? " यह सुन कर ऋषिने कहा; " तू जो कुछ कहता है वह सत्य है, परंतु यह ज्ञान अभी किस कामका है ! यह तो तत्ववेत्ताओंका विचार है. ये वातें तेरे जैसे वालकके कामकी नहीं हैं. तूने तो अभी अपने माता पिता, हम लोगोंके लाड़ प्यारको नहीं देखा, समवयी वालकोंके साथ निर्दोष वालक्रीड़ा नहीं की और हमारी गोदमें वैठकर मीठे वचनोंद्वारा

हमारे मनको भी संतुष्ट नहीं किया है. यज्ञ नारायणके पूर्ण प्रसादसे तू उत्पन्न हुआ, इस लिए जन्मतेही आठ वर्षका दिखा. ऋषियोंकी सम्मतिसे तेरा यज्ञोपवीत संस्कार किया, परंतु उससे क्या हुआ ! है तो तू बालक ही. अभी तो तुझको श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य पालनकर वेदोंका अध्ययन करना है; जब तू उत्तम रीतिसे गुरुकी शुश्रूषा (सेवाटहल) करके वेदवेदांगमें प्रवीण होगा तब तेरा समावर्तन (गुरुके यहाँसे विद्या पढ़कर घर लौटना) संस्कार कर कुलीन और रूपगुणमें तेरे समान कन्याके साथ तेरा विवाह करूँगा. तब तेरी माता, जिसने तुझको प्राप्त करनेके लिए अनेक तपव्रतादि कर दुःख उठाया है, अत्यंत शुभरूप वधूवरकी सुकुमार जोड़ी देखकर अपने जीवनको सफल मानेगी. तू वेदविधिपूर्वक गृहस्थाश्रमका सुख भोगना और सब धर्मकार्यमें अनूकूल रहनेवाली अपनी स्त्रीके साथ रहकर अनेक यज्ञादिक सत्कर्म करना. फिर उस स्त्रीसे अपने समानही उत्तम पुत्र पैदा करना. इस तरह क्रमशः देव, मनुष्य पित्रादिकके ऋणसे मुक्त हो विषयसुखसे शान्त हो कर तू भलेही फिर परमात्माके स्वरूपका विचार करनेके लिए वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना. परंतु अभी इस पागलपनमें तुझे किसने लगाया है ? प्यारे पुत्र ! ज्ञानी हो और घर जाकर अपनी प्रेम करनेवाली माताके हृदयके शोकको दूर कर."

कारीगरके पुत्रका पात्र.

बटुक बोला; " पिताजी ! आपने जो कहा वह सत्य है, परंतु अविद्यासे घिरे हुए मनुष्यकी नाईं क्या मुझको भी बारंवार नाटक दिखलाना चाहिए ? बटुककी ऐसी बातें सुन कर उसका पिता थोड़ी देरतक चुप रहा, तब बटुक बोला; " पिताजी ! मेरी एक बात सुनो और उसका उत्तर दो. किसी एक श्रेष्ठकारीगरके लड़केने किसी समय खदानसे धातु निकाल कर उसे गलाया, शुद्ध किया, तपाया, ठोंका पीटा, पतरा बनाया और आवश्यक टुकड़ा काट और क्रमशः ठोक पीट फेर एक बर्तन बनाया. फिर उसमें इच्छानुसार योग्य वस्तु भर कर काममें लाया और बड़ा आनंद पाया. दिन बीता और रात आई. सब सो गये. दूसरे दिन सबेरे सबके जागने पर बर्तन बनानेवाला कारीगरका लड़का फुँकनी, निहाई, हथोड़ा, सँड़सी इत्यादि हथियार लेकर फुँकनीसे आग सुलगाने लगा और पहले दिनके बनाये हुए बर्तनको आगमें डाल तोड़ फोड़ कर चूर्ण

बनानेके लिए ज्योंहीं हथोड़ा तान कर मारने लगा त्योंही उसका पिता बोला मूर्ख लड़के, यह तू क्या करता है ?" तब लड़केने उत्तर दिया "पिताजी ! पात्र बनाता हूँ." पिताने कहा; "तेरे सामने जो यह पड़ा है वह क्या है ?" पुत्रने कहा; "यह पात्र (बर्तन) है परंतु पिताजी ! यह तो कलका बनाया हुआ है ! इस लिए इसीको फिरसे उत्तम और नया पात्र बनाता हूँ."

इतना कह कर बटुक बोला; "ऋषिदेव ! भला इस कारीगरके पुत्रका उत्तर कैसा है ? इसकी बुद्धि कैसी सूक्ष्म और यह कैसा उद्योगी होगा ? पुत्रका ऐसा उत्तर सुन कर उसके बापने उसको अवश्य ज्ञानी समझा होगा, क्यों ? ऋषिराज, तुम्हारा भी विचार इस कारीगरके लड़केसे मिलता जुलता है."

ऋषिदेव यह सुन कर अवाक् हो गये, वे सोचने लगे यह छोटा बालक यह भेद पूर्ण क्या बोलता है ! और कोई तो इस बातके भेदको नहीं समझ सका परंतु ऋषि कुछ समझ सका था इससे बोला; "वत्स, क्या तू मेरे विचारोंको उस कारीगरके पुत्रके विचारोंके समान मानता है ? शास्त्रकी आज्ञाको मान कर ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम इत्यादि आश्रम पालनेके लिए, मैंने तुझे जो उपदेश दिया है क्या तू उसे सांसारिक अविद्याका परिणाम मानता है ! अथवा क्या उसके अनुसार तू आचरण कर चुका है कि जिससे अब फिर आचरण करनेके कामको कारीगरके पुत्रके काम जैसा मानता है ? अभी तो तू पैदा हुआ है, इससे इस धर्मको पालना तो क्या परन्तु तूने सुना भी नहीं होगा ! पुत्र ! बालक बुद्धि छोड़ कर घर चल."

यह जन्म नया नहीं है.

यह सुन कर बटुक बोला; "इस संसारमें कौन बालक और कौन वृद्ध है ? मेरी दृष्टिमें तो जगतके सारे प्राणी समवयी दीखते हैं और वास्तवमें वे हैं भी ऐसे ही।"

बटुककी ऐसी बात सुन कर एक जिज्ञासुने पूछा; "देव ! यह कैसे हो सकता है ? इन आँखोंसे तो आप बटुक, (बालक) आपके पिता वृद्ध और मैं तरुण दीखता हूँ, ऐसी स्थितिमें सब समवयी कैसे हो सकते हैं ?" बटुकने कहा; "जिज्ञासु सुन ! जबसे इस बीतते हुए श्वेतवाराहकल्पकी सृष्टिका प्रारंभ हुआ, तबसे सब जीव अव्यक्तरूपसे परमात्मामें समाये

हुए थे. वे अलग अलग व्यक्तिरूपसे प्रकट हुए और उन सबको सृष्टिस्वभाव और अहंकार अनुकूल हुआ. इस अहंकार और सृष्टिस्वभावरूप मायाके आवरणसे वे नाना प्रकारके कर्मोंमें लिप्त होने लगे, और इन कर्मोंके कारण उन्हें फिर इन कर्मोंके फल भोगनेका जो ईश्वरी नियम था वह लागू हुआ. इसके कारण जीवोंसे जैसे काम बने वैसे फल भोगनेके लिए उन्हें वैसे शरीर धारण करने पड़े. अर्थात् अमुक कर्म किया था, उसका फल भोगनेके लिए एक देह धारण किया, परंतु उस देहद्वारा उसी पिछले कर्मका फल भोगनेके साथ ही साथ फिर दूसरे नये कर्म उत्पन्न हुए, तब उन नये कर्मोंके लिए फिर नया शरीर धारण करना पड़ा और उसमें भी जो नये कर्म होते गये उनको भोगनेके लिए फिर तीसरा नया देहधारण करना पड़ा. इस प्रकार जैसे जैसे नये कर्म होते गये वैसे वैसे उनको भोगनेके लिए फिर नये नये देह धारण करने पड़े और इस तरह वारंवार चक्रकी तरह आवर्जन विसर्जन जन्म-मरण और फिर जन्म होते गये परंतु उनका अंत नहीं आया. जैसे घानीके बैलके लिए विशेषरूपसे खड़े रहनेके लिए स्थानका कहीं अंत ही नहीं होता अर्थात् उसके चलनेके मार्गका अंत नहीं होता वैसे ही जीवको देहरूपसे जन्म लेना, कर्म करना, मृत्यु वश होना और कर्मोंके फल भोगनेको नये नये देह धारण करना फिर कर्म करना, पुनः मरना और फिर जन्म लेना पड़ता है! इस लिए हे जिज्ञासुओ! आज तुम, मैं और ये सब जने कुछ नये नहीं हुए. हम सब आदिहीसे साथ हैं और सब अपने अपने कर्म-प्रारब्ध भोगते हैं और ऋषिदेव! तुम्हारे बतलाए हुए आश्रमधर्म इस जन्मके पहले एक नहीं परंतु अनेक बार करके मैं थक गया हूँ. तो भी तुम अभी मुझको उन्हींके करनेका उपदेश करते हो इस दशामें तुम्हारे विचार उस कारीगरके पुत्रसे नहीं मिलते तो और क्या होता है?"

ऐसा अति गूढ़ तत्व विचारवाला भाषण सुन कर ऋषि बिलकुल ही आश्चर्यमें डूब गया और विचार करने लगा कि मेरे यहाँ पैदा होनेवाला यह बालक साधारण जीव नहीं परन्तु कोई देवांशी अवतार है. उसने फिर बटुकसे पूछा; 'वत्स! प्रियपुत्र! जब तू ऐसी ज्ञानकी बातें करता है, तो, तू पूर्व जन्मका कौन है, यह तुझे अवश्य ही स्मरण होगा अतः यह मुझको बतला.' पिताकी यह आज्ञा सुनकर बटुक अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहने लगा.

सनकादिकके उपदेशका ध्यान.

"पिताजी! मेरा जन्म पहले अंगिरागोत्रमें ही हुआ था. वहाँ शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार वेदाध्ययन कर गृहस्थाश्रममें पड़ा था. उस जन्ममें वेदत्रयी द्वारा होने वाले स्वर्गके साधनरूप यज्ञादिक कर्मकांडमें मैं सब ऋषियोंके साथ लगा रहता था. मैंने अनेक यज्ञ किये और कराये और व्यवहार तथा कर्म कांडमें मैं बहुत ही प्रवीण माना गया. उस समय ऋषि मुझे वामदेव! के नामसे जानते और बहुत आदर करते थे. मैं स्वर्गकी इच्छा अथवा इस लोकके सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे, ऋषियोंके साथ अनेक काम्य कर्म (फलाशाके काम) करता और दूसरोंको भी वैसाही करनेका उपदेश देता था. क्योंकि मैं नहीं जानता था कि इहलोक और परलोकके सारे सुख अंतमें नाशवंत हैं. ऐसी दशामें एक समय दीनोंके भाई और सब प्राणियोंके हितकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मपुत्र सनकादिक मुनि, अनेक लोकोंमें परिभ्रमण (पर्यटन) करते हुए भूलोकमें पधारे. इस लोककी सारी प्रजाको अनेक क्लेशवाली "पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् पुनरपि जननीजठरे शयनम्" अवस्थामें दुःखित देख कर उन्होंने बड़ा खेद किया. फिर दयाके वश होकर ये देव, प्रजाके इस संसारके क्लेशमय तापोंको दूर करनेका विचार करने लगे. उस समय हम सब ऋष्यादिक और दूसरे सब लोगोंने इन ब्रह्मपुत्रोंको आये हुए जानकर, गंगाके पवित्र तटपर बृहत् समारंभ रचा और इन्हें वहाँ ले जाकर पूजनादिसे संतुष्ट किया. इसके बाद सबने मिल कर इनसे विनय पूर्वक प्रश्न किया कि; 'हे ब्रह्मपुत्रो! जब आप यहाँ पधारे हैं और हमारे सांसारिक दुःख देख कर खेद पाते हैं तो इन दुःखोंके अन्त होने और वास्तविक सुखानंद प्राप्तिके जो उपाय हैं वे आप कृपाकर बतायें." यह सुन कर सनकादिक चार ब्रह्मपुत्रोंमें ज्येष्ठ सनक मुनि बोले:—"शाश्वत (स्थिर) सुखका उपाय परमात्मस्वरूपका सच्चा ज्ञान होना है. सनंदन मुनिने कहा:—मनका लय (नाश) करनाही परमात्मरूपके ज्ञान होनेका उपाय है. सनातन मुनिने कहा:—शुद्ध—निष्काम कर्म—उपासना करनाही मन (इच्छाओं) के लय का उपाय है. सनत्कुमार मुनिने कहा:—यह सब जगत विनाशी है ऐसा विचारपूर्वक जानना और अनुभव करना तथा वैसा दृढ़ निश्चय करनाही निष्काम होनेका उपाय है." यह

लघु परंतु अनमोल उपदेश देकर, सनकादिक चारों मुनि, देव लोकको गये और सब लोग तथा ऋष्यादिक अपने अपने कामोंमें प्रवृत्त हुए. परन्तु महर्षियोंके इस ब्रह्मोपदेशका मर्म—रहस्य तो बहुत ही कम समझ सके थे, क्योंकि इस उपदेशका अति गूढ़ सिद्धान्त, मनन और निदिध्यासन विना मनमें ठहरना अति अलभ्य (दुर्लभ) है. इन चारों सिद्धान्तोंमें तीसरा सिद्धान्त यह है कि फलकी इच्छा विना कर्म करना और उसे परब्रह्म (परमात्मा) को अर्पण करना चाहिए, क्योंकि इससे अन्तःकरण शुद्ध—पवित्र—ज्ञानरूप प्रकाश पानेके योग्य होता है. इस उद्देश्यका अनुसरण कर कोई भी लोग उसका आचरण नहीं कर सके और इसीसे उस उपदेशका कुछ फल नहीं हुआ. और जैसा पहले करते थे वैसा ही सब लोग फिर करने लगे. परंतु इन बालकरूप महातेजस्वी सनकादि महर्षियोंका कल्याणकारक उपदेश सुन कर मुझे तो उसी समयसे भारी चोट लगी. मैं बारंबार उनके वचनोंका मनन करने लगा. ज्यों ज्यों मैं सृष्टिकी लीलाका विचारपूर्वक अवलोकन करता था त्यों त्यों मुझको अनुभव होता था कि इस जगतकी प्रत्येक वस्तु मिथ्या (नाशवंत) है ! अविनाशी नही है. जब ऐसी दशा है तो उन मिथ्या वस्तुओंको प्राप्त करने अथवा उनमें पड़े रहनेके लिए बुद्धिमान् प्राणी क्यों इच्छा करे ? ऐसा अनुभव होनेसे मुझको उन महर्षियोंका संक्षिप्त उपदेशपूर्ण वचन बहुतही गूढ़ और अमूल्य अर्थवाला लगा और इस सबबसे मेरा विश्वास उन पर दृढ़ होने लगा. फिर तो मुझे क्षणक्षणमें उनका उपदेश—वचन याद होने लगा और मैं अपने प्रत्येक कार्यमें उसका दृढ़तासे उपयोग करने लगा. धीरे धीरे मेरी प्रकृतिका स्वरूप इतना बदल हो गया कि अनेक ऋषि जो कर्मोंमें अत्यंत प्रीति रखनेवाले थे मुझे भ्रमिष्ट (विक्षिप्त) या तरंगी मानने लगे. ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों किसी भी काम्य अर्थात् फलकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मोंपर मेरी आस्था (विश्वास) ही नहीं रही. जो कर्म आवश्यक हो, अर्थात् जिसके किये विना चलताही न हो वही कर्म मैं करता और उसमें भी फलासक्ति (फलकी आशा) नहीं रखता था. मुझको बहुत समयके अभ्याससे मालूम हुआ कि कर्मफलकी आशाही नहीं रखनी चाहिए. ऐसा ज्ञान होतेही मेरी सारी आशाएँ पूर्णरूपसे स्वयम् शान्त हो गईं और पहले अनेक आशाओंमें निरंतर भटकनेवाला तथा जरा भी विश्राम न लेने-

वाला जो मेरा चंचल मन था, वह निराश हो कर बिलकुल शान्त हो गया. उसने भटकना अथवा दूसरा विचार करना बिलकुल ही छोड़ दिया. पहले अनेक आशाओं और चिन्ताओंमें सदा उदास रहनेसे मेरा शरीर कृश रहता था उनके मिट जानेसे पंच तत्वोंका यह शरीर अकस्मात् प्रफुल्लित होने लगा और मैं बहुत हृष्टपुष्ट हो गया. अंतमें आशा और संसारासक्ति इतनी शिथिल हो गई कि, आश्रम, धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि सबको इस जीवने भुला दिया और देहसे लिपटे हुए नित्य नैमित्तिक आवश्यक कर्म भी छूटते गये. मेरी इच्छाएँ नष्ट होगईं. उन महर्षियोंके उपदेशानुसार परमात्म-स्वरूपके दर्शनकी लालसासे और उसमें सदा लीन हो जानेके कारण शरीर भी शुद्ध स्वर्णके समान होता गया और इस शरीरकी विस्मृति हो गई. समयपर भोजन मिला तो अच्छा और न मिला तो अच्छा. उसकी याद भी जाती रही, ठंड और धूपका भी ख्याल न रहता, बैठा रहूँ तो बैठाही रहूँ और चलूँ तो अंतही न आता था. कोई हँसे, अपमान करे, अथवा आदरसे बुलावे, वह जीव या शरीरको कुछ भी नहीं लगता था. इस तरह मन ब्रह्मविचारमें (परमात्म स्वरूपके दर्शनके विचारमें) एकाग्र होनेसे, ब्रह्मनिष्ठ जीववाला शरीरधारी मैं मानो जड़ बहरा, गूँगा और सुध बुध हीन अवधूतके समान हो गया और जैसे सूखे हुए पत्तेको हवा जिधर ले जाती उधर ही वह खिंचता हुआ चला जाता है वैसेही विचरने लगा. इस तरह बहुतसा समय बीतनेपर अपनी पूर्ण एकाग्रताके फलस्वरूप परमात्मस्वरूपके दर्शन होनेका समय मेरे समीप आ पहुँचा परंतु वैसा होनेके पहले ही (ईश्वर दर्शन होनेके पूर्व) ईश्वरेच्छासे वह देह पंचत्व (मृत्यु) को प्राप्त हुआ ! इस लिए मुझको ईश्वरी नियमानुसार फिर गर्भवासमें आना पड़ा है.

" हे मुमुक्षुओ! ऐ पिताजी ! मैंने तुम्हारे यहाँ गर्भवासका अंतिम दुस्तर अनुभव किया है सही, परन्तु गर्भवासमें महासंकट मेरा कुछ भी नहीं कर सका; क्योंकि मैं तो वहाँपर भी ब्रह्म विचारमें ही मग्न था. वहाँ तो मेरा मन, पूर्णरूपसे एकाग्र हुआ, क्योंकि उस स्थानका निवास तो योगी लोगोंके पर्वतके गुप्तसे गुप्त, एकान्तसे एकान्त गुफासे भी बहुत गूढ़ एकान्त-वाला है. उस स्थान (गर्भाशय) के, नरकके समान तीक्ष्ण दुःखोंके कारण जीवकी संसारासक्ति बिलकुल निर्मूल होजाती है. ईश्वरने वहाँ मुझ पर दया

की. पहले तो मैंने सृष्टिनियमके अनुसार लिंगदेहद्वारा गर्भस्थानमें प्रवेश किया. फिर धीरे धीरे उस लिंगदेहके आसपास पंचभौतिक स्थूल शरीर बनने लगा और जब वह पूर्णताको प्राप्त हुआ तो मेरे उस देहके हृदयमें अकस्मात् अद्भुत प्रकाश हुआ. यह प्रकाश कैसा था इसका वर्णन कोई नहीं कर सकेगा, क्योंकि इसको तो वही जान सकता है जिसने इसका अनुभव किया है. इसका कुछ कुछ अनुभव राजा वरेप्सुको है; परंतु वह भी पूरा वर्णन नहीं कर सकेगा. यह प्रकाश, यह आनन्दरूप प्रकाश-यह महदानंदरूपप्रकाश-यह परमानंदरूप प्रकाश-यह परमसुखमय प्रकाश—वायुसे शून्य एकान्त स्थानमें जलते हुए घीके दीपकके समान स्थिर था. इतना होते हुए भी यह कैसा, कितना बड़ा और किस रूपमें था, यह यदि मैं तुमसे कहने लगूँ तो मुझको इतनेसे ही रुकना पड़े कि, उसे मैं जितना, जैसा और जिस रूपमें कहूँ—मानूँ वह वैसा ही था. वह प्रकाश मुझे अपार अनंत लगता था. अर्थात् वह इतना बड़ा था, कि उससे बड़ा दूसरा कुछ भी नहीं है और उससे उल्टा देखिये तो गर्भमें रहनेवाले बालकका हृदय कितना बड़ा होता है ? जब वह इतने छोटे (सूक्ष्म) हृदयके पोलेभागमें दिखा तब तो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म था. मेरे हृदयसे तो अज्ञानरूप अंधकारका नाश हुआ है, इससे मैं उसको 'प्रकाश' नाम देता हूँ; परन्तु वास्तवमें देखने पर यह क्या है और इसको क्या कहना चाहिए, यह कोई भी नहीं कह सकता. इस लिए, उपनिषत् शास्त्रने इसे, ॐ तत्, सत्, चित्, आनंद इत्यादि विशेषण दिये हैं. और इन सबका पूरा नाम वेदमें 'ब्रह्म' नामसे वर्णन किया गया है. यह वही परमात्मस्वरूप है, जिसका उपदेश मुझे उन सनकादिक महात्माओंने दिया था, यही मेरे अहंभावके भी परेका मेरा स्वीय (निजका) स्वरूप है, यही सब दुःखों और संसारवासनाओंका अंत है, यही परम सुख, यही परमशान्ति, यही परम आनन्द, यही जीवन-मुक्ति, यही परम निवृत्ति और यही अचल पदवी तथा सर्वोत्तम धाम है. सनकादिकोंकी कही हुई सारी रीतें मैं बराबर अनुभव करते आया था, इस लिए इस समय मुझको स्पष्ट मालूम हुआ कि, अहो ! यही परमात्मा और यही मेरा मूलरूप है !! सर्व शक्तिमय और सर्व आश्चर्यमय परमेश्वर यही है !! इस समय जब मुझको परमानन्दहीका लाभ हुआ था तो फिर मेरे लौकिक आनन्दको तो पूछना ही क्या है ? "

इतना कह कर बटुक फिर बोला; " ऋषिजी ! मुझे इस समय वहा

आनन्दपूर्वक तुरंत स्मरण हो आया कि,महर्षि सनकादिकोंका उपदेश कितना अमूल्य है, अंतमें मुझे इससे कैसा अलभ्य लाभ हुआ. परंतु इसको भूल-कर दूसरे मार्गमें लगे हुए लोगोंको इसमेंसे कुछ भी फल कैसे मिले? कर्मने तो उनके साथ संसारवासनाका महादुःख लगा ही दिया है, परंतु उनके हितके लिए मुझको उन्हें फिर सावधान करना चाहिए, ऐसा विचार कर, गर्भवाससे ही तुमको और अपने गर्भमें रखनेवाली अपनी माता तथा दूसरे सब लोगोंको सम्बोधन करके मैं जो उपदेशवचन कहने लगा वह तुम्हें याद होता ही होगा. उसके बाद मैं तुरंत ही जन्मा, जन्म ले-कर भी सब लोगोंको सावधान करनेके लिए यही काम करनेको निकल पड़ा हूँ. इतनेमें तुम आ पहुँचे हो तो तुम और इन सब लोगोंको मैं फिर कहता हूँ कि, " हे जनो, पहले मैं भी तुम्हारे समान एक था. परंतु उन सनकादिकोंके अमूल्य उपदेशको मान कर उनके कथित सिद्धान्तोंको ध्यानपूर्वक अनुभव कर, दृढ़तासे ज्ञानभक्तिके साधनका जब आचरण करने लगा तो थोड़े ही यत्नका परिणामरूप परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कर सुखी हुआ हूँ, आनंदमें रमण करता हूँ, संसारकी इच्छा-ओंसे निर्लेप हुआ हूँ, इस लिए तुम भी मेरे समान ही यत्न करके सुखी होओ और असावधानी त्याग दो. "

बटुककी ये बातें सुन कर सब सभा चकित होगई, और ऋषि वामदेवका पिता तो—अत्यंत हर्षके आवेशमें बटुकको अकस्मात् बाहोंमें भर आलिं-गन कर बोला; " मैं निस्संदेह सौभाग्य शाली हूँ. मेरे इस तरहका दैवी पुत्र है! साक्षात् वामदेव ऋषि है! जो पुरुष सब लोगोंका पूज्य (वंद्य) है वह मेरे यहाँ पुत्र रूपसे पैदा हुआ है. ,अरे! परंतु अब पुत्र कह कर तुझे बुलानेमें मेरी जीभ क्यों नहीं उखड़ती है! परंतु ऋषिवर्य! (बटुकको वामदेवके रूपसे सम्बोधन कर ऋषि कहता है) सृष्टिनियमके अनुसार जब मेरे यहाँ आप पुत्ररूपसे पैदा हुए हो, तो अज्ञानके अंधकारमें पड़े हुए अपने मातापितारूप हम वृद्धोंकी पुत्रलालसा पूरी करनेके लिए घर चलो! वामदेव! आपकी दयासे मैंने तुम्हारा असलरूप जान लिया है परंतु स्त्री जाति तुम्हारी माताको तुम्हारे प्रभावका ज्ञान नहीं है, इस लिए घर चल कर उसको भी कृतार्थ करो, और इस रीतिसे गृहस्थाश्रमका सुख भोग कर हमें दिखलाओ जिससे हमारी आँखोंको आनंद मिले.

वामदेव ! मेरा प्रेम उमड़ा पड़ता है; इस लिए मुँहसे निकल ही जाता है कि हे पुत्र ! हे मेरे दिव्य पुत्र ! तू बड़ा हो, विवाह कर और नवयौवन स्त्री पुरुषकी तेरी मनोहर जोड़ी हमारे आँखोंके आगे चलेफिरे तभी हमारा हृदय ठंडा हो और हम अपनेको पूर्ण कृतार्थ मानें; क्योंकि ऐसा न हो तो इस तरहके दिव्य पुत्र प्राप्त होनेसे हमें क्या लाभ ? इस लिए पुत्र ! हे वामदेव ! दूसरी सब बातें छोड़कर अब तू घर चल. "

इतना कह कर ऋषि चुप हो रहा, सभा भी शान्त होगई, सब स्थिर हो रहे और क्षण भर सभामें सन्नाटा छा गया.

बटुक, जिसे हम भी अब वामदेवके नामसे पुकारेंगे, फिर उन ऋषिको सम्बोधन करके बोला; " पिताजी जब एक बार जानलिया गया कि इस पदार्थमें जहर है और इसके खानेसे प्राण जाते हैं तो फिर वह पदार्थ चाहे जैसा मीठा हो तो भी क्या ज्ञानी पुरुष उसके खानेकी सच मुच इच्छा करता है ?" ऋषिने कहा; " नहीं बिलकुल नहीं." बटुक बोला; " तो वैसाही मेरे लिए जानो. " इस पर भी जब ऋषिने नहीं माना तो उनको समझाने और उनका न्याय उन्हींके मुँहसे करानेके लिए बटुकने एक छोटा सा इतिहास कह सुनाया.

पंचमबिन्दु.

भोला भाला ब्रह्मचारी.

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ॥
नारीस्तनभरजघननिवेशं दृष्ट्वा मायामोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचारय वारंवारम् ॥

अर्थ—फिर भी जन्म फिर भी मरण और फिर भी माताके उदरमें आना पड़ता है. इस तरह कठिनाईसे पार किये जानेवाले इस अपार संसारसे, हे मुरारी ! कृपा कर मेरा पालन (रक्षा) करो. स्त्रीके भरे हुए स्तन और जघन प्रदेशको देख तथा मायासे उत्पन्न हुए मोहके आवेशको देखकर तू मनमें बारंबार विचार कर कि यह सब मांस मज्जा आदि का विकार है.

सभा चित्रवत् बैठी है ! सर्वत्र शांति विराज रही है. तुरंत ही बटुक महाराज सिंहासनसे नीचे उतर पड़े और बोले, "पिताजी ! व्यवहार दृष्टिसे अब मैं भी तुम्हें पिताजी कहूँगा. तुम वृद्ध हो और बहुत देरतक खड़े रहनेसे थक गये होगे, इस लिए इस सिंहासन पर विराजो. तुम मेरे गुरु हो, मुझे उपदेश देनेके योग्य हो, इस लिए तुम्हारे सामने खड़ा हो कर मुझे जो एक शंका है, उसका समाधान मैं पूछता हूँ. फिर आप जैसा कहोगे वैसा करूँगा. " ऋषि तुरंत आसन पर बैठा. वामदेवने सुधा सरिस फिर अपना भाषण प्रारंभ किया.

" कोई एक ऋषिपुत्र बहुत वर्षोंतक गुरुके यहाँ रह कर शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रतपालन कर, वेदाध्ययन कर चुकने पर गुरुदेवकी आज्ञा ले गृहस्थाश्रम करनेको घरकी ओर जा निकला. मार्गमें जाते हुए उसे एक सुन्दर नगर मिला नगरकी स्वर्गसमान शोभासे मोहित हो कर, उसने इस

नगरको अच्छीतरह देख कर फिर आगे चलनेका निश्चय किया. वह एक धर्मशालामें उतरा था, दूसरे दिन प्रातःकाल स्नानसंध्यादि नित्यकर्म कर वहाँसे वह नगरमें फिरनेको निकला. वह नगरके कूचे, वाजार, देवमंदिर और श्रीमान् लोगोंके निवासके इन्द्रभवनके समान महल देख कर दंग रह गया ! उस नगरमें ब्राह्मणादि सब जातियाँ अपने अपने धर्मका पालन करनेवाली थीं और नगरमें कोई भी गरीब (निर्धन) नहीं था. पूछताछ करनेसे विदित हुआकि यहाँ पर धनवान् और कुलवान् अनेक सुपात्र ब्राह्मण निवास करते हैं, वे विद्यानुरागी और धर्मके ज्ञाता हैं. उनके साथ संभापण हो तो वहुत अच्छा होगा. ऐसा विचार कर वह ब्रह्मचारी वावा वहाँ ठहरा और नित्यप्रति नगरमें फिरने लगा. एक दिन फिरते फिरते वह एक गलीमें जा पहुँचा. उसके सिरे पर एक भव्य भवन वना था. उसकी दृष्टि उस पर सहज ही जा पड़ी और उस भव्य महलकी शोभा देखते हुए अंतमें उसकी नजर सातवें खंड तक पहुँची. उस भवनके सुशोभित झरोखेमें एक विधुमुखी (चंद्रमुखी) ललना खड़ी थी. संयोगसे वह स्त्री भी वहुत समयसे उस ब्रह्मचारीवावाकी ओर ही देख रही थी, इससे उस ब्रह्मचारीकी ऊँची नजर होते ही अकस्मात् दोनोंकी आँखें लड़गईं. वह लावण्यमयी ललना, उस निर्विकारी ब्रह्मचारीपर मोहित हो गई वह ब्रह्मचारी अनुमान पचीस वर्षकी अवस्था अर्थात् पूर्ण तरुणाईमें पहुँच गया था और फिर जन्मसे ही अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करनेसे उसका शरीर–संगठन सुदृढ़ था ! उसकी नूतन तरुणाईसे दाढ़ी, मूछ, जटा इत्यादिके कुछ कुछ वढ़े हुए श्यामकेशों (वालों) के भीतरसे ब्रह्मतेजसे प्रदीप्त मुखमंडल, नवजनित सुकोमल पत्तोंके गुच्छोंसे दीपते हुए गुलावके पुष्पसमान दीखता था. ऐसी सुन्दरता देखकर उस स्त्रीके मनमें विकार उत्पन्न हुआ उसने तुरंत नेत्रके इशारेसे उस ऋषि पुत्रको अपने पास (ऊपर) आनेका संकेत किया, परंतु वह ब्रह्मचारी तो अविकारी और निष्पाप था, इससे उस सुन्दरीके हावभाव कुछ भी नहीं समझ सका. तव उस सुन्दरीने अपनी दासीको बुलाकर उसे दिखाया और कहा; ' अलि दासी, वह ब्राह्मण विद्वान् है इस लिए उसको ऊपर वुलाला, उससे मुझे कुछ पूछना है. '

सिठानीकी आज्ञा पाकर दासी उसी क्षण॰ नीचे आई और उस ब्रह्मचारीके पास जा उसे प्रणामकर वोली; ' ब्रह्मदेव ! उस सातवें खंडके

झरोखेमें खड़ी हुई हमारी सिठानी कुछ पूछनेके लिए आपको बुलाती है, आप कृपाकर मेरे साथ चलें!' ब्रह्मचारीने कहा; 'अच्छा चलो!' तुरंत दासी आगे हुई और उसीके पीछे एक एक कर सातवें खंडमें वह ब्रह्मचारी-बावा चढ़ गया. देवभवनके समान सजे हुए अपने विचित्र विलासगृहमें सिठानी बैठी थी और लौंग, पान, सुपारी, इत्र, फुलेल, पुष्पमालाएँ इत्यादि पदार्थोंका आनंद ले रही थी. ब्रह्मचारीबाबाको अपने पास आया देख कर वह प्रेमपूर्वक खड़ी हुई और हँसते हँसते प्रणाम कर उसे एक सुन्दर बिछे हुए आसनपर बैठाया. फिर पाद्य, अर्घ्य, चंदन, पुष्प, तांबूल आदिसे उसका पूजन किया और कुछ कामके बहाने दासीको वहाँसे हटा दिया.

एकान्त स्थान हो, विनय करनेवाली लावण्यमयी स्त्री हो, अधिक समय हो, तो फिर मनुष्यका ब्रह्मचर्य क्या अचल रह सकता है? फिर सिठानी धीरे धीरे विनोद करते हुए शृंगारका भावदर्शाते ब्रह्मचारीजीसे धर्म कर्मकी बातें करनेमें प्रवृत्त हुई. थोड़ी देरमें दीवानखानेके दरवाजे बंद हो गये और सिठानी अनेक प्रकारके हावभाव करते, और अँगड़ाई लेते हुए शरीरके अँग प्रत्यंगोंके मर्म भागोंको दिखाते और आँखोंकी पुतलियाँ चमकाते हुए मंद मंद हास्यपूर्वक मीठी मीठी बातें करते, ब्रह्मचारीके पास आई और अपने सुकोमल हाथोंसे उसका हाथ पकड़कर दूधके फेन समान स्वेत सुकोमल शय्यापर चलनेके लिए विनय करने लगी. निर्विकारी ब्रह्मचारी तो यह सब देखकर स्तब्ध हो रहा. उस लावण्यमयीके कोमल हाथ अपने शरीरसे स्पर्श होनेपर ब्रह्मचारीको रोमांच हो आया और वह थरथर कर काँपने लगा. पहले वह कुछ न बोल सका. फिर हँसते हुए वह स्त्री बोली: 'महाराज! आपके लिए यह सब तैयारी करनेपर भी आप विलंब क्यों करते हो?' मुझ जैसी सुन्दरीसे भी क्या आपका चित्त प्रसन्न नहीं होता? बार बार अमृत प्राप्त होने पर भी क्या मनुष्य उसको पान करके तृप्त होनेकी इच्छा नहीं करता?

वह ब्रह्मचारी तो उपवीत (जनेऊ) संस्कारसे लेकर अब तक सिर्फ वेदाध्ययन करनेमें ही बड़ा हुआ था, उसे गुरुसेवा और विद्याभ्यासके सिवा दूसरी किसी बातका अनुभव नहीं था; तो भी सांसारिक दृष्टान्तों और स्त्री पुरुषोंके सदसत् चरित्रोंसे (इतिहासादिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे) वह कुछ निरा अज्ञान भी नहीं था. इससे वह अपने मनमें अच्छी तरह

समझ–चेतकर मनको स्थिर करके बोला; ' माता ! तूने मुझको जिस लिए बुलाया है वह काम छोड़ कर तू यह दूसरे पापका प्रकार लेकर क्यों बैठी है ? माता ! मैं बालक हूँ, तू मेरी माताके समान है, तुझे जानना चाहिए कि जिसकी तू इच्छा करती है वह महापराधका काम है. यह काम मेरा नहीं है. मैं बालब्रह्मचारी हूँ. अतः हे माताके समान सुन्दरी ! यह घोर पाप करनेको तेरी प्रवृत्ति क्यों होरही है. ? स्त्रीके लिए इस जगतमें एकही पति है और पुरुषके लिए एकही पत्नी. जो पुरुष, परस्त्रीकी और स्त्री पर पुरुषकी इच्छा करते हैं वह दोनों परलोकमें घोर नरकमें पड़ते हैं और उनपर परमेश्वरका बड़ा कोप होता है. इस लिए माता ! तेरा काम तू जान, परंतु मुझको इस घोर नरकमें विना कारण क्यों डालती है ? इस तरह कह कर वह ब्रह्मचारी वहाँसे ज्यों त्यों भाग निकलनेके विचारसे तुरंत उठ खड़ा हुआ और दरवाजेकी ओर जाने लगा, परंतु वह मदनमस्त स्त्री उसे कब छोड़नेवाली थी वह तो इस तेजस्वी और ब्रह्मचर्यके बलसे मस्त हुए ब्राह्मणके यौवनमें बिलकुल ही लुब्ध हो गई थी. वह कामांध और लज्जाहीन बनगई, क्योंकि कामातुर मनुष्यको भय और लज्जा नहीं होते. दरवाजेतक पहुँचनेके पहले ही पापिनीने झटसे दौड़ कर ब्रह्मचारीको पकड़ लिया और देखनेमें अत्यंत कोमल परंतु उसमें पड़ा हुआ पुरुष कभी न छूट सके इस तरहकी अपनी अतिशय बलशाली सुन्दर भुजाओंसे उसको पकड़ कर पलंगके पास ले आई और कहा; ' भोले ब्रह्मचारी ! विचार शून्य ब्राह्मण ! मेरे मनको कमजोर समझ तू अपने ब्रह्मज्ञानका उपदेश दे कर मुझे भुलाना चाहता और इस घरके बाहर जाकर मेरी दुर्दशा कराना चाहता है ? परंतु महाराज ! यदि तुम मेरी इच्छाके वश न होगे तो यहाँसे जीते नहीं जाने पाओगे. प्रेमके वश मेरी जैसी शरणमें आई हुई कामिनीको तेरे सिवा क्या कोई निःस्पृह पुरुष त्याग करनेका संकल्प भी करेगा ? तू निश्चय जान, मेरी उपेक्षा (तिरस्कार) करनेसे तू बहुत पछतायगा, क्योंकि मुझे यदि निराश कर जायगा तो इस कामाग्निमें जलते हुए मेरे प्राण शीघ्र ही छूट जायँगे और मेरे मरनेका अपराध तुझही पर आवेगा, जिससे तू भी मारा जायगा. " इतना कह कर कामावेशसे अंधी हुई वह स्त्री उस तेजस्वी ब्राह्मणसे उसी तरह लिपटनेके लिए उसके पास गई जैसे चंपक वृक्षसे कनकलता लिपट जाती है. अहो ! इस प्रकार विचित्र बलवती होने

पर भी स्त्रीको पंडित लोग अबला क्यों कहते हैं ? वास्तवमें यह अबला नहीं है. पंडित भूलगये हैं यह तो सबला है. इसको जो विजय करे वही विजयी (अपराजित) है !

वह बालब्रह्मचारी शुद्ध था, इससे प्रभुकी प्रार्थना करने लगा. उस अबलाके इतने हावभाव होने पर भी उसके मनमें विकारने जरा भी प्रवेश नहीं किया. परंतु जब उस स्त्रीने अपना बिलकुल अंतका प्रयोग साधा तो वह घबराकर विचार करने लगा, ' बेशक, यह स्त्री मुझे अब नहीं छोड़ेगी और इसकी बात यदि मैं नहीं मानूँगा तो बिना मौत मर जाऊँगा.

इस तरह ब्रह्मचारीके मनकी वृत्ति जरा शिथिल होते ही एक चमत्कार हुआ. ज्योंही उस सुन्दरीने उसको पलंग पर ढकेला त्योंही दासीने आकर दरवाजा खटखटाया और हाँफते हुए जल्दी जल्दी बोली सेठानी, सेठानी ! क्या करती हो ? द्वारको जल्दी खोलो, सेठ आगये. ' यह सुनते ही सेठानीके होश उड़ गये ! वह विचारने लगी; ' अब क्या करूँ ? यह तो मृत्यु-काल आगया ! इसे अब कहाँ छिपाऊँ ? दैव ! अब तो भोग ही मेरे हाथ लगा. ' ब्रह्मचारीबाबाकी दशा तो इससे भी बुरी हुई. उन दोनोंकी इस समयकी व्याकुलताका वर्णन हो ही नहीं सकता. घबराहटसे चारों तरफ सेठानी इधर उधर देखने लगी, परंतु ब्रह्मचारीको छिपानेके योग्य उसे कोई उपाय या बुद्धि नहीं सूझी. अंतमें उसकी दृष्टि पिछवाड़ेके तंग रास्तेमें पड़ी. वहाँ एक पाखानेका दरवाजा खुला दिखाई दिया. घबराहटके समय जो हाजिर हो वही हथियार, ऐसा सोचकर उसने तुरंत ब्रह्मचारीबाबासे कहा; चलो तुम्हें छिपा देऊँ, नहीं तो सेठ आया है वह देखलेगा तो हम दोनोंको आफतमें पड़ना होगा. ' दोनों हाँफते हाँफते जल्दीसे तंग रास्तेमें जा पहुँचे; भयभीत सेठानीने सेठके भयसे बचनेके लिए महाभयभीत ब्रह्मचारीको पाखानेमें ढकेल दिया और दरवाजा बंदकर बाहरसे साँकल लगाली. फिर उसने दीवानखानेमें आकर सब ठीक ठाक कर दरवाजा खोला, इसी समय सेठ आ पहुँचा. पतिपत्नी दोनों अपने शोभाप्रद वैभवके अनुसार संसारका सुख-आनंद लेने लगे और दासी उनका आगत स्वागत करने लगी.

इस तरह वह स्त्री अपने रागरंगमें पड़ी और उसमें उसको कई घंटे लग गये, परन्तु उस ब्रह्मचारीबाबाकी सुध या सँभाल किसीने नहीं ली ! ऐसा करनेकी गरजही किसको थी ? जिसको लगे वह सेके.

इधर भयमें घबराये हुए ब्रह्मचारीबाबाकी जो दशा हुई अब उसे सुनो! उस स्त्रीने ज्यों ही ब्रह्मचारीबाबाको पाखानेमें ढकेला त्योंही अंधकारमें घबराजानेसे वह मुँहके बल गिरा और पाखानेके मल उतरनेके बड़े सूराखमें चला गया. वह सूराख कुछ कुछ तंग था इससे भीतर वह बहुत सिकुड़ा. परंतु किसी तरह भी जल्दीसे नीचे नहीं उतर सका.

बटुक वामदेवजी बोले; " पिता जी, कहो यह कैसा और कितना असीम नरक-दुःख होगा ? इस जगतके दुःखकी यह परिसीमा है. पाखाना बिल्कुल नरकका स्थान है, उसमें फिर मुँहके बल गिरना और वह भी बिलकुल सातवें खण्डसे! इससे अधिक दुःखदायी यमसदनका दुःख भी नहीं है. फिर उसके गिरनेके पीछे, ऊपर बसनेवाले स्त्रीपुरुष जो मलमूत्रका त्याग करते वह सब उसके ऊपर ही गिरता. इसका भय उस ब्रह्मचारीको कैसा विभ्रान्त करता होगा, इसका विचार करो. अरे! नीचे नरक और ऊपर नरक आसपास नरक और उसमें फिर चारों ओरसे सख्त दबावके साथ मुँहके बल रहनेवाले उस ब्रह्मचारीको प्रत्यक्ष महाघोर नरक यातनाका कैसा दुःख होता होगा, इसका विचार पिताजी! तुम्ही करो! इस दुःखसे छूटनेका क्या उपाय है? सिवा ईश्वरके क्या कोई भी उसको छुड़ानेवाला था? यह भी कोई नहीं जान सकता था कि कोई एक ब्रह्मचारी किसी ऐसे महादुःखमें है. तो भला छुड़ावे कौन? फिर ऐसा भी नहीं था कि अपनी मुक्ति और सहायताके लिए वह किसीसे विनय करे! अहा! यह ऐसा संकट था कि बुद्धिमें भी नहीं आ सकता था. ऐसे महत्संकटमें पहले तो उस ब्रह्मचारीकी अक्लही गुम हो गई परंतु ईश्वरकी प्रार्थना करनेपर जब वह धीरें धीरे होशमें आया तो इस संकटमें भी विचार करने लगा कि 'अहो! यह अनिवार्य घोर दुःख मुझको क्यों प्राप्त हुआ? जबतक मैंने नरकका द्वाररूप स्त्रीका मुँह नहीं देखा था तबतक कभी संकटका नाम भी नहीं जानता था. अरे! मैंने बहु बार सुना है कि नारी, नरकरूप है और उसके सहवाससे पुरुष अवश्यही नरकमें जाता है, उसमें फिर परनारीके प्रसंगसे तो तत्काल ही जाता है, इस लिए मैंने स्त्रीकी इच्छा नहीं की थी, तो भी इस संकट—इस दशाके होनेका क्या कारण है? मैं तो अपने अमूल्य ब्रह्मचर्यका पालन करनेमें बहुत सावधान था तथापि यह संकट क्यों आया? हाँ, जब इस भयसे मेरी दृढ़ता कुछ शिथिल हुई कि मैं उस स्त्रीके आग्रहके अनुसार

काम नहीं करूँगा तो अंतमें मेरी मृत्यु अवश्य होगी तो मेरे अति-पुण्यरूप ब्रह्मचर्यके बलका भरोसा छूट गया और इसीसे मुझे यह फल मिला. अरे, मैं कैसा दुष्ट और अविश्वासी हूँ? इस जगतमें ब्रह्मचर्यके समान दूसरा व्रत है ही नही. उसके प्रतापसे संसारके साधारण दुःख और संकट तो क्या, परंतु बड़ेसे बड़े भवबंधनरूप—जन्ममरणरूप भयसे भी मनुष्य छूट सकता है. ऐसे दृढ़ ब्रह्मचर्यको पालते हुए भी मैंने जो यह शंकाकी कि, इस स्त्रीके कथनानुसार नहीं चलूँगा तो मेरी निश्चय मृत्यु होगी, 'यह क्या है?' अपना समावर्तन संस्कार किये बिना और ब्रह्मचर्यकी अवस्था पूरी होनेके पहले ही मैंने स्त्रीका साथ किया और दासीके बुलाने-पर ऊपर गया, यह क्या मेरा गुरुतर अपराध नहीं है? अरे! मिट्टी, लकड़ी या चित्र की भी स्त्री पुरुपके चित्तको मुग्ध करती है तो प्रत्यक्ष स्त्रीके प्रसंगसे किसकी रक्षा हो? स्त्रीका सहवास करना ही मेरा दोष है और उसीका यह दंड है. परंतु इससे मुझको अब कौन छुड़ायगा? जिसके न्याय-तंत्रसे मैं अपने अपराधके दंडरूप इस नरकमें डालागया हूँ, वही महा-न्यायी प्रभु मुझे छुड़ावे तो मैं छूटूँ. उसके बिना दूसरा कोई भी उपाय नहीं है. ऐसा विचारकर वह मनही मनमें अतिदीन और नम्र होकर प्रभुकी प्रार्थना करने लगा कि, हे दीनबन्धु! हे पवित्रन्यायी! हे दयालु! हे जग-न्नियंता! तेरी शक्ति ऐसी विचित्र है कि प्राणीको अपने किये हुए अप-राधोंका योग्य दंड बड़ी विचित्र रीतिसे स्वयम् ही होता है. तो भी तेरी दुस्तर मायाके आवरणके कारण हम पापी प्राणियोंसे वैसे अपराध बारंवार हो जाते हैं. इस दशामें दयामय! ऐसे अपराधोंकी गणना करनेसे हमारा किनारा कब आयगा? जगतपिता! पिताके आगे अज्ञान बालक चाहे जैसा बड़ा अपराध करे तो भी पिता उसको नहीं गिनता! मैं अधम अपराधी दुष्ट, तेरी सृष्टिमें होनेके कारण तेरा बालक हूँ, मुझपर दया कर! पतित पावन कृपालु! मैं भूलगया अबसे इतना ही नहीं कि मैं ऐसा अपराध न करूँगा प्रत्युत जिसके प्रसंगसे मैं ऐसे नरकके दुःखमें आ फँसा हूँ, ऐसी नरक निकेतन स्त्रीका पाणिग्रहण भी मैं कभी न करूँगा! 'मेरी रक्षा कर, मेरी रक्षा कर.'

ऐसी मनोमय (मानसिक) प्रार्थना करके वह ब्रह्मबाल शान्त हुआ. ईश्वरकी कृपा होनेसे उसकी मुक्तिका समय आ पहुँचा. धीरे धीरे खिस-कता हुआ वह बिलकुल पहले खण्डतक उतर आयाथा, इससे उसके जटाके

लम्बे बाल छूटकर नीचे लटक रहेथे. वे किसी नीच पुरुषको दिखे, उसने पकड़कर खींचा तो धड़धड़कर वह नीचे आ पड़ा. उसे देखकर वह नीच पुरुष (अंत्यज) बहुत ही आश्चर्य चकित हुआ कि अहो यहाँ पुरुष कहाँसे आया? और फिर वह भी ऐसा महात्मा योगीके समान! ब्रह्मचारीने उसे संकेतद्वारा समझाया इस लिए वह उसे गुप्तमार्गसे गंगाके तटपर एकान्त स्थानमें लेगया. वहाँ वह ब्रह्मचारी अच्छी तरह स्नान करके शुद्ध हुआ. फिर चांद्रायणादि महाकठिन अनेक व्रत किये और एक महीने तक दिन रात गंगाकी धाराहीमें पड़ा रहा. तब पहलेके समान फिर पवित्र ब्रह्मचारी बना! जिसके पल भरके प्रसंगसे ऐसा महाकठिन दुःख उठाना पड़ा उस स्त्री जातिके साथ निरंतर रह कर जो स्त्रैण ही बनगया हो उसकी कैसी विपरीत दशा होती होगी!!"

कुछ देर ठहर कर वामदेवजी फिर बोले; "पिताजी! इस तरह पवित्र हुए उस ब्रह्मचारी बाबाने वहाँसे शीघ्र चल निकलनेका विचार किया. परंतु वहाँ बसनेवाले कई सत्पात्र ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य आदि द्विजातियोंने उसे विद्वान् समझकर अपने बालकोंको पढ़ानेके लिए बड़ा आग्रह करके कुछ समयके लिए रखलिया और रूढ़िके अनुसार सब आगत स्वागत करने लगे. इस तरह सहज ही आठ दश महीने बीत गये. एक दिन कार्य वशात् वह ब्रह्मचारी बाबा शहरमें गया था, वहाँसे आते आते रास्तेमें अनायास ही उस सात महल-वाली हवेलीके आगे आ पहुँचा. यह हवेली देखते ही उसे पहलेकी सब बातें याद हो आईं, इस लिए उसने सहज ही ऊपरकी ओर देखा तो उस समय वह स्त्री भी झरोखेमें खड़ी थी. फिर उस स्त्रीकी नजर उसपर पड़ी, उसने तुरंत ही अपनी दासीको नीचे भेजा और कहा कि; 'अलि, जल्दी जा और उस ब्राह्मणको बुलाला. मैं अपने पाप और अपराधके लिए उससे प्रार्थना करके अपने मनके संतापको शांत करूँ.' दासीने आकर ब्रह्मचारीसे विनय की महाराज! ऊपर चलो, तुम्हें हमारी सेठानी बुलाती है.

वामदेव बोले; "मैं पूछताहूँ कि, उस सुन्दरीके बुलाने पर वह ब्रह्मचारी फिर भी उसके पास जायगा या नहीं?"

यह सुन ऋषि सहित सारी सभा बोल उठी; "हरे! हरे! अब वह ब्रह्मचारी क्या जायगा? वह कभी न जायगा. महाराज! वह ब्रह्मचारी

तो अत्यंत सुज्ञ है, कोई मूर्ख शिरोमणि (मूर्खोतिमूर्ख) भी कभी न जायगा. एकवार ऐसा अतुल दुःख भोगने पर किसकी आँखें फूटी होंगी कि जान बूझकर फिर उस नरक कुण्डमें जा पड़ेगा ? अब तो वह ब्रह्मचारी वहाँ कभी न जायगा."

तब वामदेवजी अपने पिताको सम्बोधन कर फिर बोले; "पिताजी ! जब वह ब्रह्मचारी नरकका दुःख भोगनेको वहाँ फिर नहीं जायगा, क्योंकि वह ज्ञानी है, तो तुम मुझसे वारंवार घर जानेका आग्रह क्यों करते हो ? जब पल भर और वह भी अपनी जरा भी इच्छा न रहनेपर स्त्री जातिका संसर्ग होनेसे उस ब्रह्मचारीको ऐसे महा नरकका दुःख भोगना पड़ा तो मुझे घर ले जाकर योग्य वय होने पर किसी स्त्रीसे विवाह करके जब मोह मायाके बंधनमें डालनेके लिए कहते हो, तो उससे मेरी क्या दशा होगी इसका भला कुछ भी विचार तुम्हारे मनमें आता है ? जैसे वह ब्रह्मचारी उस स्त्रीके असीम आग्रह करने पर भी उसके पास नहीं जायगा, क्योंकि उसने दुःखका प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, उसी तरह हालके भोगे हुए नरकके दुःख मैं भी अबतक नहीं भूला हूँ. मुझे भी उस ब्रह्मचारीके समान ही मुँहके बल गिरने, मल मूत्रके बीच अँधेरेमें पड़े रहने, कैदखानेके अंधकारमें रहनेका ऐसा अनुभव हुआ है जो कभी नहीं भूला जा सकता और पिताजी ! उस ब्रह्मचारीकी अपेक्षा मेरा यह दुःखानुभव तो बहुत दिनोंका है."

वामदेवजीके मुँहसे ऐसी विचित्र वातें सुनकर सारी सभा विस्मित होगई. सब सोचने लगे कि 'अहो ! ऐसे महासमर्थ पुरुषको नरक-यातना क्यों भोगनी पड़ी होगी ?' ऐसी शंका होनेपर राजा वरेप्सु बीचमें बोल उठा, गुरुदेव ! "यह कैसा आश्चर्य है ! आपने यह क्या कहा कि, मुझे भी अभी ही नरक यातना भोगनी पड़ी है ? यह बात तो मेरे भी ध्यानमें नहीं आती."

षष्ठ बिन्दु.

गर्भवास ही नरकवास है।

ये मायया ते हतमेधसस्तत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः॥

श्रीमद्भागवत.

अर्थ—हे ईश्वर! जो विषयोंका अल्प सुखप्राप्त करनेके लिए संसारसागरसे तारनेवाली नौकाके समान आपके चरणकमलोंका सेवन करते हैं उन्हें तुम वह सुख देते हो, परंतु आपकी मायासे उनकी बुद्धिको नष्ट हुई समझना चाहिए, क्योंकि विषयोंका सुख तो नरकमें भी मिलता है.

इस तरह राजाके वचन सुन, उसको सम्बोधन करके बटुक बोला; "राजन्! तूने अभी मेरे पूर्व जन्मका जो वृत्तान्त सुना, उसे क्या भूल गया? तुझको स्मरण रखना चाहिए कि गर्भवास और नरकवास, दोनों एक ही हैं! बल्कि नरकवाससे गर्भवास तो और भी महादुःखदायी है! ब्रह्मचारीके उस नरकवासमें तो मल और मूत्र ही था; परंतु गर्भवासके भीतर तो उनसे भी लजानेवाली अनेक दुःखदायी, कुत्सित दुर्गंधमय वस्तुएँ भरी रहती हैं. स्त्रीके शरीरमें जो गर्भस्थान है वह उसके मलाशय और मूत्राशय दोनोंके बीचमें है. उसमें पहले माता पिताके वीर्यके मेलसे बने हुए, बूँदरूप और कुछ समय पीछे बुलबुला रूपसे गर्भवास करनेवाले जीवका देह बनता है. फिर धीरे धीरे उसकी माता (गर्भ धारण करनेवाली) जो जो अन्नादिक पदार्थ भक्षण करती है, उसका उसके पेटमें रस बनने पर, उसका कुछ अंश गर्भस्थानकी नलीद्वारा गर्भमें पहुँचता है, जिससे गर्भ बढ़ता जाता है. ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों गर्भ आकारवाला बनता जाता है. उसे सुखदुःखादि शीतोष्णादि उपद्रव होते हैं. ऐसे समयमें गर्भस्थ प्राणी सिरके बल, जैसे वह ब्रह्म-

चारी पड़ा था उसी तरह, सकरेपनसे सिकुड़ा रहता है, इतना ही नहीं परंतु जब उसकी माता वारवार, सोती बैठती, उठती, करवट वदलती, निहुरती, मिहनत करती, चलती फिरती है तब उस गर्भको वारवार सिकुड़ कर, मुड़ कर अनेक रीतिसे महान् संकट झेलना पड़ता है. फिर आस पास रहनेवाले मल-मूत्रके गढ़ोंमें रगड़ खानेके सिवा उसके देहके आस पास लहू, मांस, कफ, लार, पीब और ऐसे ही अनेक दुर्गंधित पदार्थ भरे रहते हैं. जैसे नरकका कीट नरकसे ही पैदा होता है अर्थात् उसका शरीर नरकसे ही बना होता है उसी तरह इस गर्भवासका जीव भी अपने आस-पास रहने वाले लहू, मांस, मल मूत्रादिमें रहता और उसीसे उत्पन्न होनेके कारण, मल, मांस और रुधिरादि रूप ही होताहै. ऐसे घोर–महाघोर–नरकका वास होने पर भी उसका शरीर नूतन बना होनेके कारण बड़ा ही कोमल और अत्यन्त सुखी होता तथा कुछ भी सहन नहीं कर सकता. और भी उसकी माता समय समय पर जो खट्टा, चिरपिरा, कड़ुआ, गरिष्ठ, उष्ण, बासी इत्यादि भोजन खाती है उससे गर्भके कोमल शरीरको बड़ी बड़ी पीड़ाएँ होती हैं जिन्हें वह सहन नहीं कर सकता. परंतु यह सब किससे कहे ? फिर उस जीवकी माता यदि अकस्मात् किसी तरहके भयमें आ पड़े, या किसी कारणसे उसके मनको जोश या चिंता अथवा शोक हो आवे तो उस समय गर्भस्थ जीव भी अनेक तरहसे पीड़ित होता और दुःख पाता है. इस नरकवाससे भी हजारों गुणा अधिक और वारंवार आनेवाले अनेकानेक दुःखोंके कारण गर्भवासी जीव कईवार मूर्छित हो जाता है, चैतन्य रहित हो जाता है और यदि ईश्वरेच्छासे वह गर्भवाससे पतित-गर्भस्राव होनेसे बचा तो इस दुःखसे बहुत घबराता और छूटनेके लिए बहुत छटपटाता है परंतु छूटे कैसे ? वह तो एक एक कर अनेक बंधनों–आवरणोंके भीतर लिपटा रहता है और वहाँके सारे दरवाजे बंद रहते हैं. ऐसे समय जब वह बहुत ही घबरा कर मूर्छित हो देहकी सुध भूलने लगता है तो उसे फिर कुछ चेत आता है कि अरे मैं कैसे महादुःखमें पड़ा हूँ ? अरे इस दुःखका कारण मैं स्वयम् ही हूँ. मैं पूर्व जन्ममें स्त्रीके सहवास आदिसे निरन्तर संसार वासनाहीको दृढ़ करता रहा और जगन्नियंता प्रभुको भूल गया, यह उसीका फल है. उसकी प्राप्तिके लिए मनुष्य देहमें मुझे सब साधन अनुकूल थे तो भी मुझ दुष्टने उपेक्षा की, इस लिए अपने कर्मोंके कारण मुझे फिर इस कष्टमय नरक दुःखमें आना

पड़ा है. मेरे समान कौन कृतघ्नी है? जगदीश्वरके सब उपकारों पर पानी फेर कर मैंने अपने हाथोंसे दुःख समेट लिया है. ऐसी अवस्थामें वह प्रभु मुझे अब इस दुःखसे क्यों छुड़ायेंगे? परंतु अब इस संकटको कभी नहीं भूलूँगा. यदि इस दुःखसे मैं छूट जाऊँ तो केवल भगवत्साधन करूँगा संसारमें पड़ना नहीं चाहूँगा." ऐसा विचार कर वह प्राणी फिर मन ही मनमें अनेक तरहसे कृपालु प्रभुकी स्तुति करता और क्षमा माँगता है कि, 'हे दीन दयालु! हे परमात्मा! हे करुणासागर! तेरा बारंबार अनादर करके मैं तेरे उपकारोंको भूलता आया हूँ, तो भी मेरी प्रार्थना पर लक्ष्य दे. इसके पहले तूने असंख्य बार कृपा कर मुझे ऐसे दुःखोंसे छुड़ाया है, तो भी मैं दुष्ट तुझे फिर भूलता ही गया इस लिए हे नाथ! मेरे समान दूसरा कृतघ्नी कौन होगा? परंतु करुणामय! तू तो दयासागर है. मेरी यह भूल, तेरी दुस्तर मायाको पार न कर सकनेके कारण ही होती है, इससे जगत्पिता! इसे क्षमा कर, क्षमा कर, मुझ दीनकी इस अंतिम प्रार्थना पर ध्यान देकर सिर्फ इस बार ही मुझको दुःखसे मुक्त कर, अब मैं तुझे कभी नहीं भूलूँगा.'

इस तरह अनेक प्रार्थना पूर्वक क्षमा माँगकर और संसारमें लुब्ध न होकर भगवत्सेवा करनेके लिए जब जीव प्रतिज्ञा करता है, तब दीनबन्धु, कृपासिंधु प्रभु फिर उस पर कृपा कर उसे गर्भवासके महासंकटसे मुक्त करते हैं! इस लिए पिताजी! ऐसे ऐसे अनेक अनिवार्य महासंकटोंका अनुभव कर केवल ईश्वरकी कृपाहीसे उससे छूटकर, अभी ही मुक्त हुआ मैं क्या उस बातको भूल जाऊँ? यदि ऐसा हो तो मेरे समान मूर्ख और नीच इस सारे संसारमें दूसरा कौन है! इस लिए पिताजी! तुम पिता और मैं पुत्र, ऐसा जो अपना लौकिक संबंध हुआ है वही बस है. उसीमें संतुष्ट होकर अब घर जाओ और ईश्वर प्राप्तिका उपाय करो.

सप्तम बिन्दु.

ज्ञानी भी चूकता है.

संमोहं जनयति विभ्रमेण माया । स्वाराज्यसिद्धि.

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

अर्थ—माया विभ्रम (चक्कर) से मोह पैदा करती है. माता, सास, या लड़कीके साथ एकान्तमें कभी नहीं रहना चाहिए क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका समुदाय बड़े बड़े विद्वानोंको भी खींच लेता है.

बटुकके इस संभाषणके उत्तरमें उसके पिताने कहा, "तात ! यह सब सत्य है. प्राणी मात्र, गर्भवासमें वर्णन किये गये उन दुःखोंसे भी अधिकतर दुःख झेलकर ईश्वर प्रार्थना द्वारा उनसे मुक्त होते हैं और उनका आत्मा अज्ञानके आवरणसे ढँका रहनेके कारण इस लोकमें आकर फिर इन सब दुःखोंको भूलकर विषयवासनामें रमण करता है, अर्थात् वारंवार जन्ममरणके पाशमें बँधता है और उससे फिर उसकी यह दशा होती है. यह ईश्वरी मायाका प्राबल्य है, इस दुस्तर मायाके कारण ही प्राणी वारंवार भूलता है परंतु जिसे माया बाधा नहीं कर सकती, उसका क्या ? तेरा आत्मा पाप या अज्ञानावरणसे ढँका नहीं है; तूने तो साक्षात् परमात्मस्वरूपका ही विचार किया है, परमात्मस्वरूपको जाना है उस स्वरूपको देखा है; उसके यथार्थ ज्ञानद्वारा उस दुस्तर मायाको तू पार कर चुका है, तो तेरे जीवको माया क्यों कर भुलावेगी ? जब तेरा आत्मा सनकादिक जैसे गुरुओंकी कृपासे पूर्ण ज्ञानी और परम तत्त्ववेत्ता हुआ है, तो अब तुझे उस मायाके पाशमें फसनेका भय क्यों होना

चाहिए ? मायाकी विचित्रतासे सिर्फ अज्ञानीहीको मोह प्राप्त होता है, परंतु क्या ज्ञानीको भी मोह प्राप्त होता होगा ?

यह सुनकर वटुक वामदेवजी बोले, " हाँ, होताही है; क्यों नहीं होता ? चाहे जैसा ज्ञानी हो उसे भी मोह होता है और इसीसे महात्मा पुरुष बड़ी सावधानीसे चलते हैं. प्रभु सर्वेश्वरकी माया ऐसी अद्भुत शक्तिमती है कि बड़े बड़े ज्ञानी भी उसके भुलावेमें पड़ गये हैं; जब ब्रह्मदेव, शंकर, नारद, इन्द्र, चन्द्र, बृहस्पति आदि अनेक समर्थ पुरुषोंको भी मायाने बहुबार भुलाया है, तो मनुष्यकी क्या गणना है ? उसमें भी मुझ जैसे पापी जीवकी तो गणना ही क्या ? यह भुलावा आत्माको नहीं; परंतु मनको होता है; क्योंकि मन सूक्ष्म और जड़ होने पर भी चंचल प्रकृतिका होनेसे जिस रास्ते अधिक बलसे खींचा जाता है उसीमें खिंच जाता है. वह मन, आत्मा—जीवके साथ एक रस रहनेसे उसकी सारी क्रियाओंका असर आत्माको होता है. इसी लिए महानुभाव पुरुष मनको जरा भी अवकाश नहीं देते; निरंतर उसको अपने वशहीमें रखते हैं. वह जरा भी छूटा—स्वतंत्र हुआ कि फिर भी अपने स्वभावानुसार कुछ न कुछ उत्पात कर बैठता है और उससे चाहे जहाँपर फस जाता है. साधारण पुरुष तो क्या साक्षात् ईश्वरके अंश-रूप, जगतका कल्याण करनेके लिए पैदा हुए पुरुषों (भगवानके रामादिक अवतार)ने भी अपने मनको अवकाश नहीं दिया. ईश्वरके अवतार ऋषभदेवजीने जब योग धारण किया, तब अष्टमहासिद्धियाँ उनके आगे आकर खड़ी हुईं और कहने लगीं; 'महाराज ! हम आपके अधीन हैं, इस लिए आप हमें स्वीकार करें. ' परंतु योगेश्वर ऋषभदेवने उनका त्याग करते हुए कहा, ' मैं तुमको ग्रहण नहीं करूँगा. मुझे यद्यपि किसी तरहकी इच्छा नहीं है और मेरा मन शान्त हुआ है तथापि तुम मुझे जो स्वयम् आकर प्राप्त हुई हो उन तुमको मैं स्वीकार करूँ तो मेरा मन तुम्हारा उपयोग किये विना नहीं मानेगा और उससे यह फल होगा कि असंग (त्यागीपन) का जो यह उत्तम व्रत है इससे मेरा पतन हो जायगा. इस लिए देवियो ! तुम जाओ ! तुमको मैं प्रणाम करता हूँ. ' सारांश यह है कि ईश्वरावतार ऋषभदेवके समान महात्माने भी जब मनको स्वतंत्रतासे रखनेमें संकोच किया है, तो इस संसारी जीवकी बात ही क्या कही जाय ? मनको यदि स्वतंत्रता दी जाय तो चाहे जैसा ज्ञानी हो उसको भी मोह होगा. इस विषयका एक सच्चा इतिहास कहता हूँ, उसे सुनो,

"किसी समय ईश्वरावतार महात्मा वेदव्यासजीने धर्मशासन रूप एक ग्रंथ रचा. उसमें उन्होंने वर्ण तथा आश्रम धर्मोंका अच्छी तरहसे विवेचन किया था; और उसीमें उत्तमरीतिसे कर्म, उपासना तथा ज्ञान काण्डका भी वर्णन किया था. ग्रंथ अत्यंत उत्तम और महाजनोंको भी अनुकरणीय था. शिष्ट (सभ्य) पुरुप अपनी कृतिका वर्णन स्वयम् नहीं करते, और न अपनी महत्ता ही प्रसिद्ध करते हैं. ऐसे महापुरुप, यद्यपि स्वयम् सारे संसारसे भी ज्ञानी होते हैं और वह जो कुछ करते हैं, वह बहुत समयके अनुभवसे कल्याणकारी समझकर ही करते हैं परंतु उस अनुभवकी हुई अपनी स्थितिमें वह अपनी सत्यताके लिए आग्रही (हठीले) नहीं होते. उनका किया हुआ काम उचित है अथवा नहीं इसके लिए वह अपने पुत्रवत् या बालकके समान शिष्योंसे भी मत लिया करते हैं. वह यदि व्यवहार करते हैं तो वही करते हैं जो उनको उचित जँचता है तो भी सत्य और दृढ़ता प्राप्त करनेके लिए वह उपर्युक्त नियमका अनुसरण करते हैं! व्यासजीने अपना रचा हुआ वह ग्रंथ अपने प्रवीण शिष्य जैमिनिको देखनेके लिए दिया. जैमिनि ऋपिकी योग्यता भी कुछ कम नहीं थी. वह महासमर्थ विद्वान्, बुद्धिमान् और धर्माग्रही थे. मीमांसा शास्त्रके संबंधमें उन्होंने अपने गुरु श्रीव्यासजीसे पूर्व पक्ष (प्रतिकूल पक्ष) ग्रहण किया था जो गुरु–शिष्य संवादरूप–पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष रूपसे 'पूर्व मीमांसा' और 'उत्तर मीमांसा,' इन दो अपार विद्वत्ता पूर्ण ग्रंथोंके नामसे आज भी जगतमें प्रकाशित है.*

ऐसे समर्थ जैमिनि ऋषि अपने गुरुदेवका बनाया हुआ ग्रंथ आद्यंत (आदिसे अंत तक) देखने लगे. पढ़ते पढ़ते उन्हें एक स्थलपर यह लिखा हुआ मिला कि, 'मनुष्य स्त्रीके साथ एकान्तमें न रहे, क्योंकि एकान्तमें साधु और ज्ञानी पुरुषको भी बलवान् इन्द्रियोंका समूह मोह पैदा करता है.' यह पढ़ते ही जैमिनि मुनिके मनमें शंका उत्पन्न हुई, क्योंकि यह बात उनको उचित नहीं जँची. ग्रंथका पढ़ना बंदकर वह उसी समय गुरुजीके पास गये और प्रणामकर कहने लगे; "गुरुमहाराज! ग्रंथ बहुतही श्रेष्ठ और सर्वमान्य है, परंतु एक जगह मुझे कुछ विपरीत जान पड़ता है,

* पूर्व मीमांसा, धर्म–कर्मवादका प्रति पादन करनेवाला जैमिनि सूत्र और उत्तर मीमांसा ब्रह्मवाद–वेदान्त वादका सिद्धकरनेवाला व्यास सूत्र है.

इस लिए वह आपको बतलानेके लिए आया हूँ." यह सुनकर गुरुव्यासजी बोले, "बहुत अच्छा हुआ, इस लिए ही तो यह ग्रंथ पहले तुझे पढ़नेको दिया. तू मेरा मुख्य शिष्य है और बुद्धिमान् है, इस लिए तुझे जब यह उचित जान पड़े तो इसका नाम क्या रखना चाहिए इस बात-पर भी तू विचार करना. फिर इसे दूसरे शिष्योंको भी दूँगा. मुझको विश्वास है कि ग्रन्थमें एक भी बात अप्रमाणिक किंवा लोगोंको बुरे रास्तेमें लेजानेवाली प्रवेश नहीं कर सकी है; क्योंकि यदि वैसी बात लिखी गई हो और लोग विपरीततासे व्यवहार करें तो वह उस ग्रन्थके प्रणेताकी अपकीर्ति करनेवाली और उसे अधोगतिमें लेजानेवाली होती है. जिसके वचनको लोग ईश्वरकी आज्ञाके समान भावपूर्वक आदर देते और उसीके अनुसार वर्ताव करते हैं, वह शिष्ट और समर्थ पुरुष यदि अपनी ओर झुके हुए प्राणीकी भक्तिपूर्ण भावनासे लाभ उठा कर, प्रमादवश उसे कभी प्रतिकूल मार्गमें लेजानेवाला असत्य वचन कहे तो उस प्राणीके प्रतिकूल मार्गमें जाकर किये हुए सारे बुरे कर्मोंके पापका अधिकारी वह उपदेष्टा ही होता है. इस लिए जैमिनि ! मेरे ग्रन्थमें तुझको क्या अनुचित दिखा है वह मुझे शीघ्र बता." महामुनि वेद व्यासजीका यह अत्यन्त योग्य भाषण सुन कर जैमिनि ऋषि तुरन्त वह ग्रन्थ उनके सामने रख प्रणाम करके बैठे और ग्रन्थसे वह बात निकाल कर बोले; महाराज, मुझको जो अयोग्य लगता है वह सिर्फ यह है कि, 'मनुष्य एकान्तमें न रहे.' यह तो ठीक है; परंतु वैसा करनेसे 'साधु और ज्ञानीजनको भी बलवान् इंद्रियोंका समूह मोह पैदा करता है.' यह क्या है ? ज्ञानीको फिर वह मोह क्यों होता होगा ? ज्ञानी, यह शब्द ही अपने अर्थसे यह सूचित करता है कि, जिससे अज्ञान और मोह दूर रहता है. विद्वत्ता अर्थात् ज्ञान और ज्ञान अर्थात् सत्य और असत्य क्या है इसका यथार्थ ज्ञान. सत्य तो सिर्फ परमात्मस्वरूप ही है, और इससे प्रतिकूल यह सब असत्य है—मिथ्या है, ऐसे निश्चयसे जो जाना जाय वही ज्ञान है. इस तरह सत्यासत्य जाननेके बाद, असत्यसे मुग्ध हो इन्द्रियोंके समुदायके बलसे मोहित होनेकी जो अज्ञानता है वह जिससे बिलकुल नष्ट हो गई हो, वही ज्ञानी कहाता है. तो फिर ऐसे ज्ञानीको मोह क्यों होगा ? उसका पतन कैसे हो सकता है ? मोहसे रहित होता है तभी ज्ञानी कहाता है; इस लिए 'साधु और ज्ञानी मनुष्यको' भी मोह होता है,

यह बात मुझको उचित नहीं जँचती है. इस लिए गुरुदेव ! यह बात आप निकाल दीजिये, इस पर हड़ताल पोतिये और इस अमूल्य पुनीत ग्रन्थको अपवादसे मुक्त कीजिये, बस यही मेरी प्रार्थना है."

वेदव्यासजीने मुस्कुराकर महा, "जैमिनि ! ईश्वरकी माया कितनी प्रबल है; इसे क्या तू नहीं जानता ? यह माया ही सारे विश्वको मोह करनेवाली महा मोहिनी है. पुरुषोत्तम श्रीहरिकी यह मूल प्रकृति है; इस लिए जगतमें जो कुछ जड़ पदार्थोंका समुदाय है, उन सबकी उत्पत्ति करनेवाली मूल देवी यही शक्ति है. यह स्वभावसे ही जड़, महामोह करनेवाली और जीवको बंधनमें डालनेवाली है. इस मायासे ही यह चराचर जगत ईश्वरके संबंधसे दृश्यमान (प्रकट) हुआ है, अर्थात् इस मायाके मोहसे ही यह जगत वस्तुतः (यथार्थमें) कुछ न होते भी सत्यके समान जान पड़ता और उत्पत्ति स्थिति तथा लय इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है. इस लिए यह ईश्वरी माया बड़ी दुस्तर है और इसीसे पुरुषोत्तमने स्वयम् श्रीमुखसे कहा है कि, "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" दैवी और गुण प्रचुर मेरी यह माया वास्तवमें बडी ही दुरत्यय-जो जानी न जा सके ऐसी, है. हे तात! हे जैमिनि! इस ईश्वरी मायामें बड़े बड़े मोहित हो गये हैं. इस जगत (सृष्टि) के बनानेवाले ब्रह्मदेव[1], कैलाशवासी शंकर और देवर्षि नारदके समान मुनिको भी मायाने भुला दिया है, तो फिर दूसरोंकी क्या गिनती ? इस लिए पुत्र! स्त्रीके साथ एकान्तमें रहना महा अनर्थकारी-अरे बड़ेसे बड़े उच्च स्थानसे भी पतित (भ्रष्ट) करनेवाला है. भाई! मायाके शस्त्ररूप कामादिका जोर इतना बड़ा है कि तरुणाईमें आनेपर, सुज्ञपुरुषोंको दूसरी स्त्री तो क्या, परंतु योग्य उमरकी माता, बहिन या लड़कीके साथ भी कभी एक आसन या एक बिस्तरेपर बैठना या सोना अथवा बातचीत करना न चाहिए. क्योंकि 'नवीना मीनाक्षी व्यथयति मुनीना मपि मनः॥' 'मीनाक्षी (मछलीकी आँखोंके समान जिसकी आँखें हों)'नव युवती मुनियोंके मनको भी विह्वल कर

---

१ सृष्टिकी उत्पत्ति परमात्मासे है, इस लिए यथार्थ देखते सृष्टिका उत्पादक परमात्मा ही है; परन्तु परमात्माके सात्विक रूपसे नाभि कमल द्वारा ब्रह्मा पैदा हुआ, परमात्माने उसे सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी अर्थात् ब्रह्माने जगतको प्रारंभसे रचा, जिससे वही सृष्टिकर्ता (स्रष्टा) माना जाता है.

देती है और उसमें ज्ञानीको भी अज्ञानीके समान मोह होता है' ऐसा जो मेरा सूत्र है वह कैसे अयोग्य है? तो भी तुझे यदि यह वचन बाधा करनेवाला मालूम होता हो तो तू अपने हाथसे उसपर हरितालै लगा दे."

यह सुन जैमिनि बोले; "प्रभो! क्या शिव ब्रह्मादिकको भी मायाने मोहित किया है, यह कैसे माना जाय? यह तो परमात्माकी मुख्य विभूतियाँ होनेसे परमात्माके समान ही हैं, तो भी उन्हें मायाके आवरण (ढकने) ने पीड़ित किया-मायामें आसक्ति हुई, यह सुनकर तो मुझे बड़ा ही आश्चर्य होता है." वेदव्यासजी बोले; "इसमें जरा भी आश्चर्य होनेकी बात नहीं है. मायाका बल इतना बड़ा न हो तो यह सारा जगत कल ही ब्रह्मरूप हो जाय; और किसीको भी भ्रम या मोह न रहे; परंतु जगतकी प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म वस्तुपर मायाका दृढ़ आवरण है, इसीसे जगतका क्रम चल रहा है. मायाके आश्रयसे ही परमात्मा, शिवब्रह्मरूपसे प्रकट हुए हैं, तो उन्हें (शिव ब्रह्मादिको) ईश्वरी मायासे क्षोभ होनेमें क्या आश्चर्य है?

इतना कह कर महामुनि वेदव्यास बोले; जैमिनि! एक बार शंकरको वैकुण्ठ देखनेकी इच्छा हुई, इससे वह उस दिव्य, नित्य मुक्त विष्णुलोकको गये. वहाँ परमात्माकी महद्विभूति—मुख्यस्वरूप, साक्षात् लक्ष्मीपति महाविष्णु विराजमान थे. इस विष्णुलोकमें बसनेवाले सारे प्राणी भगवत्परायण होनेसे भगवद्रूप ही होते हैं. इस सारे दिव्य रूप विष्णुलोकको देख कर विस्मित हुए शंकर, श्रीहरिके मंदिरके पास आये. वहाँ भी सब पार्षद-गणोंसह बैठे हुए दिव्यरूप महाविष्णुको देखकर श्रीशंकरको बड़ा ही आश्चर्य उत्पन्न हुआ. भगवानसे मिलकर, नमन वंदनादि द्वारा हाथ जोड़कर शंकर स्तुति करने लगे, तब भगवानने उनको हर्ष पूर्वक हृदयसे लगाकर कहा: "शिव! परम कल्याणरूप! मायातीत! मेरी मायाके आवरणको भेदकर तुम यहाँ आये हो यह देखकर मैं अत्यंत प्रसन्न हुआ हूँ. मेरी दुस्तर माया, जिसकी सत्ता सबपर है और जिसके आवरणके सपा-

---

१ हरिताल अर्थात् हड़ताल. प्राचीन लेखक पक्की स्याहीसे लेख लिखते थे. उसमें कुछ खराब लिख गया हो तो पक्की स्याही होनेसे मिट नहीं सकती थी, इस लिए उसपर हड़ताल लगाकर लिखा हुआ ढँक देते थे. हड़ताल मारना अथवा हड़ताल लगाना अर्थात् लिखे हुए को ढँक देना—रद्द करना.

टेमें आये विना कोई नहीं रहा, उसे तुम्हारा पार करलेना कोई आश्चर्यकी वात नहीं क्योंकि तुम तो मेरे आत्मारूप और मेरी वड़ी विभूतिरूप हो."

परमात्मा विष्णुका यह संभाषण सुनकर, सदाशिव शंकरके मनमें अकस्मात् एक कुतूहल जनक विचार पैदा हुआ. वह विनयकर वोले; "प्रभो ! मेरी एक इच्छा है, उसे आप पूर्ण करें. प्राचीनकालमें जव देव और दानवोंने समुद्रका मंथन किया तो सव देवोंने अपनी अपनी मनचाही जो वस्तु निकाली उसे ले ली और उसमें जगतके मंगलके लिए मेरे हिस्सेमें हलाहल विष आया यह सव वातें आपको संपूर्णरूपसे विदित होंगी परन्तु अंतमें जव अमृत निकला तो पैदा हुए विग्रह (युद्ध) को शान्त करनेके लिए आपने जो महामोहिनी स्वरूप धारण किया था आपका वह माया स्वरूप आज आपके उक्त वचनोंसे मुझे देखनेकी उत्कंठा हुई है, उसे आप पूर्ण करें. क्योंकि उस समय मैं कैलास—अपने धाममें था और इससे मुझे आपका वह स्वरूप देखनेका सौभाग्य नहीं हुआ था." त्रिभुवन पति विष्णुने कहा; "शिव ! जगतके कल्याणकर्त्ता ! मेरी एक विचारपूर्ण वात सुनो. यह मोहिनी स्वरूप मेरी दैवी गुण प्रचुर महामायाका एक अंग—विभूति है. इसमें अच्छे अच्छे ज्ञानियोंने गोता खाया है—धैर्यच्युत हुए हैं, इस लिए यह वात छोड़देना ही ठीक है." महादेवने कहा; "मधुसूदन ! श्यामसुन्दर ! क्या तुम भी मुझे उन मूर्ख अज्ञानियोंकी कोटिका एक अज्ञान मानते हो ? नहीं नहीं, मैं जरा भी विचलित नहीं हो सकता, जो व्यक्ति न जानता हो वह कदाचित्त भूल जाय तो उसमें कुछ नवीनता नहीं है, परन्तु तुमने मुझे जव अपनी मायाका स्वरूप इतनी अच्छी तरहसे समझाया है तो फिर मैं उसे भला कैसे भूल जाऊँगा ? एक वार तो मेरी इच्छा पूरी करो." भगवान विष्णु हँसकर वोले: "अच्छा तो किसी समय यह दिखाऊँगा; पर स्मरण रखना, मेरी माया दुरत्यय-अजय है."

श्रीहरि परमात्माकी यह वात, जगतके कल्याणकर्ता श्रीशंकरको नहीं रुची. उन्होंने सोचा, 'इनकी माया ऐसी कितनी वलवती होगी कि जिसे इन्होंने स्वयम् श्रीमुखसे दुरत्यय—अजय कहा ? इनका आवरण सवपर है तो क्या मुझपर भी है ? ऐसे गुनतारे वाँधते हुए शंकर जहाँ तहाँ फिरकर अत्यंत शोभामय विष्णुधामका अवलोकन करने लगे. इस मंगल मंदि-

रकी अनुपम शोभाका वर्णन कौन कर सकता है? उसे देखकर कैलासपति शंकर भी चकित हो गये और जब देखते हुए बाहर आये, तो मंदिरके आस पास अनेक जातिके फल और फूलके वृक्षोंकी विचित्र वाटिका नजर पड़ी. उसमें मरकत मणिसे बँधे हुए घाटके अनेक सरोवर, मुक्ताफलके समान शुद्ध और चित्र विचित्र (रंगबिरंगे) कमलों और पूर्ण जलसे लबालब भरे हुए थे. उस जलमें क्रीड़ा करते हुए हंस बतकादि और उन वृक्षोंपर रमण करते हुए कोकिलादि (कोयलादि) दिव्य पक्षियोंका कलरव मनको महदानंद देरहा था. वाटिकाका अवलोकन करते हुए शंकर ज्यों ज्यों आगे चले त्यों त्यों आनन्दसहित आश्चर्यमें लीन होते गये. जैमिनि तू जानता है कि शंकरके निवासस्थान कैलासकी शोभा अति अद्भुत है. सब स्थानोंमें उत्तमोत्तम शोभावाले स्थानको भी सबसे बड़ी उपमा सिर्फ कैलासहीकी दी जाती है; अर्थात् कैलाससे अधिक शोभामय स्थान दूसरा नहीं है तो भी उस कैलासमें निरंतर निवास करनेवाले शंकर, इस विष्णु-वाटिकाकी शोभा देखनेमें तल्लीन हो गये! इतनेमें उन्होंने फिर भी एक आश्चर्य देखा; मंद, सुगंध, शीतल और अनुकूल वायुवेगसे झूमती हुई कुछ दूरकी वृक्षलताओंमें एक नवयौवना सुन्दरी उनकी दृष्टि पड़ी. शंकरका मन-उसके मुख देखनेमें लुभाया, इससे वह उसके पीछे चले. सुन्दरी शंकरको पास आया देखकर उनकी ओर नेत्रकटाक्ष फेंकती हुई झटसे भागी. उसके उन कटाक्ष-बाणोंसे शंकरका हृदय बिंद गया. ज्ञानी–प्राणीमात्रके कल्याण कर्ता श्रीशंकर मायामें लपटाये–मोहमें फसे. शंकर मोहित होकर उस सुन्दरीके पीछे दौड़े. सुन्दरी आगे और शंकर पीछे. बहुत देरतक वाटिका भरमें दौड़ धूप होती रही. शंकरको थका हुआ जानकर वह मोहिनी स्वरूप कुछ देर खड़ा रहा इतनेमें शंकरने उसे दौड़कर पकड़ा और ज्योंही आलिङ्गन करने लगे, त्योंहीं वह एक ओरको खसक गया! बस होगया! इस अनिवार्य मोहावेशमें शंकर भान भूल गये! निस्तेज माया! प्रबल माया! तेरी शक्ति अपार है. शंकरने उस आगे खड़ी हुई सुन्दरीकी ओर देखा तो आश्चर्य! आश्चर्य! सुन्दरी तो सुन्दरी नहीं, परन्तु साक्षात् महाविष्णु परमात्मा–परब्रह्म प्रभु थे. भगवान् विष्णु मंद मंद मुस्कुराते हुए बोले, " शिव ! मेरा मोहिनीस्वरूप देखा? " शंकरने अत्यंत लज्जित होकर तुरंत सिर नीचा करलिया और उनके अंतःकरणमें

निश्चय हुआ कि परमात्माकी माया बिलकुल अनिवार्य है. फिर अच्छी तरहसे नारायणकी स्तुति करके वह कैलासकी ओरको गये."

वामदेव मुनि अपने पितासे कहते हैं कि, "पिताजी! यह इतिहास सुनाकर वेदव्यास बोले; "जैमिनि! इस तरह शंकर जैसे भगवान् भी मायासे मोहित हो जाते हैं, तो फिर दूसरोंकी क्या गणना? शंकर क्या ज्ञानी नहीं थे? यह ज्ञानी तो क्या पर ज्ञानियोंके शिरोभूषण थे. यह ज्ञानके अधिष्ठाता ज्ञानद्वारा मालूम किये जानेके वस्तुरूप हैं. इनके समान दूसरा ज्ञानी ही कौन है? जब ऐसे ज्ञानीको भी मोह हुआ, जो प्रमाणसिद्ध है तो फिर मेरे इस ग्रंथका वाक्य कैसे असत्य होगा?

इतना होनेपर भी जैमिनिके मनको समाधान नहीं हुआ. गुरुके आगे वह अधिक तो कुछ नहीं कह सके, परंतु मनमें यह बात अच्छी न लगनेसे ग्रंथको वहीं रख, गुरुको प्रणाम कर अपने आश्रममें चले गये. गुरुने भी इसपरसे जान लिया कि, उन्हें यह वचन नहीं रुचा. अभी उनके मनको समाधान नहीं हुआ. परंतु इस समय वह कुछ भी नहीं बोले.

वामदेव बोले; 'अस्तु, पिताजी! गुरुके आश्रमसे कुछ दूर अपने आश्रममें (जहाँ जैमिनि मुनि तपश्चर्या करते थे) जाकर उन्हें विचार होने लगा कि, 'अरे, शंकरको भी मोह हुआ, यह क्या विश्वासके योग्य है? गुरुजीका वचन असत्य तो होही नहीं सकता, होगा तो सत्य ही, तो भी बात और ही होनी चाहिए. शंकरको तो सब विचित्र स्वभावके भोले कहते हैं, उनकी तो स्थिति ही सब मोहरूप है इस लिए उन्हें तो सहज ही मोह हो सकता है, पर नहीं, यह कुछ उदाहरण लेनेके योग्य नहीं जँचता.' ऐसे परस्पर विरोधी विचार करते हुए वह कुछ देरमें आश्रममें आ पहुँचे. यह आश्रम बहुत विस्तीर्ण और रमणीक था. चारों ओर आम आदिके उत्तम वृक्षोंकी घटा घिरी हुई थी. पक्षीगण उनपर मधुरशब्द बोल रहेथे. वसंत ऋतु होनेसे आश्रम-वनपत्रों, पुष्पों और मौर आदि नवीन अलंकारोंसे सुशोभित हो रहा था. ऐसे मनोहर आश्रममें जा समय हो जानेसे जैमिनिने गंगा-तटपर जा कर स्नान किया और अपना मध्याह्न समयका आह्निककर्म कर लिया. फिर स्थिर चित्त होकर तप संबंधी नैमित्तिक जपानुष्ठान करनेको बैठे. जप करते हुए तीसरा पहर होने लगा. वसंतका सुगंधित अति सुखमय वायु मधुर-मधुर और अनुकूल रीतिसे वह रहा था. ऋषिने जाना

कि उसमें कुछ परिवर्तन हुआ है. वह धीरे धीरे बढ़कर अधिक वेगसे बहने लगा. क्षण भरमें उसने भयंकर वेश धारण कर लिया. चहुँओर धूल उड़ने लगी, वृक्ष हिलने लगे और मानो अभी उखड़ पड़ेंगे इस तरह पवनके वेगसे झूलने (हिलने) लगे. आँखोंमें धूल भरने लगी. आकाश भी मेघाच्छन्न हो गया. अकस्मात् ऐसा होनेसे पशु पक्षियोंकी भगदड़ पड़ी. मेघोंसे बड़े बड़े फुहारे छूटने लगे और धीरे धीरे गंभीर (मूसलधार) वर्षा होने लगी. देखते देखते आश्रममें और बाहर, वृक्षों तथा भूमिपर सर्वत्र जल ही जल हो गया. कुछ देरमें वर्षाका वेग कम हुआ, वायु बदला और तूफान दूसरी ओरको जाने लगा. वर्षा भी बंद हुई, बादलोंके कारण होनेवाला अंधकार भी धीरे धीरे न्यून होने लगा. ऋतु स्थिति पहर दो पहरमें फिर बदल गई. मंद और मनोहर वसंतका वायु, इस समय हेमन्त या शिशिरके समान ठंडा हो गया, प्राणियोंके अंगको भेद कर सिसकारी निकलने लगी. पशु, पक्षी और मनुष्य सब थरथर काँपने और आश्रय खोजने लगे.

ऐसे समय इस निर्जन वनमें जैमिनि ऋषिके आश्रमसे कुछ दूर वृक्षोंके नीचे एक बाला भी इसी तरह काँपती और आश्रय खोजती हुई दृष्टि पड़ी. शीतसे बचनेके लिए उसे आसपास कहीं भी आश्रय न मिलता था. उसने चारों ओर देखा पर कहीं स्थान नहीं दिखा. अंतमें निराश होकर वह एक वृक्षकी डालमें बैठनेको जारही थी इतनेमें उसकी दृष्टि ऋषिके आश्रमकी ओर आकृष्ट हुई, वृक्षोंकी घटा देखकर उसे आशा उत्पन्न हुई कि, यह अवश्य किसी ऋषिका आश्रम होगा. तुरंत आँचल (पहरी हुई सारीका किनारा) खोंस काँपती हुई वह नवयौवना आश्रमकी ओरको चली और थोड़ी देरमें वहाँ जा पहुँची. परंतु उसका मन भीतर जानेसे हिचका. एकतो अबला, फिर तरुणी. अकेली और शरीरपर एक ही वस्त्र और वह भी भीग जानेसे शरीरसे चिपट गया था—इससे वह बहुत लज्जित होती थी. उसकी कान्ति, अलंकार और शरीरकी कोमलतासे स्पष्ट दीखता था कि, वह किसी महा धनाढ्य या किसी राजाकी कन्या होगी. शरीरका वस्त्र भीग जाने और बहुत देरतक ठंडसे अकड़ जानेके कारण उसका मन तो बहुत चाहता था कि आश्रममें जानेसे वस्त्रादि मिलेंगे पर लज्जाके मारे भीतर न जा कर आश्रमके द्वारपर इधर उधर छिपती खड़ी रही.

आश्रममें ऋषि जैमिनिके सिवा और कोई नहीं था, वह भी एकाग्र चित्तसे जप करते हुए बैठे थे, इससे वहाँ कुछ भी शब्द न होता था. कुछ देरमें ऋषिका नियमित जप पूर्ण हुआ और वह 'हरि ॐ, हरि ॐ, हर हर!' शब्द करते हुए आसनसे उठकर पर्णशालाके बाहर आये. बाहर आकर देखते हैं तो चहुँ ओर वायुसे हिलते हुए वृक्षोंसे जलकी बूँदें टपक रही हैं. कुछ देर पहले बरसा हुआ जल सर्वत्र बह रहा है. ठंड ऋतुके समान शीतल हवा बह रही है. जमीन भींग गई है और सारे जीव शीतसे थरथरा रहे हैं. अहो! ईश्वरकी लीलाका कैसा चमत्कार है. कुछ पूर्व क्या था और कुछ देरमें क्या होगया. इस तरह विस्मित होकर वह आश्रममें इधर उधर फिरने लगे, इतनेमें द्वारपर छिपती हुई वह नवयौवना उन्हें दिखाई दी. ऋषि कुछ आगे आये तब उन्हें अपनी ओर आते देख वह बाला लज्जित होकर किनारे होगई और अपने अंगोंको ढँकने लगी. तपाये हुये सोनेके समान उसके तेजस्वी गौरशरीरपर पड़े हुए रेशमी वस्त्रसे, जो बहुत ही बारीक था, और भीग जानेसे शरीर पर चिपट गया था, उसके शरीरके सारे भाग साफ साफ दीखते थे. वह बाला कभी अपने दोनों हाथोंसे नव विकसित हृदकमलों (स्तनों) को ढाँकती, तो कभी जोरसे बहता हुआ शीतल वायु, जँघाओंपरके कुछ कुछ सूखे हुए वस्त्रके छोरको उड़ा देता था. जब वह उन्हें एक हाथसे ढँकती, तो छातीका भाग उघर जाता था. कभी उसके रूएँके समान कोमल उदर (पेट) का कपड़ा उड़ जाता और गंभीर नाभिप्रदेशकी शोभाको प्रदर्शित कर देता, तो कभी शंख (कम्बु) के समान कंठ और उसमें पड़ी हुई गजमुक्ताकी माला, जिसके पदक दोनों कुचकुंभोंके मध्य विराज रहे थे, उघर जाते थे. फिर वस्त्र अत्यन्त बारीक होने और पानीसे भीग जाने पर शरीरसे चिपट जानेसे एक बाजूसे उड़ जाता और जब दूसरी ओरसे ढँकती तो चरसे फट जाता था. ऐसा होनेसे वह और भी उघारी होती जाती थी. वह मुग्धा शर्मिन्दा हो गई और अत्यंत लज्जित होनेसे ऋषि जब उसकी ओरको देखते तो सिर नीचा करलेती और जब ऋषि आगे आकर खड़े होते तो पीठ फेरकर खड़ी होजाती. ऐसा देखकर ऋषि दूरहीसे बोले; "बाले! नवलसुन्दरी! तू कौन है? और अकेली तथा एक ही कपड़ेसे क्यों है?" ऋषिके ऐसे वचन सुनकर भी वह कुछ न बोली, तब ऋषि और पास

जाकर बोले; "यौवने! लज्जिते! तू इतनी लज्जा क्यों करती है? सुंदरी! संध्या होनेको आई, शीत ऋतुके समान ठंडा वायु बहता है, तू भीगे शरीरसे शीतमें क्यों ठरती है? आश्रममें क्यों नहीं आती? कुसुमांगी! तू इस मिथ्या लज्जाको छोड़कर आश्रममें जा, वहाँ तू सुरक्षित रहेगी. अनायास और ऐसी संकटकी अवस्थामें आजानेसे तू मेरे अतिथिके समान है. मैं रीत्यानुसार तेरा आतिथ्यसत्कार करूँगा." इतना कह ऋषि फिर और पास आकर कहने लगे; "शशिवदनी! तेरे स्वरूपसे साफ माल्म होता है कि तू कोई राजतनया (राजपुत्री) होगी. इस लिए हे राजपुत्री! क्या तू इस पुष्पित वनमें वसंतक्रीड़ा करनेको आई थी? पर ऐसा हो तो तेरे साथमें कई सखियाँ होनी चाहिएँ. किन्तु संभव है कि वर्षाके इस तूफानमें तू उनसे विछुड़ गई हो, क्यों भला? पर होगा, चाहे जैसा हो अब तू निष्कारण वायुमें क्यों दुःखी होती है? भीतर जा और सूखा कपड़ा पहर.

इस समय भी वह बाला लज्जा (संकोच) वश कुछ न बोल सकी, परन्तु ऋषिके अनुरोधसे मानो भीतर जाना चाहती हो इस तरह नीचे देख कर भूमि खोदने लगी. ऋषिजी समझकर आगे हुए और वह धीरे धीरे पीछे चली. आश्रमके भीतर जाकर ऋषिने तुरंत कुश और छालके बने हुए चीर वस्त्र, वल्कलवस्त्र और ऊनवस्त्र लाकर उसे पहरनेको दिये और अग्निमें लकड़ी डालकर खूब प्रदीप्त (प्रज्वलित) किया. फिर वह बोले; "कोमलाङ्गी! व्यर्थ लज्जा करके दुखी क्यों होरही है? शीघ्रतासे गीला (भीगा) कपड़ा उतार डाल और ये सूखे कपड़े पहर. देवि! तेरे शरीरमें वल्कल वस्त्र चुभेगा, इस लिए इसे न पहरकर यह बारीक ऊनीवस्त्र पहर और यहाँ आकर शरीरको अच्छी तरह सेक, तबतक मैं तेरे लिए कुछ फल मूल ले आता हूँ." ऐसा कहकर ऋषि पर्णशालाके पीछे गये और थोड़ी देरमें कुछ स्वादिष्ट फल और मूलकी झोली भर लाये. ऋषिके लौटकर आजानेतक भी वह सुन्दरी कपड़े पहर कर तैयार न हुई थी. उसने कभी चीर वल्कल पहरे थे कि आज ही पहरे? यह वस्त्र पहरना वह जानती ही न थी. ये खद्दड़ जैसे मोटे कपड़े पहरें ही पहरे कमरसे खिसक पड़ते थे. यह देख, यद्यपि वह शरमाती थी तो भी उसके पास जाकर ऋषिने उन्हें अपने हाथोंसे पहराया और हाथ पकड़ आगके पास लाकर तपाने लगे. उन फल मूलोंको भी लाकर सामने रखा और अपने हाथसे उसको

खानेके लिए देने लगे. सुन्दरीने ज्यों ज्यों ऋषिका अधिक आग्रह देखा, त्यों त्यों अधिक लज्जा कर शरीर छिपाने लगी. परन्तु एक दृष्टिमात्रमें उसके लोचनो (नेत्रों) ने भ्रूचाप चढ़ाकर तीर मारा और महात्माका हृदय विदीर्ण कर दिया. ऋषि मोहित हो गये. वह बाला पूर्ण यौवनावस्थाको प्राप्त हुई सोलह–सत्तरह वर्षकी थी. उसका शरीरसंगठन बड़ा ही सुन्दर था, संकोचके कारण वह एक भी शब्द न बोलती थी. और इसीसे उसने उस मुग्ध हुए मुनिके मनको व्याकुल करदिया था. उसके अर्धस्पष्ट हाव भाव, साहजिक नेत्र कटाक्ष और अंगप्रत्यंगके दर्शन, इतना ही नहीं परन्तु वल्कल पहराते समय किये हुए स्पर्शके संस्कार, मुनिके अंतःकरणमें प्रविष्ट हो अच्छी तरह अधिकार कर बैठे थे. इन सबने मिलकर मुनिजीकी चित्तवृत्तिके चक्रको चलायमान कर दिया था. पिता जी ! अग्निका मेल होनेपर घी कबतक न पिघलेगा ? फिर शान्त रहकर ऋषिने धैर्य धरा और उसके पास बैठकर कंधेमें हाथ रखा तो वेणीका स्पर्श हुआ. उसके स्पर्शसे मुनिको ऐसा जहर चढ़ा मानो काली नागनने डँस लिया हो ! इस दंशसे मुनि तड़फ तड़फ कर उस सुन्दरीके शरीर पर प्रेमसे हाथ फेरकर बोले; " मुग्धे ! क्या तू प्रीतिरूप अमूल्य रससे अजान है ? ऐसा एकान्त स्थल और इतना समय मिलनेपर भी अभी लज्जामें ही मुँह छिपाती जाती है इससे क्या तू रतिरसके लाभको नहीं समझती ? हाँ तेरी जैसी युवतीको लज्जा भूषण है सही, परंतु यहाँ अब तुझको किसकी लज्जा है ? यहाँ तो सिर्फ मैं और तू, दोही जने हैं, इस लिए सारी चिन्ता छोड़कर, प्रसन्न मनसे आनन्दोत्सवमें तत्पर हो. अब देर न कर ! चल चल ! इतना कहकर अत्यंत कामातुर हुए मुनिश्रेष्ठने उसके शरीरका वस्त्र अपने हाथोंसे दूर किया और एक हाथसे अंकोर भर दूसरेसे ओष्ठ और चिबुक (ठुड्डी) छूकर मानो याचना (भिक्षा) करते हों इस तरह आलिंगन करनेकी तैयारी करने लगे. पर इतनेमें ऋषि बड़े आश्चर्यसे चमक उठे. वह भयंकर चीत्कार करके किनारे खसक गये. क्योंकि, उस बालाके कोमल मुखारविंदपर हाथ फेरते समय, कोमल गाल, बिंब जैसे अधर और सुन्दर चिबुकके स्थानमें बड़े और मोटे डाढ़ी और मुखके बालोंका भार (वजन) हाथमें आया. अरे यह कौन है ? मुझे यह स्वप्न तो नहीं आया ? अरे, उस छबीली बालाके बदले यह निरा तपस्वी कहाँसे आया ! " ऐसा कह ऋषि सावधान हो फिरसे देखते हैं तो

उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा. उस स्थानमें वृद्ध तपस्वी और भव्य स्वरूपवाले वेदव्यास मुनि बैठे थे.

बटुकने कहा पिताजी ! विचार करो कि उस समय वह सुन्दरी जिसकी अभिलाषासे जैमिनि मुनि विकल हो गयेथे, सुन्दरी नहीं; परन्तु अपने परमपूज्य गुरुदेव हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखकर उन्हें कितनी बड़ी लज्जा आई होगी ? शिर नीचा करनेका कैसा समय आया होगा ? अस्तु ! जैमिनिको इस तरह चमककर किनारे खिसक गया देख, वेदव्यासजी शान्त होकर मुस्कुराते हुए बोले " जैमिनि ! क्यों डरता है ? तूने मुझे नहीं जाना. तेरे जैसे महाज्ञानीको क्या वह मोह होना संभव है ? और फिर मोह भी इतना भारी कि किसीके बदलेमें तू किसीको मान बैठा ? बाप, ईश्वरी माया तो शंकर जैसोंको भुला देती है परंतु तेरे आगे उस बेचारीकी क्या गिनती ? चाहे जैसा एकान्त स्थान हो, तो भी तुझ जैसे बालब्रह्मचारीको क्या स्त्रीकी अभिलाषा हो सकती है ? "

गुरुके ऐसे मार्मिक वचन सुन जैमिनिको ऐसा लगा, मानो धरतीमें समा जायँ या जीभ (जिह्वा) कुचल कर मर जायँ. मुनिका मुँह बिलकुल उतर गया. वह बहुत देर तक एक शब्द भी बोल न सके. यह देख गुरु महाराज सायंकालके संध्यावंदन, होमआदि कर्मोंके करनेका समय होनेसे तुरंत खड़े हो गये और बोले; "पुत्र जैमिनि ! आजका यह वृत्तान्त अच्छी तरहसे ध्यानमें रखना, ईश्वरी माया महा दुस्तर है और चाहे जैसे ज्ञानीको भी बलद्वारा अपने पाशमें आकर्षितकर गिरा देती है. इस लिए ऐसे ज्ञान या ज्ञानीपनका अभिमान छोड़ सिर्फ भगवत्परायण हो और उस मायापतिका[१] दृढ़ आश्रय कर, जिससे उसकी मायासे तुझे कभी बाधा न हो. इसके लिए प्रभुके स्वयम् ही कहे हुए पवित्र वचन प्रसिद्ध हैं कि—" मामेव ये प्रपंद्यते मायामेतां तरंति ते." मुझमें परायण हुआ ही इस मायाको तर सकता है. यह सारा विश्व ही इस मायासे ओतप्रोत है और जैसे मणि, सूत्र (डोरे) में पिरोया हुआ है वैसे इस मायामें लिपटे हुए पामर प्राणियोंके लिए ही यदि विश्वके नियम बाधा करनेवाले हों तभी ज्ञानी बच सकता है. परन्तु माया ऐसी है कि वह सबको बाधा करती है. वह इतनी निर्लज्ज है कि ज्ञानी और अज्ञानी सब पर सवार होती है.

---

१ मायाको उत्पन्न करनेवाला, अंकुशमें रखने वाला परमात्मा ।

उसमें पापी विचारे, अज्ञानी गधेके समान अधीन हो होकर उसकी सवारी स्वीकार करते हैं पर जो सच्चे ज्ञानी होते हैं वह उससे सचेत रह कर उसे तुच्छ वस्तुके समान त्याग अपने ऊपर सवार होनेका कभी अवसर नहीं देते. इस लिए ज्ञानीको भी एकान्तमें अपने आत्माकी रक्षाके लिए, मायाके संग न रहना चाहिए. मायाके संगमें आते ही चित्तवृत्तियाँ एकाकार और भ्रान्त होकर विचलित हो जाती हैं, बस बलवान् इन्द्रियोंका समूह उन्हें चाहे जिस दिशामें घसीटकर किसी अँधेरे गढ़ेमें गिरादे. इस लिए बाप! अब इस बातका कुछ खेद न कर, क्योंकि तेरे सन्देहको दूर करनेके लिए ही यह सब माया बनी थी. संध्या समय समीप आगया है, इस लिए संध्यावंदनादिके लिए तैयार हो. अपने मनके अपराधके लिए तू योग्य प्रायश्चित्त करना जानता ही है. तेरा कल्याण हो." इतना कह कर महामुनि वेदव्यास अपने आश्रमकी ओरको गये और जैमिनिने अपनेको धिकारते हुए इस पापकी वृत्तिका प्रायश्चित्त किया.

इतना कह वामदेव मुनिने अपने पितासे कहा; ऐसे ऐसे महान पुरुषोंको भी जब मोह होता है तो मुझे संसारका डर क्यों न हो? इस लिए पिताजी! मुझसे घर जानेका आग्रह न कर आप सुखपूर्वक पधारो और मेरी माताके मनको शान्त करो." ऐसा मार्मिक उपदेश होने पर भी ऋषिके मनको समाधान न हुआ, इससे वह बोले; "पुत्र जिसके मनमें ऐसा दृढ़ निश्चय हुआ हो, उसे मोह होना संभव नहीं है. इस लिए अब अधिक आग्रह क्यों कराता है?" बटुक बोला; "यह सत्य है पर पिताजी! बहुतसे नंगे मनुष्योंके बीचमें एक कपड़ेवाला मनुष्य भी मूर्ख माना जाता है, बहुतसे शराबखोरोंके समूहमें रहनेवाला एक निर्व्यसनी मनुष्य पतित माना जाता है. नंगोंके बीचमें सुखसे रहना चाहे तो वस्त्रधारीको भी वस्त्रोंका त्याग ही करना पड़ेगा, शराब पीनेवालोंके साथमें रहनेवालेको शराबका सेवन करना होगा, बहुत कर्मिष्ठके बीचमें रहनेवाले एकब्रह्मवेत्ताको कर्मिष्ठ ही होना पड़ेगा. इसी तरह अनेक अज्ञानियोंमें बसनेवाले एक ज्ञानीकी भी वही दशा जानो. जिसका चित्त संसारमें नहीं है, वह संसारियोंके साथ नहीं रह सकता. साधुके साथ साधु और संसारीके साथ संसारी ही शोभा देता है. ब्राह्मणकी श्रेणीमें ब्राह्मण और वैश्यकी पंक्तिमें सब वैश्य हो तभी उनका व्यवहार अच्छी तरह चलता है. मेरे मतसे मिलता हुआ एक भी मनुष्य मेरे कुटुम्बमें हो तभी मुझसे पलभर

उसमें रहा जासकेगा नहीं तो भारी तिरस्कार (विडम्बना)में आ पड़ना होगा." यह सुन ऋषि बोले; "बाप! तेरे विचारसे मिलता दूसरा कौन है? साधारण पत्थर तो जितने चाहिए उतने मिलते हैं पर रत्न तो कहीं एकही होता है. इस लिए संसारी तो हम सभी हैं पर साधु तो तू एक ही है." तब वटुकने कहा; " पिताजी ऐसा क्या कहते हो ? सर्वत्र पाषाण (पत्थर) और रत्न कहीं यह बात सत्य है, परंतु रत्नकी खानिमें तो सब रत्न ही होते हैं. वहाँ तो साधारण पत्थरका कंकड़ (टुकड़ा) भी रत्नके समान ही चमकता है. इस लिए एकाधिक मनुष्यतो क्या, पर जहाँ अहं और मम अर्थात् आत्म और आत्मीय बुद्धिका त्याग हुआ है, वहीं सारा परिवार आत्मज्ञ होता है, वहाँ कोई भी मनुष्य संसारमें मुग्ध नहीं होता. इसके लिए एक राजपुत्रके परिवारका वृत्तान्त मैं जानता हूँ, उसे फिर सुनाऊँगा. अभी तो संध्यासमय हुआ है, इस लिए सब संध्या करनेको जायँगे. " ऐसा कह कर सभा विसर्जन हुई और सब लोग अपने अपने कर्मके करनेमें प्रवृत्त हुए.

अष्टम बिन्दु.

मोहजीत कुटुम्ब.

मनसा वेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ कठ-ईश

अर्थ—इस (आत्मज्ञान–ब्रह्मज्ञान) को मनसे ही प्राप्त करना चाहिए, इसमें जरा भी भेद नहीं है. ज्ञानी मनुष्यको जब सर्व भूत (सब प्राणी) आत्मरूप हुए हों, तो एकत्व अभेदके अनुभव करनेवालेको क्या शोक और क्या मोह हो?

रातको सभा फिर एकत्र हुई. महात्मा वटुकवामदेवजीके मुँहसे टपकते हुए अमृतका रसास्वाद लेनेके लिए सब लोग तैयार हुए. वटुक देव ध्यानपरायण थे, राजा वरेप्सु पादसेवन (चरण–सेवा) कर रहे थे, आत्मतत्त्वके जाननेवाले जीव, वटुकमें लीन हो कर उनकी ओरको इकटक देख रहे थे. थोड़ी देरमें वटुकने आँखें खोलकर इस तरह उपदेशका आरंभ किया.

निर्मोहा नगरीका एक राजपुत्र अपने समवयी (बराबर उमरके) साथियोंके साथ वनविहार करनेको निकल पड़ा था. अनेक क्रीड़ाएँ करते हुए वह एक सिंहके पीछे घोड़ा दौड़ाते वनकी झाड़ीमें उनसे बिछुड़ गया. घनी झाड़ीमें दूर निकल जानेसे उनके बीच बड़ा अन्तर पड़ गया, इससे साथी उसे और वह साथियोंको ढूँढ़ता था, परन्तु किसीसे किसीका मिलाप नहीं हुआ. अंतमें राजकुमार अकेला हो गया. तीसरा पहर होनेको आया इससे मध्याह्न समयका आह्निक कर्म करनेके लिए वह जलाशयकी खोज करने लगा. फिरते फिरते उसे एक अति सुशोभित वृक्षघटासे घिरा हुआ निर्मल सरोवर दिखाई दिया. वहाँ वह उतर पड़ा और घोड़ेको जल पिलाकर, स्नान किया फिर स्थिरचित्तसे ईश्वरोपासना करके उठा. उसकी दृष्टि सामनेके तटपर गई. वहाँ

एक रमणीक आश्रम दिखा. इस स्थानमें कोई महापुरुष रहता होगा, ऐसा विचारकर वह अपना नित्य कर्म करके घोड़े सहित वहाँ गया. आश्रमके भीतर आम, कदंब, अशोक, वड़, जामुन आदि उत्तम वृक्ष और चंपा चमेली, गुलाव, मोगरा, जाई, जुही, केतकी इत्यादि पुष्पवृक्ष नवपल्लवित (नये पत्तेवाले) होनेसे, नेत्र और मनको बहुत शीतल करते थे. वृक्षों पर अनेक पक्षी मधुर कलरव कर रहे थे. राजपुत्र आनंदित होते हुए भीतर पैठा. बीचमें आते ही, एक स्वच्छ और सुन्दर लताओंसे छाई हुई पर्णशाला दृष्टि पड़ी. वहाँ जाते ही वह घोड़ेसे उतर पड़ा. उसने देखा तो पासमें ही एक वृद्धयोगी इस तरह बैठा हुआ था मानो अभी ही ध्यानसे निवृत्त हुआ हो, वह राजपुत्रको देखते ही बाहर आया और आदर सहित उसे भीतर ले जाकर सामने पड़े हुए आसनपर बैठनेके लिए आदर देकर बोला; "महाशय ! तुम्हारा नाम क्या है ? तुम किसके लड़के हो और तुम्हारा देश कौन है ?" राजपुत्र प्रणामकर आसनपर बैठा और बोला; "महाराज मैं मोहजित राजाका पुत्र हूँ और मेरा भी नाम मोहजित है. मेरे पिताकी राजधानी इस महावनकी दक्षिण दिशामें स्थित निर्मोहा नगरी है." यह सुन विस्मत हो कर योगिराज बोला; "क्या तेरा नाम मोहजित है ? मोहजित तो वह कहाता है जिसने मोहरूप शत्रुको जीत लिया हो पर यह मोह तो जगतके जीव मात्रका परम शत्रु और मायाशक्तिका सगा भाई है. इस लिए मायासे व्याप्त जगतमें मोहरहित कौन हो सकता है ? जहाँ माया वहाँ मोह अवश्य ही है. यह तो मायाका दाहिना हाथ या मायाका सर्वोत्तम आयुध (हथियार) है. इसको जीत लिया तो मानो सबको जीत लिया. जिसने मोह जीता उसने सारा संसार जीता और जो पुरुष माया मोहसे मुक्त है, उसे साक्षात् हरि सान्निध्य (समीप) है. तो क्या तू वैसा मोहजित है, या सिर्फ बराय नाम है ? क्योंकि यथार्थ मोहको विजय करनेवाला जीव तो विश्वमें विरलाही होता है. मनुष्योंके लिए यद्यपि योग, यज्ञ, तप, व्रत, सदाचरण, शास्त्रपठन, वैराग्यवृत्ति इत्यादि सव उपाय सिर्फ इस मोहको जीतनेके लिए कल्पित किये गये हैं तो भी वैसे साधन साधनेवालोंमें विरला ही जीव मोहको जीतता है. इस लिए राजतनय ! (राजपुत्र) तेरे कथनानुसार कदाचित तू अकेला मोहजित हो सकता है, परन्तु तू तो अपने पिताको भी मोहजित् बतलाता है, यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है ? विना सेवन किये

सिर्फ दवाओंके नामसे ही रोग दूर नहीं होता, साक्षात् अनुभव (अपरोक्षानुभव) विना ब्रह्मके नामसे ही मुक्ति नहीं होती और मोहको जीते विना, शब्दसे ही मोहजित् नहीं हो जाते." यह सुन राजपुत्र बोला; "महाराज, आप इतनेसे ही विस्मित न हों जब आप ऐसा जानेंगे, कि मेरी माता, बहन, भाई, भौजाई, भार्या आदि सारा कुटुम्ब और मेरे दास तथा दासियाँ भी मोहजित हैं, तो आपको बड़ा आश्चर्य होगा! विदेह वंशका प्रत्येक राजा विदेही है, उसी तरह मेरा सारा कुटुम्ब और वंश मोहजित् है." यह सुन "आश्चर्य. ! आश्चर्य ! " कह कर मुनिने कहा; " सारा कुटुम्ब इस तरह एक समान अमूल्य गुणवाला होना असंभव है और ऐसा ही हो तो वास्तवमें वह कुटुम्ब सर्व जगतको परम दर्शनीय और वंदनीय है." इतना कह कर राजपुत्रके आतिथ्यके लिए कुछ ताजे फल मूल लानेके लिए उसने तुरंत झोली हाथमें ली और उससे कहा; " जबतक मैं लौट न आऊँ तबतक आप यहीं विराजें, थोड़ेसे फल मूल ले आनेमें मुझको अधिक विलंब न लगेगा.

राजपुत्रको आश्रममें बैठा कर, योगिराज वनमें आये, पर राजपुत्रकी कही हुई बात उनके हृदयमें नहीं पैठी. वह विचार करने लगे कि, " हजारों वर्ष तपकर इंद्रियोंका दमन करनेवाले, अनेक कठिन व्रत करनेवाले और संसारके सब सुखोंका त्याग करनेवाले, इस निर्जन वनमें अकेले रहनेवाले मुनियोंका मोह अब तक दूर नहीं हुआ और यह क्षत्रिय कुमार अपना सारा परिवार मोह रहित बताता है, यह क्या सत्य होगा? इसके नगरका नाम भी निर्मोहा नगरी है. इससे तो जान पड़ता है कि यह सारा नगरही मोहजित होगा. क्या यह सब सत्य होगा ? यह सब प्रत्यक्ष देखकर अपना संशय दूर करूँगा. " ऐसा निश्चय करते ही वह महायोगी अपनी अद्भुत योग शक्तिके द्वारा पलभरमें निर्मोहा नगरीके भूभागमें जा खड़े हुए और ज्योंही उस नगरीमें प्रवेश करना चाहा त्योंहीं दरवाजेके भीतर एक सवारी सामने आते दिखाई दी.

कौन किसका शोक करे.

सवारी जब समीप आई तो उसमें सजे हुए हाथी पर सवार उन्हें एक पुरुष दिखाई दिया. उसके मुखमंडलसे ही उन महात्मा योगीने अनुमान करलिया कि, यह राजपुत्रका भाई होगा. ज्योंही सवारी समीप आई त्योंही राजपुत्रने उन योगीके आदरार्थ उसे खड़ी करदी और हाथीसे उतर

कर योगीको प्रणाम किया, तब योगिराज बोले ; " वीर ! तेरे मुखमंडलसे अनुमान होता है कि तू इस नगरके मोहजित राजाका पुत्र है. " राजपुत्र प्रणाम कर बोला; " हाँ महात्मा." योगीने फिर कहा; " तेरे कुटुम्बके सम्बन्धमें अभी ही एक महा शोकजनक घटना हुई है, उसे क्या तू नहीं जानता है? मैं समझता हूँ कि उसे तू नहीं जानता और इसीसे कोई श्रेष्ठ तथा शुभकार्य करनेके लिए तू बड़े हर्षसे जाता हुआ मालूम होता है ! जिस घटनाके कारण मुझ जैसे तपस्वी वनवासीको भी महाशोक होरहा है, उस घटनाके घटित होने पर भी तू इतने आनन्दसे किस महत्कार्यके लिए जा रहा है ?" इतना सुनने पर भी मानो उस राजपुत्रके मनमें कुछ मोह नहीं हुआ. वह प्रफुल्लित मनसे बोला; " महाराज, मैं जिस कामके लिए जाता हूँ, वह वास्तवमें महत्कार्य ही है. संसारमें रहनेवाले रंकसे लगा कर रायपर्यंत प्रत्येक ग्रहस्थाश्रमवालेका यह परम धर्म और कर्तव्य है कि प्राप्त हुए साधु, संत, योगी, महात्मा, सन्यासी परमहंस इत्यादि उदासीन (निरपेक्ष) पुरुषोंका, जो सिर्फ ईश्वरकी आराधनामें ही लगे हों, यथाशक्ति आदरातिथ्य (अतिथि सम्मान) और समागम करें. इस पासके उपवनमें मेरे पूज्य पिताका बनवाया हुआ एक ब्रह्मनिष्ठाश्रम है, वहाँ एक महात्मा पधारे हैं. उनके आदरार्थ मैं वहीं जाता हूँ ! वह महात्मा अवश्यही कोई समर्थ जीव होंगे, क्योंकि जब मैं उनके दर्शनकी लालसासे बाहर निकला तो मार्गमें ही उस पुण्यसे अनायास आपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया है ! योगीन्द्र ! कहिये अब मैं आपका कौनसा रुचिकर काम करूँ ? "

ऐसा उत्तर सुनकर योगी आश्चर्यमें लीन हो गये, वह बोले; " क्या कहूँ मेरी जीभ नहीं हिलती. परन्तु न बताऊँ तो अनुचित हो इस लिए पूछता हूँ कि, राजपुत्र क्या तू नहीं जानता कि आज सवेरेसे तेरा छोटा भाई वनमें गया है ?" राजपुत्रने उत्तर दिया; ' हाँ जानताहूँ कि वह गया है " साधु बोले; इस पासके वनमें उसने एक भयंकर सिंहसे युद्ध किया उसमें वह मारा गया है. धन्य है धन्य है उस वीरको ! मरते हुए भी उस वीरने अपने शत्रु सिंहको जीता जाने नहीं दिया. अकस्मात् मैं उस मरते हुए वीरके समीप जा पहुँचा, तब हे राजपुत्र ! उस मृत्यु समयकी उसकी दीन प्रार्थनासे उसके शरीरको निर्भय स्थानमें रख कर मैं यह दुःखद समाचार बतलानेके लिए यहाँ आया हूँ." यह सुन राजपुत्र बोला; " योगि-

राज ! यह शोक समाचार ही है कि और कोई विशेष खबर है ? योगीन्द्र ! क्या मुझे आप बतायँगे कि, कौन किसका शोक करे ? इस जगतमें अनेक जन्म लेते और अनेक मरते हैं; यह सब मनुष्यके बंधु ही हैं, तो मुझे किसका शोक और किसका विषाद करना चाहिए ? " योगीने कहा, " अनेक प्रयत्न करने पर भी जो फिर प्राप्त न हो सके ऐसा अपना प्रिय सहोदर यदि मृत्युको प्राप्त हो, अरे, अपना सच्चा हितैषी–संगी उठकर चला जाय, तो उसका शोक किस पुरुषको नहीं होता है ? इससे बढ़कर और शोककारक क्या हो सकता है ? जो विना बंधुका है, उसकी तो सारी दिशाएँ ही शून्य–अंधकारमय हैं. जिनका सारा जीवन परस्पर वैरसे ही बीत रहा हो और एक दूसरेका मुँह देखना भी अच्छा न लगता हो, ऐसे भाइयोंमेंसे भी कोई भाई मृत्युको प्राप्त हो तो शेष भाइयोंको उसका अपार शोक होता ही है. सारा पदार्थ पुनः प्राप्त होसकता है, परंतु सहोदर मर जाने पर फिर प्राप्त नहीं होता. यह सुनकर राजपुत्रने कहा, " योगिराज! आप ऐसे महात्मा होकर भी मोहके वश होते हो; इसीसे जिसका शोक नहीं करना चाहिए उसका शोच करते हो. भला कहो, मनुष्यको शोक क्यों करना चाहिए ? ये हर्ष शोकादिकी तरंगें सिर्फ अज्ञान अवस्थाके अंग हैं, परंतु जहाँ सदसतके विवेक–सत्–चित्–आनंद–नित्यानित्य–मोह ममता–ब्रह्मजीव और मायाका विचार है, वहाँ उसका वास नहीं होता है. फिर जो घटना होने योग्य न होने पर भी हो जाय उसके लिए आश्चर्य या शोक होना संभव है, परंतु इस क्षणभंगुर संसारके अचलित नियमोंके अनुसार जो होना होता है वह हुआ ही करता है, उसमें किसका शोक? आपने कोई पदार्थ मुझे किसी समयतक उपयोगमें लानेके लिए सौंपा हो, और अवधि पूरी होने पर उसे आप वापस माँग लो, तो उसमें मुझे क्यों शोक करना चाहिए ? अर्थात् जीवको जो देह प्राप्त होता है, वह ईश्वरी नियमानुसार प्राप्त होता है, जबतक उसकी अवधि अर्थात् आयुष्य स्थिर होता तब तक वह आत्माके साथ रहता और आयुष्य पूर्ण होते ही तुरंत पात हो जाता है. मेरे भाईका भी आयुष्य पूरा होने पर देहपात हुआ होगा, उसमें क्या शोक ? जो विनाशी–नाश होनेवाला है, वह आज या कल अथवा कोटि वर्षोंमें भी तो नष्ट होनेवाला ही है. तो ऐसे विनाशीके लिए जो शोक करता है वह क्या मूढ़ नहीं है ? योगीन्द्र ! आपका यह कहना है कि अपने संगी और सहोदरके मरजाने पर किसको

शोक न होगा ? महात्मा ! प्रारब्धरूप डोरेसे गुँथा हुआ जीव मर जाय या जीवे उसके लिये हर्ष-विषाद क्यों करना चाहिए ? जो ब्रह्मनिष्ठ है, जिसकी वृत्ति ब्रह्ममें लीन है, जो जानता है कि लाखों और करोड़ों प्राणी नित्य मृत्युको प्राप्त होते रहते हैं जो जानता है कि जन्मका पर्यायवाची शब्द मृत्यु है, जो जानता है कि क्षणभंगुर संसारमें सब पदार्थ नाश होनेवाले हैं आत्मा ही एक चिरंजीव-अविनाशी है, और जो कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता है जो जानता है कि यह शरीर नाश होनेके लिए ही बना है, वह विचारशील धीरात्मा, न इस तुच्छ देहकी ओर नजर करता और न उसे व्यथा ही होती. वह तो सुख-दुःखको समान समझ कर, असार संसारसागर तर जाता है. निर्विकल्प-एक रस और परम सत्य परमात्मारूप अग्निमें इस उपाधिको होम देने पर, शुद्धजीव, नित्यशुद्ध आनंदात्मारूप ही रहजाता है. इस जगतमें मित्र या स्नेही कोई भी नहीं है. जगतमें सभी सगे और सभी स्नेही हैं, उनके मरण समय मुझे यदि शोक नहीं होता तो फिर जिसे आप अपना संगी कहते हो उसका शोक हमें क्यों होना चाहिए ? क्या दूसरे लोग मेरे साथी नहीं हैं ? तुम, ये पदार्थ, इस जगतके प्राणी, सब मेरे साथी ही हैं जब इनकी मृत्युसे मुझे शोक नहीं होता, तो जो हमें छोड़ कर चला जाता है, उसका शोक क्यों होना चाहिए ? ”

आमका कुटुम्ब.

चारों तरफ देख, और क्षणभर विचार कर, राजपुत्रने योगीसे कहा; “योगीन्द्र ! आप सामनेके उस आमकी ओर देखो. वह आम सुन्दर और पके हुए फलोंसे झुक रहा है; परन्तु देखो, वह धूल उड़ाता हुआ बवंडर, लोगोंके कपड़े उड़ाते और आँखोंमें धूल डालते हुए जोरसे चला आरहा है. अरे ! रे रे ! वह आ पहुँचा ! देखो, सारा आम चहुओरसे हिल रहा है ! ऊँचे नीचे लटकते हुए आमके डोरे एक दूसरेसे भिड़ रहे हैं और उनमें लगे हुए फलोंके गुच्छे इधर उधर झोंके खाते हुए साथके-सगे भाई-साथी रूप गुच्छों अथवा दूसरे गुच्छोंसे टकरारहे हैं. देखो देखो ! कई तो धड़ाधड़ नीचे गिर रहे हैं अहा हा ! देखते ही देखते ढेरके ढेर गुच्छे नीचे आपड़े. ” थोड़ी देरमें बवंडर चला गया, हवाका जोर कम हुआ, तब मुख मंडल पर उदासीनता प्रदर्शित करते हुए वह मोहजित् राजपुत्र बोला

" अरे ! यह कैसा संहार हो गया ! क्षण भरमें क्या हो गया. हरे हरे ! कितना अनर्थ हुआ. " यह सुन योगी बोले; " राजपुत्र ! ऐसी वार्त्ते करते हुए तुम्हें यह क्या होगया ? आप उदास क्यों हो ? तब वह बोला; " महाराज ! इससे अधिक अनर्थ और शोक क्या होगा ? जरा ऊपर तो देखो कितने कुटुम्ब विना अपने सहोदरके हो गये हैं ? अरे उनके लिए वह कितना भारी शोक कर रहे हैं ! ! उनके बिना उन फलशून्य स्थानोंसे टपटप शोकाश्रु[1] गिर रहे हैं उन्हें देख कर किसका हृदय द्रवित न होगा ? ईश्वरने उन्हें बोलनेकी वाचाशक्ति नहीं दी इस लिए वे करुण विलाप नहीं कर सकते परन्तु गूँगे बेचारे सिर्फ अश्रुपातसे ही अपना खेद और शोक प्रदर्शित कर रहे हैं ? किसीका एक साथी चला गया है तो किसीके बाजूसे दो, तीन या चार सहोदर उठ उठ कर चलते बने हैं. अरे ! उनका महाशोक उनसे कैसे सहन हो सकता होगा ? " इतनेमें मुनि एक दम बोल उठे; " तू विक्षिप्तके समान ऐसी बातें क्यों बोलता है ? वृक्षके फलोंका स्नेह कैसा, शोक क्या और अश्रुपात कैसा ? " राजपुत्रने कहा; " महाराज ! ऐसा क्यों ? " योगीने कहा; यह तो जड़के समान हैं और इन सबकी यही दशा है, इस लिए इनको हर्षशोक नहीं है. थोड़ी देर में यदि फिर एक बवंडर आजाय तो ये सभी नीचे गिर पड़ें ऐसी दशामें कौन किसका शोक करेगा ? "

राजपुत्रने कहा; " मुनिराज आप धन्य हो धन्य हो ! आपने मुझ मोहवश हुएको कृतार्थ किया, योगीन्द्र ! यह सब यद्यपि जड़वत हैं, तो भी हमसे बहुत अच्छे हैं, क्योंकि इनको न करने योग्य मरणका मिथ्या शोक नहीं होता, परंतु जब इन सबकी गति यही है, तो क्या हमारी गति अपने भाइयोंसे जुदा है ? जैसे यह मरते हैं वैसे ही क्या हम भी नहीं मरते ? हमें भी इसी मार्गमें जाना है और न जाने किस अनिश्चत समयमें उस नियंता (ईश्वर) का परवाना आ जायगा ? ऐसी दशामें हमें अपनी चिन्ता करनी चाहिए कि उन मरोंकी ? नियमसे बहनेवाली नदीके तटपर ही एक तरहके दो वृक्ष हिल रहे हैं. इतनेमें नदीमें पूर आ गया; उसके जोरसे किनारेकी पाड़ धँसकर पानीमें गिरी उसीके साथ उनमेंसे एक वृक्ष भी कड़ड़ड़भुस करते हुए टूटा और पानी पर तैरने लगा. अब उस बचे हुए एक वृक्षकी

---

[1] डँठुएसे फल गिर पड़ने पर जो रसी बहती है.

क्या दशा होगी? अपने साथीके लिए उसको कितना भारी शोक होगा? वह दोनों एक ही वृक्षके बीजसे पैदा हुए, एक ही स्थानमें पालित होकर बहुत दिनोंतक साथ ही रहे और एक दूसरेसे जरा भी विलग नहीं हुए, तो अब उस एकसे अकेले कैसे रहा जायगा? परन्तु वह पूर चढ़ता आ रहा था, उसके धक्केसे दूसरी चटान भी गिरी और वह शेष बचा हुआ वृक्ष भी धँसकर चलता बना. कहो, अब इनमें कौन किसको रोवे? इस लिए महात्मा! आप योगी होकर भी अयोगीके समान मुझे मोहमें डालनेवाले वचन क्यों कहते हो? " जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च. " 'जिसने जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा और जो मरा हुआ है वह अवश्य जन्म लेगा,' जब ईश्वरी नियम ऐसा है तो फिर उसमें क्या शोक है? जो जीव देहके अभिमानसे सर्वदा हीन रहता है उसे प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख, शोक और मोह नहीं होते. स्थूल देहका अभिमान करनेवालेको ही शुभाशुभ आदि हैं. जो होना था वह अच्छा ही हुआ; उसकी चिन्ता त्याग कर आप सुखसे अपने घर जायँ और मुझको भी आज्ञा दें जिससे आपको प्रसन्न करके मैं भी अपने काममें लगूँ."

राजपुत्रकी ऐसी निस्पृहता देख कर योगी तो दिग्मूढ़ (विस्मित) सा हो गया; और उसे आशीर्वाद दे कर कहने लगा; " मोहजीत! तुझे और तेरे मोहजीत नामको धन्य है. तू अपने कामके लिए आनंद पूर्वक जा. तेरा कल्याण हो. तेरा छोटा भाई मोहजीत कुशलतासे है. " राजपुत्रको इस बातसे भी कुछ आनंद नहीं हुआ, वह प्रणाम करके चला गया.

जो जन्मा है वह जायगा ही.

राजपुत्रके चले जाने पर योगिराज विचार करने लगे;-" अजी चाहे जितना मोहजीत पन हो, परंतु जब तक अपने ऊपर आफत नहीं आती तभी तक है; भाई मरा उसमें इसका क्या? भाई गया तो भागी (हिस्सेदार) गया इसको तो उल्टा निष्कंटक राज्य मिला, इस लिए भाईके मरणसे इसे क्यों शोक हो? ऊपरसे शायद शोक प्रकट करे परन्तु भीतर तो ठंडे बर्फके समान होगा; इस लिए यह तो बिना मोहको जीते ही मोहजीत है. स्वामीके मरनेका सच्चा शोक तो उसकी स्त्रीको ही होता है. स्त्री उसका आधा अंग मानी जाती है. इस लिए अब यह देखना चाहिए कि मोह-

जीतकी स्त्रीकी कैसी दशा है. " ऐसा विचार कर वह नगरमें घुसा. रास्तेमें उसे एक सुन्दर नवयौवना मिली. हाथमें वह बाँसकी एक टोकरी लेकर आनंदसे चली आती थी. योगीने उससे पूछा; " बाले ! तू कौन है ? और कहाँ जारही है ? इस नगरके स्वामी मोहजीत राजाका महल कहाँ पर है, वह मुझे बता. " स्त्री खड़ी हो गई और दोनों हाथ जोड़ योगिराजको प्रणाम कर बोली; पवित्र पुरुष ! मैं इस राज कुटुम्बकी एक दासी (परिचारिका) हूँ और मोहजीत राजाके छोटे पुत्रकी पत्नी के लिए, ईश्वरकी सेवामें काम आनेवाले सुन्दर फूल लेनेको बगीचेमें जाती हूँ. " योगीने कहा; " एक महाशोक कारक जो घटना हुई है उसको क्या तू नहीं जानती ? " दासी बोली; " महाराज ऐसी शोककारक कौनसी घटना है ? कृपा कर मुझे बताओ. " योगीने राजपुत्रकी मृत्युका समाचार कहा. उसको सुनकर दासी बोली; " महाराज ! इसमें महा खेदप्रद और शोक कारक कौनसी बात है ? ऐसा शोक और हर्ष तो सिर्फ उस अज्ञानी मनुष्यको होता है जो संसारकी झूठी मायामें मोहित होता है. " योगीने कहा; " अपने शिर–छत्र और पालन करनेवालेकी मृत्युसे शोक न हो यह कैसी बात है ? यह तो महा निष्ठुरता है. " दासी बोली; " महाराज ! निष्ठुरत्व तो निर्दयतामें रहता है यह तो तब माना जाता जब हम उसे दुःख देते या उसके दुःखके समयमें उसकी सहायता न करते. परंतु यह तो उससे उल्टा है. यदि जीव नाशवान् देहका त्याग करके अविनाशीस्थानमें वास करे तो उसका शोक करना क्या बिलकुलही व्यर्थ नहीं है ? जो बात अवश्य होनी है वह हो जाय तो उसमें शोक या खेद किस बातका ? इस जगतमें जो जन्मा है वह तो मरेगा ही. जो फूलता वह झड़ता, उदय होता वह डूबता, चढ़ता वह गिरता, जन्मलेता वह मरता, इसमें आश्चर्य क्या है ? जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः. " मृत्यु ईश्वराधीन है और ईश्वरकाही ऐसा दृढ़ नियम है कि जो किसीसे भी नहीं टूटता. उसमें फिर किसका शोक ? दिन डूबनेके लिए ही निकलता है और जो फूल विकसित होता वह झड़कर अवश्य गिरता है. यह सारा संसार विनाशी है. विचार कर देखो तो प्रत्येक स्थावर–जंगम प्राणी और पदार्थकी गति कालके वश होनेसे प्रतिक्षण बदलती रहती है. बीज बोया जाता है, अंकुर फूटते हैं, उसका कोमल वृक्ष होता है, समय आने पर उसीमें फूल आते हैं, और वह फलता पकता है, फिर आप ही आप सूखने भी लगता है. इसी तरह पशु,

पक्षी और मनुष्यकी भी दशा जानो. वालक पैदा हुआ, कुछ वड़ा होकर वोलना, चलना और फिरना सीखा, पढ़ लिख कर जवान हुआ, संसारके काममें लगा, फला फूला, इतनेमें वृद्धावस्था आई अर्थात् आप ही आप शक्तिक्षीण हुई और कालपाशमें बँधा कि बस जीवनलीला समाप्त हुई. ऐसी ही सबकी गति है. अव कहो इसमें कौन किसका शोक करे ? वायुमें विचरण करनेवाले एक हलकेसे हलके जीवसे लगा कर कीट पतंग, पशु पक्षी जलचर, मानव, दानव, ऋषि, महर्षि पितर देव और अंतमें सारा संसार तथा उसके पैदा करनेवाले पितामह ब्रह्मदेव पर्यन्त सव कालके मुँहमें हैं. हाँ, कोई दो दिन पहले, तो कोई चार दिन पीछे, परन्तु जो इस जगतमें पैदा हुआ है, वह निश्चय मरता ही है. अनेक जीव ऐसे हैं जो सूर्योदय और सूर्यास्त तथा सूर्यास्त और सूर्योदय अर्थात् रात दिनमें अनेक वार जन्म मरणको प्राप्त होते हैं और वहुतसे प्रति दिन जन्मलेते और मरते हैं. कई जीव नियत दिनों तक ही जीते हैं. कितनोंकी उमर महीनेही भरकी होती है, वहुतसे वर्ष, दशवर्ष या सौ वर्षकी लम्बी उमर भोगते हैं. उनसे भी अधिक सत्ववाले जीव (देवतादिक) हजारों, या लाखों वर्षोंका आयुष्य भोगते हैं, परन्तु तोभी क्या ? किसी समय मरते ही तो हैं. इस तरह अंतमें जव सवका मरण ही है, तब कौन किसको रोवे ? सारा संसार ग्रास (कवल) रूप है. अर्थात् जिस तरह कोई खानेके लिए वैठा हुआ पुरुष पात्रमें परोसे हुए भोजन पदार्थका ग्रास मुँहमें डालता ही जाता है उसी तरह काल निरंतर देहधारी विनाशियोंका विनाश करता ही जाता है.

"योगिराज ! आप हमारे कुमारकी जो समाचार कहते हैं, उसका क्या और किस लिए शोक करें ? जव सारा विश्व ही विनाशी, क्षण भंगुर है, और मेरी, सारे राज कुटुम्ब, तुम्हारी तथा इन सवकी (जगतकी) अंतमें यही गति है तो फिर आप मिथ्या शोक छोड़ व्यर्थ परिश्रम न कर सुखसे अपने घर पधारें."

दासीके ऐसे निर्मोही वचनोंसे चकित होकर योगीने कहा; "वाला ! तेरे निर्मोहपनको धन्य है. तेरा कल्याण हो ! हे मोहरहिते हे ज्ञान संपन्ना ! तू वापस न जाकर आनंदसे अपने कामके लिए जा ! तेरी स्वामिनीका सौभाग्य अखंडित है. सदसत्को जाननेके लिए ही मैंने यह

बात तुझे बताई थी." यह सुन दासीने उस साधुको पुनः प्रणाम किया और पुष्प लेनेको चली गई.

दासीके चले जाने पर योगी महात्माने विचार किया; "अहो ! उसके घरकी यह दासी भी कितनी ज्ञानवती है ? उसको कुछ भी शोक या मोह नहीं होता. परंतु इससे क्या ? उँगलीसे जो नख दूर हुआ वह दूर ही हुआ. राजपुत्रका शोक दासीको क्यों हो ? वह तो ज्ञानकी ऐसी बातें करेगी ही." फिर योगीन्द्र राजमहलमें गये और अंतःपुर (स्त्रियोंके आवास) में जाकर मोहजीतकी स्त्रीसे मिले.

जगत जलके बतासेके समान है.

साधुको देखते ही राजपुत्रकी स्त्रीने बड़े आदरसे आसन दिया और आगन्तुक योगी महात्मा अतिथिके पूजनकी तैयारी करने लगी यह देख योगिराज घबराये हुए और उदास मुँहसे बोले; "राजवधू ! सुशीले ! इस समय तुझे पूजन या आतिथ्य सत्कार करनेकी जरूरत नहीं है, क्यों कि दुर्भाग्यसे तुझे इन सबसे दूर होनेका समय आया है और उसे तू नहीं जानती. अंबे ! तुझको देख कर मुझे तेरे सौभाग्यके लिए बड़ा शोच होता है परंतु निरुपाय हूँ. मेरे सिर पर कर्तव्यका जो भार आ पड़ा है उसे पूर्ण किए बिना छुटकारा भी नहीं है, इस लिए मैं यहाँ आया हूँ." यह सुन शान्तचित्ता मोहजीतकी भार्याने पूछा; "उपाधिरहित ! ऐसा क्या है जिसके बतानेमें आप इतने दुःखित होते हैं ? जो हो उसे कृपापूर्वक निःशंक होकर कहिए." तब योगीने सजल नेत्रोंसहित उदास मुँहसे मोहजीतकी मृत्युका कृत्रिम समाचार आदिसे अंत तक कह सुनाया और अंतमें कहा; "पवित्रव्रतवाली ! वह वीर राजपुत्र यद्यपि सिंहरूप शत्रुके हाथसे मारा गया सही, परन्तु मरते मरते भी उसने अपने शत्रुको जीता जाने नहीं दिया. मरनेका उसे कुछ भी दुःख नहीं था परन्तु एक ही भारी चिंता उसके मनमें रह गई, जिसके लिए कुछ भी समाधान न हो सकनेसे वह अंत समय तक भी उसीका शोच करता रहा. वह चिन्ता उसे सिर्फ तेरे विषयकी थी कि मेरे पीछे मेरी प्राणप्रियाकी क्या दशा होगी ? उसका और मेरा मिलाप अब कहाँ होगा ? अब तक उसने उत्तम पातिव्रत्यसे मेरी पूरी सेवा की है, परन्तु उसको मैं कुछ भी बदला नहीं दे सका. जो स्त्री मेरे बिना एक पल भर भी नहीं रह सकती थी, वह

अब वैधव्य कैसे वितायगी? उसके मनकी सान्त्वनाके लिए मैंने एकाधिक संतान भी छोड़ी होती तो इतनी चिन्ता न थी. परन्तु अरे अरे! ऐसा नहीं है, इससे मेरी मृत्युका समाचार सुनकर उस पर ब्रह्माण्ड टूट पड़ेगा. मैं तो चला, अब मैं उसका चंद्रवदन कब देखूँगा? अरे, मेरा यह समाचार उसे कौन सुनायगा?" ऐसा शोच करते समय मैंने उसे बहुत कुछ आश्वासन देकर सारा समाचार बतलानेका भार अपने ऊपर लिया; तब "हे प्रिये! हे प्राणप्यारी! हे मन मोहनी! इत्यादि उद्गारों सहित उसका आत्मा देहसे प्रयाण कर गया.!"

यह सुन संसारमें रहने पर भी, वह निर्लेप स्त्री, कि जिसके मनमें इस समाचारसे जरा भी खेद या शोक नहीं हुआ, गंभीरतासे बोली; "महाराज! आप जो कह रहे हैं वह समाचार सत्य होगा, परन्तु इस बातको मैं सत्य नहीं मानती कि मरते समय मेरा स्वामी, 'हे प्रिये हे प्राणप्यारी! ऐसे उद्गार निकाले हों और मेरा स्मरण किया हो.' ऐसा मोह अविद्याके अंधकारमें डूबे और इस असार संसार सागरमें गोते खाते तथा मायाके भुलावेसे मुग्ध हुए परम अज्ञान मनुष्यमें ही होना संभव है. यह एक साधारण नियम है कि जिसका नित्य स्मरण और आसक्ति हो वही मरते समय स्वयम् याद आता है. इस नियमके अनुसार यह कैसे संभव है कि जिससे आसक्ति नहीं वह मेरे स्वामीको मरते समय याद हो आवे? स्त्री तो क्या, परन्तु मेरे स्वामीको पुत्र, धन, राज्यसुख और अंतमें सब प्राणियोंको अत्यंत प्यारे अपने देहसे भी आसक्ति नहीं थी तो मेरे समान अधमा (पापिष्ठा) की याद कैसी? हरे, हरे! बेतसे फूल, कुटिलसे सौजन्य सुख (सज्जनताका सुख) और आकाशसे फूलकी प्राप्तिके समान यह असंभव है. उस साधुवीरको मरते समय इस विश्वकी किसी वस्तुका स्मरण होना संभव ही नहीं है. मेरा स्वामी इस संसारकी असार मायाके मिथ्यापनको भलीभाँति जानता था और उसके मोहमें कभी भी फसनेवाला नहीं था. वह 'मोहजीत' है और उसके दृढ़ संबंधसे उसकी अनन्य (एक ही) दासी मैं, संसारके मिथ्यापनको जानती हुई इस संसारके किसी भी पदार्थसे आसक्त नहीं हूँ! योगिराज! मैं तो क्या परंतु मेरा सारा परिवार मोहजीत है. देव! उसको ऐसे मोह–ममता–मायाका आवरण होना विश्वास करनेके योग्य वृत्तान्त नहीं है."

ऐसा प्रत्युत्तर सुन कर योगिराज तो मौन ही हो गये. उस स्त्रीको शोकावेशमें लानेको योगीने जो कृत्रिम समाचार कहा, उसे तो उसने बिलकुल असंभव ठहरा दिया. अपने लाये हुये समाचारको ज्यों त्यों कर सत्य ठहरानेके लिए वह कुछ बोलना ही चाहते थे कि वह निर्मोहा स्त्री फिर बोली; महाराज ! तुम्हारी बातसे एक और भी आश्चर्य होता है. तुम संसारासक्ति छोड़ वनमें रह कर एकान्त वासमें असंगपनसे (इच्छा रहित) केवल परमार्थ साधनरूप योग मार्गका अवलम्बन करनेवाले हो तो भी मुझको प्रिय समझ कर यह समाचार कहने आये हो ! यह उचित ही है और इसके लिए मैं आपकी उपकृत हूँ. परंतु साथ ही इसके आप मुझे शोकाधीन होनेकी सूचना देते हैं यह क्या उचित है ? समस्त शोक, मोह और काम क्रोधादिक दुर्गुणोंका त्याग करना आपका मुख्य कर्तव्य है और यही आपके योग मार्गका मुख्य साधन है.. प्राणियोंके शोक मोहादिकसे मुक्त होना और दूसरोंको वैसा होनेके लिए उपदेश देना ही आपकी स्वाभाविक वृत्ति होनी चाहिए. इसके बदले तुम मुझे—इस अल्प प्राणीको—जिसका मोहांध होना प्रकृति-सुलभ है—मोह रहित देख, उल्टा शोक-निमग्न होनेको कहते हो यह क्या उचित है ? योगिराज ! इस प्रवाही (बहनेवाले) जगतमें कौन किसका शोक करे. ? नदीके प्रवाहके वेगसे जलके उछलनेसे जो बुलबुले दिखाई देते हैं और प्रवाहके ऊपर बहते जाते हैं, उन्हींके समान इस सृष्टिका खेल है. जैसे जलके बुलबुले पैदा होते प्रवाहमें कुछ दूर जाकर नष्ट हो जाते और फिर वहाँ उसी क्षण दूसरे नये उपजते हैं, फिर क्षणमें लय होजाते और इस तरह निरंतर होताही रहता है, उसमें किसको किसका शोक होता है ? ”

यह सुन योगिराजको कुछ बोलनेका अवसर मिला, इससे वह बोले; “ बाले ! तेरा कहना सत्य है. परन्तु क्या मनुष्यमें भी इन बुलबुलोंके समान ही संबंध है ? मनुष्य इस सारी सृष्टिके सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ, विवेकी, विश्रमित, प्रपूर्ण और द्वितीय स्वरूप है, वह ज्ञानवान् है. वह परस्पर व्यवहार, प्रेम और कर्तव्यमें प्रीति, अप्रीति, लोभ, लाभ, हानि हर्ष, शोक मोह ममता तथा कर्तव्य भोक्तव्यका ज्ञाता और सुख-दुःख इत्यादिमें भली भाँति समझनेवाला है, इस दशामें उसकी तुलना जड़ पदार्थकी स्थितिसे कैसे हो सकती है ? अपना प्रिय होनेसे प्रत्येक मनु-

प्यको स्वाभाविकही हर्ष और अप्रिय होनेसे स्वाभाविक ही शोक होना संभव है. जिसके आश्रयमें तू यह राजसुख भोगते हुए रानीके पद पर रह कर सब आपत्तियोंसे मुक्त है, तथा जिसके जीवनसे ही तेरा जीवन सफल है और तू सौभाग्यवती कहलाती है, जिसके बिना तू इन सब सुख वैभवादिसे हीन है, तेरे इस सुख संपत्ति रूप महाभाग्यवंत सुकुमार पतिके मरणसे यदि तुझे अपार शोक हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ऐसे समय शोक न होना ही परम आश्चर्यकी बात कही जा सकती है. चाहे जैसे शून्य हृदयमें भी प्रिय वल्लभका मरण शोकाग्निको प्रज्वलित कर ही देता है. परंतु बाले ! तेरी ऐसी स्थितिसे मुझे, तुझमें सिर्फ निष्ठुरता, निःस्पृहता, दंभ, आसक्ति और निर्दयताके सिवा दूसरा कुछ भी देखनेमें नहीं आता. तेरा ब्रह्मज्ञान प्रपंचसे पूर्ण–प्रेम शून्य है. अरे, पति पत्नीके समान संसारमें दूसरा गाढ़ा संबंध कौन है ? वह पवित्र संबंध अग्नि, सूर्य आदि देवताओं, ब्राह्मण, दोनोंके माता पिता और स्वजन परजनकी साक्षीसे जुड़ा हुआ है और वह इतना समीपी संबंध है कि परस्पर शरीरसे शरीर, मनसे मन और आत्मासे आत्मा एकता प्राप्त कर लीन हो जाता है. ऐसा होनेसे उनके भाग्य भी जुड़े ही रहते हैं. स्त्री पुरुष दोनों मिल कर दंपति रूप एक जोड़ा है. ऐसे जोड़ेसे एकका भी दूर होना दूसरेसे सहन नहीं हो सकता, तो फिर उसका सदाके लिए छूट जाना कठिनसे कठिन हृदयको भी क्या शोक और वियोगके दुःखसे पिघला देनेवाला नहीं है ? इस जगतके सारे पदार्थ प्रेमरूप हैं. पशु, पक्षी, सब प्रेमके वश हैं और प्रेमके लिए प्राण दान देनेको सदा तैयार रहते हैं. अरे ! प्रेम ही इस जगतका जीवन है[1] ! स्थावर (अचल) जंगम (चल) सबका जीवन है ! परन्तु जो प्रेमके शुद्धस्वरूपको भली भाँति नहीं जानता, वह अधोगतिको पाता है. हारील पक्षीका बच्चा जन्मतेही काष्टसे प्रेम करता है और मरण पर्यंत उसका त्याग नहीं करता. जब त्याग करनेका समय समीप आता तो प्राण तज देता है. जिराफ, दंपतिका वियोग समय जान कर प्राणोंकी बलि दे देता है. इस प्रेमकी बलिहारी है. जब ज्ञानशून्य प्राणीमें पतिवियोगसे शोक व्यापता है तो चैतन्यमय मनुष्यमें शोक न होना कैसे संभव है ? परंतु पंडिताईपूर्ण तेरी आत्मज्ञानकी बातोंका अर्थ

---

१ इस प्रेमका शुद्ध स्वरूप ब्रह्मको सम्बोधन करके कहा गया है.

तो मैं केवल तेरे मनकी निष्ठुरता ही मानता हूँ, और तेरी ऐसी निष्ठुर वाक्चातुरीसे भरा हुआ ढकोसला पूर्ण तेरा सिर्फ वाचिक (वातों भरका) आत्मज्ञान अर्थात् जगत मिथ्या है और स्नान दानादि कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, जब मैं स्वयम ही ब्रह्म हूँ तो अब मुझे उपासना क्या है ? इत्यादि वाक्यों द्वारा, सुन्दर सरल और प्रेमी अन्तःकरणको भी दया भाव-प्रीति आदिसे रहित और निष्ठुर बना देता है."

इतना कह कर योगिराज फिर कुछ कहना चाहते थे, इतनेमें वह राजसुन्दरी बोली; "तपोधन ! यह सत्य है कि संस्कार और अधिकार हीन मिथ्या बकवाद करनेवाले ब्रह्मवादियोंका अंतःकरण ऐसा ही होता है और वह दूसरोंको भी वैसा ही बना देते हैं. परंतु देव ! मेरा कथन वैसा नहीं है. मैं तो वही कहती हूँ जो सत्य है. मेरा अन्तःकरण, वैसा निर्दय या कठोर नहीं है जैसा आप कहते हैं, मैं विवेकशून्यभी नहीं हूँ क्योंकि आजतक मैंने भूलसे अथवा स्वप्नमें भी वैसा निर्दयता पूर्ण या लज्जा रहित कार्य किया है ऐसा मुझको स्मरण नहीं होता. जैसे कोई मनुष्य परम प्रीतिपात्र होनेसे विना प्रेमपात्र मिले जहाँ तहाँ प्रेम प्रदर्शित नहीं करता और इससे उसको प्रेम शून्य कहनेवाला सत्यवक्ता नहीं माना जाता, उसी तरह मेरा कथन है. मैं प्रेमको जानती हूँ, प्रेमको भजती हूँ, प्रेममें लीन हूँ और प्रेममें ही एक होजानेवाली हूँ. उस प्रेमका स्वरूप मैं नहीं जानती, ऐसा न मानो ! परन्तु योगिराज ! मुझे बताओ कि विवेक-क्या है और प्रेम क्या है ? नित्य और अनित्य अविनाशी और विनाशी पदार्थका जो यथार्थ ज्ञान है वही विवेक है. मैं सत्य और नित्य वस्तुको चाहनेवाली हूँ, और मिथ्या—असत्य और अनित्य वस्तुके लिए उदास-निःस्पृह रहती हूँ इससे क्या निष्ठुर ठहरती हूँ ? इस जगतमें आत्मा ही अविनाशी और सत्य स्वरूप है और अनात्मा-दृश्य पदार्थ, असत्य और विनाशी है. विनाशीका नष्ट होना सत्य है, पर अविनाशीका विनाश होना सत्य नहीं. देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है. अविनाशीका विनाश नहीं है और विनाशी चिरंजीव नही है, तो विनाशीके विनाशमें शोकलीन होनेवाला, जो संगी, अंगी, लिंगी, अशान्त, मलमय, भोक्ता, विकारी, सुननेवाला, द्रष्टा और दिखानेवाला जिसको माया-प्रेम-ममता-उपाधि बाधा करती है क्या विवेकी है ? योगीन्द्र ! जो पर, भिन्न शुद्ध

भेद रहित अद्वितीय मंगल रूप है वही सत्य प्रेमी है. जो ॐकाररूप, नादरूप, शान्तरूप; कान्तिरूप और सत्यरूप देखता है वही प्रेमी है. यह जगत माया प्रतीतिका प्रवाह है, इस लिए मनको, जो सब मोहका कारण माना जाता है, शान्त रख ज्ञान दृष्टिसे सब समय, सब स्थानोंमें परमात्मा--ब्रह्मको छोड़ अन्यका अवलोकन करनेवाला जो जीव है उसीको यह शोक मोह बाधा करता है, और वही अप्रेमी, वहमी और मूढ़ है. मैं पत्नी कौन हूँ ? यह पति कौन है ? आप योगी कौन हैं ? यह जगत कौन है ? जगतका प्रेम कौन है ? ये सब विविध प्रकारके संकल्प (इच्छाएँ) अज्ञान द्वारा होते हैं और अज्ञान द्वारा इन सबको नाश होते देखते हैं. जगतमें मनुष्य प्राणी सबसे श्रेष्ठ है इसका कारण यही है कि उसमें दूसरे सब प्राणियोंकी अपेक्षा सारासार विचार करने की विशेष बुद्धि होती है, अतः इस बुद्धिसे हमें देखना चाहिए कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ? सत्य प्रेम क्या है और असत्य प्रेम क्या है ? आपने स्त्रीपुरुषके संबंधके लिए जो कुछ कहा वह सब सत्य है, परंतु वह कबतक ? स्त्रीपुरुषका तो क्या, परंतु इस जगतका सारा-संबंध नियत समय तक ही स्थिर होता है. ज्योंही देना चुका, त्योंही ऋण दाता और ऋणग्राहीका संबंध पूरा होजाता है. और पूर्वका ऋणानुबंध पूरा होतेही यहाँ का—संसारका संबंध भी पूरा होजाता है. संसारका सारा संबंध पूर्वके ऋणानुबंधसे ही स्थिर होता है. भाड़ेकी गाड़ीमें बैठने-वालेका संबंध उस गाड़ीसे वहीं तक है जहाँतकका उसने किराया दिया हो. इस लिए योगीश्वर ! पूर्वके किसी ऋणानुबंधसे इस जन्मका बँधा हुआ हमारा दंपतिरूप दीखनेवाला संबंध, उस ऋणानुबंधके पूर्ण होते ही यदि समाप्त होगया तो उसके लिए मेरा शोक करना क्या मूर्खता नहीं है ? यह ऋणानुबंध यदि पूर्ण हो गया हो तो चाहे जितने उपाय किये जायँ तो भी संबंध रहना दुर्लभ है, तो फिर शोक करनेसे क्या लाभ है ? ”

यह बात मुनि अच्छी तरह जानता था तो भी कुमारकी स्त्रीका ज्ञान जाननेके लिए अनजान होकर बोला; “ वत्स ! तू बारंबार स्त्रीपुरुषके संबंधके लिए पूर्व जन्मके ऋणानुबंधको कारणभूत बताती है तो यह ऋणानुबंध क्या है ? और उससे किस तरह संबंध जुड़ता होगा ? ” तब मोहजीतकी स्त्री उनसे इस तरह कहने लगी—

ऋणानुबंध.

"योगिराज! संसारमें पैदा हुए प्राणीको सारे जीवनमें निर्वाहादिक व्यवहारके लिए दूसरे अनेक जीवोंसे संबंध करना पड़ता है. उस समय उनके साथ जिस जिस वृत्तिसे व्यवहार किये जाते हैं उस उस वृत्तिका परस्पर ऋणानुबंध होता है. ऋण अर्थात् लेन देन और उससे जो बंधन होता है, वही ऋणानुबंध है. जैसे आप मेरे कामके लिए किसी तरहका परिश्रम करें और मैं उसका बदला न दूँ तो मेरे ऊपर आपका ऋण रहे. उसका बदला ईश्वरी सत्ता मुझसे इस शरीरसे नहीं तो दूसरे शरीरसे अवश्य दिलाती है. इसी तरह प्रत्येक जीवके विषयमें समझना चाहिए. इसमें किसीका धनका लेन देन होता है, किसीका सुख दुःखका लेन देन होता है, किसीका विद्याका और किसीका दूसरे प्रकारका लेन देन होता है, वह ऋण चुकानेके लिए प्राणियोंको अनेक जन्म लेकर उसके निमित्त अनेक सुख दुःख उठाने पड़ते हैं और ऋण पूरा हुआ कि तुरंत संसारी जीव अपने अपने रास्ते लगते हैं. अपार विस्तारवाले इस विश्वमें ईश्वरी सत्ता, यह कार्य ऐसी विचित्र रीतिसे पूर्ण करती है कि जिसका पार कोई नहीं पा सकता, और उसमें जरा भी भूल नहीं होती. जो प्राणी ऐसे ऋण संबंधी कर्म करता है उसीसे यह ईश्वरी सत्ता आप ही आप, अनायास और अचूकपनसे यह ऋण वापस दिलाती है और उसमें कुछ पक्षपात या अन्याय नहीं होने देती. इसके लिए परमपूज्य और गुरुरूप मेरे स्वामीने मुझसे अनेक इतिहास कहे हैं, उनमेंसे एकाधिक मैं आपको सुनाती हूँ.

प्राचीन कालमें पांचालपुरमें कर्मलब्ध नामका एक महात्मा-ब्राह्मण रहता था. वह नित्य अपने स्नान, संध्या, भगवत्सेवा आदिक सत्कर्मोंमें प्रेम लगाये रहता था और उसीमें परम सुखी था. जो कुछ अनायास मिल जाय उसीपर संतुष्ट रहता और किसीसे कुछ माँगता नहीं था. उसकी स्त्री भी परम सुशीला और पतिव्रता थी. वह नित्य स्वामीहीकी सेवामें लगी रहती थी. योगिराज! आप जानते ही हैं कि अनन्यभावसे भगवच्चिंतन करनेवालेके सारे व्यवहारका बोझ प्रभुके ऊपर रहता है. श्रीकृष्णपरमात्माने स्वयम् कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो अनन्यभावसे नित्य मेरी अच्छी तरहसे उपासना करता है, उसका योगक्षेम मैं स्वयम् वहन करता हूँ. इस तरह निःस्पृह हो कर निरंतर भगवत्सेवा करनेवाला वह कर्मलब्ध मुनि, जैसे संसारी चिन्तासे मुक्त था वैसे ईश्वरकी कृपासे उसे किसी बातकी चिन्ता भी नहीं करनी पड़ती थी. जिस समय जो चीज चाहिए वह प्रभुकी इच्छासे उसे स्वयम् आकर मिलती थी. इस तरहसे पवित्र गृहस्थधर्म पालन करते हुए बहुत समय बीत गया. इसी समय उसकी पतिव्रता स्त्री गर्भवती हुई. समय पूरा होनेपर उसने रत्नके समान एक पुत्र पैदा किया. ब्राह्मणने उसका जातकर्मादि संस्कार किया, सामर्थ्यके अनुसार दानपुण्य किया और उतरती अवस्थामें घरमें पुत्रका पालना झूलता हुआ देख कर वह दोनों परम आनंदसे दिन विताने लगे. कर्मलब्ध ज्योतिषशास्त्र भली भाँति जानता था, इससे पुत्रका भविष्य जाननेके लिए वह जन्मपत्रिका बनाने लगा. पुत्रके ग्रह एकसे एक अच्छे स्थानोमें पड़े और विद्याभवन तथा भाग्यभवन बहुतही ऊँची स्थितिमें जान कर, उसे बहुत ही आनंद हुआ. परंतु सबसे पहले आयुष्यका निर्णय करना चाहिए; क्योंकि आयु न हो तो ऊँचे ग्रह और ऊँचा भाग्य किस कामका ? इसका निर्णय करनेके लिए जब उसने गणित लगाना आरंभ किया तो उसकी गति रुक गई. गणितमें तत्काल (उसी समय) शून्य आया जिसको देखते ही उसके हृदयमें बड़ी धड़कन हुई. उसने देखा कि ऐसा बड़ा भाग्यशाली पुत्र, अल्पायुषी है. हरे ! हरे ! यह तो बहुत ही बुरा हुआ. परंतु नहीं, ऐसा नहीं होगा. कदाचित् गणितकरनेमें मैं कहीं भूलता होऊँगा, ऐसा शोच कर वह फिरसे गणित करने लगा.

गणितमें यदि जरा भी भूल रह जाय तो उसका फल (परिणाम) बिलकुल खराब होता है; (अर्थात्, जिस गणितसे परमात्माको जान लेते हैं उसमें भूल—शिथिलता—रहे तो इस शरीरका ग्रहण करना ही वृथा हुआ) इस लिए कर्मलब्धको यह शंका हुई कि मेरे गणितमें कुछ भूल रह गई है इससे वह सूक्ष्म और एकाग्र दृष्टिसे उसे बारंबार ढूँढ़ने लगा. परन्तु फल उसका वही आया ! इससे मनमें खेदग्रस्त हो कर उसने उसके भाग्य विद्या आदि सब खानों (कोठों) में गणितको फिरसे शोधा. शोधने पर मालूम हुआ कि मेरा और इस पुत्रका सिर्फ धन संबंध दीखता है, इससे बहुतसा धन कमा कर यह मुझे देगा और फिर अपने रास्ते लगेगा ? ईश्वरेच्छा, जो

होना होगा वह अवश्य ही होगा उसमें मेरा या किसी दूसरेका क्या चारा है ? इस तरह मनको समझा कर उसने आगे गणित करना बंद कर दिया.

ज्ञानी होनेसे कर्मलब्धने अपने मनको रोका, तो भी उसका फीका मुँह देख कर स्त्रीने पूछा; "कृपानाथ ! आज आप उदास क्यों दीखते हैं ? क्या अभी या भविष्यतमें आपको किसी तरहका दुःख दिखाईदेता है ? यदि वैसा हो तो यह दासी भी आपकी सहचारिणी होनेसे आधेकी हिस्सेदार है. इस लिए मुझे बता कर अपना दुःख हल्का करो." स्त्रीके ऐसे विनीत वचन सुन कर ब्राह्मणने कहा; "पतिव्रता ! यह सारा संसार ही दुःख-रूप है, उसमें फिर अभी या भविष्यतके दुःखको क्या पूछना ? जिस समय जो बने वह देखो और भोगो." इस तरह बातको छिपाने पर भी स्त्री चतुरा होनेसे, इसमें कुछ भेद होगा, ऐसा समझ कर वारंवार विनय करने लगी, तब उसने कहा, "सद्धर्मशालिनी ! अभी तुझसे कहनेकी कोई जरूरत नहीं है, समय आने पर मैं स्वयम् ही तुझसे कहदूँगा" तब वह पतिव्रता अपनी हठ छोड़ घरके काममें लग गई. इस तरहसे एक एक कर दिन बीतने पर बालक आठ वर्षका हुआ. वसंत ऋतुमें शुभ मुहूर्त देख, कर्मलब्धने उसका उपनयन (जनेऊ) संस्कार किया और फिर योग्य होनेसे रूढ़िके अनुसार उसे वेदाध्ययन कराने लगा. बालक बुद्धिका बड़ा तीव्र और बड़ी स्मरण शक्तिवाला था इससे थोड़े ही समयमें उसने व्याकरण शास्त्र कंठाग्र कर लिया और दूसरे दर्शनोंका अभ्यास करने लगा तथा उसमें भी अच्छी तरहसे निपुण होने पर उसने ज्योतिष विद्यापर मन लगाया. इस समय ग्रह, उपग्रह नक्षत्र आदिका गणित और फलादेश सिखाते समय कर्मलब्धको अपने प्रिय पुत्रका स्वयम् अनुभूत भविष्य तुरंत याद आया और उसके हृदयमें धड़कन होने लगी. उसको बड़ा क्षोभ हुआ, परन्तु उसे मनमें ही छिपा कर वह उसके लिए हो सकने योग्य उपाय करने लगा. वह स्वयम् अच्छी तरह जानता था कि भावी किसीसे टल नहीं सकती, परन्तु यत्न करनेसे उसका कुछ भाग सुधर सकता है* ऐसा मान कर—जो मानना ही अज्ञानांधकारका कारण है—

* यत्न करनेसे कुछ भी सुधर सकता है, इसका इतनाही अर्थ है कि जो कोई मरनेवाला है वह तो अवश्य ही मरेगा परंतु यदि उस समय सावधानी रखी जाय तो उस मरने वालेके लिए (मरते समय या पहले) दान, पुण्य, हरिस्मरण इत्यादि सत्कर्म करके उसकी सद्गति की जा सकती है, अर्थात् मरनेवाला तो मरेगा ही, परन्तु उसकी मृत्यु सुधरती है.

उसने तुरंत अपनी स्त्रीको एकान्तमें बुला कर कहा; " प्रिये, अपना यह पुत्र बड़ा भाग्यशाली है क्योंकि इसके जन्मके पीछे अपने घरमें स्वयम् समृद्धि आ कर वसी है और सारे दुःख दूर होगये हैं. हम लोग स्वर्गके समान सुखका अनुभव कर रहे हैं. यह पुत्र अब सब विद्या पढ़रहा है, इस लिए विद्वानोंको जीतने और अपनी विद्याका प्रकाश करनेके लिए सब विद्वानोंकी स्वाभाविक प्रवृतिके अनुसार यह कहीं बाहर न जाय इसे तू देखना. यह बहुत सुन्दर है, इसकी विद्या सजीव है और स्मरणशक्ति अपूर्व तथा वाक्‌चातुर्य अत्यन्त मनोहर होनेसे, सहजही उस पर किसीकी नजर लगजा संभव है. इससे तू संभाल रखना और यह बात मैं पुत्रसे भी अच्छी तरह कहदेता हूँ जिससे अनजानमें कहीं भूल न हो जाय. "

फिर पुत्रको बुलाकर उसने उन दोनोंके समक्ष कहा; " तू बहुत करके अब सब विद्याएँ पढ़ चुका है. पुत्र ! यह विद्या किसीको अपमानित करने या वादमें जीत कर किसीका मानखंडन अथवा वृत्तिखंडन करने (रोजी मारने)के लिए नहीं है. परन्तु केवल अपनाही कल्याण करनेके लिए है. यदि तू कहे कि, वह अपने निर्वाहके लिए है, तो वैसा भी नहीं है. पुत्र ! निर्वाहके लिए मैंने कैसी अयाचकवृत्ति (न माँगनेकी वृत्ति) ग्रहणकी है वह तू जानता ही है; वैसा होने पर भी तेरे भाग्यके कारण ईश्वरने हमें सब कुछ दिया है. इस लिए किसीसे किसी प्रकारकी याचना करना तो क्या, परन्तु विना माँगे भी मिलता हुआ प्रतिग्रह (दान) तू नहीं लेना. तू सत्पुत्र है इस लिए आशा है कि मेरी यह आज्ञा अच्छी तरहसे पालेगा. दान लेनेसे अपने सुकृत नष्ट हो जाते हैं और माँगनेसे मानहानि तथा सुकृतिकी भी हानि होती है. " कर्मलब्धको इतनी चौकसी करनेका इतनाही कारण था कि उसने बालकके भविष्यतके विषयमें जान रखा था तदनुसार यह बालक उसका पहले जन्मका ऋणी था और उसको विश्वास था कि ऋण चुकाते ही यह चला जायगा, इस लिए जब कहींसे दानादि ग्रहण कर धन लावे तो ऋण कटे और घरसे बाहर जाय तो इसकी मृत्युका कोई अवसर आये. इस हेतुसे ही वह दोनों अपने बालककी चौकसी करने लगे. कहींसे सभा आदिका निमंत्रण आता तो भी पिता स्वयम् अकेले ही जाता, बालक बहुत उत्कंठा करता तो भी उसे साथ न ले जाता था. इस तरह वह ऋणी, बालकसे किशोर अवस्थाको प्राप्त हुआ. तब परम आत्मनिष्ठ होनेसे संसारको

मिथ्या मान कर, सिर्फ ईश्वर भक्ति ही अपना कर्तव्य समझनेवाले उसके पिताने विचार किया कि पुत्रको मैंने सब विद्याएँ सिखाईं परन्तु जब तक सब विद्याओंकी शिरोमणि और परम कल्याणकारी अध्यात्मविद्या नहीं सिखाई, तब तक यह नहीं कहा जायगा कि मैंने उसके पिताके तुल्य अपना कर्तव्य पालन किया है, ऐसा विचार कर उसने अच्छी तरहसे यह परम विद्या (ब्रह्मविद्या) भी सिखलादी.

एक दिन निमन्त्रण आनेसे कर्मलब्धको किसी कार्यवश दूसरे गाँव जाना पड़ा, इस लिए पुत्रको कहीं न जाने देनेके लिए स्त्रीको सिखापन देकर वह दोदिनके लिए कहीं बाहर गया.

दैव श्रेष्ठ परंतु अदृश्य है. पुरुष बुद्धिमान्, पंडित चतुर और सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञाता होने और नाना प्रकारसे समझाने पर भी जबतक तम तथा रजसे लिप्त हो तबतक सत्वगुणशाली नहीं होता, और भ्रांतिसे मानी हुई असत्य बातको सत्य मानता है. आवरण शक्तिसे विमुख होनेवाला तो विरला ही होता है. ऐसा हुआ कि जिस दिन कर्मलब्धको गाँवसे बाहर जाना था, उसके पूर्व दिन पांचालपुरमें राजाके यहाँ विदेशसे एक पण्डित आया और शास्त्रार्थ करनेवालोंसे शास्त्रार्थ करना चाहा. यह पंडित सब वेदशास्त्रसंपन्न और बड़ा वाचाल होनेसे अनेक देशके पंडितोंको शास्त्रार्थ (वाद) में जीत आया था. अपनी विद्वत्ताके लिए उसे बड़ा अभिमान था. राजाने उसका बहस करनेका प्रस्ताव स्वीकार करलिया. परन्तु उसे बड़ी चिन्ता हुई कि उसके साथ वादमें खड़ा होनेके लिए मेरी सभामें ऐसा कौन पंडित है ? यह पांचालपुर विद्या और विद्वानोंका घर माना जाता है. इस लिए उसके साथ यदि शास्त्रार्थ न किया जाय तो अपयश होगा और शास्त्रार्थमें पराजय (हार) होनेसे यश जायगा. परन्तु हरीच्छा ! वही पूर्ण पुरुषोत्तम इस नगरकी लज्जा रखेगा; ऐसा विचार कर उसने अपनी सभाके पंडितोंको बुलवाया. इसके बाद नगरमें भी ढौंड़ी पिटवाई कि मेरे नगरमें जो कोई विद्वान् हो वह कृपा कर सभामें अवश्य पधारें. सभा भरी और उसमें एकत्र हुए राजाके पंडितोंको उस परदेशी पंडितने परास्त करदिया. पहले दिनकी सभा विसर्जन होते ही सारे नगरमें बड़ा कोलाहल मच गया, सर्वत्र यही बातें हो रही थीं कि पांचालपुरकी अबतककी सारी कीर्ति एक परदेशी पंडित हरण

किये जाता है. घरोंमें, कूचोंमें, बाजारमें, वाटमें, घाटमें, सब लोगोंमें यही चर्चा चल रही थी. एक गलीसे हो कर कई ब्राह्मण यह बात करते चले जारहे थे, इतनेमें एकने एक घरकी ओर हाथ उठा कर कहा; "भाई, क्या बड़ा समर्थ माना जानेवाला कर्मलब्ध पंडित भी आज परदेशी पंडितसे हार गया ?" तब दूसरेने कहा; "अरे नहीं रे ! वह तो आज सभामें दिखा ही नहीं. देख ! यह सामनेवाला ही तो उसका घर है और जो उस बरामदेमें कुछ पढ़ते बैठा है वही उसका लड़का है. सुना जाता है यह भी अपने पिताहीके तुल्य विद्वान् हुआ है. परन्तु न जाने ऐसे अवसरमें उन दोनोंमेंसे एक भी सभामें क्यों नहीं गया ? निश्चय ही, पंडितजी आज घरमें नहीं होंगे नहीं तो इस तरह पांचालपुरकी लाज नहीं जाने देते. होगा, पर देखें कल जो फिर सभा होनेवाली है उसमें क्या होता है ?"

मार्गमें जाते हुए ब्राह्मणोंकी ऐसी वातचीत सुनते ही उस ब्रह्मपुत्रके मनमें बड़ी उत्तेजना हुई. वह विचार करने लगा कि ऐसा कौन विदेशी पंडित है जो मेरे पिताके समान समर्थ पुरुषको भी हरा दे ? उसको देखना चाहिए. कल यदि सभा भरेगी और मेरी माता आज्ञा देंगी तो मैं अवश्य उसे देखने जाऊँगा.

इस सभामें सब पंडित हार गये और वाद (वहस) ज्योंका त्यों ही बना रहा. राजा खिन्न हुआ. दूसरे दिन फिर समय पर सभा भरी और नगरमें लोगोंके झुण्डके झुण्ड वह वाद (शास्त्रार्थ) देखनेको आये. अपने पड़ोसके समवयी ब्राह्मण बालकोंको जातेहुए देख कर कर्मलब्धका पुत्र भी अपनी माताके आगे जा कर पूछने लगा कि "मा ! ये सब जारहे हैं इन्हीके साथ मैं भी सभा देखनेको जाऊँ ?" माता बोली; "प्यारे तेरे पिताने तुझे बाहर जानेसे मनाकरदिया है; क्योंकि बाहर जानेसे तू कदाचित् किसी समय किसीका दान लेले." पुत्रने फिर विनयकी कि, "मैं पिताजीकी आज्ञाको कभी भंग न करूँगा." पुत्रका आग्रह देख कर माताने आज्ञा देदी, वह राज सभामें गया और दर्शक ब्राह्मणोंके समूहमें जा कर देखने लगा कि प्रश्नोत्तर कैसे होते हैं.

सभामें एक ओर राजा और राजवंशी तथा दूसरी ओर अनेक शास्त्रज्ञाता पंडित बैठे थे. उनके सामने उस परदेशी पंडितका बड़ा आसन

रखाथा. सभास्थानके आसपास दर्शक ब्राह्मण और दूसरे लोगोंके लिए बैठकें बनीं थीं. सभाका कार्य आरंभ होते ही उस पंडितने प्रथम दिनके अपने प्रश्नका प्रस्ताव कर, बड़े अभिमानसे कहा; "मेरे स्वयम् ही पैदा किए हुए इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर जब नहीं मिला, जो मेरे विचारसे बिलकुलही साधारण है, तो अब दूसरे प्रश्नोंके लिए परिश्रम करनेकी क्या जरूरत है? अब तो यही कर्तव्य रह गया है कि इन सबकी संमतिसे राजा मुझे विजयपत्र दे कर विदा करदे." यह सुन सभासद चुप हो रहे. सारी सभा सन्न रह गई यह देख वह ब्रह्मपुत्र जिसका नाम 'ऋणदत्त' था, चुप न रह सका. उसकी सब विद्याएँ प्रकाशित थीं और वह ब्रह्मविद्यारूप भूषणसे अलंकृत था. वह किसीसे भी पराजित होनेवाला नहीं था. लोगोंके समूहसे तुरंत बाहर आ वह हाथ जोड़कर गंभीरतासे बोला; " मुझे जान पड़ता है इस विदेशी आडंबरवाले, मदोन्मत्त और उद्धत पंडितका, विनय और विद्वत्तासे शून्य तथा मूर्खतासे पूर्ण भाषण सुनकर ये सब पंडित महाराज उसका प्रत्युत्तर देना अयोग्य—लज्जास्पद समझते हैं और मैं समझता हूँ इसका उत्तर देनेके लिए वह सोचते हैं कि यहाँपर कोई बालक ही होता तो अच्छा. इस लिए वह बालकको खोजनेके लिए इधर उधर देखरहे हैं." सभ्य महाशयो! इन सब महाजनों की जिज्ञासा यथाशक्ति पूर्ण करनेके लिए बालकके समान मैं इस पंडितके भाषणके उत्तरमें दो शब्द कहना चाहता हूँ. आप लोगोंकी क्या आज्ञा है? ऋणदत्तका ऐसा चातुर्यपूर्ण भाषण सुनकर सभ्य, राजा और पंडित सबकी दृष्टि एक साथ ही उसकी ओरको आकृष्ट हुई. सब बहुत विस्मित हुए. फिर ऋणदत्त बोला; "महाराजा पांचालपतिने नगरमें जिस पंडितके आनेकी प्रसिद्धि की है, वह पंडितराज क्या यही है? मैं पूछता हूँ कि किसीने शुक पक्षीको कूट वचन बोलना सिखला दिया हो और वह सबको सुनाते हुए चटचट बोलता जाय तो इससे क्या पंडित कहलायगा? क्या पंडित लोग अपने मुँहसे स्वयम अपनी बड़ाई और दूसरोंकी निन्दा करना अपना बड़प्पन मानते है? फिर 'अमुक काम मैंने किया, अमुक प्रयोग या प्रश्न मैंने स्वयम् पैदा किया है; ऐसा मिथ्याभिमान होना क्या पंडित जनोंको योग्य है?" वह बालक इस तरहके लगातार अनेक प्रश्नोंमें ही उस पंडितको दबा कर, अनुक्रमसे उसके प्रथम प्रश्नका उत्तर देने लगा. यह सुन पंडित कुछ भी आनाकानी या पूर्वपक्ष (प्रति-

वाद) नहीं कर सका वरन उसके तेजसे मानो चकाचौंध हो गया हो इस तरह, ' हे बुधवर्य ! इतनी छोटी उमरमें तुम्हें ऐसा ज्ञान कहाँसे प्राप्त हुआ ? आप कौन और किसके पुत्र हो ? आप जैसे विद्वानके आगे मैं अपना पंडित नाम रखनेको भी समर्थ नहीं हूँ आपको धन्य है. ' इत्यादि वचनोंसे ऋणदत्तकी प्रशंसा करने लगा.

इस तरह बुद्धिमान् और विद्वान् ऋणदत्तने विजय प्राप्त कर पांचालपुरकी कीर्ति रखी. मंडपमें भारी जयध्वनि हुई, और मुर्झाये हुए पंडितोंका मुँह हर्षसे जगमगा उठा तथा राजाने सभाके बीच बड़ा सिंहासन बिछा कर ऋणदत्तको उस पर सत्कार पूर्वक बैठाया और बड़े धूमधामसे सब पंडितोंके आगे उसका पूजन किया. तदुपरान्त अमूल्य वस्त्र और मणिमाणिकके गहनों तथा दक्षिणारूप सोनेकी मुद्राओंसे भरा हुआ एक बड़ा स्वर्णथाल ला कर देने लगा. तब उस बालकने कहा, " राजन् ! इनमेंसे मुझे कुछ भी नहीं चाहिए. ये वस्त्रालंकार इन पंडितराजको अर्पण करो और धन, दक्षिणारूपसे सभाके ब्राह्मणोंको बाँट दो. एक वक्तके अन्नके सिवा दूसरा कुछ भी दान न लेनेके लिए मेरे पिताजीकी दृढ़ आज्ञा है और वह अन्न भी यदि अनायास अपने यहाँ आ जाय तभी लिया जा सके, ऐसा मेरा निश्चय है. " इतना कह कर वह विदा होनेको उठ खड़ा हुआ. राजाके बहुत आग्रह करने पर भी उसने कुछ लेना स्वीकार न किया और सभासे चलने लगा. तब राजाने उसे एक सुन्दर पालकीमें बैठा कर छत्र चामरादि सामान सहित घर पहुँचवाया. सारे नगरमें जयजयकार व्याप रहा और सब लोग कर्मलब्धके लड़केकी प्रशंसा करने लगे.

" पंडितराज बड़े सहिष्णु हैं " प्रशंसाके ऐसे घोष सहित पालकी उसके आँगनके आगे आकर खड़ी हुई. ऋणदत्तकी माता बहुत विस्मित हुई और अपने पुत्रको, कभी न सोचा हुआ यह अपूर्व राजमान मिला देख परमानंदित हो, बाहर आकर, तुरंत पुत्रका स्वागत किया तथा हृदयसे लगा घरमें लेजा कर कहा; " भाई, आज तेरे पिताकी सिखाई हुई सब विद्याएँ और हमारा सब परिश्रम सफल हुआ. " इस तरह उस पतिव्रताने उत्तम पकान्न बना कर पुत्रको प्रेमसे भोजन कराया.

जो राजसेवक ऋणदत्तको पहुँचाने आये थे वह पालकी, छत्र, चामर आदि लेकर वापस गये. उसके बाद राजाने विचार किया कि जिस

विद्वान् ब्राह्मण बालकने नगरकी जाती हुई लज्जा रखली है, मेरी सभासे कुछ भी पारितोषिक लिए विना उसका विमुख जाना, मेरी कीर्तिको कलंकित करनेवाली वात है. इस तरह राजा विचारमें लीन था; इसी समय एक असाधारण कौतुक हुआ. राजाके आगे एक दासी आकर विनय करने लगी कि, "पृथ्वीनाथ ! अंत:पुरमें पधारनेके लिए रानीजीने आपसे विनय की है." राजा तुरंत रानीके पास गया, वहाँ जाकर देखता है कि पलंगमें पड़ी हुई राजपुत्री रो रही है और रानी उसे अनेक तरहसे समझा रही है. राजाको देखते ही रानी बोली; "ले बहन, तेरे पिताजी आगये. तेरे साम्हनेही मैं उनसे तेरे लिए अनुरोध करती हूँ. इस लिए रोना छोड़कर बैठ जा." ऐसा कह कर वह राजासे बोली; "स्वामिनाथ ! इन पंडितोंके झगड़ेमें यह एक तीसरी तान छिड़ी है. कुमारीका आग्रह है कि इस बालपंडित (ऋणदत्त) से ही मेरा व्याह करो, इस लिए अब जिस तरह उसे संतोष हो वैसा करो."

जिस समय सभाका काम हो रहा था उस समय सामनेवाले महलके झरोखेसे राजकुमारी अपनी भावजके साथ सब कुछ देखा करती थी. वह भी पंडिता थी. जब बालपंडित ऋणदत्तका भाषण आरंभ हुआ तो उसके सौन्दर्य और वाक्चातुर्यसे वह मोहित हो गई और उसी क्षण प्रतिज्ञाकी कि, 'मन, वच, कर्मसे इन पंडित कुमारको ही मैं वर चुकी हूँ इनके सिवा दूसरे सब पुरुष मेरे पिता-भ्राताके समान हैं.' सभा विसर्जन होतेही, कुमारी अपनी माताके पास गई और सब समाचार सुना, हठ करके बैठ गई.

ऋणदत्तपर राजा प्रसन्न था और इस लिए हर तरहसे उसे जितना कुछ दिया जाय उतना देना थोड़ा ही मानता था. उसमें फिर कन्याका ऐसा आग्रह देख कर तो वह बहुतही प्रसन्न हुआ. ऋणदत्त एक दिनके भोज-नके सिवा और कुछ न लेता था. इससे दक्षिणामें उसको राजपुत्रीका दान देना उचित जँचा.

इधर ऋणदत्त अपने घरमें भोजन करके विश्राम कर रहाथा. उसकी माता घरके काम काजमें लगीथी: इसी समय एक राजवंशी पुरुषने पूछा, 'पंडितराज ऋणदत्त कहाँ हैं ?' फिर एक बाँसकी टोकरी, जिसमें चार लड्डू

थे, दे कर कहा; "मातुश्री! मैं प्रधान (दीवान) हूँ मुझे राजाजीने भेजा है. पंडितराजके लिए यह खालिस घीका* पकान्न देकर मुझे भेजा है और यह एक पत्र भी साथ है. माताजी! इसे पंडितराजको दे देना." अपनी इच्छासे अनायास कोई घरमें आ कर अन्न दे जाय तो उसे अस्वीकार करना नहीं चाहिए ऐसा सोच कर विना किसी संशयके ऋणदत्तकी माताने पत्र और पात्र (मिठाईकी टोकरी) ले लिया.

कुछ देरमें जब ऋणदत्त उठा और मुँह धोकर वैठा तो माताने लड्डुओंकी वह टोकरी उसके सामने रख कर कहा " पुत्र, राजाने ये भोजन पदार्थ और यह पत्र भेजा है. " तब ऋणदत्तने कहा; " मातुश्री अभी रखो फिर ले लूँगा. " उसकी माता उन्हें रख कर तुरंत ही लौट आई. दैवकी विचित्र गति कौन जान सकता है और भाग्यको कौन पलट सकता है ? ज्योंही उसकी माता वापस आई त्यों ही ऋणदत्तने जोरसे एक चीख मारी और " ओ मा, हे परमात्मा ! " ऐसा पुकारते हुए परलोकको सिधारा !!! माता घबरा कर काँपने लगी. कहिये योगिराज ! इस समय उसकी प्रेममयी और पुत्र पर प्राण न्यौछावर करनेवाली माताकी कैसी दशा हुई होगी ? अरे उस पर ब्रह्माण्ड टूट पड़ा होगा ? पुत्रकी ऐसी दशा देख, वह अपनी छाती और सिर कूटने लगी, हृदय विदारक रुदन करने लगी. उसके शापसंयुक्त रुदनको सुन कर चारो ओरके पुरा पड़ोसी दौड़ आये और अचानक यह क्या हुआ, यह जानते ही बहुत दुःखी हुए और उस स्त्रीका आश्वासन करने लगे. वह ऐसे करुणापूर्ण शब्दोंमें रो रही थी कि दूरसे सुननेवालोंको भी शोकसे रुलाई आती थी.

पुत्रको गोदमें ले उसकी माता विलाप करके रोरही थी इतनेमें कर्मलब्ध पंडित घर आ पहुँचा. घरके आगे शोकातुर मनुष्योंकी भीड़ देख, दूरसे ही उसके पैर पानी पानी होने लगे कि, मेरे घरमें यह क्या उत्पात है ? उसने तो बहुत वर्ष पहले ही निश्चय कर रखा था कि कोई दिन, मुझे निःसंतान करनेवाला आयगा. इससे इस समय भी उसके मनमें यही आया कि, पुत्रको कुछ न कुछ हुआ है ! घरमें आ कर देखता है तो मृत पुत्रको गोदमें लेकर उसकी स्त्री हृदय विदारक रुदन कर रही है. कर्मलब्ध परम ज्ञानी था, इससे उसे कुछ शोक नहीं हुआ. परन्तु स्त्रीसे सब

*सिर्फ घीसे बना हुआ अन्न जो अपवित्र न हो.

समाचार सुन कर जब वे लड्डू देखे तो प्रत्येकमें एक एक अमूल्य हीरा था, जिनके प्रकाशसे उनकी ओर देखा नहीं जा सकता था. ये हीरे पांचाल-राजाने, ऋणदत्त पंडितको गुप्त दक्षिणारूपसे लड्डुओंमें भर कर भेजा था. फिर उसने पत्र खोलकर पढ़ा तो राजाने उसमें अपनी पुत्रीका दान दिया था और पंडितजीको बारह गाँव दक्षिणामें भेट किये थे. यह देख कर्मलब्धको अपने जाने हुये भविष्यतके लिए विचार हुआ और वह इतना ही बोला कि, " दैवकी गति कोई टाल नहीं सकता; यह पुत्र मुझे ऋण ही देनेको पैदा हुआ था, वह अब यह ऋण अदा कर, सदाका सुभीता करके चला गया है." फिर पुत्रकी कपाल क्रिया कर, वह उदासी बन पत्नी सहित वनमें चला गया और वहाँ शान्त चित्तसे ईश्वरसेवा करके जीवन व्यतीत किया.

"योगिराज ! इस प्रकार पूर्व जन्मके परस्पर ऋणानुबंधद्वारा इन सब संबंधी रूपसे एकत्र हुए—कर्मलब्ध, उसकी स्त्री, ऋणदत्त, राजा, राजकन्या, और उस विदेशी पंडित, इत्यादि प्राणिओंके लेन देनका संबंध पूरा करनेका समय पूर्ण हुआ था और संबंध पूरा होते ही सब अपने अपने रास्ते लगे. इस लिए इस संसारकी सारी सगाई (संबंध) ऐसी ही है. तो फिर तुम्हारे बताये हुए समाचारके लिए मैं क्यों शोक करूँ ? सब ऋणानुबंधसे आ मिलते हैं, और ऋणानुबंध पूर्ण होते ही अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं. इसका विचार न करके जो हाय हाय करते हैं, वह अविद्याहीके संतान हैं. परन्तु जिस जीवको उस परापर (सर्वव्यापी) पुरुषके दर्शन होते हैं, उसकी हृदय ग्रंथि छूट जाती और मेरा तेरा अहंता ममतारूप भाववाला संशय नष्ट हो जाता है. अर्थात् ऐसे जीवके प्रपंचका भार—वेदनामय भार—संसारमें रहनेसे बराबर कम होता जाता है और निस्तरंग (शान्त) आनंदमय भूमिकामें प्रवेशकर वह धीरे धीरे प्रेम तरंगमें रमण करता है."

यह इतिहास कह कर रानी मोहजिता चुप हो रही, तब विस्मित हुए योगीने फिर पूछा; " परन्तु हे तत्वदर्शिनी ! मोह रहिते ! इस ऋणदत्तने पिताका जो बड़ा ऋण चुकाया वह उस जन्ममें उसे किस तरहसे हुआ था, यह बता." यह सुन मोहजिता कहने लगी.

" महाराज ! पहले स्वाश्रय नाम नगरमें एक वैश्य रहता था. उसके घरमें अपार धन था, पतिव्रता स्त्री थी परन्तु संतति कोई न थी. वह धनका

व्यय धर्मके शुभ कार्योंमें, जैसे विद्यादान और अन्नदानादिमें, करता था. बहुत समय गृहस्थाश्रम करनेपर भी जब संतान नहीं हुआ; तो दोनों स्त्री पुरुषोंने तीर्थमें जाकर अनेक शुभ कर्म करनेका निश्चय किया. न जाने कल क्या होगा और कब लौटना होगा, इस तरह समयपर भरोसा न रख उसने अपनी संपत्तिका प्रबंध किया और मार्गमें उपयोग (व्यय) करनेके लिए बहुतसा धन लेकर फिर जहाँ आवश्यक होगा वहाँ हुंडीपुर्जेसे धन मँगा लेनेकी योजना भी की और अपनी सारी मिल्कियतके अत्यन्त अमूल्य रत्न, जिनमेंसे एक एककी कीमतसे अनेक राज्य खरीदे जा सकते थे, बड़ी सावधानीसे यात्रामें अपने साथ ले लिए. वह वणिक अत्यंत धनवान् था इससे वहाँके राजाने बहुतसे रुपयोंकी सहायता करनेके बदलेमें ताम्रपत्रपर उसको बारह गाँवका एक पट्टा भी लिख दिया था. इस तरह बहुत कम वजनमें समानेवाली अपार दौलत साथ लेकर वह दम्पति यात्राको चले. श्रीस्थल, पुष्कर, प्रयाग आदि तीर्थ करके काशीपुरीकी ओर जा रहे थे. इसी समय रास्तेमें कुछ बीमारी होनेसे उनके साथके दास दासी आदि मर गये. इससे वह अकेले हो गये. आगे विकट रास्ता आने और चोर आदिका अधिक भय होनेसे उन्होंने अपने पासका धन किसी निर्भय स्थानमें रखनेका निश्चय किया. भय मायाका है कायाका नहीं; इस लिए ज्यों त्योंकर वह अपना भय कम करना चाहते थे. मार्गमें उन्हें गंगाके तट पर किसी तपस्वीका आश्रम दिखाई दिया इससे वह वहाँ गये. वहाँ एक पवित्र तपस्वी, संसारको तिनकेके समान मान, परम निरीह हो कर तप करता था. दो चार दिन उसके आश्रममें रहनेसे वह तपस्वी उसको बिलकुल निःस्पृह और पवित्र मालूम हुआ इससे वह वैश्य वह द्रव्यरूप भय उस महात्माको सौंपने लगा. तपस्वीने बहुत कुछ नाहीं की और यह अनावश्यक उपाधि—व्यर्थ पाप—मैं कभी न लूँगा ऐसा कह कर अस्वीकार किया; तो भी वह दोनों उसके पैरों पड़ प्रार्थना करके वह धन और ताम्रपत्र उसे सौंप निश्चिन्त हो कर काशीकी यात्राको चले गये. होनी प्रबल है. कुछ कालमें तपस्वीको मालूम हुआ कि मेरा मरणकाल निकट आ पहुँचा है, इससे वह ऐसी तैयारी करने लगा जैसी कोई विदेश जानेके लिए करता है. बहुत समयसे सेवा करनेवाले अपने शिष्योंकी सेवासे, संतुष्ट हो कर वह उन्हें अनेक गुप्त विद्याएँ सिखा कर

निश्चिन्त हुआथा परन्तु इसी समय रक्षा करनेके लिए दिया हुआ उस साहूकारका धन उसे याद हो आया, इससे वह चिंतामें पड़ा. इतने अधिक धनकी रक्षाके लिए उसे कोई भी योग्य स्थान नहीं दिखा. ऐसा करते हुए उसे अपना अंतकाल समीप आया हुआ मालूम हुआ. तब योगके वलसे प्राणोत्क्रमण (प्राण त्याग) करनेके लिए उसने चित्तको एकाग्र किया, परंतु किसी भी तरहसे चित्त नही ठहरा, क्योंकि वह बार बार उस साहूकारका धन याद कर चिन्तित होता था कि अरे! वह साहूकार अभीतक नहीं आया और मैं निष्कारण उसके ऋणमें बँधा जाता हूँ. अंतमें घवराकर उसने अपने सब शिष्योंको पास बुलाया और कहा, " शिष्यो ! तुम सब जानते हो कि मेरे पास उस साहूकारका धन रक्षाके लिए पड़ा है, इस समय मुझे सिर्फ यही चिन्ता है, कि वह साहूकार जब फिर आयगा तो उसका धन फिर ज्योंका त्यों दे कर, उसके ऋणसे मुझे कौन छुड़ायगा ? मेरे मर जाने पर तुम सब तो अपने अपने स्थानको चले जाओगे इस दशामें उस धनके लिए क्या करूँ ? " तब एक शिष्यने कहा; " देव ! यदि आप उचित समझें तो यह धन इस निकट शहरके पुष्पदन्त वणिकको, जो नित्य आपके दर्शनोंको आता है, सौंपदें. वह अत्यन्त पवित्र मनका है और धनपात्र भी है. इस लिए उसको धन सौंपदेनेमें भय नहीं है. वह वणिक उस साहूकारको उसका धन अवश्य सौंप देगा और उसको यह द्रव्य सौंपनेके लिए इस पासके आश्रममें रहनेवाले आपके स्नेही ऋतवक्ता ऋषिको कह देना ही बस है." तपस्वीको यह बात ठीक जँची. उसने तुरन्त ऋतवक्ता ऋषिको बुलाकर सारी बातें बताई तब स्नेहके कारण उसने यह द्रव्य उस वणिकके यहाँ पहुँचवानेका भार अपने ऊपर लिया; ऐसा होजानेसे तपस्वीकी चिन्ता मिटी सही, परन्तु यह द्विविधा उसके मनमें रह गई कि इतनी बड़ी खटपटके अंतमें न जाने वह द्रव्य उसके मालिकको कब, और किस स्थितिमें पहुँचेगा. अस्तु अब चाहे जैसा हो, ऐसा सोच कर लोभको छोड़ उसने ईश्वरमें मन लगाया और थोड़ी देरमें इस अनित्य देहका त्याग कर प्रभु-धामको चला गया.

इसके बाद ऋतवक्ता ऋषिने यह धन तपस्वीके शिष्योंके द्वारा पुष्पदन्त वैश्यके यहाँ पहुँचा दिया और साहूकारके आनेपर उसे दे देनेकी बात कही.

परन्तु असल साहूकार तो, तपस्वीको धन सौंप कर काशी पहुँचते ही कुछ दिनोंमें समय अजानेसे सपत्नीक परलोक वासी हो गया इस लिए धन लेनेको कौन आवे ? कुछ दिनोंमें तपस्वीका धन जमा करनेवाला वणिक और जमा करानेवाला ऋतवक्ता ऋषि भी मृत्युके वश हुए. इस तरह एक दूसरेके संबंधमें आने पर भी संसारकी सब वासनाओंसे मुक्त न होनेके कारण, 'पैदा होनेवालेकी अवश्य मृत्यु और मरनेवालेका अवश्य फिर जन्म होता है' इस ईश्वराधीन नियमसे अपने अपने कर्मके अनुसार सबने अच्छी या खराब योनियोंमें जन्म लिया. यात्रा करनेवाला वैश्य स्त्री सहित कर्मलब्ध पण्डित होकर जन्मा और उसका ऋणी तपस्वी उसका पुत्र ऋणदत्त हुआ. तपस्वीका धन उसके मरनेके समय जमा करनेवाला ऋतवक्ता ऋषि उसका जामिन होकर वह धन वापस दिलानेके लिए विदेशी पण्डित होकर जन्मा. धन जमा करनेवाला वैश्य पत्नी सहित पांचालपुरका राजा होकर पैदा हुआ और फिर उन्होंने अपने अपने पूर्वके ऋणका शोधन किस तरह किया यह मैंने आपसे अभी ही निवेदन किया है. फिर इस वणिककी एक वृद्ध दासी, जो अपने स्वामीकी आज्ञासे बारंबार तपस्वीकी सेवामें रहती और जिसके द्वारा वह धर्मिष्ट वणिक, तपस्वीकी सेवामें अनेक पदार्थ भेजता, तथा जो बड़े प्रेमसे तपस्वीकी सेवा करती और अधिकतर उसके आश्रममें ही रहती, इस लिए वह पूर्ण विश्वासपात्र तथा इस सत्संगके प्रभावसे भक्तिमती बन गई थी, अतः उस तपस्वी और उसके आश्रममें आने जानेवाले महर्षियोंकी सेवा करनेसे जिसके सब पाप नष्ट हो गये थे वह यहाँ राजकन्या होकर जन्मी थी जो ऋणदत्तको अपने मनसे वर लेनेके कारण विना विवाह हुए भी उसके मरने पर सहगामिनी होकर उसके सत्कर्मकी भागिनी हुई. योगिराज ! आपको मुझे यह भी बताना जरूरी है कि वह राजकन्या ऋणदत्ता मैं स्वयम हूँ और वह ऋणदत्त पण्डितराज ही, मेरा स्वामी है. यहाँ हम यह ईश्वरदत्त संसारभोग विधिवत् भोगते हुए जल कमलके समान निर्लेप रह कर अंतमें ऊर्ध्वलोकको जायँगे."

यह सब वृत्तान्त सुन कर आश्चर्य चकित योगीने कहा; "राजपत्नी तुझे धन्य है और तेरे स्वामीको भी धन्य है. यह मैंने अच्छी तरह जाना कि तेरा मोहजित नाम अत्यन्त ही योग्य है ! बाले ! तेरा स्वामी सर्वथा

कुशल है, और उसके विषयमें मैंने सिर्फ तेरी परीक्षा लेनेके लिए जो समाचार दिया है वह असत्य है. तेरा कल्याण हो और तेरा सौभाग्य अखंड तपे !" इतना कह कर योगी वहाँसे चल निकला और मोहजितकी बहनके यहाँ जाकर, उससे उसके भाईका कृत्रिम मृत्यु समाचार कहा; तब उसने इस तरह कहा.

संसार सराय है.

"योगिराज ! इस संसारमें कौन किसका भाई और कौन किसकी बहन है ? कोई किसीका सगा और संगी नहीं है. अपने भाईका मैं क्या शोक करूँ ? यह संसार सराय (मुसाफिर खाने) के समान है. धर्मशालामें अनेक प्रवासी आते हैं, रातको रह कर, रातके दो क्षणका आनंद लेते और सवेरा होते ही सब अपने अपने मूल (अभीष्ट) स्थानको चले जाते हैं. सिर्फ दो घड़ीका मेला है, इसमें आने जानेका क्या शोक है ? एक बार कोई मनुष्य किसी कार्यवश गाँवसे बाहर जाता था. चलते चलते बिलकुल संध्या होने लगी, तब श्रमित होनेसे उसने कहीं ठहर कर रात काटनेका निश्चय किया. इतनेमें एक धर्मशाला आई उसमें अपने समान कई यात्रियोंको उतरे हुए देख, उसने भी अपना सामान जमीन पर रखा और धर्मशालामें प्रवेशकर, मालिककी आज्ञा ले एक ओर मुकाम किया. ज्यों ज्यों समय होता गया, त्यों त्यों अनेक पंथी आकर उस स्थानमें उतरने लगे और उनसे बातचीत होनेसे प्रेम होता गया. भूखका समय होनेसे उसने भोजन निकाल कर उसमेंसे कुछ आसपास बैठे हुए पथिकोंको बाँट कर भोजन किया और दूसरे लोगोंने भी अपने सजातियोंको बाँट कर स्वयम खाया. रातको सब परस्पर अपने सुख दुःखकी बातें करने लगे, कोई हास्य विनोद और गाना बजाना करने लगा कोई बहुत थक जानेसे तुरंत सो गया तथा कई अपने साथियोंके साथ भगवानका कीर्तन करने लगे. कोई देशान्तरकी देखी और सुनीहुई अनेक चमत्कृतियोंका वर्णन करने लगा, तो कोई फिर कहाँ जाना है, कहाँसे आये और कौन मार्ग सुलभ होगा इत्यादि पूछताछ करने लगा. इस तरह वह स्त्रीको बहन और पुरुषको भाईके समान जानकर परस्पर कुटुम्बके समान मानने लगे. कुछ देरमें एक एक कर सब सो गये. रात सहजमें बीत गई और उषःकाल होनेके पहले ही उष्ण

ऋतु होनेसे, वह सब पथिक धूपके भयसे एक एक कर उठे और अपने अपने रास्ते लगे.

अब वह अकेला पंथी, जो पहले दिन थकजानेसे सोगया था, बहुत दिन चढ़ने पर उठा और आँखें खोल कर देखा तो सब सुनसान दिखा. धर्मशालामें कोई न था. चारो ओर शून्य था. सिर्फ कुछ कौवे अप्रिय शब्द करते रातके पड़े हुए भातके दानोंके लालचसे इधर उधर उड़ रहे थे और दो चार कुत्ते फिर रहे थे! इस तरह वनमें बनी हुई वह बहुत बड़ी और सुन्दर धर्मशाला, जैसी रातको देखी गई थी उससे बिलकुल उल्टी और ऊजड़ देख कर, वह पथिक एकदम हक्का-बक्का और शोकित हो गया. वह लगातार लम्बी साँसें छोड़ने लगा. उसका हृदय भर आया, आँखोंसे तड़तड़ आँसू गिरने लगे और "हाय हाय यह क्या हुआ? रातका आनंद कहाँ गया? अरे! वह सब पथिक कहाँ गये? अरे! इतना अधिक स्नेह दिखानेवाले उन्होंने मेरा भाव भी क्यों न पूछा? अरे! कोई पासवाला भी मुझे नहीं जगा गया! किसीने मेरी जरा भी सुध क्यों नहीं ली? अहो! क्या मैं अब अकेला ही हो गया? अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? इत्यादि उद्गारोंसे, वह भुलावेमें पड़ जोरसे रोने लगा, और किसी तरह भी चुप नहीं रहसका.

इतना कह कर वह राजकन्या (मोहजितकी बहन) बोली; "योगिराज कहिए! उसकी स्थिति कैसी दया जनक है! और उसे कितना भारी दुःख तथा शोक है! उस बेचारेको दिलासा भी किसने दिया होगा? उस पर मुझे बड़ी दया आती है." यह सुन योगी बोला, ऊँः इसमें किसकी दया और किसका दुःख? और इसमें शोक ही क्या है? यह तो उसकी निरी मूर्खता ही कही जायगी. धर्मशालामें आराम करनेको उतरे हुए पथिक यदि आराम करके थोड़ी देरमें या रात बीतने पर, अपने अपने रास्ते चले जायँ तो कौन मूर्ख होगा जो उनका शोक करे? वह सब तो क्षण भरके लिए ही एकत्र हुए थे. उनमें जो एकत्र होनेके समय परस्पर प्रेम होता है, वह भी क्षण भरका ही है. उनके वियोगसे किस मूर्खको शोक होगा? यह तो बिलकुल अज्ञानी भी समझ सकता है कि पथिकोंका समागम क्षणिक ही है और उसके लिए उनके वियोगसे सहज ही शोक होना योग्य नहीं है. राज बाला! तूने इसमें कौनसी विचित्र बात मुझसे कही?"

वनवासी योगीकी यह बात सुन कर, राजपुत्रीने कहा; "महाराज इसी तरह आपने जो मेरे भाईका मरण समाचार कहा, उसमें आश्चर्य या शोक करनेकी कौनसी बात है ? जैसे धर्मशालाका सम्मिलन-स्नेह-प्रेम-ममता-अर्थ-लाभ है, वैसे ही इस संसारका सम्मिलन है. जैसे वियोग होनेसे उस पथिकका शोक करना व्यर्थ है, वैसेही इस लोकके सगासंबंधी जनोंके वियोगका शोक करना भी निरर्थक है. जैसे उस पथिकका समागम क्षणिक है, वैसे ही इस लोकके संबंधी जनोंका समागम भी क्षणिकही है. यह जगत एक बड़ा पथिकाश्रम अथवा पथिकोंके विश्राम करनेकी धर्मशाला है, और ये सब मनुष्यादिक प्राणी उस जगतरूप धर्मशालामें रातको विश्राम करनेवाले पथिक हैं. उनमें कोई कहींसे तो कोई कहींसे आकर यहाँपर एकत्र होते हैं, अर्थात् अपने अपने किए हुए भले बुरे अनेक कर्मोंके अनुसार भिन्न २ योनियों द्वारा वह संसारमें जन्म लेते हैं, और जैसे सवेरा होते ही पथिक अपने अपने रास्ते चले जाते हैं, वैसे ही इस संसाररूप धर्मशालामें उतरे हुए पथिक-जीव अपने अपने किए हुए कर्म भोग कर, स्थिरकी हुई आयु पूर्ण होते ही संसाररूप धर्मशालाको छोड़ कर झटपट चले जाते हैं, उसमें क्या आश्चर्य ? और उसमें किसका शोक ? महाराज ! इसी तरह यह मेरा भाई, मेरा सारा परिवार, तुम, मैं और ये प्राणिमात्र सब, इस असार संसारकी धर्मशालामें उतरे हुए पथिक हैं और समय पूरा होते ही अपने अपने रास्ते चले जानेवाले हैं, तो उसमें हम किसका शोक करें ? विश्रामके लिए एक वृक्ष पर आ कर रातको बैठे हुए अनेक पक्षी प्रभात होते ही अपने अपने रास्ते उड़ जाते हैं, उनमें कौन किसका शोक करे ?" ऐसे उत्तरसे अत्यन्त प्रसन्न हुए योगिराज, उस राजपुत्री मोहजितासे उसके भाईका कुशल-समाचार कह कर, वहाँसे मोहजिताके पिताके पास गये और उसे भी वही अशुभ समाचार सुनाया ! तब राजाने उनका आदर कर, अत्यन्त विनयपूर्वक इस तरह कहा:—

संसार खेतीके समान है.

राजा बोला; "महाराज ! इस जगतरूप कृषिकर्मको* देखनेसे आप अविद्याके योग या मोहांधपनके प्रतापसे, अज्ञान मालूम होते हो. उष्णकालके असह्य तापसे तप्त हुई पृथ्वीको वर्षा होते ही कृषक† अच्छी तरह जोत कर नर्म करता

---

* खेती. † किसान, खेती करनेवाला.

है और फिर उसमें अपने इच्छानुसार अन्न बोता है. कुछ समयमें वह बोया हुआ बीज अंकुररूपसे ऊग निकलता है और धीरे धीरे बढ़ता है. फिर बोये हुएमेंसे कोई निरर्थक भी जाता है, अर्थात् नहीं ऊगता. अब ऊग कर बढ़े हुए बीज, पहले अंकुररूप फिर सुईरूप इस तरह अपना रूप क्रम क्रमसे बदलते बदलते वृक्षरूप दीखते हैं. वृक्ष बरसातके पानी और सूर्यकी धूपसे बड़ा होता है, तब वह हल खुर्पी या दँतरीसे नर्म किया जाता है. नर्म करते समय बहुतसे वृक्ष समूल उखड़ जाते हैं जो फिरसे अच्छे या बड़े न होकर सूख जाते हैं और हरे रहनेवाले वृक्ष कुछ समय तक बढ़ कर फूलने फलनेको तैयार होते हैं. पहले उनमें फूल आता है, फूल झड़ कर बीज कोशमें दूधसे भरे हुए कण उत्पन्न होते हैं, वह कण पक कर सूखने लगते हैं, उसी समय कृषक तुरंत हँसिया लेकर वृक्षोंको काटने लगता है. बस हो गया. कट कर जमीन पर पड़े हुए वृक्ष सूर्यकी गर्मीसे सूख कर मर जाते हैं और उनसे पैदा होनेवाले बीजकोशके कण (बीज) उनकी संतति रूपसे रह जाते हैं. वह भी प्राणियों अथवा मनुष्यों द्वारा भक्षण किए जाते हैं और ऐसा करने पर भी जो बच कर शेष रह जाते हैं वह आगामि ऋतुमें फिर बोनेके काम आते हैं. इस तरह बारंबार, ' पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननीजठरे शयनम्,' के अनुसार होता ही रहता है. पैदा हो कर—नष्ट होते हैं, जीते हैं और मरते हैं. इस तरह इस अन्न पैदा करनेवाले कृषककी खेतीका इतिहास है. इसी तरहकी एक दूसरी बड़ी खेती है, जो निरंतर हुआ ही करती है, बोई जाती है, ऊगती है, बढ़ती है, फूलती है, फलती है, मुर्झाती है, काटी जाती है, नष्ट होती है, इस तरह अविद्या रहित जन देखता है—और विद्या रहितको उसमें शोक मोह होता है. यह संसार खेतीरूप है, उसमें वासना देहरूप बीज, मातारूप प्रकृति या पृथ्वीमें बोया जाता है; उसमेंसे जन्मरूपसे ऊगता है और स्तनपान भोजनादिरूप वर्षासे बढ़ता है; उसमें बालकको होनेवाली शीतला, चेचक, खाँसी इत्यादि रोगरूप हल, खुर्पी या दँतरी द्वारा वह नींदा जाता है—निंदाईके समय बालकरूप अनेक पौधे, मर भी जाते हैं, परन्तु उनमेंसे बचे हुए आगे बढ़ कर, अंतमें संसार (गृहस्थाश्रम) में पड़ते हैं, फलते हैं और जैसे पके हुए पेड़ोंकी कटनीकी जाती है, वैसे ही ये मनुष्यरूप पेड़ भी अवस्था पूर्ण होने पर कटनीका

समय आनेसे, अनेक रोगादिक हँसियों द्वारा कट कर नष्ट हो जाते हैं. वस होगया. ये गये और इनके पीछे प्रजारूप रहनेवाले फलोंसे फिर नई खेती उपजती और नाश होती है. यह नित्यका क्रम है. यह मेरा पुत्र, यह मेरा सारा कुटुम्ब, तुम मैं और प्राणी मात्र इस संसार खेतीके वृक्ष हैं. इस लिए कालरूप कृषक एक वार हमारी कटनी अवश्य करेगा, तो फिर उसमें किसके लिए किसको खेद करना शेष है ? कोई अभी तो कोई देरसे, परन्तु कालके दाँतोंकी वलि होगा ही. इस विश्वमें रहनेवाले प्राणी और पदार्थ, उस कृषिकार आनन्दघन आत्मासे पलता, उत्पन्न होता, उत्पन्न होनेके बाद उस आनन्दघन आत्मासे ही इस स्थितिको प्राप्त होता है, अर्थात् संसाररूप खेतीके फलोंका लाभ लेकर उसमें विचरण करता है, और अन्तमें आनन्दस्वरूप श्री महेश्वर-परमात्मा, परब्रह्ममें लय होता है, अर्थात् यह परमात्माकी कटनीमें कट भी जाता है. तो जिसने पाला, पोपा, रक्षाकी उसीने काट लिया, उसमें शोक क्यों करना चाहिए ? शोक होनेका कारण इतना ही है कि बुलबुलेके समान इस संसारके सुखका स्वाद प्राणियोंकी जीभमें खूब लगा है और इसीसे क्षणिक विषय सुखके स्वादमें आसक्ति होनेसे सब सुखोंका धाम, वह इस संसारको ही मान बैठते हैं. और इससे उसके नाशसे मोहवश होकर शोक करते हैं. हे जगमोहिस ! तुमको क्या यह कौतुक पूर्ण नहीं दीखता है ?

जगत् घटमालके समान है.

यह सुन योगिराज सन्तुष्ट हो, उसके पुत्रकी कुशलता बतलाकर वहाँसे मोहजितकी माताके पास गये और उसे भी इसी तरह अशुभ समाचार सुनाया. तब उसने आदरपूर्वक विनयसे कहा; " योगीन्द्र ! आपने इसमें नयी वात क्या कही ? आप जानते ही होंगे-आपने देखा ही होगा कि, कुएँसे पानी निकालनेकी घटमाल, जिसे रहँट कहते हैं, कैसी होती है ? एक फिरते हुए रहँट पर मिट्टीके सैकड़ों घड़ोंकी (या लोटोंकी) माला पड़ी रहती है. वह चक्रकी गतिसे फिरती है. वह माला कुएँके पानी तक पहुँच कर फिरती है, तब उसमें गुँथे हुए घड़े एक बाजूसे औंधे मुँह नीचे उतरते हैं, वह पानीमें जाकर पानीसे भरजाते और दूसरी बाजूसे सीधे मुँह ऊपर आकर खाली होजाते हैं, और फिर भी औंधे मुँह नीचे उतर कर

भरते और ऊपर आकर खाली होजाते हैं. इस तरह उनका क्रम जारी ही रहता है. नीचे जाते हैं, ऊपर आते हैं, भरजाते हैं, खाली होजाते हैं, इस तरह क्रमानुसार भरना-निकलना हुआ ही करता है और जैसे इसमें आश्चर्य नहीं है, उसी तरह यह जगत भी एक घटमाल है. उसमें वारंवार प्राणियोंका एक देहसे दूसरी देहमें जन्ममरण रूप-भरना निकला हुआ ही करता है. स्त्री गर्भवती होती है, प्रसव करती है, फिर गर्भणी होती है और प्रसव करती है. फिर पैदा हुआ बालक जीये या मरे, वह उसके भाग्याधीन है. परन्तु भरना निकलना हुआ ही करता है. एक छोटे कीटसे ब्रह्मदेवपर्यंत सब प्राणी, और यह सारा संसार इसी नियमानुसार जन्मता मरता है, तो फिर उस (जगत) में तो तुम, मैं और मेरा पुत्र आदि सभी आगये. घटमालका जो घड़ा कुएँसे पानी भर कर चक्र द्वारा ऊपर आता है वह तो खाली होगा ही. उसी तरह इस जगतरूप घटमालका (प्राणीरूप) घड़ा भी यदि उसका (कालरूप) चक्र ऊपर आकर (आयुष्य पूर्ण होनेपर) खाली होते ही-मरणको प्राप्त हो, तो उसमें ज्ञानीको क्या आश्चर्य है ? महाराज ! हम सबकी यही दशा है, परन्तु उस घटमालके किसी घड़ाकी मालासे बँधी हुई डोर कदाचित् टूट या छूट जाय तो वह घड़ा मालमेंसे टपसे छूट कर, अगाध जलमें निमग्न हो जाता है और फिर उसके भरने निकलेका अवसर-फेरा नहीं आता. उसी तरह इस जगत घटमालामेंसे जिस घड़ेकी (जिस प्राणीकी) भववासनारूप डोर टूट जाती है, वह घड़ा (प्राणी) परमानन्दरूप, महा अगाध जलमें निमग्न होकर अचल सुख भोगता है-यही मुक्त जीव है और उस भावना-रूप डोरके जीर्ण होकर आप ही आप टूट जानेका सबसे सुगम उपाय यही है कि, श्रीहरिके चरणोंका अनन्य आश्रय हो. योगिराज ! हम इतना जानते हुए भी, उस भरने और खाली होनेवाले नित्यके दुःखसे छूटनेका उपाय करना छोड़ कर, उनमेंसे भरने निकलनेवालोंकी मिथ्या चिन्ता कब तक करें ? आप प्रभुको भजो—वासना तजो और सारग्राही बनो, बस जिस लिए आपको खेद होता है, वह मिट जायगा."

मरण, केवल रूपान्तर है.

ऐसा उत्तर सुन, विस्मित हुए योगिराज मोहजितकी कुशलता बतला कर, वहाँसे मोहजितके एक अत्यन्त प्रियमित्रके पास गये. वह मित्र

उस योगीके मुँहसे मोहजितका मरणवृत्त सुनते ही बोला; "अहो! क्या मेरा मित्र, मुझसे मिले विना ही मुझे छोड़ कर चला गया? होगा, इसमें वह पराधीन था, इस लिए उसका दोष नहीं है. परन्तु वहाँ वह मेरी प्रतीक्षा करता होगा, मैं भी कुछ देरमें उससे वहाँ जा मिलूँगा." यह सुन योगीने कहा; "यह तुम क्या बोले? वह अब कहाँ होगा या तुमसे मिलेगा? वह तो मृत्युको प्राप्त हुआ—उसका आत्मा देह त्याग कर चला गया. अब उसके मिलनेकी क्या आशा है.?" मोहजितका मित्र बोला; "आप योगी होकर भी मुझसे ऐसा प्रश्न करते हो, यह विपरीताभास—मोहान्धपनका प्रश्न है. आप तो योगी हैं और योगमार्ग इस तरहकी गुह्य—अदृश्य—पारलौकिक वस्तुओंके जाननेका साधनरूप है, तो भी आप चाहे जिस कारणसे पूछते हों, उसे सुनें. मरण किसको है? मरण अर्थात् क्या? इस देह और आत्माका दूधपानीके समान दृढ़ स्नेह-संबंध है, वह दूर होकर उनका वियोग होना ही यहाँ मरण माना जाता है. परन्तु मृत्यु होना, अर्थात् समूल नाश होना, ऐसा मानना, क्या संसारी लोगोंकी अन्धता नहीं है? अरे यह अविद्याका प्रताप है? देहमें अदृश्यरूपसे व्याप्त हुआ आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है, क्या सत्य ही उसकी मृत्यु होती है? पंचतत्वोंका अविनाशीपन, अज्ञानताके सिवा सत्य कैसे माना जायगा? यथार्थमें देखते इस जगतकी किसी भी वस्तुका नाश होता ही नहीं, केवल रूपान्तर या स्थानान्तर ही होता है. परन्तु वह अज्ञानदृष्टि द्वारा मालूम न होनेसे नाशरूपसे जानी जाती है तो भी सत्य नहीं है. हमारा गिराया हुआ या वर्षासे पृथ्वीपर पड़ा हुआ पानी सूख जाता है, ऐसी दशामें उसका नाश होगया कहें तो क्या यह असत्य नहीं है? जैसे वह मिथ्या भासमान है, उसी तरह मृत्यु भी है. यह पानी तो बिलकुल सूक्ष्म आँखोंसे भी न दीखे इस तरह वाष्परूप होकर सूर्यकी गर्मीसे आकाशमें—मेघ मंडलमें चला जाता है, फिर वह समय आनेपर वृष्टिरूप-बादल होकर पृथ्वीपर गिरता है. इसी तरह जगतकी प्रत्येक वस्तुका रूपान्तर ही होता है, परन्तु नाश कभी नहीं होता. जैसे ये सारी चीजें रूपान्तरके अधीन हैं वैसे ही मेरे मित्रने भी इस मांसादिके बने हुए मलमय शरीरको छोड़ कर अपने किए हुए कर्मोंके अनुसार किसी उत्तम तेजस्वी देहको धारण किया होगा, और उस पवित्र स्वर्गीय भूमिमें सुखसे रह कर मेरे कल्याणकी कामना करता होगा. इस लिए योगि-

राज ! इस संसारमें मरना और जन्म लेना सिर्फ जीवन रूपान्तर ही है. जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़ कर दूसरे नये पहरता है, वैसे ही आत्मा एक जीर्ण शरीरका त्याग कर दूसरा नया शरीर धारण करता है, इसीको लोग मरण और जन्म कहते हैं. परन्तु आत्मा तो कभी मरता ही नहीं. वह तो परम सुखरूप सच्चिदानन्द अभेद्य अच्छेद्य और सर्वथा अविनाशी है. जैसे सूर्य मंडलमें स्वभावसे ही प्रकाश और जलमें स्वाभाविकही शीतलता रहती है, वैसेही आत्माका भी स्वभाव नित्य निर्मल सच्चिदानन्द है. उसका मरना जीना क्या हो ? इस लिए योगिन् ! आपके कथनानुसार यदि मेरे प्रिय मित्रने पंचतत्वसे वने हुए शरीरका त्याग किया होगा, तो वह परलोकमें दिव्य देह धारणकरके रहेगा और मैं जाऊँगा तो वह मुझसे अवश्यही मिलेगा. "

संसार चक्री.

इस तरह मोहजितके सारे कुटुम्बकी योगीद्वारा अत्यन्त युक्तपूर्वक परीक्षा होनेपर भी, उनके अशुभ समाचार या अनेक प्रकारके मोहमयं उपदेशसे कोई मनुष्य शोकाविष्ट या मोहग्रस्त नहीं हुआ, इससे वहुत विस्मित हो कर, वह सबसे मोहजितकी प्रसन्नता बतलाकर, योगवलद्वारा क्षणभरमें वहाँसे अपने आश्रममें आ पहुँचे. वहाँ राजकुमार मोहजित उनकी मार्गप्रतीक्षा करते बैठा था. उनको देखते ही योगिराज एकदम घवराए हुएके समान बोले; अरे राजपुत्र ! गजब हो गया. अरे ! सत्यानाश हो गया. तू तो यहाँ सुख चैनसे बैठा है, परन्तु तेरा घर तो नष्ट भ्रष्ट हो गया. अरे ! सारे विचार पड़े रह गये. हरे हरे ! लोग दौड़ धूप कर रहे हैं और जो वचे वह सब इस वनमें भाग आये हैं ! वह बिलकुल निराधार और वस्त्ररहित हो रहे हैं. कहते हैं कि, न जाने क्या ईश्वरी कोप हो गया कि जिससे अचानक महा अग्नि प्रकट हुआ और उसमें सारा नगर, सब प्रजा, राजभवन और राजा रानी आदि सारा राज परिवार जलकर भस्म हो गया. अभी बड़ा भय है कि वह बढ़ा हुआ प्रलयकारक अग्नि सारे नगरको भस्म करके, इस वनका भी भक्षण करनेको आयगा. हरे हरे ! यह कैसी कुदशा है. कितना दुःख है. उस महा अग्निमें जलते हुए उनको कितना बड़ा संताप हुआ होगा ? उन सबसे भी मुझे तेरे लिए वहुत दुःख होता है. तू अकेला हो गया. तू अकुटुम्बी हो

गया? तेरे माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, बहन परिवार और, धनादि सब नष्ट हो गए. तेरी सब दिशाएँ पलभरमें शून्य हो गई. प्रारब्धकी कैसी गति है.' इतना कह कर योगी बहुत उदास मुँहसे खड़े रहे पर इनके मुखसे महाखेदकारक समाचार सुनने पर भी उस राजपुत्र मोहजितको जरा शोक, मोह या आश्चर्य नहीं हुआ और वह बड़े शान्त भावसे बोला:—

'योगिराज! आप इतनी बड़ी खटपट व्यर्थ करते हैं. इसमें कौनसी घटना आश्चर्य कारक दीखती है, कि जिसके लिए आप शोक करते हैं? यह खेद मोह और भ्रम क्या है? आप किसके लिए इतनी बड़ी चिन्ता करते हैं? मुझे मेरी चिन्ता नहीं है पर तुम इतने उदास क्यों हो गये हो? उनका नाश हुआ, इसमें क्या नवीनता या अघटित घटना घटी कि जिसके कारण तुम विस्मित और चिन्तातुर हो रहे हो? आप महात्मा और योग मार्गावलंबी हो कर भी, इस संसार चक्कीसे अनभिज्ञ हो, यही आश्चर्य है. पहले आपसे एक लौकिक वार्ता कहता हूँ, उसपर विचार कर देखो और फिर खेद करो.

प्राचीन कालमें किसी नगरमें कोई महात्मा हरिनाम स्मरण करते हुए निरीह (इच्छारहित) विचरण करता था. इतनेमें एक गलीसे हो कर वह किसी महल्लेमें जा पहुँचा. वहाँ एक घरसे उसको घररर घररर शब्द सुन पड़ा. यह क्या होता है इसे जाननेके लिए वह कान लगा कर खड़ा रहा तो उसको मालूम हुआ कि, पासके घरमें एक स्त्री अकेले चक्की पीस रही है, उसीका यह शब्द है. वह स्त्री अपनी बाँई दाहिनी दोनों बाजूमें गेहूँसे भरी दौरी[1] रख कर पीसती थी. जब वह दाहिने हाथसे पीसते थक जाती तो बाएँ और बाएँसे थकती तो दाहिनेसे चक्की चलायेही जाती थी और जो हाथ खाली रहता उससे उस दिशामें रखी हुई दौरीसे गेहूँ लेकर चक्कीमें डालती जाती थी. ऐसा देख कर वह संन्त महात्मा एकदम उदास हो गया और जोरसे रोने लगा. उसको रास्तेमें खड़े रोते देख कर आने जानेवाले सैकड़ों आदमी विस्मित होकर वहाँ एकत्र हो गये और उससे रोनेका कारण पूछने लगे, परन्तु वह न किसी तरह चुप होता, और न किसीको उत्तर ही देता था. यह देख कर लोगोंको और भी आश्चर्य हुआ. चारो ओरसे इस योगीको देखनेके लिए हजारों मनुष्य

---

१ बाँसकी बनी हुई तसलेके आकारकी टोकरी.

एकत्र होगये. प्रत्येक उसके आगे आ आ कर, पूछने लगे कि भाई आपको क्या दुःख है जिससे आप इतना रो रहे हैं? उन्हें कुछ भी उत्तर न दे कर वह रोता ही रहा और ऐसा करते बहुत समय बीतगया, इतनेमें एक दंडधारी चतुर्थाश्रमी[1] "श्रीमन्नारायण, नारायण, नारायण!" ध्वनि करते हुए वहाँ आ पहुँचा. हजारों लोगोंकी भीड़से हो कर वह उस सन्त महात्माके पास आ खड़ा हुआ और उसके रोनेका कारण पूछने लगा. किसी रोते हुए बालकको चुप करनेके लिए जैसे सैकड़ों स्त्रियाँ अनेक उपाय करतीं, तो भी वह चुप नहीं होता परंतु जब उसके मनोभावको जाननेवाली उसकी माता आ कर उसे गोदमें ले लेती और दूध पिलाती है, तो वह तुरंत ही चुप हो जाता है, उसी तरह इस महानुभाव दंडी स्वामीको देखते ही उसने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और तुरंत चुप हो कर, अपने रोनेका कारण बतलाया. वह बोला, 'महाराज! ये हजारों लोग खड़े हैं सही; परन्तु उनमेंसे मैं अपनी बात किससे कहूँ? इनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो मेरी बात समझ सके. कहूँ तो मेरा कहना व्यर्थ जाय, परन्तु जब आप सब रहस्यके ज्ञाता प्राप्त हुए हैं तो मैं कहूँगा. कृपानाथ! यह बाई बहुत देरसे गेहूँ पीस रही है, इसकी संहारकारिणी क्रिया देख मुझे उसीके समान उस बड़ी चक्कीकी महाप्रलयकारिणी क्रिया याद आती है और उसके भीतर दब कर पिस जानेवाले प्राणियों पर अतिशय करुणा और शोक होनेसे मुझे रुलाई भी आती है.'

यह सुनते ही दंडी स्वामीने उस संतको अतिशय धन्यवाद दे कर हृदयसे लगा लिया और खड़े हुए लोगोंसे बिलकुल सादगीसे कहा; 'लोगो! इन संत महात्माकी बड़ाईका मैं क्या वर्णन करूँ? अहा! इनका हृदय कैसा दयालु है! इनकी बुद्धि कैसी परोपकारिणी है! अहो! ऐसे महात्मा जगतके कल्याणके लिए ही निरंतर जीवन धारण करते हैं! हम सबों पर इनका कितना बड़ा उपकार हुआ है और इनने हमें कैसा अमूल्य उपदेश दिया है!! एक विचित्र—विपरीत क्रिया देख कर इन्हें रुलाई आती है. वह स्त्री कुछ पीस रही है, यही यह विपरीत क्रिया है. लौकिक रीतिसे देखने पर उसमें हमें कुछ भी आश्चर्यकारक वा हृदयद्रावक नहीं दीखेगा, परन्तु

---

१ अन्तिम आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों अवस्थाएँ अनुभव कर चौथी संन्यस्त अवस्थाको प्राप्त हुआ संन्यासी.

उसे अवलोकन कर—उसमें हमें कुछ परमार्थ बुद्धि काममें लानी चाहिए. चक्कीकी क्रिया तो इनमेंसे किसीको अज्ञात नहीं है, परन्तु यह चक्की सज्ञान और अज्ञान दोनों दृष्टिवाले जनोंको उदाहरण रूप है. किसी मनुष्यको पहचाननेके लिए जैसे उसका ज्योंका त्यों चित्र उतारा गया हो, वैसे ही इस चक्कीके समान ही वास्तविक संहार करनेवाली विचित्र चक्की एक दूसरी ही है. वह बहुत बड़ी है, उसकी क्रिया महाभयंकर है. इस कृत्रिम चक्कीमें जितने सामान—साधन—पदार्थ चाहिए, उतने ही उस चक्कीमें भी हैं, परन्तु वे बहुत विचित्र हैं. पहली चक्कीमें नीचे और ऊपर पत्थरके दो सिल हैं, उनके बदले उस महा चक्कीमें देश[1] तथा कालके बने हुए दो सिल हैं. जगत चक्कीके नीचेवाले सिल पर ऊपरका सिल जिस आधारसे फिरता है उस कील रूपसे, इस जगतको धारण करनेवाला ईश्वर स्वयम् है. समयके रात और दिन ये जो दो विभाग हैं उस रूपसे उस चक्कीके दो गाले हैं और दोनों संध्यारूप उन गालोंमें आड़ी रहनेवाली मानी है, जो ईश्वररूप कील पर फिराकरती है. ईश्वरी सत्तारूप उस चक्कीकी वह दृढ़ मूठ है, जिसे जोरसे पकड़कर चक्की चलानेवाली स्त्री, इस जगतका क्षय करनेवाली मृत्युदेवी है. वह अपनी दोनों बाजूमें पड़े हुए भवरूप वर्तनमें[2] भरे हुए जगतके सब प्राणीरूप अन्नको, मुट्ठीमुट्ठी ले कर उन गालोंमें डालती जाती है. कहो भाइयो, इस तरहसे फिरती हुई चक्कीमें डाले हुए (प्राणीरूप) अन्नकी क्या दशा होती है ? नष्ट होना ! पिस कर आटा बनना ! समूल नाश हो जाना ! इसके सिवा दूसरा क्या देखनेमें आता है ? इस तरह वह संसाररूप महाचक्की निरंतर फिरा ही करती है. उसको फिरानेवाली मृत्यु देवी क्षणभर भी विश्राम नहीं लेती ! नित्य इस जगतके अनेक जीव उसमें ओयरे (डाले) जाते और नाश हुआ करते हैं. अहो ! यह क्रिया कितनी त्रासदायक और भयंकर है. यह क्रिया बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे परमार्थ बुद्धिवाले और सब जीवोंके हितकी इच्छा करनेवाले महात्मा प्रत्यक्ष देखते हैं. इससे उनके दयापूर्ण हृदयमें, उन जीवोंके लिए बड़ी दया पैदा होती है. जो विषयी कूपमंडूककी तरह जगतको ही सब सुखका स्थान मान बैठे हैं, उनके लिए उन्हें (महात्माओंको) खेद भी होता है और जब यह बात वे

---

१ देश अर्थात् पृथ्वी और काल अर्थात् समय अथवा समयके बतलानेवाले, समयका प्रमाण बतलानेवाले आकाशमें फिरते हुए सूर्यादि मंडल. २ संसाररूप बर्तनमें.

किसीसे नहीं बतला सकते, वा बतलानेपर भी जब कोई नहीं सुनता, तो उनको बहुत दुःख होता है और इससे वे अपना हृदय हल्का करनेके लिए रो पड़ते या मौन धारण कर एकान्त स्थानमें जा बसते हैं. इस संत महात्माको भी इस विषयमें हमारे ऊपर अपार दया आनेसे रुलाई आई है. यह कहते हैं कि, "अरे ये सब प्राणी कैसे अज्ञान सागरमें डूबे हैं ? इस कालरूपचक्कीके गालोंमें ओयरे (डाले) जानेपर भी ये बचनेका उपाय क्यों नहीं करते ? क्या ये संसार चक्कीका पराक्रम देख कर भी अंधे हैं ? अरे, अरे ! ऐसे अज्ञानमें डूब कर क्या ये अंतमें नष्ट ही हो जायँगे ? ".

इतना कह कर वह दंडी स्वामी फिर बोला; 'अरे मनुष्य प्राणियो ! यह उपदेश अमूल्य है. इस संसार चक्कीके गालोंमें इस लोकके सब प्राणियोंके साथ तुम, मैं और ये महात्मादि सब डाले जा चुके हैं. यह चक्की बड़े सपाटेसे फिरती है. इसमें वह पिस गया, वह दब गया, वह नाशको प्राप्त हुआ, ऐसी चिन्ता ज्वालामें हम पड़े हुए हैं. इससे चेतो ! चेतो ! जितना चेत सको उतना चेतो ! बचनेका उपाय करो. आलस्य छोड़ दो. शीघ्रतासे निर्भय स्थान खोजो ! निर्भय स्थान कहाँ है ? ऐसी जाननेकी इच्छा हो तो उसके लिए यह सन्त महात्मा बारंबार हमें इस चक्कीका ही उदाहरण लेनेकी सूचना करते हैं. भीतर पड़े हुए सारे कणोंको पीस डालनेवाली चक्कीकी ऐसी नाशकारी क्रियामें भी एक और चमत्कार देखनेमें आता है. देखो, देखो, वह स्त्री अब पीस रही है, आटा निकालनेके लिए उसने चक्कीके पिलको ऊँचा किया है. देखो, ऐ अज्ञानी जीव देखो, मायामें लिपटे हुए आँखोंके होते भी अन्धे, क्षण भर अपनी आँखें खोल कर देखो ! उस चक्कीकी उपर्युक्त कीलके आसपास सैकड़ों दाने बिलकुल नोकतक एकत्र होगये हैं, चक्कीके इतनी देरतक बल भर फिरने पर भी उन्हें पीड़ा नहीं हुई, उनका नाश नहीं हुआ, मृत्यु नहीं हुई, और वे बचे हुए हैं. इसका कारण यही है कि कीलके आश्रयमें रहनेसे, उन्हें चक्कीका चक्र पीस नहीं सका. हे मनुष्यो ! ऐ पामर प्राणियो ! इस संसारचक्कीका कीलरूप कौन है ? परब्रह्म—परमात्मा—सचराचर व्यापी अविनाशी प्रभु ! विचार कर देखो ! उस महा चक्कीके गालोंमें डाले जानेवाले प्राणीरूप कणोंमेंसे, जो इस परब्रह्मरूप कीलका आश्रय किये हैं, वे नहीं पिसते. उनका रक्षण अवश्य ही होता है. इस संसाररूप चक्कीमें

ओयरे गये जीवोंके लिए यही अभय स्थान है ! इस लिए हे प्राणियो ! यदि कालके मुँहसे वचना हो, आत्माका कल्याण करना हो, तो सबके नियन्ता (स्वामी) परमात्माका आश्रय करो. उसीका स्मरण करो, उसीके बनाये हुए कल्याणकारक नियमोंका पालन करो. उसीके भक्त बनो और उसीके भक्तोंका संग करो. यदि तुम अपना तन, मन, धन उस परमात्माको ही अर्पण कर, हर तरहसे उसीके हो कर रहोगे तो तुम्हें ब्रह्मके दर्शन (साक्षात्कार) होंगे और उस ब्रह्मकी कृपा होगी तो कालका भी भय नहीं है. श्रुति (वेद) कहती है कि:—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन. जो परब्रह्मके आनन्द स्वरूपको जानता है वह कभी नहीं डरता और वही वचा, वही जिया, तथा उसीका मोक्ष हुआ जानो.' इतना कह कर सद्गुरुदेवकी जयध्वनि सहित वे दोनों महात्मा वहाँसे चले गये और उन सब लोगोंने उनके उपदेशसे परम कल्याण प्राप्त किया."

राजपुत्र मोहजीतने कहा; "योगिराज ! यह मेरा सारा परिवार, राजसभा, प्रजालोग, मैं और तुम, सब इस कालचक्रमें—संसारचक्कीके गालोंमें पड़े हुए हैं और समय आने पर सबको एक एक कर (अकेले ही) चले जाना है. इनमेंसे जो हरिरूप कीलका आश्रय लेगा वही निर्भय होगा. इस लिए इस संसारकी सारी अत्याभिलापा छोड़ आप पलभर कुछ भगवच्चर्चा कर, अपने साथ होनेवाले इस अलभ्य समागमको सफल करें."

इतना कह कर राजपुत्र मोहजीत चुप होरहा, उसके ऐसे निर्मोहपनसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुए उस योगी महात्माने अति प्रसन्नतासे लगातार उसे अनेक आशीर्वाद दिये और वह राजपुत्रके कुटुम्बकी भी परीक्षा ले आया था इस लिए वे सब बातें उसने राजपुत्रसे कह कर, उन सबकी प्रसन्नताका हाल सुनाया और उन्हें अनेक धन्यवाद देने लगा. पश्चात् वह राजपुत्र उसको प्रणाम कर अपने नगरकी ओर चला गया.

वटुक वामदेवके मुँहसे मोहजीतके परिवारका ऐसा विस्तृत और विचित्र इतिहास सुन कर, उसका पिता, राजा वरेप्सु और सभाके अन्य लोग चकित हो गये. फिर वटुकने कहा; "पिताजी ! जब इस तरह सारे कुटुंबका कुटुम्बही मोहजीत हो तो उनकी संगतिमें रहनेवाले मनुष्यको किसका मोह हो ?"

नवम बिन्दु

सत्संग माहात्म्य.

यदि संतं सेवति यद्यसंतं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥

महाभारत.

अर्थ—जैसे कपड़ा रंगके संगमें रंगके अधीन होता है वैसे ही मनुष्य यदि सत्पुरुषकी सेवा करता है तो सत्पुरुषके समान होता है, दुर्जनकी सेवा करता है तो उसके समान होता है; तपस्वीकी सेवा करता है तो तपस्वीके अधीन होता है और यदि चोरकी सेवा करता है तो चोरके अधीन होता है ।

क्षणभर मोहजीतकी सभाके समान वह सभा शान्त हो रही. वामदेवजीका पिता भी क्षणभर मौन हो रहा और उसे यह नहीं सूझा कि अब क्या उत्तर दूँ, परन्तु इतनेमें उसे स्मरण हुआ कि, "सत्संग सबनको सार" इसपरसे वह बोला; वत्स ! तेरे समान मोहजीत महात्माका संग हो तो इस अविद्यासे घिरे हुए जीव भी वैसे ही होजायँ. तेरे इस लघु-समागमसे भी इन सब श्रोताओंके अज्ञानका पर्दा समूल खुल गया है, तो फिर निरंतर समागम होनेसे तो शेषही क्या रहेगा ? सत्समागमका माहात्म्य बहुत बड़ा है; सत्पुरुषका समागम होनेसे जीवके सब पाप समूल नष्ट हो जाते हैं; सब दुःखोंका नाश होजाता और अखंड सुख प्राप्त होता है. प्राचीन समयमें एक बार सब ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महात्मा, संत पुरुष और देवादिकोंने एकत्र हो कर एक तुला[1] खड़ी की और उसमें सत्संगादि सार वस्तुओंकी तौल करने लगे. एक तुलामें सत्समागमका एक ही सुख रखा और दूसरी तुलामें दूसरे अर्थात् इस मृत्युलोकके सब सुख रखे. परंतु सत्संग सुखवाला

---

[1] तराजू.

पलड़ा जरा भी ऊँचा नहीं हुआ. यह देख उसके सामनेके पलड़ेमें मृत्युलोकके सिवा स्वर्ग लोकके भी सारे सुख रख दिये; तो भी सत्संगका पलड़ा तिलमात्र नहीं उठा; तब सबसे परम दुर्लभ अपवर्ग–मोक्षका सुख भी उन सुखोंके साथ रखा; तो भी वे सब सुख मिल कर सत्संगके सुखके बराबर नहीं हुए. यह देख देव, ऋषि आदि सब कोई बड़े आश्चर्यसे सत्समागमकी प्रशंसा करने लगे. इस लिए पुत्र! जिस सत्संगका ऐसा, प्रभाव है, उस सत्संगका हमें तू भी लाभ दे." यह सुन कर राजा वरेप्सु, उस वृद्ध ऋषिको प्रणाम कर बोले ऋषिवर! क्या कृपा कर मुझे समझाओगे कि सत्संगके इतना बड़ा होनेका क्या कारण है? तब ऋषि इस तरह बोला.

राजन्! जैसी शंका तुझे हुई, वैसी ही शंका वह तुला होनेके पीछे देवर्षि नारदको भी हुई थी. जब सब सुखोंसे सत्संग सुखकी तुला भारी हुई, तो मनमें बहुत विस्मित हो कर, नारद वीणानादसे हरिस्मरण करते विष्णुलोकको गए. भगवानके परम भक्त होनेसे नारद ऋषिको विना रोक टोक (निर्बाधित) विष्णु लोकमें जानेका अधिकार है. वहाँ जा नारदने भगवानको दंडवन्नमनपूर्वक प्रार्थना कर उनसे इस सत्संग सुखकी तुला संबंधी सब बातें निवेदन कीं और पूछा; "कृपानाथ! जगन्नियंता! सत्समागमका इतना बड़ा माहात्म्य किस तरह होगा?" तब विष्णुभगवान बोले; "देवर्षि! प्रियभक्त नारद! सत्संगका माहात्म्य ही अपार है. यह ऐसा है कि इसका वर्णन किसीसे भी नहीं हो सकता. सत्संग, परमसुखका मूल है और सब साधनोंका भी साधन है. यदि इसका माहात्म्य जाननेकी तेरी इच्छा हो तो भूलोकमें हरिद्वार नामके तीर्थमें एक तपस्वी ब्राह्मण रहता है उसके पास जा. वह तुझे सत्समागम माहात्म्य प्रत्यक्ष दिखायगा!"

सत्संग माहात्म्यसे चकित हुए नारद तुरंत भूलोकमें आये और भगवानके आदेशानुसार उस ब्राह्मणके पास गये. उस समय वह तापस अंत्यावस्थामें था और किसी ईश्वरभक्तके दर्शनकी भारी लालसासे अपने आत्माको ग्रहण किये था. देवर्षि नारदको अपने सम्मुख आकर खड़े हुए देखते ही वह कल्याण! कल्याण! श्री हरिकी परम कृपा है! इस समय मुझे इस हरिभक्तरूप परम सत्पुरुषके दर्शन हुए!! 'अहो, हे ऋषिदेव! पधारो,

पधारो, मुझे पावन करो ! कृतकृत्य करो ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ और इस भूलोकको भी अंतिम प्रणाम करता हूँ.' ये बातें कहते हुए अचेत होगया और पलभरमें इस अनित्य देहका त्यागन कर सत्यलोकको चला गया. ! !

नारदजी तो ऐसा विलक्षण दृश्य देख बिलकुल चकित हो गये और शोच करने लगे कि; राम ! राम ! यह तो उलटा हुआ ! भगवानने यह भली हत्या ललाटमें, टीक दी ! सत्संगका माहात्म्य जानना तो किनारे रहा, यह ब्रह्महत्याका पाप कपालपर चढ़ा."

ऐसे विचारकी तरंगोंमें पड़े हुए नारदजी शीघ्रही विष्णुलोकमें जा कर, भगवानसे सारी बीती घटना कहने लगे. आपने कहा; "कृपानाथ! वह ब्राह्मण तो मुझको देखते ही मृत्युको प्राप्त हुआ, इसका क्या कारण है ? वह मृतक मुझसे सत्संगका माहात्म्य क्या कहता ? यह हुआ सो हुआ, परन्तु अब भला आप ही सत्संगका माहात्म्य कहो." भगवान बोले; "नारद, वहाँ जो चमत्कार हुआ उससे तू सत्संगका माहात्म्य यदि नहीं समझा, तो मृत्युलोकमें फिर जा, वहाँ यमुनाके तट पर एक गायसे रत्नके समान बछड़ा जन्मा है वह तुझको सत्संगका माहात्म्य बतलायगा." भगवानके ये वचन सुनते ही नारदजी संकेतके अनुसार तुरंत वीणानाद करते यमुना तट पर, भगवानकी बतलाई हुई गायके पास आये. उस गायका एक बहुत ही सुन्दर बछड़ा दौड़ रहा था. उस बछड़ेको नारदने पहँचान लिया कि भगवानका बतलाया हुआ बछड़ा यही है. वह हालहीका जन्मा हुआ था. उसे देख नारदजीने पूछा; "वत्स ! धेनुपुत्र ! तू प्रसन्न तो है?" ऐसा प्रश्न करते हुए उससे कुछ और पूछने लगे, इतनेमें एक कौतुक हुआ. नारदको देखते ही बछड़ेने तुरंत अपना दौड़ना छोड़ दिया और ऋषिकी तथा उसकी चार आँखें होते ही वह अपना सिर ऋषिके आगे झुका एकदम जमीन पर गिर पड़ा और थोड़ी देरमें पैर छटपटा कर ऋषिकी ओर स्थिर दृष्टि रख अपना पशु-देह छोड़, उर्ध्वलोकको चला गया ? हरे हरे ! अपने बछड़ेको तत्काल मरा हुआ देख कर गाय उसे सूँघने और चारों तरफ खूँदने लगी तथा वारंवार ऋषिकी ओर देख राँभने लगी और अपने सींगोंको नीचा करके ऋषिको मारने दौड़ी. ऐसा दृश्य देख ऋषि बिलकुल लज्जित हो गये और ज्यों त्यों कर

वहाँसे शीघ्र ही भागे. ऋषि मार्गमें विचार करने लगे कि, " सत्संगकी महिमा क्या ऐसी ही है ? वास्तवमें भगवान मेरी दिल्लगी करनेके लिए मुझे व्यर्थ चक्कर खिलाते हैं. बेचारी गाये विना बछड़ेकी हो गई और मेरे पेटमें एकाधिक सींग भोंक दी होती तो सत्संगका माहात्म्य सुना होता. उस बछड़ेके समान मैं भी पैर रगड़ते उसीके साथ चला जाता." ऐसा विचारते हुए वह विष्णुलोकमें जा पहुँचे! उनको आते देख भगवान बोल उठे; " क्यों नारद, घबराये मुँह क्यों हो ? क्या कुछ अशुभ हुआ है ?" "नारद बोले; बस, महाराज ! रहने दीजिए. अब बहुत हुआ. दो हत्याएँ मेरे सिर मढ़ीं और अब पूछते हो कि क्या कुछ अशुभ हुआ है ? आपने मुझे इस तरह पापमें क्यों डाला ? जो बेचारा बछड़ा आनन्दपूर्वक अपनी माताका दूध पीरहा था, वह मुझको देखते ही जमीन पर पछाड़ खा कर गिर पड़ा. वह भला मुझसे सत्संगका क्या माहात्म्य कहे ? एक ब्रह्महत्या और दूसरी गौबालहत्या माथे लगी. सत्संगका यही माहात्म्य हो तो तुम्हीं सुनो, और मुझे तो वह बतलाओ जो सत्य हो." तब भगवानने कहा; " अस्तु, हुआ सो हुआ; अब तू फिर एक वार भूलोकमें जा, वहाँ सरस्वतीके किनारे ब्रह्मारण्यमें एक वृक्षमें बसनेवाला एक पक्षी तुझे सत्संगका माहात्म्य बतायगा. "

नारदजी फिर निन्यानवेके फेरमें पड़े! वैकुंठसे चल कर संकेतानुसार वह ब्रह्मारण्यमें गये. नदी तटके एक पुराने खोखले और बड़े वृक्षकी पोलमें एक पक्षी खोंतेसे मुँह निकाल कर इस तरह बैठा था मानो नारदके आनेकी ही बाट देख रहा हो. थोड़ी देर तक वह पक्षी और नारदजी एक दूसरेकी ओर देखते रहे और मानो स्वाभाविक मैत्री करते हों इस तरह आँखें नचाते रहे. फिर विचार कर नारदने उससे पूछा; " पक्षी, भगवानकी आज्ञासे तुझसे सत्संगका माहात्म्य पूछता हूँ, उसे क्या तू कहेगा ? " ' भगवानकी आज्ञासे ' इतना शब्द उस पक्षीके कानमें पड़ते ही, वह एकदम खोंतेसे निकल धब्बसे नारदजीके पैरों पर गिरा और फड़ फड़ा कर कुछ देरमें मर गया ! ' अररर ! यह क्या तमाशा है ? यह तीसरी हत्या शिर लगतेही नारद बहुत ही दुःखित हुए और विचार करने लगे कि मैं क्या कालरूप हूँ या ऐसे पाप समेटनेके लिए ही भगवान मुझे जहाँ तहाँ भटकाते हैं; ' फिर उन्होंने निश्चय किया

कि इसका निर्णय भगवानके श्रीमुखसे ही कराऊँगा. ऐसा विचार कर वह घबराये हुए फिर वैकुण्ठकी ओर गये और वहाँ जाकर, बीती हुई घटना प्रभुसे निवेदन कर बोले; "कृपा निधान, ! ऐसे ऐसे कारणोंमें डाल कर आप मुझे क्या अधमाईके अधीन करनेकी इच्छा करते हैं ? वह पक्षी सत्संगका माहात्म्य क्या कहे ? वह तो मुझे देखते ही, तापस और गौवालके समान, प्राण छोड़ कर चलता हुआ ! परम प्रभु ! कहो सत्संगका क्या यही माहात्म्य है ? "

यह सुन भगवान् मुस्कुरा कर बोले; "प्रिय भक्त नारद ! अभी तुझे सत्संगका माहात्म्य सुनना क्या शेष ही है ? क्या तू अभी भी सत्संगका माहात्म्य नहीं समझ सका ? अरे, यही सत्संगका माहात्म्य है. ब्राह्मण, बछड़ा और पक्षी तीनोंने प्रत्यक्ष बतला दिया कि देखो, सत्संगके होनेसे जन्म मरणरूप अपार भव दुःखसे मुक्त हो कर पुनीत लोकमें जा बसते हैं. तो भी क्या अभी तू सत्संगका माहात्म्य नहीं समझ सका ? हरे ! हरे ! "

इतना कहने पर भी मालूम हुआ कि नारदने सत्संगका माहात्म्य नहीं समझा. तब भगवान फिर भी स्पष्टरूपसे कहने लगे; "नारद ! तू अब श्रीमच्छापुरीमें जा. वहाँके राजाके घर अभी ही पुत्र पैदा हुआ है, वह तुझे सत्संगका माहात्म्य यथार्थ स्वरूपमें बतायगा; और तेरा वहाँका फेरा व्यर्थ नहीं होगा." वाह महाराज ! बताया तो ठीक ! खूब चतुराई की ! आपने यह ऐसा सरल उपाय बताया है कि इसमें तो मेरा मतलब ही हो जायगा. पहला तो बेचारा मृत्युकी नोक पर स्थित निर्जन स्थानमें रहनेवाला ब्राह्मण तापस था और दूसरे दो तो पशु थे. उनके यहाँ तो कोई ऐसा भी न था जो मेरे कृत्यके विषय मुझसे कुछ पूछे परन्तु राजाके यहाँ यदि सत्संगका वैसा ही माहात्म्य निकला तो मेरी बलि ही समझो; जीते तो क्या लौटूँगा ? नहीं महाराज ! मुझे अब कुछ समझना नहीं है; आपका स्वभाव विश्वास करने योग्य नहीं मालूम होता. कहीं बकरा निकालते ऊँट घुस जाय और नवका तेरा ब्यौंत जाय अर्थात् भला करते बुरा हो जाय, इस लिए ऐसी विडंबनामें कौन पड़े ? " नारदजीका ऐसा उत्तर सुन मुस्कुराते हुए भगवानने फिर समझा कर एक बार जाने कहा. श्रीभगवानकी आज्ञा होते ही नारदजी

मंच्छापुरीमें आये और वीणाका नाद करते हुए राजसभामें गये. उस समय राजा वृद्धपनमें पुत्र रत्न प्राप्त करनेसे अलौकिक आनंदमें हिलोरें ले रहा था. उसी समय देवर्षि नारदका आगमन सुन कर वह परम प्रसन्न हुआ. देवर्षिके दर्शन होते ही आसनसे उठ कर उसने साष्टांग प्रणाम किया. फिर अर्घ्यपाद्यसे पूजन कर पूछा " अहा पुत्र ! परम भक्त ! साधु-पुरुषोंके भी दुःख दूर करने वाले ! आप भले पधारे ! इस सेवकको क्या आज्ञा है ? " राजाके ऐसे विनय युक्त वचन सुन कर ऋषि बोला; " साधु ! तेरा कल्याण हो ! मैंने सुना है कि तेरे यहाँ पुत्र रत्न पैदा हुआ है, वह महा भक्तजन है ! उसके दर्शनके लिए मैं यहाँ आया हूँ ! " नारदजीके ऐसे वचन सुन राजा, सभासदों सहित विस्मित हुआ कि नारदजीके समान महात्मा, जिनके दर्शनोंको अनेक जीव तरसते हैं मेरे पुत्रके दर्शनको कहाँसे आये ? अरे यह तो विपरीत बात है ! यह महदाश्चर्य है. फिर राजा पीछे और ऋषि आगे आगे अंतःपुरमें गये. रंगमहलमें राजपुत्र आनन्दसे किलकारी मारते हुए पैरका अंगूठा पी रहा था ! वह सोनेके पालनेमें पड़ा हुआ मानो कुछ चिंतवन करता हो इस तरह खेल रहा था. नारदने पुत्रको पालनेमें खेलते हुए देख नीचे झुक कर उसके कानमें, धड़कते हृदयसे कहा; " वत्स ! श्रीभगवा-नकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ तू मुझे सत्संगका माहात्म्य. " नारदजी इतने शब्द भी पूरे बोल न सके थे कि, इतनेहीमें तो वहाँ राजपुत्रकी आँखें लौट गई, वह पैर पटकने लगा, और उसके मुँहमें फेन आ गया. यह देख नारदजी चित्रवत् देखते ही रह गये. वह राजपुत्र पलभरमें इस अनित्य देहका त्यागन कर, परब्रह्म धाममें जा बसा !

यह सब घटना पलभरकी थी. उस कुमारकी मृत्यु होते ही राजा, दासी और सभ्य घबरा गये. राजा शान्त होने पर भी शोक वश हो गया और नारदजीसे कहने लगा; " देव ! यह क्या हुआ ? अंधेकी आँखों, पंगुके पैर और प्रजाके कल्याण रूप मेरे समान वृद्धको प्राप्त हुए इस कुमारको आपने क्या किया कि जिससे यह क्षणमात्रमें मृत्युको प्राप्त हुआ ? " नारदजी चकित हो गये और विचार करने लगें कि श्रीभगवानने मुझे कैसी बलामें डाल दिया है. कुछ देरतक तो वह बोल ही न सके. फिर विचार कर बोले; " राजा ! मैं निरपराधी हूँ. मैंने तो तेरे पुत्रसे

सत्संगका माहात्म्य पूछा था, इतनेहीमें ऐसी अचिन्त्य और तुझे शोक करानेवाली यह घटना घटी, यह बड़े दुःखका विषय है ! " परंतु यहाँ नारदजी जब राजासे इतनी बातें कररहे थे, तो इतनेमें राजाके पेटमें मरोड़ हुई और तुरंत ही मूर्छा खाकर वह भी मृत्युको प्राप्त हुआ. यह समाचार फैलते ही राजमहलमें हाहाकार मच गया. तुरंत ही राजाकी रानी, जो कुमारकी माता थी, वहाँ आई और ज्यों ही उसने श्री नारदको देखा त्यों हीं एकटक देखती ही रही और वहाँकी वहाँ ही शान्त पड़ गई. यह तीसरा चमत्कार हुआ ! फिर वहाँ खड़े हुए मंत्री और दूसरे कार्य-भारी भी श्री नारदको देखते ही परलोकको सिधारे. ऐसा दुर्घट प्रसंग देख नारदजी बिलकुल घबरा गये और यह सब देखकर लोगोंने यही माना कि यह देवर्षि नारद नहीं परन्तु कोई काल पुरुष है. इतनेमें नगरके लोग नारदको मारने दौड़े और अनेक तरहसे शाप देने लगे. नारदजी शोक और घबराहटके मारे नगरसे एकदम भागे. वह ऐसे भागे कि जब बिलकुल वैकुंठमें आगये तब साँस लेने पाये.

नारदजीका लज्जित स्वरूप देख, श्री भगवान समझ गये कि नारद अभी सत्संगका माहात्म्य नहीं जान सका, इससे जरा मुस्कुराये. श्री परमात्मा विष्णुके निकट आने पर नारदजी क्षण भर चुप रह उग्र क्रोधसे बोले; " वाह महाराज ! आपने खूब किया. मेरे सिर अनेक हत्याएँ थापनेका अच्छा उद्योग आरंभ किया है. यह क्या ? मैं जहाँ जाता हूँ वहाँ मुझको देखते ही मनुष्य टपटप और पटपट (धड़ा धड़) मरते जाते हैं. क्या सत्संगका यही माहात्म्य है ? यदि सत्संगका ऐसा ही माहात्म्य है तो अब मेरा भी खेल देखिए ! अब मैं आपके यहाँ ही सबसे सत्संगका माहात्म्य पूछूँगा ! लक्ष्मी, राधा और आपके सकल परिवारसे मैं सत्संगका माहात्म्य पूछूँगा ! फिर जो हो वह ठीक. " ऐसा कह कर नारदजी उठे और श्री भगवानके परिवारकी तरफ दौड़े, तब भगवानने विचार किया कि अब नारद अनर्थ करेगा, इससे उन्होंने नारदजीको रोका और कहा; " नारद, कहाँ चला ?" नारदने कहा; " बस, अब मैं वैकुंठमें ही सबसे सत्संगका माहात्म्य पूछूँगा. महाराज ! मुझे जाने दो." नारद ऐसा कह कर आगे चलते और भगवान प्रेम मुस-क्यानसे रोकते थे परंतु नारद किसी तरह भी पीछे नहीं फिरे. फिर

बड़ी कठिनाईसे नारदको शान्त कर, भगवान अपने आसनके पास ले आये और एक आसन पर बैठा कर कहा; "नारद ! तू इतना ज्ञानी होने पर भी आज क्यों भूलते हो ? क्या सत्संगका माहात्म्य तू आजतक भी नहीं समझ सका ?" नारदने कहा; "समझा, समझा. यही समझा कि मुझे देखते ही सब लोग धड़ा धड़ मरते हैं, यह सत्संगका माहात्म्य है या कुछ दूसरी बला ?" "भगवान, आज मुझे इस सबका यथार्थ कारण यदि नहीं बताओगे तो मैं सारे वैकुण्ठसे सत्संगका माहात्म्य पूछूँगा, और जो हो सो करूँगा." नारदके ऐसे वचन सुन कर भगवानने मुस्कुराते हुए कहा; "नारद ! पहले तू सत्संग शब्दके अर्थका विचार कर इसमें 'सत्' और 'संग' ये दो शब्द साथ हैं. सत् अर्थात् श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित, सत्य, सनातन, परिपूर्ण, अतियोग्य अथवा सर्वशक्तिमान, परमात्मतत्व; और उसका (उस परमात्मतत्वका) परायण हो वह भी 'सत्' शब्दसे जाना जाता है, भगवत्परायण पुरुषमें 'सत्' शब्दके सारे अर्थोंका समावेश होता है. वैसे पुरुष अथवा सत्पात्रका संग अर्थात् मिलाप होनेका नाम सत्संग है. जैसे अँधेरेमें बैठे हुए मनुष्यको दीपकरूप सत्पदार्थका संग होनेसे, तुरंत ही अंधकाररूप महदापत्ति (बड़ी बाधा) दूर हो जाती है वैसे ही सत्पुरुषका संग होने पर भवदुःखरूप महदापत्ति दूर हो जाती है. मैंने तुझे जहाँ जहाँ भेजा, वहाँ सब प्राणी पुण्यवान थे, तो भी किसी महत् अपराधके कारण ऐसी अधम (पक्षी आदिकी) योनियोंमें जन्म लेकर वासना—मायाका दुःख भोग रहे थे, वह, तुझ जैसे महान् सत्पुरुषका संग तो किनारे रहा, तेरे दर्शनमात्रसे ही सब पापोंसे मुक्त हो, परम पदको प्राप्त हुए. इस सत्संगका माहात्म्य क्या तू नहीं समझ सका ? अरे इस सत्समागमका परम लाभ, परमफल और भला क्या हो ? वत्स ! तू मेरा परम भक्त होनेसे, महा सत्पुरुष है और तेरा निमिष (लव) मात्र संग होनेसे उन प्राणियोंको, जन्म मरण दूर हो जानेका परम लाभ हुआ है, जो लाभ शतावधि साधन करनेसे भी उनको नहीं मिलता ! अरे ! ऐसी अधम योनियोंमें पड़े रहनेसे उन बेचारोंको श्रेष्ठ साधन ही कहाँसे मिल सकते ? ऐसी अधम योनिके भागी होनेसे तो उल्टा वे इससे भी अधिक अधमपनको प्राप्त होते; परंतु तेरे समान परम सद् भक्त संतका दृष्टि समागम—संग होते ही इस असार संसारसे पार हो गये." यह सुन निः-

शंक हुए देवर्षिवर्य नारदजी शान्तपनसे भगवानको प्रणामकर बोले; "भगवन्! आपकी माया कौन जान सकता है? मैं भूल गया, मैं यह गूढ़भाव नही समझ सका. यह मेरा अज्ञान है." फिर नारदजी हरि-नामका कीर्तन करते हुए वहाँसे ब्रह्मलोक चले गये.

इतनी कथा कह कर बटुकका पिता, बटुकको सम्बोधनकर बोला, सत्पुत्र, महात्मा वामदेव! इसी तरह तेरे सत्संगसे हम (मैं और तेरी माता) भी मोहरहित हो कर कल्याणको प्राप्त होंगे; इस लिए हम वृद्धोंपर दयाकर तू घर चल, तेरे विना जीवन धारण करनेको हम समर्थ नहीं हैं.

दशम बिन्दु

वासनाका नाश (हटाना)

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ पंचदशी
भोगौघवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं देहवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥ यो. वा.

अर्थ—मैं धर्मको जानता हूँ, परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती. मैं अधर्मको भी जानता हूँ परन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती. हृदयमें स्थित कोई देव मुझे जैसी प्रेरणा करता है वैसा मैं करता हूँ.

भोगके समूहकी वासना त्यागकर, तू देहवासना भी छोड़, फिर भाव और अभाव दोनों त्यागकर निर्विकल्प (सन्देह रहित) होकर सुखी हो.

इस तरहकी वातचीत और संवादमें ही समय पूरा होनेसे यज्ञ-सभा संबंधी सारा काम एक ओर पड़ा रह गया. फिर संध्या हुई, सभा तुरंत विसर्जनकर सब संध्यावंदनको गये. लोगोंको और राजाको, बटुक वामदेवके वचनामृत श्रवण करनेकी इतनी उत्कंठा थी कि, रातको भी उनके निवास स्थानमें मुमुक्षुओंकी भीड़ विना वुलाये उतनी ही एकत्र होती थीं और वह महात्मा, उनके लिए अनेक धार्मिक विषयोंपर व्याख्यान देते थे. जब कामसे अवकाश पाकर सब लौट आये, तब रातको पहले वरेप्सु महाराजने विनयकी कि, "गुरु महाराज ! आज्ञा हो तो एक प्रार्थना करूँ. आपके ये पिता जी, जो वृद्ध होने पर भी अतिशय पवित्र और आप पर अत्यन्त प्रेम करनेवाले हैं, इतना आग्रह करते हैं तो भी आप घर जानेसे क्यों इंकार करते हैं ? वह तो आपके आचरणसे विरुद्ध नहीं हैं और

आपको सन्मार्गसे भ्रष्ट करनेकी इच्छा भी नहीं करते. आप तो महापुरुष हैं और जलमें रहनेवाले कमलके समान अलिप्त हैं इससे संसारमें फँसनेका तो आपको जरा भी भय नहीं है. फिर आपके पिता सुज्ञ हैं इस लिए आपके ब्याहके लिए भी कोई सुलक्षणा और उत्तम कुलकी कन्या ढूँढेंगे तो भी आप घर जा कर संसारमें रहनेसे क्यों इंकार करते हैं." यह सुन वटुकने कहा; "राजा ! तू कहता है सो ठीक है, परन्तु संसारमें वास करनेसे मन विषयोंकी ओर फिरता है और इससे मनुष्य वारंवार चौरासीके फेरेमें फिरा करता है. श्री कृष्णने उद्धवसे उपदेश करते हुए कहा है कि 'वनं तु सात्विको वासः' वनका ही निवास सात्विक है, संसारका निवास नहीं. इसका मतलव यह है कि, एकान्तमें रहनेसे मन सब उपाधियोंसे मुक्त होता है और उसे किसी तरहकी तृष्णा होने नहीं पाती तथा ऐसे वितृष्ण (इच्छा रहित) मनका पुरुष, मुक्ति प्राप्त करनेको समर्थ हो सकता है. संसारमें रहनेसे, लोक, शास्त्र और देहकी वासनाका वल अधिक होनेसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता. इस लिए संसार बंधनसे मुक्त होनेकी इच्छा करनेवालेको चाहिए कि इन सव वासनाओंको छोड़ दे. जो इन वासनाओंसे मुक्त है, वही मुक्त है. शरीरमें जब तक जहर रहता है तव तक वह आरोग्य नहीं होता वैसे ही जव तक संसारकी वासना है, तव तक मुक्ति नहीं मिलती. यह संसार ही सब वासनाका मूल है, वासना विषयकी वृद्धि करती है और सांसारिक विषय वासनाको वढ़ाता है तथा उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होनेसे वह जीव जन्ममरणके बंधनमें ही फिरा करता है. जो विषयोंकी इच्छावाला है वह देह रूपही रहता है और देह रूप होनेसे आत्मासे अंतर पड़ता जाता है तथा आत्मासे अंतर पड़नेसे विषयोंसे संबंध होता है और विषयोंका यह संबंध संसार बंधनका मुख्य कारण है. इस लिए अपना स्वरूप पहँचाननेके लिए संसार बंधन और वासना तथा विषयोंका क्षय करना चाहिए. इस संसारमें रहनेसे क्रियामें पड़ना पड़ता है क्रियासे चिंतन होता है और चिंतनसे वासना प्रवल होती है; परन्तु संसारमें न पड़नेवाला क्रियासे मुक्त रहता है और क्रियाके नाशसे चिंतनका नाश होता है तथा चिंतनके नाशसे वासनाका नाश होता है और जब वासनाका नाश हो जाता है तभी मोक्ष होता है. सांसारिक वासना प्रवल बंधन करनेवाली है और जीवको

ब्रह्मभावकी वासना नहीं होने देती. तब कहिये राजन्! ब्रह्मभावसे उन्नत स्थितिमें पहुँचा हुआ ज्ञानी, क्या मायिक पदार्थकी ओर दौड़ेगा? ज्ञानरूप सूर्यके उदय होने पर रात्रिके तारारूपसंसारसुखकी कौन इच्छा (स्पृहा) करता है ? राजन्! स्वप्नवालेको जैसे जाग्रत नहीं और जाग्रतवालेको स्वप्न नहीं, वैसेही संसारीको मुक्ति नहीं और मुक्त जनको संसार अरुचिकर, खारा और बुरा है. यह संसार मृगजलके समान है, उसमें ज्ञानी, क्या इच्छा (प्रवृत्ति) करेगा ? ज्ञानका फल असत्य पदार्थसे निवृत्ति और अज्ञानका फल असत्य पदार्थमें प्रवृत्ति है. जब तक जीव संसारको चाहता और मृतवत् देहको प्यार करता है, तब तक वह पवित्र होकर क्लेश रहित नहीं होता, और जन्म मरण तथा व्याधिका सेवन करनेवाला मूढ़ (पशु) बना रहता है. यह संसार केवल क्लेशकी ही मूर्ति है, उसमें क्या ज्ञानी मनुष्यको प्रेम होगा ? संसार अर्थात् क्या ? उसमें जाना रहना यह क्या है ? देह तथा इन्द्रियादिके सुख भोगना और इष्ट या अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिके लिए सदा इच्छाओंको बढ़ाना, इच्छाओं (वासनाओं) को बढ़ाकर विषयोंका सेवन करना और विषयोंका सेवन कर ममतासे मोहित हो अहंभावकी वृद्धि करना, स्त्री पुत्र कलत्र (नाती) में लिपटना, फिर ब्रह्मभावसे च्युत (पतित) होना इसके सिवा संसारमें और क्या सुख है ? संसारमें रहनेवाले किस जीवकी प्रवृत्ति विषय भोगसे कुंठित (विमुख) हो जाती है ? और किसे सत्य स्वरूप-ब्रह्मस्वरूपकी प्रतीति होती है ? सांसारिक सुखमें अज्ञानी ही डूबे रहते हैं. उनका सुख, जो आकाशकुसुमके समान है, और उनकी इच्छा, अपने स्वरूपसे जगतको अनित्य और क्लेशमय जाने बिना जीवको ब्रह्मनिष्ठ (ईश्वर प्रेमी) कैसे कर सकेंगे ? संसारमें जो सुख माना-मनाया है, वह विषय सुख है-कामादि रोगोंका सुख है! इस संसारमें अज्ञानियोंका माना हुआ मुख्य सुख स्त्री स्नेह है. इन स्त्रियोंको तो दूरहीसे नमस्कार है. परब्रह्मके अंशावतार ऋषभदेव अपने पुत्रोंको उपदेश देते हुए कहते हैं कि, 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितांसङ्गिसंगम्' इस संसारमें महात्माओंकी सेवाको मुक्तिका द्वार कहा है और स्त्रियाँ तो क्या, परन्तु स्त्रियोंके संगीके संगको भी अंधकार (बुद्धिभ्रंश) का द्वार कहा है, यह क्या सत्य नही है ?

मेरा कथन शुद्ध—पाप या कपट रहित अंतःकरणवाली पवित्र पतिव्रता स्त्रियोंके लिए नहीं है, परंतु वैसी स्त्री करोड़ोंमेंसे एकाधिक मिलना भी दुर्लभ है. स्त्रीमें विशेष कर प्रकृति (माया) का अंश प्रधान होता है और उसमें जड़त्व अधिक होता है. स्त्रियाँ अधिकतर संसारके अनुकूल और परमार्थके प्रतिकूल होती हैं. इससे परमार्थ मार्गमें प्रवृत्त पुरुषका, स्त्री अर्थात् प्रतिकूल स्त्रीके प्रसंगसे वहुत अहित होता है. निजस्वरूप निष्ठ जीवको तो वह महाक्लेशकारिणी हो पड़ती है. स्त्रीको नरकद्वार-रूप इस लिए कहा है कि उसकी जड़ताका अनुसरण कर पुरुष परमार्थसे विमुख हो जाता है और धीरे धीरे रागादिमें फँस कर विलकुल अधम हो जाता है और अधम पुरुषको अंतमें नरकवास ही करना पड़ता है. तो भी इस लोकके प्राणियोंको संसार सुख, पूर्णरूपसे नहीं मिलता. क्योंकि ऐसी अधम स्त्रियाँ सिर्फ ऊपरहीसे प्रेम दिखानेवाली और अंतरमें दूसरा भाव रखनेवाली होती हैं, इससे जीव महाक्लेश भोग कर उदासीन हो जाता है. इसके विषयमें एक कुटिल स्त्रीकी कथा मुझे स्मरण हैं, वह सुनो.

किसी नगरके उपवनमें एक संत महात्मा रहता था. उसके निकट इस नगरके कई मुमुक्षु कथा सुनने आते थे. वे एकाग्र चित्तसे अत्यंत भाव पूर्वक गुरुके मुखसे कथा सुनते और फिर घर आ कर एकान्तमें उसका मनन करते थे. मनन किये विना श्रवण करना व्यर्थ जाता है. इस लिए साधक[1] जीव गुरुके पाससे जो जो सुने वह उसे अपने हृदयमें मनन द्वारा अच्छी तरह छान कर पैठाना चाहिए. इस नियमानुसार वे सब श्रोता, महात्मासे सुन कर, उसका मनन और निदिध्यासन करते थे. एक समय कथाके मध्यमें ऐसा आया कि, " यह प्रपंच (संसार) निरा स्वार्थी है और उसका प्रत्येक प्राणी अधिकतर स्वार्थके लिए ही स्नेह करनेवाला होता है." यह सुन कर उनमेंसे एक श्रोताने पूछा; "गुरुजी, यह कैसे माना जाय ? जगतमें क्या निःस्वार्थ स्नेह है ही नहीं ? पति पत्नी, माता, पुत्र, भाई भाई, मित्र मित्र, स्वामीसेवक आदिका स्नेह क्या स्वार्थी ही है ?" तब वह महात्मा बोला; " हाँ भाई; ऐसा ही है. निःस्वार्थ स्नेह तो संसारमें क्वचित (कहीं) ही होता है. मनुष्य प्राणीके सारे संबंधका मूल पति-पत्नी संबंध है, जो एक गाढ़े और पवित्र स्नेहसे जुड़ता है. ऐसा स्नेह भी जव

---

1 साधन करनेवाला—अधिकारी.

क्वचित ही शुद्ध–प्रपंचरहित होता है, तो दूसरेकी वात क्या ? वहुतसे दंपति परस्पर कलह करनेवाले और वहुतसे पीठ पीछे इच्छानुसार काम तथा चोरी करनेवाले होते हैं ! कहीं पुरुष स्नेह पात्र और शुद्ध अंतःकरणका होता है, तो स्त्री प्रपंची होती है और यदि स्त्री शुद्ध हृदयकी हुई तो पुरुष वैसा नही होता. सिर्फ अपने ही मनको अच्छा लगनेवाला काम करने अथवा अपने ही सुखकी इच्छा करनेका नाम स्वार्थ है और इस नियमसे संसार स्वार्थी और प्रपंची है. स्वार्थ यद्यपि अपना ही साधना हो, तो भी वाहरसे समाजको उसकी खवर न होने देना अथवा वोलने और काम करनेमें अच्छी युक्तिसे काम लेकर समाजका ही स्वार्थ वता-नेका प्रयत्न करना प्रपंच है. ऐसा प्रपंच जगतके किसी ही पवित्र पुरुषमें नहीं होता और इसी लिए महाजनोंने इस संसारको प्रपंचपूर्ण कहा है ! वास्तवमें यह संसार सत्य नहीं है तो भी सत्यसा दीख-ता है, ऐसा ही यह संसाररूप कार्य है, इस लिए उसे भी प्रपंच नाम दिया गया है. इस तरह इस संसारको प्रपंच कहनेके अनेक कारण हैं और उसमें समस्त कारण मिथ्यापनकी दृढ़ भावना स्वीकार करानेवाले हैं. " यह सुनकर पूछनेवाले श्रोताको उसके लिए उतावली होने लगी. उसको इन वचनोंमें विश्वास नही हुआ क्योंकि उसके घरकी स्त्री, उसके प्रति निष्कपट स्नेह दिखानेवाली, उसके लिए जान न्योछावर करनेवाली और अनेक युक्ति प्रयुक्तिसे प्रसन्न रखनेवाली मालूम होती थी. वह स्त्रीके स्नेह तथा सौन्दर्यमें लीन था. ऐसा होनेसे गुरु वचनसे उसके मनमें चिन्ता (व्यग्रता) उत्पन्न हुई. एक ओर गुरु महात्माके वचन पर विश्वास और दूसरी ओर स्त्रीका अपने प्रति दीखता हुआ अपार स्नेह, इन दोनोंमें कौन सत्य है ? इस पर उसने वहुत कुछ विचार कर देखा, परन्तु कोई वात निश्चित नहीं हो सकी. फिर एक वक्त उसके समान ही एक श्रोता, जो उस महात्माके पास कथा सुननेको आया करता था उससे उसने अपने मनकी उलझन वतलाई. उसने उत्तर दिया कि, " भाई, तू क्या पागल होगया है जो ऐसा प्रश्न पूछता है ? इतने दिनोंसे तू सुनता आता है, तो भी गुरु महाराजके वचनों पर तुझे विश्वास नहीं है ? अरे, ये महापुरुष हैं, इनका वचन झूठा तो होही नही सकता. संसार प्रपंची है यह वात कभी असत्य नहीं है और स्त्रियोंका स्नेह तो ऊपर ही ऊपर समझ-

शुद्ध अंतःकरण और सच्चे स्नेहवाली स्त्री तो सती कहाती है और ऐसी सती क्या हर जगह होती है? तू न मानता हो तो परीक्षा कर देख. ”

इस परसे उस महात्माके शिष्यने अपनी स्त्रीकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया. उसने एक युक्तिकी. एक दिन वह बाहरसे आते समय एकदम जोरसे हाँफते हुए घरमें गया और ‘ अ र र र र ’ मेरे पेटमें कुछ होता है. ’ इतना कहते हुए धड़ामसे जमीन पर गिर पड़ा. उसकी स्त्री तुरंत पासमें दौड़ आई और अनेक प्रिय वचनोंसे शान्त कर धीरज देने लगी. एकके बाद दूसरी दवाएँ करने लगी परन्तु कुछ भी आराम नहीं हुआ. रोगी हों तो निरोगी हो जाय, परन्तु ढोंगी (स्वस्थ) को क्या हो? वह सोते बोलता, कुछ जागते बोलता. साधुको पापाचरण या पाप विचारके लिए कुछ संताप होता है परन्तु पापीको क्या संताप है? इसी तरह इस जीवकी भी दशा थी. इसको तो दिनों दिन अधिकाधिक बीमारी मालूम होने लगी और दो तीन दिनोंमें तो ऐसा मालूम हुआ कि वह बिलकुल अंतिम अवस्थामें पहुँच गया है. स्त्रीने जान लिया कि, अब पतिका देह टिकनेवाला नहीं है, इससे उसको बड़ी चिन्ता हुई और वह अपने भविष्यतके लिए विचार करने लगी. पतिकी अस्वस्थ अवस्था देख, वह उससे अपने रुपये पैसे आदि सारी जायदाद कहाँ और कितनी है पूछने लगी, परन्तु वह शिष्य तो अधिकाधिक विभ्रान्त होनेका ढोंग करता गया. इससे किस तरह जवाब दे? ऐसी दशा देख वह स्त्री निराश और निराधार होनेके भयसे बहुत शोक करने लगी और पतिकी अकस्मात् बीमारीके कारण दैवको गाली देनेके साथ, पतिने मेरे लिए कुछ नहीं किया, इसके लिए उसे भी क्रोधमें आकर अनेक कठोर वचन कहने लगी. यह सब वह शिष्य अच्छी तरह देखता और सुनता जाता था. ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों उसका शरीर खिंचने और मुड़ने लगा और घड़ीमें स्थिर और घड़ीमें हाथ, पैर खिंचने लगे. यह देख उसकी स्त्रीने पतिकी सब आशा छोड़ दी और पतिको कितना दुःख होता होगा, तथा वह किस तरहसे दूर अथवा कम हो, इसकी जरा भी चिन्ता किये बिना भविष्यतमें मेरा क्या होगा इसीकी चिन्ता करने लगी. उस शिष्यको खिंचाव आते समय वह बिस्तरेसे नीचे आ पड़ता, नम और अचेत हो जाता, मुँहमें फेन आ जाता, इस तरह अनेक रीतियोंसे उसकी दशा दयापूर्ण हो गई तथापि वह स्नेह करनेवाली, परम प्रेमिका और

एकनिष्ठ पतिभक्तिपरायणा स्त्री बिलकुल बे गरज (निःस्पृही) बनी रही ! ! वह केवल स्वार्थका ही विचार करने लगी कि अरे, अरे, अब मेरा क्या होगा ?'

इस तरह सब कुछ देख कर, उस रुग्ण शिष्यने विचार किया, ' अरे यह दुष्टा तो ऐसी है कि यदि मैं वास्तवमें मरता न होऊँ तो भी नाना उपाय करके मुझे मार डाले ! जिलाना तो दूर रहा ऐसे अवसरमें मेरी असावधानीसे लाभ उठा जान बूझ कर यह पाप दूर कर दे. इस लिए मुझको अब सचेत होनेकी बड़ी जरूरत है. वाह ! वाह ! धन्य है गुरु देवके वचनोंको ! महात्मा श्रीशंकराचार्यके ये वचन अक्षरशः सत्य हैं कि—का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ' किसकी स्त्री ? किसका पुत्र ? यह संसार अत्यंत विचित्र है. मैं इस दुष्टाके असत्य और स्वार्थ भरे प्रेमसे मोहित हो कर सत्य नहीं मानता था, परन्तु अभी जाना कि इसका प्रेम कैसा शुद्ध और पवित्र है ? ऐसा विचार कर वह क्षण भरमें अपनी स्थिति बदलने लगा. गुरुसे उसने अनेक प्रकारके आसन और श्वासावरोध तथा शरीरको मृतकवत् शिथिल करनेके प्राणायामादि साधन सीखे थे, उन्हें अब काममें लाया. धीरे धीरे साँस खींच कर बंद किया और हाथ पैर आदि अवयव फैला कर, मृतकवत् हो शान्त शिथिल हो गया. हाथ पैर हिलते रह गये, साँस भी रुक गई आँखें एकटक होकर शिथिल और कौड़ीके समान निस्तेज हो गई. यह देख स्त्रीने जाना कि अब मेरा भाग्य फूटा. तो भी निश्चय करनेके लिए पास जा कर अच्छी तरह हाथ पैर हिला और अनेक बार बुला कर देखा, तो भी ऐसा मालूम नहीं हुआ कि उसमें प्राण हैं. तब वह घबराई और रोने लगी. पतिकी विषम बीमारीके कारण, उसने दो तीन दिनतक भोजन नहीं किया था और सांसारिक कर्म करने–रोने पीटनेके लिए–बलकी जरूरत होती है, इससे पतिकी मृत्युका दुःख भूल घरके दरवाजे बंद कर एक दुहनी (दूध रखनेका बर्तन) निकाल उससे जल्दी जल्दी दही चाट गई और घी, गुड़, आटा निकाल जलती हुई सिगड़ीमें शीरा पका लिया तथा वह गर्म गर्म शीरा भी गपागप उड़ा (खा) गई और बरबराती गई कि, यह तो मरा, जीताजी कहीं निकाला जा सकता है. मुझे तो अभी बहुत दिन बिताने हैं, घरमें लोग आयँगे, उन्हें देख कर रोना कूटना है इसके लिए बिना कुछ खाये जोर कहाँसे आये.' इस तरह झटपट कलेवा कर लिया और थोड़ा शीरा फिर खानेको रख छोड़ा. फिर घरसे वह सब सामान इधर उधर करके उस मृतकका

मरण संस्कार कर, गोवरसे लीपी और कुशसे ढँकी हुई भूमि पर, शुद्ध जलसे स्नान कराके पतिको सुला, ऊपरसे एक कपड़ा ढाँक द्वार खोल जोर जोरसे रोने और विलाप करने लगी.

यह समाचार जान, एक एक कर सव सगा सनेही रोते पीटते आकर एकत्र हुए और थोड़ी देरमें सव पुरा पड़ोसी और संवंधी स्त्री पुरुष एकत्र होकर शवको स्मशान ले जानेकी तैयारी करने लगे. इस समय वह स्त्री वहुत रोने और छाती तथा सिर कूटने लगी. एकत्र हुए सव लोग उसका आश्वासन कर, धैर्य देने लगे तव वह रोना पीटना छोड़ दूर वैठ कर ऐसा विलाप करने लगी जो सुननेवालोंके भी मनको पिघला देता था.

यह सव वह शिष्य, मृत्युशय्यापर, पड़े हुए एकाग्र चित्तसे सुन रहा था. उससे यह मिथ्याविलाप और हाय हाय सहा नहीं गया. जव यह सव नाटक पूर्ण हुआ देख शवको वाँधनेके लिए चार पाँच मनुष्य घरमें आये और उन्होंने उसके ऊपरका कपड़ा निकाल उसे उठाना चाहा तो वह शिष्य जमुहाई ले हरिनामोच्चारण करते उठ वैठा. यह देख सव वड़े विस्मित हो रोते रह गये और शवमें जी आया जी आया कहने लगे. वह शिष्य बुद्धिमान और विचारशील था. और शास्त्रमें भी कहा है कि:—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्रमैथुनभेपजम् ।
दानं मानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥

आयुष्य, धन, घरके छल छिद्र, मंत्र, मैथुन, औषध, दान मान और अपमान ये नव सावधानीसे गुप्त रखना चाहिए. इससे अपनी स्त्रीकी लोगोंमें हँसी न हो, इसका विचार कर वह वोला "प्रिये ! अरे पतिव्रता ! अरे सात सात दिनोंकी उपवासी अवला, तू चुप रह ! चुप रह ! तेरे अवर्णनीय प्रेमसे ही मुझमें चैतन्य आया है, यह तेरे सत्यका प्रताप है. प्यारी, वल्लभा ! तेरे सत्यके प्रतापसे महामोहरूप ज्वर (जूड़ी) दूर हो जानेसे मुझमें जो अनात्मपनने निवास किया था और वुद्धिका भ्रमाया हुआ दुःखी होनेवाला यह दुर्वुद्धि जीव, विपयरूप जहरसे भरे हुए अपार संसाररूप सागरमें गोते खाता था, उससे आज तर कर पार उतरा है, यह तेरे सत्यका प्रताप है. स्त्री मिले तो तेरी जैसी सती ही मिलनी चाहिए !"
यह मार्मिक वचन सुन कर वह स्त्री विलकुल ही ठंडी पड़गई. वह

न कुछ बोल सकी और न आँख उठा कर ऊपर देख ही सकी. इस तरह एकत्र होनेवाले सब लोग भी चकित हो गये कि यह क्या कहता है. सबके चले जाने पर वह शिष्य वहाँसे उठ कर कमरेमें गया और एकान्तमें रखा हुआ शीरा ला कर, उस स्त्रीके आगे प्रेमसे खाया. फिर उस स्त्रीसे कहा; 'प्रिये ! जब रातका शीरा तुझे खाना ही था तो अब तू उसे मेरे साथ ही खा ! क्योंकि तेरे सत्यके प्रतापसे मुझे मालूम हुआ है कि इस संसारमें सब स्वार्थी हैं, उसी स्वार्थकी तादृश्य (हूबहू) मूर्ति तू मेरी ललित ललना है ! धन्य है श्रीगुरुदेवको ! जिन्होंने कृपा कर आज मुझे यह रहस्य समझाया ! धिक्कार है इस संसारको." फिर वह खड़ा हो कर बोला कि "पिया पिया सब कोइ करे, गान तानमें गाय. पाया जो अपना पिया वाके नैन बैन पलटाय." ऐसा बोलता हुआ उसी समय वहाँसे उठ, अपने गुरुदेवके पास जा, कपड़े त्याग सिर्फ एक कौपीन पहर और शरीरमें भस्म मल, पात्रके बदले एक तुम्बी, तथा हथियारके बदले एक दंड लेकर उनके चरणोंमें जा पड़ा और उनके वचनकी सत्यताके लिए वारंवार प्रणाम करने लगा. गुरु विस्मित हो कर बोला; "बच्चा यह क्या ?" उसने उत्तर दिया "बस, अब तो यही; आपकी कृपासे संसारको जान लिया. अब तो इसीमें आनंद है. यह प्रपंच झूठा है. कोई किसीका नहीं, सब स्वारथके साथी हैं. अब आप कृपा कर दीक्षा दीजिये." गुरुने उसका सत्य निश्चय भाव देख दीक्षा दी बस तुरंत ही वह मायासे निवृत्त हुआ शिष्य, सबको प्रणाम कर वहाँसे चलता हुआ. चलते समय उसने सबको सुनाते हुए एक पदके रूपमें जगतके स्वार्थपनके लिए इस तरह कहा:—

पद

सब मतलबके यार जगतमें सब मतलबके यार
मात पिता भ्राता भगिनी सुत सुता और निज नार; । जगत० १
स्वजन कुटुम्बी मित्र प्राणप्रिय, दास दासी परिवार
राजा प्रजा गरीब तवंगर, पंडित और गवाँर । जगत० २
जोगी भोगी अरु वैरागी, चोर और साहुकार;
पतिव्रता औ कुलटा नारी, वर्णाश्रम शुभ चार । जगत० ३
पशु पक्षी जल जंतु कीट मृग, जीवन योनि अपार;
स्वारथ विन कोइ पास न आवै; करै न कछु उपकार । ज० ४
निस्वारथ कोई हरिके प्यारे, जिनके हृदय उदार;

जिनको पर-उपकार सदा प्रिय, तिन पर मैं बलिहार । उ० ५

यह वृत्तान्त कह कर वामदेवने कहा; इसी लिए ब्रह्मनिष्ठ जीवको, संसारका त्याग करना और वासनासे अलग रहना चाहिए. वासना इस जीवात्माको मद्यसे अधिक दुःखद है; इस लिए संसारको मैं पुनः नमस्कार करता हूं ।

एकादश बिन्दु.

मलिन वासनाका लय परम प्रेम है।

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितगुणरसे सादरौ नैव कर्णौ
धिक्तान्धिक्तान्धिगेतान्कथयति सततं कीर्तनस्थो मृदङ्गः।

अर्थः—जिन मनुष्योंकी भक्ति श्रीमद्यशोदासुत श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें नहीं है, जिनकी जिह्वा आभीर (अहीर) कन्याके प्राणप्रिय श्रीकृष्णके गुणगानमें अनुरक्त नहीं है, जिन मनुष्योंके कर्ण श्रीकृष्णलीलाके सुन्दर गुणोंके रसका आदर नहीं करते, उनके लिए कीर्तनके समय बजाये जानेवाला मृदंग सतत कहा करता है कि धिक्कार है धिक्कार है धिक्कार है!!

सभासद, राजा वरेप्सु, वटुकका पिता, सब एक चित्तसे महात्मा वटुकके मुँहसे कथा सुनते थे. उनके प्रति पुनः सौम्य दृष्टि कर, वटुक बोला; "राजन्! यह असार संसार कैसा संकटदायक है और जगतकी वासना संसारमें रहनेसे किस तरह मिथ्या कामनामें मस्त कराती है, इसके लिए मैंने जो कथा कही उसका रहस्य तेरे लक्ष्यमें आगया होगा. पूर्वा (अंतिम फल) पर विचार किये विना दृढ़ भावनासे पदार्थोंका जो ग्रहण (स्वीकार करना) है वही वासना कहाती है. यह वासना परम दूषित और मोक्षसे गिरा देनेवाली है. वासनायुक्त अज्ञ जीव, जब कालवश होता है, तो मायामें लीन होता है और फिर जन्म मरणके चक्करमें पड़ता है. परंतु ज्ञानी—वासनासे मुक्त हुआ जीव—सब उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण ब्रह्ममें ही लीन होता है. इसी लिए ज्ञानी—संस्कारी—अधिकारी जीवको जैसे हो वैसे निर्वासनामय होना चाहिए और इसी कारणसे हम

संसारसे मुक्त रहनेकी इच्छा करते हैं. संसारमें रह कर, जहाँ जहाँ वृत्ति जाती है, वहाँ वहाँ कर्मबंधन ही होता है. इस कर्म बंधनसे सर्वत्र वासना दृष्टि फैली रहती है—फिर वह वृत्ति शुभ हो वा अशुभ, परंतु वह सकाम होनेसे न उससे छुटकारा ही होता और न मोक्ष ही. इस लिए हम बुद्धियुक्त मनसे होनेवाले कर्मके फलोंको छोड़ कर, जन्म बंधनसे मुक्त होनेके लिये स्वतंत्र होकर अनन्य पदकी इच्छावाले बने रहे हैं. इस संसारकी शुभ वासना भी जीवको किस तरह बंधन कारक हो जाती है, इस विषयकी मैं एक प्राचीन कथा कहता हूँ, उसे सुनो.

किसी समय पतितपावनी भागीरथी (जाह्नवी)के तट पर एक पवित्र नगर था. इस नगर निकटके उपवनमें सब संसारबंधनसे मुक्त, सिर्फ अद्वितीय ब्रह्मका सेवन करनेवाला सारे कर्मोंसे मुक्त, बंध, मोक्ष, तृप्ति, चिन्ता, आरोग्य और क्षुधादिकी पीड़ासे रहित, निर्विकार, स्थितप्रज्ञ, उपाधियोंसे दूर ब्रह्म और आत्माकी एकतामें मग्न मस्त विकल्प (संदेह) रहित ब्रह्माकार वृत्तिवाला, देहके रहते भी अहंता (अभिमान) से हीन परमात्माकी सतत भक्तिहीमें लीन, जीवन्मुक्त, कोई योगी रहता था. वह न बीती हुई बातका स्मरण करता था, और न भविष्यतका विचार ही. सदा उदासीन होने पर भी वह नित्य आनन्दमग्न रहता था. वह परम भक्त था और सारादिन (अहोकाल) भगवानके पादारविन्दके ही स्मरणमें व्यतीत करता था तथा आत्मज्ञान-पूर्वक सदा भगवानमें ही अनुरक्त रहता था. जब वह प्रभु भक्तिमें लीन होता तो आनंदके आवेशमें आ कर सिर्फ कौपीन पहन कर ही नाचने लगता, ताली बजाते, गद्गद स्वरसे रो पड़ता, लम्बी साँसें लेता और 'हरे नारायण' नामके उच्चारणमें ही तादात्म्य हो जाता था. कभी वह जड़के समान, कभी बहरेके समान कभी पागलके समान और कभी महाज्ञानीके समान मालूम होता था. वह योगी कभी मंदिर मंदिर फिर कर प्रदक्षिणा करता, तो कभी वेद और सबकी निन्दा भी करता था. उसे नमस्कार या आदरकी आवश्यकता नहीं थी. इससे बहुतसे लोग समझते थे कि वह कोई पागल मनुष्य है; पर वह अनन्य प्रेमी परमात्मामें रमता राम (जीव) था. संसारमें उसकी जरा भी आसक्ति नहीं थी. वह सदा समदृष्टिवाला—न्यूनाधिक(भेदभाव) रहित, एकरस एकाकार, द्वैतप्रपंच रहित, द्वैत भावको पराजय करनेवाला और

सदा परमात्मामें रमण करनेवाला था. जगतके किसी भी पदार्थ–प्राणी पर वह राग (क्रोध) या द्वेष नहीं करता था. कोई भी काम, कामनाके हेतु (फलाशासे) नहीं करता था. क्योंकि फलकी आशासे परमात्माकी भक्ति करना, भक्ति नहीं परंतु व्यापार है, इस बातसें वह अभिज्ञ था. सेवक सेवा करता है वह भक्ति नहीं, परंतु व्यापार है. स्त्री पतिकी सेवा करती है, पति पर प्रेम करती है, वह स्वार्थका व्यापार (काम) है. इसी तरह पिता पुत्र पर और पुत्र पिता पर जो प्रेम करता है, वह भी स्वार्थी व्यापार ही है. ऐसे किसी भी स्वार्थसे, ईश्वरभक्ति नहीं करनी चाहिए, केवल निष्कामपनसे ही भक्ति करनी चाहिए. जब भक्तजन पर ईश्वर प्रसन्न होते हैं और वरदान देनेकी इच्छा प्रकट करते हैं, तब पवित्र भक्त, पूर्णभक्त निष्कामभक्त कहता है कि, मैंने फलकी आशासे काम (व्यापार) नहीं किया, परंतु भक्तिही की है. ऐसा अनन्य भक्त कभी फलकी इच्छा ही नहीं करता; क्योंकि जैसे उबाला या कूटा हुआ धान फिर नहीं ऊगता, वैसे ही जिस भक्तकी वृत्ति तादात्म्यक (एकाकार) हो गई है, वह फिरसे सकाम होती ही नहीं. जिसने सत्य प्रेमको जान लिया है वह उसके पवित्र नामको अपवित्र नहीं करता. परंतु जहाँ प्रेम लगा है वहीं उसे स्थिर कर देता है. वह दूसरा प्रेम पात्र ही नहीं देखता. उस योगीका प्रेम ऐसा ही था, एक ही था. उसका योग भी एक ही था. वह कभी भी योगक्षेमकी चिन्ता नहीं करता था, शरीर निर्वाहभरके लिए उसके यहाँ नित्य अन्न आजाता था, उसमेंसे अनेक संतोंको भोजन करा शेष भोजन खा कर उसीमें आनन्द मानता था. उस योगीका नाम कौण्डिन्यमुनि था. उसका भक्तिरस और आत्मज्ञान इतना व्यापक था कि, वृक्षों, जीवों, कीटाणुओं, पतंगों, स्थावर और जंगममें, जहाँ चाहिए वहीं उसको साक्षात्कार (आत्मा दर्शन) होता था. उसे स्वर्गकी, महेन्द्रके पदकी या अपुनर्भव (मोक्ष) की भी इच्छा न थी. उसकी तन्मयताका वर्णन लोकोत्तर (अलौकिक) चमत्कारसे पूर्ण था वह स्वयं ब्रह्मरूप, स्वयं महात्मारूप, स्वयं प्रेम मूर्तिरूप था. उसीका प्रेम सत्य था, जगतके शेष जीव जो प्रेम कहते और करते हैं वे तो प्रेमके पवित्र नामको अपवित्र ही करते हैं.

महात्मा योगीन्द्र, आत्मनिष्ठ, प्रेमभक्तिरसके पिता कौण्डिन्य मुनिके आश्रममें नित्य अनेक संत, ब्रह्मनिष्ठ, आत्मज्ञानी और साधुओंका समागम

होता था और वे कौण्डिन्य मुनिके संगसे पवित्र होकर इस अपार संसारसे पार हो गये थे. जब जब कौण्डिन्य मुनि सब लोगोंको ब्रह्मनिष्ट होनेका उपदेश करते और परमात्माके गुण कीर्तनका भेद समझाते, तब तब कहते कि, "इस जगतका प्रेम मूढ़मतिके लिए है. जगतका प्रेम स्मरणानुरागकी वृद्धि करनेवाला है और पूर्वा (अंतिमफल) पर दृढ़ भावनासे स्मरण होना ही वासना है और मलिन या शुभ कोई भी वासना हो वह बंधन करनेवाली और मोक्षमार्गसे गिरा देनेवाली तथा तन्मयतासे पीछे हटानेवाली है. इस लिए जीवको चाहिए कि सबको छोड़ पहले वासनाका ही त्याग कर—सब बंधनोंका नाश करनेके लिए—भोग, देह और कर्म सबकी वासनाका लय करे और फिर भाव-अभाव छोड़ निर्विकल्प (संदेह रहित) हो जाय. जो वासनामय होता है उसीको जन्ममरणके फेरारूप बंधनमें जकड़ना पड़ता है. जगतके जीवोंको, राग, द्वेष क्रोध, भय इर्ष्यासे मुक्त हो ज्ञानपूर्वक, परमात्मामें परायण हो कर, उसीके प्रेममें एकाकार हो जाना चाहिए. उन्हींका जन्मलेना जीना और मरना सफलताको प्राप्त होता है, दूसरेका नहीं. यह सब, वासनाके त्यागसे ही होता है. वासना दो प्रकारकी है. शुद्ध और मलिन. शुद्धवासना तत्वज्ञान—परमभक्ति—पवित्रप्रेममें प्रेरण करती है, मलिन वासना बंधनमें डालती है. ऐसी मलिन वासना यदि शेष रही तो ब्रह्मका दर्शन होना रुकता है और निर्विकल्प—ब्रह्मका उदय नहीं होने पाता. इस लिए वासनाका अत्यंत क्षय करो—वह क्षय अभ्याससे परमात्माके प्रेममें मग्नमस्त होनेसे हो सकता है और ऐसा प्रेमी होनेसे अपरोक्ष (साक्षात्) ब्रह्मके दर्शन (ब्रह्मसाक्षात्कार) होते हैं." ऐसे ऐसे अनेक उपदेशोंसे कौण्डिन्य मुनिके साथी अनेक जीव, तर गये थे और उन्हें नित्य ही ब्रह्मका साक्षात्कार (दर्शन) होता था. जब जब वे ब्रह्मरसमें मत्त होते तब तब चराचरको स्वात्मस्वरूप ही (अपना स्वरूप ही) देखते थे और उन्हें प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मस्वरूप ही मालूम होता था. उनकी चित्तवृत्ति शून्य थी. और वे सर्वत्र साम्य (शान्ति) का अनुभव करते थे.

ऐसे पुनीत कौण्डिन्य मुनि, जो सब तरहसे वासना रहित थे, केवल अद्वैतमें ही मग्न मस्त थे, वे सिर्फ संसारके संबन्धमें रहनेसे जन्म मरणके फेरेमें पड़े थे. इन मुनिके आश्रमके सामने ही एक गणिका (वेश्या) का घर था. किसी कर्मका विपाक (फल) भोगनेके लिए उस घरकी

स्वामिनीका जन्म गणिकाके जैसे अधम स्थानमें हुआ था, तो भी वह गणिका अपने धर्मसे क्षणभर भी चलायमान (विचलित) न होती थी. वह परमात्माके चरित्र गानमें सदा तल्लीन रहती थी और परमात्माके सिवा क्षणभर भी अन्यका चिन्तवन (विचार) या स्मरण न करती थी. वह सदा प्रभुभक्तों पर दयालु रहती और वेदविहित सब धर्मोंका पालन करती थी, उसका प्रेम शुद्ध और पवित्र था. ऐसा होता था कि उस गणिकाके घरमें सदा अनेक संसारासक्त और विषयजन्य सुखके लोभी–इन्द्रियजन्य सुखकी कामनावाले पुरुष आते थे. यद्यपि अपने धर्मको सब तरहसे पालन किये विना वह गणिका पलभर भी अकर्तव्य न करती थी और सिर्फ गुणी पुरुषोंको ही आदर देती थी, परंतु लोग यही कहते थे कि यह गणिका सब तरहसे गणिकाहीके धर्मका पालन करती है, अर्थात् वेश्या है. यह गणिका संसारमें थी, इससे अपने योगक्षेमके निर्वाहके लिए सिवा परमात्माके कीर्त्तनके दूसरा कोई भी असत् कर्म करनेमें नित्य भय करती थी. तो भी थोड़े ही लोग उसकी इस सुनीतिके ज्ञाता थे. वह गणिका कर्म, मन, और बुद्धिसे भी संग (आसक्ति) छोड़ कर आत्मशुद्धिसे अपने धर्ममें चलती थी. उसको फलकी आशा ही न थी. वह जलमें रहनेवाले कमलकी तरह व्यवहार करती थी. सब काम वह ब्रह्मार्पणके विचारसे करती थी, और उसमें जरा भी लिप्त न होती थी. वह विवेक और वैराग्यादिसे अत्यंत सत्वोदयवाली एकनैष्ठिक (दृढ़) थी.

इस गणिकाके यहाँ जो जो गुणी जन आते, वे कौण्डिन्य मुनिकी दृष्टिमें पड़ते थे, कर्म संयोगसे, उन मुनिकी नई वासना–मलिन वासना जाग्रत हो गई. जब जब उस वेश्याके घरमें वे किसी भी पुरुषको जाते देखते, तब तब मनमें दुःखित हो कहते, 'अरे, अभागी पापी नर्कमें गिरने आया!' यद्यपि उनके मनमें किसी तरहकी भी अशुभ भावना न थी, तो भी वेश्याके घरको सामान्यतः पापधामके समान मान, क्षणिक इन्द्रियजन्य सुख भोग, पापकर्म द्वारा अपार नरकयातनाके भोगनेवाले जीवोंको देख कर उनको दया आती और उस दयाके कारण ही वे उस [वे]श्याके घरमें जानेवाले मनुष्योंके लिए संताप करते थे. यह संताप [प]वित्र था, तो भी क्षणभर कर्मके बंधनमें डालनेवाला और वासनाको [ब]ढ़ानेवाला था. यह मोक्षसे गिरा देनेवाली कष्टकारिणी करुणा थी. उस

गणिकाके घरमें जितने लोग आते उन सबके भीतर जाते समय कौण्डिन्य मुनि इसी तरह संताप करते थे. नित्यके संतापसे महात्मा मुनि धीरे धीरे बंधनमें पड़ते गये ! ऐसे नित्यके सहवाससे, यह हुआ कि मरनेके समय भी उनका यही ध्यान रहा और जो पवित्र महात्मा अपार तेजवाले थे वे भी एक अपवित्र वासना—मलिन वासनासे—ऐसी करुणा जो मुनि और ज्ञानीको करना उचित नहीं है, करनेसे फिर जन्म मरणके फेरेमें पड़े. वरेप्सु ! उन्हींका जन्म सफल जानो जिन सुन्दर मतिवालोंकी वासना अंतकालमें (मरणके समय) पवित्र रहती है. कौण्डिन्य मुनि सब तरहसे वासना मुक्त थे. लोकमें जो काम और स्वर्गका सुख माना जाता है, वे उसकी वासनासे मुक्त थे, सब कामना तृष्णा और वासनाका क्षय कर चुके थे. सारी दैवी कलाके भोगी थे. परन्तु अंतकालमें उदय होनेवाली व्यावहारिक वासनासे युक्त होनेके कारण फिर जन्ममरणके चक्करमें पड़े. उन्हें इस वासनाके कारण और मरनेके समय प्रभुकी भक्ति भूल जानेसे, फिर जन्म लेना पड़ा.

इस तरहके अधिकारी, शुद्ध, संस्कारी, जीवन्मुक्त, ब्रह्मनिष्ठ, योगी कौण्डिन्यका जन्म, एक शुद्ध, पवित्र, बुद्धिमान, श्रद्धावैराग्यादिसंपन्न उत्तम ब्राह्मणके कुलमें हुआ. वैराग्य भावनाके अत्यंत प्रबल होनेसे जन्म लेने पर भी उन्हें, अपने पूर्व जन्मका ज्ञान था और अपने इस अंत फल (जन्म लेने)के लिए बड़ा दुःख था. उन्होंने संसारसे विरक्त रहनेका संकल्प कर, माताके उदरसे बाहर होनेपर बिना बोले और बिना दूध पिये अपने इस जन्मको सफल करनेका निश्चयकर लिया. माता पिताके अत्यंत लालन पालन और अनेक उपाय करनेपर भी वे विरक्त ही रहे, क्योंकि पूर्व दैहिक (पूर्व जन्मके शरीर संबंधी) कर्मका उन्हें पूर्ण ज्ञान था. जिस वासनाके कारण उन्हें यह जन्म लेना पड़ा उस आपत्तिसे दूर होनेके लिए गर्भहीसे उन्होंने प्रयत्न करना आरंभ किया यह देख उनके माता पिता व्यवहारका विचार कर, बड़े ही दुःखित हुए. लोगोंमें बात फैली कि योगीन्द्रमुनिके यहाँ पैदा हुआ बालक अत्यंत सुन्दर और परम तेजस्वी होनेपर भी जरा दूध नहीं पीता, जरा भी नहीं रोता, तो भी जैसे दिनको नहीं बढ़ता वैसे रातको बढ़ता है और जैसे रातको नहीं बढ़ता वैसे दिनको बढ़ता है, यह महत् आश्चर्यकी बात है !

यह बात फैलते फैलते, उस गणिकाके भी कानमें पड़ी, तब वह बहुत

विस्मित हुई कि, यह जगत अन्नमय है, विना अन्न कोई भी जीव नही जी सकता. योगी आदि भी देह निर्वाहके लिए अन्न फलका आहार करते हैं, परन्तु यह बालक विना अन्नके जीता है और जन्म लेनेके बाद उसने कभी रुकार या हुँकार भी नहीं की इसका कोई गुप्त कारण अवश्य होगा. नगरके अनेक लोग इस बालकके दर्शनके लिए, उसके पिताके घर जाते थे. उनके साथ एक दिन यह गणिका भी गई और उस बालकका परम तेजस्वी स्वरूप देखते ही उसे, अपने और उस योगीके पूर्व देह, मृत्युके समय होनेवाली वासना, अपने यहाँ आनेवाले मनुष्योंका तिरस्कार और इसी चिन्तामें उसकी मृत्यु होने और इस वासनाके प्रावल्यसे ऐसे महात्मा योगीको भी जन्म मरण (आवर्जन विसर्जन) के फेरेमें पड़ना पड़ता है, आदि कर्मकी विचित्र गतिका स्मरण हुआ ! "अहो ! महाप्रयास (कठिन परिश्रम) द्वारा शुभ कर्मके सेवन करनेवाले ऐसे महात्मा योगीको भी जब ऐसी छोटीसी, और वह भी दूसरेके हितके लिए की गई वासना, दुःखित करती है, तो क्षुद्र प्राणीकी तो गति ही क्या ? जरासी भी वासना, जन्ममरणके कष्टकी देनेवाली हो जाती है और वासनाका अभ्यासी (प्राप्त करनेवाला) योगी भी, दुःख परंपराके अनुभवमें भटकता फिरता है. यह कौण्डिन्य मुनि समर्थ आत्मवेत्ता था, भक्ति तो इसका साक्षात् स्वरूप ही थी किसीके आश्रयमें भी न था, शुभ या अशुभ कर्मके बंधनसे मुक्त था, इसे अप्रिय (द्वेष्य) या प्रिय कुछ भी न था, तब यह गति कैसे ? परमात्माका भक्त कभी नष्ट नहीं होता और भक्त पाप योनिका अधिकारी हो तो भी तर जाता है, तो ऐसे महात्माकी उत्तम गति होनेमें आश्चर्य ही क्या है ! परंतु अहो ! जरासी वासनाने इस परम भक्त, परमज्ञानीकी कैसी गतिकी है ! " ऐसा विचार करती हुई वह गणिका, उन ब्रह्मबाल कौण्डिन्य मुनिके पास गई और उन्हें अपनी गोदमें प्रेमपूर्वक बैठाकर उनके शरीरपर हाथ फेर बहुत देरतक उन्हींकी ओर एकटक देखती रही. यह देख महात्मा कौण्डिन्य मुनि खिल खिलाकर हँस पड़े. तब वहाँ खड़े हुए सब लोग विस्मित हुए ! क्योंकि आजतक किसीने भी कौण्डिन्य-मुनिको हँसते या रोते देखासुना नहीं था.

फिर गणिकाने उस बालकके घरसे सबको, दूरकर दिया और बालकको सम्बोधन कर बोली: " महात्मा योगीन्द्र ! आपकी यह क्या गति हुई ? आप तो सारे कर्मोंसे अलिप्त थे, आप स्वयम ही ब्रह्मरूप थे ब्रह्म

को ही सब कर्म अर्पण करते और उसीको भजते तथा उसीकी सेवा करते और उसमें ही विचरते थे, तो भी, देव ! आपकी यह गति क्योंकर हुई ? " महात्मा कौण्डिन्यने मुस्कुराकर कहा; " माता(अंबा) इस सबका कारण तू ही है ! तेरे यहाँ आनेवाले विषय-जन्य सुखकी लालसावाले जीवोंका चरित्र देखनेसे, मेरे भगवत् स्मरणमें—पवित्र आत्मनिष्ठामें शिथिलता हुई और नित्यके अभ्याससे अंतकालमें तेरे चरित्रकी मलिन वासनाके वलका स्मरण रहनेसे, मेरी यह गति हुई है." यह सुन गणिका बोली; " महात्मन् ! मैं चाहे—जैसी थी चाहे जैसे बुरे कर्मवाली (असत् चरित्रवाली) थी, कामनामें लुब्ध थी, परन्तु आपने मेरी उपेक्षा (लापरवाही) न करके मेरा चिन्तवन क्यों किया ? " गणिकाकी यह बात सुन, बाल कौण्डिन्य बोले, "री परम पावनी अंबा ! यह केवल संगवल (दृढ़ासक्ति) का कारण है. तेरे यहाँ अनेक पुरुष आते और कुमार्गमें प्रवृत्त होते हैं, इस बातका, मुझे सिर्फ करुणा (दया) के कारण महा परिताप होता और मैं तेरे यहाँ आनेवाले प्रत्येक पुरुषको देखकर खेद करता था, उसके अंतिम फलके रूपमें मरते समय भी मुझमें नित्यके अभ्याससे, वही चिन्ता रह गई और मेरी यह दशा हुई. यह एक जन्म मुझे व्यर्थ ही अधिक भोगना पड़ा ! तेरे यहाँ आनेवाले प्रत्येक मनुष्यको देखनेसे मुझको ऐसा विचार हुआ कि, ये मूढ़ मति, श्रीकृष्ण परमात्माका स्मरण, चिंतवन, भजन पूजन, और सेवन छोड़कर नर्क द्वारके मार्गमें क्यों जाते हैं ? ये मंगल करनेवाले सत्पुरुषोंका संगकर, और पापसे तर कर, इस जगतके बंधनसे मुक्त होनेके लिए प्रयत्नशील क्यों नहीं होते ? वास्तवमें ब्रह्मको कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, परन्तु सब समान है. सर्वत्र समदृष्टि होना वृत्ति त्यागका फल है. " गणिका बाल कौण्डिन्यके ऐसे वचन सुन कर बोली; " महात्मा ! आपने बहुत बुरा किया. मनुष्य देह धर, सब कर्मोंका क्षय करने पर भी, मुझ पापिनीके उद्धारमें आपने बुद्धि लगाई, इससे आपको पुनः जन्म मरणका फेरा फिरना पड़ा. आपकी वैराग्य वासना, संसार त्यागकी वासना, निष्काम वासना, प्रथमहीसे तीव्रतम होते भी, इतनी भोग वासना अंतमें रही गई कि ये दुर्मति सत् मार्गमें क्यों नहीं चलते ? उसीका यह फल आपको भोगना पड़रहा है. देव ! अब आप यह देह भोगें इसके बिना दूसरा उपाय नहीं है. मैं पापिनी दुराचारिणी कौन हूँ इसके लिए, मेरे पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनें. मैं जनक-

पुरकी स्वरूपवती वेश्या पिंगलाकी दासी थी. और अपनी स्वामिनीके आनन्दके लिए नित्य नये नये पुरुष ला कर, उसके विलासको उत्तेजित करतीथी जब उस वेश्याने, इस असार संसारसे मोह तोड़ कर, सिर्फ ब्रह्मका ही स्मरण किया, तो उसमें भी अनन्यता (एक भाव)से उसकी सहायका थी. मैंने भी परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रमें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था. परन्तु अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके फलोंको भोगे बिना ही मेरा अवसान (मृत्यु) होनेसे मुझे यह जन्म लेना पड़ा है और आपके समान महात्माके दर्शनसे ही मेरी बुद्धि पवित्र हुई है. जब मेरे घरमें आनेवाले प्रत्येक पुरुषको देख कर आप खेद करते थे कि, 'यह पापी आया,' तब मैं नित्य ही, आपकी पर्णकुटीमें आनेवाले महात्माओंको देख कर, आनन्दसे उनके दर्शन कर, मन, वचनसे उन्हें नमस्कार करती और मनमें सदा उन्हींका ध्यान (चिंतवन) करती कि, 'अहो! कैसे समर्थ महात्मा हैं, कि जिनके दर्शन मात्रसे मेरे समस्त पाप जल कर क्षार होरहे हैं.' सोते, बैठते, उठते खाते, पीते, मैं उन महात्माओंका ही चिंतन करती, और हे महात्मा! आज भी देखो उन्हींके ध्यानके प्रभावसे मेरी सारी वृत्तियाँ विरामको प्राप्त हुई हैं और मैं शाश्वत (नित्य) शान्ति भोग रही हूँ. आपके और मेरे पूर्व जन्मका मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह इस दर्शन, स्मरण और कीर्तनका ही प्रताप है. मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण, अर्चन, पूजन, और वंदन करती हूँ, सिवा उनके मेरा किसी पर प्यार नहीं है. यह जिह्वा उन्हींका रटन किया करती है. ये कान उन्हींका गान सुनते हैं और ये नेत्र उनके दर्शनसे ही पवित्र होते हैं—वही मेरे प्रेमके पात्र हैं. वही मेरे हृदय-देवता हैं. उन्हींमें मैं तदाकार (एक स्वरूप) हूँ. जो उनके गुणोंसे विमुख हैं वही नर्कमें पड़ते हैं. मैंने कोई भी काम ब्रह्मार्पणके बिना आजन्म नहीं किया. नीतिके किसी भी मार्गका उल्लंघन नहीं किया; संत पुरुषोंको छोड़ बारहवीं आसक्ति नहीं की.* किन्तु ब्रह्मरूप होने पर भी, आप इस मिथ्या वासनाका सेवन कर यह गति भोगरहे हैं. मैं इसी उद्देश्यसे अपने यहाँ आनेवाले मूढ़ मति गवाँ-

---

* टीका—ग्यारह आसक्तियाँ हैं:—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दासासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परम विरहासक्ति.

रोंसे नित्य कहा करती थी, कि जिन्होंने श्रीकृष्णचंद्रका सेवन नहीं किया उन्हें धिक्कार है, और यही उपदेश मैंने अपने मृदंगको भी दिया है, जो निरंतर यही उपदेश किया करता है और करेगा. ज्ञानीको झूठे पदार्थसे प्रेम होना ही उसके पतनका चिह्न और मोक्षमें रुकावट करनेवाला है. आप जब मेरे लिए ही दोषके भागी हो कर परम पदसे च्युत हुए हैं, तो अब इस जगतका सेवन करें. कर्म विपाक करें. विराग, विवेक, समादि संपत्ति प्राप्त करें. फिर मनन और निदिध्यासन करें और असार संसार दुःखमय भव जो नित्यका रगड़ा (झगड़ा) है, उससे तरनेके लिए ब्रह्मके ही प्रेममें मस्त रहें. मन, वच, कर्मसे ब्रह्मको ही, अपने प्रिय (इष्ट) श्रीकृष्णको ही, देखें, अनुभव करें स्मरण करें. परब्रह्म श्रीकृष्णको ही भजें, पूजन करें भक्तिसे सेवें उन्हींका रूप हो जायँ, बस इस समस्त भवपाशसे मुक्ति मिलेगी ! देव ! पल भरकी वासना कितना संकट लाती और कैसी अवस्थामें डाल देती है इसे आप देखें ! "

वह वेश्या जब चुप हो रही तो, परमात्मापर गोपियोंके प्रेमसे भी जिनका प्रेम * सबल था, उन योगीन्द्र बाल कौण्डिन्यने कहा:—" मुक्ते ! यह सब नियंता (स्वामी, ईश्वर) का खेल है, उसकी इच्छा बिना कुछ नहीं होता—एक पत्ता भी नहीं हिल सकता. जन्म लेना, मृत्युको प्राप्त होना, इन सबका वही निमित्तरूप कारण है; इस लिए जीवको चाहिए कि कर्तृत्वाभिमान (कर्त्तापनका अहंकार) छोड़कर सारी वासनाका त्याग करे. इस जगतमें सिर्फ ब्रह्मानंदका ही भोगनेवाला जीव निर्भय है, दूसरा नहीं. इस ब्रह्मरूपमें शिथिलता ही वासना है और वही पतनका कारण है. इस कारण (निमित्त) का नाश करनेके लिए द्वैतरूप संग (वासना) का त्यागकर, प्राणिमात्रका स्वरूप देख, एकत्वका अनुभव करना ही ब्रह्म-साक्षात्कार (दर्शन) का श्रेष्ठ साधन है और उसे जानते हुए भी मैंने द्वैतकी वासना की, इसीका यह फल है. क्षुद्र जीवको यदि ब्रह्म-निष्ठाका साधन कष्ट कारक मालूम हो, तो उसके लिए शाश्वत (सतत, निरंतर) शान्तिका सुलभ मार्ग यह है कि, वह पूर्ण प्रेमीबन जाय—भगव-द्रूप बनजाय, तन्मय (वही) हो जाय और जो तन्मय है, पूर्ण प्रेमी है,

---

* टीका—मुनि कौण्डिन्यके लिए केवल एक ही वचन मिलता है कि; 'कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता गुरवः' ये तन्मयता शक्तिके लिए प्रसिद्ध भक्त थे.

प्रेममें एकाकार है, उसे थोड़ेही समयमें परमात्मा, इस असार संसार साग-रसे पार कर लेते हैं."

जिस समय बाल कौण्डिन्य ये बातें कह रहे थे उसी समय वेश्या प्रभु-स्मरणका भजन कर उठी.

"वह अपनी नाथ दयालुता, तुम्हें याद हो कि न याद हो"
"पर जो कौल भक्तोंसे किया, तुम्हें याद हो कि न याद हो."
"सुनि गजकी जैसे आपदा, न विलंब छिनका सहा गया"
"वहिं दौड़े उठके पयादे पाँ, तुम्हें याद हो कि न याद हो."
"वह अजामिल एक जो पापी था, लिया नाम मरने पै पुत्रका"
"वह नर्कसे उसको बचा दिया, तुम्हें याद हो कि न याद हो."
"हरवक्त स्वामी गौ हूँ मैं, भव फंदमें हा हूँ पड़ी"
"हूँ दासी अनेकों जन्मकी, तुम्हें याद हो कि न याद हो."

इस प्रकार श्रीपरमात्माको याद करते और उसीमें कौण्डिन्य मुनि भी एकाकार हो, दोनों भक्त, अंतके जन्मका भोग, भोग चुकने पर, परम-धाममें जा बसे और निजधाम (प्रभु-धाम)के अलौकिक भोग भोगने लगे.

महात्मा बटुकने, इस तरह वासनाबंधके साथ ही भक्तिरससे परि-पूर्ण इतिहास कह, अपने पिता और राजा वरेप्सुसे कहा; "इन्हीं कारणोंसे मैं संसार बंधनमें पड़नेका अभिलाषी (उत्सुक) नहीं होता और उससे दूर भागता हूँ. जब विरक्त जनोंको संसार इस तरह दुःख देता है तो संसारीको उसके अत्यंत पीड़ित करनेमें संदेह ही क्या है?"

द्वादश बिन्दु

संसार दुर्ग *

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः ॥

अर्थः—जैसे आकाशमें उड़नेके लिए पक्षियोंको दो पंखोंकी जरूरत है वैसे ही संसार सुखकी इच्छावालेको ज्ञान और कर्म—परमात्मासंबंधी विचार और संसारविचार इन दोनोंकी आवश्यकता है.

बटुक वामदेवके मुँहसे यह बात सुन कर उनका पिता बोल उठा; "प्रिय-पुत्र, यह बात सत्य है, परन्तु इससे कुछ सबको संसारका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है. मुमुक्षुने जब पहले स्वतः संसारका अनुभव किया हो, उसका रस लिया हो, और उसकी परीक्षा करते समय वह (संसार) बिलकुल प्रपंची मालूम हुआ हो, तभी वह उससे अलग हो सकता है; अर्थात् स्वयम् ही उसकी प्रीति उस परसे उठ जाती है. जैसे किसी रसिक पुरुषने अतिशय रसास्वाद द्वारा पंचामृतका भोजन किया हो, परंतु दैव संयोगसे वह पेटमें न ठहर कर उल्टी हो जाय तो यद्यपि वह अपना ही खाया हुआ था, तो भी वह पुरुष उसे ऐसा तज देता है कि, फिर उसकी ओर देखता तक नहीं और फिर उसका क्या होगा, इसका भी उसे कुछ विचार नहीं रहता. इस संसारका भोग भोगनेके बाद जो त्याग हो वह सत्य त्याग जानो. खाये हुए अन्नका उल्टी (वमन) द्वारा त्याग होना जैसा चिरस्थायी त्याग है, वैसा ही प्राप्त हुए संसारको भोगनेके बाद, दृढ़ विराग द्वारा जो त्याग हो, वही सतत वैराग्य समझो. क्योंकि फिर उसके

---

* संसाररूप किला, दुर्ग, अर्थात् जिसमें बड़े दुःखसे प्रवेश किया जा सके, ऐसा दुर्गमस्थल.

अनुभव करनेकी इच्छा नहीं होती. जिस वस्तुका अनुभव किया गया, और अंतमें विकारी लगनेसे वह छोड़दी गई हो, उसकी इच्छा फिर नहीं होती, परंतु जो वस्तु अनुभवकी गई या देखी हुई न हो, उसका त्याग किया गया हो तो जीव–प्रकृति ऐसी है कि, उसके अनुभव करनेकी इच्छा होती है और ऐसा होनेसे, त्याग अपवित्र होजाता है ! इस लिए मेरा विचार यह है कि संसार चाहे जैसा हो, तथापि पहले उसका अनुभव कर उस पर जब स्वाभाविक अप्रीति हो तभी उसे तजना चाहिए और इसी लिए शास्त्रोंने भी ब्रह्मचर्य अवस्थाके बाद गृहस्थाश्रम भोगना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक धर्म माना है. गृहस्थाश्रमका पूर्ण अनुभव कर, उससे धीरे धीरे प्रीति तोड़नेके लिए वानप्रस्थ अवस्था निर्माण की गई है और यह अवस्था पालन करते हुए जब संसार आप ही आप अरुचि कर लगे; तभी त्याग-संन्यस्त ग्रहण करनेके लिए मनुष्यको अधिकार होता है. इस तरह विधि-वत् ग्रहण किया हुआ त्याग–वैराग्य विचलित नही होता. संसारमें रह कर मोक्षोपयोगी दूसरे अनेक धर्मोंका जैसा रक्षण और परिपोषण होता है, वैसा त्यागमें नहीं होता. त्यागमें तो और उनकी विडंबना (अनादर) होती है. संसारी यदि विधिपूर्वक् संसारका सेवन करे तो त्यागीकी अपेक्षा शीघ्र तरजाता है. संसारमें रह कर मोक्षमार्गका साधन करनेवाला साधक कितना सुरक्षित होता है, यह भी मुझे एक राजाके प्रत्यक्ष देखे हुए दृष्टान्तसे अच्छी तरह मालूम हुआ है. इस राजाका संक्षिप्त इतिहास मैं कहता हूँ, उसे तू सुन ! ” ऐसा कह कर वह वृद्ध ऋषि नीचे लिखे अनुसार बातें करने लगा.

“ प्रापंचक नगरमें शान्तिप्रिय नामका एक राजा था. वह अपने नामके अनुसार परम सुशील और धर्मपालक था. वह राजा स्वभावका शान्त था. इससे शत्रु यह जानकर कि वह सामने नहीं होगा और होगा भी तो युद्धमें टिक नहीं सकेगा, उस पर वारंवार चढ़ाई करते और क्रुद्ध हो कर बहुत पीड़ित करते थे. ऐसी विपत्तिसे भयभीत हो एक बार उसने अपना नगर छोड़ कर भाग जानेका विचार किया, परंतु भाग कर कहाँ जाय ? जहाँ देखो वहाँ सर्वत्र शत्रुओंके डेरे–तंबू खड़े थे. इसके शत्रु ऐसे थे मानो सर्वव्यापी हैं और उन्होंने उसे हर जगह कैद करनेका प्रबंध कर लिया था. यह एक साधारण नियम है कि संसारमें जो

बलवान् होता है वही निर्बलको वश करता है. और अपनेसे कोई बलवान् मिले तो उसके अधीन होजाता है. इसी तरह शान्तिप्रियके शत्रु भी ऐसे निर्बल थे कि यदि किसी बलीके हाथमें पड़ जाते तो उसके वश हो जाते और सेवकके समान सेवा करते थे. परन्तु ऐसा सामना करनेवाला बलवान् मिलना कठिन था. फिर एक ही साथ अनेक बलवान् शत्रुओंका निग्रह (दमन) करना किसी साधारण सुभट (वीर)का काम नहीं परन्तु महा सुभटका काम है. शान्तिप्रिय ऐसा बलवान् न था, इससे रक्षाका कोई उपाय न होनेसे वह बहुत घबराया और इस घबराहटसे मुक्त होनेके लिए, शत्रुओंके अधीन होनेके सिवा उसे और उपाय न सूझा. यदि कोई कायर राजा हो तो जी बचानेके लिए अंतमें इस तरह अधीन होना भी उचित समझे, परन्तु शान्ति प्रियको तो इस तरह अधीन होने पर भी प्राण और प्रतिष्ठाकी रक्षाका कोई उपाय न था. उसके शत्रु ऐसे क्रूर थे कि उनके हृदयमें दया या नीतिका नाम भी न था. तीक्ष्ण धारवाली तलवार या धनुष पर चढ़ा हुआ बिजलीके समान बाण, दयाको क्या समझे? वह तो उसीका नाश करेगा जो उसके सामने पड़ेगा. शान्तिप्रियके शत्रु भी ऐसे ही थे. चाहे जैसे शांत स्वभाव (नम्र भाव) से कोई उनकी शरणमें जाय उसका भी वे स्वाभाविक रीतिसे तुरंत ही नाश करडालते थे. यह देख शान्तिप्रिय राजा घबराकर छोटे बालकके समान रोने लगा.

ऐसे ही समय चतुर कार्यकर्त्ता और मंत्रीकी जरूरत होती है. वे अपने बुद्धि–बलसे; चाहे जैसे संकटको भी उसी तरह दूर कर देते हैं जैसे बहता हुआ पवन घिरी हुई घटाओंको तितर बितर कर देता है. शान्तिप्रियके मंत्रियोंमें चित्तवीर्य नामका मंत्री बुद्धिमान् और प्रपंच कुशल था. उसने राजाकी महाविपत्तिपूर्ण दशा देख, दूसरे चापलूसोंकी तरह उसीके सदृश घबराहटमें न पड़, उसे धीरज दे शान्त रखा और तुरंत ही एक रामबाण (अचूक) उपाय बतलाया. वह बोला; “ महाराजाधिराज ! आप घबराते क्यों हैं ? आप महान् पुरुषोंके वंशधर हैं, आपके पूर्वज महाप्रतापी हो गये हैं और अपने वंशकी रक्षाके लिए उन्होंने सदाके लिए अनेक साधन (उपाय) कर दिया है. आपको अभी कुछ भी नया प्रबंध करना नहीं है, परन्तु पहलेसे किये हुए उनके उपायोंका उपयोग करना है. आपके

नगरसे तीन कोस दूर वह दुर्भंग * प्रपंचदुर्ग है, उसे क्या आप नहीं जानते? उसका नाम ही दुर्भंग नहीं है, परन्तु वह ऐसा शक्तिशाली है कि ऐसे समयमें सैन्य सहित सारे नगर की रक्षा कर सकता है. इस लिए आप चिंता तज कर उसमें शीघ्र आश्रय लें. "

यह सुन राजा बोला; "प्यारे चित्तवीर्य ! यह तो मैं भी जानता हूँ, परन्तु पहलेसे उसका आश्रय लिया होता तो कामका था. शत्रुओंने तो चारो ओरसे नगर घेर लिया है, अब वहाँ कैसे जासकेंगे ? फिर, इस दुर्गका द्वार भी बहुत दिनोंसे बंद रहनेके कारण नगरसे सुरक्षित रूपसे निकल कर उसमें प्रवेश कैसे हो सकेगा ? यह काम मुझे बिलकुल अशक्य मालूम होता है. " प्रधान बोला; 'महाराज ! आप चिन्ता न करें यह सेवक उसका सब उपाय जानता है. उसमें एक ऐसा मार्ग है कि नगरसे बाहर हुए और दुर्गके द्वार खोले बिना ही उसमें प्रवेश हो सकता है और मैं उस द्वारको जानता हूँ. राजमंदिर (राजभवन)से लगा हुआ जो वह बड़ा फाटक है जिसे भूतियामहल कहते हैं तथा जो सदा बंद ही रहता है, उसे क्या आप नहीं जानते ? दुर्गमें जानेका वही मार्ग है. वह बहुत ही बड़ा सुरंग (जमीनके नीचेही नीचे जानेका रास्ता) है. उससे होकर निर्भय रूपसे दुर्गके बीचमें निकलना होता है. चलिये, तैयार हो जाइये और सेना तथा प्रजाको उसमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दीजिये.'

राजाने तुरंत ही वहाँ जाकर उस भूतियामहलका बहुत समयका बंद दरवाजा खुलवाया. भीतर बहुत ही सीधा रास्ता था, उस रास्तेसे होकर प्रजा और चतुरंग सेनासहित सारे नगरको लेकर राजा दुर्गमें गया और तुरंत वह द्वार बंद कर लिया गया.

शत्रुओंने जब यह बात सुनी तो बड़े विचारमें पड़े कि राजा न जाने किस तरह भागकर दुर्गमें चला गया. वे भी नगरको छोड़कर दुर्गके पास आये, परंतु वहाँ तो नयी माया देखनेमें आयी. प्रपंचदुर्ग एक बड़े पर्वतके शिखर पर स्थित था और लगातार उसके सात कोट (आवरण) थे. पहला कोट सोनेका किला था. वह राजा-प्रजाके निवासस्थान धन-धान्यके भाण्डार और निरंतर पूर्ण रहनेवाले सरोवर (जलाशय) से परिपूर्ण था. उसके चहुँ ओर चाँदी और चाँदीके आसपास ताँबा, ताँबेके

* ऐसा किला जो तोड़ा और प्रवेश न किया जा सके.

बाद बहुत ही दृढ़ लोहा और उसके चहुँ ओर पत्थर तथा पत्थरके आस पास गहरा जल (जलकी खाई) और उसके बाद बड़ी बड़ी खाइयों और शिखरोंसे घिराहुआ अत्यंत दुर्गम पर्वतका किला था. इस तरह एकसे बढ़ कर एक ऐसे अत्यंत कठिन सप्त किलाओंसे सुरक्षित् रहनेवाले प्रपंच दुर्गको देख कर शत्रु वहाँके वहाँ ही सन्न रह गये. उन्होंने अपनी अपनी अपार सेनाको साथ लेकर चारो ओरसे बहुतसी हाय हाय (खटपट)की, परन्तु किसी तरहसे भी किला तोड़नेमें समर्थ न हो सके. निदान उन्होंने हार कर चले आनेका विचार किया. ऐसे समय शांतिप्रियका चतुर प्रधान चित्त-वीर्य दुर्गके ऊपरसे रह कर उन पर अस्त्रों और शिलाओंकी ऐसी मार करने लगा कि जिससे भयभीत होकर वे चारों ओर भागने लगे परन्तु भाग कर जायँ कहाँ ? बड़ी बड़ी खाइयों और पहाड़ियोंकी नोकदार और आड़ी पड़ी हुई शिलाओंसे होकर भागजाना सरल कार्य न था. ऊपरसे पत्थरों और अस्त्रोंकी वर्षासे वे किस तरह बच सकते थे ? उस मारसे उनके बड़े बड़े योद्धा भागने लगे और अधमरे हो गये. जब शत्रुओंने बचनेका कोई उपाय न देखा, तो हम सब आपकी शरणमें है, इस लिए हमारी रक्षा कीजिये इस तरह राजाको सूचित करनेके लिए अपनी अपनी सेनाओंमें झंडे खड़े कर दिये और उसी तरहके वाजे बजवाये. अवसर देख प्रधान चित्तवीर्यने संकेतद्वारा उनसे शस्त्र रखवा लिए और वंदीके समान उन्हें अपने अधीन करलिया. बस वे अधीन हो गये अब उनका क्या जोर चले ? जो शत्रु थे वे दास हो कर सेवा करने लगे. यह देख राजा शान्तिप्रिय बहुत प्रसन्न हुआ और शत्रुहीन होकर निष्कंटक राज्य करने लगा. "

इस तरह रहस्य और मर्मपूर्ण, संसारदुर्गका मार्ग बतलानेवाली कथा कह कर बटुकमुनिके पिताने कहा; "पुत्र ! राजा वरेंसु ! भला कहो इस राजाके इतिहाससे तुम क्या समझे ? यह किसके आश्रयसे ऐसे महाक्रूर और मदोन्मत्त अनेक शत्रुओंसे बचा ?" वामदेवजीने कहा; "पिताजी, दुर्गका आश्रय सत्य; परन्तु चित्तवीर्य प्रधान न होता, तो इस दुर्गमें जानेका मार्ग कौन बतलाता ?" यह सुन वृद्धि ऋषि बोला; "सच है, इन सब बातोंका रहस्य संसारी और त्यागीके संबंधमें घटालेना चाहिए ! मनुष्य प्राणी शान्तिप्रिय राजाके समान ही शान्त स्वभावका है. वह यदि संसारका अनुभव न कर उसका त्याग करे, तो अत्यंत निर्दय, काम, क्रोधादिक छः शत्रु उसे घेर लें. इन सबमें काम अग्रणी

है. कामरूपी शत्रुके घेरतेही मनुष्य उसके वश हो जाता है और वश हुआ कि फिर उसका नाश होनेमें क्या विलम्ब ? इस समय शत्रुओंसे घिरे हुए–घबराये हुए प्राणीको शुद्ध चित्तरूप प्रधान, सुमार्ग बतला कर, प्रपंच-रूप (संसार–गृहस्थाश्रमरूप) दुर्गका आश्रय कराता है. इस दुर्गके सोने चाँदी आदिके किलारूप जैसे सात आवरण हैं, वैसे ही इस संसारदुर्गमें भी हैं. वे आवरण–संयम, शान्ति, विवेक, भक्ति, श्रद्धा, ज्ञान, और वैराग्य हैं. ऐसे आवरणोंके किलेमें रहनेवाले प्राणीको जब शुद्ध चित्तरूप प्रधानकी सहायता हो तो संसारके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि बलवान् और घातकी शत्रु कुछ भी नहीं कर सकते. परन्तु वे उसके अधीन हो जाते हैं अर्थात् शुद्ध चित्तवाला विवेकी मनुष्य संसारमें रह कर उसके द्वारा काम क्रोधादिको जीत लेता है. परंतु त्यागीसे इनमेंसे कुछ नहीं हो सकता. त्यागी निराधार और असहाय है, इस लिए उसे काम क्रोधादि शत्रु एकदम वश कर लेते हैं. अंतमें उसके त्यागका विनाश होजाता है. गृहस्थाश्रमी अर्थात् संसारी पर काम क्रोध आदि छहो शत्रु कदाचित् एक ही वार चढ़ाई करें, परन्तु उसे एकदम पराजित या वश नहीं कर सकते, किन्तु त्यागीको (संसारका अनुभव न करनेवाले कच्चे त्यागीको) तो उन छःमेंसे एकाधिक ही पल भरमें निग्रह स्थान (त्याग करने योग्य स्थान) में ला पटकता है. सिर्फ एक काम ही (कामदेव) वैसे सैकड़ों त्यागि-योंको, उनके सैकड़ों वर्षोंके किये हुए त्यागके होते भी पलभरमें भ्रष्ट कर डाला है और सुन्दरीके साथ रमण करनेके घड़ी भरके सुखके लिए उनके बहु कालीन तपको यों ही गँवाया है. इसी तरह अकेले क्रोधके ही अधीन हो कर सैकड़ों त्यागियोंने अपनी सुकृतियोंको भस्मीभूत कर दिया है. मोह और लोभने भी सैकड़ों त्यागियोंको अपने पाशमें डाल, उनकी लज्जा लुटाई है ऐसेही मद मत्सरको भी जानो. सबसे बचनेके लिए, विवेक वीरको, जैसे परमार्थ करना योग्य है, वैसे ही प्रपंच–साधन भी जरूर जानना चाहिए. " इतना कह कर, मुनि–पिता कुछ देरके लिए चुप हुए और सभासदोंको क्या होता है, यह देखने लगे.

त्रयोदश बिन्दु

त्यागकी विडंबना (अनादर)

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥

अर्थ—पाप करनेके पीछे जिस पुरुषको पश्चात्ताप होता है उसे हरिस्मरण एक परम प्रायश्चित्त है.

सब शान्त हैं. रात्रिके सूर्य—चन्द्रदेव—पूर्ण कलाओंसे प्रकाशित हो रहे हैं. बटुक अपने पिताकी मोह प्रकृतिका विचार कररहे हैं कि मोहरूप ववंडरके वेगमें पड़े हुए सूखे पत्तेके समान इस लोकके प्राणियोंको ऐसी विषममति क्यों प्राप्त होती है? अरे ये सभी जन्म जन्मान्तरमें संसार क्लेश भोगने पर भी अविद्याके बलके कारण अभी भी संसारसागरमें गोते खानेमें ही आनन्द मानते हैं. इनकी स्थिरता—मुक्ति, कैसी कठिन है! संसारका प्रपंच ऐसा रचा गया है कि, उससे वे कठिनाईसे भी पार नहीं हो सकते. ऐसे विचारमें वह लीन है, इतनेमें राजा वरेप्सु, बटुकके पितासे बोले; " ऋषिराज! आपने अभी जो कहा वह यथार्थ है. काम सबको गिरादेनेवाला है, बहुतसी अप्सरादिक सुन्दरियोंने कामदेवके तीव्र बाणोंसे अनेक मुनियोंके मन विचलित किये हैं. मोहके वश होनेवालोंके भी अनेक उदाहरण हैं. कामदेव तो इतना प्रबल है कि वह मनुष्यकी सारी इन्द्रियोंको एकदम वश कर लेता है; परंतु त्यागीको फिर किसका लोभ? लोभ तो विशेषकर केवल धनका होता है और त्यागीको तो उस धनकी कुछ आवश्यकता ही नहीं होती. "

ऋषि बोला; " तू सोचता है उस तरह सब त्यागियोंमें त्यागके पूर्ण लक्षण नहीं होते. किसीमें एक तो किसीमें दो और किसीमें तो सभीका

अभाव होता है. स्त्री त्याग दी हो परंतु काम नहीं त्यागा, घर छोड़ दिया हो परन्तु लोभ नहीं छोड़ा. इस विषयकी भी एक कथा है वह सुनो."

" राजा ! किसी नगरमें एक राजपुत्र और प्रधानपुत्र दो युवा मित्र थे. वे विद्वान् और सुन्दर लक्षणवाले होते हुए भी स्वभावके कुछ विनोदी थे. कभी कभी नगरके रम्यवन उपवनमें उनकी विचरण करनेकी आदत थी. एक दिन वे दोनों घोड़े पर सवार होकर फिरनेको निकले और सुन्दर पुष्पवाटिकाओं तथा बगीचोंमें फिरते हुए उपवनसे निकलकर कुछ आगे बढ़ गये. वहाँ रास्तेमें एक छोटीसी बिना छाई हुई कुटी दीख पड़ी. उसमें एक त्यागी पुरुष बैठा था, उसने मृगचर्मका आसन बिछा रखा था. शरीर पर एक कौपीनके सिवा दूसरा एक भी कपड़ा न था. सिर पर सुन्दर जटा और शरीरमें विभूति रमाई थी. सामने धुनी जल रही थी. आँखें बंदकर वह दोनों हाथों द्वारा सिद्धासनवाली ज्ञानमुद्रा कर ध्यान-स्थके समान बैठा था. पासमें दूसरा कोई न था. रहनेको पर्णकुटी भी न थी. वे दोनों मित्र उसके पास गये और उसकी ऐसी निःस्पृही त्यागवृत्ति देखकर राजपुत्र प्रसन्न हुआ. वह उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगा -कि, " धन्य है इस साधु-योगीको, कि जो सारी आशा तिनकेके समान त्याग, विराग धारणकर ईश्वरके ध्यानमें मस्त हो ऊपर आकाश और नीचे धरतीका आश्रय किये हुए है ! अहो ! इसको मायाकी जरा भी स्पृहा नहीं, धन्य है!" यह सुन प्रधानपुत्र बोला; "हाँ, साधु है तो प्रणाम करनेके योग्य. परन्तु यह आप किस परसे कहते हैं कि इसे संसारकी कोई इच्छा नहीं और यह सारी वासनाएँ त्याग बैठा है." राजपुत्र बोला; "यदि ऐसा न हो तो ऐसे निर्जन स्थान और ऐसी अकिंचन (दीन) अवस्थामें क्यों रहता ? देखो इसके पास कपड़े तक नहीं और न रहनेको स्थान ही है." प्रधान पुत्रने कहा; "ऐसा होनेसे क्या हुआ ? क्या इस तरह सारी वस्तुएँ त्यागकर अकिंचन (गरीब) होनेसे आत्मा पवित्र होजाता होगा. अधिक तो क्या परन्तु अंतमें अपना शरीर भी त्याग करे तो भी मन निर्वासनामय (इच्छा रहित) हुए बिना आत्मा कैसे शुद्ध होगा ? मन ही संसाररूप अविद्याका कारणभूत है. मनका नाश हो तभी संसार-माया-मोह-ममता-प्रपंचका नाश होता है और मन बढ़ता रहे तो ये सब भी बढ़ते ही रहते हैं. गीता-उपनिषद् कहते हैं कि:—मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥ मनुष्योंके बंधन और मोक्षका कारण केवल मन ही है. मनुष्य

जैसे, डोरसे पशुको बांध कर वशमें रखता है, वैसे ही मन देहादिक सब विषयों–प्रपंचोंमें, राग–प्रीति पैदाकर मनुष्योंको वशमें रखता और यही मन विषयमें वैराग्य पैदा कर जीवको बंधनमुक्त भी करता है. यह योगी देखनेमें वैराग्यवान् और त्यागवृत्तिवाला है परन्तु इसका मन संसारके विषयोंमें बँधा या मुक्त है, चलो इसकी परीक्षा कर देखें."

ऐसा विचार कर वे दोनों उस त्यागीके पास जा दूरसे प्रणामकर खड़े रहे. फिर प्रधान-पुत्र बोला; "अहो प्रियमित्र, यह महात्मा–योगिराज कैसा ध्यान–मग्न है!! इसकी एकाग्रता कैसी है! इसका तीव्र वैराग्य कैसा सुन्दर है! इसके पास कुछ भी नहीं है. मानों इसे संसारमें कीसी चीजकी इच्छा ही नहीं है. इसने वर्तन या वस्त्र भी पास में नहीं रखे. ऐसे गरीब (अकिंचन) साधुकी सेवा करनेमें महापुण्य है. ऐसे पुरुषको यदि किसी वस्तुका दान दिया हो तो उसका सहस्रगुणा फल मिलता है. मैं सोचता हूँ कि, तुम्हारे और मेरे मुकुट (किरीट) पर जो अमूल्य मणिके लटकन हैं और जिनका मूल्य कोई सामान्य राजा नहीं दे सकता तथा जिनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वे लोहेको भी स्वर्ण बना देते हैं उनका दान इस साधुको दिया जाय तो अपना यह मानव देह सफल हो! परन्तु हम इसको, ये किस तरह दें? यह तो दृढ़ समाधिमें है, दोनों हाथोंसे मुद्रा की है, पासमें कुछ कपड़ा भी नहीं है कि उसके छोरमें बाँध दें. मणि उसके आगे खुली छोड़ दें तो कोई न कोई ले जायगा. अब क्या करें?"

वह त्यागी महात्मा नेत्र बंद कर आनंदसे ईश्वरका भजन कर रहा था. उसने इन दोनोंकी बातें आद्यन्त (आदिसे अंततक) सुनीं और बड़ी उत्कंठासे अपना मुँह फैलाया–कि मणि रखनेका सबसे निर्भय स्थान यह है!!

इस तरह मुँह फैला देख, उसके मर्मका समझ जानेवाला प्रधान पुत्र मनम हँसा और संकेतद्वारा राजपुत्रको समझाया कि, देखो, इस त्यागीकी निःस्पृहता? देखा इसका निर्लोभीपन? कहो भला, अब इसका त्याग कहाँ जाता रहा. बहुत देर हुई मणिकी आशासे मुँह बंद नहीं हुआ, तब प्रधान पुत्रने उस धुनीसे चुटकीभर राख लेकर जोरसे कहा; "लो रामजी, बहुत अच्छा हुआ, इस योगिराजके स्वयम ही खुल जानेवाले मुँहमें मैं मणि रख देता हूँ." फिर मणिके बदले वह राख उसमें डालकर कहा; "परंतु अहा हा! यह क्या चमत्कार! देखो तो सही! यह तो कुछका कुछ होगया.

मणि जलकर भस्म रूप हो गया! अहो! कर्मकी कैसी गति है! प्रारब्ध विना सब कचा है. आप चाहे जितना द्रव्य देना चाहें, परन्तु प्रारब्ध विना कहाँसे रहे? यह देखकर मुझे महादुःख होता है." इतना कह कर बटुकका पिता फिर बोला, कहो राजा इस तरह मणिके बदले अपने मुँहमें चुटकीभर राख आई जान उस त्यागीको भला कितना भारी खेद हुआ होगा? उसे उसी समय अपनी त्याग वृत्ति त्यागकर, धनके लोभ रूप पापका भोक्ता होनेकी आशाके लिए मनको भारी दण्ड देनेको क्रोध आया होगा. परन्तु राजपुत्र बड़ा चतुर था, वह प्रधान पुत्रके वचनके उत्तरमें बोला, "नहीं, नहीं, प्यारे मित्र ऐसा नहीं है! यह तो इनके तपोबलका या इनके उग्र त्यागका ही प्रभाव है. इनके तीव्र तपरूप अग्निसे जब ऐसा वज्ररूप मणि इस तरह भस्म हो गया, तब दूसरी चीजकी क्या आशा! इसी तरह इनके सब पाप भी जलकर भस्म हो गये होंगे! अब इन्हें किस बातकी वासना हो? और अपना दिया हुआ बेचारा द्रव्य इनके प्रभावके आगे किस गणनामें है." इस तरह मणिकी आशासे मुँहमें राख आ पड़नेसे महानिराश और खिन्न हुए उस त्यागीके मनका ऐसे वचनोंसे ही समाधान कर तथा उसे उसके त्याग तपके लिए विशेष उत्साह करके, वे मित्र वहाँसे चलते हुए. जैसे वेश्या स्त्रीको, जिसकी इच्छा हो, वह प्राप्त कर सकता है, परन्तु सती स्त्रीको तो कोई विरलाही व्याहता है—वैसेही मुँहसे विरागी होनेमें—'हमें तो इस जगतकी कुछ भी जरूरत नहीं है, भाग्याधीन हैं और वह जैसे दौड़ाता (भटकाता) वैसे दौड़ते हैं,' ऐसा कहनेवाले अनेकानेक हैं; पर पूर्ण आत्माराम तो कोई विरला ही हो सकता है. प्रिय पुत्र वामदेव! अपूर्ण त्यागीको लोभ मोहादिक शत्रु फँसाते हैं, अतः ऐसे त्यागसे तो श्रेष्ठ पुरुषोंने संसारको ही सर्वथा श्रेष्ठ माना है. इससे तू हम वृद्धोंपर दयाकर अब घर चल. मेरी अपेक्षा तुझे अपनी मातापर अधिक दया करनी चाहिए, क्योंकि वह तो जबसे तेरा वियोग हुआ तबसे अन्नजल छोड़कर बैठी है. इस लिए पुत्र! अब विलंब होगा तो तेरी माताके प्राण बचनेकी आशा नहीं है."

पिता—पुत्रकी यह बात सुन, महाराज वरेप्सु विचार करने लगे कि, 'अतिशय आग्रहकर यदि ऋषि, गुरुदेवको ले जायँगे, तो अनायास प्राप्त हुए सद्गुरुको मैं खो बैठूँगा. इस लिए किसी तरहसे भी गुरु यहाँ से न जाने पायँ तभी अत्युत्तम है, इस विचारसे राजा वरेप्सु दोनों पिता—पुत्रसे

हाथ जोड़ प्रणामकर बोले; ऋषिवर्य ! सद्गुरु देव !. मैं मन, वाणी और कायासे सर्वथा आपका दास हूँ; इस लिए मुझे त्याग कर अब आप कैसे जा सकेंगे ? मैं आपकी शरण हूँ और आपकी कृपासे ही अपार भव-यातनासे छूटकर सर्वेश्वर जैसे अच्युत परब्रह्मके प्रत्यक्ष दर्शन कर सका हूँ. मेरे तो आप ही सर्वस्व हैं, इस लिए अब मैं आपको यहाँसे जाने नहीं दूँगा. यहाँपर आपके पधारनेसे मेरा अकेला ही नहीं परंतु इस संसार मंडल–आधि उपाधिसे पीड़ित जनों–संसार सागरमें डूबते हुओंका कल्याण हुआ है और इसी तरह चिरकाल पर्यंत प्रजा (लोगों) का निरंतर कल्याण होता रहे ऐसा सुलभ मार्ग आपके द्वारा जाननेका अभिलाषी हूँ. गुरुदेव ! मैंने जो भगवत् दर्शनका अलभ्य लाभ प्राप्त किया है, वह सिर्फ आपके परम अनुग्रहसे ही प्राप्त हुआ है और वह भी फिर यह स्थूल देह छोड़कर, दूसरे दिव्य शरीरसे, इन्द्रादिके विमानोंमें चढ़कर प्राप्त किया है, परंतु इस तरह यह वस्तु सारे मनुष्योंको कुछ सुलभ नहीं है. इस लिए एक साधारणसे साधारण मनुष्य भी जिस तरह इस परम पदको प्राप्त कर सके, वैसा सर्व साध्य * मार्ग यदि हो तो उसके जाननेकी मेरी प्रबलेच्छा है. इस लिए आप मुझे अब कैसे त्याग सकेंगे ? इसी तरह अतुल भाग्यशालिनी मातुश्री, जिनकी कुक्षने आपके समान महर्षि रत्नको उत्पन्न किया है, वह भी कैसे त्यागी जा सकेंगी ? इस लिए अब तो अनति-विलंब (शीघ्रही) इतनी ही आज्ञा दीजिये कि, जिससे मैं अत्यंत शीघ्रता-से मातुश्रीको यहीं बुला लाऊँ. मातुश्री यहाँ पधारें (आजायँ) बस सब बातोंसे निःस्पृही होकर आप इस सेवकके (मेरे) शिर छत्र रूपसे आनंद पूर्वक यहाँ विराजें. आप पिता–पुत्रके ऋषि धर्मको किसी तरह हानि न होने देकर, मैं निरंतर आपकी पवित्र सेवामें तत्पर रहूँगा."

इस तरह वरेप्सु महाराजके अत्याग्रहसे वामदेवने यह बात मान ली. रात्रि थी तो भी उसी समय राजाने अत्यंत वेगवाले सवारोंको एक सुन्दर पालकी सहित ऋषिके सुदूर स्थित आश्रमकी ओर भेजा. ऋषिके बताये हुए संकेतके अनुसार वे शीघ्रतासे चार दिनोंका मार्ग सिर्फ एकही दिनमें पूर्ण करके ऋषिके आश्रम में जा पहुँचे. वहाँसे वामदेवकी मातुश्रीको उतनी ही शीघ्रतासे लेकर लौट आये. बहुत दिनोंसे पुत्र वियोगके कारण

---

* जो काम सब कर सकें.

अन्न जलका त्यागकर प्राणोंपर आ बैठनेवाली और क्षण क्षण पुत्र पुत्र रटती, योगमायाके समान ऋषिपत्नी और वटुकका जिस समय मिलाप हुआ, उस समयका वर्णन कौन कर सकता है ? पुत्रको देखतेही प्रेमके उमड़नेसे उसके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गई, दोनों स्तनों (पयोधरों) से दुग्धधारा प्रवाहित होने लगी; एकदम दौड़ कर पुत्रको बाहोंमें भर कर हृदयसे लगाते ही माता अचेत हो गई. बहुत देरमें चेत आने पर पुत्रको लगातार चुम्बन आलिंगन करने लगी और अपनी (माताकी) सुध भूल जानेके लिए वटुकको प्रेमसे उपदेश देने लगी. यह देख महात्मा वटुकने भी पूर्ण मातृप्रेम दर्शाकर उसके मनको संतुष्ट किया. इस शुभ समयमें सर्वत्र जयघोष व्याप गया.

चतुर्दश बिन्दु.

हरि भजनेका अवसर कब ?

> वीणाया रूपसौंदर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
> प्रजारंजनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥
> वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
> वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥

अर्थः—वीणाके रूप सौंदर्य और तंत्री (सारंगी)के बजानेकी सुन्दरतासे, केवल प्रजा (लोगोंका) रंजन होता है, परन्तु उससे कुछ साम्राज्य प्राप्त नहीं होता. उसी तरह शब्दोंसे होनेवाली शुद्धवाणी, शास्त्रोंके व्याख्यानकी कुशलता (प्रवीणता) और विद्वानोंकी विद्वत्ता भोगकी देनेवाली होती है, परन्तु मुक्तिकी देनेवाली नहीं होती.

फिर रात हुई. बटुकके शयनागारमें चहुँओर सभा एकत्र हुई. जैसे
चन्द्रोदय होते ही चकोर पक्षी सारे काम छोड़ कर चंद्रके
करने लगते हैं, वैसे ही सब लोग महात्मावटुकके
अमृतरसका पान ...गल कर वचनामृतका पान करनेको वारंवार
अद्भुत स्वरूप तथा ...र बैठते थे जिससे उस महात्माको पल भर भी
नके समीप आ, घेर घेर ... नित्यके नियमानुसार आज भी लोग
नेका अवकाश न मिलता था. इस समय वह तेजस्वी बालमहात्मा अपनी पूज्य
...के पास आकर बैठे. अनेक मधुर वचनोंसे उनको प्रसन्न कर रहे थे.
मातुश्रीके चरण दावते हुए चरण चापते थे. उपवासादिसे शिथिल
हाराजा वरेप्सु बटुकके पिताके ... उनको ...लासे. अवकाश
ना... मातुश्री थोड़ी देरमें सो गई. तब बटुकको करनेका विचार किया. परंतु
रखनेसे देख, एक जिज्ञासुने उनसे कुछ प्रश्न त्यों ही राजा बीचमें
कारण वह हाथ जोड़ कर अपना प्रश्न करने लगा, बाधा देता हूँ, इस लिए
उठा कर ...ठा; " जिज्ञासुजीव ! मैं तुम्हारे बोलनेमें

मुझे क्षमा करना. मेरा कहना इतना ही है कि, हम लोगोंने वारंवार गुरु-महाराजको वहुत ही परिश्रम दिया है. क्षणभर भी विश्राम लेने नहीं दिया. इस लिए आज इन्हें सुखसे सोने दो." यह सुन वटुक वामदेवजी वोले; "राजा मुझे किसी वातका परिश्रम नहीं है. जलका स्वभाव ही वहनेका है इस लिए वह रात दिन वहा ही करता है, उसमें उसे क्या परि-श्रम है ? इसी तरह भगवच्चर्चा करना इस शरीरका स्वाभाविक कर्म होनेसे उसमें मुझे क्या परिश्रम ? मेरा तो कर्तव्य ही यह है कि देहको निरंतर ईश्वर चर्चारूप परमार्थमें लगाऊँ. फिर सव मनुष्य प्राणीका भी कर्तव्य यही है कि, सव काम छोड़कर भगवत्स्मरणादि कार्य पहले करें. महा-पुरुषोंने कहा है:—

शतं विहाय दातव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत् ।
लक्षं विहाय भोक्तव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत् ॥

सौ काम छोड़कर भी दान करनेका अवसर आवे तो उस समय दान करना चाहिए. समय होजाय उस समय हजार काम छोड़कर स्नान करना चाहिए. फिर भूख लगे तो लाख काम छोड़ कर भोजन करना चाहिए और ईश्वरका स्मरण तो करोड़ों काम छोड़कर भी करना चाहिए, क्योंकि इस क्षणभंगुर शरीरका कुछ भी भरोसा नहीं है. कौन जानता है कि, कल—अरे ! घड़ीभरमें—क्या होगा ? हमें अपने देह, स्थिति और आयुष्यका यदि जरा भी भरोसा हो और हम किसी [illegible] होकर सव तरहसे स्वतंत्र हों, मनके इच्छानुरूप कार्य करसकनेमें कभी चूकते ही न हों तो कदाचित् ऐसी धारणा (विचार) रख सकें, कि हमें अमुक अमुक काम है उसे अमुक समय तक करके, फिर स्वस्थ हो कर भग-वत्स्मरण करेंगे. परंतु हमें क्षणभरका भरोसा नहीं है, हम किसी वातसे स्वतंत्र नहीं, अमुक समय तक संसारमें जीते रहनेका तो क्या परंतु भोजन कर पेटमें गये हुए अन्न या जल पचासकनेको भी हम स्वतंत्र नहीं, तो भी ऐसी परतंत्र परिस्थितिमें रहनेवाले हम अवकाश मिलते तक ईश्वर भज[illegible] करना मुलतवी रखें तो यह कैसी मूर्खता मानी जायगी ? यह मनुष्[illegible] तो मात्र भगवत्प्राप्तिके लिए ही वना हुआ है. इसी लिए दूसरे स[illegible] (चौरासी लाख जीव देहों) से मनुष्य देहको श्रेष्ठ कहा है. [illegible] देह (मनुष्य देह) अपार दुःख और परिश्रमके वाद भगवत्कृपासे

प्राप्त होता है, उसका मूल्य न जानकर जो मनुष्य उसे योंही गँवा देता है, वह अंतमें उस अत्यंत उद्योगी वैश्यकी तरह खूब पछताता है." यह सुन राजा बोला; "यह किस तरह महाराज?" तब वामदेवजीने उसके उत्तरमें निम्न लिखित इतिहास कह सुनाया.

"किसी समय एक योगी महात्मा फिरते हुए एक नगरमें गया. योगी अनेक तरहके होते हैं. जो ध्यान परायण हो वह ध्यान योगी, जो भक्ति परायण हो वह भक्तियोगी और जो ज्ञान परायण हो वह ज्ञान योगी है. जिसका मैं यह इतिहास कहता हूँ वह महात्मा ज्ञानयोगी था. वह स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरता और भवसागरमें डूबते और डूबे हुए लोगोंको ज्ञानमार्गकी उपदेशरूप नौकामें बैठा बैठाकर उद्धार करता था. किसी समय वह एक नगरमें गया. वहाँ एक पवित्र मठमें उसने डेरा डाला और मध्याह्न हो जानेसे भिक्षा माँगनेके लिए एक महल्लेमें पहुँचा. उस महल्लेमें एक धनाढ्य वैश्य रहता था. उसने इस महात्माको देखते ही बड़े आदरसे प्रणाम किया और घरमें भोजन तैयार होनेसे इस अतिथिरूप सत्पुरुषको जिमानेके लिए बैठाया. इच्छाभोजन करके वहाँसे विदा होनेके पूर्व ही, उस महात्माने विचार किया कि, 'इस वणिकके-अन्नसे जिस देहका पोषण हुआ है उस देहसे अपना धर्म भलीभाँति पालनकर ऋणमुक्त होना चाहिए.' वरेप्सु, ऐसे महात्माजन अनेक उपायोंसे जगतका कल्याण सही करते हैं परंतु जहाँ तक होसकता है वे स्वयं किसीके उपकार–आभारी बनना नहीं चाहते. इस लिए इस समय भी उसने उस सेठका बदला चुकानेका निश्चय किया. फिर सेठके समीप आकर कहा; "वणिक! अन्नतत्त्वसे बने हुए इस शरीरको अन्न खिलाकर तूने तृप्त किया है, यह तेरे हिताहितकी दो बातें. तुझसे कहता है उन्हें क्या तू सुनेगा?" वैश्य सोचता था कि योगी संन्यासी और क्या कहेंगे? उनका कहना वारंवार यही होता है कि, संसारकी आसक्ति त्याग दो और हरिको भजो; परंतु अब यह कहीं हो सकता है? इतना बड़ा व्यापार नाशने छोड़ दूँ? यह तो तब हो जब समय आवे. मुझे अपने कामकी रखनेसे अब भोजन करनेतकका अवकाश नहीं है तो मैं हरि भजनको कारण नेष्काम बनूँ? ऐसा विचारकर उसने उस महात्माको उत्तर दिया उठा कमराज! आप जो कहना चाहते हैं उसे मैं जानता हूँ. वह मेरे

हितहीकी बात है परन्तु अभी तो मैं बहुतसे कामोंमें फँसा हूँ. आप फिर कभी आकर मुझे कृतार्थ करेंगे !" महाउद्योगी वैश्यका ऐसा उत्तर सुनकर, वह योगी महात्मा हरिस्मरण करते वहाँसे विदा हुआ.

इस बातको बहुत दिन बीत गये तब फिर भी वह योगिराज फिरते फिरते वहाँ आया. उसे देख वणिकने भोजन करनेकी विनयकी तब योगीने कहा; "भाई भोजन तो मुझे जहाँ मिला वहीं कर लिया है, परन्तु तूने मुझसे पहले कहा था कि, 'महाराज! किसी दूसरे समय आना, इस लिए मैं आया हूँ. क्या तू दो घड़ी स्थिरचित्त करके ईश्वर संम्बन्धी दो शब्द सुनेगा ?" वैश्य बोला; "क्या करूँ महाराज! आज तो मुझे जरा भी अवकाश नहीं है. आप फिर किसी समय पधारना." योगिराज 'अस्तु' कहकर फिर गया. वह बहुत दिनोंके बाद फिर उसके दरवाजेके आगे आकर खड़ा हुआ. उसे देखते ही वैश्यने कहा, "योगिराज ! आज तो जरा भी अवकाश नहीं है. आप कल या परसों पधारना." वह चला गया और दो दिन बाद फिर आया, तब वणिक बोला; "कृपानाथ क्या करूँ ? अभी मैं कामसे नहीं छूटा. यह देखो, देशावरके अढ़तियोंकी हुण्डियाँ आकर थोकको थोक एकत्र हुई हैं, उनके चुकानेकी तजवीज करनी है. फिर ये चार पाहुने भी आये हैं, इनकी भी व्यवस्था मुझसे अच्छी तरहसे नहीं हो सकी. तीसरे पहर राजदरबारमें जाना है और वहाँ देशके व्यवस्था संबंधी नियमोंमें राजाको कुछ सलाह देना है. चुकारेके संबंधमें एक साहूकार व्यङ्ग बोलता है, इससे न्यायाधीशके पास जाकर सब वृत्तान्त निवेदन करना है. फिर रातको सभामें जाना है और पड़ोसी राजाकी ओरसे मेरे व्यापारमें जो हानि होरही है उसका समाचार उस राजासे निवेदन करना है. आज तो महाराज ! बहुत काममें फँसा हूँ, इस लिए आप कल पधारना कल मैं आपकी बात अवश्यही ध्यान देकर सुनूँगा."

इस तरह अनेक बार चक्कर खानेपर भी जिसे परोपकार अत्यंत प्रिय है, ऐसा वह महात्मा आने जानेके हिंडोलेमें चढ़ा हुआ भी अधीर नहीं हुआ. वह जीव, धर्म वृत्तिवाला था, इससे उस योगीको उसके कल्याण[illegible] कामना होती ही रही. इससे फिर बहुत दिनोंमें वह योगी वहाँ गया. [illegible] उस वैश्यने कहा, महाराज आज तो मैं एक व्यापारीके हिसाबमें [illegible] फँसा हूँ, कि क्षणभर भी चैन नहीं है. संध्याके पूर्व ही वह काम ठीक[illegible]

क्या लेन देन निकलता है, उसका हिसाब उतार लूँगा तभी रुका हुआ रुपया (रकम) मिलेगा, नहीं तो भारी हानि होनेकी संभावना है, आप कृपाकर कल अवश्य पधारिए."

इस तरह आज नहीं कल आना और कल आया तो फिर कल आना इस तरह कल कल करते बहुत दिन बीत गए तो भी उस वैश्यको अवकाश नहीं मिला. वैसे ही उस महात्मा योगीको भी उस वैश्यके उद्योगीपनके लिए बहुत आश्चर्य होनेसे वह कौतुक देखनेके लिए उसके कथनानुसार बार बार चक्कर खाता रहा. ऐसा करते हुए एक दिन वह महात्मा फिर उसके यहाँ गया और देखता है तो, अफसोस ! जिस वणिकको क्षण भर भी कामसे अवकाश न मिलता था आज वह आप ही आप सब काम छोड़कर बिछौने पर पड़ा हुआ है. उसके शरीरको भयङ्कर रोगने घेर रखा है, उसे इतना कष्ट होता था कि, जिसका वर्णन नहीं हो सकता. ऐसी दशा देख योगिराज बोला; " क्यों भाई आज तुझे अव-काश है ? आज निठल्ला है ? आज तो काममें नहीं है ? अपने इतने काम छोड़कर आज तू इस तरह निश्चिन्त बिस्तर पर क्यों पड़ा है ? आज तेरा यह काम कौन करता है ? मुझे आश्चर्य होता है कि, आज तुझे कैसे अवकाश मिला ? " ऐसे मर्म पूर्ण वचन सुनकर दुःखमें डूबा हुआ वह वैश्य बोला; " महाराज, देव, महात्मा, प्रभु, अब तो मैं कालके गालमें पड़ा हूँ. अब मैं क्या करूँ ? अरे अपने कामोंको कैसे संभालूँ ? अरे रे. मुझे धिक्कार है, आप जैसे महात्माका, केवल मेरे ही मंगलके लिए किया हुआ परिश्रम मैंने जरा भी नहीं गिना. अरे रे. मैंने कल कल करके आपको अनेक चक्कर खिलाए तो भी इस पापी जीव (मैं)ने इन कानोंसे आपके अमृतमय उपदेश नही सुने. योगिराज ! मैं इस भयंकर कालके पाशमें फँस गया हूँ. अरे कल कल करते मेरा कल पूरा नहीं हुआ, परन्तु यह काल (मृत्यु) आ पहुँचा. संसार सुखमें मग्न रहनेवाला मैं आज दुःखमें रगड़े खारहा हूँ. अरे मैंने नहीं जाना कि इस क्षणिक शरीर सुख और बिजलीके समान मालूम होनेवाले तथा नाशवंत चपल दृश्यद्वारा प्रतीत हुए व्यावहारिक सुखोंमें आसक्ति रखनेसे कल्याण नहीं है और इससे विषय जन्य सुखमें लीनहो, दुःखका कारण रूप संसार ही सेया है और इच्छारूप अनेक तरंगोंके, जो प्रति क्षण उठा करती हैं पूर्णकरनेमें ही लगा रहा हूँ और उसमें असफल होकर

विकल होने पर भी मैंने पलभर हरिस्मरण नहीं किया. अपने मलीन संस्कारोंसे कर्तव्य भोक्तव्यके अभिमानमें ही रहा हूँ और इसीसे मैंने तुम्हारे उपदेश सुननेकी जरा भी इच्छा नहीं की. हरे हरे. मेरे समान अभागी कौन होगा, जिसने घरमें आई हुई गंगाके स्नानका लाभ (पुण्य) नहीं लिया, अरे. अंजलि में आये हुए अमृतको विना पिये वहजाने दिया. हाय, हाय, अब मुझे निश्चय होता है, कि संसारमें तो कभी भी अवकाश मिल ही नहीं सकता. एक न एक काम आता ही रहता है. अरे मुझे अपने कामकी इतनी बड़ी चिन्ता थी कि कामके झमेलेमें पड़कर मैं भोजन भी नहीं करता था. वह काम अब मेरे विना चाहे जैसा होजाय, तो भी मैं कुछ नहीं कर सकता, जैसा पड़ा हूँ वैसा ही पड़ा हूँ. देव! आजमैं जानता हूँ कि, इस संसारमें कभी अवकाश नहीं मिल सकता. अमुक काम कर लूँ, या अमुक वस्तु पूर्ण कर फिर निश्चिन्त होकर भगवद् भजन करूँगा, ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य निरा मूर्ख है और वह मेरी नाई परम दुःख पाकर निराश होता है. हे देव! अब आप मुझे तारो, अरे उबारो, मुझे इस संसार सागर (भवाब्धि) के विषयजन्य सुखसे छुड़ाओ."

इतना कहकर वह रो पड़ा और नेत्रोंसे आसुओंकी धारा वहाते हुए योगिराजसे विनयकर क्षमा माँगी तथा निवेदन किया कि "कृपानाथ अब जैसे हो मुझपर दया करो. मैं पापी हूँ. मैं महामूढ़ हूँ. देव! आपकी शरणमें हूँ इस लिए जैसे बने मुझे तारो." करुणास्वर—गद्गद् स्वरसे बोलते हुए उस वैश्यको देख, और उसकी ऐसी दयापूर्ण स्थिति अवलोकन कर तथा उसका अंतःकरण संसार कार्यसे विरक्त हुआ जान, योगीने उसे अधिकारी देख तुरंत भगवत् शरणका ब्रह्मोपदेश देकर कृतार्थ किया. फिर उसे आशीर्वाद देकर वहाँसे चला गया और उस वैश्यके उस जन्मके अनेक पापोंके कारण उसके आत्मा (जीव)के लिए जो विकराल (भयंकर) यमदूत आये थे उन्हें वहाँसे निराश होकर लौटना पड़ा. अंतकालमें होनेवाले ब्रह्मोपदेशके द्वारा मुँहसे प्राण त्यागकर, वह वैश्य अंतमें ईश्वरकी आराधना करके परम गतिको प्राप्त हुआ.

पंचदश विन्दु

पाँचड़े (रिकाव) में पैर और ब्रह्म उपदेश

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

श्रीमद्भगवद्गीता.

अर्थ—जो पुरुष सब कामनाओंका त्यागकर निःस्पृह, ममता और अहंकार रहित हो विचरता है, वह शान्ति प्राप्त करता है.

यह वात सुनकर उस प्रश्नकरनेवाले जीवको तो पहले ही संतोष हो-चुका था, परन्तु महाराजा वरेप्सु, यह दृष्टान्त पूर्ण होते ही शंका कर उठे. उन्होंने हाथ जोड़कर कहा; "कृपानाथ ! इस तरह क्षणभरमें उस वैश्यको भगवदुपदेश कैसे हुआ और इतनेहीमें उसकी सद्गति कैसे हुई, यह वात मेरे ध्यान में नहीं आती. क्योंकि जिस वस्तुकी प्राप्तिके लिए असंख्य साधन करते हुए जन्मान्तरमें भी प्राणी थक जाता है, वह वस्तु ऐसे संसारिक–मायावश जीवको सहजमें प्राप्त होजाना आश्चर्यकी वात है." यह सुन गुरु वामदेवजी बोले; "राजा, इसमें आश्चर्यकी कुछ वात नहीं है. उपदेश होनेके समयका जो क्षण है, उसे क्षण नहीं समझना चाहिए. पृथ्वीमें वीज वोनेमें क्षणहीभर लगता है, परंतु अंतमें उस वीजका जब बड़े विस्तारवाला फलित वृक्ष होता है, तब उसके देखनेवालेको क्षणकी महत्ता मालूम होती है. इसमें मूल महत्ता कुछ क्षणके लिए नहीं है, मतलब दूसरा ही है. यदि क्षण नहीं, अनेक दिनोंतक अत्यंत परिश्रम करके वही वीज, क्षारवाली भूमि वा पाषाणमय पृथ्वीमें वोया गया हो तो, उसका परिणाम वैसा नहीं होता जैसा किसी रसमयी भूमिमें वोनेसे होता है. वह वीज तो वोतेही नष्ट हो जाता है.

इसी तरह सारे उपदेश बीजवत्ही हैं और उस उपदेशरूप बीजको बोने और उपदेश करनेमें क्षणभर ही आवश्यक है. क्योंकि वह बीज यदि उपयुक्त स्थान (अधिकारी स्थान) में, शुद्ध-श्रद्धालु पवित्र अधिकारीके हृदयरूप रसवाली भूमिमें-बोया जाय तो, अंतमें भगवत भक्तिरूप बड़ा फलित वृक्ष हो जाता है और उसके भगवत्प्राप्तिरूप अमरफलका रस पीकर प्राणी अजरामर होजाता है. परंतु राजा! जब ईश्वरकी कृपासे ऐसे सारे संयोग साथ ही एकत्र हो जायँ, तभी उसका परिणाम आता है. जन्म जमान्तरके सुकृत्य, संसारसे विरक्ति, उन्नत भावना और उस योगद्वारा निष्पाप हुआ श्रद्धालु हृदय तथा उसके बाद किसी महात्मा सद्गुरुका भगवदुपदेश, ये सब मिलें तो फिर प्राणीको तरजानेमें क्या विलंब है? ऐसे तरनेवालोंके अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं.

किसी समय छादितबुद्धि * नामका एक समर्थ राजा होगया है. वह बड़ा प्रतापी होनेसे राज्य भार ऊपर आतेही अपने आसपासके सब राज्योंपर अपना दबाव रखनेका प्रयत्न करने लगा. वह सिर्फ प्रयत्न ही करताथा सो नहीं, परंतु जिस राज्यपर वह धावाकरता उससे जयलाभ किये विना लौटताही नही था. इन सबका कारण उसका उद्योगीपन था. साधारण राजाकी तरह कभी भी अन्तःपुर या राजभवनमें बैठकर वह गप्पें मारने या विलासमें निमग्न नहीं रहता था. वह, उसका घोड़ा और उसका धनुषबाण, साथ ही साथ रहते थे. जब देखो तभी वह सवार होकर फिरता और सदा सचेत रहता था. फिरना और ढूँढ़ना, लड़ना और जीतना, घेरना और स्वाधीन करना यही उसका नित्यका कर्तव्य था. उसकी राजगद्दीका सिंहासन उसके चपल घोड़ेकी पीठ थी. अपने संध्या वंदनादि नित्य कृत्यकर भोजन करने और जो आवश्यक हो वही राजकाज देखने सुननेके समय वह घोड़ेसे उतरता था. उसके ऐसे स्वभावसे दूसरे कर्मचारी भी अपने काममें पूर्ण सावधान रहते थे और राजधानी तथा मांडलीक (आश्रित) राज्यके छोटे बड़े सभी अधिकारी अपने काममें सावधान रहते थे. उनके मनमें सदा भय बना रहता कि न जाने किस समय राजा सामने आकर खड़ा होजायगा. मतलब यह

---

* ढँकी हुई बुद्धिवाला अर्थात् शुद्ध बुद्धिवाला होते भी प्रापंचिक मायाके आवरणसे ढँकी हुई बुद्धिके समान.

कि स्मरण गामीके समान जब जहाँ चाहिए तब तहाँ वह राजा आकर मानो खड़ा ही है. इस तरह निरंतर घोड़े पर सवार होकर वह फिरा करता था. जैसे उसके शरीरको कुछ अवकाश नहीं था वैसेही मनको भी जरा स्थिर रहनेका अवकाश नहीं मिलता था. अमुक प्रान्तका 'कर' बाकी है, अमुक प्रान्तके लोगों पर शक्तिसे ज्यादा 'कर' का बोझ है, अमुक स्थानमें प्रजाको चोरोंका उपद्रव होने लगा है, अमुक सीमा-पर राज्यके छिपे शत्रु प्रकट होने लगे हैं, अमुक जगहमें अनाजकी उपज न होनेसे प्रजा दुष्कालके पंजेमें फँसी है, आदि अनेक विषयों और स्थानों-पर उसका मन सदा फिरता और मंथन किया करता था.

राजाकी ऐसी दशादेख, उसके तन, मन और आत्माके आरोग्यके लिए रानीको बड़ी चिन्ता रहती थी. इतना परिश्रमशील होनेपर भी राजा अपने सब कामोंमें नियमित था, इस लिए जहाँ तक संभव होता उसके शरीरको कोई रोग पीड़ित नहीं कर सकता था. तो भी अतिशय परिश्रम मनुष्यको किसी समय अनियमित कर ही देता है, और उससे मनुष्य बड़ी व्यथामें जापड़ता है. इतना ही नहीं, परन्तु अत्यंत परिश्रमके कारण मनकी पवित्रताका भी नाश हो जाता है और मनकी पवित्रता जाते ही आत्माकी उन्नति भी दूर होजाती है. इस लिए उसकी रानी, जो धर्मशीला, ब्रह्मज्ञानकी जाननेवाली, चतुरा और पतिव्रता थी, वह राजाके निरंतर भटकते हुए तनमनको किसी भी रीतिसे स्थिर और विश्राम करने-वाला बनानेकी अभिलाषिणी थी.

एक बार उस रानीको किसी पर्वके दिन देवतादिके दर्शनोंके लिए उपवनमें जाना पड़ा. साथमें अनेक दास दासियाँ और रिसाला था. उपवनके अनेक रम्य स्थानों तथा सुन्दर वाटिकाओंका अवलोकन करते हुए, एक रमणीय आश्रम दिखाई दिया. उसमें एक महात्मा पुरुष निवास करता था. तीर्थादि स्थलोंके जानेका पूर्ण (गर्भित) हेतु यही है कि, वहाँ जानेसे किसी महात्मा पुरुषके दर्शनोंका अनायास (बेप्रयास) ही लाभ मिले. संतको ढूँढ़ती हुई रानी आश्रममें गई. वहाँ एक सत्पुरुष आनन्दसे बैठे हुए ईश्वरका भजन कररहा था. रानीने जाकर उसे प्रेमसे प्रणाम किया और अपना नाम बताया. संतने उसे आशीर्वाद देकर, उसके राजा प्रजा और प्रधानकी कुशलता पूछी. रानीने कहा; " मुनिवर! आपके आशीर्वादसे सर्वत्र आनन्द है; परंतु किसी समय

उससे मुझे भारी शोक प्रकट होनेकी बड़ी चिन्ता रहा करती है. मेरे पति पृथ्वीपालको विना विश्राम, निरंतर-रात दिन-राज्यकार्यके भारी झमेलोंको मंथन करनेका जादू (चेटक) लगा है. प्रयत्न तो स्तुत्य (प्रशंसाके योग्य) है तथा यह राज्य जो अभीतक सर्वत्र सुखी और निष्कंटक माना जाता है, इस अत्यंत परिश्रमका ही फल है, परन्तु महाराज! नीतिका वचन है कि, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्,' यह झूठ नहीं है. मेरे स्वामी आजतक न शान्तिसे सोये और न भोजन ही किया, तो आत्मशोधनका ध्यान तो उन्हें होवे ही कहाँसे ? यदि निरंतर ऐसा ही होता रहा तो अंतमें इनके सुखमें भारी धक्का लगना संभव है और परलोक तो निश्चय ही बिगड़ेगा तथा अनेक सुकृतियोंसे प्राप्त हुआ यह मनुष्य शरीर योंही (व्यर्थ) चला जायगा. इस विषयमें मैं और प्रधानादि प्रजामंडलने उनसे बहुबार विनय करनेका प्रयत्न किया; परन्तु वह हम लोगोंमें से किसीकी कुछ भी नहीं सुनते, इस लिए सिर्फ मैं ही नहीं राजा प्रजादि हम सब आपके आभारी बनेंगे."

रानीकी प्रार्थना सुन, उस महात्मा पुरुषने कहा; "राजपत्नी! तेरे मनमें पैदा हुई राजाकी आरोग्य विषयक सावधानी अनुचित नहीं है. उसकी ऐसी परिश्रम शीलतासे उसके परलोक पतनका दूसरा महाअनर्थ प्राप्त होना भी सत्य है. प्रत्येक मानव प्राणीका यह कर्तव्य है कि वह अपने मनुष्य जन्मको सफल कर यथाशक्ति परमार्थ साधन करे. यह साधन, सिवा मनुष्यदेहके और किसी भी देहसे होना अत्यन्त अशक्य है; इस लिए प्राणीपर दयाकर यह साधन करनेको ही ईश्वर, मनुष्य देह देता है. ऐसी परम कृपासे प्राप्त हुआ मनुष्यदेहरूप अमूल्य लाभ, केवल एक संसार कार्यमें ही खोदेनेसे, हाथमें आये हुए अमृतको पीनेके आलससे, राखमें डालदेनेके समान होता है. राजा अपने राज्यकी रक्षाके लिए निरंतर परिश्रम करता है, यह उसका धर्म है, और क्षत्रिय होकर, जो क्षात्र धर्म त्याग करे, वह अपना धर्म त्यागनेसे भी पीछे गिरता है और दूसरे धर्मका सेवन करनेवाला अंतमें पतित होता है. अतः संसार कार्यके साथ ही उसे अपने आत्मकल्याणका भी परिश्रम करना आवश्यक है. राजबाला! तू चिन्ता न कर, सब ईश्वरके इच्छानुसार होगा. मैं किसी समय तेरे यहाँ स्वयं आऊँगा और जहाँतक होगा उपदेश करके

राजाका मानसिक परिश्रम न्यून करूँगा." मुनिके ऐसे वचन सुन रानी खड़ी हुई और उनकी आज्ञासे प्रणामकर वहाँसे नगरमें चली गई.

एक दिन महाराजा छादितबुद्धि अपने स्नान संध्यादिक नित्यकर्म पूर्ण करके अंतःपुरमें, रानीके भवनमें भोजन करता था, इतनेमें एक दूत आया. बाहर खड़े रहकर, उसने दासीद्वारा भीतर कई सांकेतिक शब्द कहला भेजे. इसमें दासी या रानी इत्यादि किसीको कुछ भी समझ नहीं पड़ा, परन्तु राजा सब समझ गया. तुरंत भोजन छोड़ वह मुँह धोकर झट उठ बैठा. रानी बहुत कुछ कहती रहगई कि, "कृपानाथ ! इस तरह भोजनसे आधा भूखा नहीं उठना चाहिए, यह तो भोजनका अनादर करना कहाता है." परन्तु राजाने किसीका कुछ न माना और तुरंत पोशाक पहर ड्योढ़ीपर घोड़ा तैयार रखनेके लिए सेवकसे कहला भेजा. ज्यों त्यों पान खाकर, झटसे कमर कसी. धनुष, बाण, तलवार, ढाल आदि हथियार बाँध लिए और "जय श्रीहरि" का मंगल शब्द कहते हुए वहाँसे तुरंत बाहर निकल आया तथा देखते देखते स्वयं अपने मंत्रणा स्थानमें आ बैठा. वहाँ पर उसके सब छोटे बड़े मंत्री उपस्थित थे; उनसे यह सलाह (मंत्रणा परामर्श) ठहरी कि, "आज रातको सारी सेना तैयार रखनी चाहिए और दूतके द्वारा मैं आज्ञा भेजता हूँ कि शत्रुपर तुम तुरंत चढ़ आओ. शत्रु बलवान् है, तथापि विदेशी--दूर देशका होनेसे अनजान है. उसे एकदम दबा देनेसे, उसका कुछ भी बल नहीं चलेगा. अभी मैं अकेला ही जाता हूँ और अपने निरीक्षण दुर्गपर चढ़कर, उसकी सेना आदिकी सारी व्यवस्था छिपकर प्रत्यक्ष देख आता हूँ, जिससे यह मालूम होजाय कि उसका बल कितना है."

बस, राजा खड़ा हो गया. सभा उठ गई. वहाँसे उठकर वह तुरंत राजभवनकी चौकमें आया. ड्योढ़ीके सामने उसका चपल अश्व सजकर खड़ा था. वह दूरसे अपने सवारको देखते ही हिनहिनाने लगा. उसके पीछे और भी पचासों सवार साथ जानेको तैयार खड़े थे. ड्योढ़ी, राजभवनके सिंहद्वार (महाद्वार) के पास ही थी. तरुण हाथीके समान शीघ्रतासे चलता हुआ राजा, अपने घोड़ेके समीप आ पहुँचा. इतनेमें उसने महाद्वारके पास किसी तेजस्वी योगी पुरुषको प्रवेश करते देखा. वह कटिमें बाघाम्बर पहरे था, सिरमें जटामुकुट, सारे शरीरमें भस्म, गलेमें रुद्राक्षकी माला, हाथमें दंड और कमण्डल तथा मुँहमें "नारायण" नाम धारण किये

था. जैसे अग्निमें तपाया हुआ सोना, आसपास भस्मसे ढँका हो वैसे ही इस योगीकी कान्ति देख राजाकी दृष्टि स्वयम् ही उसकी ओर विनीत भावसे आकृष्ट हुई और जो स्वयम् शीघ्रतासे चला आता था, वह कुछ मंद होगया. वह अपने घोड़ेके निकट आ पहुँचा, इतनेमें योगिराज भी वहाँ आ पहुँचा, राजाने उसे झुककर प्रणाम किया और घोड़ेपर चढनेको उतावला होनें पर भी हाथ जोड़कर विनयकी कि "मुनिवर! आपके शुभागमनसे मैं कृतार्थ हुआ. मेरा भवन पवित्र हुआ. आज आपने किस हेतुसे यह भूमि पवित्रकी है? जो आज्ञा हो कहिए." योगीसे इतनी बातें कीं सही परंतु राजाका चित्त तो अपने कार्यमें व्यस्त था, इस लिए अपने प्रश्नका उत्तर मिलनेके पूर्व ही उसने एक हाथ घोड़ेकी पीठ पर रख, पैर रिकाब (पाँवडे) में डाला और छलाँग मारकर घोड़े पर सिर्फ चढ़ बैठनेकी देर थी. उसका जी इतना उतावला हो रहा था कि, जो एक क्षण बीतता था वह उसे पहर भरके समान लगता था. पर चाहे जैसा आवश्यक कार्य होने पर भी ऐसे महात्माके सम्मुखसे, उसकी अवज्ञा कर, विना आज्ञा चला जाना, उसके (महात्मा) अपमान किये जानेके समान हो, इस लिए बड़े कष्टसे वह अपने मनोवेगको रोक कर खड़ा रहा. इतनेमें योगिराज बोला. "राजा, मुझे तो कुछ इच्छा नहीं, परन्तु मैं बहुत दिनोंसे तेरी राज्यभूमिमें रहता हूँ, इससे तेरा कुछ उपकार करना आवश्यक है, यह जान कर मैं यहाँ आया हूँ. मैं तुझे ऐसे सत्य शुद्धमार्गका उपदेश करना चाहता हूँ जिससे तेरा मंगल (कल्याण) हो और अन्तमें तू अनन्त सुखोंका भोक्ता हो." यह सुन राजा बोला; "कृपानाथ! आप मेरा कल्याण चाहते हैं, यह बड़े हर्षकी बात है और वैसा उपदेश सुननेको मैं तैयार हूँ, परन्तु आप जानते ही होंगे कि, अपना सब राज्यकाज मैं स्वयम् देखता (निरीक्षण करता) हूँ. मुझे क्षण भरका भी अवकाश नहीं मिल सकता. और आज तो मैं ऐसे जरूरी काममें फँसा हूँ कि उसमें यदि मुझे जरा भी देर हो तो पलमें प्रलय हो जाय और सारे राज्यमें भारी हानि पहुँचे. इससे अब तो आपके उपदेशके लिए कोई खास समय मिलना कठिन है. मैं भलीभाँति जानता हूँ कि, आप जैसे महात्मा मुझ पर कृपा करनेको पधारे हैं और घरमें आई हुई गंगाका शीघ्र (सद्य) लाभ न ले लिया तो फिर वैसा अवसर मिलना दुर्लभ ही है, परन्तु क्या करूँ? मैं

दीन हूँ तो भी मेरे कल्याणके लिए आपको जो कुछ कहना हो, वह झटपट इस एक क्षणमें कहा जा सके तो कहिए."

इतना कह कर वटुक वामदेवजी फिर बोले; " वरेप्सु ! यह कौन योगी था तूने क्या उसे जाना ? छादितबुद्धिकी रानीको उस उपवनमें जो मुनि मिला था वह यही मुनि है. रानीके निवेदन करने पर राजाकी सारी स्थितिका अभिज्ञ (जानकार) होनेसे राजाकी ऊपरी विनय उसने ध्यानमें रख कर, तुरन्त उसीके अनुसार कहा. वह बोला " सत्य है राजा, तेरा मंगल हो, तू सावधान हो, एक चित्त हो, और मैं कहूँ उसे सुन कर आनन्दसे अपने काममें चला जा. ले, यह मैंने, झटपट एकक्षणमें कहा. राजाने हाथ जोड़े और पैर रिकाबमें होने पर भी नीचे झुक, कान योगीके मुँहके पास लगाया. तब धीरेसे, जिससे दूसरा सुन न सके इस तरह योगिराज, उसके कानमें; " तत्वमसि " अक्षरोंका उपदेश करके दूर हट गया और बोला; " वत्स ! जा, अब इस मन्त्रका स्मरण और मनन करते हुए सुखसे अपना कार्य साधना." उपदेश हो चुका. वेदका वाक्य—महात्माका उपदेश इतना ही होता है. उसी समय राजा उसे वन्दन कर घोड़े पर सवार हो चलता हुआ और चलते चलते इस योगीकी पूर्ण संभाल करनेके लिए अधिकारियोंको आदेश देता गया. वे पचास सवार भी शीघ्रतासे उसके पीछे चले.

योगीके पाससे रवाना हो राजा बड़े सपाटेसे चला और थोड़ी देरमें बहुत दूर निकल गया. मार्गमें एक गहन वन आया, उसे पार कर उस ओर जाना था. ग्रीष्मकाल था, भास्कर भगवान् सिर पर आगये थे, धूप इतनी प्रबल थी कि सवार और घोड़ा पसीने पसीने हो गये थे. सबको प्यास भी अधिक लगी और यह इच्छा हुई कि, थोड़ी देर कहीं आराम करें तो ठीक हो. ऐसी इच्छा जान कर राजाने एक सुन्दर अमराईके नीचे घोड़ा खड़ा किया. सब उतर पड़े. जल पीकर शान्त हुए. राजा भी एक आमके झाड़के सहारे जरा विश्राम करनेको बैठा और विचार करने लगा कि शत्रु बड़ा बलवान् है, उसे कैसे पराजित कर सकेंगे. श्रमित होनेसे सहजहीमें उसकी आँखें लग गई और कुछ देरमें उसे स्वप्नके समान कुछ आभास मालूम हुआ. मानो उसको कोई चतुर दूत हाँफ कर दौड़ते हुए आया और इस राजाके आये हुए शत्रुराजा संबंधी बड़ा

भय प्रदर्शित करने लगा तथा अपने जीवन भर कभी न होनेवाले भारी पराजय की भावी सूचना राजाको देने लगा. यह समाचार सुन राजा बहुत घबराया और मनमें बड़ा खेद करने लगा कि, "अरे, मेरे सिरपर शत्रुका नाम भी न था, उसमें आज यह क्या घटना घटी ? अब मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? उससे और मुझसे किस बातकी शत्रुता है ? मेरा शत्रु कौन है" इस तरह खेद कर रहा था, इतनेमें उसे मानो भ्रान्तियुक्त शब्दकी तरह सिर्फ इतना ही उत्तर मिला कि "तत्वमसि—वह तू ही है !" इसी समय उसका घोड़ा हिनहिनाया ! वह शब्द सुनते ही राजाकी आँखें खुल गईं और वह स्वप्नमें होनेवाले आभासके विषय आश्चर्य सहित विचार करने लगा कि, "अरे ! मैंने यह क्या सुना ? तत्वमसि यह शब्द राजभवनसे निकलते समय उस योगीने मुझसे कहा था, वही फिर यहाँ मुझसे किसने कहा ? इसमें क्या मतलब है ? इसका अर्थ तो स्पष्ट है. तत्—त्वम्—असि, वह—तू है. इसमें मुझे क्या समझना है ? स्वप्नमें शत्रुके भयसे जब मैं चिन्तित हुआ तब भी तत्वमसिकी ध्वनि हुई. वह—तू—है ! अरे यह क्या ? वह मैं हूँ ? मैं कौन हूँ ? वह कौन है ? यद्यपि स्वप्नमें मैंने उन योगी महात्माको तो देखा नहीं, पर स्वर तो वास्तवमें उनके स्वर जैसा ही था. यह चाहे जैसा हो परंतु यह शब्द कहते समय उन्होंने मुझे सूचित किया था कि, इस शब्दका स्मरण और मनन वारंवार करना. परन्तु मैंने तो उसका यहाँ आते तक पल भर भी विचार नहीं किया. क्या इसी लिए उन महात्माने अपने योगबलसे मुझे यहाँ उसका स्मरण कराया होगा. परन्तु अहा ! स्वप्नमें शत्रुके भयसे मैं खेद करने लगा. उसके उत्तरमें कहा कि, तत्वमसि ! इसके कहनेका क्या भाव है ? क्या तत् अर्थात् वह और वह अर्थात् शत्रु और वह मैं हूँ ? यह शत्रु कौन है ? क्या वह शत्रु मैं हूँ ? नहीं, नहीं ! शत्रु तो दूसरा ही है. अपना शत्रु मैं कैसे ? पर नहीं इसमें कुछ कारण होगा, या कि अपनी चिन्तामें मुझे स्वप्नकी व्यर्थ व्यग्रता हुई होगी. स्वप्नमें कई बार ऐसा चित्र विचित्र दीखता है, पर उसका कुछ भी अर्थ नहीं होता. इस तरह राजा अपने मनको समझाताथा, तो भी उसको समाधान नहीं होता. उसके मनमें वही विचार आकर नित्य घुलाया करते. इस तरह तत्वमसि महावाक्यके अर्थकी खोजमें वह इतने गहरे उतर गया कि उसे जो बड़े शत्रुके विषयकी भारी चिन्ता व्याप्त हुई थी और जिसकी खोज करनेको वह

इतनी शीघ्रतासे ठीक तीसरे पहर निकल पड़ाथा, वह बात भी पल-भर भूल गया ! थोड़ी देरमें शान्त हुए सवार फिर तैयार हुए और कहने लगे कि, 'कृपानिधान ! अब समय क्यों खराब करना चाहिए ?' राजा तुरंत सचेत होकर घोड़ेपर सवार हुआ और वहाँसे सबने एकदम कूच किया.

चलते चलते वे बहुत दूर निकल गये. शत्रुका पड़ाव अनुमान चार कोसकी दूरी पर था और निरीक्षण दुर्ग भी उतनी ही दूर था. इतनेमें उन्हें रास्तेमें कुछ दूरी पर धूल उड़ते मालूम हुई. कुछ देरमें चमकते हुए भालेकी नोक और फहराती हुई ध्वजा दीख पड़ी. अधिक समीप आने-पर मालूम हुआ कि, कोई एक बली घुड़सवार आता है. उसके शरीरका प्रचण्ड रूप, उसका भयंकर मुखमंडल, विशाल भुजाएँ, शरीर पर पड़ा हुआ कवच, टोप, दृढ़ और तीक्ष्ण हथियार तथा उसका बड़ा घोड़ा इत्यादि देख कर राजा सहित इन पचासों वीरोंके मन आश्चर्य पूर्ण हो गये ! पहले तो वे ठंडे ही पड़ गये ! उस दूतके मुँहसे सुने हुए समाचारके आधार और उस वीरके पोशाकसे ही राजाने कल्पनाकी, कि यह शत्रु सैन्यका वीर है. किन्तु अहो ! जिसकी सेना ऐसे प्रचण्ड योद्धाओंसे सजी होगी, ऐसे शत्रुको हम स्वप्नमें भी कैसे जीत सकेंगे ऐसी कल्पनासे छादितबुद्धिका मन चिन्तित हो उठा ! पल भरमें वह सवार उनके निकट आ पहुँचा और वह कहाँ जाता है, कौन है, यह जाननेके लिए, राजा उससे पूछना ही चाहता था, कि इतमें राजचिह्नोंसे उसे राजा जानकर वह वीरही बोल उठा; " अहो ! जिन प्रतापी भूपतिकी विशाल राज्यभूमिमें मैं खड़ा हूँ और अपने स्वामीकी आज्ञासे जिनसे मिलना चाहता हूँ, उन महाराज छादित-बुद्धिकी ही यह सवारी होगी, ऐसा अनुमान करनेमें मैं भूलता तो नहीं हूँ ? यह सुन छादितबुद्धिका एक सवार बोला; " वीर ! तुम्हारा अनुमान ठीक है. परंतु तुम्हें भी अन्तर्मतिके अधिकारी समझनेमें हम कुछ भूल तो नहीं करते ? आप हमारे स्वामीसे क्यों मिलना चाहते हैं ? " यह सुनते ही घोड़ेसे उतर उस वीरने राजाको प्रणाम किया और फिर अपने पाससे एक पत्र निकाल कर, राजाके हाथमें दिया. पत्र पढ़ते ही राजाकी सारी चिन्ता एकदम दूर हो गई उसने सवारको उत्तर दिया कि, " बहुत अच्छा, अब हम वहीं आते हैं. यह बहुत अच्छा हुआ कि हमें मार्गमें ही समाचार मिल गया. "

तुरन्त ही सब उस सवारके साथ चले. छादितबुद्धि अन्तर्मतिसे* जा मिला. अन्तर्मतिने उस समय जो प्रेम दर्शाया, उससे स्पष्ट मालूम हुआ कि, उसके संबंधमें उसे शत्रु समझकर छादितबुद्धि जो विचार रखता था, वह उसकी भूल थी. अन्तर्मति यात्राके लिए निकला था और छादितबुद्धिके प्रसिद्ध राज्यकी सीमामें पड़ाव डाला था इस लिए उससे मिलने जाना चाहिए, यह जाननेके लिए उसने उस वीरके हाथ उसे पत्र भेजा था. फिर छादितबुद्धिने उस महात्मा राजाको योग्य सम्मान देकर, अपने नगरकी ओर चलनेका आग्रह किया, परन्तु उसी दिन वहाँसे कूच करनेका निश्चय कर उसने (अन्तर्मतिने) निमंत्रण स्वीकार नहीं किया और बहुत प्रेम दिखा कर सेना सहित रवाना हुआ. छादितबुद्धि भी उसे कुछ दूर पहुँचा कर पीछे फिरा.

दूसरे दिन अपने नगरकी ओर आनेके लिए छादितबुद्धि वहाँसे रवाना हुआ. रास्तेमें उसे इस घटनाके लिए अनेक विचार आने लगे; "अहो कल इस समय मैं बड़ी चिन्तामें था! मुझे पूरा भोजन भी न भाता था! उस पेड़के नीचे तो मेरी व्यथाका पार ही न था और उसी व्यथामें यदि रास्तेमें उस सवारसे न मिल कर मैं बाहर ही बाहर निरीक्षण दुर्गपर जा पहुँचता तो निःसन्देह अपने हाथों भारी अनर्थ बटोर लेता! रातो-रात दुर्गकी सेना ले जाकर उस राजा पर अकस्मात् छापा मारता और नींदमें ही हजारों निरपराधियोंका संहार करता तथा ऐसे बड़े राजाकी निष्कारण छेड़ करनेसे बड़ा द्वेष और भारी दुश्मनी होती. अरे! जो अभी ही परम मित्रभाव प्रकट कर जुदा हुआ, वह निष्कारण भयंकर अनिवार्य शत्रु होजाता और सबका कारण मेरी उतावली—मेरा अविचारपन होनेसे मेरे हाथोंसे ही मेरे शान्त राज्यमें भगदर पड़ती, अपना नाश मैं स्वयम् ही कर लेता अर्थात् मैं ही अपना शत्रु होजाता! अहा! वास्तवमें उस वृक्षके नीचे मुझे जो स्वप्नाभास हुआ था उसका यथार्थ भावार्थ

* टीका—छादितबुद्धि=जिसकी बुद्धि ढँकी हुई है. अंतर्मति=सात्विकबुद्धि. योगिराज=गुरु अथवा सत् असत् विचारवृत्ति दर्शानेवाला. स्वप्नमें जो तत्वमसिका विचार आया वह, वह सदसत् विचार शीलता है जो मनन रूपसे, राजस वृत्तिवालेको प्राप्त हुई. अंतर्मतिको शत्रु माननेका यह कारण है कि सात्विक वृत्तिसे राजस वृत्तिवालेका मेल नहीं मिलता—अति प्रवृत्तिमान (संसारसक्त) जीवको ईश्वरके स्मरणकी इच्छा ही नहीं होती.

मैंने अब समझा. स्वप्नमें मुझे सूचना हुई थी कि, तत्वमसि, वह सत्य है. तत् अर्थात् वह—मेरा शत्रु, जिसके भयसे मैं बहुत घबराया था, वह शत्रु दूसरा कोई नहीं, परन्तु वह तो मैं ही अर्थात् अपना शत्रु मैं ही था. मैं जिसे मानता-विचारता था, वह मेरा शत्रु नहीं, परन्तु मैं उसे शत्रु मानता था. इस लिए अपना शत्रु मैं ही हूँ. मैं उससे यदि उसी प्रकार शत्रुतासे व्यवहार करता तो वह शत्रु अवश्य बहुत अनर्थ पैदा करता, इस लिए मुझे तत्वमसि महावाक्यका जो उपदेश हुआ वह यथार्थमें भ्रम नहीं परन्तु मेरे कल्याणके लिए है. वह उपदेश मुझे किसने दिया होगा. ध्वनि तो उन योगिराजकी जैसी ही थी ! परन्तु स्वप्नमें वे मुझे नहीं दिखे. अस्तु ! किन्तु उससे क्या हुआ ? वैसे महात्मा तो भविष्यतके ज्ञाता होते हैं और अपने योगबलसे जो चाहे सो कर सकते हैं. घरसे निकलते समय उन्होंने मुझे जो उपदेश दिया, वही उपदेश यहाँ भी दिया. पर दोनों जगह वह कैसे संभव हो सकेगा ? यहाँ तो मानों तत्वमसिसे सूचित किया कि, तेरा शत्रु तू ही है; परन्तु पहले कहे हुए तत्वमसिका क्या अर्थ है ? उस समय उन्होंने भगवदुपदेश दिया था. उसमें यह "तत्वमसि" महावाक्य किस तरह घट सकता है ? तत् अर्थात् वह भगवत्स्वरूप; त्वमसि अर्थात् क्या तू है ? अर्थात् क्या वह परमात्मा मैं स्वयं हूँ ? अः ऐसा कहीं हो सकता है ? जीव प्रत्यक्ष और परिच्छिन्न (अपूर्ण) है और ब्रह्म परोक्ष तथा परिपूर्ण है. इस तरह दोनों विरुद्ध हैं वे एक कैसे हो सकते हैं ? मैं घबराता, रोता, चलता, कामी, लोभी, मोहांध, तृष्णावाला, आदिशरीरी और सुखदुःखादि अन्तःकरणका धर्मवाला हूँ, अभिमान रूप उपाधियुक्त हूँ, तो निरुपाधिमय, इस जगतका संपूर्ण उपादान कारण और जो सर्वज्ञ है वह नारायण मैं कैसे हो सकता हूँ ? परब्रह्ममें सर्वज्ञत्व जगत्कर्तापन है, वह उपाधि रहित है, अज्ञान रहित है, द्वैत रहित है, नाश रहित है और अनुभवगम्य चैतन्य है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ ? मैं अल्पज्ञ अल्पशक्तिवाला देहधारी नर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परब्रह्म कैसे हो सकता हूँ ?—अद्वैत ब्रह्म, सत्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, मुक्त है प्रपंच रहित है, अविनाशी है और मैं क्षणभंगुर, मिथ्याभिमानी, पापमय हूँ वह मैं ब्रह्मरूप कैसे हो सकता हूँ ? तो क्या उस महात्मा पुरुषका उपदेश असत्य है ? मैं ही परमात्मा हूँ तो फिर मुझे चाहिए ही क्या ? परमात्मा तो सर्वसमर्थ है और मैं इस एक शत्रुका सिर्फ समाचार ही जान कर मृतक जैसा हो गया,

तो मैं क्या समझूँ ? स्वयम् तो मैं कुछ भी नहीं समझ सकता. अब तो उपदेशक इसे जब स्वयम् ही समझावेगा तभी समझूँगा. इस लिए सब छोड़ अब उस महात्मासे ही जाकर मिलना चाहिए. अहो ! उनकी शक्ति कैसी अद्भुत है. उनकी परोपकार बुद्धि कैसी है. उन्होंने मुझे इस बड़े अनर्थसे उबारा है. उनके ऐसे बड़े उपकारके बदले में क्या कर सकता हूँ ? बस दूसरा कुछ भी नहीं, सिर्फ पूर्ण प्रेमसे उनकी सेवा करूँगा और जैसा वे कहेंगे वैसा ही करूँगा. इस लिए अब जैसे बने वैसे उनसे शीघ्र जा मिलूँ तभी ठीक है. "

ऐसा निश्चय होते ही राजाने अपना घोड़ा एकदम रवाना किया. सारा रिसाला भी तुरन्त रवाना हुआ. विचार ही विचारमें उसने बहुत बड़ा मार्ग तय कर लिया. नगरमें पहुँचते ही सब मन्त्री और अधिकारी राजासे आ मिले. शत्रुसंबन्धी प्रश्न आतुरतासे पूछनेपर भी कुछ उत्तर न देकर राजाने उनसे सिर्फ यही पूछा कि, "वह योगिराज कहाँ है ? उनका प्रबन्ध सुचारुरूपेण किया है वा नहीं ? उन्हें कहाँ उतारा है ? चलो मुझे उनके दर्शन करना हैं." यह सुन अधिकारी किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये. उन्होंने विनय की; "महाराज ! यहाँ अब योगिराज कहाँ है ? वह तो उसी समय चले गये. आपके आदेशानुसार हमने बहुतेरा आग्रह किया परन्तु वह निःस्पृही महात्मा तो ईश्वरका स्मरण करते चले गये."

राजा बिलकुल निराश हो गया. जितने उत्साहसे वह राजभवनमें योगिराजसे मिलने आया था उतना ही यह समाचार सुन कर निराश हो गया ! वह बोला अरे ! अब उन महात्माको मैं कहाँ खोजूँ ? वह न जाने कहाँसे आये और कहाँ गये होंगे ? ऐसे महात्मा तो किसी गहन पर्वतकी गुप्त गुफामें रहते हैं. इस लिए अब उनका पता मुझे कहाँ मिल सकेगा ?" इस प्रकार चिन्ता करता हुआ, जिन्होंने उस समय महात्माको प्रत्यक्ष देखा था, उन लोगोंमेंसे, अनेकको उनकी खोजके लिए भेजा. फिर चिन्तित चित्तसे वह रनिवास (अन्तःपुर) में गया. वहाँ रानीने इस तरह उदास देख, उदास होनेका कारण पूछा, तब राजाने कहा; "देवी, क्या कहूँ जिन्होंने मुझे पलभरका समागम होनेपर ही मेरे भावी संकटसे मुझे उबारा, उन महापुरुषकी कुछ भी सेवा या आतिथ्य सत्कार किए बिना मैं मूर्ख अपने कार्यके लिए चला गया. हरे ! हरे ! अब स्वप्नमें भी

उनका फिर समागम मुझे कहाँसे हो सकता है ? परन्तु जब उनके दर्शन होंगे तभी मुझे भोजन भावेगा. ” राजाके मुँहसे ऐसे वचन सुनते ही, रानी मनमें बहुत हर्षित हुई. उसने जाना कि, अब कुछ दशा फिरी. सब समाचारोंसे रानी जान गयी थी इससे आनंदसहित आश्चर्य करने लगी कि, “ अहो ! उस योगिराजने मुझे वचन दिया था, तदनुसार परोक्ष (गुप्त) रीतिसे मुझपर बड़ी कृपा की है ! अहा ! कहाँ राजकाजके लिए राजाकी दौड़ धूप और कहाँ सत्समागमके लिए अब उसकी तरशती हुई मनोवृत्ति ! धन्य है सत्समागमको ! सत्पुरुषके सिर्फ दर्शनके प्रभावको भी धन्य है ! राजा पहले मेरे पास कभी इतनी देरतक नहीं बैठता था. अब वह सारे राजकाज भूल कर, सिर्फ उस महात्माके दर्शनकी ही गम्भीर चिन्तामें निमग्न है. अब हमें सबके कल्याणकी आशा होती है. ’

इस बातका रहस्य सिर्फ वही जानती थी, इससे राजाको धीरज देकर बोली:—“ प्राणनाथ ! चिन्ता न कीजिए. जिसके लिए अत्यंत व्यग्रता होती है, उसकी शीघ्र प्राप्ति होती है ! आपके भेजे हुए अधिकारी क्या संदेशा (समाचार) लाते हैं यह जाननेके बाद दूसरा उपाय करूँगी. आप निश्चिन्त होकर भोजन और विश्राम करें. ”

अधिकारी चारों ओर घूम फिर कर लौट आये, परन्तु योगिराजका कुछ पता न चला, तब राजा अधिक निराश हुआ. तो भी रानीने उसे धीरज देकर दूसरे दिन अकेले ही अपने साथ चलनेकी प्रार्थना की. वह बोली:—“ प्राणनाथ ! मैंने उस महात्माको अपने नगरमें आनेपर तो नहीं देखा; पर इस उपवनमें मुझे एकबार किसी महात्माके दर्शन हुए हैं; इस लिए कदाचित् वही आपको दर्शन दे गये हों तो चलो, पहले हम वहीं चलें. ” फिर वे उस उपवनमें गये. वहाँ रानीने वह आश्रम दिखाया. राजाने धीरे धीरे भीतर प्रवेश किया और पर्णशालाके पास जाकर देखा तो वही ज्ञानमूर्ति भीतर विराज रही थी ! राजाके हर्ष और आश्चर्यका पार न रहा ! उसी समय उसने बड़े प्रेमसे भूमिपर गिरकर उनके चरणोंको दंडवत्प्रणाम किया, फिर दोनों हाथ जोड़ नम्र होकर चकितके समान खड़ा रहा, परन्तु मुँहसे कुछ भी बोल न सका. राजाको आया देख, महात्माने तत्काल आशीर्वाद देकर सामने पड़े हुए आसनपर बैठनेको कहा. राजा सपत्नीक बैठा. उस समय राजाको उस सद्गुरुके पुनः

दर्शनसे उतना ही आनंद हुआ जितना निर्धन पुरुषको उसका खोया हुआ धन फिर हाथ लगनेसे होता है. महात्माने जान लिया कि, 'अब इसका अन्तःकरण स्वात्मशोधनकी ओर झुकनेसे इसको अधिकार प्राप्त हुआ है; इसपर पड़ा हुआ मायारूप अंधकारका पर्दा अब दूर होगया है, यह पात्र है, अधिकारी बना है, उपदेशके योग्य है.' ऐसा ज्ञानसे जान कर वह बोला:- "क्यों राजा, किस लिए आगमन हुआ? सर्वत्र कुशल तो है?" राजा बोला:- "कृपानाथ, आपकी कृपासे सर्वत्र कुशल है. आपका आशीर्वाद ही सब अशुभको शुभरूप और अकुशलको कुशलरूप करनेवाला है. हे संत! आपकी ही प्रेरणासे बड़ी आपदसे बच गया हूँ. अब नित्यकी कुशल प्राप्त करनेकी इच्छासे आपकी शरणमें आया हूँ. हे सद्गुरुदेव! मैं अज्ञान हूँ, अधम हूँ, संसाररूप पाशमें भलीभांति जकड़ा हूँ, इस लिए मुझपर दया कर मुझे उस पाशसे मुक्त करो. मैंने जन्मसे आज पर्यन्त सिर्फ नाना उपाधिपूर्ण राजकार्य ही जाना और देखा है. इसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं समझता. मैं निरा मूर्ख हूँ. संकल्प विकल्पवाले मनसे पैदा हुई मानसिक उपाधिके कारण मैं अपार दुःखी हूँ. हे देव! मैं ऐसा दुःखी हूँ, यह भी मात्र आपके दर्शनसे ही समझनेको भाग्यशाली हुआ हूँ, नहीं तो तेलीके बैलकी परिक्रमाकी तरह मैं ऐसा समझकर पचा मरता था कि यही मेरा जीवन, यही सुख और यही सर्वस्व है. मेरा मन उससे विराम (स्थिरता) न पाता था. यद्यपि इस उपाधिसे अपार दुःख आ पड़ता और उससे मैं महाकष्टसे पार पाता तो भी वह मुझे कभी अप्रिय नहीं लगता था. हे गुरुदेव! अब तो पलपलमें स्वयम् ही मेरा मन उससे ऊबता जाता और आपके वचनामृत श्रवण करनेकी उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है. मैं जानता हूँ कि, मेरे किसी पूर्वके पुण्योदयके कारण ही यह संयोग प्राप्त हुआ है. नहीं तो आप ही आप, आप जैसे महात्माके दर्शन मुझे कहांसे होते? अपने पूर्व सुकृतके कारण ही मुझे आपका समागम हुआ है. हे महाराज! अब आप मेरे सब कष्टोंको दूर कर, मुझे ऐसा परम सुख दो, जो न कभी न्यून हो—न दूर हो."

यह सुन, योगिराज बोले:— "तत्त्वमसि!" ऐसा उत्तर सुन कर तो राजा चकित ही हो गया. वह यह सुन, पुनः पुनः अपने मनमें विचार करने लगा कि, "यह क्या आश्चर्य! महाराज तो प्रत्येक प्रश्नका सिर्फ एक ही उत्तर देते हैं; इससे मैं क्या समझूं? क्या भगवान् भी मैं स्वयं हूँ? और अवि-

नाशी सुख भी स्वयं हूँ? अस्तु ! चाहे जैसा हो; इसमें भी कुछ तात्पर्य अवश्य होगा. परंतु वह इनके समझाये विना ध्यानमें नहीं आ सकता." ऐसा विचार कर राजा फिर हाथ जोड़, नम्र होकर बोलाः—"हे देव ! हे सत्पुरुष ! मैं अज्ञ और निर्बुद्धि हूँ. सारासार समझ न सकनेसे विचार-हीन कृपण भी हूँ, इस लिए मेरी इस दशापर दया करो, दया करो. आपके उपदेशरूप महावाक्यका अभिप्राय न समझ सकनेसे घबराया हुआ मैं, शिष्य होकर आपकी शरण आया हूँ, इस लिए मेरा मोह मिटाकर मुझे निःसंशय करो." तव योगिराज बोलेः—"तत्त्वमसि !" राजा फिर चकित हुआ; क्या अपना गुरु भी मैं ही हूँ? यदि ऐसा होता तो मुझे इनके पास यहां क्यों आना पड़ता? ऐसी शंका कर, राजा फिर उनसे पूछना चाहता था, इतनेमें वे योगी कहने लगेः—"हे राजा ! विचार करनेके पीछे तुझे मेरा कहा हुआ निःसंदेह सत्य प्रतीत होगा, इस लिए तू उतावला न होकर, घर जा और एकान्तमें वैठ, एकाग्र चित्तसे अच्छी तरह मनन कर. हे नरेन्द्र ! प्राणीके विचार करनेका साधन मन है. मन, वुद्धि, चित्त और अहंकारको अन्तःकरणचतुष्टय कहते हैं. परन्तु यदि मन शुद्ध हो तभी उसमें यथार्थ विचार प्रवेश कर सकता है. मन दर्पण (आरसी) जैसा है. पर दर्पण यदि स्वच्छ हो तो उसमें मुँहका प्रतिविंव पड़े. इसी तरह मन स्वच्छ—शुद्ध हो तभी उसमें अपने सत्य स्वरूपका प्रतिविंव पड़े. जैसे दर्पण अनेक प्रकारकी कालिख (काजल), धूल, धुआं, आदि वस्तुओंसे मैला होता है वैसे ही मन अनेक तरहके पापों—न करने योग्य कामोंके करनेसे मलिन होता है. ऐसे मलिन हुए मनको पहले पवित्र करना चाहिए. इस लिए आजसे तू अब वह प्रयत्न कर. हे राजा ! प्राणीका मन उसके हृदयमें रहता है और हृदय शरीरका एक भाग है; अर्थात् मनको शरी-रका आश्रय है, इस लिए उसका पोषण भी शरीर द्वारा ही होता है. शरीर जिन गुणयुक्त पदार्थोंका सेवन करता है वे गुण शरीरको होनेके साथ ही मनको भी होते हैं. शरीर जड़ और स्थूल है, परन्तु मन जड़ होनेपर भी सूक्ष्म होनेसे शरीरमें रहनेपर भी नहीं दीखता. तो भी उसकी सत्ता वहुत वड़ी है और इन्द्रियोंको वह अपने इच्छानुसार चलाता है. इस लिए शरीरकी सारी इन्द्रियों (हाथ, पैर आदि पांच कर्मेन्द्रियों और नाक, कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों) का वह राजा है. यह मन जहां दौड़ता है वहां इन्द्रियां भी दौड़ती हैं. इन्द्रियोंके द्वारा वही भले और

बुरे कर्म कराता है. इस लिए उसको पहले सुशील सुशिक्षित करना चाहिए, जिससे पापाचरणमें वृत्ति प्रेरित न होकर वह स्वयम् ही निष्पाप शुद्ध रहे. हे राजन्! स्थूल देहमें त्रिदोषका निवास है, उसको दूर करनेकी औषधि है, उसी तरह अंतरमें मल, विक्षेप (चिन्ता, व्यग्रता) और अज्ञान, ये तीन दोष हैं, उनको दूर करनेमें पहले मनको शुद्ध करनेके लिए स्थूल देहको ही शुद्ध और नियमित करो."*

मनःशुद्धिकर्म.

फिर कुछ देर ठहर कर, वह बोला:–"राजा, पापरहित होकर स्थूल देह–शरीर और मनको शुद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष प्रतिदिन पिछली चार या छः घड़ी रात रहे उठे और दूसरी किसी बातमें चित्तको न जाने देकर प्रेमपूर्वक सिर्फ परम मंगलरूप जगन्नियन्ता प्रभुका स्मरण कर उसीकी कीर्तिका गान करे. फिर शुभ वस्तुओंका अवलोकन कर, उभय कर जोड़, भूदेवी (पृथ्वी देवी) को प्रणाम कर, शौच स्नान कर, पवित्र कपड़े पहन, कुशासन या कृष्णाजिन (कृष्णमृगचर्म) अथवा ऊनके शुद्ध वस्त्रपर एकान्त और पवित्र भूमिमें शान्तचित्तसे पूर्वाभिमुख (पूर्वकी ओर मुँह कर) पद्मासन लगाकर, बैठे और एकाग्रतासे ईश्वरका आराधन करे. फिर गद्गद् स्वरसे पवित्र प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) और पापोंसे रक्षित होनेकी प्रार्थना करे.

प्रातःकालके होम और पूजनपर्यंत कर्म हो चुकने पर गृहस्थको चाहिए कि यथाशक्ति दान करे. दानमें अन्नदान सबसे श्रेष्ठ है. दान देनेवाला पात्र ऐसा हो जो उस दानकी वस्तुको सुमार्गमें खर्च करे, जिससे वह सत्कर्म करके अपना और दाताका कल्याण कर सके. तेरे समान राजाको तो नित्यप्रति बहुत बड़ा दान करना चाहिए."

"मध्याह्न काल हो, तो माध्याह्निक संध्यावंदन, पितृ आदिका तर्पण और पंच महायज्ञ करना चाहिए. देवोंको सम्बोधन कर अग्निमें होम करना

---

* टीका–जैसे स्थूल देहको रोगादिसे मुक्त होनेके लिए पहले जुलाब, फिर रोगनाशक औषधि और अंतमें शक्तिवर्धक रसायन दी जाती है, उसी तरह आत्माको सशक्त करनेके लिए–पवित्र ज्ञानका अधिकारी बनानेके लिए–पहले कर्म–व्रत, जप, तप, दान, यज्ञ, तीर्थाटनादि, संतोंकी सेवा, परोपकार, भक्तिज्ञान–देवदर्शन, देवपूजन, कीर्तन कर हरिगुण गाने और फिर ज्ञानपूर्वक भक्ति होकर उसके पुष्ट होनेपर मुक्ति होती है.

देवयज्ञ, समय पर आ पहुँचनेवाले क्षुधित अतिथिको मानपूर्वक भोजन देना मनुष्ययज्ञ, पितरोंका नाम लेकर बलि अर्पण करना पितृयज्ञ, और वेदाध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ तथा गाय, कुत्ता, कौआ, कीट पतंगादिका नाम लेकर अन्नकी बलि देना भूतयज्ञ है. ये पंच महायज्ञ करनेवाला, घरमें नित्य स्वाभाविक रीतिसे नूतन होनेवाले पांच बड़े पापोंसे मुक्त रहता है. इन पंच महायज्ञोंसे जो अन्न शेष रहे, वह गृहस्थको अपने कुटुम्बसहित आनंद पूर्वक खाना चाहिए और फिर संध्यातक बाकी रहनेवाले समयमें ऐसे काम करना चाहिए जो अपने योग्य हों. राजाको चाहिए कि उस समय अपना राजकार्य सँभाले."

"संध्या हो तो फिर स्नानद्वारा शुद्ध होकर सायंकालकी संध्या और अग्निमें होम करे. फिर सूक्ष्म भोजन कर नींदका समय होने अर्थात् पहर-भर रात तक न्यायपूर्वक व्यवहार करे. फिर पवित्र चारपायी (शय्या) पर शुद्ध कपड़े बिछा, ईश्वरका स्मरण करते हुए सो जाये. हे राजन्! यह आह्निक विधि अत्यावश्यक है. कभी भूलने योग्य नहीं है. इस लिए उसका जरा भी अनादर करनेसे बड़ा अनर्थ होता है. तू देख कि मनुष्यको बिलकुल साधारण लगनेवाली दंतधावन (दातुन) की सिर्फ एक विधि, जिसे जान अजान सभी लोग करते हैं, एक दो या तीन दिन न की जाय तो उससे कैसा दुःखमय परिणाम होता है? मुँह दुर्गंध करने लगता है? आंख, नाक, जीभ और दांतों पर मैल छाकर, जिस मुँहको कवि, कमलकी उपमा देते हैं, वह दुर्गंध करता हुआ मोरी (नाली) के मुंहकी तरह बन जाता है. इसी तरह स्नानविधि त्याग कर दी जाय तो शरीरकी भी दुर्दशा हो जाती है! मुंह, नाक, आंखें और सारे शरीरके लिए ही आह्निकका त्याग पल भर भी नहीं किया जा सकता और यदि त्याग किया जाय तो बुरा नतीजा होता है. ऐसी दशामें मनका आह्निक कितना आवश्यक होना चाहिए? मनको शुद्ध रखनेके लिए जो आह्निक किया जाता है वह यदि क्षण भर त्याग दिया जावे तो बहुत बुरा परिणाम होता है. अब तक तुझे मैंने जो संक्षिप्त आह्निकाचार कहा वह शरीर और मन दोनोंकी शुद्धि—पवित्रताके लिए आवश्यक है. शौच, दंतधावन, स्नान आदि विधि शरीरशुद्धि और संध्यावंदन, होम, भगवत्पूजन, दान, पंचमहायज्ञ तथा क्षत्रियोचित दूसरे यज्ञ परोपकार आदि विधि मनःशुद्धिकी है. इन दोनोंका परस्पर घना संबंध है और इनमेंसे किसीका भी त्याग होना संभव

नहीं है. ये दोनों (शरीर और मनकी) विधि, जीवके नित्य कर्मरूप हैं और विलकुल निष्काम होकर करनी चाहिए. संध्यादिक कर्म करनेसे किसी कामनाके सफल होनेका हेतु नहीं है, परंतु यदि न किये जायँ तो भारी हानि होती है. कर्म करनेसे मनुष्य निष्पाप होता अर्थात् उसका मन शुद्ध होता है."

मनःस्थिरीकरण (मनको स्थिर करना)—उपासना.

इतना कह कर योगिराज फिर बोलेः—" हे राजन्! तू तो इस तरह आह्निक विधिका यथार्थ पालन करता है, इस लिए तेरा मन तो पवित्र हुआ ही है, परंतु इस पवित्र मनको स्थिर करनेकी आवश्यकता है. जैसे दर्पण धोकर शुद्ध किया गया हो तो उसमें अपना प्रतिबिंब ठीक दीखता है सही परन्तु वह दर्पण यदि एक स्थानमें स्थिर हो तभी उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिंब पूर्ण रूपसे दीख सकता है, यदि हिलता झुलता या उलटा सीधा होता हो तो नहीं दीख सकता. उसी तरह मन यदि शुद्ध हुआ हो, तो भी उसके स्थिर हुए बिना उसमें अपना आत्मस्वरूप अच्छी तरहसे नहीं दीख सकता. इसलिए मुमुक्षुको चाहिए कि उसको स्थिर करे. भड़कनेवाला मन घोड़ेके समान चंचल है, बिलकुल अस्थिर है, वह प्रमादी होते भी बलवान् और दृढ़ है. वह एकाएक स्थिर नहीं हो सकता. इस मनने ही इस विश्वकी रचना की है, मनने ही जगतका सत्यत्व (सचाई) रचा है. मन हीसे संसार है. जो अद्वैत, द्वैत बन कर दिखाई देता और सत्य माना जाता है, वह अविद्यासे पैदा किया हुआ मनका खेल है. पर यह मन निदिध्यासन, सत्संग, श्रद्धा और वैराग्यसे स्थिर किया जा सकता है. जैसे चंचल घोड़ा जबतक स्वतंत्र (छूटा) रहता है तब तक बहुतसा उन्माद करता है, पर यदि उसे एक दृढ़ डोरसे खूंटेमें बांध दिया हो तो फिर उसका बल न्यून हो जाता है. इतना ही नहीं, परन्तु धीरे धीरे उसे अपने खूंटे—घुड़शालका सहवास होनेसे वह स्थान उसे प्रिय हो जाता है. क्योंकि वह चाहे जहां गया हो, वहांसे आकर खूंटेमें बँधता है और वहां उसे दाना तथा घास मिलता है. उसी तरह मनरूप घोड़ेको भी स्थिर करनेके लिए खूंटेमें बांधना आवश्यक है."

मन सब इन्द्रियोंका राजा है और उनके द्वारा वह सारे विषयोंका भोग करता है. प्रत्येक इन्द्रियके जुदे जुदे विषयभोगसे मन एक मदमत्त हाथीके समान बन जाता है और फिर विषयभोगको छोड़, दूसरे किसीको कुछ

समझता ही नहीं. इससे हाथीकी तरह ही उसका निग्रह (दमन) करना चाहिए. विषयोंमें मत्त और वनमें निरंकुश रूपसे स्वतंत्रताका उपभोग करनेवाले हाथीको पकड़नेके लिए जानेवाले, पहले एक छिपी खाई (खंदक) खोद उसीमें हाथीको कपटसे गिरा देते हैं. वहां खाने या पीनेको पानी भी न मिलनेसे, अनेक दिनोंके लंघनोंसे उसका बल मंद पड़ जाता है, तब ऊपरसे शिकारी उसे अनेक प्रकारसे मार मार कर अधिक निर्बल कर डालते हैं. इस तरह सब तरहसे उसका बल न्यून हो जाता है, तभी वह हाथी पकड़नेवालोंके अधीन होता और आजन्म उनकी आज्ञामें रहता है. वे जो बताते वही काम करता, सैकड़ों मन भार ढोता और जितना वे देते उतना ही खा कर संतुष्ट रहता है. इस तरह हाथी उनके अधीन होने पर फिर उन्मत्त न हो जाय इस लिए उसका महावत सवारीके समय उसके सिर पर बैठता है और उसका ताड़न करनेके लिए, अपने हाथमें तीक्ष्ण अंकुश रखता है. हे राजन्! इस रीतिसे जब उस मदमस्त प्राणीको बड़े परिश्रमसे वश कर सकते हैं तब फिर मनुष्यका मन, जो महामदोन्मत्त हाथीसे भी अधिक बलवान् और इस पर भी अदृश्य है, उसको वश करना कितना कठिन है, इसका तू ही विचार कर. मन अदृश्य होते भी शरीरसे दृढ़ संबंध रखनेसे उसके वश करनेके सारे उपाय पहिले शरीर पर ही करने पड़ते हैं. व्रत, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, सत्य बोलना, पर—धन और स्त्रीका तिरस्कार, दूसरेकी निन्दा और अपनी बड़ाई तथा विषयकी बातोंसे अरुचि, परमार्थमें वृत्ति, सुख दुःख सहनेकी आदत, प्राणी मात्र पर दया इत्यादि नियमोंसे शरीरको दुःख हो तो भी उन्हें सह कर, हठ पूर्वक आचरण करना, ऐसा जो शास्त्र बारंबार कहते आये हैं, वह सिर्फ मनोनिग्रहके लिए ही है. शरीरकी इन्द्रियोंका बल न्यून होनेसे वे उन्मत्त हो कर नहीं दौड़तीं. बस, उनका बल न्यून होनेसे उनके बल पर अकड़नेवाला मन स्वयं ही नर्म हो जाता है. ऐसा होनेसे यद्यपि इंद्रियों और मनका बल न्यून सही होता है तथापि वह निर्मूल नहीं होता. उन्हें यदि स्वतंत्रता दी जाय तो जैसे वे पहले थे वैसे ही फिर हो जाते हैं. इस लिए इन नम्र हुई इन्द्रियों और मनको पुनः उन्मत्त बननेका अवकाश न देनेके लिए, महात्मा पुरुषोंका आदेश है कि उन सबको भगवत्परायण बनाना चाहिए."

" मन—अहंकार जो सबका कर्ता, विकारोंका कारणरूप, और आत्म-स्थितिका चोर है तथा उसमें निवास करनेवाले " मैं " और " मेरा " इस

ममत्वको धारण करनेवाला है, जीव-मुमुक्षुको चाहिए कि उसका त्याग कर दे. जीव जो प्रत्यक् चैतन्य और सुखानंदवाला है वह मनके वश और जन्म, मरण, जरा (वृद्धापन) तथा व्याधि (रोगों)से घिरा होनेसे ही, इस संसारमें आता है. जीव सर्वदा एकरूप, चैतन्य, व्यापक, निर्विकार, आनन्दस्वरूप, निर्दोष और कीर्तिमय है, संसारमें उसके आनेका कारण मन-अहंकार ही है. इस महादुःख देनेवाले मन-अहंकार शत्रुको, असंगरूप (विरक्तिरूप) विज्ञान शस्त्रसे काट कर फेंकने पर ही जीव आत्मज्ञानरूप चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है; और परमार्थमें वृत्तियोंको लगानेसे, सारे राग (प्रेम) छूट, अहंकारवृत्ति नष्ट हो, आत्मसुखानुभवसे निर्विकल्प हो, वह जीव ब्रह्ममें ही पूर्णरूपसे निवास करता है, और यह मन—अहंकार निर्मूल होने पर भी, यदि चित्तमें क्षणमात्र भी उसका संकल्प पैदा होने पाये तो, हजारों विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं. इस लिए मनोनिग्रह करनेके बाद विषयचिन्तनको स्थान नहीं देना चाहिए. विषयोंकी इच्छावाला जीव शरीरी ही रहता है. क्योंकि वह यदि अपनेको शरीरसे भिन्न मानता हो तो विषयों और विषयजन्य सुखोंकी कामना (इच्छा) होना संभव नहीं है और इस तरह देही होनेसे आत्मासे भिन्न होता है और विषयोंकी खोजमें लग जाता है. यही संसारबंधनका महत् कारण है. इस लिए निर्बल हुई इन्द्रियों और मनको स्थिर करनेके लिए, इस मदोन्मत्त घोड़े और हाथीका दृष्टान्त ध्यानमें रख, वे जिस तरह खूंटे (खीले)से बांधे जाते हैं उसी तरह मनको भी खूंटेसे बांधना चाहिए. मनरूप घोड़ेकी खूंटी (कील) भगवदुपासना है और साथ ही श्रद्धारूप सांकलसे उसे बांधना है अर्थात् पूर्ण श्रद्धा रख कर, भगवानकी उपासना करनेमें संकल्प विकल्पका दृढ़तासे त्याग कर, भगवानकी उपासना करनी चाहिए. एकान्त और पवित्र स्थानमें पवित्र हो कर, बैठ, सब अंगों और इन्द्रियोंको स्थिर रख, आंखें बंद कर (या शक्ति हो तो खुली रख), हृदयरूप आकाशमें सूर्यके समान अथवा उससे भी अधिक तेजवाला प्रकाश मनोमय (मानसिक) दृष्टिसे देखो. यह प्रकाश सर्वत्र समानतासे पूर्ण-भरा हुआ—व्याप्त, परम सुखद (अधिक तेजवाला होनेपर भी उष्णता और शीतलता रहित) जानो, देखो और उसमें लीन हो. यह प्रकाश या तेज सबको प्रकाशित करनेवाले परब्रह्मका है, परब्रह्मकी उपासनाके लिए उस तेजका ही ध्यान धरो, क्यों कि परब्रह्म तो इस तेजसे भी परे, गूढ़ और

मनकी कल्पनासे बाहर है. वह कैसा है इसे सिर्फ वही जानता है जिसे उसका अनुभव हो. किन्तु वह भी उसका वर्णन करनेको समर्थ नहीं हो सकता. तो भी जिसे उसका अनुभव होता है वह इतना तो कह सकता है कि जगदात्मा परब्रह्म सर्वोत्तम, सुखमय, सर्वशक्तिमान्; सबका चैतन्यरूप, सबका उत्पादक (मूल), सबमें व्याप्त और सर्वरूप—जैसा मानो, कल्पना करो, वैसाही है और इसी लिए उसकी प्राप्तिके लिए उसकी उपासना करनेके लिए वेदोंने उसे नाना रूपोंमें वर्णन किया है; यह इसलिए कि, जिसे जैसी भावना हो उसी रूपसे वह उसे मान कर उसकी उपासना (भक्ति) करे. यह तेज, सवितारूप जगदात्मा ईश्वरका है और इसीके द्वारा यह सारा संसार प्रकाशित है—यही तेज हमारी प्रज्ञा (बुद्धि) को भी प्रकाशित (विकसित) कर उसकी उपासनाके लिए प्रेरित करता है. उसका रात दिन (अहर्निश) ध्यान धरनेके लिए मनुष्योंको, ईश्वरी ज्ञानके भाण्डाररूप वेदोंकी पहली आज्ञा है. यह तेज परब्रह्मरूप है और इसका ध्यान करनेके हेतुरूप, बोधरूप और साधनरूप जो शब्द प्रणव तथा गायत्री है, वही वेद है. उसीको शब्दब्रह्म कहते हैं. उसीसे वेदोंने विस्तार पाया है. इसलिए उसे (गायत्रीको) वेदकी माता कहते हैं अर्थात् उसी गायत्रीका स्मरण (जप) उसमें कहे हुए ईश्वरी तेजके ध्यानसहित किया जाय तो, उसके द्वारा मनुष्य बिलकुल निष्पाप और स्थिर चित्त-वाला होता है और अंतमें उस तेजसे परे (उस ओर) रहनेवाले अकल ब्रह्मकी निर्गुण सगुण मूर्तिमें अनुरक्त होता है. ”

‘ जगतमें जैसे मनुष्य अनेक तरहके हैं, वैसे उनका मन और उनकी रुचि भी भिन्न भिन्न होती है, इतना ही नहीं, पर उनकी प्रज्ञा (बुद्धि, मननशक्ति)में भी बड़ा अन्तर होता है. इससे न्यूनाधिक प्रज्ञाके अनुसार उनके लिए वेदोंने छोटे बड़े उपाय (साधन) भी कहे हैं. मैंने जो गायत्री विषयके ध्यान करनेकी उपासना बतायी, उसमें वारंवार सिर्फ तेज ही देख कर साधारण शक्तिके मनुष्यको आनन्द न होनेसे उसका मन वहांसे पीछे फिरता और अनेक स्थानोंमें भटक अनेकानेक वस्तुओंको अपने आगे परमार्थके हेतुरूपसे देखता है. इससे जीवका किया हुआ परिश्रम शीघ्र सफल नहीं होता और इसी लिए शास्त्रोंने आत्मज्ञानमें पूर्ण न होने-वाले जीवको; उस तेजमें परमात्माका साकार स्वरूप देखनेके लिए आज्ञा दी है. यह स्वरूप इस जगतरूपसे होनेवाले परमात्माके मूल और मुख्य

स्वरूपोंमेंसे चाहे विराटरूप हो, विश्वव्यापी रूप हो या उसके अंगभूत गणेश, अंबा (शक्ति, देवी), सूर्य, शिव, विष्णु इत्यादि सगुण परमात्माके अनेक रूपसे हो—उस पर प्रीति होती है—और वहां मन स्थिरताको प्राप्त होता है, परन्तु वे सारे स्वरूप कालान्तरमें विकृति (परिवर्तन)को प्राप्त होते हैं. पर इन सबसे आदि और बिलकुल निर्विकार रूप जो अपनी अनादिकालकी सृष्टिमें परमात्माने धारण किया है तथा जो परम आनन्दमय, उपाधिरहित, प्रज्ञानघनरूप, सच्चिदानंदरूप और सर्वथा रुचितोपक (इच्छा–पूर्ण–कर्ता) है उसकी उपासनाका जो मार्ग जानता है और उसमें जो रमण करता है वही, इस विश्वको तर जाता है तथा तुझे इसीके जाननेकी आवश्यकता है. उसमें तू प्रवेश कर और उससे तर कर पार हो. ”

यहांतक महाराजा छादितबुद्धि और योगिराजका विस्तृत संवाद कह कर बटुक वामदेवजी फिर बोले:—“ वरेप्सु ! तूने यह इतिहास क्या अच्छी तरहसे सुना ? उन योगिराजने इस तरह छादितबुद्धिको सामान्य उपासनाका प्रकार सुना कर, फिर सावधान कर, अपने पास ही बैठाया और उसके अन्तःकरणमें उस शब्दब्रह्मरूप भगवत्तेजका पहले अवलोकन करा कर फिर उस तेजमें तूने अपनी मरणावस्थामें ब्रह्मलोकसे आगे जाते समय इन्द्रके विमानसे गिर कर जो आनंदमय, भगवत्स्वरूप देखा था, उसी अच्युत स्वरूपका उसे नखसे शिखा पर्यंत यथार्थ ज्ञान कराया. यह महामंगलस्वरूप अपने भीतर खड़ा होते हीं छादितबुद्धि विह्वल हो गया; वह देहभान भूल कर तद्रूप (तदाकार, वही स्वरूप) हो आनन्दसागरमें हिलोरें लेने लगा. वहां भगवत्प्रेरणासे उसे स्मरण हुआ कि, योगिराजने मुझे ‘ तत्त्वमसि’ वह (ब्रह्म) तू (आत्मा) है, ऐसा जो भान कराया था वह परब्रह्म स्वयं यही (मैं) हैं. अहा ! हा ! क्या मैं वही हूँ. ‘यह कैसे ? ’ऐसी सहज (स्वाभाविक) चिन्तासे वह फिर अपने मनोमय स्वरूपको भगवत्स्वरूपसे मिलानेका यत्न करने लगा, इतनें ही में ईश्वरेच्छासे उसके हृदयके अज्ञानावरणका पर्दा दूर हो गया ! उसके अनुभवमें उसी समय आया कि, अहा ! हा ! मैं इन जगदीश्वर, श्यामसुन्दर, मनोहर, निर्गुण सगुण परब्रह्मके समान ही हूँ ! ! अरे, इनका ही अंश होनेसे वह मैं स्वयं हूँ ! ! अहा हा ! मैं वह और वह मैं ही, मैं और वह भिन्न नहीं; मैं और वह एक ही ! अहा हा ! ऐसी स्थितिको प्राप्त हुए उस राजाकी देहवासना और दूसरी सब वासनाएं भंग हुईं, तब अंतमें वह अविकृत रूपमें लीन होगया.

षोडश बिन्दु.

अहं ब्रह्मास्मि.

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम् ॥

अर्थ—जो बात करोड़ों ग्रंथोंसे कही गयी है, वह बात मैं आधे श्लोकसे कहता हूं कि, ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव केवल ब्रह्म ही है ।

जब महात्मा बटुक, इस तरहकी कथा कह और यह बताकर कि सरलतसे भी तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त होता है, राजा बरेप्सुके प्रश्नका समाधान (शंकानिवारण) करके चुप हुए, तब राजाने फिर कहा "हे गुरुदेव, राजा छादितबुद्धिको तत्त्वमसिके पदका ज्ञान होनेपर वह इस संसारसे किस तरह तर गया, यह मुझे बताओ; क्योंकि इसके जाननेकी मेरी उत्कट अभिलाषा है."

राजा बरेप्सुकी ऐसी उत्कट (प्रबल) इच्छा देख बटुक बोले:—" फिर वह राजा परमानंदमें बिलकुल लीन होगया. बहुत देरतक उसकी अटल समाधि देख, योगिराजने राजाको संबोधन कर कहा:—' राजन् को भवान्? राजा, तू कौन है? ऐसा निश्चेष्ट क्यों होरहा है?' तो भी परमानन्द स्वरूपमें लीन होनेसे राजा जरा भी न बोला, तब महात्माने दूसरी बार बुलाया, किन्तु उस बार भी न बोलनेसे तीसरी बार उसके सिरपर हाथ रख, पूछा:—'राजन् को भवान्? को भवान्?' तब राजाकी आंखें खुल गयीं; वह अत्यंत हर्षपूर्ण हो इतना ही बोला:—" भगवन्! देहभावसे मैं आपका दास हूँ, जीवभावसे आपका अंश हूँ और आत्मभावसे जो तुम हो वही मैं हूँ, ऐसी मेरी गति है. ' अहं ब्रह्मास्मि! अहं ब्रह्मास्मि!! अहं ब्रह्मास्मि!!! मैं ब्रह्म हूँ ' मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ! यह सत् है, यह सर्वचिद्रूप प्रकाशता है; आत्मारूप यह सर्व ब्रह्म है!' ऐसे आनन्दमें उसके रोयें खड़े हो गये. शरीरसे पसीना निकलने लगा

और उन्मत्तकी भांति खड़ा हो वह नाचने और कूदने लगा. फिर खड़े होकर योगिराजने उसे प्रेम पूर्वक हृदयसे लगाया और अनेक आशीर्वाद दे, सामने बैठाकर पूछाः—"क्यों राजा, अब तेरी शंका दूर हुई ? तत्त्वमसिका अर्थ समझमें आया ?" राजा बोलाः—"हां गुरुदेव, मैं अच्छी तरह समझ गया. मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि, उस परमात्माका ही अंश होनेसे मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ. मैं निःशंक हूँ—आपकी कृपासे अब बिलकुल निःशंक हो गया हूँ." तब योगिराज बोलेः—"राजा, अब तुझे परमात्मस्वरूपका जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है वह अनुभव क्या मुझसे कह सकेगा कि, वह परमात्मा कैसा है ? तब" राजाने कहाः—"कृपानाथ ! उसे मैं किसतरह कह सकता हूँ ? यह अनुभव ऐसा नहीं है जिसे मेरी प्राकृत वाणी वर्णन कर सके. इसका तो जो अनुभव करे वही जाने. मुझे जो महासुखका अनुभव हुआ है उसपरसे इतना ही कह सकता हूँ कि वह परमात्मा परम सुखानंदमय है. वह परम ज्ञानमय है, अपने तेजसे हृदयको प्रकाशित करके अज्ञानसे मुक्त करता है, इसलिए परमगुरुरूप ह. अहा ! गुरुजी महाराज, अब मैंने आपके उपदेशका भावार्थ समझा, कि इस तरह अपना गुरु भी मैं स्वयं हूँ, परमशान्ति—सदाकालका अविनाशी सुख भी मैं स्वयं ही हूं, अपना शत्रु भी मैं स्वयं हूँ, मित्र भी स्वयं ही हूँ और इस तरह सारा जगत् भी मैं स्वयं ही हूँ. क्योंकि मैं परमात्मा हूं और उस परमात्मासे ही यह सारा जगत् पैदा हुआ है. अहा ! वह परमात्मा ही सबका मूल है, वही सबमें व्याप्त दीखता है, उसीसे इन सबोंने जीवन प्राप्त किया है और उससे भिन्न कुछ भी नहीं है. वही मैं हूँ. यह सब निरा ब्रह्म ही है. इसमें दूसरा कुछ भी नहीं है. सर्वत्र ओतप्रोत एक ब्रह्मरस ही पूर्ण रीतिसे भर दिया है. अहो कृपानाथ ! आपकी कृपासे अब मैं धन्य हूँ ! धन्य हूं ! धन्य हूं ! मैं सदाके लिए आपकी शरणमें पड़ा हूँ."

इतना कह छादितबुद्धि उन योगिराजके पैरोंमें गिर पड़ा. तब महात्माने उसे प्रेमसे उठा कर फिर हृदयसे लगाया और कहाः—"हे वत्स ! हे पुण्यवंत ! अब तू सब तरहसे इस असार संसारसे मुक्त हो, विज्ञानी (अनुभवसहित ज्ञानवाला) हुआ है. तू परम योग्य और कैवल्यरूप धनवाला हुआ है. तू जीवन्मुक्त हुआ है. अब तू नगरमें जा और धर्मसहित प्रजाका पालन कर तथा इस परम साध्वी पतिव्रता (अपनी रानी)का मनोरथ पूर्ण कर, उससे अपने समान परमश्रेष्ठ पुत्र (प्रजा) उत्पन्न कर." यह सुन, राजा बोलाः—"कृपा-

नाथ ! मैं आपकी कृपासे बंधनमुक्त हुआ हूँ, अब फिर इस मिथ्या प्रपंच और ऐसे दुःखमय भवपाशमें क्यों पड़ूँ ? अब किसकी स्त्री और किसका संतान ? किसका देश और किसका राज्य ? बस अब तो क्षमा करो. अब तो "शिवोऽहम् ! शिवोऽहम् !"

यह सुन गुरुदेव बोले:-'हे छादितबुद्धि ! क्या तेरे नामके समान ही तेरा स्वभाव भी है और क्या इसीसे तेरी बुद्धि पलभरमें अज्ञानसे छादित (आच्छादित) हो गयी ? तू व्यवहार और परमार्थका विचार नहीं कर सकता इसलिए एकका धर्म दूसरे पर आरोपित कर, भ्रममें पड़, गोते खाता है. जो मनुष्य संसारमें रह कर भी उस पर प्रीति रखे विना सब काम अच्छी तरहसे करता और ब्रह्म-आत्माको सबमें एक समान ओत प्रोत (तले ऊपर, आर पार) देखता है वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है. अभी ही तू अनुभवसिद्ध कहता है कि यह सब (जगत्) ब्रह्म है, उसे क्या तू क्षण भरमें भूल गया ? तू स्थिर बुद्धिसे देख कि हे राजन् ! जैसे तू ब्रह्मरूप है, वैसे ही अनेक देशान्तरोंमें फैला हुआ तेरा राज्य भी ब्रह्मरूप ही है, उसमें निवास करनेवाली मनुष्यादि और पशु पक्ष्यादिक अनंत जीवात्मक तेरी प्रजा भी ब्रह्मरूप ही है, तेरा परिवार, तेरी रानी, और तेरा सारा राजकार्य-भार भी ब्रह्मरूप ही है. तेरे सारे शरीर, इन्द्रिय और मनके व्यवहार भी ब्रह्मरूप हैं, इस तरह पूर्ण ज्ञानदृष्टिसे अनुभव करते-तेरी स्थूल और सूक्ष्म दृष्टिसे देखते, तुझे जो कुछ दीखे-अनुभवमें आवे, वह सब ब्रह्मरूप ही है, तो फिर उसमें तेरे जैसेको दुःख क्या, भवपाश कैसा और बंधन किसका है ? स्थिर डोरमें सर्पका आना और जाता रहना जैसा भ्रम-मूलक है, सत्य नहीं है, उसी तरह मायाके कल्पित बंध और मोक्ष, वस्तुतः ब्रह्ममें नहीं हैं. आवरण होनेसे बंध और आवरण नष्ट होनेसे मोक्ष है, परब्रह्मस्वरूपको इनमेंसे कुछ भी बाधा नहीं करता और ब्रह्म विना अन्य पदार्थ ही नहीं है तो फिर प्रपंच किसका ? यह ब्रह्म आवरणरहित है; पर आवरण हो तो अद्वैत कहां ? और द्वैत हो तो वह भ्रममूलक है, जो ब्रह्ममें नहीं है. ब्रह्मरूप समझ कर नीतिसे किये हुए राज्यादिक, स्त्रीसंगा-दिक और संतानोत्पादनादि कार्य भी अंतमें लेश मात्र दुःखप्रद न होकर, सिर्फ ब्रह्मरूप फलवाले-सुखमय होते हैं. हे राजन् ! इसमें तुझे तो आश्चर्य लगने लायक कुछ भी नहीं है, परन्तु दूसरे अज्ञान अल्पमतिके मनुष्योंको भी आश्चर्य लगने लायक कुछ नहीं है. परब्रह्मके स्वरूपसे

मायाके आश्रय द्वारा जो यह परब्रह्मरूप सृष्टि उत्पन्न हुई है उसका सब व्यवहार ब्रह्मरूप समझ कर ही प्रत्येक मनुष्यको करनेकी आज्ञा है. परन्तु अपने अपने पापाचरणसे बढ़े हुए अज्ञानके कारण ही अभागी प्राणी, उस पवित्र–महापवित्रतम आज्ञाका पालन नहीं कर सकते, यह बड़े खेदकी बात है ! ! महाभागी और पुण्यात्मा जनकादिक राजर्षियोंने प्रभुकी वह आज्ञा यथार्थ रीतिसे पालन की अर्थात् अपने अपने राज्यादिक व्यवहार ब्रह्मरूप समझ कर जिस उत्तम रीतिसे उन्होंने चलाये थे उनके अनेक वृत्तान्त सज्जन लोग गाते हैं. इसलिए हे राजन् ! हे प्रकाशबुद्धे ! आजसे अब मैं तुझे इस नामसे बुलाऊंगा—तू भी मेरी आज्ञा मान कर, जल कमल न्यायकी तरह अलिप्त रह, ब्रह्मरूप राज्यका, ब्रह्मरूप धर्मसे पालन कर, राजर्षिपदके योग्य हो. तेरा कल्याण हो और कल्याणरूप तेरी यह ब्रह्मनिष्ठा सदा अचल रहे. ” गुरुदेवके ऐसे उत्तम वचन सुन, राजा उनके पैरोंमें पड़ा और स्त्रीसहित तुरंत वहांसे चल निकला. फिर वह नगरमें आया और गुरुदेवके प्रति पूर्ण भक्ति रख, उनके आज्ञानुसार ब्रह्मरूपसे राज्य चला कर, इस देहावसान(देहान्त)के बाद परम तत्त्वको प्राप्त हुआ.

यह इतिहास कह कर वामदेवजी चुप हुए और सारी रात भगवच्चर्चामें ही व्यतीत होनेको आयी इससे वरेप्सु आदि सब सभासद गुरुदेवके नामकी जयध्वनि करके वहांसे गंगातट पर स्नानादि क्रिया करनेको उठे.

सप्तदश बिन्दु.

सर्वं खल्विदं ब्रह्म.

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथं पृथक् ॥

पञ्चदशी ।

अर्थ—दीखनेवाला जगत् आनंदसे ही उत्पन्न हुआ है, उस आनंदसे ही स्थित हो रहा है और उस आनंदमें ही लीन होता है. इस तरह उल्लिखित आनंदसे (जगत्) भिन्न कैसे हो सकता है ?

महात्मा बटुक वामदेवजीके वचनामृतका पान करनेसे श्रोताओंको तृप्ति ही न होती थी. बार बार उनके मुखकी पवित्र वाणी सुननेके लिए सबको नयी नयी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) होनेसे, जैसे किसी सपेरे(मदारी)के इन्द्रजालके प्रयोगमें फँसा हुआ मनुष्य उसीकी ओर खिंचता है, उसी तरह वे बारंवार आकर्षित होकर उन महात्माके समीप आकर बैठते थे.

दूसरे दिन भी फिर उसी तरह सभा भरी तब पिता सहित सिंहासन पर बैठे हुए बटुकका यथाविधि पूजन कर, राजा दोनों हाथ जोड़, आगे खड़ा रहा. मुमुक्षुओंने उसी समय एक स्वरसे जयजयकारकी ध्वनि की. राजा, वामदेवके चरणारविन्दको प्रणाम कर, विनयपूर्वक कुछ पूछनेकी तैयारीमें था, इतनेमें वे महात्मा स्वयं ही बोल उठे:—"हे राजन्! आज तेरे मनमें जो शंका हुई है और जिसका तू समाधान प्राप्त करना चाहता है, उसे मैंने पहलेसे ही जान लिया है. तू जानता होगा, और दूसरे भी, जिन्हों-ने सुना है वे, अपने मनमें विचारते होंगे कि ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' यह सारा ब्रह्म है, उपनिषद्के इस महावाक्यमें तो यह अपरोक्ष और परोक्ष, चर और अचर, सब जगत्, ब्रह्मरूप हुआ और वैसा होनेसे उसमें निवास करने-

वाले प्रत्येक जनको अपने अपने व्यवहार भी ब्रह्मरूप ही करना चाहिये. परंतु ऐसा करनेसे जगत् और जगत्के व्यवहार कैसे रहेंगे ? सब अद्वैत देखनेसे तो बिलकुल पूर्वापर विरोध आवेगा, उसका क्या होगा ? यह शंका सत्य है; परंतु इसमें गूढ़ अर्थ है. प्रत्येक विषय उसके अधिकारीसे ही ग्रहण किया सकता है. इन सब का अधिकारी अद्वैत दृष्टिवाला ब्रह्मनिष्ठ पुरुष है. इस जगतमें रहे हुए राजा, उसके मन्त्री, कारबारी (कारिन्दे), सेवकवर्ग उसकी प्रजा और उसमेंसे हल्कीसे हल्की स्थितिवाला गरीब और हाथीसे एक न्यून कीट पर्यन्त प्राणी, तथा परम पवित्र तपस्वी ब्राह्मणसे अधमसे अधम चाण्डाल तक मनुष्य, गरुड़से बिलकुल न्यून और दुर्गंधसे पैदा होनेवाले मच्छर पर्यंत जीव जंतु; बड़े मगरसे बिलकुल न्यून जलचर; बड़े कल्पवृक्षसे दुर्गंधवाली कीचड़के आसपास फँसी हुई सिवार; बड़े मेरु और हिमालय आदि पर्वतोंसे मार्गमें पददलित होकर रेती रूप हुए पाषाणादि पदार्थ; सारी पृथ्वीसे उसका छोटेसे छोटा कण पर्यंत परमाणु; बड़े सागरसे एक अत्यल्प गढ़े तक जलाशय अर्थात् संक्षेपमें कहिये तो संसारके सारे छोटेसे छोटे और बड़े बड़ेसे, भारीसे भारी और हल्केसे हल्के, ऊंचेसे ऊंचे और नीचेसे नीचे, अच्छेसे अच्छे और बुरेसे बुरे, पवित्रसे पवित्र और पापीसे पापी, श्रेष्ठसे श्रेष्ठ और दुष्टसे दुष्ट सब पदार्थ तथा प्राणी, सिर्फ एक ब्रह्मसे ही पैदा होनेसे ब्रह्मरूप ही हैं. तो उनके साथ, उस तरह एक समान व्यवहार करनेसे तो भारी अनर्थ हो जाय ! सागर और गढ़ा दोनों यद्यपि ब्रह्मरूप हैं, परन्तु सागरका काम गढ़ेसे न होगा, उसी तरह महावेगवान् (शीघ्रगामी) गरुड़का काम छोटे मच्छरसे न होगा और गढ़ेका गँदला पानी, त्रिलोकपावनी गंगाके पवित्र प्रवाहकी योग्यताका पात्र न होगा ! बड़े मदोन्मत हाथीकी पीठपर रखी जानेवाली स्वर्णमय अंबारी क्या किसी एक घूर (कचरा फेके जानेके स्थान) में फिरनेवाले गधे या सुअरकी पीठपर रखी जा सकेगी ? अथवा किसी महापवित्र और भगवत्परायण विद्वान् जीवके स्थानमें क्या किसी महाहिंसक और पापरूप अधमाधम चाण्डालको बैठाकर उसकी पूजा हो सकेगी ? या जो व्यवहार और जिस तरहका हास्य विनोद एकान्तमें अपनी स्त्रीके साथ किया जाता है वैसा व्यवहार और विनोद क्या किसी अधम पुरुषसे भी अपनी माता या बहिनसे हो सकेगा ? नहीं, वैसा व्यवहार करनेसे तो लोकापवाद होगा, शास्त्रकी रीतिसे अपराधी माना जायगा

और मृत्युके पश्चात् अधम गतिको प्राप्त होगा. तो फिर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का क्या अर्थ है ? इस महावाक्यका क्या प्रयोजन है ? क्या यह झूठा और मुँहसे बोलनेका ही वाक्य है या सब ब्रह्ममय है ? यहां पर यह शंका सहज ही उत्पन्न होना संभव है. पर, यहां समाधानके लिए जरा स्थिर बुद्धिसे देखना है. हमें अनुभव होता है कि सारा जगत् ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है, ब्रह्ममें ही रमता और लय होता है. आदि भी ब्रह्म और अंत भी ब्रह्म ही है तथा इसीसे कहते हैं कि वह ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्ममय है. दूसरी ओरसे कहते हैं कि, यह जगत् ब्रह्मसे बननेके कारण इसमें ब्रह्म बिना दूसरा कुछ भी नहीं है इसलिए वह ब्रह्म जगद्रूप है, तो इसमें क्या दोष है ? कुछ भी दोष नहीं ! यह ऐसा ही है. ब्रह्म जगद्रूप ही है, जब अविकारी होने पर भी नानारूपसे उत्पन्न होनेसे वह विकारिताको और सदा-समान एकरस होते भी क्षणिक, विषम और पृथक्ता (जगत्रूप होनेसे) को धारण किये है तो फिर ऐसी पृथक्तामें उसके व्यवहार भी भिन्न भिन्न क्यों न हों ? मूलरूपसे देखनेसे ब्रह्म एक है, अभिन्न है परन्तु मायासे जगद्रूप होनेसे वह अनेक द्वैतरूप दीखता है तथापि उसके व्यवहार और व्यवहार करनेवाले सब यद्यपि उसीसे हुए हैं तो भी अद्वैत रूप ही हैं.

अब दृष्टान्तसे समाधान करना चाहिए. सुवर्ण (सोना) मुख्य एक ही धातु है और उससे मनुष्यादिके अनेक शृंगार-अलंकार बनते हैं. सुवर्णका मुकुट, सुवर्णके कुंडल, सुवर्णकी गोप, सुवर्णकी कंठी, सुवर्णकी माला, मुँदरी, करधनी (कटिसूत्र), कर्णफूल, शिरफूल, कंकण, कड़े आदि अलंकार निरे सोनेके ही होने पर भी उन्हें भिन्न भिन्न अवयवोंमें पहरनेकी प्रथा नियत की गयी मालूम होती है. मुकुट सिरमें, कुंडल कानमें, नथ नाकमें, करधनी कमरमें और झाँझें पैरोंमें पहरी जाती हैं. यद्यपि सोना स्वयम् एक ही है, सौ तोलेकी एक ही डलीसे काट काट कर उसीके ये सारे आभूषण बने हुए हैं अर्थात् नूपुर भी सोनेका, करधनी भी सोनेकी और कुंडल, मुकुट भी उसी सोनेके बने हैं–ये सब एक ही वस्तुके होनेसे यदि कोई शंका न करके सिरमें पहरनेका मुकुट पैरमें भिड़ावे, कानके कुण्डल नाकमें लटकावे और हाथकी अंगूठी (मुद्रिका) तथा कड़ोंको कमरमें पहरे और सोनेकी एकता दिखावे, तो वह क्या कहलायेगा ? ऐसा करनेवालेको तो सांसारिक मनुष्य निरा मूर्ख ही कहेंगे. क्योंकि वह व्यवहारनीतिको नहीं जानता.

सोना भले ही एक है, परन्तु वह अनेक आकारसे परिवर्तित होनेसे, उसका व्यवहार भी उसके विकार (परिवर्तन) की ओर दृष्टि रख कर ही करना चाहिए. जो अलंकार जिसमें पहरनेके लिए बनाया गया हो, वह उस स्थानमें पहराया जाय तभी शोभा देता है. हे राजा! जगद्रूप हुए ब्रह्मके प्रति ब्रह्मनिष्ठ भी वैसा ही व्यवहार करे, तो वह ठीक कहा जाय अर्थात् जो अपने शरीर, कर्म और स्वभावसे ब्रह्मवेत्ता हो, उसे वैसी ही योग्यतासे जानना-मानना और जो शरीर, कर्म तथा स्वभावशीलतासे अधम—पापिष्ठ हो उसे उस अधम रूपसे देखना और उससे उसी रीतिसे व्यवहार करना चाहिए. इसीका नाम यथार्थ व्यवहार कहा जाता है. नाव और गाड़ी दोनों ब्रह्ममय हैं, तो भी ब्रह्मके विकाररूप हैं, इसलिए उस दृष्टिसे देखते नाव जलमें उपयोगी होगी और गाड़ी भूमि पर ही चलेगी. यदि नावको भूमिपर और गाड़ीको जलपर चलानेका यत्न करें तो उसका फल अनादर ही हो. माता और स्त्री ब्रह्मरूप होते विकारयुक्त होनेसे भिन्न (स्त्री और मातारूप) हुई इसलिए उनसे उसी रीतिसे व्यवहार करना चाहिए और इसी तरह सारे संसारको समझो.

फिर भी एक शंका पैदा होती है कि, व्यवहार तो जगत्में चलता ही है तो फिर उसमें ब्रह्मरूप व्यवहार किसका नाम है? जगत्को जगद्रूपसे भिन्न देखना तो अज्ञानरूप है, यह कुछ ब्रह्मनिष्ठा नहीं कही जा सकती और न यह जीव कुछ ब्रह्मवेत्ता ही कहा जायगा. इस विषयमें ऐसा विचार होना चाहिए—जैसे सुवर्ण और उसके अलंकारोंका दृष्टान्त लिया, उसमें देखो तो सब सुवर्णके अलंकार अपने अपने स्थानमें पहरे जायँ तभी शोभा देते हैं, इस लिए उस समय सोनेको अलंकाररूपमें देखना ठीक है, परन्तु जब उनके क्रय विक्रय (खरीद फरोख्त) अथवा तौलनेका समय आवे तो प्रत्यक्ष अलंकाररूपसे होते हुए भी वे सुवर्णरूप ही समझकर तौले या बेचे जाते हैं. उसी तरह इस ब्रह्ममय जगतमें राजा और रंक, पवित्र साधु और अधम चाण्डाल, शत्रु और मित्र, माता और स्त्री, स्वजन और परजन, चोर और साहूकार, गरीब गाय और हिंसक सिंह, चपल अश्व और भारवाही गधे, चमकते हीरे और कोयलादि सब पदार्थोंको जगद्रूप देखते उनकी योग्यतानुसार उन सबको प्रत्यक्ष स्वरूपसे देखना चाहिए. परन्तु ब्रह्मरूप देखते उन सब विषमतावाले प्राणी या पदार्थोंको बिलकुल ही समान मानकर, वे ब्रह्मरूप होनेसे मेरे ही समान हैं और इससे, जैसे मुझे सुख

दुःख मानापमान होता है, वैसा ही उन्हें भी होता है, अर्थात् वे पदार्थ, प्राणी मुझसे जरा भी हल्के या उतरते नहीं हैं ऐसा समझ, आत्माको समान समझ, उनका तिरस्कार न करना चाहिए. ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे उन्हें दुःख हो, उनका उपकार और जिससे वे अपने मूल (ब्रह्म) रूपको प्राप्त कर सकें ऐसा परमार्थ करना चाहिए. जगतमें कोई भी मेरा शत्रु नहीं है, सब ब्रह्मका रूपान्तर होनेसे तद्रूप और मेरे समान हैं और सबको मेरे समान ही अधिकार है, ऐसी वृत्तिसे व्यवहार करना चाहिए. यह व्यावहारिक ब्रह्मनिष्ठा इससे भी अधिक एकतावाली है.

अंतर्ब्रह्मनिष्ठा—जगन्नाटक।

इतना कह कर वटुक वामदेवजी फिर बोलेः—“ राजा, इस प्रकार सब ब्रह्ममय देखनेवाला मनुष्य जगत्में सबसे समान भाव और पूर्ण ब्रह्मैव वृत्तिसे व्यवहार चलाता है सही और उस समय वह सामान्य दृष्टिसे देखनेवालेको निरा संसारी ही दीखता है सही, पर उसके अंतःकरणका भाव बिलकुल जुदा ही होता है. वह सारी सृष्टिको ब्रह्मरूप अनुभव करनेसे अंतर (भीतर)में सबको समान महत्वसे देखता है, वह किसीसे द्वेष या प्रेम न करके, सबको समान न्याय देता है; स्त्री, पुत्र, धन, परिवार इत्यादि जो जो अपना है, उन्हे अपना दिखा (प्रकट)कर उनके साथ निवास करता है, पर अंतर (भीतर)से उनमें वह लुब्ध नहीं होता. वह जानता है कि ब्रह्मसे पैदा होनेवाला विकार ब्रह्ममें ही लीन होगा; अर्थात् स्त्री, पुत्र, धनादिक विकारप्राप्त ब्रह्म हैं. वे अंतमें विकारहीन होनेसे शुद्ध ब्रह्मरूप हो जायँगे; इसलिए उनमेंसे यदि किसीका कदाचित् नाश हो जाता है, अर्थात् कोई मरता है, तो उसके लिए उसे कुछ भी शोक नहीं होता, उसी तरह वृद्धि (जन्म) होनेसे हर्ष भी नहीं पाता. उसे भले या बुरे किसी कार्यके लिए आसक्ति ही नहीं, वह न किसीकी स्तुतिसे प्रसन्न और न निन्दासे अप्रसन्न ही होता है. उसके ऊपर निरंतर या किसी समय आ पड़नेवाला महादुःख उसके मनको दुःखी नहीं कर सकता, उसी तरह महान् आनन्दकी कथा, जो मायिक वृत्तिके जीवको महाहर्षका कारण हो जाती है, उसके सुखानंदका कारण भी नहीं होती. उसे प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख स्पर्श नहीं करते, अर्थात् उनसे वह पीड़ित नहीं होता. उसी तरह स्वर्गके समान सुखसे वह हर्षित नहीं होता. मतलब कि, जैसे कोई

नाटक करनेवाला नाटकमें अपने शरीरसे अनेक वेश धारण कर उन्हें प्रदर्शित करता है पर मनमें तो स्वयम् समझता है कि, मैं तो जो हूँ वही हूँ, सिर्फ वेश प्रदर्शित करनेके लिए भिन्न भिन्न वेश धारण करता हूँ, पर वे सब मिथ्या हैं और वे देखनेवालोंके सामने प्रयोग करके दिखाने तक ही हैं तथा ऐसा विचार कर वह उन सब लोगोंसे विलकुल निःस्पृह और निरहंकारी रूपसे रहता है, उसी तरह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी अपने अंतःकरणमें ब्रह्मभावका स्मरण करता हुआ, विलकुल अहंकारहीन हो कर, वर्ताव करता है. निरंतर परम आनंदसे सुखी ब्रह्मवेत्ता कभी विद्वान् या कभी मूढ़, कभी राजसी ठाटवाला तो कभी कभी भटकता भिक्षुक, कभी व्यवहारकुशल मनुष्य तो कभी सात्विक वृत्तिका योगी, कभी तामस प्रकृतिका पुरुष तो कभी अपमान सहनेवाला क्षुद्रजीव बन कर भ्रमण करता है. वह गरीब (निर्धन) होते भी संतुष्ट, स्वार्थहीन होते भी उत्साही, भोगी होते भी निरंतर तृप्त, विलक्षण होते भी समदर्शी, कर्ता होते भी अकर्ता, फलकी आशा करनेवाला होते भी इच्छारहित (उदासीन), देही होते भी अदेही, परिच्छिन्न होते भी व्यापक और द्वैत होते भी अद्वैत ही रहता है.

" राजा तेरे यज्ञके समय आनेवाले उन नाटकाचार्य मुनिका नाट्यप्रयोग क्या तूने नहीं देखा ? उन महर्षिने अपने शिष्योंको कैसी उत्तम शिक्षा दी थी, उसका विचार कर. उन्होंने परम सत्यव्रतधारी हरिश्चन्द्र राजर्षिका पुरातन इतिहास नाटक रूपसे कर दिखाया था. उस प्रयोगमें हरिश्चन्द्र राजा, उसकी रानी, उसका पुत्र, वरुणदेव, विश्वामित्र ऋषि और वरुणके यज्ञ करते समय एकत्र हुए वसिष्ठादि ऋषि इत्यादि सब पात्र थे. अंतमें काशी पुरीमें गंगातटपर राजा हरिश्चन्द्र, उसको बेचनेवाला ब्राह्मण, उसे खरीदनेवाला चाण्डाल, मृतकरूप राजपुत्र, राजपुत्रको गोदमें ले, श्मशान भूमिमें शोक करती हुई रानी और चाण्डालकी आज्ञासे हाथमें तलवार लेकर रानीको मारनेके लिए जाता हुआ राजा तथा उस समय प्रकट हुआ भगवत्स्वरूप आदि प्रधान पात्र क्या तूने देखे हैं ? नाटककर्ताओंका कैसा चमत्कार था ? नाटक हो रहा था उस समय बहुकाल पूर्व होनेवाले हरिश्चन्द्रको मानो हम प्रत्यक्ष देख रहे थे और उसपर होनेवाले महाकष्टकर प्रसंगको देख कर हम सबके अन्तःकरण दया, खेद और शोकसे परिपूर्ण हो, नेत्रोंसे अश्रुपात होता था. जब सब लोगोंको ऐसा

हो रहा था तब स्वतः उस राजा और रानी (जो मृतपुत्रको गोदमें ले कर विलाप कर रहे थे,)के दुःखित होनेमें क्या नवीनता है ? ”

यह सुन, राजा कुछ कहना चाहता था, इतनेमें वामदेवजी स्वयं बोलेः—“ नहीं, नहीं, उनको किसका दुःख ? ये रानी, राजा, मृतपुत्र, ऋषि विश्वामित्र और चाण्डालादिका वेश धारण करनेवाले तो उन नाटकाचार्यके शिष्य थे. वे अपने मनमें भली भांति जानते थे कि, हमने जैसा स्वांग लिया है वैसे या वही तो नहीं, पर ब्राह्मणपुत्र हैं, और यह वेश सिर्फ दर्शकोंको हरिश्चन्द्रके चरित्रका ठीक भान करानेके लिए ही है और यह भी तभी तक है जब तक नाटक समाप्त होता है. फिर उस समय जो पात्र राजाका वेश धर कर खड़ा हुआ था उसे राजापनके दावे या वैसे अधिकारके अभिमान करनेका कोई कारण न था. उसी तरह चांडालका वेश लेनेवालेको सब चाण्डाल रूपसे देखते और बुलाते थे उसमें उसे खेद करनेका कोई कारण न था. उसके मनमें निश्चय था कि, मैं, अभी भी ब्राह्मण ही हूँ और वेश उतारूंगा तब भी ब्राह्मण ही हूँ, सिर्फ गुरुकी आज्ञासे अपने हिस्सेमें आया हुआ अभिनय करता हूँ. इसी तरह शोकलीन रानीका वेश करनेवाला और मृतपुत्रका वेश धरनेवाला भी अपने अपने ब्राह्मणपनकी याद रखते हुए सिर पर जो कार्य आ पड़ा था उसे पूर्ण रीतिसे करते थे. उनके अन्तःकरणमें जरा भी हर्ष शोक न था. वे प्रत्येक पात्र अपने अपनेको जानते थे, उसी तरह दूसरेको भी अच्छी तरह जानते थे, तो भी नाटकाभिनयके समय अचूक पनसे अपने वेशका ही काम कर रहे थे, क्योंकि न्यूनता हो तो अभिनय दूषित हो.

“ उसी तरह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, इस जगत्में बिलकुल नाटकीय पुरुषरूपसे है. वह अंतरमें भली भांति जानता है कि, यह सब ब्रह्ममय है, परन्तु जगद्रूप होनेसे इसमें जगद्रूप व्यवहार करना योग्य है. ब्रह्मज्ञ पुरुष विश्वमें जगद्रूपसे व्यवहार करने पर भी अंतमें फिर अपनी ब्रह्मनिष्ठा पर ही आ ठहरता है. नाटकमें जैसे वह ब्राह्मण पिशाचिनीका रूप धारण करनेवाली राजा हरिश्चन्द्रकी स्त्री तथा उसकी गोदमें पड़े हुए मृतक पुत्रको देख, यह कोई श्मशानके बालकोंको भक्षण करनेवाली पिशाचिनी है, ऐसा विचार कर मारने दौड़ा, उस समय उन मारनेवाले ग्रामीणोंकी मार और मारनेके हथियार ये सब जैसे कृत्रिम—वेशधारी—मिथ्या हैं अर्थात् यथार्थ देखते मारनेवालोंका रूप धारण किये हुए नाटकके पात्र अपने मनमें अच्छी

तरह जानते हैं कि, हम सब तो एक ही हैं, परन्तु सिर्फ मारनेके समान दर्शकोंको अभिनय दिखाते हैं और जैसे उनके कृत्रिम शस्त्रों और मिथ्या प्रहारसे, उस रानीरूप पात्रको जरा भी चोट नहीं लगती उसी तरह ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी मनसे सब ब्रह्ममय समझनेके कारण अपने अहितकर्ता या सुख-दाताको यदि किसी तरहका दण्ड या दान देता है तो वह सिर्फ देखने भरको दण्ड या दानरूप होता है पर सच देखने पर वह उसका सुख या दुःखका दाता न हो कर सिर्फ कल्याणकर्ता होता है, और जैसे अंधकार तेजसे विलक्षण होते भी सूर्यके तेजमें लय होता है उसी तरह सारा दृश्य विलक्षण है तो भी वह ब्रह्ममें ही लीन होता है. ऐसी ब्रह्मनिष्ठा प्रपंचमें (संसारमें) रहनेवाले ब्रह्मज्ञानीको होती है और वह भस्म (राख)में ढकी हुई अग्निके समान होती है. पर इससे भी जिनकी श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठा अत्युग्र होती है, वे परमहंसदशावाले पुरुष हैं.

परमहंसदशा—जीवन्मुक्ति.

गुरु वामदेवजी बोले:—"वरेप्सु व्यावहारिक ब्रह्मनिष्ठाकी अपेक्षा परिपक्व ब्रह्मदशा बिलकुल ऐक्यरूप है. वैसी निष्ठावाला पुरुष ब्रह्म और जगत्में कुछ भेद या विकार नहीं देखता. वह तो सर्वत्र सदाकाल सिर्फ ब्रह्म ही का अनुभव करता है. उसे माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि, स्वजन, कुटुंबादि और शत्रु मित्रादिमें प्रीति अप्रीति नहीं होती; उसे मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना सब समान हैं. उसे चंदन पुष्पसे की हुई पूजा और शस्त्रका प्रहार (मार) समान है, स्तुति और निन्दा एकसी है, अमृतके समान भोजन और विषभोजन समान ही है. गुखरूके कांटोंकी खाट और मखमलकी सुखसेज (शय्या) एकसी है. जमे हुए जलका बर्फ और अग्निका अंगार दोनों समान ही हैं. स्वर्गका सुख और नरककी असह्य यातना एकसी है. दिन और रात समान ही है. भाई और शत्रु एकसे हैं, चींटी और हाथी तुल्य ही हैं, मृग (हरिण) और मृगपति (सिंह) समान ही हैं. राजा और रंक एकसे हैं. ज्ञानी और अज्ञानी समान हैं. जड़ तथा चैतन्य एकसे ही हैं. इस तरह उसकी दृष्टिमें सब एक ब्रह्ममय ही है और वह भीतर बाहर सब ठौर एकही रस देखता है. उसे कोई कामना नहीं, तृष्णा नहीं, हर्ष नहीं, शोक नहीं, मोह नहीं, दंभ नहीं, गर्व नहीं, क्रोध नहीं, मत्सर नहीं, भय नहीं, सुख नहीं, दुःख नहीं, क्लेश नहीं, माया

(प्रीति) नहीं, ममता नहीं, अहंता नहीं, और उसे कुछ लज्जा भी नहीं होती. अविद्याके जो जो कारण हैं वे उसे बाधा नहीं कर सकते. ऐसी स्थितिके कारण वह बिलकुल उन्मत्त (पागल) के समान दीखता है; कपड़े आदिका भी उसे भान नहीं रहता और न भूख तथा प्यास ही उसे व्यथित कर सकती है. कोई ओढ़ाता है तो वह ओढ़ता है, पहराता है तो पहरता है, कपड़े खींच लेता है तो विना आना कानी उसे खींच लेने देता है, खिलाता है तो खाता है, पिलाता है तो पीता है, कोई मारता है तो सहन करता है, कोई खींच ले जाता है तो वहां चला जाता है, कभी नाचता, कभी कूदता, कभी हँसता और कभी गूंगा तथा स्तब्ध (चुप) होकर बैठा रहता है. इस तरह नग्न, उन्मत्त, जड़ और बहरा गूंगा जैसा अवधूत परमहंस है. वह सदा ब्रह्मानंदमें मग्न रह इस शरीरसे ही जीवन्मुक्तिका अनुभव करता है और देहपात (देहान्त) होने तक निःस्पृह होकर दैववशात् (अकस्मात्) आ पड़नेवाले सुख दुःखोंको भोगता है. ये सब देहके धर्म हैं, उनसे मेरा कुछ संबंध नहीं ऐसा मानकर वह जगत्में विचरण करता है और यथासमय देह त्यागकर ब्रह्ममें लीन हो जाता है. इस तरह जीवन्मुक्त परमहंसकी ब्रह्मनिष्ठा एकाग्र होती है.

" हे राजन्! इससे यह न समझना चाहिए कि जीवन्मुक्तकी वैसी उन्मत्त और जड़वत् स्थितिके कारण उसे (उसके शरीरको) अपार क्लेश होता होगा. अधम-अज्ञानी प्राणी उसकी परमहंस अवस्था नहीं जानता, इससे शायद उसे कष्ट देनेकी मूर्खता करता है, परन्तु ईश्वरी सत्ताद्वारा उस महात्माकी तो स्वयं ही रक्षा होती है. वह स्वयम् ब्रह्माकार हो जानेसे उसे सर्वत्र ब्रह्ममय दीखता है, तो उसे जो देखता उसे भी वह स्वाभाविक ही आत्माके समान प्यारा लगता है. क्योंकि वह प्रत्यक्ष ईश्वरतुल्य है. वह धूपमें चलता है तो बादल उसपर छाया करते हैं. पैरको चीरकर आरपार निकल जानेवाले मार्गमें खड़े हुए कांटे इस लिए जमीनमें घुस जाते हैं कि जिससे उसे पीड़ा न हो, उसे जलन-दाह न हो, इस लिए अग्नि शीतल हो जाती है. जल उसे डूबने नहीं देता. शस्त्रकी धार वार (प्रहार) नहीं करती. उसके मुँहमें गया हुआ विष अमृतरूप हो जाता है. भयंकर सर्प उसके पैरों तले दब गया हो, तो भी उसे काटनेके बदले शान्त होकर चला जाता है. महाभीषण सिंह अपनी क्रूरता छोड़कर उसके साथ

क्रीड़ा (खेल) करता है. खरगोश, चूहे, कबूतर, चक्रवाकादि पशु पक्षी भी जो मनुष्यको देख भयसे भाग जाते हैं, वे सब भय छोड़, उसे अपने ही समान जान, उसके साथ आनंदसे खेलते हैं. इस तरह वह सारे जगत्का मित्ररूप होकर विचरण करता है. हे राजर्षि वरप्सु! इस तरह की सुदृढ़ ब्रह्मनिष्ठा हो उसीके संबंधमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस उपनिषद् महावाक्यकी सार्थकता है. मुंहसे बोलनेमें सार्थक्य नहीं है. शुद्ध अंतर्निष्ठा हुए विना उपनिषदादि महावाक्यं सिर्फ बोलकर ही जो अपनेको 'अहं ब्रह्म! अहं ब्रह्म!' कहलाते और यह सभी ब्रह्म है, इस लिए इसमें मेरा क्या और तुम्हारा क्या, अपना क्या और पराया क्या, शोक क्या और हर्ष क्या, सुख क्या और दुःख क्या, लेना क्या और देना क्या, नहाना क्या और धोना क्या, पुण्य क्या और पाप क्या, देव क्या और धर्म क्या, जीव कौन और ईश्वर कौन है, यह तो मिथ्या भ्रम होकर सब ब्रह्मरूप है,' ऐसा कह कहकर स्वार्थपरायण मनुष्य अज्ञ (मूर्ख) लोगोंको भ्रममें डालते और ठगते तथा कर्मादिक मार्गसे भ्रष्ट करते हैं, वे विलकुल धर्मको नाश करनेवाले ढोंगी और ब्रह्मदंडके ही पात्र हैं.

"उसी तरह विलकुल भोले जीवों–अज्ञान जीवोंकी सरल बुद्धिमें भेद डालनेवाले दांभिक पुरुष, वेदान्त शास्त्रके वाक्योंको याद कर और अनेक कूट दृष्टान्तोंको तोतेकी भांति रटकर, बड़े ब्रह्मनिष्ठके समान आडम्बर करके जगत्में विचरण करते और अज्ञ लोगोंको उलटा सीधा समझाकर, ब्रह्मके बतानेवाले ब्रह्मनिष्ठ गुरु बनकर, उन्हें उपदेश देते हैं और उनसे नाना प्रकारकी अपनी सेवा कराते हैं. इतना ही नहीं, पर उनके तन, मन, धनादितक हरण कर मायाके जाननेवाले और मायामें फँसे हुए जीवोंको रसातलमें भेजते हैं, ऐसे ब्रह्मठग आत्महत्यारे हैं. वे अनेक तरहसे हाथ पकड़ पकड़कर शरणमें आये हुए जीवोंको नरकमें ढकेलते हैं और स्वयं भी (नरकमें) पड़ते हैं जिससे उद्धार होना महाकठिन है. ऐसे दांभिक–ब्रह्मवेत्ताका ढोंग करनेवाले लोग मिथ्या अथवा ठग ब्रह्मनिष्ठ बनकर भक्तियोगका भी नाश करनेवाले हैं. ऐसे दंभी ब्रह्मनिष्ठ अज्ञ लोगोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते समय स्वयं पूर्ण ब्रह्म होकर बैठते हैं और वैसी ही पूर्णताकी बातें करते हैं. परन्तु वे असंस्कारी हैं और उनका अन्तरात्मा जरा भी निर्मल नहीं रहता. उनकी इन्द्रियां क्षुद्र विषयसुख भोगनेके लिए

क्षण क्षणमें अधिकाधिक उत्तेजित हुआ करती हैं, उनकी आशा, तृष्णा, उनका ज्ञान सुननेवाले उनके शिष्योंकी आशा तृष्णासे भी अधिक सबल होती है. शिष्योंसे सेवा करा कराकर वे अधिक मौजी और सुखी हो जानेसे जरा भी दुःख, शोक, क्लेश, सहन नहीं कर सकते. उनका मन निरंतर बड़प्पन–पूज्यपन प्राप्त करने, अधिक द्रव्य बटोरने और अज्ञ लोगोंको ठगनेके प्रपंचमें ही फिरता रहता है. वे निर्दय, निर्लज्ज, उद्दण्ड और स्वार्थमें परम प्रवीण होते हैं. कोई निन्दित कार्य हो गया हो तो उस अपकृत्य (कुकर्म) को ढांकनेके लिए वे ब्रह्मनिष्ठ होकर प्रत्युत्तर देते हैं कि, 'इस कर्मसे आत्माका क्या संबंध है ?' सत्कर्म हो या दुष्कर्म, यह तो सिर्फ देहका ही धर्म है. "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति मे मतिः" इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषय भोगती हैं ऐसी मेरी धारणा है और देह देहकी तरह स्वयं ही यथोचित वर्ताव करता है तो वह देहके सुख दुःख भोगता है, इसमें मेरा क्या है ? भोगका भोक्ता भोगेगा (फल पायेगा). अथवा इससे भी धनी एकतावाला समाधान करते हैं कि 'अहो ! सर्वं खल्विदं ब्रह्म ! वेद वारंवार पुकारता है कि यह सब ब्रह्ममय है, तो फिर उसमें कौन भोक्ता और कौन भोग्य है ? इसमें क्या पाप और क्या पुण्य है ? ब्रह्मवेत्ताको किसका दोष ? हमें तो कुछ भी विघ्नबाधा नहीं है. हमारे मनसे तो सभी ब्रह्ममय है. मेरा, तेरा और दूसरेका तथा अपना ये सब प्रपंच तो अज्ञानियोंके पास रहता है.' फिर जब उनसे कोई कहता है कि, 'तुम ब्रह्मज्ञानी होकर मायामें मोह क्यों रखते हो ? तुम्हारे लिए तो पुत्र, स्त्री, घरबार सभी मिथ्या है, तुम्हें संसारी पदार्थोंके लिए हाय हाय करना अयोग्य है, तो यह सब क्या है ? तब वे समाधान करते हैं कि, 'यह सब मिथ्या है तो भी स्वप्नके आंसूकी तरह व्यवहारमें तो सत्य ही है. जबतक देह मालूम होता है तबतक यह जगत् लिपटा हुआ जान पड़ता है. पर हम तो परमहंसकी तरह विचरण कर रहे हैं.'

"हे राजा, ऐसे ब्रह्मज्ञ इस युगमें[1] तो शायद ही होते हैं, पर कलियुगमें जब अधर्म अनाचार बढ़ जाते हैं, जीव अविद्याके संबंधसे अल्पबुद्धिके होते हैं तब वे बड़ी संख्यामें पृथ्वीपर निकल पड़ते हैं और पवित्र परमात्माके नामसे लोगोंको ठगते फिरते हैं. पर वैसे ब्रह्मज्ञोंको यदि कोई यथार्थ

---

१ जिस युगमें वामदेवजी होगये वह सत्ययुग था. अर्थात् उतरता सत्ययुग और लगता त्रेतायुग.

ब्रह्मवेत्ता मिल जाता है तो उनकी वह बुराई समूल नष्ट हो जाती है और फिर वे सत्य मार्गमें भी फिरते हैं और उससे अनेक भोले लोगोंका अमंगल होनेसे रुकता है, ऐसे बहुतसे उदाहरण प्रसिद्ध हैं, उनमेंसे एक मैं तुमसे कहता हूँ, उसे सुनो. अब तो सन्ध्यासमय हुआ, इस लिए श्रीहरिकी जयध्वनि करो."

अष्टादश बिन्दु.

शुष्क वेदान्तज्ञानी.

आवरणस्य निवृत्तिर्भवात च सम्यक्पदार्थदर्शनतः ।
मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्विक्षेपजनितदुःखनिर्वृत्तिः ॥ शंकर.

अर्थ—पदार्थका अच्छी तरहसे ज्ञान होनेसे आवरण (अज्ञान) की निवृत्ति होती, मिथ्या ज्ञानका नाश होता और विक्षेप (भ्रम) से होनेवाले दुःखका भी नाश होता है.

सब नत्यके कामोंसे निपट, श्रोतागण सावधान होकर, देवसभाके समान राजा वरेप्सुकी सभामें रातको फिर एकत्र हुए. गुरुदेव तैयार होकर बैठे थे. कीर्तन जारी हुआ था. सब लोग श्रवण, मनन और निदिध्यासन (एकाग्र ध्यान) करते थे इससे संतुष्ट हो, गुरुदेवने पुनः उपदेशारंभ किया. श्रीवामदेवजी बोले:—" वरेप्सु ! वस्तु अथवा कार्यका सुख मुँहसे वर्णन करना तो सरल है, परन्तु उसका अनुभव करना अत्यन्त कठिन है. 'मैं राजा हूँ' ऐसा तो चाहे जो मनुष्य, जरा भी परिश्रम विना अपने मुँहसे कह सकता है, परन्तु राजाको मिलनेवाला मान और राजाको होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव तथा उसके ऊपर रहनेवाला दायित्व (जवाबदेही) और भिन्न भिन्न समयमें अनेक लोगोंको, नानारूपसे प्रसन्न करनेके लिए कोई ही भाग्यशाली वनता है. उसी तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) और ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' (यह सब ब्रह्म है) ये महावाक्य वोलनेमें जरा भी परिश्रम नहीं, परन्तु उसके अनुसार व्यवहार और अनुभव करनेके लिए अनेक जन्मान्तर पर्यन्त असीम परिश्रम करना पड़ता है. इस जगत् में असंख्य प्राणी हैं, उनमेंसे एकाध प्राणी परमात्माके

पानेका प्रयत्न करते हैं ऐसे . असंख्य प्रयत्न करनेवालोंमेंसे एकाध ही प्राणी आत्मज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और ऐसे असंख्य प्रयत्न करनेवालोंमें कोई एक आधही प्राणी आत्मज्ञानको पा सकता है. वह भी असंख्य जन्मोंमें पासकता है. परंतु इस बातका सत्य रहस्य न समझकर मूर्ख लोग सिर्फ 'मैं ब्रह्म, मैं ब्रह्म'की पुकारमें ही सार्थकता मानते हैं, परंतु वे अनुभव प्राप्त करनेका जरा भी यत्न नहीं करते. वे अनधिकारी होनेसे चौरासीके फेरेमें फिरते ही रहते हैं और इस जगत्में बड़े २ कष्ट भोगते हैं. ऐसे शुष्क ज्ञानी इस वेशसे इस संसारमें फिरते हैं मानो मुँहसे कही हुई बातके अनुसार उन्होंने स्वयम् अनुभव किया है और अविद्या (अज्ञान) से आवृत (घिरे हुए) अज्ञ लोगोंमें महात्मारूपसे पूजे जाते हैं. कार्य करते समय जो जो साधन चाहिए वे सब साधनं उस कार्यका फल भोगते समय आवश्यक नहीं हैं यह नियम आवश्यक है, परंतु किसको ? परमहंसको, शुद्ध पवित्र जनको, दूसरे जीवको नहीं. वह तो ऐसे कृत्यसे उल्टा पतित होता है. परमात्मस्वरूपका अनुभव होनेसे जिन जिन कर्म उपासनादि साधनोंका आचरण करना चाहिए वे वे साधन, परमात्मस्वरूपका अनुभव होनेके बाद अत्यावश्यक नहीं हैं क्यों कि भगवत्साक्षात्कार होने पर फिर वे साधन आप ही आप छूट जाते हैं. परंतु अपूर्ण ब्रह्मनिष्ठावाले और असंस्कारी जीव ज्ञानी महात्मा परमहंसको देखकर सारे कर्म उपासनादि साधन जान बूझकर, अविद्याके कारण, मायामें लिपटकर, प्रमादसे, सहज ही छोड़ देते हैं. इतनाही नहीं, पर वैसे साधनोंका अत्यंत द्वेष कर दूसरे लोगोंको भी जो उन साधनोंका भक्तिभावसे सेवन करते हैं वैसा करनेसे मना करते हैं. वे कहते हैं कि 'इन साधनोंके मिथ्या रगड़ोंकी क्या जरूरत है? सर्वत्र ब्रह्मभावसे देखना बस है. कृतार्थता उसीमें सन्निविष्ट (समायी) है.' इस जगत्के मायावश लोगोंको तो इतना ही आवश्यक है. सृष्टिका स्वाभाविक नियम है कि, सब मनुष्य जैसे बने वैसे स्वल्प श्रमसे अलभ्य लाभ प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले हैं और जो फल बड़े कष्टसे और दीर्घकालमें प्राप्त होता हो वह फल जरा भी परिश्रम विना तुरंत मिल जाय तो इसके समान उत्तम तो एक भी नहीं है. इसी तरह, जिस ब्रह्मके जाननेके लिए अपार कठिन साधन करने पड़ते हैं, वह ब्रह्म यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेसे ही प्रत्यक्ष होता हो तो फिर क्या चाहिए ? परंतु

ब्रह्मका साक्षात्कार (दर्शन) करना सहज श्रमका कार्य नहीं है. 'जो पार जाय वह लड्डू खाय' इसी तरह जो जीव सद्विचार, सत्कर्म, सद्ज्ञान और पूर्ण भक्तिसे परब्रह्मके प्राप्त करनेके लिए मंथन करता है, वही परब्रह्मको, करोड़ों जन्ममें पाता है. परंतु इसका विचार ही कौन करता है? इस जगत्के जीवोंको तो ऐसे वाचिक (कहने भरके) वेदान्तियोंके कर्मोपासनादिक साधनोंके निन्दारूप उपदेश, बहुत प्रिय लगते हैं और इससे वे तुरंत ही सारे सत्कर्म त्यागकर, परम निष्ठुर हो जाते हैं. वे शास्त्रादिको नहीं मानते, सारे कर्मोंका त्याग कर देते हैं और स्वयम् ही ब्रह्म होनेकी धारणा रखकर ईश्वरका भय भी नहीं करते. बिलकुल पत्थरके समान शठ शिष्य और वैसे ही उनके गुरु भी होते हैं. वे परम इष्ट (प्रिय) सिद्धान्तोंको वेश बदलकर सर्वत्र निन्दारूपसे फैलाते हैं और अनेक लोगोंको कुमार्गमें दौड़ाते हैं. परंतु जब उन्हें कोई सच्चा ब्रह्मवेत्ता मिलता है और किसी जन्मका संस्कार होता है तब फिर अधिकारी बन, सत्य मार्गमें भी फिरते हैं.

ऐसा एक शठ गुरु, जिसे वाचिक (शाब्दिक) वेदान्ती, ठग वेदान्ती; शुष्कवेदान्ती, या ब्रह्मठग आदि अनेक नाम दिये जा सकते हैं, एकवार अज्ञ लोगोंको भ्रमाता हुआ उत्तर दिशाकी ओर चला. जाते जाते वह एक देशमें जा पहुँचा. वहांका राजा बड़ा बलवान् और बड़ी समृद्धिवाला था. उसके राज्यमें संत और महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका अच्छा सन्मान होता था. यह ब्रह्मठग मानता था कि इस लोकमें मेरे जैसे ही सब संत महात्मा होंगे, इस लिए चलो मैं भी इस राजाके यहां जाऊं और उसे अपने वाक्चापल्यसे वश कर लूं. ऐसे निश्चयसे वह 'जय सच्चिदानन्द, जय सच्चिदानन्द, कहता हुआ राजदरबारमें गया. परंतु राजाने उसे अधिक आदर नहीं दिया. सिर्फ उसे भोजनादि देनेके लिए नौकरोंको आज्ञा दी. ऐसा देख, उस दांभिकने राजाके किसी नौकरको अपने पास बुलाकर युक्तिसे पूछा:—"क्यों भाई, देशान्तरमें तो तेरे राजाकी कीर्ति सुनी जाती है कि यह राजा बड़ा सज्जन और महात्माओंका सम्मान करनेवाला भाविक भक्त है पर वह तो यहां कुछ भी देखनेमें नहीं आता, यह कैसा? तब उस नौकरने कहा:—"महाराज! हमारे राज्यमें संत महात्माओंका सम्मान होता है यह बात सत्य है, पर वह क्या इस न्याय दरबारमें होता है? यह मान तो राजाकी एक रानी मिहिरा (मीरा) के यहां ही सब साधु संतोंकी पूजारूपसे होता है. रानीजी परम साध्वी और संतसेविका

हैं. वे निरंतर संतसमागम ही किया करती हैं. उनके यहां महात्मा-ओंका सम्मान होता है. राजाके यहां क्या होगा? निरंतर साधुओंमें ही बैठना और परब्रह्मके ध्यानमें रहना ही रानीका स्वाभाविक व्यवहार है, वहां आप जावें, वहां सब अच्छा साज है. उन्होंने इस संसारको असार समझकर विलास वैभवका त्याग किया अर्थात् राजाने उन्हें त्याग-कर एक शून्य भवनमें रखा है. उनके निर्वाहके लिए राजा हर महीने या प्रतिवर्ष धनकी जो बड़ी रकम देता है, वह सब वे संतसेवा ही में लगा देती हैं. आप वहीं पधारें, वहां आपका अच्छा सम्मान होगा."

महामुनि वामदेवजी बोलेः—"राजा, जिनको मान और अपमान सुख तथा दुःख दोनों समान ही हों वही महात्मा हैं. वैसे पुरुषको 'मेरा सम्मान हो तो ठीक' ऐसी कामना पैदा ही नहीं होती. यह शुष्क वेदान्ती, राजाके अल्पमानसे असंतुष्ट हो, बड़ा मान प्राप्त करनेके लिए राजसेवकके कथनानुसार, रानी मिहिराके मंदिरकी ओर 'कल्याण! कल्याण!' 'शिवोऽहम्! शिवोऽहम्!' कहते चला. रानीका नाम सुनकर उसे आनंद भी खूब हुआ. उसने सोचा कि, पुरुषसे स्त्रीका मन अधिक सरल होता है, इससे मेरा मत (उपदेश—पंथ) पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक शीघ्रतासे फैलकर आदरित होगा ऐसी आशा है. यह बात सत्य है कि पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको भ्रमाकर किसी भी रास्ते खींचा जा सकता है. अस्तु! फिर वह संत, मिहिराके महलमें गया. तुरन्त अनेक सेवकोंसहित मिहिरा स्वयम् उस संन्यासीके सम्मुख आकर, उसका बहुत सत्कार कर अपने महलमें ले गयी. भीतर चाहे जो कुछ हो, उसे कोई नहीं जानता. पर ऊपरसे उस साधुमें साधुत्वके लक्षण देख कर मिहिरा भक्तिसे उसकी सेवा करने लगी. उसका तो स्वभाव ही था कि, भक्तको भगवद्रूप ही मानना और ब्रह्मविदको ब्रह्मरूप देखना. रानी मिहिराने अपने भवनमें आये हुए उस महात्माको रुचिकारक भोजन करा-कर, सुन्दर, ऊंची और कोमल गद्दी पर बैठाल, भगवत्सेवासे बचे हुए सुगं-धित चंदन और पुष्पादिक उसे भगवद्रूप जानकर अर्पण किये और फिर उसके सामने हाथ जोड़ कर भगवत्—चर्चा करनेको बैठी. वाचिक वेदान्ती बोलनेमें हमेशा पटु होते हैं, इस लिए वह साध्वी मिहिरा भगवत्संबंधमें शंकासे प्रश्न पूछती, तो उसका युक्तिप्रयुक्तिसे उत्तर देकर वह संन्यासी

रानीका समाधान करता था. यद्यपि भीतर (अन्तःकरणमें) उसे कुछ अच्छा न लगता था तो भी वह रानीका मन प्रसन्न करनेके लिए, जब रानी भक्तियोगमें मस्त होकर, वीणावाद्यसे, पैरोंमें घुँघरू बांधकर प्रभुके सामने नाचती और हरिकीर्तिन करती, तब वह संन्यासी भी वैसा ही करता था. परन्तु गौं पाकर (प्रसंगोपात्त) अपने कुटिल सिद्धान्त फैलानेसे न चूकता था. वह मानों कोई सबसे बड़ा ब्रह्मनिष्ट हो, इस तरह गम्भीर मुँह करके कहता कि, 'हे रानी ! अब यह मूर्ति नहीं चाहिए.' आत्मपूजा करना योग्य है. स्वामी और सेवक, स्तुति और निन्दा, दान और भिक्षा (याचना) इत्यादि प्रपंच जो प्रत्यक्ष द्वैत भावनाको दिखाता है, कुछ काम नहीं आता. तू तो बड़ी ज्ञानवती है. तेरे मनमें अब कुछ द्वैत भावना नहीं दीखती; तो फिर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी भावसे इस मिथ्या जगत्में विचरना योग्य है, महात्माओंकी सेवा और ज्ञानका श्रवण यही अब तुमको उचित है. संतके ऐसे वचन सुनते ही मिहिरा, जो बिलकुल ब्रह्मरसमें मग्न थी और जो कुटिलवादमें न पड़, यथार्थ मार्गमें ही चलती थी, बहुत नम्रतासे अपने वेदविहित भक्तियोगका सिद्धान्त कर फिर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस महावाक्यकी सार्थकता प्रतिपादन करती थी.

"ऐसा करते हुए कई दिन बीत गये. राजमहलमें रहकर वह संन्यासी, नित्य मौनभावसे वैसा भोजन खा खाकर मोटा ताजा और गुलाबके फूलकी लालिमाके समान हो गया. उसका अन्तःकरण तो उसी समय भ्रष्ट हो गया था जब उसने पहले ही पहल रानीका अद्भुत रूप देखा था, परन्तु वह उस दुष्टभावको अपने मनमें ही रखकर फिरता था. रानी मिहिरा जब उसकी ईश्वरभावसे पूजा करने लगी, तब उस भावका अपने इच्छानुसार दुरुपयोग करनेका उसने विचार किया. एक दिन रानी भगवत्सेवा कर पूर्ण प्रेमसे नृत्य कीर्तनमें मग्न थी इस समय दास दासी आदि भवनमें कोई न थीं, वह संन्यासी गद्दीपर बैठा था और उस रानीका रूप देख, मोहांध होनेपर भी मुँहसे 'कृष्णोऽहम्, कृष्णोऽहम्'* जप करता था. महासाध्वी मिहिराके भक्तियोगका मैं क्या वर्णन करूं ? जब वह कीर्तनके समय प्रेमके आवेशमें तल्लीन होती तो अपने देहकी सुध भूल जाती थी. वह परिपूर्ण ब्रह्मानन्दमें मग्न रहती थी. आज उसे ऐसी स्थितिमें देखते ही उस बकमहात्माका मन विह्वल हो गया और उस आवे-

* सोहम्—वह (परमात्मा) मैं हूँ.

शमें, वह पापपुंज, पवित्र मिहिरासे उसके साथ नाच करते करते लिपट गया. अपने शरीरको किसीका स्पर्श हुआ है, ऐसा जानते ही रानी सचेत हुई. वह ग्लानिप्राप्त संन्यासी अपने दुष्ट भावको छिपानेके लिए चतुराईसे बोला:—" हे रानी ! इतनी असावधानता ! मैं तुमको एकदम आकर नहीं पकड़ता तो तुम तुरन्त ही गिरजाती. हम वारंवार कहते हैं कि, यह झूँठा वखेड़ा तुम छोड़ दो.. तुमको और हमको तो ऐसी द्वैत-भावना उचित नहीं है. आपको तो सभी ब्रह्मरूप है ! देखो, सभी अद्वैत, वाह ! कौन ठाकुर और किसकी सेवा."

"परम पावनी मिहिराके मनमें द्वैतभावना होवे ही किसकी कि उसे कुछ पातक या सन्देह पैदा हो ? किन्तु गुरुका मन तो ऐसा चंचल हो गया कि कव रानी भूले और कव मेरी कामना पूर्ण हो. फिर उसने अनेक युक्तियां रचना प्रारंभ की. यह बात वातमें शृंगारक्रीड़ाका वर्णन और तत्त्वविवेचनसे मिश्रित कर युक्तिपूर्वक अनेक मदनोद्दीपक वातें करने लगता. पहले वैसी शृंगारकथासे रानीके मनमें संशय न हो इसलिए उसे धिकारता और फिर धीरे धीरे उसका मण्डन करता और कहता जाता कि, देखो सवको ब्रह्म ही देखता है—यानी सभी दृश्यादृश्य जगत् ब्रह्मरूप ही है; ऐसा जिसने अनुभवसे जान लिया है, उसीको किसी भी कर्मसे प्रत्यवाय (पाप) नहीं लगता. वह तो सव कर्माकर्मसे जल—कमलके समान मुक्त ही है." परन्तु ऐसे वाक्योंसे मिहिराके मनमें कुछ असर न होता था. पवित्र प्रेमभक्तियोगमें लीन वह साध्वी यही मानती थी कि, यह चराचर मेरे हृदयके स्वामी ब्रह्मका ही है. तव वह साधु नयी नयी युक्तियां कहता, पर भक्तिरसमें रँगे हुए अंतःकरणवाली वह साध्वी, उसके दुष्टभावको नहीं समझ सकी. एक दिन एकान्त देख, रानीके सामने वह ज्ञानकथा कहने लगा. साधुरूप वकभक्तने पहले वहुतसा ज्ञानरहस्य कह कर, फिर कोई विचित्र प्रसंग लाकर ऐसा दृष्टान्त देने लगा:—

'हे मिहिरा ! यह आत्मा तो विलकुल निर्लेप है और प्रारब्ध (कर्म-फल) तो इन्द्रियद्वारा देहको भोगना पड़ता है, परन्तु उसके साथ आत्माका जरा भी संवंध नहीं है. किसी राजर्षिके नगरसे कुछ दूर एक रमणीक उपवन था. वहां उत्तमोत्तम ललित पुष्पवृक्ष और फलित वृक्ष खड़े थे. अनेक शुक (तोते), मैना आदि पक्षी भी मधुर कलरव कर रहे थे. उस उपवनकी सुशोभित घटाके मध्यमें एक महात्माका आश्रम था.

ये महात्मा एक दिन आनंदसे एक आम्रलताके नीचे बैठ, उपवनरूप ब्रह्मलीला देखते थे. इतनेमें वहां मानो दूसरी उर्वशी ही है, इस तरहकी एक युवती उस उपवनमें क्रीड़ा करती हुई जा पहुँची. उसके साथ वैसी ही सुंदरांगी सखीमंडली भी थी जो उस नवयौवनाकी सेवाके लिए नाना प्रकारके सेवोपचार करती थी. उस नवल किशोरीको देखते ही उस महात्माका मन बहुत विह्वल हो गया और इन्द्रियां स्वेच्छासे उस सुन्दरीकी ओर जोरसे दौड़ने लगीं. महात्मा तो साक्षात् ब्रह्मरूप ही था, उसे कुछ भी संकल्प विकल्प न होता था; परंतु, इन्द्रियोंसे प्रेरित हुआ स्थूल शरीर एकदम स्वस्थानसे उठ, शीघ्रतासे दौड़, उस नवल सुन्दरीके कोमल गुलाब जैसे शरीरके साथ ब्रह्मभावसे लिपट गया और ऐसा दृढ आलिंगन किया कि उससे वह सुन्दरी छूट न सकी. ऐसा प्रसंग देख, हँसती और लजाती हुई उसके साथकी सखियां आश्चर्यसहित दूर भाग गयीं और उन्होंने उस वाटिकाके वाहर आकर राजसेवकोंसे यह समाचार बताया. इस ब्रह्मलीलाके रहस्यको समझ न सकनेवाले सब सेवक तुरंत नाराज होकर उस वाटिकामें दौड़ आये और उस सुन्दरीकी भेटसे निवृत्त होकर खड़े हुए उस महात्माके स्थूल शरीरको मारने लगे. फिर उसके शरिरको कैद कर राजनगरमें ले गये और राजासभामें लेजाकर उसके स्थूल शरीरको खड़ा कर, उसका अपराध राजासे निवेदन किया. उस नगरीका राजा, उस नवल सुन्दरीका पिता था. वह बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानी था. सेवकोंके मुँहसे सब वृत्तान्त सुन और महात्माके शरीरकी ओर देख, वह बहुत शोक करने लगा और बोला:—"हरे हरे !! किन पापियोंने इस महात्मा पुरुषको व्यर्थ पीड़ित किया है? जाओ रे, उन दुष्टोंको इससे दश दश गुनी पीड़ा दो और सिर तथा मूछ मुड़ाकर उनको नगरमें घुमाओ.' फिर वह राजर्षि हाथ जोड़कर उस महात्माके आगे जाकर क्षमाप्रार्थना करने लगा. ! अहा."

"इतनेमें ही परम चतुरा मिहिरा बीचमें बोल उठीः—'महाराज! यह बात तो बहुत विपरीत कही जा सकती है. क्या अविवेकी, आश्रमव्यवस्थाके भंग करनेवाले पुरुषको दंड देना योग्य नहीं है? इसमें सेवकोंको उल्टा दंड क्यों होना चाहिए? यह सुन, उस वेदान्तीने उत्तर दिया:—"अरे साध्वी! तू ऐसी तत्त्वज्ञ होकर क्यों भूलती है? ऐसे महात्माको अविवेकी कौन कहेगा? कौन नीतिभंग कहेगा? यह जगत् ब्रह्मरूप ही है! विषयादिक कर्म देहके हैं

और उन्हें देह भोगती है! उनमें ब्रह्मज्ञको कुछ भी लालसा नहीं होती, वह तो सदा निर्लेप और निष्पाप है. ऐसे ब्रह्मज्ञानीकी भेंटसे तो वह सुन्दरी राजबाला परम पवित्र हो, उसके समान ही ब्रह्मपदको प्राप्त हुई थी.' यह सुन, साध्वी मिहिरा समझ गयी कि, इस कूट ज्ञानी साधुका मन मलिन है. मनका स्वभाव बहुत विलक्षण होता है. मनसे ही संसार स्वर्ग और नरकद्वार होता है. मन यदि अंकुशमें हो तो वह दास और निरंकुश हो तो शत्रुसे भी अधिक दुष्ट है. उस साधुके कपटयुक्त वचन सुन, रानी मिहिरा चुप हो रही. पर जब लज्जित होकर मिहिरा कुछ नहीं बोली तब इस ठग संन्यासीने अनुमान किया कि रानी साध्य (वशमें) है. वह फिर साधुभाषामें बोला:—'हे रानी! इस बातमें ग्लानि करनेका कुछ प्रयोजन नहीं. क्यों कि यह तो अज्ञ लोगोंकी उल्टी समझ है. यथार्थ दृष्टिसे तो किसीमें कुछ भेद नहीं है, सब एकही ब्रह्मके विकार हैं. जैसे एक ही सोनेसे ये तुम्हारे कुंडल बने हैं और उसीसे तुम्हारे हस्तकंकण बने हैं. इसमें सिर्फ आकार मात्र भिन्न है. यदि इन्हें तोड़ अग्निमें गलाकर एक करें तो सोना ही होगा, कुछ भेद नहीं रहेगा, उसी तरह हम सहित सब पुरुष और तुम सहित सब स्त्रीवर्ग केवल एक ही ब्रह्मके रूपान्तर होनेसे सर्वथा अभिन्न अर्थात् एकही हैं. तो स्त्री पुरुषका संग दूषित कैसे कहा जाय? फिर उसमें भी अज्ञपनेकी बात अलग है, हमें तुम्हें कोई बात दूषित और बंधनकारक नहीं है. तुम और हम बराबर हैं इसलिए निरंतर सुखमय विहार करते रहें तो भी किसी तरह लिप्त नहीं होंगे. बराबरवालोंका विहार भी ब्रह्मरूप ही होता है. इसमें ग्लानि करनेका कुछ काम नहीं. तुम और हम एक ही रूप हैं और जब एक ही रूप हैं तब लज्जा किसकी? जिस समय जिस विषयकी कामना हो उस समय उस विषयका भोगकर, निःस्पृह होना योग्य है. जब खीर खानेकी इच्छा हो तब इच्छाभर खीर खाकर इस इच्छाको तृप्त करना चाहिए. जब किसी समय मन प्रबल हो जाय तो उसको शान्त करना ही उचित है. इस लिए किसी समय इच्छा हो जाय तो संकोच करके उसे मनमें मत छिपाना. तुम्हारी प्रसन्नताके लिए यह ब्रह्मरूप देह सदा तत्पर है.'

"वरेप्सु! वेदान्तवादसे मिश्रित होनेपर भी उस संन्यासीकी ऐसी विषयलालसासे गर्भित बात सुन, मिहिरा अपने मनमें एकदम सचेत हो गयी. उसे निश्चय हुआ कि, ब्रह्मनिष्ठकी बातें ऐसी नहीं होतीं, कोई दुष्ट

जीव ही ऐसी कल्पना करता है. परन्तु साधु जनोंपर उसका अटल पूज्य भाव होनेसे, उसने अपना वह निश्चय मनमें ही दबाकर, इस शुष्क वेदान्तीके मन और उसके ब्रह्मभावकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया. वह नम्रतासे बोली:—'महाराज! मेरे मनमें तो किसी बातकी कामना (इच्छा) नहीं है. मेरी सब कामना परब्रह्म श्रीहरिके अंगके संगमें बिलकुल लय हो गयी हैं, परंतु सर्वज्ञ ब्रह्ममय देखनेवाले आपकी कुछ इच्छा हो तो मैं तो आपकी चेली हूँ.' यह सुन, वह ब्रह्मज्ञ बहुत ही प्रसन्न हो गया, और बहुत दिनोंका प्रयत्न आज सफल हुआ ऐसा समझकर बोला:—'हे सुन्दरी! साध्वी! ऐसा योग और ऐसा एकान्त स्थान फिर कब मिलेगा? तैयार होजा." तब वह चतुरा बोली:—"महाराज! आप यह क्या बोले? जहां अपना मन शुद्ध है और हम दोनों समान ब्रह्मदृष्टिवाले हैं वहां एकान्त क्या और गुप्त क्या? महाराज मेरी ऐसी इच्छा है कि आप विदेशी हैं इससे आपका प्रसंग बारबार मिलना दुर्लभ है, इसलिए आप पूर्ण ठाटके साथ अपनी इच्छा पूर्ण करें. आप निश्चिन्त रहें. आजसे तीसरे दिन ब्रह्मलीलाका सुख अनुभव करनेके लिए मेरा एक अत्यंत सुन्दर बगीचा है हम उभय वहीं जायेंगे." इतनी बातचीत होती थी, इतनेमें एक दासीने हाथ जोड़कर विनय की:—"देवी! श्रीहरिको नैवेद्यार्पणका समय हुआ है." यह सुन, तुरंत वह पवित्र अबला उठकर हरिमंदिरमें चली गयी.

वामदेवजी बोले:—"वरेप्सु! इस महासाध्वी मिहिरा रानीका अधिकार कितना बड़ा था, वह किस तरह ब्रह्मस्वरूपमें लीन थी, यह बात मूर्ख क्या जाने? वह सिर्फ मुँहसे ही 'अहं ब्रह्म,' 'अहं ब्रह्म' कहनेवाली न थी, परंतु स्वयं ब्रह्म ही थी. अपनी अन्तर्दृष्टिसे अपने और सारे जगत्में व्याप्त हुए एकही परमात्माको अभेदपनसे देखनेवाली थी. उसे तो बाल्यकालसे ही परमात्माका साक्षात्कार हुआ था और तभीसे उसका अज्ञानावरण दूर होजानेसे ब्रह्ममय सारा जगत् उसे हस्तामलकवत् था. उसका अभेदपन और उसकी परमात्मनिष्ठा उसके पतिके देश और उसके पिताके राज्यमें प्रसिद्ध थी. ससुरालमें सास, ननद और पति इत्यादिने उसे सबके समान भेद-दृष्टिसे संसारमें रखने और संसारका अनुभव लेनेके लिए अनेक प्रयत्न किये, पर उसकी दृढ़ भक्तिभावनाके आगे किसीका कुछ न चला. इतना ही नहीं, पर वैसा करनेको उन्होंने उसकी कई बार परीक्षा की थी, अनेक बार उसे छला था. पर, किसीसे उसका अचल प्रभु-

प्रेमभक्तियोग शिथिल नहीं हुआ. निदान, उसके पतिने उसे उस एकान्त मंदिरमें रख, खर्चकी सुन्दर व्यवस्था कर दी थी. उसके ऐसे सच्चरित्रसे यह जगत् अनभिज्ञ न था. उसकी परम उदारता और दीनदयालुताके कारण स्वतः उसीकी निन्दा करनेवाले अथवा उसके काममें विघ्न करनेवाले अनेक अधम लोग भी कल्याणपात्र बन गये थे अर्थात् अत्यंत रूपवती होनेपर भी सब संसारसे विरक्त और निःशंक होकर इच्छानुसार प्रेमलक्षणा भक्तिसे हरिकीर्तन और चाहे जैसे एकान्त स्थानमें संतसमागम करनेपर भी अब उसकी विशुद्धता–निर्दोषताके लिए किसीको भी शंका न होती थी. जो बात मनमें वही बाहर और जो बाहर वही भीतर. किसीसे कुछ भेद और न किसीसे कुछ दुराव! ऐसा शुद्ध चरित्र देख, उसके दास दासी भी बिलकुल शुद्ध और भक्तिमान् होगये थे. उनसे भी उसका चरित्र गुप्त न था, और उसके किसी चरित्रके लिए उन्हें शंका भी न थी.”

उस शुष्क वेदान्तीके पाससे विदा हो फिर मिहिराने सब दासियोंको पास बुलाकर उस महात्माकी परीक्षा करनेके लिए की गयी युक्ति कह सुनायी और अपने अपने संकेतमें बहुत सावधान रहनेकी चितावनी दी. अपने पवित्र पतिकी आज्ञा ले और उपयोगी व्ययके लिए धन मँगाकर तथा शिबिरादि (डेरे तंबू) विविध सुखसामानसहित उन्हें दूसरे दिन नगरके बाहर बनी हुई अपनी एक रमणीय वाटिकामें भेजा. देवीके आज्ञानुसार उन्होंने वाटिकामें जाकर युक्तिपूर्वक सारी रचना ठीक कर दी.

तीसरे दिन भगवत्सेवा करके मिहिरा वहां जानेको तैयार हुई. वह संन्यासी तो मार्ग ही देख रहा था कि, कब वाटिकामें पहुँचें और अपनी मनःकामना सफल करें. दो रथ तैयार होकर दरवाजेके सामने खड़े हुए. महलसे उतरकर मिहिरा रथमें बैठी. संन्यासी दूसरे रथमें बैठा. उसका मन तो इस समय तीसरे स्वर्गके सुखमें फिर रहा था. थोड़ी देरमें वाटिकामें पहुँचे. रथसे उतर मिहिरा उसे भीतर ले चली. वहां जगह जगह अद्भुत लीला हो रही थी. वाटिकाके बीचोबीच एक अत्यंत सुन्दर तम्बू इस तरह खड़ा किया गया था, कि वह प्रत्येक मनुष्यको चाहे जहांसे खड़े खड़े अच्छी तरह दीख सके. वह देखनेमें तो संकुचित पर भीतरसे बहुत बड़ा और सुन्दर था. तम्बूके भीतर सब रचना रंगबिरंगी थी. जरजवाहिरातकी वहां कमी न थी. मखमलके विचित्र नर्म गलीचे जमीनपर बिछाये

गये थे. तंबूके मध्य भागमें एक चंदनका पलंग बिछा था. उसपर दूधके फेनके समान नर्म बिछौने बिछे थे. उसपर और सारे तंबूमें उस ऋतुके अनुकूल विविध सुगंध सिक्त थी. फिर अनेक सुगंधित फूलोंके गुच्छे भी जहां चाहिए वहां लगे हुए थे. ऐसे विशाल और इतनी रचनावाला होने पर भी वह शिविर (राजसी मुकाम) ऐसा यांत्रिक (यंत्रवाला) था कि यदि इच्छा हो तो एक क्षण मात्रमें वह सवका सत्र वहांसे अधर उखाड़ कर हटा लिया जाय, तो भी उसके भीतर रहनेवालोंको कुछ पीड़ा न हो.

"रानी मिहिरा ऐसे अद्भुत विलासभवनके समान शिविरमें उस संन्यासीको ले गयी. भीतर जाते ही साधु पुरुष तो निहाल हो गया. वसंत ऋतु, हृष्ट पुष्ट शरीर, संगीतका आलाप, कामोद्दीपक पदार्थोंका संघट्ट (जमाव) इन सबसे वह मदान्ध शुष्कज्ञानी धीरज नहीं धर सका. संकेतके अनुसार दास दासियां वहांसे एक एक कर खसकने लगीं. शिविरके द्वारका पर्दा सरर्र करता नीचे गिर गया. इस तरह थोड़ी देरमें मनुष्योंके समूहके बीचमें बना हुआ शिविर एक गुप्त एकान्तस्थान बन गया. भीतर तीसरा कोई भी न था. मिहिरा और संन्यासी दो ही थे. सबके चले जाने पर संन्यासी पलंगपर जा बैठा और मिहिराको हाथसे अपनी ओर खींच आलिंगनकी उतावली करते बोला:—" हे सुभगसुन्दरी ! अब क्यों देर करती है ? आज तेरा और मेरा दोनोंका जन्म सफल है. मुझ जैसे महात्माकी सेवा करके कृतार्थ होनेवाली तू विशेष धन्य है. 'ब्रह्मचिह्न सर्वत्र एकमय देखनेका यही सार है, हम जैसे ब्रह्मदर्शियोंको तो सभी रूप ब्रह्ममय है तो इस सिद्धान्तको तुम सुजान होकर वारवार क्यों भूलती हो ? और लज्जित होकर कोमल अंगोंको क्यों गुप्त रखती हो ? ऐसा मुग्धत्व तो सिर्फ अज्ञान और नवोढा-मुग्धा स्त्रियोंको ही योग्य है. तुम तो ब्रह्मरसमें मग्न हुई हो, इस लिए अब इस अमृतमय समयको व्यर्थ मत जाने दो." यह सुन, मिहिरा एक किनारे खसककर बोली:—" महाराज ! आपका कहना सत्य है ! मैं कुछ लज्जा नहीं करती. मैं तैयार हूँ ! आप कपड़े त्याग दें ! क्योंकि मेरा शरीर देखनेसे जैसे आपको कामना उत्पन्न हुई है, उसी तरह आपका अंग देखनेसे मुझे भी कामना उत्पन्न हो, इस लिए इतनी इच्छा पूर्ण करो. आप कपड़े त्यागकर आओ, ब्रह्मका विलास करें."

महाराज तो यह बात सुन, और भी अधिक प्रसन्न हुए और पलंगसे नीचे उतर, तंबूकी खूंटीमें एक एक वस्त्र उतारकर टांगने लगे. कमरका फेंटा

भी निकाल डाला. अब सिर्फ दो अंगुलकी लँगोटी रही. उसे पहने हुए महाराज आने लगे, तब फिर रानी बोली:—"क्या कहूँ ? आपके समान सुन्दर स्वपुरुष मैंने आजतक कभी न देखा था. किन्तु वाह! यह दो अंगुलकी चिन्दी (चिथड़ा) आपने क्यों रखी है ? ब्रह्मदेव यह तो आपके अंगगौरवको कलंक लगाती है इसे निकालदो." यह सुन, महात्मा वह लँगोटी उतारनेके लिए संकोच करने लगा तब पवित्र रानी फिर बोली:— "अरे! आप तो ब्रह्मरूप हो, मैं भी ब्रह्मरूप हूँ, यह ब्रह्मलीला है, ब्रह्म सर्वत्र है, आपको इसमें संकोच क्या है ? लज्जा क्या है ? सर्वत्र अद्वैत है, द्वैत कहां है जिससे लज्जित होते हो ? आपकी ब्रह्मलीला पूर्ण रीतिसे करनेके लिए मैं यहां आयी हूँ, आप शीघ्र पधारो! क्या आपके मनमें द्वैत भाव बसता है ?" यह सुन, बहुत हर्षित हुआ वह संन्यासी, दिगंबर (नग्न) होकर शीघ्रतासे पलँगके पास आने लगा. उसकी सारी इन्द्रियां पूर्ण रूपसे जाग्रत् हो गयीं थीं. उसके रोम रोममें कामका महाबल व्याप गया था, पर यहां 'अहं ब्रह्मास्मि' की परीक्षाकी कसौटी थी. ज्योंहीं वह संन्यासी पलँगके पास आ, मखमलसी कोमल सीढ़ियोंसे होकर ऊपर चढ़ने लगा, त्यों ही रानी "पधारो पधारो" ऐसा शब्द जोरसे बोली और तुरंत ही वहां एक विचित्र चमत्कार हुआ. एक सपाटेसे सारा तंबू वहांसे उखड़ गया और वहां पड़ा हुआ पलंग मानो खुले मैदानमें डाला गया हो इस तरह दीखा. अब देखलो मजा. इसी जगह उस ब्रह्मवेत्ताकी दुर्दशाकी परा काष्ठा हो गयी.

"तंबू उखड़ते ही चारों ओरसे सैनिकोंका हाथियारबंद पहरा होने लगा. आसपास सारे दास और दासियां मुँहमें कपड़ा लगाकर खड़ी थीं. रानीकी अभिलाषासे नग्न हुए उस ब्रह्मज्ञानीकी इस समय कैसी दुर्दशा हुई होगी! वरेप्सु! उसका तू ही विचार करले. वह महामूर्ख, तंबू उखड़ते ही हक्का बक्का हो गया. वह दिगंबर नाथ पलंगकी सीढ़ीसे कूद, भयभीत और लज्जित होता हुआ अपने कपड़े लेनेको दौड़ा, परंतु कपड़े कहां थे जो पहरे ? वे तो तंबू उखड़नेके साथ उसीमें चले गये थे. अब वह क्या करे? कहां जावे ? अपने शरीरको कहां छिपावे ? वह अज्ञ जीव अपने शरीरको हाथसे ढँक, इधर इधर छिपनेकी जगह खोजने लगा. ऐसा तमाशा देख,

१ श्वान पुरुष, कुत्ता.

चारों ओर खड़े हुए सेवक मुँहमें कपड़ा लगा और पेट पकड़; खिलखिलाकर हँस पड़े. इस समय उसके मनमें ऐसी ग्लानि हुई होगी कि यदि पासमें कोई अंधा कुआ होता अथवा पृथ्वी फट जाती तो वह उसमें धँसकर मरजाता या जीभ काटकर देहत्याग करता. इतनेमें फिर भी मिहिरा नम्रतासे कहने लगी:—"महाराज! इस अमृतसमान समयको क्यों खोते हो? शीघ्र आओ! आप तो स्वयं ब्रह्म हो, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह सब जगत् भी ब्रह्म है, ये सेवक भी ब्रह्म हैं तो चिन्ता क्या और लज्जा भी किसकी? अद्वैतभाववालेको, परम ब्रह्मस्वरूपको ब्रह्मरूपकी लज्जा उचित नहीं. लज्जा तो सिर्फ द्वैत भाववाले और भेददृष्टिका लक्षण है. आपमें तो कुछ भी भेद नहीं है. मैं तो अज्ञ अबला हूँ, इससे भेददृष्टिसे देखूं तो उचित ही है, परंतु आप तो स्वयं ब्रह्म हो, आप भी भेददृष्टिसे देखो तो यह जगत् डूब जाय!"

यह सुन, वह संन्यासी बोला:—'हे मिहिरा! मिहिरा! यह क्या? तंबू गिरा दो! क्या लज्जाका विचार नहीं है?' मिहिराने कहा:—'महाराज! ब्रह्मरूपको लज्जा क्या? शीघ्र पधारो. विलासमें रमण करें. यहां ब्रह्मके सिवाय कौन है कि जिससे तुम्हें भय और लजा लगती है? मैं सर्वत्र ब्रह्म देखती हूँ और तुम्हें वह नहीं दीखता?' वरेप्सु! इस समय उस शुष्क वेदान्तीके मनको कितनी बड़ी चोट लगी होगी? उसने विचार किया होगा कि ये चारों ओर फिरते हुए पहरेदार अपनी तलवारसे मुझपर एकदम टूटकर मेरे टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं कर डालते, परंतु उस दंभीका पूर्व जन्मका संस्कार था इससे उसने इस समय एक क्षण भी जीनेकी अपेक्षा अपने शरीरके टुकड़े टुकड़े होजाना अधिक योग्य माना. उसे विचार हुआ कि जिन्होंने आजतक मुझे महाराज, गुरुराज आदि शब्दोंसे सत्कार कर ईश्वरकी तरह मेरी पूजा की है, वे सब लोग आज मुझे इस दशामें देखते हैं! धिक्कार! धिकार! यह सब मेरे ही कृत्योंका मुझे फल मिला है. मैंने अपना सारा जीवन मिथ्या ब्रह्मवादमें ही बिताया, पर सत्य ब्रह्मको नहीं पहँचाना. हाय! इस साक्षात् ब्रह्मरूपिणी और जगत्की माताके समान रानीका मैंने कितना भारी अपराध किया है. अहो! सच्ची ब्रह्मज्ञ और सच्ची अद्वैत भावनावाली तो यही है कि जो अभी तक पलंगपर बैठी है तो भी किसी तरहकी ग्लानि नहीं करती और इस मूर्ख, देहसुखाभिलाषी जीवको ब्रह्मवाक्योंका बोध कराती है. अहा हा! धन्य

है इसे और इसकी शुद्ध ब्रह्मनिष्ठाको. अरे ! यह तो सारे जगत्का गुरुरूप है, मेरा सद्गुरु तो यही है; यही मुझे सब पापों और अज्ञानसे मुक्त करेगी. ऐसे विचारसे वह संन्यासी, इस समय मानो पिछले सारे कुकर्मोंका विपाक (फल) भोग रहा हो ऐसे शुद्ध मन और अकुटिल भावसे, उसी दशामें दंडकी तरह गिर, हाथ जोड़कर उसके पैरोंमें पड़ा और उसने पुकारकर कहा:—' हे मातुश्री, हे मातुश्री ! हे दयाकारिणी ! हे ब्रह्मरूपिणी ! मैं तेरा बड़ा अपराधी बालक तेरी शरणमें पड़ा हूँ. इस अज्ञान बालकपर दया कर, सब अपराध क्षमा कर और मुझे शरणमें रखकर सदाके लिए संसारदुःखसे मुक्त कर.'

" सतीशिरोमणि मिहिराने उसे ऐसा नम्र आर शुद्ध मनवाला देखकर, उसी समय नौकरोंसे उसके कपड़े दिलाये. उसे अधिकारी जान, शान्त कर, वहींपर भगवन्नामस्मरणका उपदेश देकर कहा कि—' हे सज्जन ! इस पवित्र मंत्रका शुद्ध मन और एकनिष्ठा(विश्वास) से अटल जप करते हुए तू भगवद्रूप हो जायगा. हे बाप ! तू मिथ्या ब्रह्मभाव(अहंब्रह्मपन) छोड़ दे और 'उस सर्वव्यापी परब्रह्म श्रीहरिका दास हूँ' ऐसी दृढ़ भावना धारण कर, उसे एकचित्तसे भज, बस परब्रह्मरूप होकर तेरा कल्याण होगा. तेरा कल्याण तेरे हाथमें ही है. "

" ऐसा कह, मिहिरा वहांसे उठ खड़ी हुई और सेवक प्रभुके नामकी जयध्वनि करने लगे. परन्तु वह नूतन जनित साधु तो मिहिराके पैरोंमें सिर रखकर पड़ा ही रहा और कहने लगा कि—' मातुश्री ! अब मैं तेरे चरणोंको छोड़ कहीं जाना नहीं चाहता और तू मुझ जैसे अज्ञान बालकका त्याग करनेके लिए योग्य नहीं है. मैं तेरी सेवामें जन्मभर यहीं रहूंगा, तू जो कुछ अन्न देगी वही खाऊंगा और प्रपंचका त्याग कर अपनी भक्तिको दृढ़ करूंगा.' ऐसे अत्याग्रहसे मिहिराको वह प्रार्थना माननी पड़ी. फिर श्रीहरिकी जयजय ध्वनि सहित सब वहांसे नगरकी ओर जानेको तैयार हुए और वह शुष्कज्ञानी अहंभाव छोड़कर, वहीं रहा और दूसरे जन्ममें परम ज्ञानी हुआ. ऐसी भगवद्भक्त और संतशिरोमणि मिहिरा रानीका प्रभाव अब तक संसारमें गाया जाता है. "

महासाध्वी मिहिरा.

ऐसा विस्तृत इतिहास सुन, प्रसन्न हुए सब सभासदोंके सहित राजा

वरेप्सुने नम्रतापूर्वक फिर वटुकसे विनय की कि; हे कृपालु गुरुदेव! "यह मिहिरा स्वयं अवला—स्त्रीजाति और उसके पति आदि सब कुटुम्बी संसारमें अनुरक्त होते भी उसे ऐसी ज्ञान—भक्ति कहांसे और किसतरह प्राप्त हुई यह कहिये."

वटुक वामदेवजी बोले; "प्राचीन कालमें मिहिरा नामकी नगरीमें जयसेन नामका एक महासमर्थ ब्रह्मनिष्ट राजा था. उसने पहले कठिन उपासना द्वारा अपने मनको भगवत्पदारविन्दमें दृढ—स्थिर किया था. उसकी संसारकी प्रीति जलकमलवत् थी. धीरे धीरे उसकी सब मायिक वृत्तियां निर्मूल होते ही उसे परब्रह्मका साक्षात्कार (दर्शन) हुआ और उसके बाद वह पूर्ण ब्रह्मनिष्ठासे ही अपना राज्य चलाया करता था. उसके धार्मिक राज्यमें किसीको कुछ अन्याय, भय या अधर्मका डर न रहता था. सब प्रजा सुखी और सदाचारिणी थी. ऐसे प्रतापी राजाके यहां उसकी वृद्धावस्थामें एक रत्नके समान कन्या पैदा हुई. वह कन्या साक्षात् किसी देवपुत्रीके समान और लक्ष्मीके भाण्डारतुल्य थी. 'पुत्रके लक्षण पालनेसे ही जाने जाते हैं' इस कहावतके अनुसार जन्मते ही उस कन्याका शील ऐसा उत्तम दीखने लगा कि उसके विना राजाको क्षणभर भी चैन नहीं पड़ता था. सोते, बैठते, नहाते, खाते और सभामें राजकाज करते भी लड़की उसके पास ही रहती थी. पहले पहल बोलना सीखी तभीसे उस बालाके सुन्दर कोमल मुँहसे ऐसे मधुर शब्द निकलने लगे कि जिन्हें सुनकर सबको आनन्द होने लगा. कुछ समयमें जब वह अच्छी तरह बोलने लगी तो जन्मसे ही राजपुत्री और सबकी लाड़िली (प्यारी) होते भी, अपने माता-पिता (राजा रानी)से लगाकर उस राजभवनके तुच्छातितुच्छ दास दासी सबको, योग्य मान पूर्वक और प्रिय शब्दोंसे बुलाती, किसीको भी अनादर या क्रोधभरे शब्द कहना उसे अच्छा ही न लगता था. फिर रानी उसे थोड़ा थोड़ा अक्षरज्ञान कराने (शिक्षा देने) लगी और राजाके रातदिनके सहवाससे स्वाभाविक ही उसे अनेक सुन्दर श्लोक, भगवत्संबंधी अनेक स्तोत्र और भगवत्कीर्ति गीत (कीर्तन) बिलकुल शुद्ध वाणीसे कंठाग्र हो गये. जब राजा नित्य भगवत्सेवा करके वाणीवाद्यसे प्रभुसंनिधानमें नृत्य करते समय प्रेमसे स्तोत्रादिक गाता तो वह भी स्वाभाविक बाललीलासे पिताके साथ नाचती और गाती थी. वह संस्कारिणी थी, योगिनी थी, परन्तु पूर्व-जन्मके योगमें कुछ कमी रह जानेसे उसे जन्म लेना पड़ा था. इस जन्ममें

उसके संस्कार पूर्ण होनेके लिए वह जन्मसे ही परब्रह्ममें लीन थी. वह ज्यों ज्यों बढ़ती गयी, त्यों त्यों ईश्वरकी सेवामें उसका मन इतना पगा और दृढ़ हुआ कि अपने बालवयके योग्य खेलना, खाना, पीना, आनन्द उत्साहसे सखी सहेलियोंके संग रहना, फिरना, पढ़ना, गुनना और कला कौशल्यादि सीखना इत्यादि सब बातें एक किनारे रख वह सोचती थी कि मुझे जो कुछ करना है वह सिर्फ भगवत्सेवा ही है, ऐसा उसके मनमें दृढ़तासे जम गया. राजाको शायद किसी राजकाजके कारण कुछ विक्षेप (अड़चन) हो जाय तो अपनी सेवाका समय जरा भी खराब जाने न देकर, नित्यके ही समयमें स्नानादिकसे शुद्ध हो, वह कुमारी प्रभुसेवामें तत्पर हो जाती और यथाविधिसे सेवा करती थी. विलंब हो जानेसे जब राजा सेवाके लिये अत्यंत चिन्ताग्रस्त होकर आता और अपनेसे भी अधिक चतुराईसे सेवाको पूर्णकर उस पवित्र बालाको एकाग्रचित्तसे प्रभुका ध्यान करते देखता तो उस (बाला)की आंखोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बहती थी. पुत्रीका भक्तिभाव देख, वह आनन्दमग्न हो जाता. मनमें वह विचार करता कि, यह बाला पूर्व-जन्मकी कोई महाभक्त है, परंतु भगवत्साक्षात्कार होना बाकी रह जानेसे वह पूर्वजन्मका अपूर्ण भक्तियोग पूर्ण करनेके लिए ही मेरे यहां जन्मी है. *

इस तरह समय बिताते हुए वह कन्या विवाहके योग्य हुई तो राजाने विधिवत् उसका विवाह किया, परन्तु यह बात उस साध्वी कन्याको पसंद न थी. विवाह हो गया, पर श्वसुरके घर जाने योग्य उमर होते तक वह पिताहीके घर रही. इस समय उसका भक्तियोग परिपक्व दशामें आ गया. उसपर पूर्ण कृपा कर पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीहरिने, अपने सगुण स्वरूपका उसे दर्शन दिया. एक दिन वह संध्यासमय ईश्वरोपासना करने बैठी. प्रदक्षिणा नमस्कारादि सब कर लेने पर इन इन्द्रियोंको रोक कर, प्रभुका ध्यान और मानसिक पूजा करना आरंभ किया. चरणकमलोंसे मुकुट-पर्यन्त परमात्मस्वरूपका ध्यान कर, गंध पुष्प नैवेद्यादि मानसिक उपचार

* इस विषयपर भगवद्वाक्य नीचे लिखे अनुसार है:—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥

पूर्वका योगभ्रष्ट—अधूरा योगी; अपना वह योग सरलतासे पूर्ण करनेको किसी पवित्र और धनवानके घर जन्मता है, अथवा किसी शुद्ध बुद्धिवाले योगियोंके कुलमें जन्मता है.

उनको अर्पण किया. फिर मानसिक दीपकसे प्रभुके अंगप्रत्यंगोंको प्रेमसे अवलोकन करते हुए उस स्वरूपानन्दमें इतनी तल्लीन हो गयी कि उसे अपनी देहकी सुध न रही. इसी समय उसका हृदय खुल गया. जिस स्वरूपके अवलोकनमें वह तल्लीन हो गयी थी, वह सच्चिदानंदघन स्वरूप हृदयकमलमें अखंड विराजता दिखाई दिया. इस देहके आत्मस्वरूपमें ही आत्मस्वरूप ही साक्षात् ब्रह्म है ऐसे दर्शन होते ही—ऐसा अनुभव होते ही—वह परमानंदमय—सच्चिदानंदमय—तेजोमय बन गयी. ऐसे चिन्मय स्वरूपमें ही उसका स्वरूप कँपने लगा, रोयें खड़े हो गये, सारे शरीरसे पसीना छूटने लगा. इसी लीनतामें पूर्ण भक्तिभावसे खड़ी होकर वह नाचने लगी. इस समय उसके अकथनीय प्रेमानंदके कारण उसके हृदयके सम्मुख विराजती परमात्माकी सगुण निर्गुण मूर्ति भी उसके साथ नाचने लगी! जिससे वह स्थान सिर्फ अच्युतपुरका अच्युतमंदिर ही बन गया!

इस समय फिर दूसरा चमत्कार हुआ! इस तरह भगवान्‌की एकतामें बहुत समय बीत गया, इससे वहां प्रार्थनाके समय प्रकाशित किये गये दीपकोंका घृत घट गया और दीपक उसी क्षण बुझ गये, इतनेमें उसका पिता अपने कार्यसे अवकाश पाकर प्रभुकी सेवाके लिए मंदिरमें आया. वहां बिलकुल अंधकार देख कर, उसे आश्चर्य हुआ कि, लड़की सेवा करने आयी थी वह भी नहीं है और मंदिरमें दिया भी नहीं, यह क्या है? फिर उसने लड़कीको दो तीन बार धीरेसे बुलाया, पर कौन बोले? मिहिरा तो उस समय अपने प्रभुके स्वरूपको ही देखनेमें मग्न थी, बिलकुल ब्रह्मरूप ही थी, तो 'मिहिरा! मिहिरा'का उत्तर कौन दे? प्रत्युत्तर न मिलनेसे वह भीतर जाते हिचकिचाया और दिया लानेके लिए नौकरको पुकारा, इतनेमें उसकी दृष्टिमें उपरोक्त चमत्कार दीखा. इस समय मिहिरा स्वरूपानंदमें मग्न होनेसे उसका हृदय खुल कर वह तेजोमय हो रही है और अद्वैत परमात्मस्वरूपके साथ नाच रही है तथा उसके शरीरमें ऐसे भगवत्स्वरूपका साक्षात् आविर्भाव होनेसे वहां एकाएक सूर्यके समान प्रकाश हो रहा है. अकस्मात् अपनी आंखोंके आगे ऐसा अद्भुत स्वरूप देख और उसमें (उस प्रकाशमें) अपनी पुत्रीके साथ उस दिव्य परमात्माकी मूर्तिको नृत्य करती देख, राजा आश्चर्यमें डूब गया, वही रूप (तद्रूप) हो गया और उसके मुँहसे उस समय स्वयम् ही ऐसा वाक्य निकल पड़ा कि— "अत्र को मिहिरः साक्षात्? (अरे, यहां यह साक्षात् सूर्यके समान कौन

है ?)" उसी समय उसके उत्तरमें नृत्य करते हुए भगवान्ने वैसे ही पद्यबद्ध वाणीसे कहा:—

> कोऽप्यन्यो मिहिरो नास्ति मिहिरा तव कन्यका ।
> मदीयानामशेषाणामज्ञानांधविनाशिनी ॥
> सुतारूपेण ते जाता भक्तिर्मे प्राणवल्लभा ।
> खद्योतानां जगत्स्त्रीणां मिहिरा भास्करा इव ॥

"हे राजा! यहां कोई अन्य सूर्य नहीं, पर तेरी पुत्री ही मिहिरा अर्थात् सूर्या—सूर्यके समान है, जो मेरे सब भक्तोंके अज्ञानरूप अंधकारका नाश करनेवाली है, मेरी प्राणप्रिय भक्ति ही तेरी पुत्री रूपसे उत्पन्न हुई है. खद्योत अर्थात् जुगनू नामके जीवके समान जगत्‌की सब स्त्रियोंमें वह मिहिरा सूर्यके ही समान है."

"यह बात सुनते ही राजाके आनन्द और आश्चर्यका पार न रहा और उस परमात्माके निर्गुणस्वरूपके दर्शन करने, स्वात्मस्वरूपमें लीन होने और पूर्ण अधिकारी होनेसे, वह भी उस विचित्र लीलामें प्रविष्ट हो गया! वहां आप ही आप दिव्य वीणा, वेणु, मृदंग, ताल, घुँघरू आदि वाद्यों (बाजों)के मधुर शब्द होने लगे. तुरंत ही फिर एक नया चमत्कार हुआ. नृत्य करते हुए श्रीहरिके प्रकट स्वरूपमें दूसरे अनेकानेक रूप प्रकट हो गये! वहां पर सेवादिके जो जो पदार्थ पड़े थे और दूसरे अदृश्य तथा दृश्य सब पदार्थ, हरिरूप—ब्रह्मरूप दीखने लगे. जहां जहां नजर जाती वहां वहां सभी रूपोंमें ब्रह्मरूप ही दीखने लगा. ब्रह्मके सिवाय कोई चीज न थी. ब्रह्म विना कोई स्थान न था. और ब्रह्मके सिवाय आकाश (अवकाश) ही न था! निदान यह विचित्र लीला देखनेवाला राजा भी भगवद्रूप और वह राजकन्या भी भगवद्रूप ही बन गयी." ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूप सागरमें ब्रह्मरस, लहराते वह रात उन्हें क्षण समान बीत गयी. जब उषःकाल होने लगा तब अपनी उस ब्रह्मलीलाको समेट कर श्रीहरि फिर एक रूपमें हो गये! फिर वे पिता पुत्री भी तुरंत चेतमें आ कर, उनकी नाना प्रकारसे स्तुति करने लगे. दोनों पैरोंमें पड़कर, गद्गद स्वरसे प्रार्थना करने लगे कि—'हे परब्रह्म! हे निरंजन निराकार सच्चिदानन्द घनश्याम परमात्मा! अब हमें छोड़ कर आप कहां जाते हो? आप अद्वैतभाव क्यों दर्शाते हो?' तब अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान्ने

उनसे प्रिय शब्दोंमें कहा:–'मैं कहीं नहीं जाता, मैं कहींसे आया भी नहीं और मुझे कहीं जाना भी नहीं है. यहां मुझसे न अन्य कोई आत्मवित् (आत्मज्ञानी) है और न कोई अज्ञानी है. यह क्या! अभी तुम्हारे अनुभवमें यह नहीं आया कि मेरे विना कोई स्थान ही नहीं है? मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ. अपनी सगुण ब्रह्मलीलाका मैंने तुम्हें अभी ही अनुभव कराया है, वह तुम क्यों भूलते हो? यह सब जगत् मुझसे ही पैदा होनेसे मैं सर्वत्र हूँ, परन्तु मायाका सहारा लेकर जगत्रूप होनेसे मैं गूढ़ हूँ. अविद्यावान् (मूर्ख) अज्ञ, पापी, और नारकी लोग मेरा प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते पर ज्ञानी भक्तके मैं समीप ही हूँ. तुम मुझे जैसा अभी देखते हो, वैसा मैं सबको सुलभ नहीं हूँ. मैं जगत्में सदा ही अदृश्य हूँ. मेरा सेवन–भक्ति करनेके लिए शास्त्रकी आज्ञासे ये संसारी जीव मुझे अनेक भावनासे देखते हैं, उन्हें उन उन रूपोंसे मैं दर्शन देता हूँ. सारे संसारमें एक अंशद्वारा व्याप्त हो रहा हूँ इस मूर्तिमें भी हूँ और आत्मामें भी हूँ, इस भीत (दीवार) में भी हूँ, और ब्रह्माण्डमें भी हूँ, द्वैत भी हूँ, और अद्वैत भी हूँ. जैसे तुम जानो बूझो, वैसा मैं हूँ. तुमसे जगत्में भक्ति यश विस्तार पायेगा, फिर सच्चित्–तद्रूप हुए तुम अंतमें मेरे परम धाम पुण्यात्मा, ब्रह्म धामके निवासी होगे–जहां गये हुए भाग्यवान् प्राणीको फिर कभी भी पीछे फिरनेका भय नहीं रहता.'

"इतना कह, भगवान्ने उन्हें आंखें मूंदनेको कहा। जब वे आंखें खोल कर देखते हैं तो भगवान्, मूर्तिरूपसे ही सिंहासनपर विराज रहे थे. सवेरा हो रहा था, यह देख पिता पुत्री फिर उनकी सेवामें लग गये. इस तरह यह राजकन्या उस दिनसे सब भक्तों और सब स्त्रीसमाजोंमें बिलकुल सूर्यके समान उपमाके योग्य होनेसे 'मिहिरा' नामसे प्रसिद्ध हुई है."

"ब्रह्मके दर्शनपायी हुई वह राजकन्या मिहिरा, शुद्ध प्रेम भक्तियोग साधकर, स्वात्मामें ब्रह्मको देख, प्रेम, ज्ञान, भक्तिमें लीन हो, पवित्र श्रद्धासे निरंतर ब्रह्मरूपसे बैठे हुए, प्रभुकी सेवा करती थी. उसका प्रभाव जान स्वाभाविक ही अनेक महात्मा भक्तजनोंके झुण्डके झुंड उसके दर्शन और सत्संगका लाभ लेनेको आते थे. मिहिरा भी इन संतोंका अच्छी तरह सत्कार कर दिनरात उनके साथ प्रेमसे हरिचर्चा करती थी. हे वरेप्सु! भक्तको भक्त जन बहुत प्रिय होते हैं इससे मिहिराका यह स्वाभाविक ही नित्यकर्म हो गया कि निरंतर संत महात्माओंका समागम कर उनके समु-

दायमें ही रहना और जगत्की निर्लज्ज लज्जाका त्याग कर, पूर्ण प्रेमसे हरि-कथारसका पान करना. उसके इस बड़े गुप्त प्रभावको न जानने और उसकी ऐसी समान वृत्तिके कारण मूर्ख लोग निन्दा करते थे, परंतु किसी-पर ध्यान न देकर उसने अपना वह शुद्ध ब्रह्म प्रेम भाव ज्योंका त्योंही प्रकट रखा था.

ऐसा करते हुए फिर कुछ समयमें उसे उसके पतिके यहां जानेका समय आया. वहां भी वह उसी भक्तिभावसे व्यवहार करने लगी. यह उसके राजसी पतिको नहीं भाया. उसने यह स्वभाव छुड़ा कर अपने विचारके अनुकूल करनेका बहुत प्रयत्न किया, पर व्यर्थ ही. उसका ईश्वरी भाव झूठा ढोंग है या सत्य है, यह जाननेको उसने कई वार परीक्षा ली. अंतमें एकवार विष भी पिलाया, परंतु सब ब्रह्ममय देखनेसे मिहिराने किसी बातकी ग्लानि या नाश नहीं पाया. ऐसी शुद्ध भक्तिके दूसरे भी बहुतसे चमत्कार उसे दिखाई दिये. तब अंतमें लज्जित होकर, राजा पतिने उसके भक्तियोगमें बाधा देना त्याग दिया. हरिसेवा, संतसमागम और हरि-कीर्तन यही उसका नैत्यिक कर्तव्य था. भक्तियोगको मिहिराने यथे-च्छरूपसे प्रेमपूर्वक साधा था. उसकी सब जगह ऐसी प्रसिद्धि होगयी कि देश देशान्तरसे बड़े २ धर्मधुरंधर संत महात्मा और ज्ञानी लोग उसके दर्श-नोंको आते थे. जो कोई सज्जन महात्मा उसे पूछता आता, उसे बड़े सत्कारसे अपने यहां रखती. उससे भक्तिरसकी बातें करती, उसके मुँहसे नये नये भगवच्चरित्र सुनती, युक्ति प्रयुक्तिसे उनकी पवित्रता और ब्रह्मत्वकी परीक्षा करती और वैसा करनेसे यदि कोई शुष्क ज्ञानी मालूम होता तो युक्तिपूर्वक उसकी बुद्धिको ठिकाने लाकर उसे सन्मार्गमें लगाती और जो मुमुक्षु मोक्षार्थी मालूम होते उनको अच्छी तरह सत्कार कर विदा करती तथा उनके सद्गुण मालूम होते तो स्वयं ग्रहण करलेती थी. ऐसे अवसरोंमें उसने अनेक कुटिल शुष्क ज्ञानियोंको क्षणभरमें पवित्र कर महान् साधु बना दिया था. इसी अवसरमें जिस ज्ञानीका इतिहास मैंने अभी तुझे कह सुनाया है, उसकी मतिको भी उसने ठिकाने ला दिया था. इस तरह बहुत समय तक असंख्य प्राणियोंका कल्याण कर, जगत्में प्रेम ज्ञान भक्तिका पूर्ण प्रकाश कर जीवन्मुक्त हो कर विचरण करती हुई मिहिरा अंतमें परब्रह्म श्रीहरिमें समा कर सायुज्यको प्राप्त हुई."

इस प्रकार जीव शिवकी एकता दर्शानेवाला, प्रेम ज्ञान भक्ति और कर्मकी परंपरा बतानेवाला उपदेश करते हुए संध्यासमय होने लगा, तब सभा विसर्जन होते ही सब लोग संध्यावंदनादिके लिए गंगातट पर चले गये. इस तरह लगातार अनेक रात और दिनका अविराम परिश्रम होनेसे महाराजा वरेप्सुने उस रातको सभा भरना स्थगित रखा और गुरुदेवको सुखसे सुला कर आप उनके चरणोंकी सेवा करने बैठे.
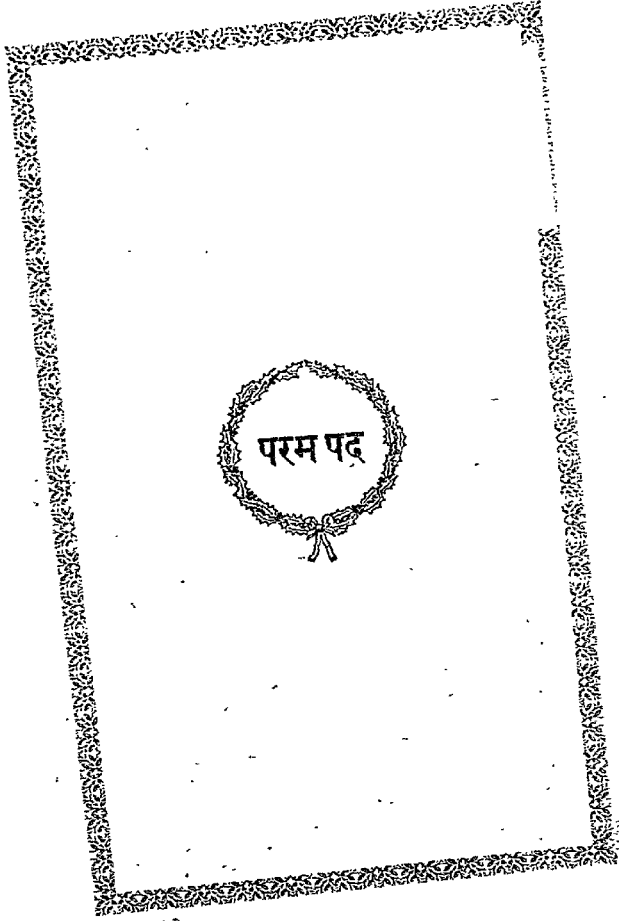
परम पद

मंगल-प्रयाण.

शार्दूलविक्रीडितम्—

यस्माद्विश्वमुदेति यत्र रमते यस्मिन्पुनर्लीयते
भासा यस्य जगद्विभाति सहजानन्दोज्ज्वलं यन्महः ।
शान्तं शाश्वतमक्रियं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम् ॥

अर्थ—जिससे यह विश्व उदय (प्रकट) होता है, जिसमें विश्राम करता है और फिर जिसमें लय होता है, जिसकी कान्तिसे विश्व प्रकाशित होता और जो तेज सहज, आनंदमय, उज्वल, शान्त, शाश्वत (सनातन) और विकाररहित है तथा पुण्यवंत द्वैतरूप अज्ञानका त्यागकर मुक्तिके लिए जिस प्राणियोंके ईश्वरकी ओर जाते हैं, उस परम पुरुषकी मैं स्तुति करता हूँ.

अनुष्टुप्—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

अर्थ—जिसकी कृपा, गूंगेको वाचाल करती और पंगुको पर्वत लँघाती है, उस परम आनंदमूर्ति माधवको मैं नमस्कार करता हूँ.

उपजाति—

इतो न किंचित्परतो न किंचिद्यतो यतो यामि ततो न किंचित्।
स्वात्मावबोधादपरं न किंचिद्विचार्यमाणेऽपि जगन्न किंचित्॥

अर्थ—यहां भी कुछ नहीं, परलोकमें भी कुछ नहीं, जहां जहां यह मन जाता है वहां वहां भी कुछ नहीं—आत्मज्ञान विना दूसरा कुछ भी नहीं और विचार करनेसे जगत् भी कुछ नहीं अर्थात् सब मिथ्या है.

शिखरिणी—

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाङ्-
महेश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि॥

अर्थ—हे त्रिपुरारि! शरीरके प्रादुर्भाव (उत्पत्ति)से ऐसा अनुमान होता है कि पूर्व जन्ममें बहुत करके मैंने तुम्हें प्रणाम (नमन) नहीं किया और अब प्रणाम करनेसे मुक्त हो जाऊंगा, इससे शरीर नहीं रहेगा, इस लिए अब फिर भी तुम्हें प्रणाम नहीं करूंगा. इस लिए हे महेश्वर! आप मेरे दोनों अपराधोंको क्षमा करना.

शार्दूलविक्रीडितम्—

बीभत्साः प्रतिभान्ति किं न विषयाः किं तु स्पृहायुष्मती
देहस्यापचयो मृतौ निविशते गाढो गृहेषु ग्रहः।
ब्रह्मोपास्यमिति स्फुरत्यपि हृदि व्यावर्त्तिका वासना
का नामेयमतर्क्यहेतुगहना दैवी सतां यातना॥

अर्थ—विषय क्या बीभत्स नहीं प्रतीत होते? होते हैं, परन्तु उनके लिए प्रबल इच्छा होती है; देहका क्षय मरणकी ओर ले जाता है, परंतु घरसे परम प्रीति लगी है. हृदयमें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, ऐसी प्रेरणा हुआ करती है, परंतु वासना उस इच्छाको पीछे लौटा देती है; इस लिए जिन कारणोंकी तर्कणा नहीं कर सकते उन कारणोंसे कोई गम्भीर पीड़ा महात्माओंको पीड़ित करती होगी?

शिखरिणी—

> अजानन्दाहार्ति पतति शलभस्तीव्रदहने
> न मीनोऽपि ज्ञात्वा कृतबडिशमश्नाति पिशितम् ।
> विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला-
> न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥

अर्थ—पतंग दाहकी पीड़ाको न जानते हुए तीव्राग्नि (तेज आग)में झँपाया (गिरा) करते हैं; मछली भी काँटेको न जानती हुई काँटेमें लगे हुए मांसको खाया करती है, परन्तु हम लोग तो जानते हुए भी, विपत्तियोंके समूहसे जटिल कामनाओं (इच्छाओं) को नहीं छोड़ते ! अरे रे ! मोहकी महिमा कितनी बड़ी गम्भीर है ! ! !

शार्दूलविक्रीडितम्—

> यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवै-
> र्वेदैस्साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
> ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
> यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुत, दिव्य स्तोत्रोंसे जिसकी स्तुति करते हैं; सामवेदका गान करनेवाले मुनि, अंग, पद, क्रम और उपनिषद् सहित वेदोंसे जिसे गाते हैं; योगी समाधि लगाकर परमात्मामें रहनेवाले मनसे जिसके दर्शन करते हैं और सुरासुरगण जिसकी महिमाका पार नहीं पाते, उस परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ.

अनुष्टुप्—

> श्रूयतां देवदेवेश नारायण जगत्पते ।
> त्वदीयेनावधानेन कथयिष्ये शुभां कथाम् ॥

अर्थ—हे देवोंके भी देव ! हे नारायण ! हे जगत्पते ! सुनो. आपके ध्यानका आश्रय कर मैं यह शुभ कथा कहूँगा.

महालहरी–परमपद ।

कालक्रीड़ा ।

श्रद्धा–परीक्षा ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥ भगवद्गीता.

अर्थ—लोकका संहार (नाश) करनेवाला मैं कालमूर्ति हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिए यहां पर प्रवृत्त हुआ हूँ.

दूसरे दिन वरेप्सु महाराज, यज्ञ पूर्ण हो जानेसे, उसके लिए बड़े आदरसे बुलाये हुए राज—पाहुनों, ऋषियों, सद्‌गृहस्थों और दूसरे प्रजाजनोंको, उनकी योग्यतानुसार विदाई देने लगे, परन्तु महात्मा वटुकके समागमका लाभ छोड़कर किसीको वहांसे विदा होना अच्छा नहीं लगा. लोगोंके मनका यह भाव समझ जानेसे राजाने उन सबको फिर आदर सत्कार पूर्वक अपने यहां रखा. वटुककी वाणीरूप अमृतधारासे उन्हें तृप्त करनेके लिए यज्ञमंडपमें फिर सभा एकत्र हुई. इस समय सभाके बीचमें भव्य सिंहासनपर पितासहित वटुक विराज रहे थे. फिर सभासदोंसहित महाराजा वरेप्सु, हाथ जोड़कर उनके आगे खड़े हुए और सबको सुनाते हुए सद्‌गुरुदेवकी जयध्वनिसहित उन्होंने इस जीवलोकके कल्याणके लिए अपना पहलेसे निश्चित किया हुआ प्रश्न, महात्मा वटुकसे पूछा.

वरेप्सु बोलेः—" हे सद्‌गुरुदेव ! जैसे स्वाती नक्षत्रमें पड़ती हुई अमृतरूप वृष्टिके एक एक बूंदके लिए चातक पक्षियोंका समूह मुँह फैलाकर रास्ता

देखता है, वैसे ही यह सब मानवसमाज आपके वचनामृतके लिए तरस रहा है. जैसे प्राचीन कालमें ब्रह्मपुत्र सनकादिकोंके समागमसे सारी प्रजाको कल्याणका मार्ग प्राप्त हुआ था वैसे ही इस समय ये सब मुमुक्षु जीव, आपके द्वारा अपना कल्याण प्राप्त करनेके लिए अधीर हो रहे हैं. हे देव! क्लेशरूप दावानलसे दग्ध (जला) और तृष्णासे दुःखी हुआ हमारा मन रूप हाथी, कथारूप विशुद्ध नदीमें प्रविष्ट होनेसे दावाग्निरूप संसारभयको भूल गया है और उस कथारूप अमृतसरितासे बाहर निकलनेकी इच्छा भी नहीं करता. वह परब्रह्माकार हुआ जाता है. हे देव! आप सबपर दया (अनुकंपा) करके कल्याणका जो मार्ग हो, वह हमें बताओ. हे प्रभो! मैंने तो आपकी कृपासे प्रत्यक्ष देखा है और इससे मैं निःसंशय हुआ हूँ कि, यह अपार दुःखमय भवसागर तर उस पार जाकर फिर कभी भी वहांसे पीछे आनेके भयसे रहित सबसे श्रेष्ठ सुखमय सच्चिदानंदघनके समान अच्युत परमात्माके चरणोंमें तद्रूप होकर रहना ही परम कल्याण है और आपके आग्रहसे अलौकिक मार्ग द्वारा मैंने वह धाम देखा है. पर सब जीवोंको वह मार्ग सुलभ नहीं है, ऐसा आपने मुझे पहले ही बता दिया है. मेरी प्रार्थना इतनी ही है कि, जगत्के सब प्राणी जिस मार्गसे जाकर परब्रह्मके आनंद स्वरूपका दर्शन करनेके लिए सौभाग्यशाली बन सकें, ऐसा परम सुलभ मार्ग आप हमें बतायें."

राजाका ऐसा प्रश्न सुन, महात्मा बटुक वामदेव एक मुहूर्ततक चित्तको स्थिर और आंखोंको बंद कर ध्यानपरायण (समाधिस्थ) हो गये. सभा भी शान्त हो गयी. किसी ओरसे एक भी शब्द न आता था. सर्व लोग एक दृष्टिसे महात्मा बटुककी इस स्थितिकी ओर देख रहे थे. इतनेमें एक कौतुक हुआ. समय वसंत ऋतुका था तो भी एकाएक महाप्रचंड वायुके झोकोंसे उड़ी हुई धूलसे आकाश पूर्ण हो गया, साथ ही घन-घटा भी ऐसी उमड़ी कि ठीक मध्याह्न होने पर भी घोर अंधकार छा गया. कोई किसीको देख नहीं सकता था. यह देख, सबको भारी आश्चर्य होने लगा. ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों सभासदोंका मन घबराने लगा. अधिक घबराहट होनेसे वे गुरु वामदेवके नामकी जयध्वनि और गद्गद स्वरसे विनय करने लगे कि; "हे महापुरुष! आपने जो अपने प्राणोंका आकर्षण किया है उससे ये जीव अकुलाने लगे हैं और इससे यह देह भी संशयमें आ पड़ी है, कृपा करो! कृपा करो."

उसी समय सभास्थानके आगे एक बड़ा प्रकाशका गोला आकाशसे पृथ्वीतक दिशाओंको घेरता हुआ दिखाई दिया. यह प्रकाश धीरे धीरे बढ़ा. उसमें बड़ी बड़ी ज्वालाएं दीखने लगीं. सबने जाना कि यह बड़ी भयंकर दावाग्नि जल रही है और वह इस तरह फैलती जा रही है मानो सारे वनको जलानेके लिए प्रकट हुई है. देखते देखते बढ़ कर वह प्रकाश बिलकुल सभास्थानके समीप आ पहुँचा और उसकी भयंकर ज्वालाएं झटसे सीई, सीई करती सभाके भीतर प्रवेश करने लगीं. क्षुद्र जीव 'अरे जला, अरे जला,' की पुकार करते घबरा उठे. महात्मा वामदेव जो अब ध्यानमुक्त होकर बैठे थे, तुरंत खड़े होकर सबको धीरज देने लगे. फिर सिंहासनसे नीचे उतर, अग्निके पास जा कर, उन्होंने अपने पलाशके दंडसे पृथ्वीपर आड़ी रेखा खींच दी और बोले—हे अग्निदेव ! आपको प्रणाम करता हूँ ! यह प्रणाम स्वीकार करो ! अब यहांसे आगे न बढ़ना." अग्नि वहां आते ही रुक गयी परन्तु बाहर तो जहां देखो वहां सर्वत्र अग्नि ही अग्नि हो रही थी. ज्वालाओंके भभूकोंके आगे दूसरा कुछ भी नहीं दीखता था. आश्चर्य और भयसे घबरा कर वे सब लोग, उस त्रासदायक अग्निकी ओर देख रहे थे. इतनेमें उनमेंसे अनेकोंको, उस सभामंडपके द्वारसे एक रास्ता अग्निमें पड़ा हुआ दीखा. वह सिर्फ इतना ही चौड़ा था कि उसमें एक पैर रखा जा सके और बीच बीच अनेक स्थानोंमें उसकी रेखाएं गुप्त होने पर भी यह, अग्निरूप आवरणके उस किनारेतक गया हुआ मालूम होता था. अग्निकी महाज्वालाएं उन रेखाओंको क्षण क्षणमें ढँक देती थीं. महात्मा वटुकने सब लोगोंको सम्बोधन कर कहा:— "हे परब्रह्मकी इच्छा करनेवालो ! देखो, यह जो दीख रहा है वही कल्याण-मार्ग है. इसी रास्तेसे निडर होकर जानेवाला पुरुष परम कल्याणको प्राप्त करता है. यह मार्ग बड़ा कठिन है. यह ऐसा है कि इसे पार करना कठिन है, परंतु तुममेंसे जिसे कल्याण प्राप्त करना हो, परब्रह्म धाममें जाना हो, जो संस्कारी हो, जिसे गुरुके वचनोंपर श्रद्धा हो, जिसने पवित्रतासे भक्तियोग किया हो, सब संसारको बंधनका कारण माना हो, उसे इस मार्गसे होकर अग्निके उसपार जाना होगा. जो दृढ श्रद्धालु पुरुष इस अग्निरूप मार्गसे होकर उस पार जायगा, उसे उसी समय वहां एक अत्यंत मनोहर और परम सुखरूप दिव्य विमान बैठनेको मिलेगा."

इसके बाद कुछ देर ठहरकर वे अकस्मात् हाथ फैलाकर बोले—'देखो !

यान–विमान तो अग्निकी उस ओर आकर खड़ा है. अहा! वह कैसा सुंदर है! कैसी उसकी शोभा है? अहो! उसमें बजते हुए मनोहर बाजोंका स्वर कुछ कुछ यहांतक सुन पड़ता है. जो मुमुक्षुलोग हैं, उनके ही लिए यह विमान तैयार होनेसे, उनका रास्ता देखते खड़ा है. देर होती है, इस लिए चलो. जिन्होंने ज्ञान भक्तियोग किया हो या करते हों, जिनमें विशुद्ध श्रद्धा हो और जो जानना चाहते हों कि जगतमें सर्व साधारणके कल्याणका मार्ग कैसा है वे अब शीघ्र तैयार हों, इस पवित्र करनेवाली अग्निमें नहाकर झटपट उस ओर निकल जायें. वहां विमानमें खड़े हुए प्रभुभक्त तुम्हें अति आदर पूर्वक दिव्यफलोंसे पुष्पित विमानमें बैठा लेंगे और अमृत रसका पान करायेंगे.'

इस तरह सच्ची कसौटीकी बात आयी तो सभासदोंमेंसे बहुतोंका मन धुक धुक करने लगा. वह अत्यंत मनोहर विमान, अग्निकी उस ओर आकर सबको खड़ा हुआ दीखा. बहुत दूरसे देखनेसे भी उसकी श्रेष्ठ शोभासे सब चकित होगये. प्रत्येकका मन उसमें जाकर बैठनेके लिए अधीर हो रहा था. परंतु जावें कैसे? 'माथा दे वह माल खाय' यही सच्ची कटा-कंटीका खेल था. इस प्रलयके समान महा अग्निमें होकर उस ओर जानेको किसकी हिम्मत हो? सभास्थानमें बैठे बैठे जिसकी महाज्वालाओंकी आंच जरा भी सही नहीं जाती ऐसी भयंकर और नाशकारक दावाग्निमें आशा छोड़कर अपने जीवनकी बलि देनेवाला कौन कलेजेवाला हो. विमानमें बैठनेके लिए बहुतोंकी इच्छा हुई थी, परंतु हू हू करती हुई ज्वालाएं देखते ही इस संसारके अश्रद्धालु प्रेम–भक्तिरहित लोग शिथिल हो जाते थे.

इस तरह क्षणभर रास्ता देख फिर भी वामदेवजी दंड ले, खड़े हो कर बोले:–"हे मोक्षाभिलाषियो, चेतो! अमृतके समान अमूल्य समय बीता जाता है. वह फिर मिलना दुर्लभ है. इससे शीघ्र तैयार हो जाओ. हे मुमुक्षुओ! क्षणभर पहिले मुक्तिके लिए जो उत्साह तुम लोगोंमें दीखता था वह इतने ही में कहां उड़ गया. हरे! हरे! जगत्की कैसी विलक्षण स्थिति है? सबको सहज ही (विना परिश्रम) सुख चाहिए, परंतु इस तरह क्या मुक्ति कहीं रास्तेमें पड़ी है? चौरासी लाख योनियोंमें असंख्य जन्म लेकर बारंबार भटकने और उन जन्मोंकी नरकयातनारूप वासनाएं भोगते समयके दुःखोंके कारण, अगणित बार ईश्वरकी प्रार्थना करने पर, उस जीव पर दयालु प्रभु कुछ दया

कर, उन दुःखोंसे मुक्त होनेका साधनरूप मनुष्यदेह देता है और ऐसा मनुष्यजन्म पाकर भी उसकी सफलता समझ जब वह अनेक उपाय करता है तब उसका कुछ पाप नष्ट होता है. फिर धीरे धीरे वह इससे अधिक अच्छे साधन कर सके, इसलिए उसे अच्छी जगहमें दया कर मनुष्यशरीर देता है. इस तरह असंख्य जन्मोंमें अनेकानेक तीव्र साधन करके प्राणी थक जाता है, तब बहुत समयके एकत्र हुए पुण्योंके उदयसे उसे किसी जन्ममें सद्गुरु प्राप्त होता है; उसके वचन पर विश्वास कर उसकी अटल भक्ति करनेसे ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसी दूसरी अनेक अनुकूलताएं एकत्र होकर जब प्राप्त होती हैं तब उसका कल्याण होता है, अर्थात् उसे संसारके जन्म-मरणसे सदाके लिए मुक्ति मिलती है. इतना बड़ा दुष्प्राप्य कल्याण तुम्हारी आंखोंके आगे आ मूर्त्तिमान् होकर खड़ा है, तो भी उसे प्राप्त करनेके लिए तुम समर्थ नहीं होते इस सबका कारण सिर्फ यह (अविद्यारूप) अग्निका समुद्र है. परंतु इस (अविद्यारूप) अग्निकी उस ओर पहुँचना चाहिए. दिव्य ऊर्ध्वलोक और वहां जानेका पवित्र मार्ग, इस लोकके जीवको, इस अपवित्र पांचभौतिक देहसे प्राप्त नहीं हो सकता, परंतु विशुद्ध मनसे प्राप्त होता है. इस देहके साथ काम क्रोधादिक और अहंता, ममतादि, शत्रु लिपटे हुए हैं, इससे उनका त्यागकर, पवित्र दिव्य देहसे ही वह मार्ग प्राप्त हो सकता है. दिव्य देह और दूसरी वस्तुएं प्राप्त करनेमें श्रद्धा भक्ति मुख्य है और उसमें भी सात्विक श्रद्धा मुख्य मानी जाती है—वही श्रद्धा सर्वोत्तम है, श्रद्धाके विषय पर उपदेश देते हुए परमात्माने बहुतसी बातें कही हैं, परंतु अंतमें कहा है कि श्रद्धा बिना जो कुछ होम किया हो, जो दिया हो और दूसरा जो कुछ भी कार्य साधन किया हो वह सब व्यर्थ माना जाता और इह लोक तथा पर लोकमें उसका फल नहीं मिलता. जिनमें प्रेम और श्रद्धा हो, वही इस जगत्के सुख, इस देहके सुखसे विशेष उत्तम देह प्राप्त करनेको सौभाग्यशाली बनते हैं. जिन्हें इस परम दिव्य अच्युतमार्ग—ब्रह्ममार्गको प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, उन्हें इस अग्निमें स्नान कर इस स्थूल देहाभिमानको उसमें जला कर, दिव्य देह धरना चाहिए; तभी उन्हें परब्रह्मके मार्गमें जानेका अधिकार मिलेगा. गुरु और शास्त्रके वचनोंपर जिन्हें दृढ विश्वास होगा, संसारकी प्रत्येक मायाके लिए जो पूर्ण निःस्पृह होंगे और अच्युतपदकी ही जिन्हें सच्ची जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) होगी वे

मुमुक्षु लोग ही इस अग्निमें प्रवेश कर उसे पार करेंगे. मेरा विचार है कि वह उन्हें जलप्रवेशके समान सुखद होगी. इस लिए चलो, विलंब मत करो. समय बहुत थोड़ा है. ”

वटुककी यह वात सुन, वहुतसे मुमुक्षु श्रद्धालुओंका भय दूर हो गया. वे एकके वाद एक आ, वटुकके आगे हाथ जोड़ कर खड़े हुए और विनय करने लगे:–“ हे गुरुदेव ! आप इस जीवके कल्याणकर्ता हैं. हमें श्रद्धा (विश्वास) है कि आपकी कृपासे हम अग्नि पार कर उस ओर जायेंगे. हमारे कल्याण और कल्याणके मार्ग सिर्फ आप ही हैं. हमे आपका वियोग न हो. ” यह सुन, वटुक वामदेव अत्यंत प्रसन्न होकर वोले:– “ अहो ! वियोग कैसा ? जिसकी जिस पर दृढ़ प्रीति है, वह नित्य उसके समीप ही है. इस लिए जाओ, सुखसे अग्नि लांघो, विलंब न करो, नहीं तो अव थोड़ी ही देरमें यह अग्नि अपनी सीमा त्याग कर वढ़ने लगेगी और फिर यहां किसीसे न रहा जायगा. ”

ऐसा सुनते ही प्रणाम कर गुरुदेवकी जयध्वनिसहित वे मुमुक्षुके समान परमार्थवीर*नरपुंगव उस महा अग्निके भीतर घुसे. भीतर घुसते ही, उनके चारो तरफ भयंकर ज्वालाएं फिर हू हू कर जलने लगीं. पलभर अग्निरूप होकर वे कहां गये, यह किसीको नहीं दीखा–वहुतसे अनधिकारियोंने विचार किया कि वे जल कर ढेर होगये. एक वार फिर भी वटुकने सभामें वैठे हुए आत्मकल्याणेच्छुओंकी श्रद्धाकी परीक्षा लेनेको कहा:–“ देखो, यह अग्नि अव वढ़ने लगी है; यों भी सवको जला कर भस्म कर देगी, तो यों व्यर्थ जल मरनेसे श्रद्धालु होकर परमार्थके लिए ही अग्निप्रवेश क्यों नहीं करते ? ” यह सुन, वटुकके माता पिता और दूसरे अनेक श्रद्धालु पवित्र पुरुप खड़े हुए, परंतु जो मलिन हृदयके दुराचारी, नास्तिक, परद्वेषी और आत्मकल्याण ढूंढ़नेको नहीं परंतु योंही तमाशा देखनेके लिए सभामें आकर भर गये थे उनकी अविद्याके कारण उस समय हिम्मत नहीं हुई.

तुरंत ही उस खड़े हुए समाजको आगे कर, ‘नारायण, नारायण सोऽहं सोऽहम् ’ की गर्जना करते हुए, वामदेवजीने अग्निमें प्रवेश किया और तुरंत ही अग्नि देवने भी भभूका सहित सभामंडपमें प्रवेश किया. ’ मंडपमें वचे

---

* परोपकार करनेमें वीरके समान पुरुप ।

हुए वे हतभागी लोग उस अग्निकी भयंकर ज्वालाओंसे पीड़ित हो, इधर उधर दौड़ने लगे, परन्तु चारों ओर अग्निने घेर लिया था इस लिए नहीं भाग सके. महात्मा वटुकके वचनों पर श्रद्धा न करनेके कारण उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ. परंतु अब क्या करें ? ज्वालाओंके दाहके कारण वे कुछ देर तक तो इधर उधर दौड़ते और चिल्लाते रहे, परंतु अंतमें जलनको सहन न कर सकनेके कारण घबरा कर, मूर्छित हो, जमीन पर गिर गये ! बस ! अविद्याके दासोंकी यही दशा है.

विमानारोहण।

थोड़ी देरमें आकाश एकाएक घोर गर्जनसे गूंज उठा और वहां होनेवाले जय जय शब्दसे चमक कर, वे मूर्छित पड़े हुए अनधिकारी जीव अकस्मात् जाग उठे. वे आश्चर्यसे चारों ओर विचार विचार कर देखने लगे तो सभामंडप ज्योंका त्यों अखंडित और सुशोभित मालूम हुआ. उसमें नामको भी अग्नि न थी और न अग्नि लगकर शान्त होनेके कुछ चिह्न ही थे. यह देख, सब लोग बड़े विस्मित हुए. इतनेमें फिर उस मंगलकारी शब्दकी गर्जना सुनाई पड़ने लगी. ये शब्द कहां होते हैं, यह जाननेके लिए असंस्कारी लोग उठकर मण्डपके दरवाजेके पास आये. वहां भी अग्निके कोई निशान न थे, परंतु सुदूर अंतरिक्ष (आकाश) में हिलता हुआ एक परम शोभायमान विमान दिखाई दिया. उसीमें तुमुल (भीषण) शंखध्वनि होती थी. यह देखते ही बहुतसे लोग, जिन्हें सत्संगका चसका लगा था और वामदेवके प्रतापसे कालान्तरमें भी मुक्तिके अधिकारी बने थे, बोल उठेः–'अरे, वाह वाह ! यह तो उस अग्निके परे दीखनेवाला ही विमान है और वे सब तेजस्वी कान्तिवाले पुण्यात्मा भी दिखाई देते हैं, वे तो हमारे साथके लोग हैं. अहो ! वे ऐसे तेजस्वी कैसे हो गये ? देखो ! उन सबको लेकर साधु वटुक विमान पर चढ़ रहे हैं. अहा ! उन्हें कितना बड़ा आनन्द होता होगा ? कैसे मधुर स्वरसे बाजे बज रहे हैं ? कैसी प्रेमपूर्ण जय जयकी गर्जना हो रही है ? वह देखो ! बिजलीके समान चमकती ध्वजाएं फहराने लगीं ! ओ ! सब लोग विमानमें चढ़ गये. अब तो मालूम होता है विमान तैयार हो चुका और उड़नेकी तैयारीमें है. "

दूसरे कई एक बोलेः—" अरे ! विचार कर तो देखो. अब तो सभी

शान्तसे दीखते हैं. यह अद्भुत बालक (बटुक) सबके बीचमें खड़ा हो, कुछ कहकर सुना रहा है. अहा! यह सब उस अद्भुत बालककी ही लीला है. वास्तवमें वह सबका गुरु और ईश्वर तुल्य है. हाय! हाय! परम अभाग्यके कारण ही हमें उसके वचनोंपर विश्वास नहीं हुआ. पर अब क्या उपाय है? पानी बह जानेपर सोचना किस कामका? सबके साथ अग्निमें जा पड़ते तो सहज श्रमसे कल्याण समेट लेते. हम लोग चारों ओर फैली हुई अग्निके मुँहमें पहले ही पड़े थे, परंतु अबतक हमारे शरीरमें कोई पीड़ा नहीं है, वैसे ही उन अग्नि पार करनेवालोंको भी व्यथा नहीं हुई होगी; क्यों कि उनके साथ तो स्वयं महात्मा सद्गुरु (बटुक) थे, जिन्होंने यह अद्भुत चमत्कार कर दिखाया है. हरे! हरे! धिक्कार है. धिक्कार है. श्रद्धारूप अमृततत्त्वसे हीन हमको हजार बार धिक्कार है.

इस तरह भारी पश्चात्तापसहित, ईश्वर, शास्त्र और सद्गुरुको उपेक्षासे देखनेवाले जीव संताप करते थे, इतनेमें फिर भी घंटे, शंख, दुन्दुभी आदिके मंगल घोष होने लगे और गुरु महाराजके नामकी भारी जय जय ध्वनि होते ही विमान आकाशपथको उड़ा. इस समय उसकी दिव्य शोभा और सौन्दर्य देख, रह जानेवाले करोड़ों जीव चकित हो गये. विमान 'वह जाता, वह जाता' यह कहते कहते बहुत दूर निकल जानेसे दीखना भी बंद हो गया. नीचे रहनेवाले वे सब असंस्कारी जीव, बिलकुल निराश, हतोत्साह और अंधेके समान होकर जमीनपर गिर पड़े और अपनी अश्रद्धाके लिए बारबार निःश्वास छोड़, बहुत पश्चात्ताप करने लगे. यज्ञशाला, यज्ञमंडप और सारा उपवन उजड़ कर खंडहरके समान होगया और दशो दिशाएं शून्य होगयीं.

वह अद्भुत विमान फिर कहां गया यह मायिक जीवको इन आंखोंसे नहीं दीखेगा. क्यों कि वह दिव्य है. हमारी दृष्टि स्थूल और लौकिक अर्थात् प्रापंचिक है. वह विमान देखनेके पूर्व, जीवको प्रपंचहीन अर्थात् मायासे मुक्त होना चाहिए. प्रपंचरहित जीवकी दृष्टि धीरे धीरे विवेकपूर्ण होती है. दृष्टिको विवेकपूर्ण करनेके लिए शास्त्ररूप अंजनकी जरूरत है और तब यह उस अलौकिक मार्गसे जाते हुए विमानको देखनेके योग्य होती है. वह विमान देखनेके लिए ऐसा जानना चाहिए कि असार संसार और उसका व्यवहार अंतमें झूठा है. उससे प्रीतिको हटाकर, सत्य वस्तु पर लगानी चाहिए. प्रीति होनेके लिए संसारकी नई

नयी पैदा होनेवाली इच्छाओंका त्याग करना चाहिए. इच्छा दूर हुई, मोह मिटा कि विषय दूर हो जाते हैं और शास्त्ररूप शलाका (सलाई) से विवेकदृष्टिमें नूतन तेज प्रवेश होने पर वह बलवती होती और तभी दिव्य विमान दिखाई देता है. हे संस्कारी जीव! अधिकारी लोग देखते हैं कि, वह अद्भुत यान यहां है. अहो! वह आकाशमें उड़ता हुआ दीखता है. अहा! वह परम दुर्गम अच्युतपथकी ओर जा रहा है. हे जिज्ञासु! जीवको अब इस समय वास्तविक एकाग्रताका काम है. हे जिज्ञासु! तू मनको पवित्र करके जो मैं कहूँ उस पर ध्यान दे. गुरुदेवके प्रताप, कुछ पूर्व जन्मके संस्कार और कुछ इस जन्मके सदाचारसे, वहांकी सारी अलौकिक क्रिया मुझे स्पष्ट दिखाई देती है और मैं जिसे दिखाऊं, वह भी आनन्दसे उसे देख सकता है तो भी मैलसे आच्छादित (ढँके हुए) आइनेकी भांति मायासे आवृत तेरी ज्ञानदृष्टि, इस सूक्ष्म मार्गका अवलोकन न कर सकती हो तो उस विमानसंबंधी समस्त समाचार जो हरि-गुरु–कृपासे मुझे हस्तामलकवत् (हाथमें आमलेके समान) हैं, तू स्थिर मन करके मुझसे सुन. हे मायिक जीव! दूसरी सब खटपट छोड़, यह श्रवणरूप साधन ही करना इष्ट है. श्रवण करते करते मायासे लिपटे हुए जीवके अनेक तीक्ष्ण पाप समूल नष्ट होंगे और हृदय निर्मल होनेसे उसमें अच्युतपुरवासी अच्युत परमात्माकी प्रेमभक्तिका प्रकाश होगा बस, वह जीव उस विमानमें बैठनेका अधिकारी बन कर, अच्युतपुरमें प्रवेश कर सकेगा.

विमान–चित्र.

वह विमान कैसा अद्भुत और चमत्कारसे पूर्ण था तथा वह किस असल वस्तुका बना हुआ था, यह उसमें बैठनेवालोंमेंसे किसीको मालूम नहीं होता था. वह स्वर्गके शुद्ध–स्वच्छ सोनेके समान जगमगाता था, तो भी पारदर्शक था. जमीनसे देखनेवालोंको बाह्यसे उसकी आकृति एक सुशोभित विशाल नौकाके समान मालूम होती थी, परन्तु भीतरसे तो मानो वह एक बड़ा भारी भवन था. उसके मध्यभागमें एक अमूल्य मणि-जड़ित सभामंडप था. उसके बीचमें जो अत्यन्त तेजस्वी ऊंचा सिंहासन था उस पर अपने माता पिता सहित गुरु वामदेवजी विराजे थे. उनके सामने राजा और उनके आसपास–गुरुके सामने–अर्ध गोलाकारमें दूसरे सब अधिकारी ज्ञानेच्छु जीवोंके आनन्दरूप आसन बने थे. मंडपकी

भूमि सर्वोत्तम स्फटिक (संगमर्मर) की थी. स्तम्भ (खंभे) विद्रुम (मूंगों) के थे और छत वैडूर्य मणिकी थी, सभामंडपके चहूँ ओर भिन्न भिन्न असंख्य भवन बने थे, जिनकी शोभाका पार ही न था. उनमें भांति भांतिकी कोमल बैठकें थीं, आसन और सुकोमल पलँग बिछे थे. उनमें रहनेवालोंको अमृतकी डकार आती थी, इससे उस विमानमें बैठनेवालोंको आहार, निद्रा, तृषा, आशा, ममता, माया, कामनादि इस लोकके व्यवहारकी इच्छा ही न होती थी. इन भवनोंमें रहनेवालोंने ज्यों ही उसमें पैर रखा कि तुरंत उसमें सजे हुए विचित्र बाजे समयानुकूल राग और मधुर स्वरसे परब्रह्मकी अपूर्वलीलाका कर्णप्रिय आलाप करने लगते थे. दिन और रातको जबतक गुरुदेव विराजते तबतक तो सब लोग सभा ही में बैठते थे, परन्तु वहांसे आज्ञा होते ही तुरंत उन इच्छित भवनोंमें जा कर देवेन्द्रसे भी अधिक सुखानुभव करते हुए वे हरिरससागरमें डूब जाते थे. सबेरे तीसरे पहर और संध्यासमय जब संध्यावंदनादि मानसिक कर्मोंका समय होता तब उन कर्मोंके करनेकी इच्छावाले संस्कारी भक्त, स्नानादिके लिए तीर्थकी इच्छासे (उन भवनोंसे) बाहर निकलते और और उस विमानकी उत्तरदिशामें पवित्र गंगाका बहता हुआ प्रवाह जो उनके लिए तैयार था, वहां जाते और गंगाके सुन्दर रत्नखचित घाट पर बैठ कर आनन्दसे नित्यकर्म करते थे. वहां परमात्मज्ञानका आनंद, हरिरसका स्वाद, अद्वैतका दर्शन, अद्वैतका गान और अद्वैतभाव सर्वत्र छा रहा था. ऐसे सब सुखोंका मंदिर होते भी वह विचित्र वाहन इच्छानुगामी था, अर्थात् उसमें बैठनेवालोंकी जहां और जिस मार्गसे हो कर जानेकी इच्छा हो, वहां और उस मार्गसे हो कर वह जा सकता था. आवश्यकता हो तो जितना चाहिये उतना बड़ा और जितना चाहिए उतना छोटा भी हो जाता था, इच्छानुसार वह प्रकट और गुप्त भी होता था, जिससे पृथ्वीके लोगोंको वह नहीं दीखता था. ऐसे विचित्र और सुखसदनरूप उस दिव्य विमानमें बैठ कर, गुरु वामदेवकी कृपासे सनाथ हुए वे सब संस्कारी (पवित्र) जीव आकाशमार्गको चले. विमानके चलते समय उसकी बैठकें सबके देखनेमें दूसरे ही प्रकारसे सजी हुई मालूम होती थीं. जिससे उनके आगे, ऊँचे अथवा नीचे—आकाश या भूमि पर जो घटनाएं होतीं उन सबको एक साथ वे पूर्ण आनन्दसे अवलोकन कर सकते थे. जबसे विमान चला तबसे मार्गमें जो जो आनन्ददायक और विचित्र दृश्य

दिखाई देते थे उन्हें देख, हर्षित हो, सब विमानवासी वारंवार "जय जय गुरुदेव ! जय जय गुरुदेव !" की मंगलध्वनि करते थे. उस विमानमें बैठे हुए भक्तोंको नित्य नये नये ज्ञान कराये जाते थे और वैसा होनेसे सब विमानवासी ऐसी स्थितिमें थे मानो वे मुक्तावस्थाको प्राप्त हो गये हैं. ऐसे आनन्दसुखका अनुभव कराते यह विमान फिरते हुए बहुत समयमें एक अत्यंत विचित्र और विस्तीर्ण नगरमें आ कर अंतरिक्ष (आकाश)में स्थिर हुआ.

जगन्नगर.

विमानके खड़े होतें ही वटुक वामदेवजी सब पवित्र जीवोंको सम्बोधन कर बोले:—" अब तुम सब तैयार हो जाओ. चित्तवृत्तिको स्थिर करो और तुम्हारी दृष्टिके आगे यह क्या क्या अद्भुत चमत्कार दीखता है इस पर पूर्ण ध्यान दे, इसके रहस्यका विचार करो. यहींसे परम दुर्लभ अच्युत-मार्ग आरंभ होता है. यह देखो, हम अब कहां आये हैं ? " यह सुनते ही सभामें गुरुदेवके सम्मुख बैठे हुए राजा वरेप्सु तुरंत खड़े हुए और जमीन की ओर देख, आनंद और आश्चर्य सहित बोले:—" अहो ! गुरुदेव ! यह तो कोई बहुत बड़ा विलक्षण नगर दिखाई देता है. अपना विमान ठीक उसके ऊपर इस तरह खड़ा है कि उसे सब लोग आनंदसे अच्छी तरह देख सकते हैं. अहा ! कृपानाथ, हम इस नगरसे इतने ऊंचे बिलकुल अंतरिक्षमें हैं, तो भी आपके अनुग्रहसे, हमें इस दिव्य देहके साथ जो दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है उससे हम दूर तक देख सकते हैं, तो भी जिसका दरवाजा नहीं दीखता, ऐसा अपार विस्तारवाला यह कोई विचित्र नगर है. यह कैसा होगा ? इसकी एक एक गली या कूचा हमें बड़े खंड या शहर जैसे लगते हैं. इसके बाग और बगीचे हमें सैकड़ों और हजारों योजनके बड़े २ जंगलोंके समान मालूम होते हैं. इसके सिवाय इसका जो जो दृश्य देखते हैं वह सब अपार देखनेमें आता है. ऐसा अद्भुत और प्राचीन कालमें मार्कण्डेय ऋषिको श्रीबाल मुकुन्द भगवानके पेटमें दिखी हुई विराट मायाके समान यह नगर कैसा होगा ? "

वामदेवजीने कहा:—"राजा, वास्तवमें भगवान्की विराट् मायाके समान यह अति विस्तृत नगर, विचित्रता, अनोखापन और चमत्कारोंसे भरा है. इसको महात्मा पुरुष 'जगन्नगर'के नामसे पुकारते हैं. इसका दरवाजा कहांसे दीखे ? इसके विस्तारका अंत किसी विरले महापुरुषको ही दीख

सकता है. इसमें सब वस्तुएं हैं, सब जातिके प्राणी, हैं सब विद्याओंके भाण्डार हैं, सब तरहकी भूमि है, सब समय—काल—व्यवस्था है और सब रस हैं. संक्षेपमें सारे जगत्के भीतरके समस्त दृश्यादृश्य पदार्थ, चित्रपटमें चित्रित महान् चित्रकी तरह इसके भीतर पूर्णरूपसे व्याप्त हैं इस लिए ही इसका नाम जगन्नगर पड़ा है. सारे संसारमें जो कुछ है वह सब इस नगरमें है. यह सारे जगत्का प्रतिनिधि हैं अथवा स्वयं ही जगत् है, ऐसा भी कहें तो असत्य नहीं है. इसे चाहे जगत् कहो, या जगन्नगर अर्थात् जगद्रूप कहो. परब्रह्मकी समग्र अद्भुत लीला जो जगत्रूपसे प्रकट हुई है, यह वही है. अब तुम सब लोग, यहां सुखसे ईश्वरकी अनेक लीलाओंके चमत्कारको स्थिर चित्तसे देखो." यह सुन, महाराजा वरेप्सु बोले:—"पर, कृपानाथ! अब तो सांझ होनेको आयी है, इस लिए पहले संध्यावंदन कर लें, फिर रातको तो आराम ही करना है. नहीं भला, रातको वहां क्या दीखनेवाला है?" वामदेवजीने कहा:—"हां समय हुआ है इस लिए संध्यावंदन कर लेना तो उचित ही है, पर राजा, जैसा तू कहता है उस तरह रात व्यर्थ नहीं है. रातको तो ऐसे अद्भुत चमत्कार दिखाई देते हैं जैसे दिनको भी दिखाई नहीं देते. पृथ्वीमें बसनेवाले जीवोंके मनसे जो रात, रात ही अर्थात् आराम करनेका समय है, ऐसी अनेक रातें और अनेक दिन मिल कर, इस विराटरूप नगरके जिन निवासियोंकी एक घड़ी या क्षण पल भी नहीं होते ऐसे ये महात्मा और देवता ऐसी रातको रात मान कर अपने कार्यको पड़ा रहने नहीं देते; इस लिए संध्यावंदन, भगवद्—ध्यानादि अपना अपना उपास्य कर्म करके, सब लोग फिर तैयार हो जाओ. जब तक तुम इस विमानमें रहोगे तब तक तुम्हें निद्रादेवी बाधा नहीं दे सकेगी और न आहार विहारकी इच्छा ही होगी. जिसे परिश्रम करना पड़ता है उसे आरामकी जरूरत सही है, पर जिसे श्रम नहीं उसे विश्राम भी नहीं है." गुरुदेवके ऐसे वचन सुन, राजासहित साधुलोग एक एक कर गुरुचरणोंको प्रणाम कर, संध्योपासनाके लिए चले गये.

अच्युतपथपीठ—कालक्रीड़ा.

संध्योपासना पूर्ण हुई, संध्यासमय बीत कर काली रात आ गयी! सर्वत्र अंधकार छा गया! नभस्थलमें एक एक कर तारे, नक्षत्र और ग्रह उदय होने लगे. आकाशमें देवोंके विचरण करनेवाले विमान अपने अपने

लोकोंमें चले गये. अंधकारके प्रेमी राक्षस, पिशाच और निशाचर प्राणी आनंदसे विचरने लगे. पृथ्वीपर अर्थात् जगन्नगरमें भी इसी तरह रातका राज्य छा गया. अंधकार और दिनके परिश्रमके कारण मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटादि प्राणी एक एक कर विश्रांतिरूप निद्रादेवीके अधीन हुए. दीपकादि साधनोंसे अंधकारको दूर कर व्यवहारादिमें प्रयत्न करनेवाले प्रपंच–कुशल जनोंको भी अब निद्रादेवीने धीरे धीरे अपने अधीन कर लिया. इस तरह अंधकार और निद्रा दोनोंकी सम्मिलित सत्तासे जहां देखो वहां मोहका राज्य छा रहा है.

विमानकी लीला नवीनता लिये थी. वहां गुरु वामदेवके सामने महाराजा वरेप्सु आदि सब मुमुक्षु जीव संध्यादिकर्मसे निवृत्त होकर अपने अपने दिव्य आसनों पर बैठ गुरुके मुँहसे झरते हुए, अमृतमय शब्दोंका पान करनेके लिए तत्पर हो रहे थे. वहां निद्रा तंद्राका नाम भी नहीं था. गुरु वामदेवजीके वृद्ध माता पिता भी इस ईश्वरतुल्य महात्मा पुत्रके ऐसे अद्भुत कार्यसे आनंदसहित आश्चर्यमें मग्न और कृतकृत्य होकर भगवद्भजन करते थे. संध्यावंदनादिसे निवृत्त होकर सब मुमुक्षु लोग अपने अपने घरोंमें यथेच्छ अमृतपान कर सभामंडपमें एकत्र हुए. रातका आरंभ होते ही हरिकीर्तन आरंभ हुआ. बीच सिंहासनमें बैठे हुए गुरुदेवकी अच्छी तरह स्तुति वंदना कर, दिव्यरूप पाये हुए वे सब लोग अपनी अत्यंत मधुर दिव्य वाणीसे एक साथ उत्तम स्वर और तालसे ईश्वरके गुण गान करने लगे. इस समय उनके गानके साथ सभामंडपमें सजे हुए मधुर बाजे स्वयं ही उस सुन्दर रागमें बजने लगे कि, जिससे उनके कीर्तन–रंगमें करोड़ों गुना आधिक्य हो गया. दिव्य बाजोंका स्वाभाविक ही ताल स्वरसे बजना, दिव्यदेहधारी मुमुक्षु जीवोंका पूर्ण प्रेमसे गाना और परम पुण्यरूप श्रीहरिके नाम तथा गुणोंसे अलंकृत हुई उनकी वाणी निकलना; ये सब चीजें जहां एकत्र हों वहांके आनंदका क्या पूछना ? यह कीर्तन–आनंद इतना बढ़ा कि, हम कौन हैं, कहां आये हैं और कैसी स्थितिमें हैं, यह भान भी वे लोग भूल गये. परम देवकी जयजयध्वनि–सहित कीर्तन समाप्त हुआ. सब लोग गुरुको प्रणाम कर आसनमें बैठ गये. तुरंत ही सभामंडपका परिवर्तन होकर सब आसन आकारमें इस तरह हो गये कि जिससे जगन्नगर देखा जा सके. जगन्नगरमें अब क्या क्या चमत्कार होते हैं यह देखनेके लिए सब मुमुक्षु, बलवती जिज्ञासासे तैयार होकर बैठे.

फिर गुरु वामदेवजी, अपने माता पिताको प्रणाम और वरेप्सु आदिको सम्बोधन कर बोलेः—"अब सब लोग तैयार हो देखो, नीचे क्या लीला हो रही है !" वरेप्सु खड़े हो, हाथ जोड़ कर बोलेः—"कृपानाथ ! नीचे तो सब अंधकारमय है, सर्वत्र बिलकुल शान्ति है." गुरुजी बोलेः—" नहीं, ऐसा नहीं है, सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन कर देखो, उसमें अटलरूपसे नाना प्रकारके व्यवहार हो रहे हैं, उनको देखनेमें क्या तुम्हारी दिव्य दृष्टि काम नहीं आती ? जो जगत्के सब प्राणियोंके दिनको अपनी रातके समान मानते हैं उन एकांतिक योगी और महात्माओंका अब दिन प्रारंभ हुआ है. वे अब एकान्त और एकाग्र चित्तसे,-वृत्तियोंको एकत्र कर अपना आत्म-साधनरूप कार्य करनेको तैयार हो गये हैं. उनकी क्रियायें परम शान्त हैं और किसीको दुःखी करनेवाली नहीं हैं, इसीसे वे तुम्हारी समझमें नहीं आयीं. दूसरे तिर्यग्योनिके तमोगुणी प्राणियोंको भी देखो. वे अंधकारमें ही अपने अपने भक्ष्यकी खोजमें लगे हुए हैं. फिर मनुष्यवर्गके भी विषयलंपट प्राणियोंको देखो. वे विषयभोगको ही परम साधन, सर्वाधिक सुख और जन्मकी सफलता समझ रहे हैं. इसीसे वे स्त्रीपुरुषरूप जोड़ा बनकर एकान्तविलासमें मग्न हो रहे हैं. बहुतसे उन जीवोंको भी देखो जो महारोगसे पीड़ित हैं और जिनकी देहको दारुण पीड़ाके कारण क्षण भर भी कल नहीं है. वे अपने सिर पर हाथ रख अपने किये हुए कर्मोंका पश्चात्ताप करते हैं और इस तरहसे चिल्ला २ कर रो रहे हैं कि जिसको सुन कर हृदय विदीर्ण हो रहा है." यह सुन, वे सब पुण्यभागी लोग, जो अपनी दिव्य दृष्टिद्वारा यह सब दृश्य देख रहे थे, बोलेः—"हां, गुरु महाराज ! आपके बताये हुए व्यवहारोंके सिवाय और भी अनेक व्यवहार होते दिखाई पड़ते हैं. अरे ! वे सब दुःखरूप ही हैं. उन सबसे अंतमें सत्यलोकसे पतन ही होता है. अरे ! सारा समय निकल जायगा, अनेक जन्मोंतक आवागमन होगा तो भी ये जीव यह नहीं जान सकेंगे कि मोक्षका मार्ग कौन है ? इस जगन्नगरमें अनेक निशाचर अपने कुटुम्बियोंका पोषण करनेके लिए, धनकी इच्छासे बड़े दुर्गम स्थानोंमें चोरी करनेको तैयार हुए हैं, परंतु क्षण क्षणमें उन्हें पकड़े जानेका भय हो रहा है. अरे; वह देखो ! भारी चतुरंग सेना, उस दूरस्थ दूसरी बलवती सेनाको धोखा देकर उसकी असावधान अवस्थामें इस लिए दबानेको जा रही है कि उसमें उससे जंग लेनेका सामर्थ्य नहीं है. परन्तु, उसके सब वीरोंको इस बातका भारी भय है कि

ऐसे अवसरमें हमारी प्राणरक्षा हो सकेगी या नहीं. वह देखो! वे क्रूर मनुष्य अपने और पूर्वजोंके वैरको चुकानेके लिए वैरियोंके विनाश करनेका प्रयत्न कर रहे हैं. इसी तरह दूसरे लोग भी अपने ऊपर ताक लगानेवाले शत्रुओंके सदलबल आक्रमणके होनेकी भारी चिन्तामें हैं. बहुतोंको धनकी चिन्तासे नींद नहीं आती. अनेकोंके रहनेका घर नहीं है. कई एकोंको रोटियोंहीके लाले पड़ रहे हैं. कोई संतानके लिए दुःखी है तो कोई स्त्रीकी आशामें सुखसे नहीं सोता. आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मोह और मदमें लीन जीव अनेक प्रकारसे दुःखी हैं. जहां देखिये वहां केवल दुःखमय ही व्यवहार हो रहे हैं. दिनको अत्यंत शोभायुक्त दीखनेवाला यह जगन्नगर, इस समय (रातको) बिलकुल दुःखका ही स्थान बन रहा है. सिर्फ वे जितेन्द्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा योगी ही निर्भय मालूम होते हैं जिन्हें आपने सबसे पहले दिखाया था. उन्हींकी क्रियायें सिर्फ ऐसी हैं जो किसीका अपकार नहीं करतीं[१] वैसे ही उन क्रिया-ओंका फल भी अखंड सुख है. क्यों गुरुजी महाराज! इसी तरह दिनके श्रमसे थके हुए और किसी तरहकी चिन्ता या दुःख सिरपर न होनेसे सुखसे सोये हुए ये दूसरे सब प्राणी भी सुखी हैं न?" यह सुन, वामदेवजी बोले:—"यह कैसे कहा जाय? प्रत्यक्ष मालूम हो रहा है कि उनके सिरपर तो एक बहुत बड़ा अनिवार्य संकट झूल रहा है. अरे! वे प्रत्यक्ष संकटके मुँहमें ही पड़े हुए हैं. जलते हुए घरके भीतर नींदमें पड़ा हुआ मनुष्य बिलकुल सुषुप्ति[२] अवस्थामें होता और इस सबबसे उस समय उसकी देह—मनकी सारी वृत्तियां बंद हो जाती हैं, इस दशामें उसे सुखी मानना सिर्फ अविद्याका ही फल है. सुखी होना तो दूर रहा, परंतु वह इतना दुःखी कहा जासकता है कि यदि थोड़ी देर तक वैसी अचेत अवस्थामें पड़ा रहे तो उसका समूल नाश हुए बिना न रहे. इस नगरके निद्रित मनुष्य ऐसे ही अज्ञात संकटमें हैं. उसी तरह वे दूसरे लोग भी जो देखनेमें दुःखी हैं और चिन्तासे सो नहीं सकते, इस अज्ञात संकटसे बचे नहीं हैं. बचनेकी आशा तो सिर्फ उन महात्मा योगियोंको ही है. इस संपूर्ण नगरपर आनेवाली भीषण विपत्तिको वे जानते हैं और इस लिए उससे मुक्त होनेके लिए सतत-अविराम महाप्रयत्न किया ही करते हैं; सावधानीसे—अधिक भूल न होते हुए ही क्षण क्षण वह प्रयत्न जारी ही रखते हैं!"

---

१ अनपायिनी. २ गाढ़ निद्रामें.

गुरुदेवके ये वचन सुनकर सब भक्त लोग अत्यंत विस्मित होकर पूछने लगे कि, "कृपानाथ! ऐसा कौनसा अटल संकट इस नगरके ऊपर झूल रहा है?" यह प्रश्न पूछनेके बाद ही उस नगरकी दक्षिण दिशामें अकस्मात् बड़ा प्रकाश दीखने लगा. थोड़ी ही देरमें वह प्रकाश इतना बड़ा होगया कि जिसे देखते ही सब भक्तजन आश्चर्यसे चकित होगये. वे मनमें ऐसी शंका करने लगे कि क्या बड़ी रात इतनी देरमें पूरी हुई और दिन निकला है? वह भी क्या दक्षिण दिशामें." परंतु तुरंत ही गुरुदेव उस दिशाकी ओर हाथ फैलाकर बोले:—"यही इस जगन्नगरका अनिवार्य संकट है." अकस्मात् मुमुक्षु जीवोंकी चित्तवृत्ति और दृष्टि उस ओरको गयी. देखते देखते वह प्रकाश इतना बड़ा हो गया कि, उससे यह सारी दिशा और जमीनमें आकाशपर्यंत सब स्थान व्याप्त हो गया. थोड़ी देरमें उस प्रकाशके भीतर कुछ आकारसा दीखने लगा. वह आकार पुरुषके समान था. वह प्रतिक्षण बढ़ने लगा और देखते देखते सारे प्रकाशमें व्याप्त होगया अर्थात् जितने विस्तारमें यह तेज फैला उतना ही बड़ा वह पुरुषाकृतिवाला शरीर बन गया. अब उसकी ओर देखना भी महाभयंकर था. सारी दक्षिण दिशामें फैले हुए इस प्रचंड पुरुषका रंग निरा श्याम होनेसे ऐसा दीखता था मानो काजलका विशाल पर्वत है. उसके भयंकर असितांगके अवयव बड़े ही विलक्षण थे. उसके दोनों पैर मोटे और लम्बे थे. प्रत्येक पैरमें वज्रके समान तीन तीन कठिन और नोकदार उँगलियां थी. उसके प्रत्येक कंधोंसे शाखाओंकी तरह तीस तीस लम्बे हाथ डालियोंके समान फूटे हुए थे. प्रत्येक हाथमें भी चार चार उँगलियां थीं. आंखें भी बड़ी भयंकर थीं. वह बार बार आंखोंकी पलकें मारा करता था. उसके मुँहका आकार बहुत भयंकर था और इस भयंकर मुँहसे भोजन करनेके लिए वह इधर उधर आता जाता था. उसके मुँहकी जीभ विकराल अग्निके समान लपक रही थी. उसका शिरोभाग बिलकुल आकाशतक पहुँचा था इससे बादलोंके साथ बादलों जैसा दीखता था.[1]

---

१ टीका—कालपुरुषका शरीर, संवत्सरात्मक समय है, दो पैर, उत्तरायण दक्षिणायन, पैरोंकी तीन तीन उंगलियां, छः ऋतु हैं, तीस तीस हाथ, दिनरातकी तीस तीस घड़ी हैं, दो नेत्र, दिन और रात है, निमेष अर्थात् पलक मारना, प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशकाल हैं, सारे प्राणी उसका भोजन है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान उसका आवागमन और मृत्यु कालपुरुषका मुँह है.

देखते देखते वह भयंकर पुरुष मानो नीचे बैठते जाता है इस तरह नीचे मुड़ा और अपना भयंकर मुँह फैलाने लगा. उसका मुँह इतना बड़ा और चौड़ा हो गया कि उसके नीचेका ओंठ जमीनपर और ऊपरका ओंठ बिलकुल आकाशके उस ओर पहुँच गया. उस समय यह ऐसा दीखने लगा मानो एक ही बार सारे जगन्नगरको निगल लेगा. अब उसके सारे शरीरके स्थानमें सिर्फ उसका अत्यंत विस्तृत मुख ही दीख रहा था. इस विकराल पुरुषने अपना भीषण कार्य प्रारंभ किया. वह सुप्त जगन्नगरके सोये और जागते हुए हजारों और लाखों प्राणियोंको मुँहमें भरकर दाढ़ोंसे पीसने और पेटमें डालने लगा।

ऐसा भयंकर प्रसंग देख वे विमानस्थित लोग बहुत भयभीत हो गये और हाथ जोड़ गुरुदेवको प्रणाम कर, विनय करने लगे कि, " हे कृपानाथ ! यह क्या ? अरे ! यह कैसा घातक (प्रलयकारी) प्रसंग है ? यह विकराल पुरुष तो सबका नाश करता है. सारा जगन्नगर तो क्या, परंतु यह सारा आकाश और उसमें अधर रहनेवाला यह अपना विमान भी उसके मुँहमें ही है ! ! ऐसा भय होता है कि उसने हमें भी लिया और खाया ! अब हम कहां जायँगे ? हे देव ! देखो, उसके मुँहमें गया हुआ कोई भी प्राणी पदार्थ बचने नहीं पाता. कोई शायद छटककर निकल जाता है तो उसे वह अपने तीक्ष्ण नखवाले लम्बे हाथोंसे, पकड़ कर पुनः मुँहमें डाल लेता है. इस तरह रत्नके समान मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर और थलचर आदि सब प्राणियोंमेंसे किसीको भी वह नहीं छोड़ता. ऐसा मालूम होता है, मानो चर और अचर सभी सृष्टि उसका भक्ष्य है. ऐसा महात्रासदायक दृश्य हमसे देखा नहीं जाता."

जब इस तरह कोलाहल मच गया तब उन भयभीत हुए पुण्यश्लोक जनोंसे प्रेमपूर्वक वटुकजीने कहा:—" हे पुण्यजनो ! हम सब उसके मुँहमें हैं सही और हमको भी इन सबकी तरह नष्ट होनेमें विलंब नहीं लगेगा, परंतु तुम्हारे पास श्रद्धा, भक्ति और आत्मज्ञान, ये तीन पार्षद खड़े हैं, तुम इच्छानुगामी दिव्य विमानमें बैठे हो, इस लिए तुम्हें किसी तरह भयभीत होनेका कारण नहीं है. जो कुछ हो रहा है उसे तुम निर्भीक हो कर देखो. परन्तु इससे तुम्हें जानना चाहिए कि चाहे कोई सोता हो चाहे जागता उसका कालके सपाटेमें नाश ही हुआ करता है. सिर्फ वे ही

लोग तरते हैं जो आत्मयोगी हैं. अब देखो, वह एक साहसी मनुष्य उसके मुँह—उसकी वज्रसरीखी तीक्ष्ण दाढ़ोंकी बगलसे छटक बाहर निकल कर खड़ा है और उसे समेटनेके लिए इस भक्षकने हाथ फैलाया है, परन्तु यह चपल पुरुष दोनों हाथ जोड़ कर उससे कुछ विनयपूर्वक कहता है; इससे भक्षक भी उसे पकड़ना छोड़ कर उसकी विनय सुनता है. इस लिए तुम सब शान्तचित्त हो कर वह जो कुछ कहता है उसे सुनो." फिर सब एकाग्रचित्तसे कान लगा कर बैठे. वह धीर गंभीर पुरुष उन एकान्त क्रिया (योग) करनेवाले महात्माओंमेंसे एक था. वह विश्वव्यापी भक्षकको प्रणाम कर बोला:—"अहो देव! हे सबके भक्षण करनेवाले देव! मुझसे कहो कि, आप कौन हैं? क्या तुम जगत्के संहार करनेवाले और भूतपति भयंकर रुद्रदेव हो? या पापियोंको दंड देनेवाले यमराज हो? अथवा भस्मीभूत करनेवाले अग्निदेव हो? हे भयंकर देव! तुम्हारे डरसे मैं मनुष्य प्राणी स्वतः तुम्हारी शरणमें आया हूँ. इस लिए मुझे बताओ कि तुम कौन हो और ऐसा भीषण तथा संहारकारी कर्म करनेके लिए क्यों उद्यत हुए हो? शरणमें आनेवालेका नाश महाअज्ञान क्रूर प्राणी भी नहीं करता, अतः आपको भी मेरा नाश करना उचित नहीं है." इसके उत्तरमें विश्वव्यापी भक्षक, घनगर्जनाके समान गंभीर वाणीसे बोला:— "हे साधु! हे परमार्थपरायण योगी! मैं इस जगत्का स्वामी हूँ. मेरा नाम 'काल' है और मेरा नैत्यिक कर्तव्य यह है कि सबका अंत करूँ. यह सारा संसार मेरा भक्ष्य है. इसमें कोई भी वस्तु बाकी नहीं रहने पाती. इन्द्र और ब्रह्मा, यम और कुबेर, देव और दानव तथा मनुष्य, चर और अचर, स्थावर और जंगम, सबका मैं ही काल हूँ और मैं ही संहार करता हूँ.* मेरी क्षुधा अखंडित और बहुत ही बड़ी है, वह प्रलयके अंतमें भी शान्त नहीं होती, इस लिए बिना विश्राम निरंतर मुझे अपना आहार करना ही पड़ता है. मेरा काम कभी भी नहीं रुकता, और न उससे मुझे हैरानी या थकावट मालूम होती है. इस समय भी मैं अपना आहार करनेके लिए ही बढ़ा हूँ और यह वृद्धि सिर्फ आज या कल ही भरके लिए नहीं

---

* 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।'—कालस्वरूप श्रीभगवान् बोले:—मैं सब लोगोंका संहार करनेवाला बहुत ही विस्तृत उग्र काल हूँ और लोगोंका संहार करनेके लिए इस लोकमें प्रवृत्त हुआ हूँ। (गीता.)

परंतु सदाके लिए है. एक ओरसे मेरा नूतन आहार उत्पन्न होता है और दूसरी ओरसे समय आते ही मैं उसका भक्षण करता हूँ, तो भी मुझे कोई नहीं जानता, कोई नहीं देखता—देखनेको समर्थ भी नहीं है. सिर्फ तेरे समान कोई परमार्थपरायण (परोपकारी) पुरुष ही मुझे कुछ कुछ जानता है. जो अज्ञानको छोड़ कर ज्ञानी बने हैं, मायासे दूर हुए हैं, मेरे प्रेम-पात्र बननेके लिए मेरी आज्ञा मानते हैं, जिनका अंतःकरण परमार्थके लिए पवित्र हुआ है, और जिनकी दृष्टि, दिव्य हुई है वे ही मुझको जान और देख सकते हैं."

यह सुन उस धीर वीर साधुने पूँछाः—"हे भगवन् कालपुरुष! हे जगद्-भक्षक! यदि तुम्हारा कर्तव्य इसी तरह सब चराचरका भक्षणरूप नाश ही करना है, तब तो यह बड़ा पापकर्म है. हे देव! क्या ऐसे घातक कर्मको आप प्रिय मानते हैं? और क्या उसके गंभीर पातकसे आप लिप्त नहीं होते? आपको उचित है कि मुझपर रुष्ट न हो कर मेरे इस प्रश्नका उचित उत्तर देकर मेरा समाधान करें." कालपुरुषने कहाः—"नहीं, मैं पातकसे जरा भी लिप्त नहीं होता. मैं अपने इस कर्तव्यको प्रिय अप्रिय कुछ नहीं समझता. प्रिय अप्रिय, पाप पुण्य, शुभाशुभ मानने मनानेका मुझे अधिकार नहीं है. यह तो मेरी स्वाभाविक ही चर्या है. जैसे मकड़ी अपने मुँहसे बहुतसे लारके तंतु निकाल उन्हें अनेक आकारके बनाती और क्षणमें फिर उन्हें समेट कर अपने मुँहमें डाल लेती है, और उसको जैसे पातक नहीं लगता, उसी तरह यह मेरी क्रीड़ा है." यह सुन उस महात्माने पूछाः—"हे देव! यह कैसे? क्या इस चराचरके साथ आपका संबंध मकड़ीकी लारके ही समान है?" काल पुरुषने कहाः—"हां, यह समस्त जगन्नगर मुझसे ही पैदा हुआ है, मुझमें ही स्थित है और मुझमें ही लय (लीन) होगा. सारा जगत्‌रूप मैं ही हूँ. मैं एक होते भी अनेकरूपसे व्याप्त हूँ. यहां जो मैं भक्षकरूप हूं वही मैं अन्यत्र पालकरूप हूं. और, फिर पैदा करनेवाला भी मैं ही हूँ. मैं कर्ता, भोक्ता और संहारकर्ता हूँ. मैं विश्वव्यापी हूँ—विश्व मुझमें है और मैं विश्वमें हूँ. तो भी सारे प्राणी (भूत) मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ. जो मेरी अन्य क्रीड़ा दीखती है, वह मेरी मायाका बल है. जो इस मायाको पार कर उसके मस्तक पर हो कर गये हैं, वही इस क्रीड़ाको जान कर मुझे ज्ञानदृष्टिसे देख सकते हैं. फिर भिन्नरीतिसे देखो

तो मैं कृषिकार * हूँ और जगजाल मेरी कृषि † है. किसान खेतीको बोता सींचता, रक्षा करता और वही फिर उसे लुनता (काटता) और भक्षण भी करता है."

उस महात्माने फिर विनय की:—"हे प्रभु ! चाहे जो हो, आपकी लीला आप ही जानें; मुझे तो बड़ी चिन्ता है कि यह चराचर प्राणियोंका समूह जो आप अपना भक्ष्यरूप मानते हैं, क्या इसी तरह पिस कर मरनेके लिए पैदा किया गया है ? उसकी क्या दूसरी गति ही नहीं है ? क्या इस पिस कर मारे जानेसे बचनेका उसे कोई उपाय ही नहीं है ? क्या आप दयाशून्य हैं या किसी दयापात्र प्राणीको आप अपने भक्षणसे मुक्त नहीं करते ? " कालपुरुषने उत्तर दिया:—"हे निष्पाप ! किसीको कुछ चिन्ता करनेके लिए मैंने रखा ही नहीं और न कोई मुझे दूषण ही दे सकता है. क्षेम और लय, सुख और दुःख, पुण्य तथा पाप, शुभ और अशुभ, क्षर और अक्षर—इन सबका ज्ञान मैंने उसी पर रखा है जिससे ये संबंध रखते हैं. और भी मनुष्यादि, जो ज्ञानवान् प्राणी हैं, उन्हें तो बिलकुल ही स्वतंत्रता दी है, जिससे वे स्वयम् अपना कल्याण—सुखका मार्ग खोज लें. मैं दयाहीन नहीं हूँ. मैंने उनके लिए पहलेहीसे कल्याणका मार्ग बना कर खुला छोड़ दिया है. मैंने ऐसे न्याययुक्त नियम बनाये हैं कि जिनका भली भांति पालन करनेवाले प्राणियोंका मैं भी कुछ नहीं कर सकता, वल्कि मुझे उनका सहायक होना पड़ता है, क्यों कि जो मेरे नियमोंके अधीन हो मुझे भजते हैं, उन्हें मैं भजता हूँ अर्थात् जो मुझमें लीन रहते हैं वे मुझमें ही लीन होते हैं. मेरा निर्मित मार्ग बहुत दृढ़, पवित्र, पुरातन और सनातन है तथा बिना किसी रोक (प्रतिबंध)के खुला रहने पर भी अनधिकारी और जिज्ञासारहित प्राणीके लिए बिलकुल परोक्ष (गुप्त) है. फिर यह सनातन मार्ग बहुत समय हो जानेसे अव्यवस्थित न हो जाय या इसे मनुष्य भूल न जायँ इस लिए मैंने इसे वैसे ही अविनाशी ग्रन्थोंमें तीन सीमाओं‡ सहित वर्णन किया है. वे पवित्र ग्रंथ लोगोंके उपकारार्थ प्रचलित भी हैं. इतनी सुविधा होने पर भी जो अभागी प्रमादी पुरुष अपने कल्याणका प्रयत्न न करे, वह नष्ट होनेके लिए मेरे मुँहमें आ पड़े तो इसमें क्या आश्चर्य और किसका दोष है ? इन ग्रन्थोंमें

* किसान । † खेती । ‡ उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता.

बताये हुए मुक्तिमार्गका इत्थंभूत वृत्त भी बहुत समयमें शिथिल और साधारण हो जाता है इससे जो लोग संकल्प विकल्पके वश हुए हैं उन्हें उसमें कुछ महत्त्व नहीं दीखता तब मैं स्वयम् अंशतः या देवरूपसे प्रगट होकर उस पवित्र मार्गको फिर बलिष्ठ कर देता हूँ. इतना होनेपर भी जो मूर्ख लोग व्यर्थ आशावाली, व्यर्थ कामनावाली, व्यर्थ ज्ञानवाली राक्षसी और आसुरी मोहक वासना–मायाका आश्रय लेते हैं, वे मेरे भक्ष्य होते हैं, उसमें उन्हींका दोष जानो."

यह सुन, उस धीर महात्माने विनय की:—"दयामय! तो वह पवित्र मुक्तिमार्ग कौन है कि जिसका अनुसरण करनेसे इस अनिवार्य संकटसे छुटकारा होता है? हे देव! मुझे बताओ इस मार्गमें जानेसे अंतमें कहां पहुँचना होता है, जिससे वहां गया हुआ प्राणी आपके भक्ष्य होनेके भयसे मुक्त होता है." कालरूप प्रभुने कहा:—"हे धीर! यह मार्ग दूर नहीं है, वह जो दीख रहा है वही मार्ग है. यह बहुत गहन और दुर्घट है तो भी धीर, साहसी, दृढ श्रद्धावाले, प्रेमी, पवित्र और मायारहित मनके मनुष्यको गहन और दुर्घट नहीं है. इसका चढ़ाव ऊंचा होनेसे यह यद्यपि भयंकर दीखता है तो भी जितेन्द्रिय, आत्मशोधनमें उद्यत, एकाग्र चित्तवाले और प्रमादरहित, अविद्यासे मुक्त और विद्यासे संयुक्त पुरुषको, यह मार्ग परम सुखकारक हो जाता है. इस मार्गमें किसीका भय नहीं है. परंतु इसमें भूलभुलैयां अधिक होनेसे असावधान पथिक बीचमें ही रह कर भवाटवी (संसार–वन) में भटका करता है. इस मार्गका नाम 'अच्युतपथ' है. इस पथके परे अक्षर, अविनाशी, अच्युतपुरमें जाना होता है. वहां सिर्फ निरामय (निरोग), अखंड सुखमय और विनाशरहित सच्चिदानंद घनश्याम स्वरूप अच्युत प्रभु, एक रस, एकाकार, अभेदरूप, चिन्मात्र, परब्रह्म, परमात्मा; शेषशायी नारायण रूपसे मैं निवास करता हूँ. यही मेरा मुख्य और मूलरूप है. यह मेरा कालरूप और दूसरे सब रूप गौण (साधारण)

---

१ मुक्तिमार्ग अर्थात् संसारसे बचने–छूटनेतरनेका मार्ग. २ बहुत अलभ्य और महत्ववाली वस्तु भी बहुत समयतक नित्य आंखोंमें दीखती रहनेसे मनुष्यको साधारणसी हो जाती है और उसपर प्रेम–मोह नहीं रहता. ऐसा होनेसे यद्यपि उस वस्तुका महत्व जरा भी नहीं घटता, परंतु जैसे नित्य सरलतासे मिलनेसे अमूल्य चंदनको भी भीलनी साधारण लकड़ीकी तरह जला डालती है, वैसी ही उसकी भी दशा होती है. ३ अंशद्वारा–अपने अंशसे.

हैं. ये न्यूनाधिक उपाधियुक्त हैं. इन अच्युत परब्रह्मके शरणमें जाकर निवास करनेवालेको किसी तरहका भय नहीं रहता. "

यह सुन, महात्माने पूछा:-" हे देवेश्वर ! आप एक हो और एकरस होते भी परस्पर विरुद्धस्वभाववाले अनेक रूपोंसे प्रकट हो, आपकी इस चमत्कारपूर्ण विलक्षण विश्वलीलाको कोई भी नहीं जान सकता. परन्तु हे देव ! मुझे यह बताओ कि आपके इस अच्युतपथमें जो बहुतसी भूलभुलैयां हैं, उनसे किन साधनोंसे पथिक बच सकता है ? " काल पुरुषने कहा:- " इन भूल-भुलैयों और लालचोंसे बचनेके लिए पथदर्शिका[1] एक श्रेष्ठ साधना है, जो मेरे प्रकट किये हुए असंख्य ग्रन्थोंमेंसे उद्धृत[2] की हुई है. मेरा ही होनेवाला, मेरे लिए ही निर्मित किये हुए मार्गोंसे चलनेवाला सचेत पथिक, इस साधनाको सतत (अविराम) अपने हृदयमें रखता है और उसकी पवित्र गाथाओंको प्रेमसे रात दिन गान करते, उसमें बतलाये हुए मार्गमें चला जाता है. इससे कोई भी अधिकारी मुमुक्षु किसी भुलावे या लालचमें नहीं फँसता है. अधिकारी पथिकोंकी कल्याणकारिणी, मुक्तिदात्री यह पथबोधिनी[3] लोकमें 'गीता' के नामसे प्रसिद्ध है. हे वत्स ! यह पथबोधिनी हृदयमें होने पर भी मार्गकी कठिनाइयों या प्रमादके कारण कोई पथिक भटक कर बड़ी ही अड़चनमें आ पड़े तो उसे वहांसे उद्धार कर फिर मार्ग बतानेके लिए मैंने पहलेसे ही योजना कर रखी है. इस कार्यके लिए बहुतसे ऐसे पथप्रदर्शक हैं जो उस मार्गके प्रत्येक स्थानों, चढ़ाव, उतार और भीषण घाटियोंको अच्छी तरह जानते हैं. वे सिर्फ मेरी पवित्र आज्ञाका ही अनुसरण करनेवाले हैं. वे इस सुखद परंतु गहन मुक्तिमार्ग और उसमें भी विशेष कर भीषण स्थानोंमें नित्य घूम कर, फँसे या अड़चनमें पड़े हुए पथिकोंको, सुमार्गसे लगाते हैं. वे स्वभावसे अत्यंत परोपकारी, दयाशील और सज्जनताके सब गुणोंसे युक्त हैं. वे गुरु-सद्गुरु संत-महात्मा आदि नामोंसे लोकमें प्रसिद्ध हैं. हे साधु ! तू भी वैसे ही महात्माओंके समान शुभगुणोंसे युक्त है, और इसीसे दयापात्र होकर मेरे मुँहसे सुरक्षित बच गया है. तुझे यदि सदाके लिए निर्भय होना हो, तो क्षणिक स्थितिवाले, नाशवंत और भक्ष्यरूप इस जगन्नगरके रहनेका लालच त्याग कर शीघ्र इस अभय पथका पथिक बन, तुझे जानना चाहिये कि यही पथ

---

१ मार्ग दिखानेवाली. २ अवतरण की हुई. ३ मार्ग बतानेवाली.

कल्याणकारी है. यह तू जानता है कि मैं कालका भी काल हूँ, विश्वका कारण हूँ, सृष्टिका कारण हूं इससे मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ—जो मुझे जानता है उसका मैं स्वामी नहीं, परंतु मैं और वह दोनों समान हैं. मैं अपने आगे किसीकी कुशलता देख नहीं सकता और न मेरे आगे कोई कुशल ही रह सकता है. मैं काल हूँ और सबका नाश करना ही मेरा स्वाभाविक कर्म है. मैंने तुझसे अभी ही कहा है कि मेरी क्षुधा (भूख) बड़ी तेज है. जब वह कभी कभी बढ़ती है तब मैं दीसने और न दीखनेवाले समस्त विश्वका भक्षण कर जाता हूँ. इसीको महाप्रलय कहते हैं. महाप्रलयके बाद बहुत समयतक कुछ भी न बचनेसे सर्वत्र केवल मैं ही रहता हूँ. ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और यह पृथ्वी कुछ भी शेष नहीं रहते. उग्र क्षुधाके कारण जैसे अपने ही पैदा किये हुए बालकोंको सर्पिणी भक्षण करने लग जाती है और उस समय उसे उनपर कुछ वात्सल्य नहीं रहता, उसी तरह मैं भी जो स्वभावसे ही सबका भक्षक हूँ, तुझपर प्रसन्न हूँ, तो भी अब मेरे सामने तेरा खड़ा रहना कल्याणकर नहीं है, इस लिए यहांसे शीघ्र चला जा. "

ये अंतिम शब्द बोलते ही उस कालपुरुषका स्वरूप बहुत ही विकराल बन गया. बीसकी जगह उसके सैकड़ों और हजारों हाथ हो गये. वह चारों ओरसे प्राणियोंको उठा उठा कर मुँहमें डालने लगा. एकके बदले अनेक मुँह भी हो गये, सारे भीषण मुखोंसे अपार बढ़े हुए धुएंके साथ अग्निकी ज्वालाएं निकलने लगीं. सारा आकाश धुएंसे पूर्ण हो गया. अंधकार बढ़ने लगा. कालके मुंहके कराल दांत, लपकती हुई जीभवाले मुँहमें ऐसे दीखने लगे मानो काली मेघघटामें बारबार चमकनेवाली बिजली हो. असंख्य प्राणी उस जलते हुए दावानलमें पतंगोंकी भांति गिर कर कराल कालके मुँहमें चूर्ण होने लगे. ऐसा भयंकर कालरूप और उसका अपार त्रासदायक घोर संहार देख, वह महात्मा धीर पुरुष एकाएक बावला बन गया और घबरा कर वहांसे भागा. परंतु, भागते समय ठोकर खाकर जमीनपर गिर पड़ा और अचेत हो गया.

ऐसा घोर संहार देख, आकाशस्थित विमानवासियोंके भी हाथसे चँवर छूटने लगी. वे एक सांथ ही चिल्ला उठे—" हे गुरु महाराज ! हे कृपानाथ ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! अब कहां जायँ ? अब कैसे जी सकेंगे ? यह कालदेव तो किसीको भी नहीं छोड़ता. अरे अरे ! देखो ! वह बहुत बढ़ने और चारों ओरसे भक्षण करने लगा है. अरे यह क्या

चमत्कार है ! अबतक तो एक ही मुँहसे भक्षण करता था, परंतु अब तो इसके अनेक मुँह दीखते हैं और वह असंख्य हाथ, पैर, नाक, कान, आदिसे प्राणियोंका संहार करता है. इसके प्रत्येक अंग प्राणियोंके चुभ जाते हैं. अब किसीके भी बचनेकी आशा नहीं है. अरे ! यह अंधकार भी क्षण क्षणमें बढ़ता ही जाता है. अब तो कोई किसीको देख भी नहीं सकता. कृपालु गुरुदेव ! अब तो हम पापियोंकी प्रार्थना पर ध्यान देकर हमें किसी निर्भय स्थानमें ले चलिये. हमें उबारिये. आप जैसे समर्थकी शरणमें होनेसे हमें कालका भय तो है ही नहीं, परन्तु हमारे अंतःकरणमें अभी जीवभाव होनेसे, इस महाभयंकर कालक्रीड़ाको हम देख नहीं सकते.

ऐसी प्रार्थना सुन, महात्मा गुरु वामदेवजीने तुरंत ही वहांसे विमान चलानेकी आज्ञा दी, जिससे वह अपार आकाशमें बहुत दूर चला गया.

प्रथम बिन्दु—प्रथम सोपान.

पथारोहण ।

जगद्बंधनका क्लेश ।

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति यथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥

अर्थ—दूधमें दूध, तेलमें तेल और जलमें जल मिलनेसे जैसे एकरस हो जाता है वैसे आत्मवेत्ता मुनि आत्मामें मिलनेसे एकरस (कार्यमें लीन) हो जाता है.

प्रभात हुआ, धीरे धीरे पूर्वदिशा जगमगाने लगी. सूर्योदय होते देख विमानस्थित मुमुक्षु पुण्यजन तुरंत अपने प्रातराह्निकमें प्रवृत्त हुए. थोड़ी देरमें वे सब कामोंसे अवकाश पा गुरुदेवको प्रणाम कर आसनोंपर बैठकर देखते हैं तो विमान जगन्नगरके ऊपर आकर ठहरा था. राजाने खड़े होकर सब सभासदोंसहित भारी जयध्वनि की. तब गुरुदेवने सबको सम्बोधन कर कहाः—" क्यों राजा, अब तो कुछ भय नहीं है ? देख, इस समय नगरमें क्या होता है ? " सब पवित्र लोग जमीनकी ओर देख कर कहने लगेः—" अहा ! गुरुदेव ! अब तो सर्वत्र आनन्दमय है. सब प्राणी पूर्ण उत्साहसे अपने अपने कामोंमें लगे हैं और उन्हें समूचा निगल जानेवाला वह कालपुरुष भी कहीं नहीं दीखता. इतनेमें चहूं ओर बहुत सूक्ष्मरूपसे विचार विचार कर देखते हुए महाराजा वरेप्सु बोले—" नहीं नहीं, गुरु महाराज ! वह कराल काल कहीं नहीं गया ! सिर्फ देखनेमें फर्क है. आपकी प्रदान की हुई दिव्यदृष्टिद्वारा मुझे तो साफ दीखता है कि वह कहीं नहीं गया और न कहीं जायगा. जैसा उसने अपने ही मुँहसे कहा था और हम लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है, उसी तरह उसकी नाशकारक भक्षणक्रिया निरंतर

जारी ही है. वह देखो, वह पश्चिम दिशामें दीखता है, यहांसे बहुत दूर जहां अंधकार छाया है, वहांपर वह संहार कर रहा है. इससे मुझे जान पड़ता है कि वह चारों तरफ फिरता ही रहता है. वह चाहे जहां हो संहार ही करता रहता है. उसका हाथ तो बिलकुल यहांतक पहुँच गया है. वह इन अगणित प्राणियोंको सटासट खींचता और खाता जाता है. यह तो रातको हमलोग प्रत्यक्ष देखते थे, इस लिए पहँचान भी सके कि कालपुरुषका संहार है, परंतु इस विलक्षण स्थान पर रहनेवाले जीव क्या कुछ जानते होंगे ? वे बेचारे तो बेजाने मारे जाते हैं और वे अपने अनेक साथियोंको नित्य नष्ट होते देखते हैं तो भी उसके लिए कुछ चिन्तित मालूम नहीं होते. ऐसे अज्ञानांध, पराधीन प्राणियोंकी दशा कैसी शोचनीय है. आपकी पूर्ण कृपा है, नहीं तो हमारी भी यही दशा होती."

इस तरह वरेप्सुके कहनेसे सब लोग सूक्ष्मतासे उस दिशाकी ओर देखने लगे, इतनेमें गुरुदेवने उनका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट किया. वे बोलेः— "अरे देखो, देखो ! वह मनुष्योंका समूह क्यों एकत्र हो रहा है ? गली गली, कूचों कूचों और ठौर ठौरमें लोगोंका झुण्डका झुण्ड एकत्र दीखता है. उनके ऐसा करनेका कुछ कारण होगा ? वे स्वयं घरसे बाहर नहीं निकलते; परंतु देखो, वे बहुतसे मनुष्य गली गली फिरकर उन्हें बाहर निकलनेकी सूचना देते हैं. वे सूचना देनेवाले क्या कहते हैं, तुम सब लोग उसे समझो तो अच्छा है." महात्मा बटुककी बात सुन, राजा बोलाः—"हां गुरुदेव ! आपकी कृपासे सब समझते हैं. वे सूचना देनेवाले कहते हैं किः—

अहो मनुष्याः कृपणाः कुसंगिनः कालस्य वक्त्रे पतिताः सबांधवाः ।
अस्मिन्महाकष्टमये प्रसंगे आश्चर्यवन्निर्भयतां किमाश्रिताः ॥
महाऽदयः कालनरोऽत्ययं पुरं ग्रासैः प्रचंडश्च न वेत्ति को जनः।
यदीष्यते कालभयात्स्वरक्षणं ततो हरेर्मार्गमितः प्रयात वै ॥

भावार्थ–'अरे, हे कृपण और कुसंगी* मनुष्यो ! हे बंधुसहित कालके मुँहमें पड़े हुए मनुष्यो ! ऐसे महाभयंकर दुःखमय अवसरमें आश्चर्य पैदा करनेवाली निर्भयताको क्यों धारण किये हो ? महानिर्दय कालपुरुष, बांहें फैलाकर इस नगरको खा जायगा, इसे क्या तुममेंसे कोई मनुष्य नहीं जानता ? यदि इस काल पुरुषके भयसे अपनी रक्षा करना चाहते हो तो यहींसे अच्युतपथमें प्रयाण करो.'

---

* कु अर्थात् बुरी–संसारकी जो व्यर्थ माया है उसके साथी.

उनकी ऐसी सूचनासे लोग घबरा उठे और उनमें जो खोजी, सत्यज्ञ, उद्यमी, प्रमादरहित और अपनी रक्षा करनेमें सचेत थे, वे तुरंत ही एकाध पोटली लेकर घरसे बाहर निकल पड़े. फिर वे अड़ोसियों पड़ोंसियोंको भी पुकारने लगे कि:—"चलो, निकल पड़ो, जल्दी करो, नहीं तो रह जायँगे, पकड़में आ जायँगे." इस तरह प्रत्येक गली और मुहल्लेसे निकले हुए असंख्य लोग उस सामनेवाले मैदानमें एकत्र हो गये. उनके बीचमें उस ऊंचे चबूतरेपर एक मनुष्य खड़ा था, जो हाथ उठाकर एकत्र हुए लोगोंसे कुछ कहने लगा. यद्यपि वह जोरसे बोलता है, तो भी इन असंख्य लोगोंके कोलाहलके कारण उसका कथन यहांसे नहीं सुना जा सकता."

इसी समय बीचमें एक दूसरा पुण्यात्मा प्राणी बोल उठा:—"कृपानाथ! परंतु इस चबूतरे पर जो पुरुष है वह वही है जो रातमें उस कालपुरुषसे बातें करता था." वरेप्सु बोले:—"हां, हां वास्तवमें वही है. हां, वही है. गुरुदेव! यह तो कालकी भयंकरतासे घबराकर भागा था और अंधेरेमें गिरकर अचेत (मृत्युवश) हो गया था, पर यहां तो फिर सचेत हो गया है, यह कैसे?" गुरु वामदेवने कहा:—"वत्स! यह भयभीत होकर भागा था सही, परंतु मृत्युके वश नहीं हुआ था, इसे तो उस महाभयंकर दृश्यसे मूर्च्छा आ गयी थी. मूर्च्छा हटते ही यह तुरंत वहांसे उठ सचेत होकर यहां आया है और विना विलम्ब अब निर्भय स्थानमें जानेका प्रयत्न कर रहा है. अहा! देखो, यह कितना परोपकारशील है? स्वयं भयसे बचा है और कुशलतासे रहनेका मार्ग प्राप्त कर सका है, इससे इसने उसका लाभ सब जनोंको देकर उनकी रक्षा करनेकी हामी भरी है. जिससे मोहका नाश और ज्ञानोदय होता है, वह पुरुष महान् विभु-आत्माको जानता है और कुछ भी शोच नहीं करता किन्तु सबका हित करता है. जो आत्मा है उसे प्रिय अप्रियका ज्ञान नहीं, सिर्फ देहको ही प्रिय अप्रियका ज्ञान होता है. इस विनाशी जगत्में पुरुषके प्रयत्नसे ही स्वात्मदर्शन होते हैं. श्रवण, मनन, और निदिध्यासन विना सिर्फ गुरु-प्रसाद या पुण्यकर्म स्वात्मदर्शनके लिए गौण (अप्रधान) साधन हैं. जब पुरुष अपने प्रयत्नजन्य बलसे चेतता है तभी मायासे तरता है, डूबता नहीं है, क्यों कि वह मायामें लुब्ध नहीं है और न अज्ञान ही है. परन्तु यदि मड्ड तर जाता हो तो गुरुजी! ऊँट या नाथे हुए बैलका क्यों न उद्धार कर सके? सिर्फ स्वात्मबल ही श्रेयको प्राप्त करता है. यह जीव स्वात्मबली

है, अज्ञ (मूर्ख) नहीं है. वह चाहता है कि दूसरोंको भी अज्ञानतासे दूर करूँ. इस महात्माका भाषण हम लोग स्पष्टरूपसे सुन सकेंगे, तुम सुनो." फिर एकाग्रचित्तसे मुमुक्षु उसे सुनने लगे.

वह धीर महात्मा हाथ उठाकर, सारे जनसमूहमें चारों ओर देख देख कर कहने लगा:-" अहो ! कैसा महदाश्चर्य है ! कितने खेदकी बात है ! क्या कहूँ ! अरे ! हे जगन्नगरनिवासियो ! हे दयापात्र मनुष्यो ! अपने सारे नगरमें उपस्थित भयंकर स्थिति क्या तुममेंसे किसीने अबतक नहीं जानी है ? चारों ओरसे अग्नि भड़क उठी है, ऐसी स्थितिमें जलते हुए उस वनके प्राणी उसकी ज्वाला कैसे सह सकेंगे ? अरे ! अगाध जलवाले समुद्रमें मुँह फैलाकर मगर (ग्राह)के आगे गोते खाता हुआ मनुष्य अपनी जीवनरक्षा कैसे कर सकता है ? बड़े भयंकर घोर वनमें अजगरके द्वारा छाती तक निगला हुआ मनुष्य अपने बचनेकी आशा कैसे रख सकेगा ? अरे ! सात दिनोंका भूखा सिंह, भक्ष्यकी तलाशमें गहन पर्वतकी गुफामें जिसे पकड़ ले, उसके बचनेकी क्या आशा है ? परंतु नहीं, इस तरह जीवनकी आशा त्यागे हुए भी किसीसमय भयंकर प्रसंगसे मुक्त हो जाते हैं, परंतु यह सारा जगन्नगर (लोक) ! जिस घोर भयमें आ पड़ा है, जिस अनिवार्य संकटसे ग्रस्त है उससे किसी तरह भी बचना साध्य नहीं है. मैं भी यह नहीं जानता था कि ऐसा भारी संकट हमपर टूट पड़ा है, परंतु अभी जाना है, इससे मेरी छाती फट गयी है. परंतु मैं अपनी रक्षाका मार्ग जानकर उसमें जाना चाहता हूँ. मैं कभी कभी सुना सही करता था कि ' इस नगरको कोई धीरे धीरे, क्षण क्षणमें गुप्तरीतिसे नष्ट करता रहता है और इससे किसी एक भयंकर रातको यह सारा नष्ट हो जायगा, इस लिए जो बचना चाहता हो वह इसे त्यागकर निर्भय स्थानमें चला जाय.' वह निर्भय स्थान कौन है, इसे मैं नहीं जानता था. परंतु गतरातमें तो मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि कैसे नाश होता है, तबसे मेरा हृदय धड़क रहा है. जिसे कभी स्वप्नमें भी नहीं देखा, जो कल्पनामें भी नहीं आया, ऐसा प्रसंग देख कर मैं बड़े भयके कारण वहांसे चमककर भागा और रास्तेमें गिरकर अचेत हो गया. फिर सचेत होते ही वहांसे उठा. उसी समय इस नगरको छोड़कर मैं चला जाता, परंतु दयावश तुम्हें सचेत करनेको यहां आया हूँ. इस लिए देर न करो. हम सब निर्भयस्थानमें चलें. मेरे कहनेका कारण यह है कि सिरपर भार आदि रखा हो तो उसके दुःखसे दूसरा भी मुक्त कर सकता है, पर क्षुधादिसे होने-

वाला दुःख बिना अपने, दूसरेसे नहीं मिट सकता. रोगी यदि स्वयं ही दवाका सेवन करे तो निरोग होता है, परन्तु दूसरे दवा खावें तो उसे आरोग्य नहीं मिलता. उसी तरह वीणाके तार बजानेकी चतुराईसे लोग प्रसन्न होंगे, परन्तु उससे कोई मृत्युके मुँहसे नहीं बच सकता. इस लिए हे दया-पात्र मनुष्यो! इस नगरको परम विलक्षण आकृतिवाला एक महाप्रचंड पुरुष, जिसे किसीकी भी उपमा नहीं दी जा सकती, इस तरह नाश करता है जिसे कोई जान नहीं सकता. वह निर्दयकी भांति भयंकरतासे सबका भक्षण किया करता और कहता कि, 'थोड़े समयमें इसी तरह मैं सबका भक्षण करूंगा. यदि बचना हो तो अविनाशी मार्गकी ओर भागो.' इस लिए हे मनुष्यो! इतना जानने पर भी अपने जीवनको खतरेमें डाल ऐसे भयमें पड़ा रहनेवाला कौन मूर्ख होगा? अब तो चेतो, अरे! चेतो! सबको आत्मासे आत्माका उद्धार करना है. यह आत्मा ही आत्माका बंधु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है! विचारपूर्वक स्वयं ही आत्मा आत्माके सहारे—संसार—मोह—समुद्रसे परिपूर्ण इस नगरसे अपने मनरूपी मृगको तार कर पार उतारो, यही मुख्य कर्तव्य है. अब तो यह नगर एक पल भी रहने योग्य नहीं है. यहांसे तो शीघ्र ही किसी निर्भय स्थानमें चले जाना चाहिये. हमलोगोंने बहुबार सुना है कि—

'दुःखलेशविहीनमक्षरं, सुखमयं तु सदाच्युतपदम्'

'लेशमात्र भी दुःखसे रहित, अविनाशी और सदा सुखमय तो अच्युत नामका पद ही—स्थल ही है. ब्रह्म धाम—अक्षर धाम वही है. वहां निरंतर निवास करनेवाला पुरुष सबके सोनेके समय जागता रहता है. नाना प्रकारके कार्योंका निर्माण करता रहता है, सब चला जाता है, परन्तु वह तो ज्योंका त्यों ही रहता है. वही शुद्ध ब्रह्म परमात्मा—अच्युत है. वही अमृत है. सारे लोक इसीके आश्रित हैं, इससे दूसरा कोई नहीं है, यही परमात्मा है. वह आंखोंका देखने वाला है परन्तु आंखें उसे नहीं देखतीं, वह कानोंका सुननेवाला है पर कान उसे नहीं सुनते, वह वाणी (बोली)का प्रवर्तक (नियोजक) है परन्तु वाणी उसके गुण नहीं गा सकती. यही परमात्मा—आत्मारामरूपसे जो सबके भीतर है—वही यहां है! एक अग्नि जैसे सब भुवनोंमें प्रवेश कर उनके रूपानुसार वैसी ही दीखती है वैसे ही एक आत्मारूप परमात्मा सर्व प्राणियोंके भीतर

उनके रूपानुसार होता है, तो भी उनसे अलग, निर्लेप और अविनाशी है, उसके स्थानमें रहना और उसीमें समा जाना ही कल्याणकारी है. जैसे आइने (दर्पण) में विना देखे उसके भीतर रहनेवाला पदार्थ नहीं दीखता, वैसे ही इस सच्चिदानंद–परमात्माको विना पाये निर्भय नहीं हो सकते. इस लिए शीघ्र ही तैयार हो. हम सबको वहीं जाकर रहना कल्याणकर है. ऐसा सुना जाता है कि वहां जानेका रास्ता भी बहुत अच्छा है, वहां जाते समय रास्तेमें खाने पीनेका अच्छा सुभीता है. इस लिए, जिसे आनेकी इच्छा हो वह अब जरा भी विलंब न कर शीघ्र चले. अब यहां पलभर भी रहना शुभकर नहीं है."

ये अंतिम शब्द कहते ही वह धीर पुरुष तुरंत चबूतरेसे नीचे उतर कर उत्तर दिशाकी ओर चला. यह देख, नगरके एकत्र हुए हजारों और लाखों मनुष्य भी उसके पीछे चले. सारा नगर मानो उजड़सा गया. परंतु बहुतसे अत्यंत व्यवसाय करनेवाले, बहुकुटुम्बी, पर–धन–लोभी, अत्यालसी, नीच कर्मोंमें प्रवृत्त, प्रमादी, अज्ञान और महामूढ़; उस धीर तथा बुद्धिमान् पुरुषके वचनों पर विश्वास न करनेवाले * मनुष्य उक्त नगरमें रह भी गये.

नगरके विशाल राजपथ पर चलते हुए इन असंख्य लोगोंकी ओर देख गगनस्थित विमानमें बैठे हुए, राजा वरेप्सु, गुरुजीको प्रणाम कर बोले:— "कृपानाथ! यह धीर पुरुष तो सबको पैदल ही लिये जाता है. इनमें बहुतसी स्त्रियां और बालक भी हैं. इनके लिए भी कोई सवारी नहीं है. फिर, इनके कंधों और सिर पर एक एक दो दो गठरियोंका भार भी है. इन गठरियोंमें क्या होगा?" गुरुदेवने कहा:—"इन लोगोंने सोचा कि रास्तेमें आवश्यक होगा, इस लिए इन गठरियोंमें जितना लिया जा सकता था, उतना भोजन बांध लिया है. बहुतोंने तो इतना अधिक बांध लिया है कि उनसे गठरी उठती भी नहीं. †" यह सुन, राजा बोला:—"खानेके

---

* टीका—नास्तिक, वेद शास्त्र न माननेवाले। † लोगोंकी अपनी अपनी श्रद्धाके अनुसार माना हुआ पाथेय (मार्गमें खानेका पदार्थ) जैसे गणेशके उपासकने गणेशकी सेवा रूप श्रद्धा, हनुमानके उपासकने उनकी सेवारूप श्रद्धा और देवीके उपासकने देवीकी सेवारूप श्रद्धा मानली और इस श्रद्धाके सेवनसे विश्वास किया कि, इससे ही मोक्ष होगा और इससे मोक्षके लिए इस तरह जो भिन्न भिन्न देवोंके उपासना रूप श्रद्धा है (विश्वास) है वह पाथेय (राह–खर्च) है।

लिए तो उस धीर पुरुषके पूर्वकथनानुसार रास्तेमें जितना पदार्थ चाहिये उतना तैयार है, इतना होने पर भी एक तो पैदल चलने और फिर कंधेमें व्यर्थ भार ढोनेकी क्या जरूरत है ? " तब गुरुदेव बोले:—"यह बात सत्य है. परंतु, जिस चित्तको आधा ही विवेक प्राप्त हुआ है और अचल पद प्राप्त नहीं हुआ उसे भोगका त्याग करनेसे बड़ा दुःख होता है और विश्वास भी नहीं रहता. ब्रह्ममार्गमें खाना, पीना, रहना, बैठना और सोना आदि जो चाहिये सब तैयार है. परंतु, जिसे अपनी वस्तुके लिए दृढ़ अभिमान होता है वह दूसरेकी वस्तुपर आधार न रख अपनीमें ही महत्व मानता है और ऐसे अहंभावके व्यर्थ अभिमानके कारण ही उन्हें ये गठरियां उठानी पड़ी हैं ! परन्तु अब ये क्या करते हैं यह तुम सब एकाग्र दृष्टिसे देखो ! देखो, इस धीर पुरुषके आगे बहुतसे बालक, स्त्री और पुरुष आ, झुककर प्रणाम कर रहे हैं ! वे कौन हैं और ऐसा क्यों करते हैं यह हमलोग देखें !"

फिर सब पुण्यात्मा प्राणी एक दृष्टिसे उस ओर देखने लगे ! इतनेमें फिर महाराज वरेप्सु बोल उठे:—"कृपानाथ ! मालूम होता है ये सब तो इस धीर पुरुषके कुटुम्बी हैं और एकाएक नगर छोड़कर चले जानेसे इस महात्माको रोकनेके लिए रास्ते पर बने हुए विशाल भवनसे निकल आये हैं ! देखो, इस झुण्डकी वह स्त्री है ! मुझे मालूम होता है वह इस महात्माकी धर्मपत्नी है ! वह महात्मासे प्रार्थना कर रही है कि कृपानाथ ! स्वामीनाथ! हमें छोड़ कर न जाइये. दूसरे उसके भाई, बहन, लड़का, लड़की आदि सारे कुटुम्बी भी उससे वही प्रार्थना करते हैं. वे बहुत ही आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि—'हे सज्जन ! हे वीर ! आप क्या कर बैठे हैं ? आप इस तरह पथिक-वेशमें भविष्यतमें आनेवाले किसी भारी भयसे भयभीत होकर भागनेवालेके समान कहां जाते हैं ? आपमें ऐसी कातरता या भीरुता होना क्या संभव है ? हम सबका पालन-पोषण कर सर्वत्र कीर्ति प्राप्त किये हुए आपको हम सब तापप्रद—और त्यागे जाने योग्य कैसे हो गये ? हे धीर ! तुम्हारा पहलेका वह धैर्य कहां जाता रहा ? पहले किसी भी कष्टको न गिननेवाले तुम अब ऐसे किस बड़े कष्टके भयसे इस अव्यवस्थित रूपसे भागते हो, उसे कहो. तुम किसी समय किसीके भी कहनेसे मोह या भ्रममें न पड़ते थे. आज किसके कहनेसे विक्षिप्तके समान भागे जाते हो ? " इतना कहकर वरेप्सु बोले:—"गुरु महाराज! उनका यह कथन

सुनकर, देखो यह धीर महात्मा और उसके साथका सारा जनसमाज स्थिर होगया है. अब देखिये, भला, उस कथनके उत्तरमें वह महात्मा क्या कहता है ? वरेप्सु यह कहीं रहे थे, इतनेमें वह धीर साहसी पुरुष मेघके समान गंभीर स्वरसे कहने लगाः—" हे मेरे सुहृज्जनो ! जैसे आंखें शब्दको नहीं देख सकतीं; क्योंकि उन दोनोंका गुण एकसा नहीं है, उसी तरह तुम भौतिक दृष्टिवाले आत्माको नहीं देख सकते. इसीसे ऐसा कहते हो ! क्यों कि यहां जगतमें क्या भय है इसे तुम नहीं जानते. परन्तु जैसे विशुद्ध आदर्श—स्वच्छ आइनेमें स्पष्ट स्वरूप दीखता है, उसी तरह जो अधिकारी हैं, उनकी बुद्धि विकसित होती है, और वे विनाशी तथा अविनाशी—जगत् और आत्माको देखते हैं और वे ही इस भयको जानते हैं. तुम जहांसे पूछते हो कि, कहां जाते हो, वहीं (अपने आत्मप्रदेशको बताकर) यह आत्मा जाता है. जब मैं भयसे ही कांप रहा हूँ तब, अब तुम मुझे 'वीर' 'वीर' ऐसी कोई उपमा न दो. क्यों कि जबसे मैंने सब वीरोंको अपने एक ही पंजेमें पकड़ लेनेवाले सर्वोपरि वीरको देखा है, तबसे मेरे वीरत्वका अभिमान चूर्ण हो गया है, और मेरी सारी वृत्तियोंने धीरज भी त्याग दिया है. इस लिए अब मैं धीर वीर न होकर यह जो तुम देख रहे हो तदनुसार एक पथिक हूँ और पीछे आनेवाले—सामने खड़े हुए—शिरपर झूलते हुए–भारी भयसे बचनेके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ. इस जगतमें एक श्रेय और एक प्रेय है. इस नगरके पुरुषों—जीवोंको, वह प्रेय ही नाना प्रकारके अर्थमें फँसाकर हर्ष पैदा करता है. परन्तु, इसमेंसे जो श्रेयकी शरणमें जाता है उसीका भला होता है. परन्तु जो प्रेयको वरता है वह कुछ भी अर्थ प्राप्त नहीं कर सकता. मैं जानता हूँ कि श्रेय क्या है और इसीसे जो कातरता और भीरुता तुम मुझमें बताते हो, वह स्वयं ही आगयी है. तुम जो कहते हो कि अबतक मैंने तुम्हारा पालन पोषण किया वह सत्य नहीं है. क्यों कि तुम्हारा तो क्या, परन्तु स्वयम् अपना भी रक्षण करनेको मैं समर्थ होता तो बस था. वास्तवमें तो मुझसे तुम्हारा या किसीका भी रक्षण नहीं हो सका. रक्षण उसे कहते हैं जिसके सहारे सदाके भारी भयसे छुटकारा हो. परन्तु, हम सब तो अभी भारी भयमें ही हैं और इसीसे मेरा मन व्यग्र (चिन्तातुर) है. उसे देखकर तुम सोचते हो कि तुम सब मुझे नापसंद (अप्रिय) हो गये हो. जिस भयसे मैं भागता हूँ, उस अनिवार्य भयसे तुम मुझे नहीं छुड़ा सकते; बल्कि उलटा तुम्हारे संगमें मेरा

उस भयमें देखते देखते शीघ्र पड़ जाना संभव है, उस समय हम और तुम दोनों क्या कर सकेंगे? यदि तुम इन सब लोगोंकी तरह अब मेरा कथन मानकर मेरे जैसे बनो तो किसी अंशमें तुम्हारा कथित भविष्यमें सत्य हो सके, क्यों कि मैं इन सबको जहां ले जाना चाहता हूँ, वह स्थान अवश्य सब भयसे छुड़ानेवाला है और वहां जानेसे तुम्हारी भी अवश्य रक्षा होगी और जहां तुम्हारी रक्षा हो वहीं तुम्हें रखूं तभी मैं तुम्हारा वास्तविक रक्षक होऊं. मैं पहले किसी कष्टको कुछ नहीं समझता था, परन्तु जबसे मैंने इस—महासंकटको प्रत्यक्ष देखा कि जिसके कारण मैं भागा जाता हूँ—तबसे सब तरह विक्षिप्त—चित्त हो गया हूँ. शरीरकी यह दशा तो तुम देखते ही हो, पर वैसे ही मनकी भी दशा हो गयी है. तुम जो कहते हो कि किसीके कहनेसे मुझे भ्रम नहीं होता था, यह तुम्हारा कहना असत्य है; क्यों कि, अब तक मैं मोह और भ्रमके ही वशमें था. परन्तु, अब इस मोहभ्रमसे सचेत हो गया हूँ. मेरी भलाई किसमें है यह मैंने प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) देखा है और उसके लिए अब मुझे जो करना चाहिये, उसके लिए बिलकुल सावधान—उद्योगी बन गया हूँ: अर्थात् यथार्थ देखनेसे अब मैं (जैसा तुम कहते हो) भ्रममें नहीं हूँ. इस लिए तुम्हे यदि अपने कल्याणकी कामना हो तो देर न कर, शीघ्र मेरे साथ चलो. अब मुझसे यहां नहीं रहा जाता. इस नगरमें एक पल भी मुझे वर्षसा लगता है. इस लिए तुम्हे चलना हो तो ठीक, नहीं तो बस नमस्कार! जय जय हरि! अब तो मैं अकेले ही जाऊंगा."

ऐसा उपदेश कर, वह रवाना हुआ, तब समस्त लोगोंका समूह भी उसके पीछे चलने लगा. यह देख, वह स्त्री बिलकुल पागलके समान इन करुण स्वरोंसे बोलती हुई उसके पीछे दौड़ी कि—" हे स्वामीनाथ! हे प्रभो! हे महाराज! तुम ऐसे निर्दय क्यों हुए जाते हो? इस गरीब दासी पर कृपा करो. कृपा करो!" वह बालक भी रोते कूटते पीछे दौड़ा. सारे कुटुम्बी लोग भी पीछे दौड़ने लगे. स्त्री तो अनोखा प्रसंग (अपने स्वामीकी विचित्र स्थिति) देख बिलकुल अधीर होकर बड़ोंकी जरा भी लज्जा न कर, उस धीर पुरुषसे लिपट गयी और उच्चस्वरसे रोती हुई करुणायुक्त वचनोंसे विनय करने लगी कि:—"हे महाराज! हे स्थिर-बुद्धिमान्! बिना किसी विकारवाले तुम्हारे दृढ़ मनको यह क्या सूझा है? हे रक्षक! हे प्राण! तुम अपने अतुल पराक्रम और दयालुतासे अगणित जीवोंको

अभय करनेवाले हो, अतः तुम्हें यह क्या अचिन्त्य भ्रम हो गया है ? हे मनस्वी ! (बुद्धिमान्!) आपके समान महान् पुरुषको इस प्रकार हमारा निष्कारण त्याग करना उचित नहीं है; इस लिए कृपा कर ऐसा अनुचित काम न करो.

यह देख, वह धीर पुरुष रुक कर मार्गमें ही खड़ा रहा और बोलाः—" हे स्त्री ! यह कैसा मोह है कि तू अपने जाति–स्वभावके वश हो कर अपना और मेरा दोनोंका नाश किया चाहती है ? जन्मरूप तालावमें पड़ी और चित्तरूप कीचड़में फसी हुई मनुष्यरूप मछलीको फँसानेके लिए दुर्वासना डोर और स्त्री उस डोरमें लगा हुआ मांसपिण्ड (मछलीका भक्ष्य) है. उसमें मुग्ध और बँधा हुआ जीव, तरने तारनेके प्रत्यक्ष साधन होते भी उन्हें नहीं देख सकता, परन्तु विषयमें ही–मायामें ही गिरता है और इस तरह विषयोंमें गिरने–ध्यान लगानेसे, उसमें आसक्ति (संग) होती है, आसक्तिसे काम व्यापता, कामसे क्रोध होता और क्रोधसे संपूर्ण मोह उदय होता है, मोहसे स्मृतिविभ्रम होता और स्मृतिभ्रमसे बुद्धि नष्ट होती तथा बुद्धिके नष्ट होते ही विनाश होता है. इस लोकमें ऐसा विनाश करने-वाली अज्ञान स्त्री ही है. जिसके स्त्री है उसे भोगकी इच्छा है, स्त्री नहीं उसे भोगकी भूमिका ही (रंगस्थल ही) कहां है ? स्त्रीका त्याग करनेसे जगतका त्याग होता और जगतका त्याग होनेसे ही सुख होता है. सच्च-रित्रवती स्त्रीकी आसक्तिसे भी सारे लोग पतित हुए हैं तो विषयासक्त स्त्रीकी आसक्ति (संग)की तो बात ही क्या कही जाय ? सत्कुलवती स्त्रीके साथसे अनेक पुरुष पुरुषार्थ होते भी नष्ट हुए हैं तो मायामें लिपटी हुई स्त्रीका चरित्र कैसा होगा ? युद्धमें शत्रुसे लड़ते समय, मैदानमें चोर मिलनेके समय, बढ़ी हुई (पूर आयी) नदी उतरते समय, घरू व्यवहारके समय और किसी भारी भयमें स्त्री यदि साथ हो तो अपनी रक्षाके लिए उद्यत हुए पुरुषसे ही (अपनी रक्षाकी इच्छासे) लिपट कर उस पुरुषके पुरुषार्थको कमजोर कर देती है जिससे वह बेचारा उपस्थित भयके चंगु-लमें जा पड़ता है ! उसी तरह तुझे भी मैं अब वैसा ही करते देखता हूँ. पर, हे स्त्री ! ऐसा करनेसे तू, तेरे और मेरे दोनोंके आत्माका अनिष्ट करेगी; इतना ही नहीं परन्तु, इस सारे मानवसमाजका भी अकल्याण करेगी. तू मुझे छोड़ दे, जहां जा रहा हूँ, वहां जाने दे. तू शत्रुकी इच्छा पूर्ण न कर. तुझे यदि आते हुए भयसे बचना हो तो व्यर्थ बकवाद छोड़ ऐसी ही चल निकल

और अपने आत्माका कल्याण कर. क्यों कि जो आत्मघाती लोग हैं, वे मरनेके पीछे अंधकारसे पूर्ण असूर्य–स्थानमें जाते हैं, जहां किसी तरहका भी प्रकाश नहीं है. परंतु मैं तो प्रकाशपूर्ण देशमें प्रवेश करने जाता हूँ. तुम सब लोग अज्ञानी हो और अज्ञानी, अश्रद्धावान्, संशयात्मा प्राणियोंका विनाश ही है. यह लोक या पर लोक उनका नहीं है. कल्याणमें संशय करनेवाले आत्माको कहीं सुख नहीं, इससे अधिक और क्या कहूँ ? हे मायाविनी ! तेरे साथ रहनेमें घोर नरकरूप अंधेरेमें पड़नेके लिए रंग रागमें विहारके सिवाय दूसरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता ! परन्तु जब यह विषय बहुकाल पर्यन्त रहनेपर भी अवश्य नष्ट होगा तब प्रथमसे ही मनुष्य उसे साहसी और धीर वीर होकर क्यों नहीं त्यागता ? विषय यदि स्वयं स्वतंत्रतासे जायगा तो मनको अपार कष्ट देता जायगा, परन्तु हम स्वयम् उसे त्यागेंगे तो वह हमें सुखद होगा. जो ज्ञानी है वह जानता है कि, अपना शरीररूप जो विशाल नगर है, वह, एक उपवनकी भांति भोग, मोक्ष और सुखके लिए है, दुःखके लिए नहीं. स्त्रीके संगमें रहना यदि विषयके लिए हो तो वह मेरे नाशका उपाय है. मृग, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमर ये पांच एक एक इन्द्रियके विषयसुखमें लुब्ध होनेसे नष्ट होते हैं, तो फिर प्रमादी मनुष्य पांच इन्द्रियोंसे एक साथ पांच विषयोंका सेवन करनेसे क्यों नष्ट न हों ? अब सब छूटो ! चले जाओ ! मायाका आवरण दूर हो ! यह आत्मा स्वतंत्र है, वह पराधीनताका दुःख नहीं भोगेगा."

यह सुन अपने कुटुम्बियों सहित वह स्त्री फिर पूछने लगी:—"स्वामीनाथ ! परन्तु आपके सिर पर ऐसा कौन भारी संकट आ पड़ा है, जिससे इन सुखके स्थानरूप सुहृज्जनोंसे पूर्ण और आपकी स्वयं सत्तामें रहनेवाले जगन्नगरको, किसी अपवित्र स्थानके समान, एका एक त्याग कर चले जाते हो ?" इसके उत्तरमें वह महात्मा पुरुष बोला:—"अरे ! संकट तो ऐसा है कि जिसका किसीसे निवारण न हो सके । यह संकट सिर्फ मेरे सिर पर नहीं; परन्तु तुम्हारे और सारे नगरके सिर पर दांत लगा कर झूल रहा है." इतना कह कर अत्यंत भय पैदा करनेवाला और प्रत्यक्ष देखा हुआ कालपुरुषका सबका भक्षणरूप महाभीषण कर्म उसने आदिसे अंत तक कह सुनाया और फिर बताया कि:—"मैं भी उस कालपुरुषके मुँहमें जा पड़ा था तो भी पूर्वके किसी शुभ कर्मसे ही मुक्त हुआ हूँ और वहींसे मुझे इस निर्भय पथके अवलंबन करनेकी प्रेरणा हुई है. उस जगद्–भक्ष-

कने मुझे सत्य सत्य वचन दिया है कि, 'अच्युत–पथ' (जिसे परब्रह्म–मार्ग भी कहते हैं) जैसे पवित्र मार्गके आश्रय करनेवालोंको मेरा कोई भय नहीं रहता, क्यों कि यह मार्ग कभी भी नाश न होनेवाले परमसुखरूप अच्युत-पुरका है. उस पुरमें जो जा बसता है, वह विनाशी नहीं होता. इस लिए हे कुटुम्बी जनो ! ऐ इस लोकमें मोहप्राप्त क्षुद्र–नाश होनेवाले जीवो ! महापुण्यरूप धन देकर यह शरीररूप नाव खरीद की है, वह जब तक नहीं टूटती, तब तक उसके द्वारा भवरूप दुःख–दरिया पार करलो."

इस तरह महात्माके मुँहसे कालपुरुषका भयंकर समाचार सुन उसके सब सुहृज्जन भयभीत हो गये. उनमेंसे कई तो जैसे खड़े थे वैसे ही उसके साथ जानेको तैयार होगये और कई रास्तेमें खानेका आवश्यक सामान आदि लेनेकी दौड़ धूप करने लगे. परन्तु अनेक माया, ममता और क्षणभंगुर भोगमें लिप्त हुए प्रमादी कहने लगे कि:—"हाय मेरी स्त्री ! हाय मेरा धन ! हाय मेरा पुत्र ! हाय मेरा घर ! अरे ! अकस्मात् इन सबको इस तरह त्याग कर कैसे निकला जा सके ? जो होना होगा सो होगा, परन्तु इस तरह एकाएक नहीं जायँगे. यह काल और त्रास क्या है ? यह सब भ्रम–मात्र है ! !"

इस तरह अनेक जीव कालकी बलि होने और अनेक योनियोंके भारी दुःख भोगनेको वहीं पड़े रहे. क्यों कि वे आत्मघाती थे. नीच जन्म ले अविकल (पूर्ण) इन्द्रियोंको प्राप्त कर, जो आत्महित नहीं जानते, वे आत्मघाती हैं. ऐसे आत्मघाती लोग, शरीरके रहते तक ज्ञान प्राप्त करनेको अशक्त हैं और इससे अनंतकालतक शरीर धारण कर दुःख ही भोगा करते हैं. ऐसे ही अनेक लोग उस जगन्नगरमें पड़े रहे, परंतु शेष सब पथिकों सहित वह धीर पुरुष उनके आगे आगे रास्ता बतानेवालेके समान श्रीअच्युतपुरपतिके नामकी जयध्वनि करके वहांसे चलने लगा. यह महायात्रा देखनेकी इच्छासे दूसरे अगणित लोगोंकी भीड़ वहां एकत्र थी. वे लोग भी वहांसे पीछे न फिर कर, उनके साथ ही चले, इस इच्छासे कि देखो तो सही, ये कहां जाते और क्या करते हैं ! इस पुरकी यात्रा ऐसी गंभीर और भव्य दीखती थी कि उसे देखकर उसका मतलब जाने विना भी, अनेक सरलस्वभावके पुरुष द्रवित होकर उसके साथ हो लिये. रास्तेमें बारबार अच्युत प्रभुकी जयकी गर्जनाएं होती जाती हैं, उन्हींके साथ वह महात्मा, पथिकोंसे कह रहा है कि:—"चलो, शीघ्र चलो," इस तरह

अनेक गली, कूचे, सड़कें और राजपथ पार करते जाते हैं. ज्यों ज्यों जन-समूह आगे चलता जाता है त्यों त्यों आसपासके मुहल्लोंसे असंख्य लोग सत्संग करने या कौतुक देखनेके लिए उसमें मिलते जाते हैं.

इस तरह संध्या होने लगी. विमानस्थित लोगोंके संध्यावंदनका समय हुआ. वे गुरुदेवकी ओर देखने लगे. उनकी इच्छा जान कर गुरु महाराजने कहा:—" पवित्र जनो ! संध्यासमय होने लगा है, इस लिए तुम सब एकाग्रचित्तसे अपना उपासना—कर्म करके फिर शीघ्र तैयार हो जाओ. क्यों कि ये अच्युतपथमें जानेवाले पथिक क्या करते हैं यह तो अच्छी तरहसे अभी ही देखना है. देखो, संध्या होने लगी इस लिए अँधेरा होनेके भयसे वे अब शीघ्र जा रहे हैं. व्यावहारिक दृष्टिसे देखते यह नियम बिलकुल विपरीत है ! किसी दूर स्थानसे आनेवाला पथिक गांव पास दीखता हो तो अँधेरा होनेके भयसे गांवमें जल्द पहुँच जानेके लिए शीघ्र दौड़ता है, परन्तु ये पथिक शहरसे निकल जानेके लिए शीघ्रतासे दौड़ रहे हैं. यही इस अच्युतपथकी विलक्षणता है ! " फिर पुण्यजन तुरंत खड़े हुए और गुरुदेवके नामकी जयध्वनि कर संध्योपासनके लिए चले गये.

पुरद्वार—दर्शन.

नियमके अनुसार सायंकालकी संध्या, हरिकीर्तन, गुरुवंदन इत्यादि नित्यकर्मसे अवकाश पा, सब समाज इच्छानुसार अमृत पीकर, फिर पथिकोंकी यात्रा और नगरके अवलोकनके लिए तैयार हुआ. जो विमान अब तक आकाशमें स्थिर था वह इन पथिकोंके ऊपर आकाशमें आ खड़ा हुआ. वरेप्सु महाराज खड़े हुए और गुरुजीको प्रणाम कर कहने लगे; " अहो ! कृपानाथ ! ये पथिक तो इतनी देरमें बहुत दूर आगये. ऐसे अँधेरेमें भी अभी वे दौड़े ही जाते हैं. उनमेंसे अनेक तो थकसे गये हैं तो भी अँधेरे, पीछेके भय (काल पुरुषके सपाटेमें आजाने और मायामें पड़ने) और बराबर उस सत्साधक (उस धीर महात्मा—अब हम उसे सत्साधक कहेंगे)के ज्ञान कराने और ऐसे अनेक कारणोंसे, वे ज्यों त्यों कर भागे जाते हैं. अब यह देखना है कि इस तरह ये कहां तक जायेंगे." यह सुन, वामदेवजी बोले:—" राजा, हमें तो सिर्फ एक दृष्टिसे देखते ही रहना है, परन्तु मुझे मालूम होता है कि अब वे एकाध स्थानके पास जा पहुँचना चाहते हैं. देखो, वह परार्थकुशल सत्साधक उनसे कुछ कहनेको

खड़ा है. वह क्या कहता है, उसे सुनो." सब शान्त हो उसकी ओर कान लगाकर सुनने लगे.

वह मुमुक्षु सत्साधक बोला:—"हे पुण्यवान् मनुष्यो! (क्यों कि तुम महाभयसे मुक्त होनेवाले मार्गमें आरुढ़ हो, इस लिए पुण्यवान ही हो) हे मुमुक्षुओ! हे अच्युतपुर प्राप्तकरनेकी कामनावाले प्राणियो! देखो, यह अँधेरा हो गया. हम लोग बहुत समयसे चले आते हैं, इससे मैं सोचता हूँ तुम सब थक गये होगे. परंतु घबराना नहीं, अब हम लोग एक निर्भय स्थानके समीप आ पहुँचे हैं. वहां हमें बहुत अच्छा और सुन्दर सुभीतावाला स्थान ठहरनेको मिलेगा. देखो! हम लोगोंकी दृष्टिके सामने बड़ा दरवाजा है, वह क्या तुम्हें दीखता है?" तब सब लोग बोले:—"नहीं हमें तो अँधेरेमें कुछ भी नहीं दीखता. सिर्फ एक दियेके समान कुछ प्रकाश ही दीखता है." सत्साधक बोला:—"वही उस दरवाजेकी निशानी है. अब वह यहांसे अधिक दूर नहीं है. इससे थोड़े समयके लिए धैर्य न छोड़ तुम सब धीरे धीरे मेरे पीछे चले आओ. यह दरवाजा इस दुःखदायी नगरका महाद्वार है. इसे पार किया कि उस ओर इस विस्तीर्ण नगरीकी सुशोभित भूमि मिलेगी. वहां हमें फिर उस क्रूर कालका उतना डर नहीं रहेगा जितना यहां है." यह सुन सब लोग, ज्यों त्यों कर शीघ्रतासे उसके पीछे चलने लगे. थक जानेपर फिर थोड़ा भी चलना कठिन हो जाता है इससे ज्यों ज्यों वे चलते जाते त्यों त्यों मानो रास्ता और बढ़ता ही जाता है. कई निर्बल शरीरवाले* तो थकावटसे हैरान और धैर्यच्युत हो गये. वे अब आगे चलनेका विचार छोड़ने लगे! बहुतसे लोग जो विना पूछे, देखा देखी ही सबके साथ चल निकले थे, ऐसे अँधेरे और थकावटका अनुभव कर, वहींसे लौटनेका निश्चय करने लगे. दूसरे सरल, शुद्ध और दृढ़ मनवाले सत्साधकके वचनों पर भरोसा रख परस्पर कहने लगे. कि अपना कल्याण चलनेमें ही है. इतनेमें वह सत्साधक महात्मा फिर खड़ा हुआ और लोगोंसे हाथ फैला कर कहने लगा:—"अरे सौभाग्यशाली जनो! अब तुम सब सुखी हो, और सदाके लिए हम सबको अभय देनेवाले अच्युत प्रभुकी एक वार जयध्वनि करो." लोगोंने तुरंत ही एक साथ अच्युत प्रभुके नामकी भारी जयध्वनि की. इसके बाद वह फिर बोला:—

---

* न्यून श्रद्धावाले.

" इस तरह हम लोगोंके आनन्दित होनेका क्या कारण है, यह तुम सबने तो समझा ही होगा. जैसे चित् (स्वयं प्रकाशित ब्रह्म) अपने भान (ज्ञान)के निर्वाहके लिए समर्थ है, भेद जैसे भेदके निर्वाहके लिए समर्थ है, उसी तरह अपने पराये निर्वाहके लिए समर्थ, असंभवको भी संभव करनेवाली कल्पना करनेमें कुशल–इस माया–जो विभ्रमसे मोह पैदा करती है–के मोहसे हम लोग अब मुक्त हुए हैं. यह महामाया ज्ञानीके भी चित्तको बलात्कार (जबर्दस्ती) खींचकर महामोहमें डाल देती है, तो फिर हम अज्ञ जीव किस गणनामें हैं ? देखो ! इस मायासे छूट कर बड़े बड़े कष्टोंके अंतमें अब हम इस पवित्र और स्वतंत्र स्थानमें आ पहुँचे हैं. यही इस पुरका द्वार है. यही इस दुःखरूप जगन्नगरसे मुक्त होनेका सच्चा द्वार है. यही परम सुखरूप अच्युतपुरको जानेवाले मार्गका मुख है ! इससे इसके नाम भी अनेक हैं." यह सुन बहुतसे उस पुरके द्वारको जो स्वयम् अति सुंदर प्रकाशमान होते भी मध्यमें प्रकट हुए ज्ञानदीपसे सुप्रकाशित था, देखकर बोल उठेः–" हां, हां, महाराज ! इसके ऊपर जो बड़े बड़े सुवर्णाक्षरोंमें लिखा है वह उसका नाम ही होगा, क्यों भला ! अनेक रत्नोंसे जड़े हुए इन स्वर्णाक्षरोंमें तो और भी बहुत कुछ लिखा है. उस पर दीपकोंका प्रकाश पड़ने और उन रत्नोंके कारण, ऐसा मालूम होता है मानो वे रत्न भी अनेक दीपक हों, इस तरह उनका भी प्रकाश जगमगा रहा है." इस तरह बातें करते हुए सब पवित्रात्मा उस महाद्वारके सामने आकर खड़े हुए और एक ही साथ उन स्वर्णाक्षरोंको पढ़ने लगे. उस दरवाजेके सबसे ऊपरी भागमें बहुत बड़े अक्षरोंमें लिखा था:—

॥ अच्युतपथद्वारमिदम् ॥

अच्युतस्य पथद्वारं जगन्नगरवासिनाम् ।
विनाशभयमोक्षाय निर्मितं ब्रह्मणा स्वयम् ॥
स्वतन्त्रं सुखदं श्रेष्ठं रम्यं सत्साधनाकरम् ।
जन्मानेकार्जितं पुण्य–फलरूपं सुदुर्लभम् ॥
तत्प्राप्य तु वहेद्वृत्तिं धार्मिकीं कर्म चेदृशम् ।
लभतेऽच्युतमार्गं तु भगवत्कृपया नरः ॥
लब्ध्वापि तत्कचिन्मूढा अन्यथावृत्तिमाश्रिताः ।
न सत्पथं न सौख्यं ते न पुनर्द्वारदर्शनम् ॥

(भावार्थ—दोहा)

अच्युतपथका द्वार यह, जगन्नगर–जनकाज ।
विनाशभयसे छूटकर, पावनको सुखसाज ॥ १ ॥
ब्रह्मदेवने ही रचा, धर कर हिय अति हेत ।
सुखद स्वतंत्र सुरम्य वर * साधन–सर्व–निकेत ॥ २ ॥
जन्म–जन्म–कृत–पुण्यफल, पै दुर्लभ यह गेह ।
करहु प्राप्त शुभ कर्म कर, धरहु धर्मपर नेह ॥ ३ ॥
ईशकृपासे ही अहो, अच्युतमार्ग दिखाय ।
या मारगसे जायकर, अच्युतपुर पहुँचाय ॥ ४ ॥
मूरख जन आवे यहां, मन खींचे तहँ जाय ।
मनानुगामी होय वह, खोवे सर्व सहाय ॥ ५ ॥
अच्युतपथसुख ना मिले, पुनरागम यहँ नाहिँ ।
जगन्नगरमें भटकता, परै कालमुखमाहिँ ॥ ६ ॥

वे पवित्रात्मा इस तरह द्वारके लेखको पढ़ ही रहे थे इतनेमें सत्साधक बोला:—“ हे भाविक पथिको ! यह महाद्वार ऐसी महत्तावाला है, और सारे नगरके लिए सिर्फ एकही है † दूसरे छोटे बड़े अनेक दरवाजे हैं सही, परंतु वे अधम, परम दुःखरूप, अँधेरेमें पड़े हुए तथा ऐसे हैं जिनसे हो कर निकलना कठिन है. इस लिए जगन्नगरके शिर पर पड़े हुए अपार दुःखोंसे हैरान और कालपुरुषके भयसे भीत होकर लोग अज्ञानवश इधर उधर अनेक दरवाजोंमें भटकते फिरते हैं; परंतु जब किसी जगहसे भीतर नहीं जा सकते तब बारबार थक कर जोरसे प्रार्थना करते हैं कि:—“हे प्रभो ! कृपा कर इससे एकवार मुक्त करो ! यदि आप एकवार अवकाश दें तो यहांसे तुरंत छूट कर मैं आपके मार्गमें चला जाऊं. इस तरह अंतःकरणसे अनेकवार की हुई प्रार्थनासे दयालु प्रभु किसी समय ऐसा संयोग ला देते हैं जिससे इस पवित्र महाद्वारके दर्शन हो जाते हैं. इस प्रकार महाकष्टके अंतमें इसके दर्शन होने पर भी, जो जीव पूर्ण सावधानीसे तुरंत उससे हो कर नहीं निकल जाता वह फिर भुलावेमें पड़ता है और इस तरह अनाकानी करते द्वार बंद

* श्रेष्ठ. † यह महाद्वार मानुषी देहमें होनेवाला प्रथम ज्ञान है. वह मोक्षका कारण रूप परब्रह्मका निष्काम भक्तिज्ञान है. पुरद्वारका प्रथम दरवाजा, प्रारंभिक ज्ञान–अर्थात् हरिका भजन करना और उससे मुक्त होना अर्थात् संसारके रागद्वेषसे छूटना है ।

हुआ कि बस ! फिर सदाके लिए उसके भाग्यमें दरवाजे दरवाजे भटकना रह जाता है. परंतु ऐसा होनेसे क्या ईश्वर भी उसकी प्रार्थना नहीं सुनता ? नहीं, वह परम दीनदयालु है इस लिए अनेक दुःखोंके अंतमें इसे दुःखी देख इस पर दयादृष्टि कर फिर भी किसी समय ऐसी व्यवस्था कर देता है. ऐसा होने पर भी यदि वह अविद्याश्रित जीव फिर भूलता है तो उसकी बलि ही है. हे सौभाग्यशालियो ! ऐसे अनेक कष्टोंके अंतमें, यहां तक आनेकी यह सारी व्यवस्था हमें भी उस प्रभुकी दयासे ही प्राप्त हुई है. इस लिए अब हमें विलंब और आलस्य क्यों करना चाहिये ? मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम सब बिना विश्राम, बहुत समयसे धूप और अँधेरेमें आ रहे हो और इससे बिलकुल थक गये हो; परंतु अब थोड़े समयके लिए घबराना ठीक नहीं. इस लिए सब एकबार ज्यों त्यों कर खड़े हो और मैं जो प्रार्थना करूं उसे अच्छी तरह ध्यानमें रख कर मेरे पीछे पीछे आओ. तुम सब शरीरकी रक्षा करना चाहते हो, परंतु वैसा करके यदि तुम अपने आत्माके कल्याणकी कामना करोगे तो वह लकड़ीके धोखे मगरमच्छपर बैठकर नदी पार करनेके समान होगा. इस लिए अब शरीरकी माया छोड़ो और स्वयं ही आत्मबलको देख कर चलो. यह दरवाजा जितना सुन्दर है उतना ही इसका मुँह चौड़ा है. इसमें अनेक भूलभुलैयां और आड़े सीधे दरवाजे तथा खिड़कियां हैं; इसी तरह सोने, बैठने और रंगराग करनेके लिए इसमें अनेक सुभीते और सब सुखके साधन भी हैं. इसमें प्रविष्ट होनेपर जिस प्रकृतिका मनुष्य जैसा सुभीता चाहे वैसा सब अनायास मिल सकता है. परंतु उनमेंसे हमें किसी भी वस्तुका उपभोग करना नहीं है. हम थके हैं, भूखे हैं. रात भी अधिक गयी है, परंतु इससे यदि कुछ देर भी विश्राम करनेको बैठेंगे तो शीघ्र उठनेकी इच्छा न होगी. इतनेमें यदि द्वार बंद हो जाय * तो फिर सभी खो बैठोगे—सारा प्रयत्न पानीमें मिल जायगा. क्योंकि उस कृतान्तकाल पुरुषकी हांक यहां तक सुन पड़ती है और उसके लम्बे हाथके धक्केसे पलभरमें दरवाजेके किवाड़ धड़ाधड़ (अकस्मात् मृत्युसे) बंद हो जाते हैं; इससे उसका भय भी हो जायेगे. ऐसा आराम करनेमें दरवाजे बंद हो जायँ तो हम लोग, उस

* इतनेहीमें तरकर पार करनेके पूर्व ही मृत्यु हो और फिर जीव, कालान्तरमें लिंगदेह तो फिर तरने—मुक्त होनेका उपाय हाथमें नहीं है ।

पार नहीं जा सकेंगे और इस प्रकार एकबार हाथमें आया हुआ अवसर चूक जानेसे फिर न जाने कब दांव आवे और तब यही फल मिलेगा कि हम लोग अचिन्त्य विडम्बनामें जा पड़ेंगे. इस लिए मैं फिर भी कहता हूँ कि, सज्जनो ! तुम खूब सावधान रहना, चाहे जैसे खाने, पीने, सोने, बैठने, पहरने, ओढ़ने, देखने, सुनने, लेने, खेलने, खाने, स्वीकार करने, हँसने, बोलने और आनन्दित होने आदि अनेक प्रकारके सुख, अनायास चाहे जितने मिलें तथापि तुम उनमें लुब्ध न होना. यदि लुब्ध हुए तो पछताना पड़ेगा और हमारा साथ भी छूट जायगा. क्यों कि कर्मसे प्राणी बंधनमें पड़ता है और यह कर्म चित्तकी शुद्धिके लिए है, वस्तुप्राप्तिके लिए नहीं. हमें बंधनमें पड़ना नहीं है, परन्तु वस्तु प्राप्त करना है. भोगेच्छा मात्र बंधन है और उसका त्याग मोक्ष है. इस लिए इस भोगका त्याग करना श्रेयेच्छु प्राणीका आवश्यक कर्तव्य है. चित्त ही इस अर्थमात्रका कारण है. चित्तसे मानने पर ही यह त्रिगुणात्मक जगत् है, किन्तु चित्तके क्षीण होनेसे जगत् क्षीण होता है, इस लिए प्रयत्नद्वारा चित्तको स्वाधीन करना चाहिए. उसके लिए भोग और देहकी वासना त्याग देनी चाहिए, फिर भाव और अभाव दोनोंको त्याग निर्विकल्प हो कर सुखी होना चाहिए. लोकप्रेम, शास्त्रप्रेम या देहप्रेमसे जीवको यथार्थ ज्ञान (कल्याण) नहीं होता, इस लिए इन सबको त्याग देना चाहिए. कोई कहेगा कि मैं समर्थ हूँ, परन्तु वहां तो मैं और तू है ही नहीं, और न भाई और मित्र, माता और पिता ही हैं. यह तो सिर्फ उपाधिभेद है. इस सृष्टिमें जैसे मिट्टी, लोहा आदि पदार्थ रूपान्तर–भेदके कारण भिन्न भिन्न कहे जाते हैं, परन्तु वे सब वाणीकल्पित भेद हैं, उसमें वास्तविक भेद कुछ भी नहीं है; उसी प्रकार ये सब प्राणी भी कुछ नहीं हैं. ये तुम्हारे समान ही हैं. इसलिए इस स्थानमें चित्तको ही स्थिर करना है. वारबार ध्यानपूर्वक इसपर प्रयत्न करने पर भी चित्तज्ञ–चित्तको जाननेवाला, शुद्धता–योग–युक्तात्मता विना मनको वश नहीं कर सकता. ऐसी दशामें पलभरमें ही चित्तको पराजित करना तुम्हारे लिए कठिन है. यह चित्त तो अत्यंत कष्टसे अधीन होता है. जैसे दुष्ट हाथी अंकुश विना अधीन नहीं होता वैसे ही चित्त भी तत्त्वज्ञानरूप अंकुश विना अधीन नहीं हो सकता. इस चित्तको वश करनेके साधनोंमें, अध्यात्मविद्याज्ञान, साधुसंग, वासनाका त्याग, प्राणगतिका निरोध (प्राणायाम) आदि महान् युक्तियां करना आवश्यक हैं, तो भी जो हठ या

ममतासे अन्य प्रकारसे मनको नियमित रखनेका प्रयास करते हैं, वे दीपकको औंधाकर, अंजन लगा अंधकारको दूर करनेकी इच्छावाले अविद्यायुक्त अज्ञ प्राणी हैं. इतना तो असंदिग्ध ही समझना चाहिये कि जिसकी भोगलिप्सा दिनोंदिन क्षीण होती है उसी सुन्दर मतिवालेके विचार सफल होते और उसीका कल्याण होता है. अब तुम सब लोग शुद्ध और दृढ–चित्त होकर धड़ाकेसे मेरे पीछे ही पीछे चले आओ. थोड़ी देरका काम है. घड़ी दो घड़ीमें तो हम लोग इस बड़े विस्तारवाले महाद्वारको लांघकर बाहर ही जा रहेंगे. चलो, तैयार हो जाओ. कृपासागर अच्युत प्रभु हमें इन सारी आपत्तियोंसे मुक्त करेंगे." ऐसा कह, तुरंत अच्युत प्रभुके नामकी जयध्वनि करा कर उस महात्मा पुरुषने सारे संघ सहित पुरद्वारमें प्रवेश किया.

ऐसा होते ही, अब तक ये सारे कृत्य एकाग्रतासे देखनेवाले वरेप्सु महाराज और दूसरे विमानस्थ लोग, गुरु वामदेवजीसे कहने लगे:–"हे दयालु! अब क्या करें? अब वे भीतर क्या कर रहे हैं यह हम लोग कैसे देख सकेंगे?" वामदेवजीने कहा:–"यह बात मेरे ध्यानमें है इस लिए चलो हम लोग जरा नीचे उतरें और द्वारके समीप जाकर खड़े रहें." सबको आश्चर्यमें डालते हुए एकाएक विमान इस तरह नीचे उतरा जिसका वर्णन नहीं हो सकता. वह आकाशमें उस स्थान पर स्थिर हुआ जहांसे उस महाद्वारके भीतरका सब कृत्य अच्छी तरह देख पड़े. यह अद्भुत विमान दिव्य होनेसे प्राकृत प्राणियोंकी नजरमें न आता था, इस लिए वह इतना नीचे आया तो भी उसे जमीन परसे कोई नहीं देख सका. फिर सब पुण्यात्मा जन एकाग्र मनसे द्वारकी ओर दृष्टि कर शान्त हो कर बैठे.

द्वारांतःप्रवेश (दरवाजेके भीतर प्रवेश)।

महात्मा सत्साधक जगन्नगर शीघ्रतासे पार कर जब उस महाद्वारसे हो कर चलने लगा तो उसने आस पासके सुखसाधनों या वैभव विलास अथवा उसकी अत्यंत अद्भुत रचना पर जरा भी ध्यान नहीं दिया. उसने पीछे फिर कर यह भी नहीं देखा कि उसके वे अनुयायक उसी शीघ्रतासे आ रहे हैं या नहीं. अधिकारी पुरुष पदार्थ–प्राणीमात्रको साक्षात् अपने आत्माके समान अनुभव करते हैं और उस अवस्थामें उन्हें न भ्रान्ति उत्पन्न होती, न चित्तकी व्याकुलता ही होती है. क्योंकि शोकमें कलहादिका कारण जो भेदबुद्धि है, वह उनमें दूर हो जाती है–वे उससे मुक्त

हो जाते हैं. जब प्रत्यक्ष अनुभव करनेवालेको सब आत्मरूप दीखते हैं तब ऐसी अभेद-दृष्टिवालेको क्या शोक और क्या मोह हो? सत्साधक जगन्नगरके परम कष्ट और कालपुरुषके नित्यके भय-त्राससे सदाके लिए मुक्त होनेका अमूल्य प्रसंग जानता था और यह भी जानता था कि पल भर भी जरासी भी अविद्यामें फँस जानेसे जो प्रसंग निकल जायगा वह प्राप्त होना दुर्लभ है. ऐसे दुर्लभ प्रसंगको सहज ही न खो कर जैसे बने उस द्वारके बाहर निकल जायँ यह सोच वह अपने मनको मजबूत कर दृढ़ निष्ठासे चला जाता था तो भी वह बारबार भोले भाले अनुयायियोंको सूचित करता था कि:-"हे जिज्ञासुओ! चलो, शीघ्र चलो, थोड़ी देर तक टेढ़ा मेढ़ा कुछ न देख, सामने नजर रख कर चलो. कानोंमें दो हाथ दाब और मनको थाम कर दृढतापूर्वक मेरे पीछे चले आओ. किसीमें लुभाना नहीं, किसीसे लिपटना नहीं और थोड़ेके लिए थकावटसे घबराना नहीं. परिश्रम सहन न हो सकता हो तो अंतमें हम लोगोंकी रक्षा करनेवाले समर्थ अच्युत प्रभु-परब्रह्मका ही मुखसे नाम स्मरण करते आओ. एकबार द्वारको लांघ कर हम कुशल—पूर्वक बाहर निकल जायँ तो मानो जग जीत लिया, कृतार्थ हुए और सब काम कर लिये. जो जितेन्द्रिय और वैराग्यवाले हैं, वे ही भीतर बाहरके विषयोंका त्याग कर सकते हैं और यह त्याग तभी होता है जब मोक्षकी इच्छा होती है. यदि तुम्हें मोक्षकी इच्छा हो तो हे विचक्षणो! याद रखो कि इस जीवको मुक्तिरूप बड़े महल पर चढ़नेके लिए वैराग्य तथा बोध पंख हैं और जैसे पक्षी दो पंखों विना नहीं उड़ सकता, वैसेही तुम भी इन दोके विना नहीं चढ़ सकोगे." इस लिए वैराग्यको दृढ़ कर रखो. इस द्वारमें रहनेवाले विषयादि बाह्य पदार्थोंका अनुसंधान (खोज) एकसे एक अधिक दुष्ट वासनारूप फल देनेवाला है, इसलिए विवेकसे समझ, बाह्यपदार्थों-भोगोंका त्याग कर अपने स्वरूपकी खोज करनेमें ही सफलता है. बाह्यपदार्थोंकी ओर जाती हुई दृष्टिको रोकनेसे, मन पवित्र होता है. मन पवित्र होनेसे अच्युत-परमात्माका योग्य ज्ञान होता है. योग्य ज्ञान होनेसे बंधनरूप माया छूटती है. मायासे मुक्त होने पर अपने स्वरूपका बोध होता है और स्वरूपानुसं-

---

१ विज्ञान भक्ति पूर्ण करनेमें प्रारंभकी जो दृढ श्रद्धा है उससे विचलित होनेका जो भय वही यह है।

धानसे तर जाते हैं. इस लिए हे भाग्यवान् पथिको ! अपने बहुकालीन सारे परिश्रमका फल यही है कि एक बार हम लोग कुशलता पूर्वक इस पुर-द्वारसे हो कर बाहर निकल जायँ. ”

इस प्रकार कहता हुआ वह महात्मा सपाटेसे चला, तब अनुधावक (पीछे चलनेवाले) भी वैसी ही शीघ्रतासे चलने लगे. जैसे उनकी संख्या अत्यधिक थी वैसे ही उस द्वारका विस्तार भी कुछ कम न था. वह इतना विशाल था कि उसमें ऐसे ऐसे अनेक समूह समा सकते थे. उससे हो कर निकलते समय दाहिने वांयें दोनो ओर अनेक प्रकारके सुन्दर आसन रखे थे. कहीं सुकोमल मखमलकी गद्दी तकिया बिछे हुए थे. कहीं अतलस और मशरूकी गद्दीवाले सुन्दर पलँग पड़े थे. कहीं कोच और कहीं हिंडोले, कहीं कुर्सी और सिंहासन आदि पड़े हुए थे. इन बिछे हुए किन्ही किन्ही आसनोंके पास निर्मल जल, दूध,ईखका रस आदि पेय पदार्थ; कहीं मेवा मिठाई आदि भक्ष्य पदार्थ और कहीं इत्र, अर्गजा, चंदन, पुष्पादि सुगंधित पदार्थ तैयार थे, और ये सब इस प्रकार सजा कर रखे गये थे कि विना श्रम उन आसनों पर बैठनेवालोंके उपयोगमें आ सकें. रातका समय था तो भी इस विशाल और अद्भुत आश्रयस्थानके समान पुरद्वारमें, जगह जगह पर ऐसी दिव्य मणियां जड़ी थीं, मानो वहां पर असंख्य दीपक जल रहे हों और ऐसी दीखती थीं, मानों उस समय रातका दिन हो गया हो. ऐसी आकर्षक रचनाके मध्य होकर जाना था. सब पथिक दिनभरकी दौड़ा–दौड़से थक कर बिलकुल लोट–पोट हो गये थे, भूख और प्यास भी कुछ कम न लगी थी, रात अधिक बीतनेसे कइयोंकी आंखोंमें निद्रा देवी भी चढ़ बैठी थी और लगातार जँभाई, आ रहीं थीं. इस प्रकार नींद, भूख और दुःख, तीनोंके भारसे दबे हुए पथिकोंमेंसे विरले ही आगे जाना चाहते थे. सिर्फ अपने नायक सत्साधककी बारबारकी सूचना और साह-सके कारण ही सब पीछे लगे जा रहे थे. परन्तु, इस तरह कहांतक चलें ? यह महापुरुष चाहे जैसी शीघ्रता करते और चाहे जैसी चितावनी देते चला जाता था, तो भी क्या हुआ ? इस संघमें ऐसा विरला ही था जो ऐसी स्थिर मनोवृत्तिवाला हो कि आसपास निगाह ही न डाले. और, उस सुखस्थानमें नजर डालते ही मन सहज ही ललक जाता था. सारा समाज जोर भर जा रहा था, उसमेंसे अनेक लोग आसपास देख कर ललचाये और मार्गमें ही पड़े हुए आसनों पर ‘ हाश ! ’ कह कर झटसे बैठने लगे. बैठनेवालोंने सोचा अभी

अधिकांश समाजके लोग पीछे हैं, उनके पहुँचते तक जरा विश्राम लेनेको बैठेंगे तो क्या होगा ? अभी उठ कर उनके साथ हो लेंगे. ऐसा सोच कर कोई सुकोमल गद्दी तो कोई शय्या, कोई पाटे, कोई चौकी, कोई पलंग, तो कोई कालीन पर बैठ इधर उधर लोटने लगे. कोई जल पीने लगे और कोई तो मेवा मिठाई भी उड़ाने लगे. ऐसा देख संघके अनेक लोगोंने उन्हें मना किया कि " भाइयो ! तुम यह क्या करते हो ? ये पदार्थ हमारे या हमारे बापके नहीं है, इन्हें लेनेको क्यों तैयार होते हो ? फिर, हां नहीं करते अभी यह संघ निकल जायगा और तुम यहीं रह जावोगे. वह महापुरुष बारंबार क्या कहता जाता है और अपने लिए कितने प्रयत्न करता हैं, उन्हें क्या तुम नहीं समझते ? जहरके समान विषयोंकी आशाको काट डालो, क्यों कि यह आशा ही मृत्युका पाशरूप है. अरे ! तुम जानते नहीं कि, दृश्य पदार्थ कल्पित हैं ऐसा वस्तुतत्त्वज्ञ कहते हैं और इसीसे न उनमें अच्युतका अंश है और न अच्युतमें उनका अंश है. ऐसा होने पर भी इन दृश्य पदार्थोंमें मोह क्यों करते हो ? " ये वाक्य पूर्ण होते ही उनके उत्तरमें रास्तेकी दोनों ओरसे बहुत मिष्ट और मानपूर्ण शब्द सुनाई दिये कि:—" हे सज्जनो ! हे सत्पथगामी जनो ! डरना नहीं और हमारे स्वागतका अनादर न करना ! यह सारी व्यवस्था तुम्हारे समान आने जाने वाले पथिकोंके लिए ही की गयी है. कुछ हानि पहुँचानेके लिए नहीं है. इस लिए जब तक चाहो इसको उपयोगमें लाओ, पीछे आरामसे अपने अपने रास्ते चले जाना; यहां कोई रोकनेवाला नहीं. तब इन पदार्थोंपर तुम्हारा ही स्वत्व है, मौज करो, वापरो, उड़ाओ ! भोगो. " यह सुन कर तो सबको आश्चर्य हुआ ! इससे वे दोनों ओर बारीकीसे देखने लगे. जहां तक नजर पहुँच सकती थी, वहां तक इस विस्तृत प्रदेशमें अनेक विलासभवनोंके समान रचना बनी थी. जगह जगह इसमें पथिकोंके लिए अनेक निवासस्थान बने थे और उनमें काम काज करनेवाले स्त्री पुरुष पथिकोंसे इसी तरह आदर पूर्वक विनय किया करते थे. पथिक उनकी ओर देखने लगे, तब अनेक हाव भावसे वे मार्ग पर आकर आग्रह करने और कहने लगे कि:—" हे भाग्यवंतो ! तुम किसका भय करते हो ? इसमें क्या कोई चीज तुम्हें दुःख देनेवाली है ? भूख, प्यास, परिश्रम, खेद आदि सबको दूर करनेके बाद अनेक आनन्द देनेवाले पदार्थ यहां तैयार

हैं. हम स्त्री–पुरुष–युक्त सारे संसृतिदायी वर्ग अपने नियंता दैवदायीकी आज्ञासे, तुम्हारी सेवाके लिए नियत हुए दैव—प्रेरी हैं. इस महाद्वारका जो द्वारपाल है वह अपने इस अधिकारसंबंधी अनेक काम काजके लिए प्रायः उपस्थित ही रहता है. उसने हमें यह काम करनेकी आज्ञा दी है.

इस प्रकार कहनेवाले संसृतिदायियोंमेंसे किसी स्त्रीके हाथमें सुन्दर वीणा सुशोभित थी, कोई पुरुष वेणु (वंशी) से मधुर गान कर रहा था. कोई स्त्री शीतल जलपात्र लेकर खड़ी थी, कोई पुरुष पंखा लिए घूम रहा था. कोई स्त्री प्रेम प्रदर्शित कर हृदयका प्रेम दिखाती थी, तो कोई नेत्र चला-कर पास बुलाती थी. इन अनेक साधनोंसे पूर्ण स्त्री पुरुषोंको देखते ही, अनेक पथिक अपना भान भूल गये. कई उनके कथन पर मुग्ध हो गये और विचारने लगे कि–' चिन्ता नहीं, अभी उठ जायँगे, ' ऐसे विचारसे झटपट विश्रामके लिए बैठने लगे. यह देख पहलेसे बैठनेवाले अधिक निश्चिन्त हो कर लेटने तथा लोटने लगे और जो पड़े हुए थे वे आंखें बंद करने लगे. अनेक, खाने पीनेमें भूल गये, कई रंग राग और गानतानमें लीन हो गये. अनेक उन सुन्दर स्त्रियोंसे मीठी मीठी बातें करने लगे. अनेक लोग वहां फिरनेवाले मस्त नौकरोंसे शरीर दबवा कर हल्का करने लगे और कई स्त्री पुत्रको प्यार करने लगे. इस तरह असंख्य पथिक, मनको रोक न सकनेसे, वहां विश्राम करनेमें रुक गये. ' उठते हैं, चलते हैं, अभी पहुँचते हैं, ' ऐसा करते हुए बहुत समय बीत गया और संघसे बड़ा फासला पड़ गया. फिर कौन किसका भाव पूछता है ? किसको गरज पड़ी है कि उनको सचेत करनेके लिए वारंवार गला फाड़े ? इस समय तो अपने अपनेको ही सचेत रखें तो गनीमत है. जो मनुष्य महाढीठ, दृढ़ मनवाले, सावधान और गुरुवचन पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले तथा अपने कल्याणके लिए बिलकुल एकनिष्ठ थे वे चुपचाप, टेढ़ा मेढ़ा कहीं न देख और किसीकी कुछ न सुन चाहे जितना थकने पर भी धड़ाधड़ महात्मा सत्साधकके पीछे पीछे चले ही गये. बुद्धिमान्, पंडित, चतुर, सुजान और

---

१ संसृति–दायी–अर्थात् जन्म मरण रूप संसारमें डालनेवाले अर्थात् उसमें प्रेरणा करनेवाले, इस लिए संसृति–दायी और उनका समूह संसृतिदायी–वर्ग. २ दैव अर्थात् प्रारब्धकी प्रेरणा करनेवाला अर्थात् जो प्रारब्ध बांधनेवाला या उसका भोग करानेवाला है, वह दैवप्रेरी है.

अत्यंत सूक्ष्म विषयोंका ज्ञाता होने तथा बहुत समझाने पर भी जो पुरुष यदि तमोगुणसे घिरा हुआ और मायामें लुब्ध हो तो वह सत्य बात नहीं समझ सकता और भ्रान्तिसे भ्रमित हो कर अपने माने हुए असत्यको सत्य मानता है, अपने ही गुणोंके वश होता है, यह बड़ी और प्रबल आवरणशक्ति है. परन्तु अंतमें इससे नीचताको प्राप्त होता है. आवरणशक्तिके संसर्गवालेको अनास्था और विपरीत निश्चय रहता है और इससे उसको विक्षेपशक्ति निरंतर पीड़ित करती है. अनात्मपदार्थका चिन्तन मोह और दुःखका कारण है. इस लिए ज्ञाताके लिए स्वस्वरूपमें प्रमादसे बढ़ कर और कोई अनर्थ नहीं है. इस प्रमादसे मोह, मोहसे अहंबुद्धि—ममता—प्रेम अहंबुद्धिसे बंधन और बंधनसे व्यथा होती है, परन्तु मूढ़ जीव इसे नहीं जानता. जिनका अंतःकरण वशमें है उन्हें वैराग्य—सारे पदार्थोंके तिरस्कारसे बढ़ कर सुख देनेवाला दूसरा कुछ नहीं है. परन्तु यह वैराग्य यदि अत्यंत शुद्धात्मामें, बोधसहित व्यापक हो तो वह आत्मानंदरूप चक्रवर्तीपनके सुखको देता है. मुक्तिरूप स्त्रीसे विवाह करनेका यही द्वार है. इस लिए जो जीव, परम कल्याणके वास्ते सबकी स्पृहा त्याग देता है वही जीव विजय प्राप्त करता है. अनात्म पदार्थों पर प्रीति ही इस संसारमें संकटका कारण है.

यह प्रसंग समस्त विमानवासी एकाग्र चित्तसे देख रहे थे. उन्होंने इस संघको इस प्रकार छिन्न भिन्न देख बड़े खेदसे गुरु वामदेवजीसे कहा:— "कृपानाथ ! यह तो बहुत बुरा हुआ ! उस महाजन सत्साधकने जो बारंबार प्रयास किया वह आधा व्यर्थ गया. वह महात्मा कैसे उपदेश, कैसी माथापच्ची करके सबको दुःखरूप जगन्नगरसे ठेठ यहांतक लाया था, वह कुछ भी उनके काममें नहीं आया ! अब क्या होगा ? क्या वे पीछे रहनेवाले किसी तरह कभी उनसे जा मिलेंगे ? " यह सुन, वामदेवजी बोलेः—" जा पहुँचनेकी बात क्या कहें ? जो रह गये वे तो रही गये. अब उनकी क्या दशा होगी यह कहना भी कठिन है. तुम्हारे विषयमें भी अभी ऐसा ही हुआ था उसे क्या तुम भूल गये ? इस दिव्य विमानमें बैठनेके पूर्व तुम सबको क्या करना पड़ा था ? उस समय जो तीव्र अग्निमें स्नान करनेसे हिचकिचाये, भयभीत हुए उनका रास्ता देखनेके लिए क्या क्षणभर भी यह विमान ठहरा था ? विमान उड़नेके पीछे उनकी कैसी कष्टकारक दशा

हुई होगी ? परन्तु यह बात रहने दो !" यह सुन सब पुण्यात्मा एक साथ बोल उठेः—" हे महाराज, हमलोगोंने तो उनकी बड़ी दुर्दशा देखी ! विमान उड़ जाने पर तो वे निराशाके कारण बिलकुल अचेत होकर पड़े थे ! क्या इन बेचारोंका भी वैसा ही होगा?" गुरुदेव बोलेः—"स्वरूपका विस्मरण—अनास्था जिस तरह विद्वान् या वैराग्यवान्को विमुख करती, और जैसे स्त्री जार पुरुषको बुद्धिके दोषसे विक्षेपयुक्त (भ्रमपूर्ण) करती है, उसी तरह विस्मरणसे पंडित या प्रज्ञका भी अमंगल होता है. परन्तु सूर्यके उदय होते ही जैसे अंधकार और अंधकारके कार्यरूप अनेक अनर्थ नाशको प्राप्त होते हैं, वैसे ही जिन्हें अद्वैतके समान परमानंद रसका अनुभव या उसका बीज प्रकट होता है, वे बंधनमें होते हुए भी दुःखसे निवृत्त होते हैं. ऐसा भाव हुए विना आनंदघन अच्युतके लिए चेत नहीं होता. इस बंधनसे छूटनेके लिए, स्वात्मार्पण विना अन्य मार्ग ही नहीं है. वरेप्सु ! नगरवासियोंका जो होगा वह हम लोग फिर यहां आकर देखेंगे. परन्तु यह सारा संघ जो बहुत दूर निकल जानेसे हमारी नजरमें नहीं आता, वह बहुत करके द्वारको लांघ आया होगा, इस लिए हमें पहिले उसकी स्थिति देखनी चाहिए." यह बात पूर्ण होते ही, विमान अकस्मात् वहांसे उड़ा. वह थोड़ी देरमें नगरके दुर्गको लांघ कर महाद्वारकी बाहरी बाजूमें आकर खड़ा हुआ. *

बहिरागमन (बाहर आना) ।

विमान खड़ा होते ही पुण्यात्माओंके शिरोमणि महाराजा वरेप्सु, खड़े हो चारों ओर देख, बद्धांजलि (युगल हस्त जोड़) कर गुरुजीसे बोलेः—" कृपानाथ ! यहां तो सभी विलक्षण है ! क्या यही इस नगरकी भूमि होगी ? यह तो विस्तीर्ण शान्त और सुहावनी है. इस नगरकी इस पवित्र भूमिपर रेशमके समान कोमल और चांदीके चूर्ण जैसी चमकती और फैली हुई रेत कैसी सुशोभित हो रही है. उस पर नाना प्रकारके कल्पतरुके समान सुपुष्पित वृक्ष नवपल्लवित हो कर लहलहा रहे हैं. यद्यपि यहाँ पर दीपक कहीं भी नहीं है, तो भी सब पदार्थ हम लोगोंको दिनके समान स्पष्ट दीख पड़ते हैं, इसका क्या कारण है ?" ऐसा कह कर वह फिर बोलाः—

* नगरदुर्ग अर्थात् उस जगन्नगरका किला ।

" यहां तो कुछ भी नहीं दीखता. अपने सत्साधकका वह संघ कहां है ? पुरका द्वार भी बंद मालूम होता है, वे बेचारे इतना प्रयत्न करने पर भी भीतर ही तो नहीं अटक गये ? " गुरुजी बोले:—" नहीं पुरका द्वार बंद नहीं है; वह तो वृक्षघटामें ढँका हुआ है, इस लिए हमलोग उसे नहीं देख सकते, परंतु मैं सोचता हूँ वह संघ अव आता ही होगा. " इसी समय द्वारके भीतर समर्थ अच्युत प्रभुके नामका गंभीर जयघोष सुन पड़ा. उसे सुन कर सब विमानवासी आनन्दित हुए और उसके आवेशमें वे भी जय-ध्वनि करने लगे. थोड़ी देरमें वामदेवजी बोले:—"यह देखो, वह उजाला पड़ा ! अव वह संघ वाहर आनेकी तैयारीमें है. मैं सोचता हूँ, वृक्षोंकी आड़के कारण तुम सबको वहां होनेवाले कृत्य बराबर न दीखते होंगे, इस लिए चलो, जरा नीचे उतरें. " तुरंत विमान उस द्वारके आगे आकर खड़ा हुआ और उसमें बैठे हुए सब लोग बिना किसी अड़चनके पूर्ण रीतिसे सब कृत्य देख सकते थे.

कुछ देरमें तीन मनुष्य उसमेंसे निकलते दीखे. उनमेंसे एकके हाथमें एक बड़ा दीपक था. उसने आगे आकर दीपकको द्वारके मुख पर रख दिया. दूसरेने द्वारके आगे एक अत्युत्तम सिंहासन लाकर रख दिया. तीसरा दिव्यदेहधारी पुरुष, जिसने दिव्य वस्त्रालंकार पहरे थे, आकर उस सिंहासनपर बैठा. फिर एक चौथा पुरुष आया. उसने अपने सिरसे एक बहुत सुन्दर सन्दूक उतारकर उस दिव्य आसनके पास रखा. उसे खोला तो मालूम हुआ कि, उसमें कलम दावात आदि लिखनेके सामानके सिवाय एक भागमें बहुतसे सुवर्णपत्र और दूसरे भागमें छोटे गुटकोंके आकारकी पुस्तकें भरी हैं. यह दिव्य पुरुष, जो ठाटवाटसे मालूम होता था कि पुरद्वारका कोई बड़ा अधिकारी होगा, अपने हाथमें कलम लेकर ज्यों ही तैयार हुआ कि, द्वारके मुँहसे सत्साधक महात्मा अपने साथ सारे संघको लेकर आते दीखे. अधिकारीने अपने नौकरसे एक आसन मँगा कर सत्साधकको आदरसे उस पर अपने सामने बिठाया. फिर तुरंत उस संदूकसे एक सुवर्णपत्र निकाल उस पर उसका नाम लिख कर उसके हाथमें दिया. फिर पुस्तकका गुटका हाथमें लेकर बोला:—" हे महात्मन्! हे अच्युतप्रिय ! तुम धन्य हो. तुम तरण तारण हो. सिर्फ अपना ही भला करनेवाले मनुष्य तो जगन्नगरमें बहुत बसते हैं, परंतु अपने साथ

दूसरे भी असंख्य प्राणियोंका श्रेय करनेका ऐसा स्तुत्य प्रयत्न करनेवाला तो दीर्घकालमें भी तुम्हारे समान विरला ही निकलता है. कालपुरुषके मुँहसे स्वयं मुक्त होकर उसमेंसे असंख्य मनुष्योंको भी सदाके लिए मुक्त करनेका तुमने जो धुरंधर प्रयास उठाया है और उसमें भी जो यहां तक सफलता प्राप्त की है, उसके लिए तुम्हें सब शिष्ट जन धन्यवाद देंगे. इन सब पथिकोंका तुमने भारी उपकार किया है, इस लिए तुम उनके परम पूज्य, मान्य और गुरुतुल्य हो. उनको लेकर अब तुम्हें महापंथमें जाना है. यह महापंथ यद्यपि भयंकर नहीं है, तो भी गूढ़ होनेसे ज्ञानी जीव भी भूल जाता है और ऐसा होनेसे अंतमें कदाचित् वह भयंकर भी हो जाय इस लिए वैसा न होने और सुखपूर्वक अच्युतपुर तक पहुँचानेके लिए रास्तेको स्पष्टरूपसे अंत तक बतानेवाली यह ' पथदर्शिका ' है. यह प्रत्येक पथिकको दी जाती है, इसे तुम लो. रास्तेमें इसे बारम्बार देखना और इसमें कथित आज्ञा अच्छी तरह ध्यानमें रख कर ही कार्य करना है. इस आज्ञाका जो श्रद्धावाला मनुष्य बिना असूया के अनुधावन करता है, वह सब कार्यसे मुक्त होता है. "

इस प्रकार यह ' पथदर्शिका ' महात्मा सत्साधकको देकर, फिर वह पुरुष सारे संघको सम्बोधन कर बोलाः—" हे पुण्यवंत मनुष्यो ! तुम्हारे अनेक जन्मोंके पुण्य उदय होनेसे ही तुम्हें इस सत्पुरुषका समागम हुआ है, जिसके कारण तुम इस अच्युतमार्गमें आरूढ़ हुए हो. क्या तुम सब जानते हो कि यह महापुरुष तुम्हारे नगरमें किस स्थितिमें था ? यह ब्रह्मकुलमें जन्म लेने पर भी तपोबलके कारण बड़े पृथ्वीपति (राजा) से भी अधिक समृद्धि संपादन कर परम सुखानंदका राज्य भोगता था. इतना ही नहीं, परन्तु उस समृद्धिसे दूसरे असंख्य दीन प्राणियोंको सुखी करता था इससे ऋषिराज, महाराज, महाराजाधिराज आदि अनेक उपपदोंसे लोग उसे जानते थे. ऐसे महत्सुखको भी दुःखरूप समझ और वमनके समान त्याग कर वह इस मार्गमें आरूढ़ हुआ है. क्यों कि सुवर्णके थालमें अमृतके समान पकान्न परोसा हो, परन्तु पीछेसे यहां कराल सिंह गर्जता हो और मुँह फैला कर दौड़ा आता हो तो फिर वह थाल किस कामका ? ऐसा यह अच्छी तरह समझता है. जहां पर पल पल और क्षण-क्षणमें नाशकर्ता कालपुरुषका भय व्याप रहा हो, वहांका अपार सुख भी महादुःखप्रद है. इस जगन्नगरमें निरंतर चलनेवाला कालपुरुषका यह व्यापार

(काम) पहले तो साधारण मनुष्यकी समझमें आना ही दुर्लभ है. इस महात्माने ही उसे आत्मज्ञानके प्रभावसे जाना है, प्रत्यक्ष देखा है और अत्यंत दयाके वश होकर तुम्हारे हितार्थ तुम्हें बताया है. इतना ही नहीं, परंतु उस दुष्प्रसंगसे तुम्हारे कल्याणका प्रयत्न भी उसने हाथमें लिया है. इसके इस प्रशंसनीय कृत्यकी ओर तुम सबको कितना विनम्र और सचेत रहना चाहिए इसे नहीं भूलना. इस महाद्वारको लांघ कर जो प्राणी बाहर निकल जाता वह स्वतंत्रताके योग्य होता है. इस नियमका अनुधावन कर तुम सब लोग भी इस महापुरुषकी कृपासे स्वतंत्रताके योग्य हुए हो. अर्थात् अब तुम्हें अपनी इच्छाके अनुसार विचरण करनेकी सत्ता प्राप्त होचुकी है और उस चिह्नकी भांति यह 'सुवर्णपत्र' तुममेंसे प्रत्येकको दिया गया है. तुम्हारे पास यह पत्र रहनेसे तुम्हें कोई भी जबर्दस्ती परतंत्र नहीं कर सकेगा. इससे तुम संसारमार्गमें सबसे स्वतंत्र रहोगे. परंतु इस महापुरुषके अधीन होकर चलनेमें ही तुम्हारा कल्याण है. इसलिए इससे स्वतंत्र होनेकी इच्छा नहीं करना. फिर साथ ही यह 'पथ—दर्शिका' भी मैं तुममेंसे प्रत्येकको देता हूँ, जिसके सहारे तुम आनन्दपूर्वक मार्ग पार कर सकोगे. परंतु उसमें यदि कदाचित् भ्रमित होगे तो इस महात्माके चरणकी अधीनता ही तुम्हें तारेगी. जिन्हें अच्युतपुरमें जाकर ब्रह्मरूप होनेकी इच्छा हो उन्हें जब तक ब्रह्मका साक्षात्—अच्युतपुरके दर्शन न हों तब तक गुरुरूप सत्साधक और पथदर्शिकाकी आज्ञा पर ही दृढ़ भावसे विचार करना चाहिए. कर्म व्यावहारिक उपासनाका साधनफल है, परन्तु सिद्ध फल नहीं है, इस लिए उसका अधिक चिन्तन नहीं करना चाहिए."

इतना कह कर उस दिव्य पुरुषने उस संघके प्रत्येक पथिकको उसके नामसहित सुवर्णका स्वतंत्रपत्र और अच्युत—पथदर्शिका, दोनों देकर विदा किया. सारा संघ निकल आया. पश्चात् वह अधिकारी अपने आसनसे उठा और सबके साथ जोरसे श्रीअच्युत प्रभुकी जयध्वनि करके वहांसे बिदा हुआ. उसके साथ उसके नौकर भी अपनी अपनी वस्तु लेकर चले गये. दरवाजा तुरंत बंद हो गया. रहे वे रही गये और निकले वे जीते. भीतर थे वे भीतर ही रहे और बाहर थे वे बाहर ही.

फिर सब लोगोंके आगे आकर महात्मा सत्साधक कहने लगाः—"हे पुण्य-

वान् पथिको! हे स्वतंत्र मनुष्यो! यद्यपि रात अधिक गयी है तो भी अत्यंत परिश्रमके पश्चात् अब हम लोग इस निर्भय स्थानमें आ पहुँचे हैं, इससे मुझे बड़ा आनंद होता है. अब हमें यहांसे आगे जाना नहीं है. यहीं अपना मुकाम और यह सुकोमल रेत ही अपनी शय्या (पलंग) है. श्रीसमर्थ अच्युत प्रभुकी कृपासे हम जैसे पथिकोंके लिए कैसी सारी सुविधाएं उपस्थित हैं, इनसे कुछ भी उपाधियां या हानि होनेकी संभावना नहीं है. जल चाहिए तो वह कमलपत्रोंसे पूर्ण निर्मल जलवाला सरोवर भरा है, पवन तो स्वयम् ही इन सुपुष्पित वृक्षलताओंसे सुगंध-सना मंद मंद आ रहा है. भोजनका तो समय ही नहीं है, क्यों कि आधी रात बीत गयी है. तो भी किसीसे न रहा जाय तो वृक्षोंके नीचे बहुतसे फल पड़े हैं. उनके लिए कोई रोक नहीं है. अहो! इस पुण्य भूमिका प्रताप तो देखो. रातका समय है, चंद्रोदय और दीपक भी नहीं तो भी हम सबको कैसा स्पष्ट दिखाई देता है. लो, एकबार सब लोग प्रभुके नामका जयघोष करो, और निश्चिन्त रूपसे इस रमणीय रेतमें लेट जाओ.

ये अंतिम शब्द पूर्ण होते ही, सब लोग जय-जय-कार करते उस मखमलके समान सुकोमल रेतमें लेट गये. जो प्यासे थे वे सरोवरको गये और जो भूखे थे उन्होंने अपने पासके पाथेयकी पोटली खोली. थोड़ी देरमें जिन्हें जो भाया वह खापीकर शीतल रेतमें लेट गये. देखते २ सारा संघ गाढ़ निद्राके वश हो गया. उन विमानवासियोंको भी जो एकाग्रतासे यह सब देख रहे थे, गुरु वामदेवजीने विश्राम करनेकी आज्ञा दी और विमान तुरंत वहांसे उठ कर अंतरिक्षमें जा टिका.

द्वितीय बिन्दु—द्वितीय सोपान.

आत्मोन्नतिमें मायाका बन्धन ।

संघमें भंग ।

कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने ।
यः स्थितोऽदृष्टमाश्रित्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा ।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥
मनसैव मनश्छित्वा पाशं परमबन्धनम् ।
उन्मोचितो न येनात्मा नासावन्येन मोक्ष्यते ॥

अर्थ—मुझे कोई अन्याय—असत्—मार्गमें जानेकी प्रेरणा करता है इस तरह अनर्थ और कुकल्पनाका आश्रय लेकर अर्थात् उसके अधीन होकर अदृश्य नसीबके सहारे जो (जीव) पड़ा है, उस अधम जीवका दूरसे ही त्याग करो । जो यह मानता है कि ईश्वर जैसा करेगा वैसा स्वर्ग या नरकमें जायँगे, वह सदा ही पराधीन पशु है, इसमें सन्देह नहीं । मनरूप जो महाबंधन—पाश है, उसे मनसे ही भेदकर जिस (जीव) ने अपने आत्माको मुक्त नहीं किया उसे कोई भी मुक्त नहीं कर सकता ।

उषःकाल होते ही महाराजा वरेप्सु आदि विमानस्थ लोग उठे. सूर्य निकलते निकलते सब अपना अपना स्नान संध्यादि कर्म समाप्त कर तैयार हो बैठे. इस समय गुरुदेवकी आज्ञासे दिव्य विमान, अच्युत-पथ पर आकर खड़ा हुआ. पुरद्वारके सुखमें मोहित न होकर बाहर निकले हुए पथिकोंका अब फिर क्या होगा, यह देखनेको विमानवासी बहुत उत्कंठित थे. विमानवासी विमानके खड़े होते ही 'जय सच्चिदानंद'की गर्जना कर वहां बिछे हुए आसनों पर बैठ गये और इस लोककी लीला देखने लगे.

जगन्नगरकी रमणीक भूमिपर निश्चिन्त रूपसे पड़े हुए पथिकों पर निकलते हुए सूर्यकी कोमल किरणें पड़ने लगीं तो भी गत दिनके परिश्रमके

कारण अभी वे जाग्रत् नहीं हुए थे, और जो जागते थे वे गत रातके विलंबके कारण बिना कुछ खाये ही सो गये थे, इससे भूखके कारण जल्दी जल्दी नहाकर कलेवा करने लगे. महात्मा सत्साधक, सोये हुए पथिकोंको प्रिय मधुर शब्दोंसे जगाता और कहता था कि:—"अरे! अरे! पुण्यवंत पथिको (जीवों) सारे जगत्‌के अंधकारको दूर करनेवाले और सबके साक्षीरूप भगवान् सविता नारायण अब उदय हुए हैं और वे हम सबको यहांसे शीघ्र प्रयाण करनेकी सूचना दे रहे हैं. यदि हम लोग शीघ्र चलेंगे, तो जब तक वे देव गगनमें भ्रमण करते हुए हमारे सिरपर आयेंगे तबतक हम सुखसे दूसरे आश्रममें जा पहुँचेंगे. देखो! उस अमराईमें मधुर कुहूका मारकर सारे उपवनको आनंदमय कर कूकता कोकिल भी हमें शीघ्र चलनेकी सूचना देता है. वह कहता है कि, पथिको—मुशाफिरो! रास्तेमें विलंब न कर जैसे बने वैसे शीघ्र अपने निर्धारित आश्रममें पहुँचनेको सचेत रहो, यही श्रेयस्साधक है. क्योंकि अज्ञात प्रवासीको अज्ञात मार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न अकस्मात् पड़ते हैं, उनसे रक्षा होनेका यदि कोई भी श्रेष्ठ मार्ग है तो यही है कि सदा सचेत रहना, प्रमादसे बचना, आलस छोड़कर प्रकाशमें प्रयाण करना!" यह सुन, बहुतसे जाग्रत् मनुष्य तुरंत उठकर बैठ गये. परंतु कई एक ऐसे थे जो सुनकर भी न सुनते थे, वे जागते थे तो भी जँभाई लेकर उठते हैं, जरा ठहरकर उठते हैं, चलते हैं, इतनी जल्दी क्या है, ऐसे विचारसे लेटने लगे. फिर कई पामर और क्षुद्र विचारवाले (अविद्यासे घिरे हुए) जो नगरसे निकल आये थे परंतु पीछेसे दुःख पड़ते देख पछताते थे, वे अपने समान जीवोंसे परस्पर कहने लगे:—"अः! इसमें कुछ दिन फिरनेवाला नहीं है. अच्युतपुर कैसा और कहां होगा, यह कौन जानता है? कौन देख आया है? कौन जाने वहां कब पहुँचेंगे! फिर मार्गमें मजेका जो मुकाम मिला है और जिसमें खाने, पीने, सोने, बैठने आदि सब बातोंका सुभीता है उसे छोड़कर इस उजाड़में ला पटका है, जहां खाना, पीना तो एक ओर रहा, परंतु शरीरमें ओढ़नेका भी कुछ ठिकाना नहीं है. यहाँ आ पड़ना भी कर्मकी कठिनाई ही है ना! राम! राम! कौन जाने सारे मार्गमें कैसा संकट झेलना पड़ेगा. नगरमें हमें क्या कोई खाये जाता था कि जिससे हम इन मनस्वी (मनमौजी) धुनमें भरे हुए भीरु लोगोंके कथनानुसार घर बार, स्त्री, पुत्र, मित्र, स्नेही, संपत्ति, आनंद और मौज छोड़कर चले आये? हमारे समान मूर्ख कौन होगा? हुआ सो हुआ. परंतु, अब तो हम एक

कदम भी न बढ़ायेंगे. हम तो यहींसे लौटेंगे. जिसे जाना हो वह भले ही जाय."

थोड़ी देरमें सब पथिक नहा धो और अपना पाथेय खाकर तैयार हुए और परब्रह्म सच्चिदानंद अच्युतप्रभुकी जयध्वनि करके महात्मा सत्साधकके समीप आये. सब चले, परंतु लौट जानेका निश्चय करनेवाले वे अज्ञानी जीव तो उठे ही नहीं. उन्हे देखकर दूसरे अनेक पथिकोंने आगे बढ़नेका विचार बदल दिया. महात्मा सत्साधक तो सबसे आगे चलता था और उसे एक डग भी पीछे रखनेका बड़ा खेद था. इसलिए वह पीछे फिरकर देखनेकी परवा नहीं करता था. वह तो जोरसे कहता ही जाता था कि:—'हे अल्पबुद्धिके मतिमंदो ! बड़ी कठिनाईसे जगन्नगरका त्याग कर स्वतंत्र हुए हो, अब मनको जरा भी पीछे न हटाना * हम लोग सुख या दुःख किसी तरहसे भी इस लम्बे रास्तेकी एक सीढ़ी तो चढ़ ही चुके हैं, अब छः सीढ़ियां चढ़ना है. पश्चात् रमणीक अविनाशी अच्युतपुर आवेगा. हमें सिर्फ इतना ही दुःख है कि इस मार्गमें जरा सावधानीसे चलना पड़ेगा, परन्तु इसके बाद समान दृष्टिवाले, निर्विकारी, अविनाशी, परमपुरुषोत्तम, परमात्मा समर्थ अच्युत प्रभुके राज्यमें हम अनंत सुख भोगेंगे.

हे सुभागी मनुष्यो ! वहांका एक लवमात्र सुख भी इस नाशवंत जगन्नगरके समग्र सुखसे अत्यंत अधिक है. वह सुख वहाँ निवास करनेवालोंको (परब्रह्मधाममें) नियत समयतक ही भोग करनेको मिलेगा यह नहीं, वह अनंतकाल—सदाकाल—निरंतर भोगना है, इस लिए वहां एकबार जा पहुँचे कि बस, उपाधियोंसे मुक्त होकर आनंदमें कल्लोल करेंगे. वहां सब दुःखोंका अंत और अपार सुखकी प्राप्ति, सबको समान ही है. वहां हमसे पूर्व इस मार्गसे गये हुए अनेक मुक्त जीवोंको हम देखेंगे—मिलेंगे—भेटेंगे और उन्हींमें एकाकार हो जायँगे. वे हमें अत्यंत प्रेमसे आदर देंगे और वहांके सुखसे सूचित करेंगे. इसलिए मार्गके सहज दुःखमें घबराना नहीं. हमारा मार्ग इतना कठिन या दुःखद नहीं है तो भी प्रवास तो प्रवास ही है. इसमें सब सुख हीं तो कहांसे हो. हे पथिको ! तुम मिथ्या पदार्थोंकी ममताको त्याग

---

* जहां जहां 'जगन्नगरका त्याग' इस तरह सूचित किया है वहाँ यह समझना चाहिए कि संसाररूपी रगड़ोंका त्यागकर स्वतंत्र हुए हो—अर्थात् ज्ञान भक्ति ही मोक्षका साधन है उसे तुमने जाना है।

दो, क्योंकि मिथ्या पदार्थोंपर वैराग्य हो तभी निःसंशय और विना प्रतिबंधका बोध होता है. इस जीवको जबतक आवरणशक्तिसे पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती तब तक विक्षेपशक्ति (माया) पराजित नहीं हो सकती, और विना उसके जीते आवरणके बलसे मोहांध करनेवाली अहंबुद्धि सतेज रहती है. इस लिए अब इस देहकी माया, ममता, आशा, तृष्णा, कामनाका त्याग करना चाहिए. परंतु जब तक तुम देहपर प्रीति रखोगे तबतक यह मन बाहरके पदार्थोंके अनुभवमें प्रेम करेगा और तुम देहकी सारी क्रियाएं करते रहोगे तथा इससे इन नाशवंत दृश्य पदार्थोंमें चित्त दृढतासे लगा ही रहेगा. इसलिए परब्रह्मका आनंद चाहनेवाले मुमुक्षुओंको सारे कर्म—विषयोंका त्याग कर परमात्मामें ही निष्ठा रखनी चाहिए.

इस तरहके उपदेशपूर्ण वचनोंसे उत्साहित हुए अनेक पथिक चलने लगे; किन्तु जो जीव (पथिक) अपनी ही अज्ञानता और अधमाईके कारण उस उपदेशके अर्थकी उपेक्षा कर विषयजन्य सुखमें लुब्ध थे वे वहीं पड़े रहे. संघमें भंग हो गया. नगरसे तैयार होनेवाला संघ तो बहुत बड़ा—अनेक जीवोंसे भरपूर था. परन्तु उसमेंसे बहुतसे पुरद्वारमें रह गये इससे वह कम हो गया और बहुतसे यहांसे भी कम हुए. तो भी इस संघमें मुमुक्षु जीव कम न थे. उनका एकत्र जयघोष गगनमंडलको थर्रा रहा था. उत्तमोत्तम प्रकारके नव पल्लवित वृक्षोंसे सुशोभित इस उपवनसे लोग यह भजन स्तुति करते चले जाते थे:—

हरि भजिले मनवा भाई, है सांची राम—सगाई। टेक।
तज संसारीका नाता, चल हरिके यशको गाता;
तू उतर जाय भवपार, तज गंदी जगकी खाई। हरि.
तेरी सूरत मुझे है भाई, मेरा दिल जानता है।
जो झलक तूने दिखलाई, मेरा दिल जानता है।
ख्वाबसा होगया तेरी सुहबतका अरे! अब ख्याल;
वो मजा फिर नहीं पाई, मेरा दिल जानता है।

मार्गमें कोई अटल समाधिमें रहता, तो कोई स्वरूपका अनुसंधान करता, कोई आत्मज्ञानके बलसे दुष्ट वासनाओंको दबाता, तो कोई दृश्य पदार्थोंका त्यागकर सत्य पदार्थोंका अवलोकन करने लगता और कोई हरिचर्चा करता था. उनकी आत्माको कष्टसे उद्वेग नहीं होता था, और न सुखमें वे आनन्दित होते थे. वे राग, द्वेष, भय,क्रोधको पार किये हुए स्थिरप्रज्ञके समान

मालूम होते थे. वे जगत्‌के स्नेहकी चर्चा ही नहीं चलाते थे और न अनेक प्रकारके शुभाशुभसे उन्हें आनन्द या द्वेष था. उनकी बुद्धि स्थिर थी. इस प्रकार सारे उपवनको पार कर वे पथिक बहुत दूर निकल गये.

नरकमार्गातिक्रमण.

अब तककी समस्त घटना विमानवासी पुण्यात्मा देख रहे थे. वे इस संघको उपवनके बाहर निकला हुआ देख गुरु वामदेवजीसे कहने लगे:— " कृपालु गुरुदेव ! ये पथिक तो अब रास्ता चलने लगे. जब तक वह मुकाम आवेगा तब तक ये इसी तरह चले ही जायँगे. परंतु उन पीछे रहनेवालोंकी क्या दशा होगी ? उसे हम कब देखेंगे ? " महात्मा वामदेवजी बोले:—" यह बात मैं भूल नहीं गया. पीछे रहनेवालोंकी अवस्था तो हमें अवश्य ही देखनी है; परन्तु जैसा तुम सोचते हो वैसा यह संघ अभी सत्य संघमें नहीं पड़ा है. देखो. अब तक वह उस उपवनके चौड़े और सरल मार्ग पर था, परन्तु अब वह वनकी सिर्फ एक पगडंडीसे ही जा रहा है. " फिर महाराजा वरेप्सु बोल उठे:—" कृपानाथ ! आगे चल कर उस सँकरे मार्गकी तो दो शाखाएं फूटी हैं. एक तो प्रारंभसे ही चली आती है और सीधी वनमें ही जाती है, परन्तु उससे फूटी हुई वह दूसरी शाख तो वहांसे पूर्वकी ओर मुड़ कर फिर दक्षिण दिशाकी ओर फूटती है. वह बहुत चौड़ी और रमणीक मालूम होती है. मैं सोचता हूँ यही अच्युतपुरका मार्ग है. " वे बोले:—" गुरुदेव ! इन दोनों मार्गोंके मिलन—स्थान पर जाकर संघ क्यों रुक गया है ? उन सबके आगे खड़ा हो कर सत्साधक क्या कहता है ? चलो, हम उसे सुनें. " फिर विमानवासी उस ओर एकचित्तसे देखने लगे.

महात्मा सत्साधक नये मार्गकी ओर उँगली दिखा कर बोला:—" मैं सोचता हूँ यह बड़ा और सुन्दर मार्ग देख कर, हम लोगोंमेंसे अनेकका मन उस ओर जानेको ललकता होगा; अनेकोंको यह स्वाभाविक निश्चय भी होगा कि यह मार्ग परब्रह्म ही का मार्ग होना चाहिए. परन्तु ऐसा नहीं समझना. हमें तो इस सँकरी पगडंडीसे ही जाना है. यह नया मार्ग जितना रम्य और मोहक, सौन्दर्यपूर्ण और लीलामय है उतना ही अंतमें दुःखद और कंटकमय भी है. यह मार्ग अच्युतपुरको नहीं जाता. जो इस मार्गमें भूलसे आरूढ़ हो जाता है वह अनेक प्रकारके अनुचित

कर्म कर बहुत दुःख सहन करता और अंतमें संयमिनी पुरीमें जा पहुँचता है. वहीं इस मार्गका अंत है. तुमने जगत्पुरमें रह कर कभी 'यमराज' का नाम सुना है?" पथिकोंने उत्तर दिया:—"महाराज! यह नाम तो जन्मसे आजपर्यंत बराबर सुनते आये हैं. वह यमराज ही यमलोकका राजा है न? वह तो बहुत निर्दय और भयंकर है." सत्साधक बोला:—"वह निर्दय नहीं, परन्तु सहृदय और न्यायी है, परन्तु दुष्टात्माओंके लिए वह भयंकर ही है. वह संयमिनी पुरीका राजा है और जगन्नगरमें निवास कर अनुचित (पाप कर्म) करनेवाले प्राणियोंको अपने यहां बुलाकर उनके पाप कर्मोंका दण्ड देता है. समर्थ अच्युत प्रभुने उसे प्रत्येकके न्याय करने और तदनुसार योग्य दंड देनेका अधिकार सौंप दिया है. सारे जगन्नगरमेंसे पकड़कर आनेवाले अपराधी उसके यहां पेश होते हैं. उन्हें उनके अपराधानुसार योग्य शासन—छोटा या बड़ा जैसा अपराध हो—उस तरहका शासन (दण्ड) देनेके लिए वहां बहुतसे भिन्न भिन्न स्थान बने हैं, और वहां रहकर वे अपराधी अपने उन अपराधोंका बड़े कष्टसे असह्य दण्ड भोगते हैं. इस दंड भोगनेके प्रत्येक स्थानको 'नरक' कहते हैं. ऐसा नरक वहां एक समूचे लोककी तरह विस्तृत होनेसे 'नरकलोक'के नामसे प्रसिद्ध है. यह बड़ा मार्ग ठीक वहीं तक जाता है इसलिए इसका नाम भी नरकमार्ग है. फिर इस यमराजकी नगरीका नाम यमलोक है. वहां जानेका यह मार्ग है; इसलिए इसे यमलोकमार्ग भी कहते हैं. जान बूझकर अथवा भूलसे ही इस मार्गसे जानेवाला मनुष्य यमराजका अपराधी होता और उसे भी घोर दुःखवाले नरकमें दंड भोगना पड़ता है. जगन्नगरसे यमराजके सेवक जिन अपराधियोंको पकड़कर यमराजके यहां ले जाते हैं उनके लिए यह मार्ग खुला पड़ा है. फिर अच्युतपथके जानेवालोंको छोड़ अन्य सबको एकबार अपने कर्तव्यका हिसाब देनेके लिए यमराजके दर्शन करने पड़ते हैं, चाहे वे अपराधी हों या निरपराधी. वे भी इसी रास्तेसे जाते हैं. सिर्फ वे ही इस विडम्बनासे मुक्त हैं जो अच्युतपथगामी हैं, क्यों कि वे अच्युत प्रभुके सत्य अनुसंधानके कारण जगत्के कर्मबन्धसे अच्युत प्रभुके भारी अनुग्रहसे स्वतंत्र रहते हैं. उनपर कोई भी सत्ता नहीं चला सकता. अच्युतस्वरूपका अनुसंधान करनेवाले जीवको असत् देहादिका अनुसंधान, जो पतनका कारण है, बंधनका कारण है, छोड़कर मैं ब्रह्म हूँ, सर्व ब्रह्म है, ऐसी ही आत्मदृष्टि करते रहना चाहिए, क्यों कि यह ब्रह्मनिष्ठा परम सुखदायिनी और परम ब्रह्मनिष्ठा होनेसे

जैसे भ्रमरीकी धुनमें पड़ा हुआ कीट भ्रमरीपनको प्राप्त करता है वैसे एक-निष्ठासे इस अच्युत ब्रह्मका चिंतन करनेवाला जीव ब्रह्मरूप होता है. परन्तु यदि कोई अस्थिरमन और प्रमादी जीव अपने प्राप्त हुए जगद्-बंध-नसे मुक्त होनेकी अमूल्य स्वतंत्रता प्रमाद या इस जगन्नगरके किसी प्रकारके तुच्छ विषयसुखमें भूल कर खो देता है तो फिर उसके लिए भी यही मार्ग है. मुझे यह सूचित करते परम हर्ष होता है कि, अच्युतपथकी महत्ता इतनी बड़ी स्तुत्य है कि उसका अनुधावन करनेवाला अच्युतमार्गका प्रवासी बड़े धुरंधर और सर्वोपरि अधिकारी यमराजसे भी स्वतंत्र है. उसको यमरा-जके यहां न्याय करानेके लिए जाना नहीं पड़ता और न दूसरा ही कोई उस-पर सत्ता जमा सकता है. हम लोग भी उसी अच्युतपथपर हैं और वैसे ही स्वतंत्र हैं. पुरद्वारसे निकलते समय जो सोनेका स्वतंत्रपत्र मिला था वह सबके पास है या नहीं ? देखो, देखो, उसे बड़ी सावधानीसे रखना."

इतना कह कर वह फिर बोला:—"हे ! हे ! प्रिय पथिको ! हम सबको पुर-द्वारसे मिली हुई वह पथदर्शिका भी तुम्हारे पास है न ? अच्युतमार्गमें जाते समय जहां जहां संदेह और घबराहट हो वहां वहां यह बड़े कामकी होगी ! देखो, इसमें इस नये मार्गके लिए हमें स्पष्ट आज्ञा मिली होगी. पढ़ो द्वि-तीय सोपानका द्वितीय प्रस्थान." सत्साधकके ये वचन सुन, सब पथिकोंने झटपट अपने पासकी पथदर्शिका नामका गुटका खोला. उसके दूसरे सोपान (सीढ़ी) के दूसरे प्रस्थान (रवानगी) में इस प्रकार लिखा था:—

'कामादिदोषनिवहाः सन्ति यत्र महोद्धुराः ।
'स पन्था नरकायैव न गच्छेत्पथिकस्ततः ॥
'संगोऽपि नैव कर्तव्यः कदा तन्मार्गगामिनाम् ।

अर्थ—जहां काम आदि दोषोंका समूह महामदमत्त हो कर निरंतर निवास करता है उस मार्गमें पथिकों (अच्युतपथगामी जनों) को कभी भी नहीं जाना चाहिए, क्यों कि वह नरकमें ही ले जानेवाला है. फिर उस मार्गमें जो गये या जाते हों उनका संग भी कभी नहीं करना.

'संगात्संजायते कामः क्रोधमानयते तु सः ।
'क्रोधो मोहं च दुर्लोभं क्रमाद्गर्वं च मत्सरम् ॥
'एतानि मित्ररूपेण वर्तन्ते पथिकैः सह ।
'घोरपापेषु युञ्जन्ति यमलोकप्रदायिषु ॥

' एतस्मान्नरकं यान्ति पथिकाः पापभागिनः ।
' भुक्त्वा तत्र महद् दुःखं विनाशं यान्ति ते जनाः ॥

अर्थ–' संगसे काम (राग) उत्पन्न होता है और इस काम नामका ' दुष्टात्मा ' पुरुष, जो पथिकोंके साथ मित्रता कर उन्हें अनेक प्रकारकी मिथ्या इच्छाएं ' उत्पन्न करा कर बहँकाता और फिर जीवके लालचका वश न चलनेसे क्रोध- ' नामके मित्रको मिलाता, क्रोध अपने ही समान मोहको लाता, मोह लोभ पैदा ' करता, लोभ मान अर्थात् मद या गर्वको लाता तथा मान, मत्सरको लाता है. ' इस तरह उनकी एक पूर्ण मंडली बन जाती है. फिर वे अपने पाशमें फँसाये ' हुए भोले पथिकोंके साथ मित्ररूपसे व्यवहार करनेका दिखावा कर अपने ' स्वभावानुकूल उनसे महाघोर पाप कराते हैं. ये पाप यमलोक पहुँचानेवाले ' हैं. फिर उन पापों द्वारा वे पथिक नरकमें जाते हैं अर्थात् वहां (उस मार्गमें) ' नित्य फिरते हुए यमदूत उनको ऐसा घोर पाप करते देख, यमराजके अपराधी ' मान कर आज्ञानुसार उन्हें (नरकमें)ले जाते हैं. वहां वे मनुष्य महादुःख ' भोग कर अंतमें विनाशको प्राप्त होते हैं.

* ' आत्माको नाश करनेवाले नरकके तीन द्वार हैं. काम, क्रोध ' और लोभ. सत्पथगामी जीव इन तीनोंको त्याग दें. नरक तो नरक ' ही है ! वहां अपार नरकदुःख भोग कर वह मनुष्य अंतमें विनष्ट होता है ' और यमराज नरकके बाद उसे फिर जगत्पुरमें लाकर चाहे जिस नीच ' स्थानमें रख देता है, वह स्थान भी नरकसे कुछ ही उतर कर होता है ' और वहां निरंतर उस कृतांत काल पुरुषका भारी भय रहता है. '

इस प्रकार जब पथदर्शिकाका लेख पढ़ चुके तब महात्मा सत्साधक फिर बोला:–" हे पुण्यशाली जनो ! ऐसे नरकमें ले जानेवाले मार्गमें जानेको अब तुम योग्य नहीं हो. यह मार्ग तो, यमराजके अपराधियों और

---

* संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ इति ।

इसका भावार्थ भी ऊपर कथित अर्थसे मिलता ही है–संगसे काम (कामना)उत्पन्न होता है, कामसे क्रोध पैदा होता, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिमें भ्रम होता है, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिका नाश होता और बुद्धिका नाश होते ही प्राणी नष्ट ही हो जाता है (अधोगतिको जाता है) गीता.

ऐसे निर्भय अच्युतमार्गसे पदभ्रष्ट होनेवालोंका है, कि जो अपने असीम प्रयत्न और दीर्घकालमें समर्थ अच्युत प्रभुकी अनुकंपासे प्राप्त हुई अमूल्य स्वतंत्रताको, जीवके समान न जान कर, व्यर्थ ही खो देते हैं. दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, ये सब आसुरी संपत्तिके विषय हैं, परंतु दैवी संपत्ति तो अभय, सत्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, ईर्ष्याका अभाव, भूतदया, तृष्णाका अभाव, मृदुता, लज्जा, तेज, क्षमा, धृति, अद्रोह और शौचवाली है. तुम दैवी जीव हो, तुम्हें यह दैवी संपत्ति ग्रहण करनी चाहिए. चलो, अपना समय जाता है. हमें जिस मुकाममें आज पहुँचना जरूरी है वह अभी बहुत दूर है. "

तुरंत सर्वेश्वर अच्युत परब्रह्मके शुभ नामका जयजयकार कर सब वहांसे उस वनमें जानेवाली पगदंडीकी ओर चले.

विषयका अनुसंधान करनेवालेकी अवस्था.

फिर इच्छानुगामी विमानमें बैठे हुए समस्त पुण्यभागी लोगोंको सम्बोधन कर वामदेवने कहाः—" राजा ! अब इस संघको आज बहुत दूर इस छोटे मार्गसे ही जाना है; और मुकाम आते तक कोई विघ्न होनेकी आशा भी नहीं है; इस लिए हम लोग पीछे रहनेवालोंकी दशा देख आयें." यह सुन, महाराजा वरेप्सु हाथ जोड़ कर बोलेः—"कृपानाथ ! महात्मा सत्साधकने जिसके लिए पथिकोंको बहुत कुछ कह सुनाया और जहांसे होकर धर्मरूप महात्मा यमराजके यहां जाना होता है उस मार्गको नरकमार्ग आपने क्यों कहा ? मैं जब यमपुरमें गया तो मार्गमें इस तरहका कुछ भी दृश्य मुझे देखनेको नहीं मिला. वहां काम, क्रोध, मोह इत्यादि कोई दुष्ट पुरुष न था. यह यमसदनमार्ग बहुत रमणीक था और यमपुरीमें पहुँचनेपर भी मैंने कहीं नरकादि स्थान या उसमें दुःख भोगते प्राणी नहीं देखे. वहां सब आनंदमय ही लगता था." बटुकने उत्तर दियाः—" राजा ! यह सत्य है. परंतु वह समझानेके लिए तो तेरे ही संबंधका लौकिक दृष्टान्त लेना पड़ेगा. जिस समय तू अपने नगरसे दूर उस क्षेमदुर्गमें न्याय करनेके लिए बैठता था, उस समय नगरसे जिन लोगोंको न्यायके लिए बुलाना पड़ता था, उन सबके लिए तेरे न्यायालय तक क्या जुदा रास्ता था ? और उन आनेवाले सब लोगोंसे क्या तू समान भावसे व्यवहार करता

था ? " वरेप्सु बोला:—" ऐसा कैसे होगा ? नगरसे आनेवाले सबके लिए एक ही मार्ग था, परन्तु मेरे पास आनेके पश्चात् जो जैसी योग्यताका मनुष्य होता उससे मैं वैसे ही भावसे व्यवहार करता था. सब एकहीसे माने जायँ तो न्याय किसका ? योग्यायोग्यका निरीक्षण कर अपराधीको दंड और धर्मिष्ठको धन्यवाद दिये जाते थे." वामदेवने कहा:— " इसी प्रकार यहां भी है. न्यायके लिए बुलाये जानेवाले अनेक सत्यवादी, सज्जन, धर्मिष्ठ और ऐसे योग्य जनोंको खुद तेरे ही नौकर गाड़ी, घोड़ा, पालकी, आदि नाना वाहनोंमें बैठा कर मधुरालाप करते बुला लाते थे. परंतु दुर्जन, चोर, खल, परपीडकोंको यद्यपि उसी मार्गसे होकर तेरे वेही नौकर लाते थे, तो भी वे बिलकुल दूसरी ही रीतिसे लाते थे. उन्हें तो वे पैदल चलाते थे, इतना ही नहीं परंतु गालियां भी सुनाते थे, ऐसी आज्ञा देते थे जो सहन न की जासके, कभी कभी मार भी देते थे और ऐसी अनेक विडंबनावाली स्थितिमें उन्हें तेरे पास लाते थे. फिर तू स्वयं भी न्याय करते और उसके अंतमें उन्हें उचित दंड सुनाते समय उन लोगोंमेंसे जो जैसे होंगे उन्हें वैसा ही दीखता होगा अर्थात् दुष्टोंको क्रूर और सज्जनोंको शान्त दीखता होगा. इसी तरह यहां भी समझ ले. पहले भी मैंने तुझे एकबार कहा था कि उस समय यमराज जो तुझे शान्त दीखा वह सिर्फ तेरी वैसी योग्यताके कारण ही था और उसमें भी तू स्मरण कर देख कि, जिस समय यमपुरसे उस दिव्य स्वर्गीय विमानमें बैठ कर तुझे इन्द्रलोकमें जाना था और जिस समय यमराज अपनी सारी सभासहित तुझे विदा करनेको वहां तक आये थे, उस समय तेरे मनमें क्या विचार हुआ था ? उस समय तू मनमें यह समझता था कि यमसभामें प्रधानने जो मेरे सुकृत दुष्कृत पढ़े वे तो सिर्फ यमराजको कह सुनाया, बस; इतने अधिक सुकृतके होते थोड़ेसे पापोंके लिए यमराज मुझे क्या कहेगा ? इस तरह ज्यों ही तूने उन्हें क्षमा होनेके योग्य माना त्यों ही वह घना अंधकार व्याप गया था ! उसमें तेरी क्या दशा हुई थी ? वह महाकष्ट अनुभव करने पर फिर उसी सौम्य यमराजके लिए तेरे अंतःकरणमें कितना भय उत्पन्न हुआ था ? इसी तरह इस यममार्गमें भी जैसा जीव हो वैसी योग्यतासे उसे वहां ले जाते हैं. जिस समय तू यमलोकको गया, उस समय तेरे लिए अच्छी सवारी थी और बहुतसे सेवक आगे पीछे चलनेवाले थे. वहां कामादि खल क्या तेरा साथ करनेको आ सके थे ? "

ऐसा प्रत्युत्तर सुन, महाराजा वरेप्सु बोले:—"अहो ! यह विलक्षण यमलोक और उसका मार्ग ऐसा है क्या ? जब मेरे जैसे नामके ही पापोंके लिए क्षणभरमें मुझे ऐसा असह्य कष्ट अनुभव करना पड़ा तो जिन्हें सदा ही पाप प्यारा है और जो बड़े कुकर्मी—कभी क्षमा न किये जाने योग्य कर्म करनेवाले हैं, उनकी वहां क्या दशा होती होगी ? हरे ! हरे ! ऐसे मोहांध पातकीपर वहां बड़े दुःखके पहाड़ टूट पड़ते होंगे. उसकी वैसी कठिन यातनाएं भोगनेका महाभयंकर स्थान—नरक कैसा होगा ? अब तो कृपानाथ ! हमें पहले यमलोक ही दिखाओ, जिससे हम सबको विदित हो जाय कि, पापियोंको किस तरहकी सजा होती है." वामदेवजीने कहा:—"यह यातनालय[1] प्रत्यक्ष देख सकना अत्यंत कठिन है; क्यों कि यह ऐसा है कि उसकी चारों दिशाओंमें देखनेवालेको नाना प्रकारके अनिवार्य भय, अपार दया और अतिशय ग्लानि उत्पन्न करानेवाले दृश्य हैं ! तो भी जगत्के कल्याणके लिए मैं वह सब तुमको बताना चाहता हूँ. तथापि अभी तो हमें उन पीछे रह जानेवाले पथिकोंकी स्थितिका ही अवलोकन करना योग्य है. ऐसा करनेसे हमें स्वयं ही यमलोक देखनेका प्रसंग आयेगा. उनमेंसे अनेक लोग यमवासी होंगे; क्यों कि उन्होंने निर्भय और निष्पाप अच्युतपथका त्याग किया है और पवित्र मार्गसे पतित होनेवाले सब लोगोंकी बहुधा यही गति होती है. प्राणीको लोकवासना, कर्मवासना, देहवासनासे सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं होता. उन वासनाओंसे नरकमें ही पड़ना पड़ता है. इसलिए प्रत्येक प्राणीको अनात्म—पदार्थोंके वासनारूप जालोंसे मुक्त होना चाहिए. आत्माकी वासना और निरंतरकी आत्मनिष्ठासे मायिक वासनाका नाश होता है, इसलिए सत्य तो आत्माकी वासना है. वही वासना ग्रहण कर शेषका त्याग करो. यह परब्रह्मके अनुसंधानका सत्व है. परंतु चलो, हम पहले उन पुरवासियोंको देखें." इतना कहते ही विमान वहांसे सपाटेसे उड़ा और पलभरमें जगत्पुरके भूभागमें आ खड़ा हुआ.

दिन बहुत चढ़ गया था. उपवनके पशु पक्षी सब अपने निर्वाहकार्यमें प्रयत्नशील हो गये थे. तो भी उस सत्साधकके संघसे बिछुड़े हुए, अच्युतपथपर श्रद्धा न रखनेवाले और विषयमें गर्क (चूर) होनेवाले

१ नरक.

प्रमादी तो अभी तुरंतके ही उठे हुए मालूम होते थे. उठनेके बाद चहूँ ओर देखने लगे तो, उनका संघ तो बहुत देर पूर्व चला गया था इससे वहां किसीको नहीं देखा. उन्हें कुछ उदासीनता तो अवश्य मालूम हुई परन्तु स्वयं ही उन्होंने संघका अनादर किया था इसलिए मनको फिरा कर अब वे वहांसे रवाना होनेकी तैयारी करने लगे. परंतु कहां जायँ ? पुरद्वार तो बंद था और अच्युतपथके सिवाय दूसरा कोई मार्ग वहांसे नहीं गया था. सब ' किंकर्तव्यविमूढ़ ' बन खड़े रहे, परस्पर मुँह देखने लगे और ऐसे मालूम हुए मानो वे पूछते हैं कि क्या करें. उनमेंसे किसीका मन आगे बढ़नेको न था और पीछे फिरनेका मार्ग ही न था. उन्होंने विचार किया कि आजका दिन यहीं बितायें, तब तक किसी आने जानेवालेके वास्ते द्वार खुलेगा तो उसीके पीछे भीतर चले जायँगे. रातको तो द्वार अवश्य खुलेगा ही. ऐसा विचार कर एक बड़े वृक्षकी छायाके नीचे जानेके लिए पुनः सब पीछे फिरे. इतनेमें उनमेंसे एक आदमी अकस्मात् जोरसे चीत्कार कर नीचे गिर पड़ा और " ओ बाप रे ! मेरे भाई रे ! हाय ! हाय ! मुझे यह कोई घसीटे लिए जाता है रे ! मुझे कोई बचाओ रे ! " आदि कहता हुआ थोड़ी देरमें अचेत हो गया. सब आश्चर्यचकित हो कर उसके आसपास आ खड़े हुए और यथाशक्ति सेवा शुश्रूषा करने लगे. इतनेमें एक दूसरे आदमीने भी वैसी ही चीत्कार मारी. वह कहने लगा:— " अरे ! किसीने मेरा गला पकड़ लिया है ! अरे ! मैं किसी बड़े बलवालेके लंबे पंजेमें पड़ा हूँ ! हाय ! हाय ! उसके तीक्ष्ण नख मेरे शरीरमें चुभे जाते हैं. अरे ! मुझको तो निश्चय होता है कि जैसा वह महात्मा सत्साधक कहता था वैसे काल पुरुषने ही मुझे पकड़ा है. कोई दया कर मुझे छुड़ाओ ! अरे ! मैं चला ! हाय रे ! मैं जाता हूँ ! ! यह कोई भयंकर राक्षस मुझे घसीटते ले जा रहा है. "

ऐसी बातें करते और देखते देखते दोनों जीव चल बसे. उन्हें कोई नहीं रख सका—कोई भी नहीं बचा सका. ऐसी प्रत्यक्ष घटना देखकर सत्साधकके वचनों पर श्रद्धा (विश्वास) न रखनेवाले ये सब अश्रद्धालु, प्रमादी, विषयलुब्ध लोक, वित्त, पुत्र, कलत्र आदि जगत्की इच्छाओंमें राग–प्रीति करनेवाले, निस्तेज हो गये. उनका अंतःकरण एकदम सचेत हो गया और सारे अश्रद्धालु जीव अपनेको अकस्मात् कृतांत कालपुरुषके पंजेमें फँसा हुआ मानने लगे. वे पछताने लगे कि—" हरे ! हरे ! उस परोप-

कारी महात्माकी दयासे हम लोग इस अभय पथमें होते हुए भी, स्वयं ही उसका साथ छोड़ निराधार हो गये और उसकी कृपासे प्राप्त हुई स्वतंत्रता खो देनेकी अनी (नोक) पर आ बैठे हैं. आकाशमें पक्षी और जलमें जैसे जलचरके पैर नहीं मालूम होते, वैसे ज्ञानीकी भी गति मालूम नहीं होती. वैसे ही गुरु सत्साधककी गति हम नहीं जान सके. " इस तरह विलाप करते थे, परंतु अब क्या लाभ." फिर गुरुदेव, सब विमानवासियोंको सम्बोधन कर बोले:—" उपदेश देने पर भी जिसे किसी भी प्रकारका अनुभव या बोध नहीं होता, उस नराकृति (मनुष्यका स्वरूप) गधेको वह गुरु या शास्त्र किस तरह उपदेश दे ? अरे ! सत्य सदा जय ही पाता है, असत्य (अनृत) नहीं. सत्य-श्रद्धासे ही देवमार्ग मिलता है और जिसकी सत्य कामनाका विकास हुआ है वही वहां जा सकता है, भ्रमवाला नहीं. " थोड़ी देरतक इन भ्रष्ट जीवोंने-हाय हाय-शोच किया फिर वे बोले:—" पर होगा, चलो, हुआ सो हुआ, परन्तु अब अपना यहां खड़े रहना हितकर नहीं है. यद्यपि दीर्घ काल होनेसे संघ और हम लोगोंमें बहुत अंतर पड़ गया है, तो भी जरा शीघ्रतासे चलेंगे तो कलतक जा मिलेंगे. " ऐसे विचारसे वे तत्काल रवाना हुए और महात्मा सत्साधकका संघ जहांसे होकर गया था उसी मार्ग पर चले. सबने सोचा कि, किसी तरह भी संघसे शीघ्र जा मिलें तो अच्छा और इसीसे जल्दी जल्दी पैर रखने लगे.

विमानमें महाराजा वरेप्सुने, गुरु महाराजसे विनय की:—" दयानिधे ! ऐसा क्यों ? सत्साधकने पुरद्वारका उल्लंघन करते समय कहा था कि, 'पुरद्वार लांघकर बाहर हुए मनुष्यको कालपुरुषका भय नहीं है तो भी अभी उन दो मनुष्योंको कालपुरुष कैसे पकड़ सका ? यह तो अच्युतपथको कालिमा लगानेवाला काम हुआ ! " बटुक वामदेवजी बोले:—" राजा ! इससे पवित्र अच्युतपथको कालिमा नहीं लगती. इससे तो उल्टे उसकी पवित्रता अधिक प्रकाशित हुई; क्योंकि सारे संघके गुरुरूप महात्मा सत्साधककी आज्ञा-मर्यादामें जब तक वे लोग थे, तब तक ही वे अच्युतपथ पर थे और तभी तक वे निर्भय भी थे ! परंतु जब उस महात्माके वचनों और पुरद्वारसे मिले हुए स्वतंत्रपत्र पर उनकी श्रद्धा (विश्वास) न रही और जबसे उन्होंने आगे चलना बंद कर वहांसे पीछे फिरनेका निश्चय किया, तबसे ही, वे अच्युतपथसे पतित हो गये. अज्ञानी, अश्रद्धावान्

और संशयात्माका विनाश ही होता है. यह लोक या पर लोक इनमेंसे एक भी इसका नहीं. संशयात्माको सुख नहीं, उसका तो विनाश ही होता है. अब इनके पासके स्वतंत्रपत्र, पथदर्शिका इत्यादि साधन भी जबर्दस्ती छिन जाने या खोजानेके समान ही हैं. अच्युतमार्गसे भ्रष्ट हुए लोगोंके पास वे साधन रहने नहीं दिये जाते. इस कामके लिए एक खास अधिकारी है, जो तुरंत आकर उनके पाससे उन अमूल्य वस्तुओंको छीन लेता है. इस समय भी वह यहां तैयार ही था, परंतु फिर इन लोगोंको कुछ श्रद्धालु होकर अच्युतमार्गमें जाते देख, वह पीछे फिरा है. देखो, उस पुरद्वारकी खिड़कीसे होकर भीतर जा रहा है. वही वह है. " सब विमानवासियोंने उसे प्रत्यक्ष देखा.

फिरसे अच्युतमार्गमें जानेवाले ये पीछे रह जानेवाले पथिक जहां तक सीधा मार्ग था वहां तक तो विना रोक धड़ाकेसे चले गये; परंतु जमीन छोड़ कर उपारण्यमें होकर जब अरण्यमें प्रविष्ट हुए तब फिर इनके कर्म आड़े आये. संशयात्माकी यही गति है. उन दो मार्गोंके मिलनस्थान पर आकर वे रुक गये और अब किस मार्गसे जायँ, इस भारी विचारमें पड़े. उनका कोई अगुआ या पथदर्शक (गुरु) नहीं था अतः वे किसके विचारका अनुधावन करें? किसके कथनानुसार व्यवहार करें? पंथबोधिनी यद्यपि सबके पास थी परन्तु उन सबमें एकसे बढ़ कर एक अधिक असावधान थे इस लिए उसमें देख कर मार्गका निर्णय करनेकी सिरपची ही कौन करे? फिर उन्हें पथबोधिनीके देखनेका कोई कारण भी नहीं दीखा, क्यों कि जो मार्ग बड़ा, सीधा और सुशोभित लगता था, वही अच्युतमार्ग होगा, ऐसा विचार कर वे इस मार्गकी ओर मुड़ रहे थे इतनेमें फिर दूसरी तरहसे भी उनके विचारकी पुष्टि हुई.

इसी मार्गसे (उस रमणीक मार्गसे) एक युवा हँसमुख पुरुष इनकी ओर आते दीखा. वह ऐसा सुन्दर था कि उसे देखते ही चाहे जैसा पुरुष हो तो भी उसे मोह पैदा हो जाय. उसके सुन्दर शरीर पर वस्त्रालंकार भी बहुत शोभा दे रहे थे और उन्हें वह चित्र विचित्र मोहकरीतिसे पहरे था. उसका मुखमंडल और विशेष कर उसके चपल नेत्रोंसे

---

१ उपारण्य अर्थात् उपवन. नगरके समीपका छोटा वन. २ जो पथदर्शिका वही पथबोधिनी.

वह बड़ा चतुर, साहसी और सुहृद् जान पड़ता था. कुछ पास आनेपर वह हँसमुख होकर बोलाः—" अरे भाइयो ! तुम किसकी वाट देखते हो ? यहां क्यों खड़े हो ? ऐसा सुन्दर और सरल मार्ग तुम्हारे लिए खुला होने पर भी द्विविधाका क्या कारण है ? " इतना कह कर ही उसने देखा कि इनका कोई अगुआ नहीं है और इसलिए वह बेधड़क होकर बोलाः— " डरना नहीं. मैं सारे मार्गका दर्शक हूँ. चलो, मैं तुम्हें अनेक सुखोंका स्वाद चखा कर मौज कराऊंगा. " यह सुन सब लोग बहुत प्रसन्न हुए. फिर मध्यसे एकने पूछाः—" आप कौन हो और आपका नाम क्या है ? आप इस मार्गके पथदर्शक हैं तो हमसे पहले गया हुआ संघ तुम्हें मिला ही होगा; वह कहां तक पहुँचा होगा ? " इसके उत्तरमें उस युवाने चतुराईसे कहाः—" क्या तुममेंसे मुझे कोई नहीं जानते ? रति देवीका पति जो कामदेव है वही मैं हूँ. तुमसे पहले जानेवाला संघ मैंने देखा है. वह अनुमान एक मुकाम तक पहुँचा होगा. " वह फिर बोलाः—" तुम्हारा उस संघसे क्या मतलब है ? यदि मेरा मिलाप न हुआ होता तब तो तुम भूलकर चाहे जिस रास्ते चले जाते और व्यर्थ दुःखी होते; परन्तु अब मैं साथ हूँ, अब तुम्हें किसीका काम नहीं पड़ेगा. मेरा निवास सदा इस मार्गमें ही है. वह सिर्फ तुम्हारे समान पथिकोंको इच्छित सुख देनेके लिए ही है. अब तुम सारी चिन्ताओंसे मुक्त हो जाओ. मैं तुम्हें नये किस्मके अनेक इच्छित सुखोंका भोक्ता करूंगा. मेरे साथ चलो. (उँगलीसे अच्युतमार्ग बताकर) वह मार्ग तो महाकष्टकारक है, उस ओर भूल कर भी न जाना."

इस चंचल दिव्य पुरुषके रूप, रंग और ऐसी सरलतागर्भित वातोंसे पथिक एकदम भूल, जरा भी विचार करनेका समय न लेकर तुरंत उसके साथ चलने लगे. यह देख अंतरिक्षमें स्थित विमानवासियोंसे महात्मा वामदेवजी निःश्वास छोड़कर बोलेः—" बहुत बुरा है ! अरे ! अपनेसे श्रेष्ठ, परोपकारी और अपना हित करनेके लिए ही प्रवृत्त हुए गुरुजनका उपदेश जो नहीं मानता अथवा उस पर विश्वास नहीं रखता उसकी उस निंद्य कृतिका ऐसा ही परिणाम होता है ! महामाया ! ज्ञानीके भी मनको जबर्दस्ती महामोहमें डुबा देती है, तो फिर अज्ञानीकी क्या आशा ? मायासे ठगाया हुआ जीव गुरुवचनपर संशय करता है और अच्युत प्रभुमें भेद देखता है. सत्यका संग त्यागता और वारम्वार जन्म मरणको ही प्राप्त होता है. इन मूढोंने पहलेसे ही यदि महात्मा सत्साधकके वचनों पर विश्वास रखा

होता तो ये ऐसे टेढ़े मार्गमें न आते. पर ये तो उस कपटी कामके वश होकर नरकमार्गमें आरूढ़ हुए हैं ! अब इनकी क्या गति (उपाय) है ? " इस प्रकार कह कर विमानको इस मार्गकी ओर फिराया और उसमें उपविष्ट पुण्यात्मा स्थिर चित्तसे उनका विनोद देखने लगे.

बहुत देर तक उस सुन्दर पुरुष—जिसने अपना नाम 'काम' बताया था-के साथ ये पथिक अपने मनको बहँकाते चले. उसकी अनेक प्रकारके वैभव विलासकी मोहक बातें सुनकर इन जीवोंको चलनेका जरा भी परिश्रम मालूम नहीं हुआ. बातोंसे इनके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएं पैदा हुईं. अंतमें देर भी बहुत हो गयी थी और रास्ता भी बहुत कट गया था इस लिए एक एक कर पथिक एक दूसरेसे अपनी थकावट और भूख प्यास बताने लगे. थोड़ी देरमें एक आश्रम आया. उसे दिखाकर कामने कहा:—"घबराना नहीं, यह सुन्दर आश्रम तुमलोगोंके उतरने (विश्राम करने) के लिए है. इसीमें जाकर मुकाम करो. वहां तुम्हारे लिए सब आवश्यक चीजें तैयार हैं; और जबतक तुम्हारी इच्छा हो तबतक उसमें रह सकोगे. यह आश्रम ऐसा है कि इसमें रहने न रहनेके विषयमें किसीको कुछ प्रतिबंध नहीं है. ऐसा होते भी मार्गस्थ (रास्ता चलनेवाले) होनेके कारण तुम्हारी इच्छा अधिक रहनेकी न हो तो आजकी रात सुखसे बिताओ, कल चलते समय मैं फिर यहां आकर तुम्हें मार्ग बतानेके लिए तैयार रहूँगा. ऐसा कहकर वहांसे वह चला गया और वे सब पथिक रास्तेसे उतरकर बाजूके आश्रममें गये.

यह आश्रम एक अति विशाल और शोभायमान धर्मशाला थी. उसका बड़ा दरवाजा बंद था. ज्यों ही पथिक उसके पास गये त्यों ही वह आप ही आप फड़ाफड़ खुल गया और उसमेंसे एक पुरुष बाहर आया. यह पुरुष इस धर्मशालाका व्यवस्थापक था. यह उन्हें आदरसे भीतर ले गया और प्रत्येकके लिए तुरंत बैठने सोनेकी सुविधा कर दी. फिर यह एक कमरेमें गया. इस कमरेकी दीवार जालीकी बनी थी और उसमें जानेकी खिड़की भी जालीकी ही थी, इससे भीतर क्या है यह सब अच्छी तरह देखा जा सकता था. भीतर खानेके लिए अनेक प्रकारकी स्वादिष्ट मिठाई थालीमें सजी हुई रखी थी. एक ओर जलके पात्र, एक ओर खेल क्रीड़ाकी चीजें और एक बाजूमें सोना मोहर आदि अमित धनकी राशि (ढेरी) पड़ी थी. उसमें मनुष्यके उपभोगकी सारी वस्तुएं थीं. यह पुरुष भीतरसे एक जल-

पात्र लाया और सब पथिकोंको आवश्यक जल दे आया. जिनका पाथेय (राह-खर्च) उठ गया था उन्हें भोजन भी ला दिया. रात होने लगी, इसलिए दिया बत्ती जला कमरेकी जालीदार खिड़की बंद कर वह वहांसे चला गया. जब सब भोजन करनेको बैठे, तो जिन्हें धर्मशालासे भोजन मिला था उनके पासका अत्यंत स्वादिष्ट पदार्थ देख, दूसरोंका मन भी उसको लेनेको ललका. इससे वे अपना अन्न फेंककर उस कमरेसे अन्न लानेके लिए प्रयत्नशील हुए. बहुतोंके मनमें यह भी विचार हुआ कि देखें तो सही, इन सब कमरोंमें क्या भर रखा है ? इस विचारसे अनेक लोग कमरोंकी खिड़कियोंके पास जा खड़े हुए, उन पर बड़े और शुद्ध अक्षरोंमें लिखा था कि; "मा प्रविश्यताम्, भीतर मत पैठो." तो भी उसकी परवा न कर कई पथिक भीतर घुस गये. पास ही सजाकर रखी हुई थालियोंमेंसे मिठाई लेकर खाने लगे. वे विचारते थे कि उस व्यवस्थापकने बाहर लाकर जो मिठाई दी थी वह इसीमेंसे ले गया होगा. परन्तु यह उनकी भूल थी. पथिकोंको जो मिठाई दी गयी थी वह अच्छी थी और दूसरे कमरेसे लाकर दी गयी थी. यह मिठाई जिसे वे स्वाद पूर्वक खाते थे, बहुत मादक थी. उसमें ऐसा विपाक्त मिश्रण किया गया था कि उसके खाते ही उनका सिर घूमने लगा और वे परस्पर अपशब्द बकने लगे. फिर वे अत्यंत विस्तृत कमरेमें इच्छानुसार चहूं ओर फिरने लगे, तब एक ओर पड़ा हुआ वह धन भाण्डार उनकी आंखोंके सामने पड़ा. संसारकी माया ऐसी है कि चाहे जैसी अस्वस्थ अवस्थामें भी मनुष्यको धनेच्छा नहीं छोड़ती. तदनुसार यह द्रव्य भाण्डार देख कर वे इसमेंसे मोहरोंकी गठरी बांधने लगे. एक कहता है कि:—'यह सारा द्रव्य तो मेरा है, इसे तू क्यों लिए जाता है ?' तब दूसरा कहता है कि, 'चल मूढ़ ! यह सब तो मेरा है.' ऐसा करते करते वे परस्पर लड़ पड़े और ऐसा घमसान मचा कि अनेक लोग घायल हो गये और कमरेका बहुतसा सामान भी नष्ट भ्रष्ट हो गया. एक दूसरेके भयसे बहुतसे भागकर बाहर आने लगे, परन्तु किस तरह आयें? खिड़की बिलकुल बंद थी. उस खिड़कीमें यह चमत्कार था कि भीतर जानेके लिए वह स्वयं खुलजाती और भीतर जाते ही इस प्रकार बंद हो जाती कि भीतर गये हुए लोगोंको उसके खोलनेकी कल जाने बिना बाहर आना बिलकुल ही अशक्य हो जाता था. इससे ये पथिक भी ठीक ही ठीक सपड़ाये और अपने हाथसे कैदमें जा पड़े. फिर जालीसे देख कर

बाहर रहनेवालोंसे दरवाजा खोलनेके लिए विनय करने लगे. पर कौन खोले? उनमें फिर दूसरी ही तकरार पैदा हुई.

खा पीकर वे एकान्तमें बातें करते और भीतर जानेवालोंको अनुचित काम करनेसे रोकते तथा धमकी देते बैठे थे, इतनेमें वहां एक अतिशय रूपवती तरुणी आयी. वह आश्रित होकर कहने लगी:—"अरे! तुम इतने बहुत पुरुष हो, उनमेंसे क्या कोई भी मेरी रक्षा नहीं कर सकता? मैं एक अबला हूँ, बहुत धनवाली हूँ इस लिए जो मेरी रक्षा करेगा, उसे असंख्य धन देकर उसकी स्त्री हो रहूँगी?" नवयौवना सुन्दरीको देखकर वे पथिक सब बातें छोड़कर उसके मुखचंद्रकी ओर चकोरकी तरह देखने लगे. प्रत्येकके मनमें उसके लिए आसक्ति पैदा हुई और सब मनमें चाहने लगे कि, अपार धन सहित यह सुन्दरी हमें प्राप्त हो तो अहो भाग्य! परन्तु उसकी बातोंमें क्या मर्म भरा था उसका किसीने पलभर भी विचार नहीं किया अर्थात् उसने अपनी रक्षाके लिए विनय की थी और रक्षा करे उसीके अधीन होकर रहना सूचित किया था, उस विषयमें तो किसीने पूछा भी नहीं कि, उसे क्या दुःख है और किससे वह अपनी रक्षा करना चाहती है. फिर वह कौन है, यहां कहांसे और कैसे आयी है, यह भी नहीं पूछा. इतनेमें रास्तेमें उन्हें मिला हुआ वह पथ-दर्शक वहां आ पहुँचा. वह सबसे पूछने लगा:—"क्यों ठहरनेका स्थान तो ठीक है न? जो कुछ चाहिए मुँहसे मांग लेना, जरा भी विचार नहीं करना?" फिर उस स्त्रीकी ओर देखकर बोला:—"यह कौन है? अहो! लालसा है क्या? तू यहां कैसे?" तब लज्जितके समान नीचे देखती हुई वह स्त्री बोली:—"क्या करूँ? आप तो मुझ जैसीकी ओर नजर भी नहीं करते और वह प्रपंची समूह वारम्वार मुझे सताता है. मेरी समृद्धि उससे देखी नहीं जाती. मैं अबला उसका क्या कर सकती हूँ? इस लिए यदि किसीके आश्रयमें रहूं तो उनका दुःख मुझे नहीं सता सकेगा, ऐसा विचार कर यहां आयी हूँ." इतनेमें पथदर्शक कामने कहा:—"कुछ चिन्ता नहीं; इन पथिकोंमेंसे कोई बड़ा पथिक तुझे आश्रय देगा." फिर प्रत्येक पथिककी ओर वक्रकटाक्ष मार कहा:—"यह युवती बड़ी समृद्धिवाली है, इस लिए इसे रखो. इसके लिए तुमपर कुछ आपत्ति आपड़े तो डरना नहीं. मैं अभी जाकर फिर आता हूँ." ऐसा कह कर वह चला गया।

कामकी प्रेरणा और लालसाके रूपसे ललचाकर पथिकोंने उस स्त्रीका

स्वागत किया और आश्रमके एक कोनेकी ओर सबने उसे अपनी प्यारी मान, निश्चिन्त रूपसे बैठाया. अनेक तो उसकी सुन्दरतामें इतने लट्टू हो गये कि वे उसके आसपास घेर कर बैठ गये. वह स्त्री भी अपने कटाक्षबाणसे सबके हृदय भेदती थी. जैसे सांपको रस्सी समझ कर पकड़नेसे प्राणान्त होता है वैसे असत्यमें जिसे सत्यका निश्चय होता है, वह अपने आत्माका नाश करता है. उसी तरह विषको अमृत समझ कर पीनेवालेकी गति विष समान होती है, वैसी ही अवस्था उनकी भी होती है जो कामके चेरे बने हैं. परंतु असत् सत् नहीं होता, और सत् असत् नहीं होता है. इन दोनों (सत्-असत्) का निर्णय सिर्फ तत्त्वदर्शी—परब्रह्मको जाननेवाला और सद्गुरुकी सेवामें रहनेवाला ही जानता है.

यह सब खटपट होते चार घड़ी रात बीत गयी. सोनेका समय हुआ. प्रत्येक पथिक मनमें विचार करने लगा कि सबसे पहले यह स्त्री मेरी कामना पूर्ण करे तो मेरा अहो भाग्य है. परंतु इतनेमें एक बड़े वीरके समान प्रचण्ड पुरुष उस तरफ आते दीखा. उसे आते देख कर, उँगलीसे बता कर लालसा, पथिकोंसे कहने लगी:—“देखा ! वह आता है, वही मेरे पीछे लगा हुआ लुचोंका सरदार है ! इसका नाम क्रोध है ! वह बड़ा बुरा है और झगड़ा या मार पीट करनेमें जरा भी विचार नहीं करता, इससे मेरी रक्षा करो, बस दूसरोंसे तो मैं जा कर लडूंगी. ” इतना कहते कहते तो वह वीर खिड़कीके पास आ खड़ा हुआ और जोरसे बोलने लगा:—“क्यों रे ! यहां कौन उतरा है ? यहां कोई स्त्री आयी है क्या ? ” इसके उत्तरमें कोई नहीं बोला; तब वह भीतर घुस आया और इधर उधर देखते लालसाको देख तुरंत ही बड़े क्रोधसे असह्य गालियां देने, पैर पीटने, हाथोंका लट्ठ उठाने और बड़ी लाल पीली आंखें दिखा कर डराने लगा. यह देख, सब पथिक लड़नेको तैयार हो गये और लड़ाई होने लगी. क्रोधका जोर दुगुना बढ़ा, तो भी पथिकोंने उसे नहीं छोड़ा. सब एकबार ही उससे लिपट पड़े, परंतु वे उलटे उसके अधीन ही होते गये. वे यदि उससे दूर रहते तो उसका जोर नहीं चलता, परन्तु उसे पकड़ कर मारनेके विचारसे लिपट गये इससे इतने अधिक जर्जरित होगये, कि क्रोध अकेला और वे इतने सब होते भी वह सबको अपने साथ घसीट कर ले चला. इस समय कई तो अचेत हो गये और अनेक निर्बलकी तरह घसिटते चले. इतनेमें एक नया ही पुरुष वहां आ पहुँचा. उसने इस गड़बड़का लाभ उठा कर सबको भुला-

वेमें डाल दिया. सबको एक ओर कर दिया, लालसाको हाथसे उठा कर ले चला. दोकी लड़ाईमें तीसरेका काम हुआ. यह गड़बड़ रास्तेसे ही सुन कर, यह कोलाहल किसका है, यह जाननेके लिए, एक दूसरा विवेकी पुरुष वहां आया और यह अनुचित हुआ बता कर उसने तुरंत बल भर चिल्ला कर पथिकोंसे कहा:—"अरे, मूर्खो! अकेले इस क्रोधसे ही क्यों लिपट रहे हो? देखो! तुम्हारी स्त्रीको तो वह लुचा मोह उठाये लिए जाता है. अब तुम उसके पास तक भी पहुँच नहीं सकोगे. यह तो खूब हुआ. स्त्री जाय तो भले ही जाय; पर उसके पासका धन तो कुछ ले लो. चलो, मैं उसको पकड़ लाता हूँ और फिर हम उसका कुछ उपाय करेंगे.

आत्माभ्यासयोगसे जब तक जीवकी भेदबुद्धि शान्त नहीं हुई और वह सर्वत्र द्वैत देखता है; तब तक अतद्रूपा बुद्धि—मायासे मुक्त हो, अद्वैत जो एक ब्रह्म—अच्युत—उस ब्रह्मका दर्शन तो एक ओर रहा, परंतु उसके जाननेकी भी शक्ति नहीं होती. ब्रह्मधाम जानेके मार्गमें जो द्वारपाल हैं उनमें शम, विराग, संतोष और साधुसंग ये चार हैं. ये पथिक इन चारोंका त्याग करनेसे फिर महामायामें मुग्ध हो गये हैं. इन मुग्ध हुए पथिकोंको सचेत कर वह मनुष्य, जिसका नाम लोभ था, उस स्त्रीको लेजानेवाले मोहको बुला लाया. इतनेमें वह पथदर्शक काम भी आ पहुँचा. फिर सबने एकत्र होकर ऐसी पंचायत की कि लालसा और कामको स्वाधीन कर उसके पासका धन सब बांटलें. बांटते समय दो दूसरे लोग जाकर उसमें भिड़े. एकका नाम मद और दूसरेका मत्सर था. ये दोनों लड़ाईकी जड़ थे. एक अभिमानी और उन्मत्त था और दूसरा ईर्षालु (अदेखा) था. बांटनेका काम लोभके हाथमें था जो पक्का स्वार्थी और पेटू था. इससे भाग बराबर न होकर धन एक दूसरेको कम बढ़ मिला. इससे किसीको संतोष नहीं हुआ. जिन्हें जरा कम भाग मिला, वे भी बड़बड़ाने लगे कि यह बराबर बांटा नहीं है. इनमें पहले मत्सर था, वह तो गाली दे कर कहने लगा कि, 'हमें फिरसे बांट दो.' इस समय जिनके भागमें कुछ अधिक आया था उनमेंसे मद तड़क उठा कि, 'जाओ, जाओ, फिर किसका हिस्सा करें? जिसे जो मिला, वह उसके बापका. इस तरह मद और मत्सर दोनोंकी विरुद्ध बातें हुईं, फिर लड़ाई चली और क्षण भरमें लड़ाईका स्वरूप बढ़ गया. धड़ा—धड़ और पड़ा—पड़ मारा मार चली. इतनेमें बाहरसे अकस्मात् बड़ा डरावना शब्द सुन पड़ा कि, 'क्या है? कौन है? क्या गड़-

वड़ है ? धर्मशालामें किसने हुल्लड़ मचाया है ?' तुरंत चार पहरेवाले हाथमें मुद्गर ले कर वहां आ पहुँचे. वे इन लड़नेवालोंको झटपट पकड़ने लगे. इस समय काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि लुचे तो मौका पाकर ऐसी शीघ्रता पूर्वक वहांसे खसक गये कि किसीको खबर तक न हुई; और वह लालसा भी कहां भाग गयी, यह भी जाननेमें नहीं आया.

ये सब घटनाएं विमानवासी एक नजरसे देख रहे थे, वे वामदेवजीसे कहने लगे:—"गुरुदेव! इनमें तो सभी पथिक पकड़े गये ! और वह मंडली तो न जानें कहां गुप्त हो गयी." वामदेवजीने कहा:—"यह ऐसा ही होता है, मायामें लुब्ध करनेवाले हितशत्रुओंका काम ही ऐसा होता है. जैसे आंखें शब्दको नहीं देख सकतीं वैसे विषयबद्ध जीव परब्रह्मको नहीं देख सकता, क्यों कि दोनोंका स्वभाव समान नहीं है और इसी तरह विषयोंका अनुसंधान करनेवाले जीव नीच जन्म प्राप्त कर सब इंद्रियां पा आत्महित नहीं जानते. वे ही सचे आत्मघाती हैं और उन्हीको इस संसारमें बड़े बड़े दुःख होते हैं. परंतु अब पकड़े हुए जीवोंकी क्या दशा होती है वह देखो ! ये पहरेदार धर्मशाला—विभागके हैं. रातमें ये एक दो वार जांच करने आते हैं. यह मार्ग यमलोकका है, इसलिए यहां सब सत्ता भी यमराजकी ही होनेसे ये पहरेदार भी यमके ही दूत हैं. अब स्वयं ही इन हतभाग्य पथिकोंके कर्मोंसे यमका दरबार देखनेका तुमको भी अवसर मिला है."

जांच करनेको आये हुए ये दूत तुरंत भीतर आकर खूँटियों पर टँगी हुई पथिकोंकी पोटली, जिनमें उन्होंने पुरद्वारसे प्राप्त हुए स्वतंत्रपत्र रखे थे पहले ही कब्जेमें कर लीं. स्वतंत्रपत्र गये तो सब गया. इनके बलसे अब तक उनपर कोई जबर्दस्ती नहीं कर सकता था. वे स्वतंत्र थे, अर्थात् जो चाहें वह करनेको अधिकार था. परन्तु अब सब खो बैठे, परतंत्र हो गये. फिर दूतोंने तुरंत उन्हें पकड़ पकड़ कर प्रत्येकके हाथमें हथकड़ियां डाल दीं. इसके वाद दूत फिर भीतर उस जालीदार कमरेकी ओर देखते हैं तो वहां भी वैसी ही अवस्था थी. भीतर गये हुए सभी जीव मजा मौज करके बैठे थे. कोई तो अब तक नशेमें ही ऊंघते थे. यह देख दूत बहुत ही क्रुद्ध हुए. उन्हें भी पकड़ पाशद्वारा एकसाथ बांध लिया और फिर सबको धर्मशालाके बाहर कर क्षणभर भी विलंब होने न देकर उसी समय, इस भारी अपराधका दंड दिलानेके लिए उन्हें यमपुरमें ले जानेको तैयार किया. दो दूत आगे और दो पीछे हुए. अनेक कटुवाक्यों और हाथके मुद्गरोंसे ताड़न (ध-

मकाते) करते चलने लगे. सिर और पीठपर धड़ाधड़ मुद्गर पड़ने लगे और हृदयको विदीर्ण करनेवाली क्रूर हुंकार सुनाई पड़ने लगी. इससे नशेमें बेवश होनेवाले पथिकोंका नशा भी कहीं जाता रहा और वे, 'अरे रे ! अरे बाप रे ! हाय हाय रे !' ऐसी पुकार मचाने लगे; फिर सब जोरसे पुकारने लगे कि:—'अरे दुष्ट काम ! तुझ पापीने ही हमें फँसाया. हाय रे, तू चांडाल ही हमें बुरे मार्गमें लाया. अरे ! तूने ही उस लुच्ची स्त्रीको स्वागत करनेकी हमें सम्मति दी और तेरे कहनेसे ही हमें अपना (पाथेय) छोड़ स्वादिष्ट भोजन करनेकी इच्छा हुई. पर कोई क्या करे ? हाथके किये हुए हीने हृदयको दुःखित किया है. परमदयालु और परोपकारी महात्मा सत्साधकका साथ न छोड़ते, अरे ! उसके प्रत्येक शब्दपर विश्वास किये होते तो यह दुःख भोगनेका दिन न आता. उसका संग त्यागनेसे ही चित्तको वैधुर्य (मोह) पैदा होने और अजेय पापी पिशाचकी हम पर दृष्टि पड़नेसे, हम परब्रह्मको भूल महामायामें फँसे हैं." फिर दूतोंसे वे बड़ी नम्रतासे प्रार्थना करने लगे कि, 'दया करो ! दया करो ! फिरसे हम ऐसा काम कभी नहीं करेंगे. हम किसीकी न सुनकर अब सीधे अच्युतमार्गमें ही चले जायँगे." परंतु वे सुनें किसकी ? उन्होंने तो उत्तर दिया कि:—"हमें तो सिर्फ अपराधियोंको पकड़ ले जानेका ही अधिकार है, क्षमा कर छोड़ देनेका अधिकार नहीं है. इसलिए एक बार तो तुम्हें यमराजके समक्ष होना ही पड़ेगा. फिर दंड दें या छोड़ दें, यह वे जानें. मदारीके हाथमें जैसे बंदर हो वैसी दशाको प्राप्त वे अविश्वासी और प्रमादी पथिक, वासनामें मौज मान व्यर्थ ही अति दुःखरूप यममार्गमें चले।

विमानस्थ पुण्यात्माओंसे गुरु वामदेवजी कहने लगे:—"नास्तिकता, गुरुवचनपर अविश्वास, अश्रद्धा, वासनामें लीनता और प्रमाद इन भारी दुर्गुणों का ही यह परिणाम है. परन्तु उषःकाल होता है इसलिए स्नानादिसे निपट लो ! फिर अच्युतपुरगामी महात्मा सत्साधकके संघके दर्शन करनेको तैयार हो." महाराजा वरेप्सु बोले:—"कृपासिन्धु ! हम लोग ऐसे फिरेंगे तो फिर ये यमदूतोंके अधीन होनेवाले पथिकोंका क्या होता है, यह देखनेको हमें नहीं मिलेगा."

गुरुजी बोले:—"यममार्ग बहुत लम्बा है, इससे यमपुर पहुँचते इन लोगोंको बहुत विलंब लगेगा. फिर अच्युतमार्ग देखनेके बाद हमें दूसरे

अनेक कार्य करने हैं. अभी पुरद्वारमें रह जानेवालोंकी स्थिति तो हमें देखनी बाकी ही पड़ी है. उसे देखनेके समय यमलोक और वहां जाने-वालोंकी स्थिति आदि सब मैं तुम्हें बताऊंगा. ' फिर विमान आकाश-मार्गको उड़ा. सर्व पुण्यात्मा अपने अपने प्रातराह्निकमें प्रवृत्त हुए. प्रातःकाल हुआ. सूर्य देवकी स्वर्णरंग समान कोमल किरणें पृथ्वी पर फैल गयीं और पुण्यात्मा लोग अपना अपना प्रातराह्निक और गुरुचरणोंको प्रणाम कर तैयार हो गये. विमान अच्युतपथ पर, जहां सत्साधकका संघ उतरा था, आकर अंतरिक्षमें स्थिर हुआ और जमीनसे समर्थ अच्युत प्रभुके नामका जयजयकार सुन पड़ा. वहां सब पुण्य जन नीचे बैठे थे. थोड़ी देरमें संघ स्नान संध्यादि कर चलनेके लिए तत्पर हुआ और मंगलाचरणमें जय-जयकार चलने लगा. उस समय गुरु वामदेवजीने महराजा वरेप्सुसे इस प्रकार पूछा जिससे सब सुन सकें. आपने कहा:—" क्यों भला वरेप्सु ! अब तुम सबको इन पथिकोंका मार्ग कैसा लगता है ? उनकी स्थिति कैसी है ?" वरेप्सु बोले:—" दयानिधान ! यह देख कर मुझे बड़ा हर्ष होता है कि इनका मार्ग उत्तरोत्तर बहुत निर्भय है, इनकी स्थिति भी बहुत अच्छी और दृष्टिसे परे है. उसका वर्णन करना भी, अशक्य है ? भव्यतामें भव्यता लीन होती है. व्यावहारिक जनोंकी दृष्टिमें भयंकर त्रासदायक मालूम होता यह मार्ग आनंद, ऐश्वर्य, महत्तासे परिपूर्ण है. इसकी महत्ता वर्णन करने योग्य नहीं है. यह मार्ग भव्य और विज्ञानमय है. इस मार्गमें गये हुए जीव सर्वात्मभावको प्राप्त हुए हैं. उनके शरीर भी पहलेसे तेजस्वी, पवित्र और शान्त बने हैं. ये भी स्वाभाविक ही सरागी (आसक्त) हुए हैं. महात्मा भव्य मालूम होते हैं. इन सबको देख इस ओर भी प्रेमका प्रतिबिम्ब हुआ है. इनका मुख प्रसन्न है, मन पहलेकी अपेक्षा अधिक श्रद्धावाला दीखता है. मार्ग यद्यपि अरण्यमें है, तो भी बहुत पुण्यरूप आह्लादमय है. दोनों ओर सुन्दर अमराइयां खड़ी हैं, पक्षी मधुर शब्द बोल रहे हैं, ठौर ठौर जो जलाशय दीखते हैं उनमें निर्मल मीठा जल भरा हुआ है. फिर मार्ग चलते महात्मा सत्साधक वारंवार सर्वेश्वर अच्युत परब्रह्मके अद्भुत गुणोंका कथन करता जाता है. यह सुन कर पथिकोंको मार्गश्रम जरा भी मालूम नहीं होता. देखो, सब प्रेममें लीन हैं. आनंदमें मग्न हैं. ज्ञानी और प्रेमी पथिक तो उस प्रभुके पवित्र गुण सुन कर उसकी अपार

शक्ति और अद्वितीय दयालुताके प्रभावके लिए बहुत आनंद सह आश्चर्य प्राप्त कर, प्रेम उमड़नेके कारण, स्वयं भी मधुर स्वरसे गा रहे हैं. ”

इस प्रकार परम आनंदसे पथिक चले जाते हैं. यह संघ कुछ देरमें एक रम्य स्थानमें जा पहुँचा. वहां अनेक वृक्षोंसे ढके हुए पर्वतसे पवित्र जल-वाली सुन्दर सरिता बह रही है. उसके तटपर, उस पर्वतकी तराईमें एक बड़ा भव्य देवालय बना हुआ है. देवालयसे सहस्रावधि मनुष्योंकी एक साथ जयध्वनि सुनाई पड़ती है. वह जयध्वनि बहुत दूर पहुँच जाने पर, दुन्दु-भी और घंटानादसे भी अधिक प्रिय लगनेवाले, स्वररूपसे कानोंसे टक-राती सुनाई देती है. सुन्दर देवालयके मणिजड़ित स्वर्णशिखर और उसपर फहराती बड़ी ध्वजामें अंकित गरुडारूढ़ भगवान्, देखनेवालेके मनमें अच्युत प्रभुके उत्तम यशका स्मरण कराते हैं. वह पवित्र स्थान अच्युतमार्गकी दाहिनी बाजूपर है. उसके पास पहुँचते ही महात्मा सत्साधक मार्गमें खड़े हुए उस सत् संघसे कहने लगा:—“ हे पुण्यवान् पथिको! हमलोग अपना आजका मुकाम यहीं पूरा करें. दो तीन दिनोंसे हम चले आ रहे हैं इस लिए कुछ दिनों तक यहीं ठहरें. इस स्थानमें एक बहुका-लीन तीर्थ है कि जो, जिसकी शरणमें जानेके लिए हम लोग प्रेमबद्ध हुए हैं उस अच्युत प्रभुके सगुण स्वरूपका मनुष्योंको परिपूर्ण भान करानेवाला है. इसका नाम ‘ अच्युत-तीर्थ ’ है. यहां मुकाम करनेमें सबको सिर्फ आरा-मका ही लाभ नहीं किंतु दूसरे अनेक लाभ हैं. सारे प्राणियोंको एका-कार स्थितिमें लेजानेवाले सर्वेश्वर अच्युत प्रभु कैसे हैं, यह प्रत्यक्षके समान हम लोग इस तीर्थसे जान लेंगे. उन प्रभुको कौन वस्तु प्रिय और कौन अप्रिय है, वे किसके द्वारा हमपर प्रसन्न हों, उनके चरणोंमें किस तरह शीघ्र जा पहुँचें, इत्यादि अनेक बातें यहां निवास करनेसे हमारे जाननेमें आवेंगी. फिर हमसे पहिले इस मार्गमें गये हुए और हमसे इस मार्गके विशेषज्ञाता, दृढ़ मनवाले, तथा वासनारहित अनेक जी-वोंका साथ भी होगा. वे चाहे जितने बड़े हों तो भी निरभिमानी हो प्रेमपूर्वक समर्थ अच्युत प्रभुके दासानुदास कहलानेमें ही आत्मकल्याण मानते हैं. इस सर्वोत्तम तीर्थमें साक्षात् अच्युत परब्रह्मका प्रतिनिधि स्वरूप विराजता है. यहां बिलकुल अच्युतपुरका ही अनुकरण किया गया है. यहां हम उस प्रभुमें लीन–एकाकार वृत्तिवाला–होना अच्छी तरह जान-लेंगे. ” यह सुन बड़े हर्षसे कृपालु प्रभुका जयजयकार कर संघ अच्युत-

तीर्थकी ओर फिरा. तीर्थमें आगंतुक संघको ठहरानेके लिए विस्तीर्ण पथिकाश्रम था. वहांके अधिकारियोंने महाद्वारके पास आकर वैसे ही जयघोषद्वारा उनका स्वागत किया. फिर प्रत्येक पथिकके पासका स्वतंत्र-पत्र देख देख कर भीतर जाने दिया. सब पथिकोंने पुण्यतोया पवित्र सरितामें स्नान किया. उनके ललाट आदिक (सिर आदि) अंगोंपर केसर, कुंकुमादिके चिह्न किये गये और उत्तम प्रकारसे गंध पुष्पादिक पूजोपचार (पूजाका सामान) सहित उन्हें उस मंदिरमें विराजते हुए अच्युतरूपके दर्शन करनेको जानेकी आज्ञा हुई. महात्मा सत्साधक आगे हुआ और उन्हें मंदिरमें ले गया.

अब तक विमानवासी सब देख सके थे, परंतु अब मंदिरमें क्या है यह वे अंतरिक्ष (आकाश)में रह कर नहीं देख सके. इससे वरेप्सुने गुरुदेवसे विनय की, बस, विमान सररर करते नीचे उतर आया और मंदिरके द्वारके पास इस तरह खड़ा हुआ कि जिससे विमानमें बैठे हुए सब पुण्यात्मा मंदिरका सब दृश्य देख सकें, परंतु मंदिरमें आनेजानेवाले किसीको कुछ अड़चन न पड़े और जमीनका भी कोई मनुष्य देख न सके. यह अद्भुत गुण उसकी दिव्यतामें था. विमान स्थिर होते ही सबकी दृष्टि एक ही बार मंदिरके मध्यभागमें विराजे हुए मणिमय और तेजोमय गूढ़ सत्वसे परिपूर्ण, दिव्य, भव्य, ज्योतिरूपके ऊपर पड़ी. उसी समय सारे विमानवासियोंने बड़े हर्षसे जयजयकारकी महाध्वनि की. असंख्य तीर्थवासी, संघके पथिक और पुण्यात्मा इन सबके वारंवार होनेवाले एकत्र जयघोषसे वह विशाल मंदिर तो क्या परंतु अपार विशाल आकाश तक गर्ज उठा. यह जयगर्जना सुनकर उन प्रत्येक मनुष्योंके मनमें बहुत गंभीर भाव उत्पन्न होता था. मंदिरके मध्यभागमें बड़े विचित्र रत्नसिंहासन पर अनेक गूढ़ सत्वसे लवलीन, छबीला, मंगलमय, श्यामसुन्दर ज्योतिरूप विराज रहा था. इस स्वरूपका वर्णन करनेके लिए भारती (सरस्वती) भी असमर्थ है. वस्त्रालंकार भी उसे बिलकुल अलौकिक ही पहराये गये थे. वारंवार सेवारूपसे उसे दिये जानेवाले मानसिकोपचार भी अलौकिक ही थे. वहां दिव्य वीणा, मृदंग, ताल आदिक वाजोंके साथ बहुत मंजुल (मोहक) और मधुर स्वरसे समर्थ अच्युत प्रभुकी विमलताका (पवित्रताका) गूढ़ गान हो रहा था. तीर्थवासी और पथिक अच्युत प्रभुकी उस अद्भुत मूर्तिको देख कामनाशून्य भावसे उसके चरणोंमें वारंवार दंडवन्नमस्कार और गद्गद्स्वरसे प्रार्थना करते कि, "हे

प्रभो ! कृपा कर सब कामनाका लय कर, निर्विघ्न अपने रूपमें मिलाकर निर्भय करो. ” अपनी अंजलिके सुपुष्पोंको प्रभुमें चढ़ा कर प्रसन्न हुए वे लोग शान्त होकर वारंवार परंब्रह्मके उस अद्भुत रूपको चरणसे मुकुट पर्यंत देखते थे. वे, महात्मा सत्साधकके उपदेशको वारंवार ध्यानमें रख उस मंगल-स्वरूपको अपने हृदयमें अंकित करते थे. विशुद्ध और निर्मल हृदयके लोग इस दर्शनसे तद्रूप बन गये. इनमेंसे एक पथिक तो उस स्वरूपका अवलोकन करते हुए ऐसा प्रेमबद्ध होगया कि मैं कहां खड़ा हूँ और किस स्थितिमें हूँ इसका भी उसे कुछ स्मरण न रहा. थोड़ी देरमें स्वस्वरूपके प्रेमावेशमें वह ऐसा प्रेमबद्ध हो गया कि एकदम नाचते कूदते, ताली बजाते, मुखसे अच्युत प्रभुके जयजयकार पूर्वक अनेक नामोंका उच्चारण करते और हँसते हुए उन्मत्तकी भांति मंदिरमें खेलने लगा. बहुतसे पथिक इसे पागल समझ हँसने लगे; परंतु महात्मा सत्साधक इसकी आंतरिक (भीतरी) स्थितिका ज्ञाता था. वह सबसे कहने लगाः—“इसे तुम पागल मत समझना, यही बड़ा भाग्यशाली है और इसीके पल्लेमें सुकृतिके पुण्योंका पुंज एकत्र हुआ है. यह पूर्ण साधन संपन्न है और इसमें वासना—सब लौकिक वासनाका त्याग—विराग—निरभिमान सुदृढ़तासे बस है तथा इस चैतन्य स्वरूपके साथ इसके आत्मिक स्वरूपके पूर्वकालका संसर्ग है, इससे यह स्वरूपको देखकर पूर्व भावमें लीन होगया है. जैसे बालक भूख और देहकी पीड़ा भूलकर अपने प्रिय खिलौनोंके साथ खेलता है वैसे, अहंता, ममताशून्य सुखप्राप्त यह प्रेम-बद्ध भी सब भूलकर परमात्मामें रमण करता है. चैतन्यरूप आकाशमें रह-नेवाला प्रेमबद्ध ब्रह्मवेत्ता कभी नग्न, कभी कपड़े पहने, कभी वल्कल पहरे कभी उन्मत्तकी तरह, कभी बालकी तरह, कभी पिशाचकी तरह, कभी माद-कपदार्थपान करनेवाले भंगडकी तरह, कभी विषयोंमें, कभी विषयोंसे बाहर फिरता है और चाहे कोई आदर दे या अपमान करे परंतु इससे उसे कुछ भी विकार नहीं होता. शरीरके अभिमानसे रहित जीवको प्रिय अप्रिय कुछ नहीं, जैसे कोई प्रेमिका स्त्री, पतिका पहले पहल और बहुत कम समागम होनेके बाद तुरंत बिछुड़ गयी हो और बहुत समयके वियोगके अंतमें फिर उससे मिले, उस समय उसके मनकी जो स्थिति हो, वैसी स्थिति यह अच्युत रूप देखकर, इस प्रेमबद्ध जीवकी हो रही है। यह अपने हृदयके उभड़े हुए प्रेमानन्दमें निमग्न हो गया है। यह महात्मा तो हम सबको वंद्य है, क्योंकि इसमें अच्युत प्रभुकी प्रेममयी भक्ति निवास करनेसे यह उस समर्थ

सचराचरव्यापी परब्रह्ममें लीन हो रहा है. हृदयकी शुद्धवृत्ति विना प्रेम नहीं होता और प्रेम विना एकाकारवृत्ति—अभेद भाव प्रकट नहीं होता. जबतक अभेद नहीं होता, अंतःकरण शुद्ध नहीं होता तबतक जीव ज्ञाता होने पर भी फिर पतित होकर विनाशरूप पाशमें आ फँसता है. तुम्हें तो परम रहस्य जाननेकी इच्छा है परंतु सिर्फ जाननेकी ही इच्छा—सची मुमुक्षुता नहीं है. सची मुमुक्षुता प्रेमबद्ध होकर, चैतन्य और चैतन्यकी लीनतामें है. साधनसंपत्तिसे विकसित हुई मुमुक्षुता ही मुमुक्षुता है. आत्मसत्तासे एकरस हुआ आत्मा, अभिन्न, अनेक विलक्षण चमत्कार देखता है; परंतु जो उसके पास पहुँच जाता है वही सचा आत्मज्ञानी और सचा मुमुक्षु है. जो जीव वासनाग्रस्त नहीं है उसीमें ऐसी सिद्धि आ सकती है. वह जो कुछ देखता है उसे अन्य नहीं देख सकता, वह जो सुनता है वैसा दूसरा नहीं सुन सकता, वह जैसी देहको प्राप्त करता है वैसी अन्य देह नहीं है, तुम्हारे मनमें प्रेमात्मज्ञानका भाव है और प्रेमात्मज्ञान—चेतनमें एकाकार वृत्तिकी बातें सरल, सहल—संकटशून्य और विना कष्टकी हैं, परन्तु प्रेमात्मज्ञानरसका पानकर चूर हो जाना अत्यंत दुर्घट कार्य है. अनेक शंका, अनेक भय, सब वासनाएं और सब कार्यभावोंका नाश किये विना, निःशंक अभयस्थान—परमात्मामें अभेद भाव वृत्तिरूप अभय स्थान—प्राप्त नहीं होता. स्थूल वासनामें लीन होजानेवाला, आत्मज्ञानके आवेशमें आगे बढ़ेगा और वह सत्व—गूढ सत्व अच्छी तरह जानकर उसमें तन्मय हो सकेगा, परंतु यदि वह पूर्ण साधनसंपत्तिसम्पन्न न हो तो उसके जीवनका हेतु सार्थक होनेपर भी उसे प्रेमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना कष्टदायी हो जाता है. विशुद्ध प्रेमात्मप्रसादशून्य—अपरिपक्व (कचा)—संपत्तिरहित वह प्रेमी तत्त्वज्ञकी स्थितिको नहीं पाता और तुम प्रेममें पागल देखते हो परंतु यह वैसा नहीं है. इसकी वृत्तियां अभेदपनको प्राप्त हैं, इससे यह परमात्मामें एकाकार हो गया है. देखो! इसने निर्भयताके मंत्रजपसे सब वासनाएं टाल दी हैं और उनमें जो यह देखता है वह हम नहीं देखते." स्थिरचित्त, निश्चयदृष्टि और सूक्ष्म प्रमाणोंसे सत्साधकने जो जो बातें कहीं उन्हें सुनकर सबकी वृत्तियें विस्मयमें ही लीन हो गयीं. सर्वव्यापी, परंतु किसी अदृश्य भावसे अन्य जीव—प्रेमी आत्मा उसके साथ मिलते हुए मालूम हुए. मनोमन एक होगया. सब लोग उस प्रेमबद्धका विशुद्ध आत्मा यथार्थ स्वरूपमें देखने लगे.

विमानमें भी ऐसा ही हुआ. प्रभुकी मूर्तिका दर्शन होते ही सारे पुण्यात्मा

चित्रवत् बन गये और महाराजा वरेप्सुको समाधि लग गयी. वे जहां बैठे थे वहां के वहीं मूर्तिवत्–चित्रवत् हो गये. थोड़ी देरमें उनका शरीर कांपने लगा, उनके रोयें खड़े हो गये, आंखोंसे जल प्रवाहित होने लगा, बैठे थे वहांसे उठ गये, हाथ ऊंचा करकर तालियां बजाने लगे और मादक पदार्थसे पराधीन हुए मनवाले मनुष्यकी तरह अनेक प्रकारकी चेष्टाएं करने लगे. यह सब वरेप्सुके स्वरूपानंदके उमड़नेका परिणाम (फल) था; आत्मा परमात्माकी एकताके शुद्ध भावका दर्शन था; चेतनरहस्य था. ऐसे ही आनंदकी उमंगमें वे फिर सचेत होकर कहने लगे:—"अहा! गुरुदेव! मैं क्या कहूँ? कैसी लीला फैली है! कैसी शोभा बनी है! आपकी कृपासे आत्मज्ञानरस पीकर उस दशामें मैंने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया था, वही स्वरूप यह—यह–यह वही स्वरूप है! उतना ही और वैसा ही सुन्दर है! पैरोंसे शिखा पर्यंत प्रत्येक अंग में विचार विचार कर देखता हूँ तो उसी दिव्य स्वरूपका दर्शन होता है." दूसरे–व्यवहारिक दृष्टिसे देखनेवाले–इसको छैला मानते, मायिक दृष्टिवाले इसे जादू कहते, कोई कहते इसे भूतकी लपेट है, परंतु जिसकी व्यावहारिक वासना निर्मूल होकर जगत्के दुःख सुख विषाद आनंदकी भावना टल जाती और आत्मभाव ही रमण करता है उसकी वृत्ति यही है, ऐसा माननेवाले तो, इसका कारण अभेदवृत्ति ही कहेंगे—आत्मबलका रहस्य समझेंगे, सर्वमयताका प्रत्यक्ष दर्शन मानेंगे, मनोनिकारकी विशुद्धताका फल जानेंगे, अहंभावनाका लय मानेंगे और सर्ववासनाका तोड़कर फेंका हुआ फल, वृद्धिवृक्षके सिरेतक पहुँचा मानकर बहुत प्रसन्न होंगे. वैसा बननेका यत्न करो. राजा वरेप्सु फिर बोले:—"अहो! गुरुदेव! देखो, मरकतमणिके समान श्याम श्रीअंग कैसा सुकोमल है और अहा! दीप्तिमान्! परमज्योति! परम ज्ञानमूर्ति! पवित्र चेतन है. उसके अंग प्रत्यंगमें वस्त्रालंकार भी मैंने जो वहां देखा था, वही सुन्दर और अलौकिक यहां भी हैं. चरणोंमें रत्नके नूपुर, कटिमें (कमर) पहरे हुए पीतांबर पर करधनीके स्थानमें किंकिणीवाली रत्नजड़ित कटिमेखला पड़ी है, हृदयमें विराजती रत्नमालाके पदकरूपसे लटकता हुआ महातेजोमय कौस्तुभ, हाथोंमें रत्नमुद्रिका, पहुँचोंमें मणिकंकण, बांहोंमें बाजू, डाढ़ीमें हीरेके चिबुक, नाजुक सरल नासिकाके अंतमें लटकती हुई बेसरका तेजस्वी मोती आदिका यह सौन्दर्य ब्रह्मदेवके मनको भी मोहनेवाला है! इस सुन्दर श्रीमुखके दोनों गोल और कोमल गालोंपर वह प्रकाशमणि झलक रहा है, वह कैसा

अद्भुत है. उसके शोभायुक्त कानोंमें लटकते हुए मत्स्याकार (मछलीके आकारके) रत्नकुंडलोंकी तेजस्वी प्रभा कैसे नाच रही है. इसका हँसता हुआ कमलके समान मुख, विकसित कमलके समान निर्मल सुकोमल नेत्र, दोनों गालोंपर झुके हुए भ्रमरपंक्तिके समान केश, ललाटमें लगा हुआ कस्तूरीका तिलक–अहा ! परममोहक है, यह मस्तकपरका मोरपखाओंसे अलंकृत रत्नमुकुट चित्तको लुब्ध ही किये डालता है. कंठमें ऊपर नीचे पड़ी हुई अद्भुत पुष्पमालाएं, प्रभुके लिये बनानेवालेकी भक्ति और चातुर्यका जय ! जय ! चैतन्यमें एकाकारमें अभेदवृत्तिसे देखनेवाले आत्मप्रसादसे पूर्ण, चैतन्य विवर्तमें तल्लीन ज्योतिमें एकाकार वृत्तिवाले, वासनारहित वृत्तिवाले, प्रेमासक्त, देखनेमें पागलके समान और प्रेमासक्तिमें लीनको जो दीखता है वह अहंभावसे भरे अज्ञानीको नहीं दीखता. उसका भाग्य ही नहीं है, उसका भावभी नहीं है. जितना जो अज्ञानी उतना वह अभिमानी ! उसके मानवजीवनका परम लाभ ही अहंपदमें है. ज्ञानमार्ग देखनेके पहले ही आत्मबल—अध्यात्मरहस्यकी बातें जो करता है उसका वैसा करना–सिर्फ अहंपद ही है. मैं तो प्रेमासक्त ही हुआ हूँ." इस तरह स्वरूपवर्णन करते हुए फिर भी उन्हें प्रेमका आवेश हो आया; जिसमें वे अपनी वर्तमान स्थितिका भान भूलकर अपने आत्मप्रसादमें साक्षात्कारसे अनुभव किये हुए अच्युत प्रभु यही हैं ऐसा विचारकर * पहलेकी भांति ये प्रभु अदृश्य न हो जायँ, इस लिए इस समय उस स्वरूपसे भेटनेके लिए विमानसे ज्यों हीं कूदने लगे त्यों ही वामदेवजी चेत गये और तुरंत प्रभुके नामकी जयध्वनि कराते ही विमान सरसराकर आकाशमार्गको उड़ा.

वरेप्सुको नीचे गिरनेसे गुरुदेवने बचा लिया, परंतु इससे कुछ उनके आत्मानुभव प्रेमका वेग कम नहीं हुआ. उनके कूदने और उसी समय विमानके उड़ने इन दोनों बलोंके आघातप्रत्याघातसे वे विमानमें ही गिरपड़े और गिरते ही मूर्च्छित–अचेत हो गये. ऐसा देख सब पुण्यजन चिन्तातुर होकर उनकी शुश्रूषाके लिए दौड़ धूप करने लगे, तब गुरुदेवने कहा:—"चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं है. ऐसा न शोचना कि इसके आत्माको किसी तरहका कष्ट होता है. यह तो अब कैवल्य ब्रह्मका सुख अनुभव करता है

* पहले वरेप्सुने जब आत्मानुभव किया था तब स्वरूपानंदमें मग्न हो उनसे लिपटनेको दौड़ पड़े थे, परंतु तुरंत ही भगवानका रूप अदृश्य हो गया था।

और ब्रह्मभावमें मग्न हो गया है. हे पुण्यजनो ! इस महात्मा राजर्षिकी यह अवस्था परमप्रशंसनीय (श्लाघ्य) है. इस स्वरूपदर्शनसे ही जब इसकी ऐसी दशा हुई है तब उस कृपालु अच्युत प्रभुका साक्षात्कार (दर्शन) होना क्या बाकी रहेगा. अद्वैत—एकता—जांचकर देखो. चित्तकी ऐसी एकता निश्चलता—तद्रूपता ही भगवत्साक्षात्कारमें कारणभूत है. जिस प्रभुके लिए जिस मनुष्यकी इतनी बड़ी भावना प्रकट होती है, उस शुद्ध प्रेमी भक्तको वह सर्वमय—सर्वव्यापी—सर्वान्तर्यामी समर्थ प्रभु किसी क्षण भी कैसे भूले ? साधनसंपत्तिमान्को भूलना तो दूर रहा, निरंतर—प्रतिक्षण वह कृपालु प्रभु इस तरह परिचरण और रक्षण किया करता है जिससे उसके आत्माका श्रेय (कल्याण) हुआ करे और अंतमें सुदृढ़ प्रेम होनेसे चाहे जहां हो वहांसे भी वह उसे अपने चरणोंमें खींच लेता है."

इतनी बातें होते होते तो विमान जगत्पुरके द्वारपर जा ठहरा. वरेप्सु भी जँभाई लेकर उठ बैठे और पुण्यात्मा लोग आनंदित हुए. वरेप्सुने उठते ही गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया और क्षणभर अनुभव कियेहुए परमानंदकी उमंगमें कृपालु अच्युतप्रभुके नामकी जयध्वनि की. फिर महात्मा वामदेव बोलेः—" राजा ! अब सचेत हो और नीचे देख. क्या तू जानता है हमलोग अब कहां हैं." सब पुण्यात्मा स्थिर दृष्टि कर शान्त चित्तसे नीचे देखने लगे. फिर वरेप्सु बोल उठे:—"कृपानाथ ! यह तो पुरद्वार मालूम होता है. यहां तो बहुत कुछ देखने योग्य है." फिर सब विमानवासियोंको सम्बोधन कर बोले:—"अरे ! ये तो उस सत्साधकके संघसे पिछड़ जानेवाले लोग मालूम होते हैं. अहो ! ये कितने भारी संकटमें फँसे हैं. जिस सुखकी लालसासे ये यहां ठहर गये थे, उसका कुछ भी असर इनमें अब नहीं दीखता. अब पलपलमें विडंबना ही आकर इनके गले पड़ती है. अब इन्हें मालूम होने लगा है कि महात्मा सत्साधकका कथन अक्षरशः सत्य था, पर अब उसका क्या फल ? इनका जो संसार (प्रपंच) जगन्नगरमें था, वह उससे भी अब यहां बहुत बढ़ गया है; इससे किसी तरह ये उन्नत स्थानमें नहीं जा सकते, परंतु उसीमें दुःख उठाते हुए अनेक उस कालपुरुषका भक्ष्य होकर समूल नष्ट हो जाते हैं." इतनेमें एक पुण्यात्मा बोल उठा:—"राजन् ! आप जैसा कहते हैं वैसा ही है. ये सब अनेक प्रकारकी सांसारिक विडम्बनामें फँस गये हैं, परंतु इनमें वह एक मनुष्य बहुत दयावाली स्थितिमें तड़फता मालूम होता है. आपने अभी जैसा कहा, वैसा मानो वह कालपुरुषके

पंजेमें ही फँसा हुआ है. उस वेचारेको इस समय कितना भारी कष्ट-वेदना—दुःख होता होगा ! मुझसे तो वह देखा भी नहीं जाता." गुरु-वामदेवजी बोले:—"पुण्यश्लोको ! अभीसे ही मत घबराना ! इस मनुष्यकी स्थिति तुम्हारे देखने योग्य है क्योंकि इससे वहुत ज्ञान होगा. चलो हम विलकुल इसके समीप जायें." तुरंत विमान नियमानुसार नीचे आकर इस तरह अदृश्य रूपसे स्थिर हुआ जिससे विमानवासी इस मनुष्यकी सारी स्थिति वराबर देख सकें.

यह दुःखी मनुष्य जहां पड़ा था वह स्थान इस अत्यंत विस्तृत पुरद्वारका एक वसतिगृह[1] था. उसमें वसनेवाला यह मनुष्य दूसरे सब पथिकोंकी तरह एक पथिक ही था. जैसे पथिकको एकाधिक रात विश्राम करनेके लिए धर्मशालामें ठहरने दिया जाता है वैसे ही यह स्थान सिर्फ एक पथिकाश्रम होनेसे, इसे कुछ समयके लिए ही उसमें निवास करने दिया गया था. तो भी अपनी मूर्खताके कारण उस स्थानको इसने अपना ही मान लिया और मैं कहां जानेको निकला हूँ, मुझे क्या करना चाहिए, ये वातें भूलकर इसने वहीं अपना डेरा डाला. सत्साधकके संघके भी पहले किसी दूसरे संघके साथ[2] यह अच्युतपुर जानेको निकला थो पर यहां सिर्फ एक रात विश्राम करनेको रहा, इतनेमें प्रमादसे यहांके ही क्षणिक सुखमें भूल गया और अच्युतपुर जानेसे रह गया. धीरे धीरे, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन दौलत, साहवी, वारांग-नादि, वहुत वड़े सामानको इसने अपना कुटुम्बवत् मान लिया. यथार्थ देखनेसे तो इसमेंसे कोई इसका न था, परंतु इसे तो जो दीखा, मिला उसे इसने अपना ही मान लिया और उसमें ऐसी गाढ़ ममता वांध दी कि किसी प्रकार छूट नहीं सका तथा धीरे धीरे (उत्तरोत्तर) जैसे समय वीतता गया वैसे ही इसे अपनी सच्ची स्थितिका विस्मरण होता गया. मैं कौन हूँ, कहांसे आया हूँ, किस कामके लिए आया हूँ, मुझे कहां जाना है और यहां मैं किस स्थानमें आया हूँ, इत्यादि सब वातोंका इसे विस्मरण होगया. मेरा घरवार और उत्पत्ति स्थिति सब इस पुरद्वारमें ही है. ये सब लोग मेरे कुटुम्बी हैं और मैं उनका पूज्य हूँ. सवका रक्षक—पोषक हूँ ऐसा यह गर्वसे समझता था.

---

१ रहनेका, निवास करनेका घर अर्थात् जगन्नगरका एक—पुर—शहर.

२ अर्थात् वहुत समय पूर्व वह जीव, जन्मा था और आवर्जन विसर्जन—जन्ममरणवाली अनेक योनियोंमें जन्म लेनेवाला जीव था.

मुझे क्या पीड़ा है, क्या कमी है, कौन पूछनेवाला है, ऐसा इसका अभिमान था. परन्तु जो वस्तु दूसरेकी है वह दूसरेकी ही है. पथिकका अधिकार धर्मशालामें कबतक है? एक दिन तो वहांसे डेरा डंडा उठाना ही पड़ेगा. जहां क्षण क्षणमें कराल पुरुषका भय वहां बहुत समय निश्चिन्तरूपसे रहना कुशलरूप कैसे हो? परंतु यह संसारासक्त मुग्ध जीव नहीं चेता, नहीं समझा और विचार नहीं किया कि इस जगन्नगरसे एक दिन मुझे जाना है और जिस अच्युत ब्रह्मने मुझे यहां भेजा है उसे अपने जीवनके कर्तव्य कर्मोंका हिसाब देना है. बिना खस्सी किये हुए सांड़के समान यह निश्चितरूपसे विचरता था. परंतु धीरे २ भयंकर कालपुरुषके लम्बे हाथ इसकी ओर आने लगे. इसके माने हुए कुटुम्बमेंसे थोड़े थोड़े समयके अंतरसे, इसके सामने ही इसके कई परम प्यारे कालपुरुषके मुँहमें समा गये. तो भी यह मूर्ख पथिक नहीं चेता, कि यहां मैं निश्चिन्त कैसे पड़ा हूँ. ऐसा करते हुए स्वतः इसपर ही बाजी आयी. कराल कालपुरुषके विशाल बाहु अपनी ओर आते हुए यह प्रत्यक्ष देखने लगा. ऐसा होनेसे यह मानो बहुत देरकी निद्रासे जाग्रत हुआ हो, इस तरह चेतमें आकर, इस भयसे छूटनेके लिए व्यर्थ कुचेष्टाएं करने लगा. परंतु अब देर होगयी थी. इसका शरीर बहुत जीर्ण होगया था. अपने माने हुए कुटुम्बकी सेवा करके यह बिलकुल ही थक गया था. इसके सिवाय इसके पास भार[1] भी बहुत एकत्र हो गया था; उसके उठानेकी इसमें शक्ति भी नहीं थी. ऐसे सब कारण होते हुए भी यह कालपुरुषके भयसे वारवार चमककर, भाग जानेकी तैयारी करने लगा, परंतु उस माने हुए कुटुम्बमें स्थिर हुई झूठी प्रीति, इसे खींच खींचकर पीछे ढकेलने लगी. इसकी इतनी प्रीति होते भी ये कुटुम्बी इसे किसी बातमें न गिनते थे. जर्जरित हो जानेसे यह उनकी कुछ सेवा नहीं कर सकता था और जो वृक्ष फल न दे वह जलानेके सिवाय दूसरे किस काममें आसकता है? ऐसे ही जो जीव वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे, कुटुम्बके उपयोगीपनमें निरुपयोगी होजाता है उसपर प्रीति कैसे रहे? ज्ञानी जीव ही विचारता है कि इस संसारमें प्राणी किंवा पदार्थकी एक स्थिति स्थिर नहीं रहती, इस लिए इससे तरनेके लिए शोक मोह त्यागकर, परमार्थसाधनकी

---

१ वासनारूप कर्मोंका बोझ (भार) पुत्र, कलत्र अर्थात् धन-कीर्ति-स्त्री आदिवासनारूप बोझ. दूसरे रूपमें पाप पुण्यका भी बोझ.

वृत्तिको सवल करना चाहिए. परंतु संसारकी दुर्घट अवस्था और व्यर्थ आशा ही आशामें सब तरह बिलकुल अशक्त बन जानेसे इस जीवको बड़ी भारी चिन्ता पैदा हुई और इससे उसके शरीरमें ज्वरने प्रवेश किया. देखो! अब यह जीव महाज्वरसे पीड़ित होकर बिस्तरेमें पड़ा है. इसकी छातीमें कफ भर गया है, गला घरड़ घरड़ कर रहा है, नाकसे पानीके समान श्लेष्मा (कफ) वहता है. आंखें भीतर चली गयी हैं और वे कीच (आंखोंका मैल) तथा अश्रुझरोंसे भर गयी हैं. आंखोंका तेज कम होजानेसे वे फीकी शंखीके समान लगती हैं, इसके कान बहरे हो गये, मुँहसे लार टपक रही है, जीभ छोटी हो जानेसे, साफ साफ बोला भी नहीं जासकता, इसकी नाड़ियां खिंचती हैं इस लिए यह अपने हाथ पैर वार वार फैलाया समेटा करता है; इसकी रुचि उठ जानेसे कई दिन हुए इसने कुछ भोजन नहीं किया, हृदय कफसे घिर (रूँध) गया है, इस लिए इसका प्राणवायु नीचे नहीं जाता और इसके मुँहसे धुकनीके समान श्वास चल रहा है. श्वासवायुके नित्य आनेजानेसे इसका मुँह सूखकर काठ हो रहा है और इससे इसे जरासे जलकी जरूरत है, इस लिए ही यह टूटी फूटी वाणीसे 'पा—आ—आ—नी' कर रहा है. पास बैठे हुए इसके कुटुम्बी और सगे स्नेही इसकी सेवा शुश्रूषाके लिए एकत्र हुए हैं तो भी इसकी ऐसी स्थितिपर सच्चे मनसे कोई भी ध्यान देते नहीं दीखा. जिनके कल्याणके लिए इस पुरुषने अपना आयु बिताया, जिनके सुखके लिए अपने नित्यके सुखका त्याग किया, वे स्वार्थी लोग अब उस पुरुषके देहदुःखकी कुछ भी परवा नहीं रखते. उल्टे उन्होंने ऐसी ऐसी प्रापंचिक बातोंका बाजार खोल रखा है जिससे इस जीवको घबराहट मालूम हो. ऐसे नगण्यों (क्षुद्रों) के व्यर्थ प्रेममें भूलकर उनपर आसक्त होनेवाला मनुष्य महामूर्ख है, मूढ है, जादूसे घिरा हुआ नट है. अरे! सृष्टिके स्नेही सच्चा प्रेम रखते हों तो भी इस समय उस महाकष्टमें पड़े हुए इस पुरुषकी कोई भी सहायता नहीं कर सकता. इसके प्रारब्धमें तो जो भोगना है वह है ही. आत्मा चैतन्य—एक ही है एक, सर्वव्यापी, एकाकार है, वही परम है, परन्तु उसको न जाननेवाले—उसकी खोज न करनेवाले जीवके कष्टोंका पार नहीं है. न इसका कोई सुनता है और न इसे कोई सुनाता ही है. इसकी स्त्री, जिसके प्रेमके कारण इस जीवने यहां (संसारमें) जीवन गँवाया और अपना सच्चा हित नष्ट किया है, अब बैठी हुई अपने भविष्यत्के संसारसुखको ही रोरही है.

उस स्त्रीका, अपने पतिके ऊपरका प्रेम—बुद्धि जिसे शंका समाधानसे प्रेम ठहराती है, सत्य नहीं था परंतु ऐसा प्रेम था जो इस सँसारके जन्ममरणकी घटमालमें गोता खिलाता है, परन्तु इस जीवका प्रेम तो पागल था. यह नहीं जानता था कि यह प्रेम राख होनेवाला है. यह नहीं जानता था कि मर्त्यसृष्टिमें एकरूपसे वहनेवाला प्रेम जुदा ही है. परमज्योतिका प्रेम-मार्ग निराला है. अमित कालपर्यंत (निरवधि) जीवन वनाये रखनेके लिए जो रसपानके योग्य, परम; अनंत, ज्योतिका मार्ग—प्रेममार्ग है उसे इस जीवने नहीं साधा. साधनेका विचार नहीं किया. परमानंदसाक्षात्कारमें मत्त होनेके वदले क्षणिक प्रेम—साक्षात्कारमें मत्त हुए इस पुरुषकी यह सहचरी अभीसे ही अपने लाड़ प्यार करनेवाले पतिका अभाव बोधकर सिर ढँककर रुदन कर रही है. इसपर मेरा प्रेमभाव है यह लोगोंको दिखलानेके लिए वह अनेकप्रकारसे अतिशयोक्तिवाले वाक्योंसे विलाप करती है. यह कितना विषम (क्लेशकर) है ? ऐसे समय इस पुरुषके लिए क्या करना चाहिए इसका विचार करनेके वदले, यह स्त्री 'हाय भाग्य ! हाय भाग्य !' ऐसा रुदन करती है. यह कैसा खेदकारक है ? पर हे वरेप्सु ! इसी तरह यह सारा प्रपंच है. इसमें कोई किसीका नहीं, न होगा. यह स्थान सिर्फ अच्युतपुरका एकाधिक रातका विश्रामस्थान है और एक रातके निवासमें मिले हुए मुसाफिरोंके परस्परका प्रीतिभाव—स्नेह—प्रेम—सव झूठा है. उसे सत्य मानकर जो पुरुष उसमें लिपटता है वह भी इस पुरुषकी भांति पछताकर दुःखी हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है. परंतु अव क्या होता है उसे सव शान्तचित्तसे देखो." सव पुण्यात्मा स्थिर और शान्तचित्तसे पुरद्वारमें वननेवाले इस जीवके कालपाशकी स्थिति देखने लगे.

यह पुरुष अत्यंत प्यासा था. इससे जलके लिए हाथ पैर पटकने लगा, परंतु उससे कोई नहीं समझ सका कि इसे जलकी आवश्यकता है. कुटुं-वियोंके शोरसे यह वहुत ही घवराता था, इतनेमें जिसे प्रिय पत्नी मानता है वह स्वामीनाथकी सँभाल करनेको पास आयी. मनसे तो सभी हैरान हो गये थे कि अव यह पीड़ा कव टले. वे परस्पर वातें करते थे कि, यह डोकरा तो खों खों करता है, मरता नहीं, और न वीमारी छोड़ती. परंतु ऊपरसे पतिसेवामें वहुत आग्रह रखनेके समान वह स्त्री शीघ्रतासे पास आकर कहने लगी:—"अ अँ ! तुम्हें क्या होता है ? क्या तुम्हारा जी घव-राता है ? कई दिनोंसे खाया नहीं इसीसे घवराहट होती होगी." जो पुरुष

ब्रह्माण्डकी अभेदलीला देखते भी, अभेदमय चैतन्यको जाननेका प्रयत्न नहीं करते, उनका इस लोकका फेरा व्यर्थ ही जाता है. ऐसे जीवोंको इसका बोध नहीं है कि अनंत जीवोंकी सृष्टि परमात्मासे ही हुई है, इस सृष्टिसे अधिक सत्ववाली सृष्टि है, उससे अधिक सत्ववाली सूक्ष्म सृष्टिकी महासृष्टि है, वह अनंत जीवोंसे परिपूर्ण है—अगाध है—उसके गुह्यागार (गुप्त स्थान) में प्रवेश कर, विश्वरचनाके कारण—नियम—जो जीव विचारता है, वही जीव आत्मप्रसाद प्राप्त कर, अध्यात्मज्ञानका रहस्य समझ व्यष्टि समष्टिके हेतु समझ जगत्में विचरण करता और तरता है तथा उसीको चैतन्यका साक्षात्कार होता है, दूसरे तो शून्यमें ही भटकते हैं. वैसी ही इस जीवकी गति है! इसकी स्त्री कहती है:— "लो, यह थोड़ीसी गर्म गर्म राव (रवड़ी, खीर अथवा सूजीया गेहूंकी दलियाकी लपसी) अच्छी न लगे तो गटककर उतार जाओ तो जीको आधार तो मिले!" इस पुरुषको तो अपने जीकी पड़ी है, उसका आत्मा क्लेशमय कष्टमें डूब गया है, इससे इसमें बोलनेकी भी सामर्थ्य नहीं है. यह निराश होकर अपना कंठ सूखता है, यह बतानेके लिए हाथ उठाता है, परंतु शक्ति बिना कैसे उठे? इतनेमें इसकी प्रेमिका स्त्री—इसका तन, मन और धन—इसका सर्वस्व—इसके हृदयका हार, कंठकी मालने—जिसके लिए जगन्नगरमें रह कर अनेक अक्रिय कृत्य किये हैं, जिसके लिए जगत् सत्य और ब्रह्म मिथ्याका विचार कर, अनेक कुकर्मोंके बंधनमें बद्ध है, इसका मुंह ऊँचा कर उसमें गर्म गर्म रवड़ीका कटोरा ढुलका दिया! अरे रे! महाकष्ट! यह देख सब विमानवासी एक स्वरसे कहने लगे:—'अरे रे रे!' इस समय इस जीवको अपनी देह भाररूप मालूम होती है, कष्टकारक जान पड़ती है, वह जीता है, पर मृतकवत् ही हो जाता है! वृक्ष भी जीते हैं, मृगादि प्राणी भी जीते हैं परन्तु वही मनुष्य जीता है जिसका मन निश्चिन्त है. अब इस वृद्धकी सांस बंद होती है, बहुत देरसे दबी हुई खांसी एकदम उठ आती है, कफके फुटके कंठमें आकर अड़ते ही इसे मूर्च्छा आगयी, आंखें फैल गयी, हाथ पांव खिंच गये, जीव ब्रह्माण्ड (मस्तिष्क) में चढ़ गया और इसका मुंह जो अधर उठाकर रखा था वह धब्बसे नीचे गिरते ही इसकी प्रेमपात्र स्त्री 'हाय! भाग्य! की चीत्कार मारकर दूर खसक गयी. अहो हो! कैसी दयापूर्ण स्थिति है! अनात्मज्ञको कितना बड़ा कष्ट है! यह दृश्यप्रवाह हर जगह दुस्तर है, तो भी जो प्रवीण नाविक—सद्गुरु प्राप्त करता है,

वही विना कष्ट यह दुस्तर सागर तर जाता और आनंद पाता है. दूसरोंके कपालमें तो ऐसा ही कष्ट लिखा हुआ है. पापरूप, मायारूप जीवके पास सब माया दूर करनेके लिए, जो इष्ट साधन हरिभक्ति, न हो तो उसपर ईश्वरानुग्रह होता ही नहीं.

इस जीवका इतनेसे ही सब नहीं हुआ. यह सारी घटना विमानवासी देख रहे थे, इतनेमें अपने हाथमें कई बंद पुड़िया लेकर एक युवा पुरुष उस आतुरके पास दौड़ आया और जोरसे बोला:—"पिताजी! पिताजी! इतनी देरमें यह क्या? अरे! इनके लिए तो मैं बड़े परिश्रमसे यह दवा लाया हूँ, और इनके तो प्राण प्रयाण कर गये! ओ मेरे बाप रे! ऐसी पुकार मारते उसने इस पुरुषको मरा जान, शीघ्रतासे गोबरका चौका कराया. जगतमें मृत्यु कोई पदार्थ ही नहीं है. परंतु संसारके लोग जिसे मृत्यु कहते हैं, वह सिर्फ रूपान्तर ही है. शीतमें पड़नेवाले तुषारसे जब फूलोंका नाश होता है तब हम कहते हैं, फूल मर गये, परंतु वही फूल फिर वसंतमें खिलते हैं तो क्या मृत्युशब्द मिथ्या नहीं है? इस जीवके शरीरको फिर दो जनोंने मिल कर विस्तरेसे उठा जल्दी—जल्दी—भीगे हुए चौकेमें सुला दिया. परंतु सिरपर ठंड पड़नेसे तालुमें चढ़ा हुआ उसका जीवात्मा शीतलताके कारण नीचे उतरा और कुछ चेतमें आया. शीतके मारे उसका शरीर कांपने लगा. यह देख "जी आया, जी आया!" ऐसा सब कहने लगे. परंतु किसीने इसकी ठंड या होते हुए कष्टकी परवा न की. वह बाहरसे आनेवाला युवा इस पुरुषको जरा चेतमें आते ही इससे स्वार्थकी बातें पूछने लगा:—"वह द्रव्य, उस साहूकारका धन, व्यवहारकी सारी रकम!" परन्तु इस पुरुषको तो जीवात्मा और देहके मध्य होते हुए युद्धकी पड़ी है, इसका शरीर महादुःखके प्रवाहमें गोते खाता है, इसमें जरा भी बोलनेकी शक्ति नहीं रहीं इससे यह कुछ उत्तर नहीं दे सकता. थोड़ी देरमें निराश होकर पुत्रने इसके कानके पास मुँह लगाकर जोरसे कहा:—"बाप! तुम तो अपने रास्ते चले, पर पीछे रहजानेवालोंकी क्या गति होगी? ओ बाप! तुमने हमारा कुछ भी विचार नहीं किया."

यह चरित्र देख विमानवासी परस्पर देखने लगे. वे पुरुषको* तिरस्कार करते कहने लगे:—"अरे अनात्मज्ञ! इतने और ऐसे सुखमें तू लुब्ध है.

---

* इसमें जहां जहां 'पुरुष' शब्द है उसे जीवात्मावाचक जानो।

इन निर्दय और स्वार्थी लोगोंको क्या तूने सुहृद् (मित्र) माना ? इनके स्वार्थी प्रेममें भूलकर तूने परम निर्भय–सुखरूप–सर्वमय अच्युतप्रभुका त्याग किया ! ओ हीनभागी ! तूने सार्थक देहको निरर्थक बनाकर अपवित्र किया. उत्तम बुद्धिवाला होकर उग्र विनाशपरायण मार्ग देखा ! धिक्कार है ! देवके सुखकारी मार्गको त्याग राक्षसके भयकारी मार्गमें पड़ा. छिः छिः, परन्तु इसका क्या दोष ? जैसे नेत्र शब्दको नहीं देख सकते, वैसे ही भौतिक दृष्टि, आत्माको नहीं देख सकती. महापुण्यरूप धन देकर यह कायारूप नाव यह अपार क्लेशमय संसारसागर पार जानेको खरीदी है. इसके टूटनेके पहले ही पार होजाना चाहिये. पर अश्रद्धावान्, संशयात्मा अज्ञानी यह मार्ग नहीं जानता इससे उसका विनाश ही होता है. संशयात्माको यह लोक या परलोक कोई भी नहीं शोभता, उसे कहीं सुख नहीं है. आत्मवित् (आत्मज्ञ) ही सिर्फ शोक मोहको पार करता है; कर्मनिष्ट परंतु, प्रपंचकुशल, शोकको नहीं तर सकता. आवरणशक्ति, जिससे एक वस्तु दूसरे प्रकारकी मालूम होती है, संसारमें मोह कराने और विक्षेपशक्तिकी ओर खींचनेका कारण है. इस आवरणवालेको अनास्था, प्रतिकूल निश्चय, संशय, अश्रद्धा और कर्म, नहीं त्यागते और विक्षेप (भ्रान्ति) उसे निरंतर दुःखाया करता है. चाहे जैसा बुद्धिमान्, पंडित, चतुर और व्यवहारके सूक्ष्म विषयोंका ज्ञाता होने और अच्छी तरहसे समझाने पर भी जीव रज तमके वश होनेसे सत्य बात नहीं समझता, पर भ्रान्तिसे मानी हुई, असत्य बातोंको सची मानता है इससे वह दिनरात कष्टभागी ही है. इस पुरुषके संकटका पार नहीं; अरे ! वह अपार है ! इस जीवकी रग–रग और बाल–बालमें महावेदना हो रही है, इसको देहके त्यागनेको मार्ग नहीं है. महास्वार्थी निर्दय कुटुम्बी भी उसे नाना रूपसे कष्ट देते हैं. यह बिलकुल परवश है. इस समय इसके मनकी स्थिति भयानक है, यह निर्जीव है, शून्य है. इसकी राजसी तामसी वासना अनंत कारणोंमें आदती और सात्विकभावशून्य थी, उसका अब इसे स्मरण होता है और वह पिशाचकी तरह आंखोंके आगे आकर नाचती है. इससे यह इस समय अपने लिए कुछ विचार नहीं कर सकता." विमानवासियोंकी यह बातचीत सुन गुरु वामदेवजी बोले:—"अरे ! विचार क्या ? इस समय तो इसके पास अनेक पिशाच आकर खड़े हैं और पुरद्वारमें अविद्यामें ही सदा भटकनेवाला इसका यह जीव पश्चात्ताप करता है. अब मेरा फिर क्या होगा इसके

लिए चिन्ताका बड़ा पहाड़ इसके हृदयपर टूट पड़ा है. स्थूलवासनाकी लपेटमें आनेके बाद, अनंत वासनाएं उद्भूत होती हैं. इसका संहार क्यों न हुआ और सत्वगुणी परब्रह्मका ध्यान क्यों न लगा, इस विषयका अब यह शोच करता है—अभय-स्थान प्राप्त न हुआ, इसका शोच नित्य-करता है. परंतु एकसे अनेक और अनेकसे अनेकानेक वासनारूप पिशाच इसके सामने आकर खड़े हैं, इससे इसका हृदय भयभीत हुआ है. यह साधनसंपन्न नहीं है, इससे इसकी अंतावस्था राक्षसकी भांति दुःख देती जान पड़ती है. इस समय सबका कथन यह जरा भी नहीं सुनता, क्योंकि जो वासनाएं स्वस्थ या आरोग्यावस्थामें भी इस पुरुषको नहीं छोड़ती थीं, वे सब इसे अत्याचारसे घेर बैठी हैं, क्यों कि इस अवस्थामें प्राणी प्रबलेन्द्रिय होता है. इस समय अगली पिछली दुष्ट बातोंका उसे स्मरण हो आता है और अपने जीवन भर आत्मरसायनका पान और व्यावहारिक स्थूल वासनाके अंत न करनेका भय मूर्तिमान् हो, उसे आगे खड़ा दिखाई देता है."

इतनेमें एक पुण्यात्मा बोल उठा:—"गुरुदेव, ये कौन हैं? ये दो चार हथियारबंद पुरुष हैं, सब लोग देखो! मैंने इनको आकाशसे अभी ही अकस्मात् नीचे उतरते देखा है. वे सपाटेसे उस पुरुषकी ओर आते हैं. वे महाभयंकर हैं! स्वरूपसे कराल विकराल काल हैं! उनका शरीर संगठन काजलके पर्वतके समान है. उनकी श्यामवर्ण डरावनी आंखोंकी पुतलियां और उसी रंगके सिरके बाल कैसे तीक्ष्ण हैं. वे ऐसे मालूम होते हैं मानो तने खड़े हुए भाले हैं. उनके बड़े चौड़े मुँहसे दोनों बाजूमें निकलीं हुई तलवारके समान वे डाढ़ें महातीक्ष्ण हैं. कमरमें जो कछोटा कसे हैं उनके सिवाय दूसरा एक भी वस्त्र उनके पास नहीं है. जो सबसे आगे चलता है, उसके दोनों हाथोंमें पाश और मुद्गर है, दूसरेके पास मुद्गर और अंकुश है, शेष दो सिर्फ मुद्गरोंको कंधे पर रखके चले आते हैं. ये वज्रके समान लोहके मुद्गर बहुत भारी हैं, मतवाला हाथी भी इनका प्रहार (मार) होते ही गतप्राण हो जाय." इतनेमें उन विकराल आकाशी पुरुषोंमेंसे एकने ऊपर देखकर जँभाई ली, उस समय उसके फैले हुए मुँहकी विकराल आकृति देख सब पुण्यजन भयभीत हो गये और सबसे पहिले देखनेवाला व्याकुल होकर गुरुदेवकी ओर दौड़ा। गुरुवामदेवने सबको धीरज देकर कहा:—"डरो मत, इन भयंकर पुरुषोंसे कुछ भय नहीं है.

आत्मरसायनका जिसने पान किया है, उनकी ओर आनेकी इनको सत्ता ही नहीं है. ये कहां जाते हैं, क्या करते हैं, यही सावधानीसे देखो."

चलते चलते वे भयंकर पुरुष पुरद्वारके पास आये और भीतर घुसकर उस पुरुषके कमरेके पास आकर खड़े हुए. वे धीरे धीरे कुछ वातचीत करते थे. एक कमरेके बाहर बैठा. दूसरा कमरेमें खड़ा हुआ. पाशांकुश-धारी दो पुरुष घरमें चले. उन्हें उस घरमें बैठे हुए मनुष्योंमेंसे कोई भी देख नहीं सका. वे मनुष्योंसे अदृश्य रहनेको समर्थ थे, परन्तु विमानवासी उन्हें देख सकते थे. क्यों कि गुरुप्रसादसे उनको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी. चौकेमं पड़ा हुआ मनुष्य उन्हें देख सकता था. अंतावस्थाके कारण अतीन्द्रियपन प्राप्त होकर उसकी आंखें, सूक्ष्मदर्शी (दिव्य) हुई थीं. जिससे सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे देखनेके समान वह अपार आकाशमें भरे हुए अनन्त जीव, जलकणके जीव—अनन्त जीवोंसे परिपूर्ण सृष्टिको देखनेके लिए समर्थ हुआ था, परन्तु वह शून्यता (मरणावस्था) में ही समर्थ था. उन भयंकर पुरुषोंको प्रवलतासे अपनी ओर आते देखते ही उस पुरुषने अतिभयसे चीत्कार की. हाथ हिलाने डुलानेकी उसमें शक्ति न थी. तो भी वह मानो चौकेसे भागनेका प्रयत्न करता हो, इस तरह महाकष्टसे चौकेसे वालिश्त भर अधर हो गया. अधर होकर ज्योंही वह नीचे गिरा त्योंही उस एक जनने आकर उसके गलेमें पाश डाला और दूसरे अंकुशद्वारा उसके जीवात्माको शरीरसे खींचने लगे. इस महाकठिन समयमें इस पुण्यहीन—ज्ञानशून्य—वासनामय–पुरुषके शरीरको कितना असह्य संकट पड़ा होगा, उसका वर्णन करना, बड़े ज्ञानीकी कल्पनाशक्तिसे भी दूर है. उसका जीव इस महादुस्तर प्रसंगसे वचनेके लिए शरीरके छहो* चक्रोंमें फिर आया, सारी नाड़ियों‡ और सब कोठोंमें हो आया, सब धातु और उपधातुके स्थान खोज आया, रोम रोमके रंध्र भी बंद देखे, उन सारी इन्द्रियोंके द्वार भी देखे जो अपने देवोंके त्याग देनेसे बंद हो गये थे. इस तरह

---

* शरीरमें छः चक्र हैं. १ गुदाद्वार २ लिंगद्वार ३ नाभि ४ हृदय ५ कंठ और ६ भ्रूमध्यभाग. इनके सिवाय सातवां ब्रह्माण्ड अर्थात् तालुस्थान है. वह ब्रह्मका धाम है और सदा निर्भय है. नीचेके छहों चक्र भेदकर आत्मा वहां जासके तो निर्भय होता है. गुरुसेवा, योगाभ्यास, और भगवत्कृपासे यह स्थान प्राप्त होता है.

‡ नौसो नाड़ी और बहत्तर कोठे कहाते हैं, उन सबमें फिर आया.

सारे शरीरमें पूर्णरूपसे व्याप्त हुआ जीवात्मा, इस समय भिन्नरूपसे घट घट फिर आया तो भी अपने भाग वचने या निर्भयरूपसे जा वैठनेका कोई अभयस्थान उसे नहीं मिला. फिर फिरकर अनेक वार वह इन सव स्थानोंमें फिरा, परंतु वह अभय स्थान प्राप्त नहीं कर सका. मनुष्य प्राणीके शरीरमें मस्तकके शीर्षभागमें स्थितिस्थान ब्रह्मरंध्रमें है. जीवात्माके लिए वह ब्रह्मप्राप्तिका स्थान है और वही परम निर्भय है. परन्तु यह स्थान इस अनात्मज्ञ क्षुद्र जीवके लिए नहीं था. उसके कंठमें तो पहलेसे ही आकर उस कालपुरुषने पाश डाला था इससे ब्रह्मरंध्रमें जानेका मार्ग विलकुल वंद हो गया था. वारम्वार चहूँ ओर फिर फिर कर वह जीव व्याकुल और अंतमें निराश हो गया. इस समय उसकी घवराहट और संकटका पार नहीं रहा. इस समय उसके रोमरोममें एक साथ हजारों वीछियोंके प्रवल डंकोंके आघातके समान असीम वेदना होने लगी. असह्य कष्ट, लगातार दौड़ धूप[1] और भारी व्याकुलतासे, उसकी सव नाड़ियां ठंढी पड़ गयीं; गात्र विदीर्ण हो गया और प्रवल आघातसे इन्द्रियोंके द्वारा मलमूत्रादिका वड़ा समूह वाहर आया, आंखें खिचकर निर्वल हो गयीं नाक टेढ़ी हो गयी, मुँह फैल गया, दांत वाहर निकल आये और उसके शरीरकी ऐसी आकृति हो गयी जिसे देखते ही भय उत्पन्न हो. उग्र विनाशके मुँहमें जानेवाले इस जीवको वे अंकुशधारी पुरुष मुद्गर मारने लगे; तव सहन न कर सकनेके कारण उसका सारा शरीर कांपने लगा और अंतमें यह महादुःख नहीं सह सका तव अधोद्वारसे होकर फिर जो मलोत्सर्ग हुआ, उसके साथ महात्रांससे, वह जीवात्मा वाहर निकल, उस कालके पाशमें वँध चला. शरीर निश्चेष्ट होगया, कँपकँपी मिट गयी, हाथके स्थानमें हाथ, पांवके स्थानमें पांव, इस प्रकार सव अंगोपांग जहांके तहां शुष्क काष्ठवत् हो गये. गलेका घुरघुर शव्द वन्द हो गया; ऊर्ध्वश्वास रुक गया, तेज नष्ट होगया, तव कुटुम्वियोंने जान लिया कि अव यह मर गया जो आदि (उत्पत्तिके पूर्व) में न था, अंतमें नहीं रहता और वर्तमानमें भी वस्तुतः नहीं रहता, किंतु मिथ्या होते हुए सत्यके समान भासता है ऐसा देह जगतके जीवोंको काष्ठवत् मालूम होने लगा.

विमानमें रहकर यह सव घटना देखनेवाले पुण्यजनों और गुरु वामदे-

१ शरीरान्तर्गत आत्माकी दौड़धूपसे.

वज्री नामके पुरुषको, इस समय बहुत खेद हुआ. अत्यंत खिन्न मुँहसे वे दयालु महात्मा बोले:—"कितने बड़े दुःखकी बात है कि जिनके कल्याण और सुखके लिए इस पुरुषने अपने सारे सुखोंका त्यागकर भी आजन्म अनेक प्रयास किये और अनेक दुःख सहे, वे सब इसके कुटुम्बी इस कठिन प्रसंगमें इसके सचे दुःखके समय—परवश हुए इस अनाथकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकें. इसका कष्ट कैसे घटे, इसके आत्माका कुछ भी कल्याण हो ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया. जो स्वयं ही अज्ञानताके कुएमें पड़े हैं वे कल्याणकी बात कैसे समझें? पवित्र अच्युतमार्गको त्याग राक्षसी वासनाका जो सेवन करता है, यह इस महाकष्टको सहता है. इससे पामर कुटुम्बी इसे इस कष्टमें कुछ सहायता न करें तो रहें परंतु, हमसे जो हो सकें वह करनेसे हमें क्यों चूकना चाहिए? हमारे समक्ष यह अनाथ पुरुष महाकष्ट सहन करता है यह देखा ही कैसे जाय?" यह सुन वरेप्सु महाराज करसंपुटकर कह उठे:—"कृपानाथ! जैसे आप कहते हैं वैसे दया तो बहुत आती है परन्तु यहां तटस्थ (उदासीन) रहकर हम उसका कैसे भला (उपकार) कर सकते हैं? ये बलवान् क्रूर पुरुष जिनकी आकृति देखते ही महाभय होता है, उनका हम लोग क्या कर सकते हैं? उनका निवारण (अलगाव) हमसे क्योंकर हो सकेगा? बहुत ही नम्रता और विनयसे प्रार्थना करें तो भी इन निर्दय जीवोंके अन्तःकरणमें जरा भी सहृदयता व्यापनेका विश्वास मुझे उनकी आकृति देखते ही नहीं होता. महाराज! ये कौन हैं और किस लिए इस अनाथको दुःख देते हैं?" वटुकने कहा:—"यह सब तू अभी जानेगा, पहले हम सब मिलकर, बड़े पापसमूहका नाश करनेको समर्थ अच्युत प्रभुके शुभनामकी ध्वनि करें. प्रभुका मंगलप्रसू नाम, प्राणीको समग्र पापसे मुक्त करता है और अंतसमय जो प्राणी प्रभुके नामका स्मरण कर शरीर त्याग करता है, वह प्रभुको प्राप्त करता है, वह प्रभुपदोंमें स्थान पाता है, ऐसा पहले अपनी शरणमें आये हुए जीवोंसे अच्युतप्रभुने कहा है:—

"अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

अर्थ—अंतकालमें मेरा ही स्मरण करते कलेवर (शरीर) त्यागकर जो जाता है, वह मेरे ही भाव (पद) को पाता है, इसमें संशय नहीं है।

"परन्तु अंत-समयमें क्षुद्र प्राणीसे ऐसा नहीं बन सकता. चैतन्यसे पदभ्रष्ट

हुआ चैतन्यको नहीं जानता, नहीं देखता, उसके देखनेमें तो इस समय स्थूलवासनासे जन्मे हुए व्याघ्र, सर्प, राक्षस जो वासनारूपसे निवास करते हैं वेही आते हैं. ऐसे पुरुषके प्राणोत्क्रमण (मरण) समय उसके समीप रहनेवाले सब लोग, प्रभुके नामका उच्चारण करें, तो इससे किसी जन्ममें भी उसका कल्याण होता है. मरणसमय प्राणी अतीन्द्रिय होता है इससे उस समय भगवन्नामकी अभेदताका विचार करनेपर भी वह साधनसंस्कारी हो सकता है और मंगल ध्वनि श्रवण कर सकनेसे ईश्वरको याद करता है—

सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥

अर्थः—सिर्फ एकबार ही ' हरि ' यह दो अक्षरवाला अच्युतप्रभुका नाम जो उच्चारण करता है वह सब बन्धनोंसे मुक्त होकर मोक्ष पाता है ।

" अवसान (अंत) समयमें पुरुषके प्रियजन और दूसरे भी उसके कल्याणके लिए अवश्य आत्मा परमात्माकी एकता—अद्वितीयताका ज्ञान—सिर्फ ज्ञान ही करावें, भगवन्नामकी ध्वनि करें क्योंकि यह भी कल्याणकारी और विघ्नविदारी है. भगवान् अच्युतके हरि, राम, कृष्ण, गोविन्द, माधव, परमात्मा, पुरुषोत्तम, केशव, अच्युत, अनंत, नारायण, वासुदेव इत्यादि अनंत नाम हैं इनमेंसे इच्छामें आवे उस नामका उच्चारण विशुद्धता, पराधीनतासे भी जो पुरुष करे, उसके पातक ऐसे भागते हैं जैसे सिंहके त्राससे मृगश्रेणी भाग जाती है ।

" अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

अर्थः—पराधीनतामें भी यदि हरिका नाम लिया जाय तो मृग जैसे सिंहसे भयभीत हो तुरंत उसे छोड़कर भाग जाता है वैसे सब पातक भी उस हरिका नाम लेनेवाले पुरुषको त्यागकर चले जाते हैं.

" इसलिए अब इस पुरुषके कल्याणार्थ हम सब वारवार अच्युत प्रभुके नामकी गर्जना करें. " यह सुन सारा पुण्यजनसमाज एक साथ ही अच्युत् नामकी लगातार ध्वनि करने लगा, नभस्थलमें उसकी भारी प्रतिध्वनि गूंज रही.

महात्मा वटुक फिर बोले—" ॐ " " इस मंगलकारी नामस्मरणका फल तत्काल हमारे देखते ही इस महात्माको प्राप्त हुआ. " यह सुन सबलोग फिर उसकी ओर एकाग्र वृत्तिसे देखने लगे. वह आत्मा, जो महात्राससे

मलद्वारसे होकर मलके साथ ही देहके संगसे छूटा था और बाहर आते ही जिसे उस पाशधारी पुरुषने पाशद्वारा बड़े बलसे बांध लिया था वह अंतरिक्षमें भगवन्नामकी पुण्यध्वनि सुनते ही पाशसे मुक्त हुआ और उन भयंकर पुरुषोंके आगे उदासीन (विरक्त) के समान चुपचाप खड़ा रहा. इसमें कुछ न समझनेसे वरेप्सुने पूछाः—"कृपानाथ ! यह आत्मा कहां है ? हम उसे नहीं देख सकते हैं । मैं तो इस पुरुषके देहको उस भयंकर कालपुरुषके तीक्ष्ण लंबे पंजेमें पड़ा हुआ देखता हूँ; वह अब उसको खींच ले जानेकी तैयारीमें है." वटुक बोलेः—" सत्य, यथार्थ है. काल पुरुष तो उसका काम करेगा ही, परंतु इसमें जो एक गूढ़ रहस्य समझ लेना है, वह अब सब लोग ध्यान रखकर देखो. कालपुरुष इस जगत्के जडविभागको ही भक्षण करनेवाला है, चैतन्यको नहीं खा सकता. जगत् जड तथा चैतन्य दोनोंके मिश्रणसे प्रकट हुआ है. वैसे ही यह स्थूल पुरुषरूप भी इन दोनों पदार्थोंके संयोगसे पैदा हुआ है. पुरुषके देहका जो भाग है वह स्थूल और उसमें निवास करनेवाला आत्मा चैतन्य है. कालपुरुष पुरुषके स्थूल देहका भक्षण करता है उस समय उस (देह)का आत्मा (जीवात्मा) अपनी सहायता करनेवाले कुछ स्थूलसमूहसहित उसमेंसे बाहर निकल जाता है. अच्युतपथदर्शिकारूप महाशास्त्रमें अच्युतपरब्रह्मके श्रीमुखकी ही इस विषयमें पवित्र वाणी है किः—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
'गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

अर्थः—मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीवका रूप धारण करता है और प्रकृति (जड़समूह) में लीन हुई पांच इन्द्रियां तथा छठा मन इनको वह खींच लेता है. जब जब वह शरीरका ग्रहण और त्याग करता है, तब तब इन इन्द्रियोंसहित मनको वह अपने साथ लेता जाता है. यह कैसे? जैसे वायु अदृश्य और अलिप्त होनेपर भी, गंधके स्थानसे होकर बहते समय वहांकी गंधको अपने साथ ही लेते जाता है.

'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
'अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥
'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

अर्थः—कान, आंख, त्वचा, जीभ और नाक इन पांच ज्ञानेन्द्रियों सहित मनमें निवास कर विषयोंका उपभोग करनेवाला जीवात्मा जब शरीरसे निकलता है तब या शरीरमें ही रहकर इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवन करता है तब भी मूढ़ जन उसे देख नहीं सकते। जिनके ज्ञानरूप नेत्र होते हैं सिर्फ वही देख सकते हैं।

"इस विश्वनियमका अनुभव अपनी आंखोंके आगे होनेवाली इस घटनासे ही तुम करलो। यहांपर कहा है कि जीवात्मा देहमें हो या उसमेंसे निकलता हो उसे मूढ़जन देख नहीं सकते परन्तु ज्ञानरूप आखोंवाला देख सकता है तो तदनुसार तुम्हें भी दिव्यचक्षु प्राप्त हुए हैं, उनसे उसे तुम देख सकोगे। इस पुरुषका स्थूल देह, कालपुरुषके पंजेमें है और उस (इस देह) में आजतक निवास करनेवाला उसका जीवात्मा जो, अपने त्रासदाता उन क्रूर राक्षसोंके आकर्षणसे बाहर आकर पाशमें बद्ध हो गया है, हमारे किये हुए भगवन्नामके घोषके पुण्यसे तत्काल मुक्त हो किनारे खड़ा है, उसे देखो."

वरेप्सु बोलेः—"हां उसके पैरके पास वे दो काले पुरुष खड़े हैं." बटुकने पूछाः—"पर मृत देहके सिरकी ओर तुम्हें कुछ दिखाई देता है?" वरेप्सु बोलेः—"नहीं, वहां तो कुछ भी नहीं है, सिर्फ धुएंके समूह जैसा कुछ मालूम होता है." बटुकने कहाः—"यही जीवात्मा है."* यह धुआं नहीं. परन्तु उस मृतकका जीवात्मा है. तुम्हारे दिव्य चक्षु होते भी तुम्हें यह नहीं दीखा.

---

* टीका—ऊपर जो वर्णन किया गया है उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक होनेसे यहां कुछ स्पष्ट करते हैं. मनुष्य इस पांचभौतिक देहका त्याग कर फिर कैसी आकृति धारण कर अपने पुण्य पाप आदि कर्मोंका भोक्ता होता है यह बिलकुल अनिर्वचनीय है. तो भी महाभारतके वनपर्वमें श्रीव्यासदेवने इसके संबंधमें धृतराष्ट्रका संदेह दूर करते हुए जो बताया है उसमें इस विषयकी कुछ झलक दीखती है कि मनुष्यदेहका त्याग करनेके बाद जीवात्मा लिंगदेह–सूक्ष्मदेह धारण करता है और वह हवामें धुएंके आकारका होता है. इसी लिंगदेहके पुण्यपापके फलोंका ईश्वरी न्यायालयमें निर्णय होता है. इस विषयमें रॉटजन–रे नामकी नवीन विद्याकी शोध हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञानकी पुष्टि करती है. फ्रान्सके प्रधान नगर पेरिसके एक विद्वानने मृत्यु क्या वस्तु है इस संबंधमें इस प्रकारसे कुछ हकीकत दी हैः–'कैदखानेमें पड़े हुए एक कैदीके मृत्युसमय, उसके शरीरपर रॉटजन–रेकी किरणें डालकर जांच की गयी. मृत्युके अंतसमयमें उस पुरुषका जीवात्मा मानो बहुत ही घबराता हो इस दशामें एक गूढाकृतिमें देहमें दौड़ते मालूम हुआ और ऊपर लिखे अनुसार मानो नौसौ निन्यानवे नाडियोंके भीतर वह अभय स्थान प्राप्त करनेके लिए भटकतासा मालूम हुआ. क्षणभर तक उस देहगत हृदयका धबकारा बंद रहा और क्षण-

क्योंकि यह ऐसा है कि जो सिर्फ दिव्य ज्ञानचक्षुसे ही दीख सकता है. परन्तु अभी यह शुद्ध चैतन्य नहीं है, इसमें कुछ जड़ भाग× है, इसीसे कुछ दीख पड़ता है, इसका कारण यह है कि जैसे शरीरमें जबतक थोड़ा भी जहरका भाग रहता है तबतक प्राणी आरोग्य नहीं हो सकता, वैसे ही जबतक जीवात्मामें अहंकारवृत्ति है 'मैं' और 'मेरा' बंधन है—तबतक वह शुद्ध चैतन्य नहीं बन सकता. अहंकार—मैं हूँ, मैं देह हूं, परन्तु आत्मा नहीं, ऐसी भावनाकी जबतक निवृत्ति न हो, अहंकारसे माने हुए दूसरोंको रोगरूप समझ संहार न करे और आत्मतत्त्वके विवेकसे स्वयं ब्रह्म है, ऐसा न जाने, तबतक जीवात्मा विशुद्ध चैतन्यको नहीं पाता. जो जीव वास्तवमें विशुद्ध है, सर्वदा एकरस है, चेतन है, व्यापक है, आनंदरूप है, निर्दोष है, निर्विकार है, उसने अहंकारसेही—मायाके भ्रमसे ही—संसार माना है और उसके योगसे भुलावेमें पड़ उसीमें लिपट आनन्द माननेसे शुद्ध नहीं होता. इस तरह शुद्धता विना चैतन्यरूप होते भी बंधनरूप अहंकारके वश रहता है, तब तक इस जीवात्माको विशुद्धिकी लेश मात्र भी आशा नहीं. परन्तु जो जीवात्मा, अहंकारसे मुक्त होता है,—वह शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करता है, चंद्रके समान निर्मल होता है, पूर्ण, सदानंद और स्वयंप्रकाश होता है. ऐसे जीवात्माको दिव्यचक्षु भी देख नहीं सकते. इस जीवात्माको सिर्फ दिव्यज्ञानचक्षु ही देख सकते हैं, परन्तु

भरके बाद फिर चलने लगा और दूसरे ही क्षण उस देहीकी चक्षुरिन्द्रियसे निकल हवामें मिलता हुआ धुआं मालूम हुआ. यह धुआं जब पूर्ण रीतिसे आंखोंसे बाहर निकल आया तब उस पुरुषके जैसी ही एक आकृति बन गयी और सिरपर खड़ी हुई जान पड़ी. इसके बाद वह धूमाकृति पुरुष अपना हाथ ऊंचा कर जमीनपर पड़े हुए देहसे मानो अंतका रामराम करता और कहता हो कि मेरा और तेरा संबंध अब पूर्ण हुआ है इस लिए अंतिम प्रणाम है, ऐसा सूचनादर्शक अंतिम प्रणाम करते हुए सिरतक हाथ लेजाते देखा गया. फिर उसने हाथ नीचे किया और वह धूमाकृति देखते देखते ही हवामें अदृश्य हो गयी. इसपर से हमें यह सार लेना है कि वह धूमाकृति पुरुष उस अपने अध्यात्मशास्त्रमें उल्लिखित सूक्ष्म देही जीवात्मा था.

× कान, आंखें, नाक, जिह्वा, त्वचा, इन पांच ज्ञानेन्द्रियोंमें रहनेवाले विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति और मन, अर्थात् मनसहित इन्द्रियां, ये सब जड़ पदार्थ हैं चैतन्य नहीं हैं और चैतन्य विना ये अकेली हों तो किसी कामकी नहीं. उन्हींके संगसे आत्मा, जो बिलकुल निराकार, निरंजन, चिद्रूप है, ऐसा साकार और दृश्यमान हुआ है.

सामान्य प्राकृत जन तो इस पांचभौतिक स्थूल देहके स्वरूपको भी देख नहीं सकते तो चैतन्यकी तो बात ही क्या ?" इतनेमें वरेप्सु अकस्मात् बोल उठे:- "गुरुदेव ! इस धुएंकी तो सुन्दर आकृति बन गयी, और वह भी फिर इस मृतक देहके समान ही है !

यह सारी पुरुषाकृति यद्यपि धुएं जैसे पदार्थसे बनी हुई जान पड़ती है सही, परन्तु फिर भी वह निर्मल और पारदर्शक है, इससे आप ही आप पहँचानमें आजाती है कि यही इस मृतका लिंगदेह है. इसके पासमें वस्त्रादि कुछ भी नहीं है. अब यह सचेत है और ऐसा मालूम होता है मानो कुछ बोलता है, इसलिए हमें वह सुनना चाहिए."

यह धूमाकृति पुरुष प्रार्थना करनेके समान हाथ जोड़ उन भयंकर पुरुषोंसे बोला:-"ऐसी भयंकर आकृतिवाले तुम कौन हो ? तुम यहां क्यों आये हो ? मैंने तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं किया तो भी तुम मुझे असह्य दुःख क्यों देते हो ? " उस लिंगदेही मृतकके ऐसे वचन सुन, वे यमदूत उससे कहने लगे:—"हम महात्मा धर्मराजके नौकर हैं और उनकी आज्ञासे तुझको ले जानेके लिए आये हैं. तूने हमारा अपराध नहीं किया परन्तु हमारे स्वामीके स्वामी—धर्मराजका अपराध किया है और ऐसे अपराधियोंको उनकी आज्ञासे दंड देना हमारा कर्तव्य है." धूमाकृति रूप लिंगदेही जीवात्माने कहा:—"तुम्हारे स्वामीका मैंने कौनसा अपराध किया है ?" उसके उत्तरमें वे बोले:—"यह पुरद्वार* उस पवित्र अच्युतमार्गका द्वार है; इससे होकर अच्युत प्रभुकी शरण जानेवालोंको उनका मार्गश्रम निवृत्त होनेके लिए ही यहां सिर्फ कुछ समय निवास करनेकी आज्ञा है तो भी इस स्थानको अपने रहनेका सत्य—नित्य—स्थान मानकर उसके योग्य पदार्थोंका जो मनुष्य निरंतर यथेच्छरूपसे, अपने शरीरसुखके लिए उपभोग करता और परलोकके साधन—स्वात्मस्वरूपका विचार नहीं करता, वह जीव हमारे प्रभुके प्रभुका अपराधी है. इस स्थानके पुरद्वारका आधिपत्य हमारे स्वामीके हाथमें है. पर अरे देहभोगी ! सत्यासत्य, नित्यानित्यका भेद न जाननेवाला ! जगन्नगरसे † अच्युतपुर जाने-

* मनुष्यदेह—मनुष्यदेहसे सतज्ञान प्राप्त कर जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसे पुरद्वार माननेका कारण यही है कि इस द्वारसे ही परम ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, दूसरे पश्वादिक द्वारसे जीवात्माको ज्ञान या मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

† विश्व। इस विश्वके अनेक देह—अंडज, उद्भिज्ज, स्वेदज और जरायुज भोग

की प्रतिज्ञा कर तू निकला था या नहीं ? " इसके उत्तरमें उस लिंगदेही जीवात्माने कहा:—" हां हां. " तब धर्मदूत बोले:—"इसके बाद वहां जानेका प्रयत्न न कर, यहां क्यों लिपट गया ? " जीवात्माने कहा—" थकावट लगनेसे कुछ देर विश्राम करनेको बैठा और अब उठता हूँ ‡ ऐसा विचार करता था, इतनेमें नींद आगयी. जब चेतमें आकर चारों ओर देखा तो मेरे सब साथी आगे निकल गये थे. मैं निरुपाय घबराकर चिन्ता करने लगा. परंतु इतनेमें एक स्त्री § वहां आ मुझे धैर्य देकर कहने लगी, ' तुम क्यों चिन्ता करते हो ? तुम अपनेको अकेला मत समझो, मैं भी तुम्हारी तरह पीछे रह गयी हूँ और साथ खोजती हूँ, परन्तु मुझे तो इन सब पथिकोंकी दौड़ धूपपर धिक्कार लगता है, क्योंकि ऐसा सुन्दर स्थान छोड़कर उस ओर क्यों दौड़ मरें, जहांका कुछ भी नहीं जानते. आप आगे जाना रहने दें, यहीं मुकाम करें. मैं तुम्हारी सेवा करूंगी और हम दोनोंजन आनंद करेंगे.' इस तरह कह और अनेक प्रकारके हावभाव दिखा उसने मुझे अच्युतपुरकी ओर जानेसे रोका, बस उसके साथमें यहीं रह गया ! फिर दिनोंदिन मैं अच्युतमार्ग जानेकी बात भूलता गया. मैं की हुई प्रतिज्ञा भी भूल गया और इससे प्रीतिमें ऐसा जकड़ गया कि मुझे इस बातका स्मरण तक नहीं हुआ.'. "बस बहुत हुआ, तेरे कुकर्म हमें सुनना नहीं है, उन्हें हमारे प्रभुके दरबारमें उनका बड़ा कारबारी सुनेगा. परन्तु अब तू समझ गया होगा कि इतने ही के लिए तू मेरे स्वामीका अपराधी है, और उस अपराधकी सजाके लिए तुझे उनके दरबारमें ले जानेके लिए हम आये हैं इस लिए चल, आगे हो. देर करनेका काम नहीं है. तेरे जैसे दुष्ट प्राणीको बांधकर ले जानेके लिए हमने यह पाश धारण किया है, पर क्या करें ? तेरे लिए किसी पुण्यवान् महात्माने सर्वेश्वर अच्युत प्रभुके नामकी गर्जना की, जिससे उस महाप्रभुके आदरार्थ हम तुझपर पाश नहीं डाल सकते परन्तु चलनेमें विलंब करेगा तो यह तीक्ष्ण

और उनमें कष्ट सहकर किसी. जन्मके कुछ सत्कर्म और परमात्माकी कृपासे प्राणीको मनुष्यशरीर प्राप्त होता है, जिससे वह सत्को जाने ।

‡ टीका—कल ईश्वरको भजूंगा, बड़ा होनेपर हरि भजूंगा आदि आलस्य और उसमें हरिभजन भूल जाना ही निद्रा है ।

§ माया—मिथ्या मोह ।

अंकुश और मुद्गर तेरे ही लिए हैं. अरे मूढ ! इस देहादिसे संबंध रखने-वाले पदार्थोंमें तूने ममत्व माना और यह मतिरूप बंधन तेरे इसी अज्ञानसे तुझे प्राप्त हुआ है और इसीसे तुझे यह क्लेशका समूह बटोरना पड़ा है. तूने इस मिथ्या शरीरको सत्य मान, मेरा मेरा कर, विषयोंद्वारा पुष्ट किया, विषयोंका ही सेवन और रक्षण किया. तूने अज्ञानका नाश नहीं किया, परन्तु कुसियारे (रेशम, कोसे) के कीड़ेकी तरह विषयोंमें बँधा रहा. इन अनात्म पदार्थोंमें ही आत्मबुद्धि रही और महामोहरूप मगर मच्छके पेटमें पड़कर, जिस आत्मज्ञानके लिए तूने प्रतिज्ञा की थी, अच्युत प्रभुके मार्गमें हो-प्रवासकर वहां पहुँचनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे भंग कर, बुद्धिकी कल्पित की हुई अनेक अवस्थाओंको सत्य मान उनके भोगनेमें मस्त रहा ! हे दुर्बुद्धि ! तू विषयरूप विषसे भरे हुए अपार समुद्रमें इसीलिए अब गोते खाता है, यह क्या थोड़ा अपराध है ? " इतनेमें कमरेके पास बैठे हुए दूतोंमेंसे एक दूतने भीतर आकर कहा:-"इतना विलंब क्यों करते हो ? क्या तुम्हें इस जीवपर दया आती है ? " फिर उसने जीवात्माको सम्बोधन कर कहा:-"चल जल्दी कर, क्या तू यहां किसीकी सहायता चाहता है ? तेरे किये हुए अपराधोंसे तो कोई भी यहां ऐसा नहीं है जो तुझे छुड़ा सके, इससे चल आगे हो ? " इतना कह उसके साथके दूसरे दूतने, दो तीन मुद्गर मारे, बस भारी चीत्कार कर वह परवश हुआ जीवात्मा वहांसे बाहर होनेको तैयार हुआ, पर वहांसे निकलना उसे बहुत ही दुष्कर लगा. जिस देहमें रह उसने जीवन भर अनेक सुख (तामसी और राजसी सुख-विषयजन्य सुख) भोगे थे उस देहको छोड़ पराधीन होकर जाते उसे ऐसा दुःख हुआ मानो उसपर ब्रह्माण्ड टूट पड़ा हो. यह देह जिस त्वचा, मांस, मेद और हड्डियोंका समूह है, उसमें जिसने अनात्मज्ञबुद्धिसे अभिमान कर उसको सत्य माना है उसे शान्ति नहीं होती. मूढबुद्धि और अनात्मज्ञ, इस देहको ही "मैं" मानता है, कुछ विवेकी लोग जीवको 'मैं' मानते हैं, परंतु इन सबको अंतमें अशांति ही है. ऐसी ही अशान्ति इस मूढ जीवको होती है. वह बारबार पीछे फिरकर अपने त्यक्त देहकी ओर देखने लगा और निःश्वास-उच्छ्वास छोड़कर रुदन करने लगा कि ऐसा उत्तम मनुष्यदेह मुझे प्राप्त हुआ था, तो भी उसके आश्रयसे मैंने सत्कर्म न किये ! अरे ! सत्कर्म तो क्या, परंतु मुझ दुष्टने उलटे कुकर्मोंका ही आचरण किया जिससे मेरी यह दशा हुई

है. मैं यमदूतोंके अधीन हुआ हूँ और न जाने अब आगे मेरा क्या होगा. यदि कुछ समयको भी यह देह मुझे फिर मिले तो मैं कुछ सत्कर्म करूँ ! मैं यहींसे इस सब कुटिल कुटुम्बका त्याग कर अच्युतमार्गमें चला जाऊं.' ऐसा वह अब विचार करता था.

तो भी इस आत्माको अबतक घरसे निकलना भाता नहीं था. उसे अपनी प्रत्येक समृद्धि देखकर बड़ा शोक होता है कि:—"इनमेंसे एक भी वस्तु अब मेरे काममें न आयेगी. अब ये मेरी नहीं हैं. अरे! जबतक मेरी थीं, तबतक मैंने इनका कुछ भी सदुपयोग नहीं किया. मुझे प्राप्त हुआ यह अमूल्य देह भी मैंने सत्कर्ममें नहीं लगाया. मैंने आदि अंतसे रहित, अद्वितीय, विशुद्ध, विज्ञानमय, प्रशान्त, सत्य परब्रह्मका विचार ही नहीं किया, परन्तु भ्रान्त मनुष्य, जैसे रौप्यरूप प्रतीत होती सीपके प्रकाशको भ्रमसे सत्य चांदी मानता है, इसी तरह मैंने इस जगत्‌के सब भोग्य पदार्थोंको ही सत्य माना. परन्तु अरे हाय ! विवर्तरूप भ्रमरूप से विद्यमान सब पदार्थ मिथ्या हैं; ये सब दृश्य पदार्थ कल्पित हैं, नाशवंत हैं; देह और उसके संबंधी सब पदार्थ असत्य हैं। पर मेरे जैसा जगत्‌में कौन होगा जिसे सत्यासत्यका विचार ही न हो ? " ऐसा खेद करते फिर भी वह उस क्रूर दूतोंकी मारसे महाभय और त्रास पाकर अपने भविष्यत्‌की चिन्ता करने लगा कि; " अभीसे ही जब मैं इन दूतोंके स्वाधीन होकर महाअसह्य पीड़ा भोगता हूँ, तो आगे अब वे मुझे कहां ले जायेंगे और मेरी कैसी दुरवस्था करेंगे ? जिसके सेवक—दूत ऐसे भयंकर और क्रूर हैं, उनका स्वामी यमराज कैसा भयंकर होगा ? वह मुझे क्या दंड देगा ? वहांसे मुझे कौन छुड़ायेगा ? हाय ! जिस समर्थ प्रभुके नामकी गर्जना बिलकुल अंतरिक्ष (आकाश) में हुई और जिसके सुननेसे इन दूतोंने मुझे तुरंत ही अपने भयंकर पाशसे मुक्त किया उस पवित्र प्रभुको मैं पापी बिलकुल भूल गया। जिस समर्थका सिर्फ एक पवित्र नाम ही प्राणीको ऐसे महद्भयसे छुड़ाता है, ऐसा मैं अच्युतपथके पथिकोंसे वारंवार सुनता था, उसपर मैंने, धन यौवनादि मदके कारण विश्वास नहीं किया. अरे ! इसके सिवाय मैंने दूसरा भी कुछ सदाचरण नहीं किया. अरे ! यहां पड़े रहकर मैंने अच्युतमार्गका त्याग किया तो किया परन्तु यदि उस मार्गसे जानेवालोंकी वारम्वार आगत स्वागतरूप सेवा भी की होती तो कदाचित् उससे मैं इन क्रूर पुरुषोंके हाथसे मुक्त हो सकता. पर अब मैं क्या करूँ ? किसे

दोष दूँ. उस स्वार्थिनी दुष्टा ही—मायारूप स्त्रीने बलात्कार जगत्में बांधकर इन यमदूतोंके स्वाधीन किया है और अब मेरे दुःखके लिए नहीं, पर अपने ही स्वार्थकी हानिके लिए वह जोरसे रो रही है. इस कुटिल स्त्री और स्वार्थी कुटुम्बको * मैंने अपना माना यह मैंने कितना खोटा काम किया है ? वह जीवात्मा ऐसा महाशोक और पश्चात्ताप करता था, इतनेमें उन दूतोंमेंसे एकने उसे लोहमुद्गरका धक्का मारकर कहा:—" अरे दुष्ट ! अब तू किसमें मुग्ध हो रहा है ? तेरा जो प्यारेसे प्यारा शरीर, जिसके द्वारा तू इस लोकमें था, और जिसे दयालु प्रभुने तुझे अपने पवित्र मार्गमें जानेके लिए दिया था, उसे तो तू टेढ़े मार्गोंमें ले जाकर अंतमें खो बैठा और अपने किए हुए कर्मोंका अब अनवसर शोच करनेवाला तू जिस शरीरको अनेक जन्मोंके बाद महाकष्ट विना प्राप्त नहीं कर सकते, उसका शोच क्यों करता है ? जिसके हृदयमें क्षणभर भी अहंकारकी निवृत्तिका विचार नहीं होता, जो देहमें ही आसक्त रहता है और देही विषयोंमें ही लुब्ध रहता है, उसका कल्याण कहां है ? तेरा आत्मा देहसे भिन्न है, इसका तुझे ज्ञान नहीं हुआ, परंतु आत्मा ही देह है, ऐसा विश्वास हुआ था. इससे क्या विषयोंको भोगनेके लिए तू यह देह चाहता है ? तेरे इस अज्ञानके लिए क्या कहें ? अब तो तुझे अंतिम न्यायके लिए हम यमलोकमें ले जायेंगे। वहां तू अपने अपराधोंका दण्ड भोगेगा. परंतु अब यह आशा रखना व्यर्थ है कि वहांसे कुछ समयमें लौट इस लोकमें फिर आकर तू सत्कर्ममें प्रवृत्त होगा और पुण्यलोक प्राप्त करेगा. अरे मूर्ख ! हाथमें आया हुआ अमृत जो जीव नहीं पी सकता वह अमृत वह जानेपर पछताय तो उससे क्या लाभ ? " ऐसा कहकर दो दूत आगे और दूसरे दो उस जीवात्माके पीछे रहकर चलने लगे।

पुरद्वारसे बाहर आते तक तो वे धीरे धीरे चलते रहे परंतु सीमा पार करते ही वे उस जीवात्माको ले आकाशमार्गमें बड़े वेगसे चले. इस समय उन्होंने जीवात्माको बहुत बुरी तरहसे अधर उठा लिया था। उन विमानवासियोंने भी, जो विमानको पुरद्वारपर स्थिरकर एकचित्तसे यह सब देखा करते थे, उस जीवात्माको सुदूर गया हुआ देख, थोड़ी देरमें विमानको उसके पास पहुँचा दिया.

* काम क्रोधादि षड्रिपु।

क्षणभरमें वे भयंकर दूत उस जीवात्माको लेकर आकाशसे नीचे आने लगे और किसी ऐसी अपरिचित कराल कंटकाकीर्ण भूमिपर उतरें जिसे देखते ही महात्रास पैदा हो. यह देख विमानमें बैठे हुए महाराजा वरेप्सु, गुरुचरणोंको प्रणाम कर बद्धांजलि हो बोले:—"कृपानाथ! ये पुरुष इस अनाथ जीवको यहां कहां ले आये? यहां तो पुरद्वार या जगन्नगरका कोई भी जीव नहीं है. वहांका जैसा कुछ भी दृश्य नहीं दीखता. यहां तो जितना दीखता है उतना सभी अमंगल और कष्टरूप ही दीखता है. यह पवन गर्म और दुर्गंधित है. गर्मी असह्य पड़ती है. उस रास्तेकी रेत तप्त हो गयी है. फिर वहां ठौर ठौर पड़े हुए पत्थरोंके नुकीले टुकड़े तथा बड़े बड़े कांटे भालों जैसे खड़े हैं. छायाके लिए कहीं वृक्ष तो देखनेमें भी नहीं आते, परंतु वे दूर दूर वृक्ष दीखते हैं. वे किसके होंगे? ऐसे दुर्वृक्ष मैने कभी नहीं देखे. उनमें पत्तोंका तो नाम भी नहीं है. पेड़ीसे सिरेतक सर्वत्र भाला जैसे कांटे ही हैं. फिर बहुत गर्मी और चारों ओर मृगजलके कारण यह सारा महाघोर वन ऐसा मालूम होता है मानों धक धक जल रहा हो. ऐसे दुःखरूप स्थानमें ये यमदूत इस जीवात्माको क्यों लाये हैं? देखो, उस जीवको धधकती हुई रेतमें खड़ा किया है और ऊपरसे मुद्गरकी मार देते हैं (फिर दूसरे पुण्यजनोंकी ओर देखकर राजा बोला) यह भीषण चीत्कार क्या तुम सब सुनते हो? यह उस जीवात्माका है. अरे! उस बेचारे अनात्मज्ञका इस निर्जन वनमें कौन साथी है? दूत उसे ऐसे अग्निसम तपे हुए दुर्गम्य मार्गमें चलनेको कहते हैं. उसके कोमल पैर नंगे हैं, सारा शरीर भी नंगा है. ऊपर असह्य ताप और नीचे ऐसा दुस्तर मार्ग जहां किसीसे भी चला नहीं जा सकता वहां चलाते हैं और जब यह जीव नहीं चल सकता तब दूत उसे मारते हैं, अब उसका क्या वश" इतना कह राजा फिर बोला:—"यह उसीके जैसा परंतु बहुत दूरसे सुन पड़नेवाला दयापूर्ण चीत्कार सब लोग सुनो. गुरुदेव! यह फिर किसका चीत्कार है? कहांसे सुनाई पड़ता है?" यह सुन महात्मा वामदेवजी बोले:—"राजा यह चीत्कार इस जीव जैसे दूसरे पापियोंका है. वह यहां इस अरण्यमेंसे ही सुनाई पड़ता है. यह बड़े विस्तारवाला घोर वन ऐसे पतितोंके यमलोक जानेका मार्ग है. यह बहुत दुस्तर है. इस मार्गसे होकर आनेसे असह्य कष्टकी यातनाएं, जगन्नगरमें रह ईश्वर, पुण्य, ज्ञान और भक्तिको भूल किये हुए

पातकोंके फलरूपसे भोगते उन अनात्मज्ञ प्राणियोंको होती हैं जो अच्युतमार्ग भूल गये हैं और विषयानुरागी बन देहरूप घरको नित्यका स्थान मान जिन्होंने विषयोंकी ही कामना (इच्छा) की है, देहको ही आत्मा मान लिया है और विषयोंकी खोजमें तत्परता दिखाई है इससे संसाररूप बंधनमें पड़ नैत्यिक अचलित ब्रह्मभावनाकी वासनापर प्रीति न कर उल्टे उसका क्षय (नाश) कर संसाररूप वासनाके बंधनको न तोड़ उसे बढ़ने दिया है, वासनाका ही चिन्तन किया है और बाहर—व्यवहारकी क्रियासे वासनाको दृढ कर, बढ़ती हुई वासनासे संसारमें लिपट कर नये संसारको पैदा किया है तथा परमात्माके निर्मित नियम अर्थात् सब काल सारी अवस्थाओंमें चिन्तनक्रिया और वासनाका क्षय करना चाहिए उससे विरुद्ध, स्त्री, पुत्र, पैसे, देह, गेह, और अनित्य पदार्थोंको सत्य—सर्वस्व—त्राता-मान उनमें प्रेम कर अकर्म ही किये हैं और इस प्रकार वासनाके अधीन होकर कुकर्म ही नहीं परन्तु पापकर्ममें भी प्रवृत्त हो न करने योग्य कार्य किया और करने योग्य नहीं किया, ऐसे अधमोंके जानेका यह मार्ग है, इसे यातना-मार्ग कहते हैं. देखो! वह प्राणी फिर चीत्कार करता है. वह चल नहीं सकता इससे दूत उसे मारते और अपने साथ चोटी पकड़ कर घसीटते जाते हैं. शरीरसे निकलनेवाला पसीना और आंखोंसे गिरनेवाली अश्रुधारा भी इस गर्म वायुके सपाटेसे तत्क्षण सूख जाती है. ऐसे सुखसाधनोंसे परिपूर्ण विमानमें रहनेपर भी हमें असह्य तापसे भारी भय होता है, तब इस नूतन देहधारी और वस्त्रादिरिक्त जीवात्माको कितना भारी कष्ट होता होगा, इसका विचार तुम्हीं करो. उसके दोनों पैरोंमें बड़े २ कांटे चुभे हैं उनको निकालनेके लिए वह नीचे झुका जाता है, बस झुकते ही पीठपर मुद्गर पड़ते हैं और चलनेमें विलंब होनेसे उसी दशामें दूसरा दूत फिर उसे, घसीटकर आगे चलता है. जो जीव करने योग्य नहीं करते और जो नहीं करना है उसे करते हैं, उन दोनोंको समान फल यही मिलता है, इनमेंसे बहुतसे जीवोंने प्रभुका स्मरण ही नहीं किया, जाना ही नहीं. बहुतसे जीवोंने संसारको ही भजा (ध्यान किया) है, उन सबकी ऐसी ही अवस्था है, अहो कष्ट ! अहो कष्ट !"

अत्यंत दयार्द्र होकर राजा वरेप्सु बोले:—"कृपानाथ ! मेरे मनमें प्रश्न होता है कि, जब मरनेवाले प्राणीको, एक देह छूटनेके बाद ऐसा दूसरा देह प्राप्त होता है, तब उस देहको आच्छादनरूप वस्त्रादि क्यों प्राप्त नहीं होते, जो

ऐसे कष्टमें काम आवें ? " वामदेवजी बोलेः—" ये भी प्राप्त होवें ही परन्तु देहकी तरह अटल रूपसे नहीं ! यह देह तो उसके पूर्वदेहमें रहते समय भी सूक्ष्मरूपसे प्राप्त होता है. पूर्वका स्थूलदेह नष्ट हो जानेपर, उस देहसे किये गये कर्मोंका दंड भोगनेके लिए अब स्पष्ट रूपसे वह सूक्ष्म देहके रूपसे दीखता है. वह भी सिर्फ हम लोगोंको ही दीखता है, दूसरोंको नहीं. यह लिंगदेह है. परन्तु स्थूल देहमें रहनेपर भी अपने भोजन आच्छादनादिके लिए प्राप्त हुई सामग्रीसे थोड़ी बहुत यदि उसने परोपकारार्थ काममें लाने और परब्रह्मकी भक्तिके लिए दी हो तो वह उसे इस स्थानमें अवश्य काम आती और नहीं तो उसे उसके विना ही रहना पड़ता है. इस निर्भाग्य प्राणीने परोपकारके लिए कुछ भी किया हो ऐसा मालूम नहीं होता ! सुनो, वह उन दूतोंसे कुछ कहता है."

दुःख और मारसे भयभीत वह जीवात्मा बड़ी करुणापूर्ण रीतिसे अश्रुधारा बहाते, हाथ जोड़ दूतोंसे कहने लगाः—" हे यमानुचरो ! मुझ अनाथ पर कुछ दयादृष्टि करो. इस अग्निसदृश तापसे मैंने अत्यंत दुःख पाया है और मुझे बड़ी प्यास लगी है. इस तापकी ज्वालासे मेरा कंठ सूखा जाता है और आंखोंमें अँधेरा आता है ! यहां कहीं जलाशय हो तो कृपा कर दिखाओ." यह सुन एक दूतने धम्मसे पीठ पर मुद्गरका प्रहार कर कहाः—" चल, पानी पीनेवाले ! जीवन भरमें कभी किसी गरीब प्यासेको पानी पिलाया है कि योंहीं अब पानी मांगता है ? " ऐसी महादुरवस्थामें रगड़े और मार खाते, वह जीव बहुत दूर निकल गया. इतनेमें उस दुःखदायी मार्गकी बाजूमें एक बड़ा घटादार वृक्ष आया उसकी छायाके तले बुहार झाड़ कर सफाई की गयी थी. वहीं शीतल जलकी एक सुराही, गीले कपड़ेसे ढँकी हुई रखी थी और पास ही एक बर्तनमें खानेका कुछ पदार्थ भी रखा था. यह सब दूरसे देखते ही उग्र प्याससे घबराया हुआ वह जीवात्मा यद्यपि पराधीन और अशक्त हो गया था, तो भी मनको दृढ़ करके उस ओर दौड़ा. उसने यह सोचा कि यमदूत अपनी कुटिलताके कारण इन्कार करते होंगे; परन्तु यह जल यहां तैयार है और छाया भी है इस लिए कुछ समयके लिए यहां जाकर शरीर ठंढ़ा करूँ, और पानी पी लूं. परन्तु दौड़ कर कैसे जासके ? पीछेसे दूतने तुरंत उसके पीछेके हिस्सेमें अंकुश मार कर खींच लिया और दूसरोंने ऊपरसे धड़ाधड़

दो चार मुद्गर जमाये. वह अनात्मज्ञ देह और उसके भोगोंको सर्वस्व माननेवाला भाग्यहीन जीव, तुरंत चक्कर खाकर गिर पड़ा और अचेत हो गया.

इतनेमें इसी मार्गसे हो कर उसके आगेवाला एक दूसरा जीवात्मा, अपने साथके दूतोंको रास्तेमें खड़ा कर उस वृक्षतले आया और इच्छाभर उस ढँके हुए बर्तनमेंसे भोजनके पदार्थ ले कर खाने लगा. फिर पानी पी थोड़ी देर शान्त होकर दूतोंके बुलानेसे लौटने लगा. इसने पैरोंमें सुन्दर कोमल जूते, शरीरमें श्वेत वस्त्र पहरे थे और सिरमें छाता लगाये था. इससे रास्तेकी कठिनाई संबन्धी इसे कुछ दुःख न होता था और दूत भी उसे कोई दुःख नहीं देते थे. यह देख मूर्छासे सचेत हुआ भाग्यहीन जीव भारी करुणासे विलाप करने लगा. " यहां तो सब अपना ही अपने काम आते दीखता है." मैंने लोगोंके मुँहसे सुना है कि "जो हाथमें वह साथमें" परन्तु मुझ दुष्टने लोगोंका यह कथन तुच्छ माना. मेरे मतसे वह लोक ही सत्य था, इस लोककी बात मैंने मानी ही नहीं, न शास्त्रको माना, गुरुजन और शिष्ट जनोंके वचनोंका विश्वास भी नहीं किया. सन्तोंको नहीं परंतु ठग धूर्त आदिके—व्यवहारको पार लगानेवाला माना—संसारमें मग्न हुआ. अब कौन सहायता करे ? वास्तवमें मुझ पापीने किसी प्यासेको पानी पिलाने तकका उपकार नहीं किया, तो मुझे सुख कहांसे मिले ? यह कोई पुण्यात्मा मेरे आगे जाता है. इसे कोई दुःख नहीं है. अरे ! मैंने कभी भी ईश्वर, प्रभु, परमात्मा, परब्रह्म अद्वैत ब्रह्मका विचार नहीं किया और लोक, शास्त्र तथा वाणीसे पुण्यकर्मोंकी ओर भी नहीं झुका." इस प्रकार बारम्बार निश्वास छोड़ सिर कूट रोते कोसते वह जीव चलने लगा. फिर उन दूतोंमेंसे एक बोला:—" भाग्यहीन प्राणी ! पुण्यवान् प्राणीको दुःख होता ही नहीं. तेरे आगे जानेवाले उस जीवको देख. ऐसे दुःखद मार्गमें भी वह कोई क्लेश नहीं भोगता. उसने प्रभुकी भक्तिके लिए निष्कामनासे निरंजन प्रभुको जान कर बहुतसे पुण्यकर्म किये हैं, बहुत दान दिया है, अपने शरीरसे दुःख उठा कर भी अनेक लोगोंका उपकार किया है और प्रभुकी कृपासे अपने मिले हुए अन्न और कपड़े आदि सब भोज्य पदार्थोंको प्रभुके लिए ही अर्थात् परोपकारके लिए ही काममें लाया है. मानवलोकमें भूखेको भोजन, प्यासेको पानी और अविद्यावालेको विद्यादान देना मनुष्यमात्रका कर्तव्य ही है—अर्थात् इनके देनेसे पुण्य होगा, इस लिए देना चाहिये यह नहीं, परन्तु इन विद्या, अन्न, जलमें सबका भाग है

इस लिए वे अवश्य ही देना चाहिये. फिर यह जीव सबमें सब जगह ब्रह्मभावसे देख कर संसारका अनुभावन करता था. परंतु मायाद्वारा ठगा गया पुरुष ही ब्रह्ममें भेद देखता है और जो ब्रह्ममें भेद देख कर, 'मैं और मेरा' कर बैठा है, वह बारम्बार जन्म मरणका क्लेश भोगता है और अच्युत प्रभुको भूल जानेसे महाकष्टको प्राप्त होता है. जो जीव द्वैत और अद्वैत, ऐसे भेदोंकी कल्पना करता है वह महाकष्ट पाता है. परंतु जो जीव जगत्में अभेददृष्टिवाला है, वही क्लेशसे मुक्त रहता है. परंतु उनमेंसे तू कुछ समझ नहीं सका. तूने तो—उल्टे—दूसरे और घड़ी भरके लिए विश्राम करनेको मिले हुए पदार्थोंका इच्छानुसार दुरुपयोग किया है. पुरद्वारके विश्रामालयमें आज पर्यंत रह कर तूने जो जो कर्म किये हैं, उन्हें क्या तू भूल गया ? तू भोगेच्छामात्रका ही स्वामी था. परंतु तूने इतना नहीं जाना था, जाननेका विचार भी नहीं किया कि भोगेच्छामात्र बंधन है और उसका त्याग ही मोक्ष है. आगे पीछेका विचार न कर दृढ़ भावनासे जिन जिन पदार्थोंका ग्रहण—सेवन—प्रीति—ममत्व किया जाय वही वासना है. तूने भोगोंकी वासना तजी नहीं परन्तु उसे बढ़ाया, देहवासना त्यागी नहीं परन्तु उसे वृद्ध की, अब सुखकी इच्छा क्यों करता है ? "

ऐसा सुन भारी निश्वास छोड़ महाअसह्य दुःखका अनुभव करनेसे उस जीवात्माकी आखोंसे आंसू चलने लगे. धीरे धीरे मार्ग विकट आने लगा. गर्मीका अपार ताप कम होनेसे अब ठंढ लगने लगी. धीरे धीरे ठंढ इतनी बढ़ी कि मानो हिमालयकी हेमन्त ऋतु वहां पास ही बसी हो ! ऐसी ठंढमें कोमल नूतन देहधारी उस जीवात्माके शरीर पर कपड़े और पैरमें जूते भी नहीं हैं इससे यह विकट रास्ता चलना दुःखद होगा, इसकी कल्पना वासनाबंधनसे बँधे हुए जीवको होना भी दुर्लभ है. इस समय वह पुण्यहीन जीवात्मा जोरसे रोने लगा, और वह इस आशासे सब ओर देखने लगा कि कोई भी मुझे इस दुःखसे छुड़ानेवाला मिलेगा. परन्तु वहां कौन था ? उल्टे यमके दूत धमका कर उसे शीघ्र चलनेकी सूचना देने लगे. इतनेमें कर्मभोगसे एक बड़ा कांटा उसके पैरमें ऐसा चुभा कि पैरकी तली भेद कर ऊपर निकल आया. उसको निकालनेके लिए नीचे झुक कर उसने बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु वह नहीं निकला तब निरुपाय वह यमकी मारके डरसे ज्योंका त्यों रोते और लँगड़ाते चला. कुछ आगे जाने पर एक बड़ा

दुर्घट पर्वत आया. यह पर्वत बहुत ऊँचा और नोकदार पत्थरों, कांटेवाले वृक्षों और बीछी, सांप, वाघ आदि प्राणियोंसे परिपूर्ण था. इस पर चढ़नेके लिए बँधा, या खोदा हुआ मार्ग नहीं था. परन्तु पत्थरोंके खंडोंको पकड़ कर चढ़ना पड़ता था. मध्यमें हजारों हाथ गहरी खाई थी जिसकी तली दीख भी नहीं पड़ती थी. ऐसा दुर्गम पर्वत देख कर अर्थात् दुःखके पहाड़को देख कर ही वह जीवात्मा थरथर कांपने लगा और यमदूतोंसे झुक झुक विनय करने लगा कि:—"हे यमानुगो! (यमदूतो) बहुत हुआ. दया करो, दया करो. मुझ अशक्तको चलनेके लिए कोई सुगम मार्ग बताओ. इस त्रिकूट पर्वत पर मैं किस तरह चढ़ सकूंगा?" यमदूतोंने उससे कहा:—"अरे मूर्ख! दया कौन करे? दया तो सिर्फ सर्वेश्वर अच्युत करता है और हमारा काम तो पापियोंको दंड ही देना है. तूने किसी पर किसी दिन भी दया की है या यों ही हमसे दया चाहता है? जो किसी पर दया नहीं करता, वह किसीसे दया मांगनेका अधिकारी नहीं है. शीघ्र चल, इस पर्वतसे होकर ही आगेकी ओर जाना है." यह पापी जीवात्मा क्या करे? निरुपाय अपने शिरमें हाथ मार रोते हुए उस पर्वत पर चढ़ने लगा. चढ़ाव बिलकुल कुढंगा होनेसे ज्यों ही कुछ चढ़ता त्यों ही वहांसे फिसल कर नीचे गिर पड़ता. ऐसा करते कुछ ऊंचे चढ़ा. इतनेमें एक वृक्षकी खोहसे बहुतसे भ्रमर उड़े और इसके सारे नंगे शरीरसे लिपट पड़े. वह त्राहि! त्राहि! की चीत्कार मारने लगा. इतनेमें अँधेरेमें पड़े हुए एक पत्थरकी नोकको हाथसे पकड़ पैर रखना चाहता था कि एक छिपी बैठी बड़ी जहरीली बीछीने जोरसे उसे डंक मारा. अहो त्रास! अहो कष्ट! इस डंकसे अकस्मात् चमक भीषण चीत्कार कर गिरते ही वह जीव एक नोकदार पत्थरसे टकराया. इतना होने पर भी ऊपरसे मार पड़नेके भयसे ज्यों त्यों कर, वह असीम दुःखसे फिर चढ़ने लगा. भ्रमरोंके डंक और जगह जगह पछाड़ खाकर गिरनेसे, उसका सूक्ष्म शरीर रक्तमें सराबोर हो गया था, इससे मांसके समान जान कर कड़ी चोंचवाले बड़े क्रूर कौवे और गिद्ध बारम्बार झपटते थे. यह सब उसे कम था, इससे फिर उसके साथके एक दूतने एक बड़ा पत्थर लेकर उसके सिरपर रखाया और कहा:—"अरे! तू अकेले कहां जाता है? ले यह तेरे माल असबाबका भार. इसपर तेरी अधिक प्रीति होनेसे इसको छोड़ कर तू कैसे जा सकेगा?

यह सब घटना देखते हुए विमानवासी अब तो बड़े ही दुःखित हुए.

वरेप्सु हाथ जोड़ कर गुरुजीसे कहने लगे–" हे कृपानाथ ! यह तो असीम यातना है. मुझे मालूम होता है कि ऐसे निर्दय यमदूत विना कारण सिर्फ कुतूहलसे ही अपने अधीन हुए दीन प्राणियोंको दुःख देते हैं. ". गुरु वामदेवजी बोले:–"वरेप्सु, तू राजा होकर क्यों भूलता है ? किसी अपराधीको उसके घोर अपराधका दंड देनेके लिए फांसीकी सज़ा देनेवाला राजा क्या निर्दय माना जायगा ? इसमें तो धर्माधर्मका निर्णय करनेवाला न्याय ही कारण है और इसमें भी साक्षात् धर्ममूर्ति यमराजका न्याय तो बिलकुल निष्कलंक है और इसीसे इनका नाम धर्मराज पड़ा है. परन्तु यह जीवात्मा दूतोंसे क्या कहता है, वह सुनो."

जीवात्मा बोला—" हे यमानुगो ! मुझ दीनको तुम क्या हर प्रकारसे अधिक दुःख देनेमें ही राजी हो ? मेरी ऐसी दशा होने पर भी मैं यह भारी पाषाण उठा कर पर्वत पर कैसे चढ़ सकूंगा ? " एक दूत बोला:— " अरे दुष्ट ! तेरे जैसे हृदयशून्य हों तब तो इससे भी बड़ा दूसरा पाषाण उठवायें; अपनी कृति क्या तू इतनी देरमें भूल गया ? एक ब्रह्मवेत्ताकी आर्तपूर्ण प्रार्थना सुनने पर भी क्रोधान्ध होकर तूने जो पत्थर मारा था, क्या यह वही पत्थर नहीं है ? " दूतोंके मुँहसे, अपने पूर्वकृत कर्मोंका यथार्थ वर्णन सुन कर अतिशय पश्चात्ताप करते वह जीवात्मा चुपचाप आगे चलने लगा, तब यह सब सुन कर यहां विमानवासियोंके मनको भी समाधान हुआ और वे स्वस्थ होकर देखने लगे कि अब फिर क्या होता है.

जीवात्मा थक कर निरा निर्बल हो गया था, तो भी कड़ा हृदय कर पैर रखता था इतनेमें एक तिरछी शिलापर चढ़ाव आया. शिला प्रत्येक स्थानमें फटकर फैल गयी थी और उसके पास ही हजारों हाथ गहरी एक बड़ी खाई थी. शिलापर संभाल कर पैर रखते ही उसका फटा हुआ भाग खसका और साथ ही उस जीवात्माको लेकर धड़ड़ड़ करते उस खाईमें जा पड़ा. गिरते हुए उस जीवात्माके " अरे गिरा ! गिरा ! " की चीत्कार करते ही सारे विमानवासी भी चीत्कार कर उठे और बड़ा खेद करने लगे कि वह तो अब साफ ही हो गया होगा, नीचे वह और ऊपर पत्थर पड़ा है, अतः उसके दबनेमें शक ही नहीं है. अब तो वह मर गया होगा. परन्तु सूक्ष्म * शरीरकी मृत्यु नहीं होती. मृत्यु स्थूल देहकी ही होती है.

* टीका—मृत्यु होनेपर-देह पड़नेपर फिर पुण्यपापका भोक्ता लिंग–देह रहता है. इस

इससे वामदेवजी बोले:—" अब क्यों भूलते हो ? अब उसे मृत्यु कैसी ? मरण तो स्थूल देहका ही होता है और यह तो अब उसका यातनाभोगी देह है. यही सूक्ष्म देह है, अर्थात् इसके द्वारा तो वह अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपसे यातनाओंका ही अनुभव करता है. इससे इसे मृत्यु तो नहीं परन्तु मरणान्तसे भी बढ़ कर दुःख होता है. "

उस जीवात्माको गिरा देख दो दूत खाईमें कूदे और कुछ देरमें उसे खोज कर बाहर खींच लाये. खाईका एक बड़ा विषधर सर्प उसके पैरोंमें लिपटा था, जिसे यमदूत बहुत मारते थे परन्तु छूटता नहीं था. मारसे उस जीवके सारे अवयव चूरचूर हो गये. उसमें फिर इस सर्पका हलाहल जहर सारे शरीरमें व्याप गया, इससे वह अपार दुःखमें पड़कर मूर्छित जैसा हो गया. फिर बाहर लाकर दूतोंने उसे जमीन पर रखा. वह बहुत धीरे धीरे दुःखकी हिचकियां लेता और कुछ हिलता भी था. ऐसा देख उन यमोंने उसे पाशद्वारा गलेसे बांध लिया और जैसे कोई नीच अंत्यज मृत कुत्तेको घसीटते जाता हो वैसे उस जीवको अपने पीछे घसीट कर चलने लगे. वे बहुत शीघ्र चलने लगे. कुछ देरमें इस विकट पर्वतको पार कर वे आगे चले. वहां ऐसा वन आया जिसमें तरवारकी धारके समान तीक्ष्ण पत्ते उगे थे. रास्तेमें फैलायी और खड़ी की गयी चार धारवाली तरवारोंसे होकर चलना और इन पत्तोंके वनमें चलना एकसा था. उस वनमें वह जीव कटते चुभते खिंचता जा रहा था. उसके आगे घना अँधेरा आया. उस मार्गमें सर्वत्र पैने नोकदार भाले खड़े किये गये थे. अँधेरेमें चलते और फिर रास्तेमें जगह जगह भालोंके

लिंगकी काया १६ पदार्थोंसे बनी है:—पांच ज्ञानेन्द्रिय—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, पांच कर्मेन्द्रिय—वाणी, हाथ, चरण, गुदा, उपस्थ, ग्यारहवां मन और पांच विषय—शब्द-स्पर्श, रूप, रस, और गंध. इन सोलह पदर्थोंसे लिंगदेहकी रचना होती है. इसे अनेक लोग वासनादेह भी कहते हैं. यह देह—यद्यपि पार्थिव देह नहीं है तो भी उसके दश इन्द्रियां हैं, जो उन इन्द्रियोंमें इन्द्रियत्व धर्मसे रहती हैं और उनसे संबंध होता है. मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय माना जाता है और वह सबका एक नायक रूपहै. जो जीव सूक्ष्मदेह—लिंगदेहमें रहता है, वह निराकार होते भी इन्द्रियों द्वारा विषयोंका यथार्थ अनुभव करता है. विषय, सुखदुःखमिले होते हैं,इस सूक्ष्म देहवाला जीव, अपने कर्मानुसार सुखःदुखात्मक विपयोंका अनुभव करता है.

बीचसे जाते हुए वह जीव बुरी तरह छिद गया था. विमानवासी उसकी बड़ी दयापूर्ण चीत्कार सुनते थे. इस प्रकार यमपुर जाते हुए असंख्य पापियोंका संघ इस जीवात्माकी तरह अपार कष्ट सहते जा रहा था और उसकी बारंबार त्राहि त्राहिकी पुकार सुनी भी नहीं जाती थी. रास्तेमें कभी बहुत खारा पानी मिलता, कभी गर्म-लाख जैसी कीचसे होकर उसको चलना पड़ता, कभी तप्त की हुई रेतमें, कभी ताम्बे जैसी तप्त भूमिमें, कभी बहुत घने कुहासेमें, कभी दावानलमें, कभी कुढंगे चढ़ाओंमें, कभी भयंकर गुफाओंमें और कभी मल-मूत्र, पीव इत्यादि कुत्सित पदार्थोंसे भरे हुए गहरे गढ़ोंसे होकर पापियोंके उस संघको बड़े बड़े दुःख उठा कर चलना पड़ता था. आगे चलते समय कभी रास्तेमें खलबलाते हुए गर्म पानीकी वर्षा होती थी, कभी पत्थर बरसते थे, कभी अग्नि गिरती थी, कहीं पर सिर्फ खून ही बरसता था, तो कहीं हथियार और खारे कीचकी इसपर वर्षा होती थी. इतने दुःखमें फिर भी यदि शीघ्र न चल सके तो ऊपरसे यमदूत संघवालोंको लोहमुद्गरोंसे ताड़न करते जाते थे. निरा कष्ट ही कष्ट! संसारमें भोगेच्छासे—वासना बढ़ानेवाले जीवोंको विश्राम या सुखका तो स्वप्न भी नहीं होता. इस सब दुःखरूप मार्गमें उस पुरद्वारके जीव ठोकरें खाते थे.

आगे जाने पर महाघोर मार्ग आया. दूरसे बहुत अशुभ धुआं बरसते दीखा और असह्य दुर्गंध आने लगी. कौवे, गीध और दूसरे मांसाहारी घोर पक्षियोंके कर्कश शब्द दशों दिशाओंमें सुनाई दिये. समीप जाने पर मालूम हुआ कि वह भयंकर और पापरूप बड़े विस्तारवाली नदी थी. उसके किनारे, जीवोंकी हड्डियों और सिरके बने थे और उसमें मांस तथा खून जैसे रौद्र पदार्थोंकी गाढ़ी कीच जमी थी. सिवारकी जगह उसमें प्राणियोंके सिरके बाल तैरते थे. फेनवाला खून पीव और घृणा पैदा करनेवाले पदार्थ उसमें जलकी जगह जोरसे बहते थे. यह नदी जैसी भयंकर थी, वैसे ही भयंकर उसमें मच्छ, कच्छ, बड़े क्रूर मगर, शिशुमार, जलसर्प, सुई जैसे मुँहवाले कीड़े और खून पीनेवाले जलजीव मांसको छेदनेवाले जोंकादि जलचर खदबद कर रहे थे. नदीके दोनों कूलों और उसके ऊपर वज्र जैसी चोंचवाले गिद्ध और कौवे आदि मांसाहारी प्राणी उड़ रहे थे. उबलती कढ़ाईमें जैसे घी उछला करता है वैसे उछाल मारती यह

भयंकर नदी ऐसे बड़े विस्तारमें बहती थी कि किनारे ही नहीं दीखते थे. यमपुर जानेवाले जीवोंको यह नदी पार कर यमदूत दूसरे किनारे ले जाते थे.

पुरद्वारके उस मूर्छित प्राणीको उस नदीके किनारे जाकर यमदूतोंने खींचा. महादुःखसे दुःखित वह जीव; जब श्वास भी बड़ी कठिनाईसे ले सकता था तब चल सकना तो दुर्लभ ही था. दूतोंने उसे ज्यों त्यों बैठा कर पूछा:—“ अरे प्राणी! यह तेरे कर्मका संचय उछाल मार रहा है उसे देख, इस प्रकार थक जानेसे काम नहीं चलेगा. अभी तो बहुत दूर जाना है. चल, खड़ा हो और नदी उतर कर उस ओर चल. परंतु अरे जीव! क्या तूने ऐसा कोई सुकर्म किया है कि जिससे आनंदसे इसे पार कर सके?” यह जीव तो घोर गर्जना करती अपार दुःखरूप नदीको देखते ही गतचेतन हो गया था इससे तुरंत उसके गलेमें पाश डाल पहलेकी तरह वे यमदूत उस नदीमें घसीटते ले चले. वह प्राणी नदीमें घसिटता जाता, डुबकी खाता था और उसके गलेके पाशकी डोर पकड़ कर यमदूत नदीसे अधर चलते थे. इसी प्रकार असंख्य जीवोंका समूह इस दुःखरूप अथाह गहरी नदीमें पड़ा था. वहां कोई जीव पाशसे बाँध कर खींचा जाता था, कोई अंकुशादि शस्त्रकी नोकोंसे छिदता था, किसीको नाकसे छेद कर खींचते तो किसीको मछली पकड़नेके कांटेसे खींचते थे. बहुतोंसे तो लोहे आदिका भार उठवाया था और ऊपरसे मार भी पड़ती थी. इस समय उन प्राणियोंकी दयाजनक पुकारका भारी कोलाहल हो रहा था. इस असह्य दुःखको देख, वे अपने पिछले कुकर्मों, प्रभुकी विस्मृति, अपरार्थबुद्धि, विषयासक्ति, अधमाचरण, आत्मरसायन रोकने, सद्गुरुके उपदेशका तिरस्कार करने, निंद्य व्यवहार, देहवासना, जगत्की उपाधिमें लीनता, काम, संकल्प, अश्रद्धा, अधृति, निर्लज्जता, मनके विकार, बुद्धिके विप्लव, इन्द्रियोंकी निरंकुशता, मनोनिग्रहकी विमुखता, परब्रह्मसे होनेवाली विमुखता, क्रोधावेशमें होनेवाले कुकर्म, लोभमें ललककर वासनामें लिपटने और संसारकी आसक्ति आदिको स्मरण करते थे. कोई मंदबुद्धि वहां भी; “ ऐ पुत्र! हे भाई! अरी मा! रे धन! अरे ऐश्वर्य! ओ प्यारी! ” आदिकी जल्पना (बातें) करते थे.

यह महात्रास देख विमानवासी बहुत दुःखी हुए. वे गुरुदेवसे विनय करने लगे कि:—“हे कृपानिधे! यह रोमांचकर दुःसह प्रसंग तो अब हमसे देखा नहीं जा सकता. अब बहुत हुआ. इस लिए यहांसे लौटकर फिर परम-

पवित्र अच्युतमार्गमें पधारो." महात्मा वामदेवजी बोले:—"जब तुम्हें यह सब देख कर ही ग्लानि होती और भयसे रोमांच होता है, तो उसमें पड़कर दुःख भोगनेवालोंको कैसा होता होगा ? उन्हें जब ऐसी घोर यातना भोगनी पड़ती है तो उस प्रमाणमें उनकी कृति कितनी अधम, क्रूर और निंद्य होगी ? विश्वके सुख या दुःखोंका कोई दाता नहीं है, कोई उन्हें देता है, पैदा करता है, ऐसा मानना बुद्धिकी न्यूनता है और 'यह मैं करता हूँ' यह अभिमान मिथ्या है, वैसे ही 'वह कराता है, वह सबको देता है, वह प्रेरणा करता है, 'वह बुद्धिसे चलाता है;' यह भी अविद्या ही है. परन्तु यह सारा जगत् अपने अपने कर्मसे ही गुँथा है. धृति, क्षमा, दम, शम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य ये सब धर्मके लक्षण हैं परंतु इनको त्याग कर जो अधम कर्ममें लीन रहते तथा भोगेच्छामें श्रेय मान उसका अभिनंदन करते हैं वे वारम्वार जन्म—गर्भवासका दुःख, जरा—वृद्धापनका दुःख और मृत्युका दुःख भोगते हैं. जो मूढ़ इस नाशवंत जगतके सुखों और कर्मोंको सर्वोत्तम सुखका स्थान मानते और यह नहीं जानते कि परम हित और श्रेय क्या है वे इससे भी हीन लोकमें निवास करते हैं. जब सुकृत्य*भी बंधनका कारण है तब कुकृत्यके लिए तो कहना ही क्या ? जगतमें रह, उसे सत्य मान, भय या लज्जारहित, दया या करुणाशून्य कर्म करनेवालोंकी यही गति है. यह गति उन्हींकी है जो विषयोंके गुरु हैं, यह गति उन्हींकी है जिन्होंने श्रीहरिको जाना नहीं, पूजा नहीं, विचार नहीं किया. यह गति उन्हींकी है जो अनात्मज्ञ हैं. पर अब तुम खेद मत करो. हमें इस मार्गमें बहुत देरतक रहना नहीं है; परन्तु तुम्हें आगे चलकर बहुत कुछ देखना शेष है. यह तो सिर्फ यमलोकका रास्ता ही है. परंतु जहां जाने पर प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका न्याय कर उनके कर्मानुसार दंड दिया जाता है वह स्थान देखना अत्यावश्यक है." फिर राजा वरेप्सु हाथ जोड़ कर बोले:—"गुरुदेव ! इस नरकनदीके उस पार जाना तो अत्यंत कठिन है, यदि कोई पुण्यात्मा प्राणी आता होगा तो क्या वह भी ऐसे दुःख सहनकर पार उतरता होगा ?" गुरुजीने कहा:—"ऐसा क्यों होगा ? पुण्यात्माके लिए पापिष्ठों जैसा ही प्रबंध हो तो नियंताके न्यायमें दोषा-

* यज्ञादि, तप और व्रतादि काम्य कर्म भी, जीवको बंधनमें डालनेवाले हैं, मोक्षदायी नहीं हैं.

रोप हो. उनके लिए जुदा प्रबंध किया जाता है. इस नदीको आनंद-पूर्वक पार करनेके लिए वितरण–दान करना पड़ता है अर्थात् जो सत्पात्र वेदवेत्ता अच्छी तरह गोका पोषण कर सकें उन्हें गोदान * दिया हो और यथाशक्ति गौओंका पालन किया हो वही प्राणी यह नदी विना प्रयास पार कर सकता है. देखो! वैसे प्राणियोंको पार उतारनेके लिए उस किनारे पर नावें तैयार हैं और ऐसे वितरण–दानसे यह नदी पार की जा सकती है. इस लिए इसका नाम वैतरणी है. वे वहुतसे पुण्यात्मा नावमें बैठ कर जाते हैं. वह देखो."

इस प्रकार बात चीत होते हुए विमान ऐसे वेगसे चलने लगा कि थोड़ी देरमें वह वैतरणीको लांघ गया. वैतरणीमें भारी दुःख उठा कर पार हुए प्राणी, नाना प्रकारसे रोते, मार्गके अनेक दुःख सहन करते और दूतोंकी मार खाते हुए चले जाते थे. उनको देखते हुए विमानवासी विमानकी तीव्र गतिसे एक नगरमें जा पहुँचे. यमलोकके मार्गमें जानेवाले पापी प्राणियोंको इस स्थानमें कुछ विश्रांति दी जाती थी. परन्तु वहां अधिक देर टिकने न देकर फिर उन्हें मार्गस्थ करते थे. यहां सहज विश्राम लेकर जब वे अपने स्त्री पुत्रादि स्वजनों तथा घरके सुखकी याद कर निश्वास छोड़ते तब उस नगरके निवासी और यमदूत उनसे कहते थे कि:–" अरे मूढ़ो! ऐ अनात्मज्ञो! रे पापात्माओ! किसका घर, किसका स्वजन और किसका धन? उनकी प्रीतिके लिए किये हुए कर्म ही अब इस लम्बे मार्गमें तुम्हें भोगने हैं. अब तुम अपने कर्मोंके लिए पछताते हो तो बालकसे वृद्धावस्था तक सबके जाने हुए इस मार्गसे क्या तुम अनभिज्ञ थे? शायद अनजान थे तो सद्गुरुके मुँहसे या पवित्र पुरुष द्वारा शास्त्र क्यों नहीं

---

* टीका—गो अर्थात् इन्द्रिय, गो–गाय, और गो–सरस्वती–विद्या–ब्रह्मविद्या और गो–पृथ्वी (देह पृथ्वीका भाग है) गो–दान अर्थात् इंद्रियोंको इस प्रकार स्वाधीन–नियहमें–करदे कि जिससे विकार–वासना पैदा न होने पावे. दान अर्थात् देना इन्द्रियोंको देना अर्थात् उनके वशसे छूटना. सरस्वती अर्थात् विद्या. परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना, दूसरोंको उपदेश करना भी गोदान है. गो–पृथ्वी अर्थात् देह. देहकी ममताका त्याग कर उसे परमात्माको अर्पण करो अर्थात् उसमें लीन करो और गायका दान अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओंका निर्वाह करनेके लिए गाय, जो सब रसोंकी दाता है, देना. ऐसा गोदानका अर्थ है. साम्प्रत ब्रह्मबंधुओंकी गोदानविधि तो पेट भरनेकी व्यर्थ विडंबना है.

सुना ? अब तो कृत कर्म भोगो. " यह सुन निराश होकर रोते हुए ये जीव फिर मार्ग चलते थे. यह सब देखते हुए विमान आगे चला, तब वरेप्सुके पूछनेसे वामदेवजीने बताया कि:—" हम लोगोने जो देखा वह सौम्यनगर है. यह इस महामार्गका पहला विश्रामस्थान है. यह नगर प्राणियोंके लिए सुखरूप है.

इस तरह बातें होते, मनोवेगसे उड़ा हुआ वह विमान वहांसे सैकड़ों कोस दूरस्थ एक दूसरे नगरके ऊपर जा पहुँचा. उसको दिखा कर गुरुजी बोले:—" राजा यह दूसरा विश्राम है और इसका नाम सौरिपुर है. यहां जंगम नामका महाभयंकर रूपवाला एक राजा रहता है—इसे देख भयप्राप्त प्रेतोंको, उनके मरणके पीछे किये गये * पुण्यादि कर्मानुसार यहां कुछ अन्नोदक (भोजन पानी) मिलता है और इसी तरह अब फिर आनेवाले सब विश्रामस्थानोंमें भी प्रेत अपने पीछे दिये गये पुण्यादिका भक्षण कर निर्वाह करते हैं. जो आगे दीखता है वह गंधर्वपुर है. प्रेतोंको दूरसे यह ऐसा मालूम होता है मानो नगर हो और इससे वे थक जानेके कारण वहां विश्राम करनेको तड़फड़ा रहे हैं. परन्तु पास आने पर गंधर्वनगरके समान ही उसके अदृश्य होजानेसे अनात्मज्ञ और पापकर्मसे पूर्ण जीव निराश होते हैं. जो आगे आयेगा वह अनेक दुःखोंवाला दुःखपुर, फिर नानाक्रन्दपुर, फिर सुप्तपुर, अपार भयवाला रौद्रपुर, जहां दुःखरूप वर्षा हुआ करती है वह पयोवर्षपुर और इसके बाद हिमालयसे भी शतगुणा हिम जहां बरसता है वह शीताढ्यपुर है और जो सबसे पीछे दीखता है वह बहुभीतिपुर है. " इन सबको पार कर विमान आगे चला और कुछ देरमें यमपुरके पास जा पहुँचा.

अत्यंत बड़े विस्तारवाली यमपुरीके चार † प्रधान द्वार थे. उनमेंसे दक्षिण दिशाके महाद्वारके पास जाकर वह महामार्ग समाप्त हुआ था. उसके पास जाकर इन पुण्यात्माओंका विमान भी अंतरिक्षमें स्थिर होगया.

---

* मृत्युके पीछे पुत्रादिके किये हुए क्रियारूप पुण्यके अनुसार अर्थात् त्रिपाक्षिक, श्राद्ध आदि कर उसके पुत्रादिने जो अन्नोदक उसके लिए पुण्यार्थ दिया हो; उसको प्रेत वहां खाता है.

† पहला, उत्तरद्वार ब्रह्मवेत्ताओंका, दूसरा पश्चिमद्वार पुण्यात्मा प्राणियोंका, तीसरा पूर्वद्वार भक्तशिरोमणियोंका और दक्षिणद्वार पापात्माओंका है.

विमान खड़े होते ही पुण्यात्मा लोग नीचे देखने लगे, तब गुरु वामदेव-जीने कहा:—"देखो, वह जो दीखता है वही यमपुर है. रास्तेमें हम लोग जिन्हें देखते आये हैं वे सब पापी प्राणी अपार दुःखके बाद यहीं आयेंगे, यहीं उनका न्याय होगा." फिर राजा वरेप्सु बोले:—"कृपानाथ! यमपुर क्या यही है? जब मैंने देखा था तब तो यह बहुत ही दिव्य, शोभायमान और आनंदप्रद था." वामदेवजीने कहा:—"हां, यह सत्य है, परन्तु यह नगर बहुत ही बड़े विस्तारवाला और अति विचित्र है. तूने जिस यमपुरको देखा था वह यही है. परन्तु जिसे तूने देखा था अथवा जहां तुझे लाये थे वह स्थान यह नहीं है. पुण्यवानों, धार्मिकों और पापशून्य जीवोंको भी अंतिम न्यायके लिए इस नगरमें लाते हैं सही, परंतु उन्हें दूसरे ही मार्गसे होकर और दूसरी ही रीतिसे लाते हैं. तुझे लाये थे वह मार्ग कैसा था, और वहां जाने पर कैसा हुआ यह सब तूने अपने मुँहसे पहले ही हमसे कहा है. इस नगरकी चार दिशाओंके चार महाद्वार हैं. उनमेंसे पूर्व, पश्चिम, और उत्तर दिशाके तीन द्वार पुण्यात्माओंके लिए हैं. वहां किसी प्रकारका दुःख नहीं है. यह अंतिम दक्षिणद्वार जो महाभयंकर और दुःखरूप है, पापियोंके ले जानेके लिए है. तूने जैसी यमसभा देखी थी वैसी यमसभा और नगरकी रचना भी पापियोंको नहीं दीखती. वैसे ही यमराजका वैसा सौम्य शान्त—स्वरूप भी उनको दिखायी नहीं देता. उनके कपालमें तो यहां भी मार मार और भय ही भय है. (फिर सबको सम्बोधन कर बोले) अनात्मज्ञ और संसारासक्तोंके अब उस बड़े संघको देखो! बड़ी कठिनाईसे वे यहांतक आ पँहुचे हैं तो भी अभी यमदूत उन्हें मारते ही जाते हैं. वे द्वारमें प्रविष्ट हो गये, हम भी चलें और उनका अब क्या होता है उसे देखें." धीरे धीरे विमान उनके ऊपर अंतरिक्षमें उतरने लगा.

फिर मोह ममतामें फँसे हुए, विषयासक्त, व्यवहारकुटिल और परमार्थ-हीन उन पापात्माओंको एक दुःखरूप स्थानमें खड़ा कर कुछ दूत एक बड़े दुर्गवाले स्थानमें गये. कुछ देरमें वहांसे लौटकर उन्हें भीतर ले गये. विमान भी दुर्गके ऊपर जा खड़ा हुआ. विमानसे दुर्गके भीतरकी सब व्यवस्था भली भांति दीखती थी, भीतर एक बहुत ही विस्तारवाली भव्य महा-सभा थी. उसके बीचमें काजलके बड़े पर्वतके शरीर जैसा एक विकराल पुरुष, वैसे ही विकराल काले भैंसेपर, बैठा मालूम होता था. उसका स्वरूप

ऐसा भयंकर था कि उसको देखते ही प्राणी, वायुसे हिलते हुए पत्तेकी भांति कांपने लगे. विमानके पुण्यात्मा भी उसे देखकर ऐसे भयभीत हुए कि वे अपने मनोभाव एक दूसरे पर प्रकट करनेके लिए परस्पर सामने भी देख नहीं सके. इस पुरुषका स्वरूप महात्माओं द्वारा देखे गये जगन्नगरके उस काल पुरुषसे बहुतांशमें मिलता था, इससे उसे भी सब लोग काल ही समझने लगे. काल पुरुष और इसमें इतना ही अंतर था कि इसके दो पांव और बत्तीस * हाथ थे. समस्त हाथोंमें बिजली जैसे नाशकारक अनेक आयुध पकड़े था. प्रलयके मेघके समान गर्जना कर रहा था. विशाल बावली अथवा कुए जैसे उसके गहरे रक्तनेत्र अग्निके समान जल रहे थे. गुफाके समान उसकी नाक थी और मुँहके दोनों जबड़ोंसे बाहर निकली हुई बड़ी कराल दाढ़ी अकथनीय भय पैदा करती थी. वह एक भयंकर कालदण्ड पकड़े हुए था. उसकी ओर उँगली बताकर गुरु वामदेवजीने कहा:—" देखो, ये स्वयम् ही यमराज हैं. और यही उनका मुख्य काल (यम) स्वरूप है. पुण्यात्माओंका न्याय करनेवाले धर्मराज भी यही हैं. इस समय उनकी सभा और सभासद भी भयंकर हैं. उनकी दाहिनी ओर जो बड़ा भीषण पुरुष खड़ा है, वह प्रधान चित्रगुप्त है. बांयीं बाजूमें काला कराल और दंडधारी पुरुष मृत्यु है. अनेक प्रकारके क्रूर शरीरवाले वे घातक पुरुष खड़े हैं, वे सब ज्वर और रोग हैं. देखो ! वे सब कैसी भयंकर गर्जना कर रहे हैं. इनके सामने खड़े हुए उन पापियोंका न्याय देखो. "

इतनेमें प्रधान चित्रगुप्तने, यमराजकी आज्ञासे, वहां आकर खड़े हुए सब प्राणियोंके पापपुण्यकर्म पलभरमें कह सुनाये और उनके अनुसार उनके दंडकी व्यवस्था होनेपर फिर चित्रगुप्त प्राणियोंको सम्बोधन कर कुछ कहने लगे, बस सबलोग सुनने लगे:—"अरे दुष्कर्मियो ! ऐ दुराचारी पापात्माओ ! अहंकारसे पूर्ण कुटिलो ! दयारिक्त प्राणियो ! तुम्हें पापाचरण करते

---

* यमराजका स्वरूप शास्त्रमें इस प्रकार वर्णन किया गया है ।

पापिष्ठास्ते प्रपश्यन्ति यमरूपं भयंकरम् । दण्डहस्तं महाकायं महिषोपरि संस्थितम् ॥
प्रलयाम्बुदनिर्घोषं कज्जलाचलसंनिभम् । विद्युत्प्रभायुधैर्भीमं द्वात्रिंशद्भुजसंयुतम् ॥
योजनत्रयविस्तारं वापीतुल्यविलोचनम् । दंष्ट्राकरालवदनं रक्ताक्षं दीर्घनासिकम् ॥
मृत्युज्वरादिभिर्युक्तश्चित्रगुप्तोऽपि भीषणः । सर्वे दूताश्च गर्जन्ति यमतुल्यास्तदन्तिके ॥
तं दृष्ट्वा भयभीतास्तु हाहेति प्रवदन् खलाः ॥

समय विचार क्यों न आया? और अब निष्कारण क्यों कांपते हो? काम, क्रोध, लोभ आदिके अधीन होकर जो जो पापाकर्म तुमने किये हैं, उन सबका फल तो बिलकुल दुःख ही है, अब उसे भोगो. पाप करते तुम प्रसन्न होते थे, लज्जित नहीं होते थे, तो अब क्यों लज्जित हो? अब उसी प्रसन्नतासे इसका फल भोगो! मृत्युलोकमें अनेक गुप्त और प्रकट पापकर्म किये, ठगाई की, हिंसा की, द्रोह किया, झूठ बोले, व्रत, तप, दान कुछ नहीं किया, परम प्रभुको याद नहीं किया, रातदिन विषयोंका ही रटन किया, मिथ्यात्वको अपनाया और सत्यका नाश किया, लोगों तथा राजासे छिपाया, जगन्नगरमें धन, बल आदि उपायोंद्वारा निरपराधी ठहरे; परन्तु यहां यह धर्मस्वरूप यमराजका पवित्र न्याय तो धनवान् और निर्धन, बलवान् और निर्बल, पंडित तथा मूर्ख, राजा और रंक, पुण्यात्मा और पापी आदि सबके लिए समान हैं. यहां किसीका झूठ, कपट, छल, या पक्षपात नहीं चलता. जाओ अपने जीवन भर किये हुए कुकर्मोंके लिए तुम्हें ये धर्मराजके दूत जहां लेजाकर जैसा दंड दें वैसा भोग करो."

प्रधान चित्रगुप्तकी ऐसी दुर्घट (असह्य) आज्ञा होते ही निर्दय दूत, उन पापियोंको झटपट पाशसे बांध ले चले और एक अपार विस्तारवाले महादुःखमय स्थानमें ले गये. वहां उन्हीं जैसे अगणित अभागी प्राणी दुःखकी पुकार कर रहे थे. उनकी अतिशय करुणाजनक चीत्कारसे, सुननेवालेका हृदय भिद जाता था. उनका होता हुआ असह्य दंड और नाना प्रकारसे की जानेवाली शरीरकी दुर्दशा देख कँपकँपी छूटती थी. दयालु हृदयके मनुष्यको, इसे देखते ही मूर्छा आजाती थी. वहां जो भिन्न भिन्न असंख्य स्थान, दंडके लिये बनाकर रखे गये हैं, उनमें पापात्माओंके समूहको उनके पापकर्मानुसार दंड दिया जाता है. आनेवाले इन जीवोंकी भी वैसी ही दशा हुई.

लोहेके मुद्गर, गदा और तोमरादिसे मारनेसे अचेत हुए उन प्राणियोंसे यमदूत बोलेः—"अरे दुष्टो! रे दुराचारियो! तुम पहले क्यों नहीं चेते? एक ग्रास अन्न तो क्या, परंतु सस्तेसे सस्ता जलतक तुमने किसीको नहीं दिया; अपने मुँहसे किसीको अच्छा लगनेवाला आदरवचन भी नहीं बोले. असत्य और परद्रोह तथा विषय और वासनामें ही मग्न रहे, तो अब उस पापका फल भोगो." इस प्रकार अनेक कठोर वचन कहकर, बहुतोंको एक बड़े वज्र जैसे कांटेवाले और अंगारके समान जलते वृक्षसे उल्टे

लटकाया. कइयोंको आरे जैसे अस्त्रसे खड़ा चीरने लगे. कितनोंके शरीरको कुल्हाड़ोंसे काट टुकड़े कर कुत्तोंको खिलानेके लिए डालने लगे. अनेकोंको कमरतक जमीनमें गाड़ ऊपरसे असह्य मार मारने लगे. वहुतोंको यंत्रमें डाल ईखके समान पेरने लगे, अनेकोंको जलती आगमें डालकर लोहेके गोलेकी तरह धौंकने लगे. कई एकोंको घी या तेलकी कड़कड़ाती हुई कढ़ाईमें डालकर तलने लगे. कुछको अंधेरे और वहुत गहरे कुएमें डाल दिया. किसीको ऊंचे पहाड़से नीचे गिराकर पथरीली जमीनपर पटकने लगे. अनेक जीवोंको मलमूत्रसे भरे हुए गढ़ेमें—जहां वज्रकी सुईके समान चोंचवाले कीटाणु खलवला रहे थे—फेंक दिया और कई एकोंको ऐसी क्रूर भूमिमें रखा, जहां वहुत वड़ी और तीक्ष्ण चोंचवाले गीध और कौवे, उनके शरीरसे मांस और आंखें निकालकर खाने लगे. इस तरह इन जीवोंको दुःखमय स्थानमें लेजाकर रखा.

यह सव देख विमानवासी विस्मित होगये. वरेप्सु हाथ जोड़ महात्मा वटुकसे कहने लगे—"कृपालु गुरुदेव ! यहां तो सर्वत्र दुःख ही दुःख देखनेमें आता है. इन भिन्न भिन्न अनेक दुःखालयोंमें अनेकानेक असह्य संकट भोगते हुए इन दीन प्राणियोंके दुःखोद्गारोंका अति कठोर कोलाहल, सारे गगनमंडलमें व्याप रहा है. उनकी दुर्दशा आंखोंसे देखी नहीं जाती. उनकी दयापूर्ण दुःखमय चीत्कार सुनी नहीं जाती. यह महाअमंगल प्रदेश है. यहां सुख, सुन्दरता या शुभवस्तुका तो स्वप्न ही है. यहां अव हमसे रहा नहीं जाता, शरीरमें कँपकँपी छूटती है, रोएं खड़े होजाते हैं, हृदय महाखेदसे पूर्ण होगया है और कोट्यवधि योजन पर भी जरा विश्राम या सुखका अंश होगा या नहीं इसके लिए मनमें भारी शंका होती है और इससे मन जरा भी विकलता त्याग कर नीचे नहीं वैठता. अव तो वहुत हुआ. यह दुःखमय कारागार चाहे जैसे वड़े न्यायपुरःसर निर्मित हुआ हो, चाहे जिस हेतुसे वनाया गया हो और उसका नियामक (स्वामी) यमराज चाहे जैसा न्यायी हो, परंतु हमें तो यहां एक निमिष भी सौ दुष्कालके वर्षों जैसा दुस्तर लगता है. कृपा ! कृपा ! देव ! कृपा ! आप हमें फिर पवित्र अच्युतमार्गका दर्शन कराओ."

यह सुन महात्मा गुरु वामदेवजी, सव पुण्यात्माओंको सम्वोधन कर राजासे कहने लगेः—"राजा ! अव तुम सव लोग हैरान होगये हो, इससे हम लोग यहांसे शीघ्र ही लौटेंगे. नहीं तो देखना तो अभी वहुत कुछ वाकी

है तुमने जो सब दुःखमय—यातनारूप स्थान देखा वह नरक है. यह सब उन कुकर्मियोंके कुकर्मका फलरूप दंड देनेके लिए बनाया गया है जो माया—संसारको सत्य मान मौज भोगनेमें कर्म अकर्म नहीं समझते. यह नरक-लोक बहुत विस्तृत है और इसमें भिन्न भिन्न यातनावाले असंख्य नरक हैं. जो मनुष्य जगत्पुरमें रह कर जन्मपर्यंत जैसी कृति करता है, वैसा उसका अच्छा वा बुरा फल उसे परलोकमें भोगना पड़ता है. जगत्पुरनिवासियोंके लिए यह भी एक परलोक है. परंतु इसमें सिर्फ पापियोंको लाते हैं. जब तुम्हें यह नरक दूर रहकर सिर्फ देखनेसे ही इतना बड़े विषाद उत्पन्न होता है, तो इसमें रहकर असह्य दुःखका अनुभव करनेवालोंको भला कैसा होता होगा? वास्तवमें! यह दृश्य ही बड़ा दयाजनक है, तो भी उन्हें वह दुःख कुछ अकारण नहीं दिया जाता. वे जगत्पुरमें रह कर ऐसी कृति करते हैं कि जिसके प्रमाणमें ये दुःख बहुत कम हैं. जो वहां बिल्कुल स्वतंत्र, मनस्वी बन जाते और अपने ऊपर इस लोक या पर-लोकमें कोई नियंता ही नहीं, ऐसा मानकर उन्मत्ततासे, इच्छानुसार काम करते हैं; थोड़ेसे स्वार्थके लिए दूसरे हजारों प्राणियोंको बड़ा दुःख होता है इसका जिन्हें विचार न हो, जिनके हृदयमें दयाका लेश भी न हो, काम, क्रोध, लोभ और मदादिके अधीन होकर जो चाहे जैसा अघ-टित कार्य करते हैं, अपने समान दूसरोंको भी दुःख होता होगा, यह बात जिनके ध्यानमें नहीं होती; चाहे कोई हित या अहित करे, परन्तु जिनका सबसे निष्कारण ही वैर होता है, जो हृदयके बड़े ही कठोर, कपटी, मैले, निरंतर दूसरेका अहित चाहनेवाले, बिना कारण नित्य कटुवादी और झूठा व्यवहार करनेवाले हैं, फिर परद्रोह करना दूसरेकी स्त्री और धन चुराना तथा दूसरोंको उलझनमें डालना जिनका स्वभाव ही है, चाहे जैसे अनुचित कर्म कर उदर और इंद्रियोंका पोषण करना ही जो अपना कर्तव्य समझते हैं, दूसरेका हित या बड़ाईको जो जरा भी नहीं सह सकते, पर यदि किसीको दुःख या विपत्तिमें पड़े देखें तो बड़े हर्षित होते हैं ऐसे महा-अधम जन क्या कोई अधर्म और कोई पाप करनेमें चूकते होंगे? जिनकी स्थिति और कृत्य जीवन भर निरे पापपूर्ण होते हैं वैसे दुष्टोंको यह नर-ककी यातना क्या कुछ अधिक है? लो, चलो अब."

इतना कहते कहते विमान सरसर करता आकाशमार्गको उड़ा और

शीघ्रतासे मार्ग तय करते जगत्-पुरकी ओर आने लगा. जाते समय तो रास्तेका सब कुछ देखते देखते जाना था, इससे विमान अपार वेगवाला होते भी उन्हें बहुत समय लग गया, परन्तु इस समय वैसा नहीं था. सायंकाल होने लगा, सब पुण्यात्मा गुरुदेवको प्रणाम कर स्नान संध्यादि करनेको चले गये * रात होते ही सभास्थान भर गया. नित्य नियमानुसार श्रीअच्युतके कीर्तनका आरंभ हुआ. इस अद्भुत विमानमें समग्र आनंदमय लीलाका समावेश होनेसे और उसमें भी परमानंददायी अच्युतकीर्तनके रंगतरंगमें निमग्न होजानेसे दुर्दर्शन-यममार्ग देखते देखते अतिशय भयभीत हुए सब पुण्यजन अनुपम सुखका अनुभव करने लगे. बीचबीचमें बारबार अच्युत नामकी जयगर्जनाएं होती थीं, कीर्तन और नामकी ध्वनिके कर्णपावन शब्दोंके साथ वीणा वंशी आदि बाजोंके स्वतःसिद्ध मधुर शब्द हो रहे थे. इतनेमें अंतरिक्षसे होकर जानेवाले कई दिव्य विमानोंका समूह यह अद्भुत दृश्य देख स्थिर हो गया. पुण्यजनोंके विमानने अब तक बहुत रास्ता तय किया था और रात भी बहुत बीत गयी थी इससे अब वह मंद होजानेसे, दूसरे विमानके देवादि और अप्सरादि गण यह कीर्तन आदि सारी दिव्य घटना अच्छी तरह देख सके और इससे बहुत विस्मित होकर अत्यंत प्रेमावेशके कारण वे सब भी एक साथ ही लगातार अच्युतनामकी जयध्वनि करने लगे. एक साथ होनेवाली भगवन्नामध्वनि अखंड आकाशमें छा गयी. सब प्रेमानंदमें मग्न होगये. कीर्तन समाप्त हुआ और पुण्यजनोंको आज्ञा मिली कि विमानमें अपने अपने शयनस्थानमें जाकर विश्राम करें. उनका चपल विमान दूसरे सब विमानोंको + वहीं छोड़, बड़ी शीघ्रतासे फिर चलने लगा और सब पुण्यात्मा जन सो गये. परंतु गुरुभक्तिपरायण महाराजा वरेप्सुने निद्राको आदर नहीं दिया. उन्हें तो अभी समर्थ गुरुदेव और उनके वृद्ध मातापिताकी चरणसेवासे अवकाश मिलनेको बहुत देरें थी. नित्यनियमानुसार पहले सब वृद्धजनोंको सुला कर वे गुरुदेवके पास आकर चरण दाबने लगे. अपनी मनमानी अनेकानेक शंकाएं और धर्मके रहस्य उनसे पूछते थे और गुरुदेव

---

* विमानमें ही बैठकर समय समय पर स्नानादि करनेको नदी, सरोवर आदि स्थानोंमें जाते थे. विमान ऐसा अद्भुत था, यह पहले ही कहा गया है.

+ रास्तेमें आते हुए जो विमान कीर्तन सुननेको ठहर गये थे.

शास्त्र तथा अनुभवसे उनका अच्छी तरह समाधान करते थे. ऐसा करते करते जब गुरुदेव निद्रित हो गये, तब वे उनके चरणोंके पास ही लेट गये.

इस तरह जब सभी शान्त हो गये, तब वह अतुल वेगगामी विमान जगन्नगर और पुरद्वारको पार कर अच्युतपथके पास ही किसी अतिरमणीय स्थानमें जाकर गगनस्थ हो गया.

तृतीय बिन्दु—तृतीय सोपान.

अनेक—मार्ग—दर्शन.

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ॥ विवेकचूडामणि.

अर्थ—कर्म, चित्तकी शुद्धिके लिए है, वस्तुकी प्राप्तिके लिए नहीं; वस्तुकी सिद्धि तो विचारसे होती है, कोटि कर्मोंसे लेश भी नहीं होती.

आनन्दप्रद उषःकाल हुआ. धीरे धीरे प्राचीमें सूर्यप्रभा दीखने लगी. नित्य नियमानुसार वरेप्सु आदि पुण्यजन तुरंत निद्रा त्यागकर विमानमें बैठने लगे. वारंवार अच्युतनामकी जयगर्जना होने लगी. बड़े मधुर स्वरसे प्रातःस्मरणका आरंभ हुआ. प्रभातका प्रशान्त समय, मंदमंद प्रवाहित सुगंधसना सौरभ, पुण्यजनोंका उत्साह और उसके साथ ही अत्यंत प्रेमभावसे गाये जानेवाला सर्व समर्थ प्रभुका मंगलमय गुणगान इन सबका ऐक्य भगवद्भक्तिकी साक्षात् मनोहर मूर्तिको प्रकट करनेवाला था. प्रातःस्मरण कर चुकने पर तुरंत सब पुण्यजन स्नान संध्यादि प्रातःकर्म कर तैयार हुए और सद्गुरुको प्रणाम कर आसन पर बैठ गये. सूर्योदय हुआ. भारी गर्जनासे भगवन्नाम और गुरुनामकी जयध्वनि हुई और सबने नीचे भूमिकी ओर दृष्टि की! वहां अत्यंत सुन्दर लीला विराजमान थी. उसे देखते ही अत्यंत हर्षित हुए वरेप्सु गुरुवामदेवजीसे कहने लगेः—"अहो कृपानाथ! आज तो हमलोग फिर ठेठ अपने पवित्र अच्युतपथपर (अर्थात् जहांसे पश्चादवलोकनको लौटे थे, वहीं पर) आ पहुँचे हैं. कैसा सुखमय पवित्रमार्ग है! फलफूलोंकी खिली हुई वनवाटिकाएं देखकर नेत्रोंको कितना आनन्द होता है. अहा! उन सुन्दर घेरदार वृक्षोंमें बैठकर बोलनेवाले कोकिलादि पक्षी, सूर्योदय देख, निद्रा त्यागकर, मधुर कलरवसे मानो अच्युत प्रभुके अद्भुत गुण गा रहे हैं. वे सामने देखकर फिर बोलेः—" अहो! यह तो

पुण्यरूप अच्युततीर्थ ही आ गया, क्यों गुरुमहाराज ?" फिर पुण्यज-नोंको सम्बोधन कर बोले:—"देखो ! अच्युतमंदिरके उस ऊंचे स्वर्णशिखरके दर्शन होते हैं. यह अतिमंगलरूप मन्द शंखध्वनि सुनो ! यह घड़घड़ाहट करता घंटा नाद, मधुरालाप करती नौबत और दुंदुभीका दलदलहनाद, समर्थ प्रभुकी अगाध शक्ति—समृद्धिका वर्णन कर रहे हैं."

यह सुन सब पुण्यात्मा जयगर्जना करते खड़े हुए और उस ओर देखकर कहने लगे:—"सच ही हमलोग पहले देखे हुए अच्युततीर्थपर आ पहुँचे हैं. अहो ! कैसी सुखमय भूमि है. दुःखमय नरकलोक देखकर भयभीत हुए मनको अभी ही पूर्ण शान्ति मिलेगी. हे ईश्वर ! इस क्रूर मार्गको अब स्वप्नमें भी न दिखाना ! ऐसा परम सुखमय पवित्रमार्ग त्यागकर, जो कृपण इस क्रूर मार्गमें जा, उसको ही ऐसी हानि करते हैं, उनके दुर्भाग्यकी परि-सीमा ही समझनी चाहिए."

यह सुन महात्मा वटुकने कहा—सोचो कि जिस स्थानमें जानेका मार्ग ऐसा सुखरूप है, वह स्थान कैसा सुखपूर्ण होगा ? और फिर जिसकी अपार सत्तासे यह सुखपूर्ण बना है, वह सत्ताधीश प्रभु कैसा सुखरूप होगा ? जिसे वेदका तत्त्व जाननेवाले पुरुष आत्यंतिक सुख—अपार सुखके नामसे बताते हैं, जो सिर्फ बुद्धिसे ही अनुभव किया जा सकता है, इन्द्रियोंसे नहीं वही यह (प्रभु) है. अरे, अधिक तो क्या, पर सुखमें जो सुखघन है, आनंदमें आनन्दघन है, तत्त्वमें तत्त्वघन है, ऐश्वर्यमें ऐश्वर्यघन है, वही यह प्रभु है. इस पवित्र मार्गकी पथदर्शिकामें भी इस विषयका उल्लेख है कि, 'सुखमा-त्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्.' यहां जो आत्यंतिक सुख है, वह सिर्फ बुद्धिसे ग्राह्य और अतीन्द्रिय है तथा उसका यहीं अनुभव होता है." यह सुन वरेप्सु आदि पुण्यजन बोल उठे:—"कृपानाथ ! यह बात यथार्थ है. जब इस सुखधामके स्वामीकी मात्र प्रतिमाके कारण यह सारा तीर्थ सुखपूर्ण है तब फिर जहां वह प्रभु स्वयं विराजता होगा, वहांके आत्यंतिक सुखका क्या कहना ! गुरुदेव ! एक बार कृपा कर फिर इस अच्युतमूर्तिके दर्शन कराओ."

सब जनोंकी ऐसी प्रार्थनासे विमान तुरंत अच्युतमंदिरके पास आ खड़ा हुआ और सब लोग बड़े प्रेमसे उसमें की महामनोहर अच्युतमूर्तिका दर्शन करने लगे. इतनेमें उन्हें वहांसे यात्रियोंका समूह उस अच्युतमूर्तिको प्रणाम कर वहांसे बाहर निकलते दिखायी दिया. उनकी ओर हाथ कर, गुरु वामदेवजी बोले:—"अरे ! ये कौन मनुष्य हैं ? तुमने उन्हें पहँचाना ?" राजा

वरेप्सु बोले:—"कृपानाथ ! ये तो जगन्नगरके वे पथिक हैं ! और जो सबके आगे है वह अगुआ महात्मा सत्साधक है. क्या अब वे यहांसे चलनेकी तैयारीमें हैं ?" वामदेवजी बोले:—"हां, उनका तीर्थवास पूर्ण हुआ है इस लिए अब वे फिर अच्युतपथमें आरूढ़ होंगे. क्यों कि देखो, वे अपने पाथेयकी पोटली भी लेकर निकले हैं." तब वरेप्सु बोले:—"कृपानाथ ! पर बहुत लोगोंके पास तो पाथेयकी पोटली ही नहीं है और बहुतोंके सिरपर पहलेसे भी अधिक भार है, यह क्यों ?" वामदेवजीने कहा:—"इसमें भी बहुत कुछ ज्ञातव्य रहस्य है. इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि इस पवित्रपथमें आरूढ़ हुए प्रत्येक पथिककी आत्मनिष्ठा कैसी है, हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि, इस मार्गमें आरूढ़ पथिकको, देहनिर्वाहसंबंधी किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है. भोजन पानादि जब जो चाहिए सब भगवदिच्छासे तैयार ही है; तब फिर पाथेयकी पोटलियां उठाकर कष्ट क्यों सहना चाहिए. तुम अपना ही दृष्टान्त देखो ! जबसे यज्ञशालासे हम लोग इस पुण्यपूर्ण विमानमें बैठे हैं, तबसे क्या किसी भी समय हमे किसी वस्तुकी न्यूनता मालूम हुई है ? अथवा कोई साधन या भक्ष्य अथवा पेय पदार्थ हमने साथ लिया है ? नहीं ! तो भी सब वस्तुएं इच्छानुसार प्राप्त होती हैं. इस विमानका ऐसा अद्भुत प्रभाव और सर्वसुखपूर्णता * हम जानते ही हैं. साथ ही हमें पूर्ण भरोसा है कि जो चाहिए यथासमय यथेच्छासे मिल ही जायगा और इसलिए हम सिर्फ इस मार्गके अवलोकन और समय समयपर अच्युतकीर्तनादिमें ही परायण होकर, सर्वथा निश्चिंत हैं. इसी तरह इन पथिकोंको भी निश्चिन्त रहकर रास्ता चलना चाहिए, नहीं तो इस पवित्र पथमें आरूढ़ होनेका फल ही क्या ? मूर्ख पथिक हाथमें आयी हुई अमूल्य वस्तुकी महत्ता जाने बिना उसे यों ही खो देते हैं अथवा उसे मनमाने कार्यमें लाते हैं इससे उसके द्वारा जो अपूर्व लाभ होता वह नहीं होता और फलमें सिर्फ परिश्रम ही उनके हाथ लगता है. मैंने अभी ही तुमसे कहा है कि—'इस परसे इन पथिकोंकी आत्मनिष्ठा जानी जाती है. वह क्या है ? इस अच्युतपथमें आरूढ़ हुए प्रत्येक पथिकको इतनी बातका तो नित्य ही स्मरण रखना चाहिये कि, 'जगन्नगर, जो सिर्फ क्षणभंगुर अर्थात् काल पुरुषके भक्ष्यके समान है, उसके मुँहमें ही पड़ा है; उसमें पैदा होने और निवास करनेसे मैं कालका भक्ष्यरूप ही हूँ; उसीमें आलस्यसे पड़ा रहूँ

---

* सवसुखपूर्णता—सारे सुखोंसे परिपूर्ण होना.

तो वह काल मुझे निश्चय ही खा जायगा और मेरा समूल नाश होगा; इस लिए वैसा होने न देकर, कालसे बचनेके लिए मैं वहांसे भाग बचनेको बड़े कष्टसे इस अभयपथमें चढ़ा हूँ; इसलिए अब यदि यहां मैं प्रमत्त[1] रहूंगा या जगन्नगरकी तरह दुराशाग्रस्त[2] रह कर मिथ्या[3] विचार नहीं छोडूंगा, तो जिस निर्भयस्थानमें जानेकी प्रतिज्ञा करके निकला हूँ, वहां न जाकर मार्गमें ही भटक मरूंगा या फिर उस कालपुरुषके मुँहमें जा पड़ूंगा. ऐसा जो विचार हुआ वह भी एक प्रकारकी आत्मनिष्ठा है. योगीमात्रको मुक्त बन, परमात्माकी प्राप्ति होना, मनोनिग्रह पर अवलंबित है; वैसे ही दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षयशांतिका आधार भी वही है. चित्त ही संसारवासना और अनर्थका कारण है. चित्तसे ही जगत् है. चित्त क्षीण हुआ कि सब क्षीण हुआ. इस लिए महात्मा वशिष्ठ कहते हैं कि, चित्त स्थिर करो क्यों कि चित्तकी ऐसी स्थिरता आत्मनिष्ठा है. ऐसा अनुभव करनेवाले पथिक तो समय समय पर बहुत सावधान रह कर, जैसे बने वैसे अपने साथके बोझको खा खर्च कर या फेंक कर कम कर देते हैं और फिर निश्चिन्तरूपसे विना प्रयास मार्गक्रमण करते हैं. परंतु, जो सिर्फ देखादेखी चल निकले हैं और मार्गकी महत्ता नहीं जानते, वे विना जाने ऐसे मार्गमें भी व्यर्थ भार–कर्म्मबल उठा कर दुःखित होते हैं. उनके मनसे जगन्नगरमें होनेवाला दीर्घकालका दृढ़ और उल्टा संसार नहीं जाता. जैसे भारी निर्धनताके अंतमें धनवान् हुए कृपण मनुष्यने चाहे जितना धन प्राप्त किया हो तो भी उसमेंसे व्यय–भोग नहीं कर सकता, बल्कि बड़े परिश्रमसे उसकी रक्षा कर, उसके बढ़ानेका भारी प्रयत्न करता है और फिर दैवयोगसे कदाचित् चोरादि या ऐसे दूसरे उपद्रवसे वह धन हर (चला) जाय, तो वह पहलेसे भी अधिक दुःखी होता है; उसी तरह यह बोझ (भार) उठा कर मरनेवाले मूर्ख पथिक भी मार्गका सत्य रहस्य–तत्त्व न समझनेसे

---

१ प्रमत्त अर्थात् प्रमादग्रस्त, गाफिल. २ दुराशाग्रस्त–खोटी आशाएं, जैसे कलतकका तो भरोसा नहीं है और मनमें ऐसी आशा होती है कि अरे, इस धनको मैं दानपुण्यादिमें खर्च कर डालूंगा तो आगे क्या खाऊंगा ? इसे रहने दूंगा तो मेरे खानेके काममें आवेगा, अमुक तो मुझे भविष्यतमें भोगना होगा, अमुक प्राप्त करूं तो आगे सुखी होऊं, ऐसी बड़ी खोटी आशाओंके फेरमें निरंतर दुःख भोगना और इतनेमें मौत आजाय तो बस, हुआ. सब पूर्ण हुआ. ३ बुरी आलोचनाएं अर्थात् जिनका कुछ अर्थ नहीं, और जो किसी तरह प्राप्त न हो सकें, ऐसी वस्तुओंका चिंतन.

अंतमें उभयभ्रष्टके समान होते हैं, अर्थात् बीचमें ही भटकते हैं." यह सुन कुछ पुण्यात्मा बोले:—"अहा, किसी सामान्य लौकिक रास्ते जाना हो तो अपने साथ खानेपीनेका सामान रखना ही पड़े, न रखे वह दुःखी हो; किन्तु इस पवित्र मार्गमें तो उससे उल्टा ही है. कैसा चमत्कार है. प्रभु अच्युत अपने शरणागतपर कैसे दयालु हैं, यह इससे स्पष्ट मालूम होता है."

इतनेमें महात्मा वटुकने सबसे कहा:—"अब एकाग्रचित्त हो, इन पथिकोंकी ओर नजर रखो, जिससे अभी ही तुम्हारी शंकाका अधिक दृढ़ और प्रत्यक्ष प्रमाणपूर्वक समाधान हो जाय."

निष्कामपनकी आवश्यकता.

अच्युत-परब्रह्ममार्गमें आरूढ़ सारे पथिक, इस पवित्र क्षेत्रसे बाहर निकले, तब अपने अगुआ सत्साधकसहित उन्होंने इस क्षेत्रको प्रणाम कर भारी जय-गर्जना की और प्रभु अच्युतका मंगलनामोच्चारण करते २ रास्ते लगे. अच्युततीर्थका विस्तार बहुत बड़ा था. पथिक अनुमान पहर भरसे चल रहे थे, तो भी उस क्षेत्रकी सीमा पूर्ण नहीं हुई. कुछ देरमें एक विश्राम आया. वहां एक सुन्दर मुकाम था. पास ही निर्मल गंगाके समान पवित्र जलका एक झरना भी बहता था. मुकाम (पड़ाव) के आसपास ऋषिके आश्रमकी तरह अनेक सुन्दर वृक्षोंकी घटा थी. छोटी छोटी पुष्पवाटिकाएं, प्रफुल्लित पुष्पोंद्वारा पथिकोंके मनको बहुत हर्ष पैदा करती थीं. उनपर गुंजार करते भौंरे और वृक्षोंपर कलरव करते पक्षी, अपने आनंदित मधुर शब्दोंद्वारा, उस स्थानकी रमणीयता, और बहुत स्वादिष्ट फल तथा फूलोंकी बहुलता सूचित करते थे. मध्याह्न होने लगा, उसी समय वह सुन्दर विश्रामस्थान भी आया. उसे देख, सबने वहीं मध्याह्न बितानेका निश्चय किया. तुरंत उनका अग्रणी महात्मा सत्साधक, अपने कपड़े उतार मध्याह्नसंध्यादि नित्य, कर्म करनेके लिए निर्मल जलप्रवाहकी ओर चला. उसे देख श्रद्धालु पथिक भी वहां गये और स्थिरचित्त कर संध्यावंदनादि करने लगे.

अपने पुण्यजन भी उनके साथ ही अंतरिक्षमें चले आते थे, वे यह घटना स्थिर रूपसे देखने लगे. फिर गुरु वटुकने कहा:—"इस बड़े संघका अग्रणी वह सत्साधक अवश्य ही बहुत बड़ा पुरुष है. इसमें महात्मा पुरुषके सब लक्षण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं. स्वयम् उत्तम आचरण कर लोगोंमें उसका

दृष्टान्त दिखाकर, उन्हें धर्ममार्गकी ओर लाना सत्पुरुषके लक्षण हैं. इस मार्गकी पथदर्शिकामें इसके लिए स्पष्ट कहा है कि,

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है उनको देखकर इतर जन भी आचरण करते हैं; वह जिस बातको मानता है, वही लोग भी मानते हैं और उसके अनुसार व्यवहार करते हैं.

"यह बात हमलोग अब प्रत्यक्ष देखते हैं. यह महात्मा सत्साधक यदि आलस्य कर, संध्यावंदन करनेको न उतरा होता तो ये सारे पथिक भी न उतरते और मध्याह्नकाल व्यर्थ गप्पोंमें ही बिता देते, पर अपने गुरुको देखकर सब ईश्वरोपासनामें तल्लीन हो गये हैं. पर भला, क्या उनको ही संध्योपासना कर्त्तव्य है और हमारे लिए अभी समय नहीं हुआ ?" यह सुन सब पुण्यजन भी तुरंत विमानमें संध्योपासना करनेको चले गये.

संध्यादि कर्मसे निवृत्त हो, वे फिर अपने अपने आसनोंपर बैठ गये. नीचे सब पथिक भी मुकाममें आकर भोजन करनेको बैठे. जिनके पास पाथेय था, वे पोटली खोलकर बैठे और बहुतसे लोगोंने वृक्षघटामेंसे मीठे वनफल ला, प्रभुको अर्पण कर, प्रसाद पाया. भोजन हो चुकनेपर वे रम्य विश्रामस्थानकी शोभाका अवलोकन करने लगे. उस स्थानके बीचमें एक बहुत सुन्दर मंडप था. उसके आस पास सुन्दर फूल खिल रहे थे. यह स्थान अमूल्य पाषाणोंसे बना हुआ एक भव्य प्रासादके समान मालूम होता था. उसके भीतरकी बैठक और नाना प्रकारके क्रीड़ास्थानोंकी शोभा अवर्णनीय थी, पर उसमें एक रचना ऐसी थी, जिसपर सब पथिकोंका मन एक बार ही जा टिका. उस मंडपमें एक विशाल दीवार पर बना हुआ अतिविचित्र चित्र था. उसमें एक सारे नगरका दृश्य था. चित्रके भीतर विचित्रता यह थी कि जितने आदमी इसमें चलते फिरते और कामकाज करते थे, वे सभी किसी न किसी सवारीपर होते भी शरीर या सिरपर अनेक प्रकारका भार उठाये थे. उत्तम वस्त्रालंकारसे सजी हुई सुन्दर नाजुक स्त्रियां, सुशोभित रथ, म्याना, या पालकीमें बैठी हुई भी सिरपर बड़े वज़नकी गठरी लिये बैठी थीं. सुन्दर स्वरूपवाले युवकोंमेंसे कोई घोड़े, कोई पालकी और रथमें बैठनेपर भी, कंधे और सिरपर बड़ी बड़ी गठरियां

पोटलियां उठाये थे. इसी तरह बहुतसे वृद्ध स्त्री, पुरुष और बाल, बालाएं आदि सब नागरिक, गाड़ी, गाड़े, नाव, हाथी, घोड़े या ऊंटों और ऐसे ही निर्जीव सजीव चाहे जैसे वाहनोंपर होनेपर भी अपने सिरपर कुछ न कुछ भार उठाये ही थे. इसमें एक किनारे राजाका बड़ा रिसाला था. उसका राजा सजे हुए बड़े हाथीपर, रत्नजड़ित अंबारीमें बैठनेपर भी अपने सिरमें एक वजनदार गठरी उठाये था. यह देख बहुत आश्चर्य प्राप्त सब पथिक, परस्पर कहने लगे कि:—"अहो ! यह कैसी विचित्रता और अज्ञानता है कि स्वयं वाहनोंपर होते भी सिरपर बोझ उठाये हैं ! ऐसा क्यों किया होगा, यह समझमें नहीं आता. क्या इससे कुछ वाहनका बोझ कम हो सकता था ? सबने यदि अपना भार वाहनपर रखा होता, तो भी सब वजन वाहन पर ही होता, तो यह व्यर्थ भार उठाकर मरना कितनी बड़ी मूर्खता है ! यह तो शायद किसी चतुर चित्रकारने दर्शकोंको हँसानेके लिए, खेल जैसी रचना की होगी. नहीं तो सारा नगर ऐसी उल्टी बुद्धिका नहीं हो सकता." यह सुन उनके गुरुरूप महात्मा सत्साधक बोले:—"वास्तवमें यह तो कुछ विचित्र ही दीखता है, पर उस ऊपरके हिस्सेमें बड़े सुवर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ जो दीखता है वह क्या है ? इसका नाम तो न होगा." तब एक पथिकने उसे झटपट बांचकर कहा:—"हां हां, महाराज ! ऐसा ही दीखता है, पर कुछ समझमें नहीं आता. "मुकुरपुर !" अर्थात् क्या ?" यह सुन सत्साधक यह जाननेके लिए विचार करने लगा कि 'इसका क्या मतलब होगा ?' इतनेमें वह पथिक फिर बोला:—"कृपानाथ ! इस नामके नीचे कुछ और भी पद्यरूपमें लिखा है:—

" चित्रं न चित्रं न सृतिर्विचित्रा पान्थेषु चैतत्परमं विचित्रम् ।
" अध्वानमाप्ता ह्यभयं तथापि दृढं प्रसक्ताः खलु खाद्यभारे ॥

अर्थ—चित्र भी विचित्र नहीं, और मार्ग भी विचित्र नहीं, परन्तु पथिकोंमें यह परम विचित्रता देखी जाती है कि वे अभयमार्गमें आनेपर भी वासनारूप भोजनके भारपर अत्यंत आसक्ति रखे हुए हैं.

यह पद्य पढ़ते ही महात्मा सत्साधक बोल उठा:—"वाहवाह ! धन्य प्रभु तेरे इस देशको ! यह पद्य तो अपनी शंकाके लिए हमें वास्तवमें प्रत्युत्तर ही देता है और इस विचित्र नगर (चित्रित हुए)का 'मुकुरपुर' नाम भी अब इस परसे यथार्थ ही है. अहो ! हे पथिको ! यह सुवर्णपद्य

हमें क्या कहता है, उसे देखो ! अरे ! वह हमें कैसा हितकर उपदेश करता है उसे सोचो. जैसे अपने मुँहका कलंक कालिमा मनुष्यको आप ही आप नहीं दीखता पर यदि सामने आयना अर्थात् दर्पण (मुकुर) हो तो प्रत्यक्ष दीखता है, उसी तरह मुकुरपुर भी हमें दर्पणरूप होकर हमारी बहुतसी भूलें दिखा देता है और वह उस पद्यद्वारा स्पष्टीकरण करता है तथा हमारे आश्चर्यकी हँसी उड़ाकर कहता है कि:—

"हे पथिको ! तुम इस चित्र और उसी तरह इस मार्गके विषय विचित्रता मानते हो पर जैसी बड़ी विचित्रता (आश्चर्य) तुममेंसे मूढ़ पथिकोंमें दीखती है, वैसी इस चित्र या इस मार्गमें नहीं है. इस चित्रकी विचित्रता—विपरीतता तो एक देखने ही भरको है परन्तु तुम्हारे तो सब कर्तव्य ही उल्टे और आश्चर्यवत् मूर्खतासे पूर्ण हैं. कालके भयसे तुम अपना सर्वस्व त्याग कर अभयपथमें आरूढ़ हुए हो और मार्गमें किसी वस्तुकी कमी नहीं है तो भी सिर्फ एक भाररूप खानेके पाथेयकी पोटलीमें ही आसक्त होकर उसे बड़े परिश्रमसे उठा रहे हो. यह क्या वाहनमें बैठकर सिरपर भार उठानेसे भी अधिक मूर्खतापूर्ण नहीं है ? ऐसा भावार्थ उस पद्यमें सन्निविष्ट है और वह अक्षरशः सत्य है. जो जीव मिथ्या कामनासे रहित अर्थात् बिलकुल निष्काम—निःस्पृह होता है, वही इस मार्गमें आरूढ़ होता है. जगन्नगरमें हमें जितने चाहिये उतने सब सुखसाधन थे तो भी कालपुरुषके भयके कारण, वे सब झूठे ही थे. इसलिए उनकी पुनः कामना या स्पृहा—उनका संग सेवन—तो झूठी ही कामना कही जायगी. जब हम जगत्की कामनाका त्याग कर बिलकुल निष्काम हो यहां आये हैं और अब उनमेंसे किसी वस्तुकी हमें यहां आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमें जो चाहिये वह वस्तु यहां इच्छानुसार मिलती है तो फिर हम इन पोटलियोंका व्यर्थ भार उठा मरें तो क्या हमारी मूर्खताका पारावार नहीं है ? यह तो फिर ज्योंका त्यों ही हुआ. इन पोटलियोंमें बँधी हुई आसक्ति फिर देखते ही देखते बढ़कर हमें फिर कालपुरुषके हस्तगत करदे तो संशय नहीं है और ऐसा हो तो यहांतकका सब परिश्रम योंही गया या नहीं ? इतना ही नहीं पर अपना नाश अपने ही हाथ करना हुआ या नहीं ? इस लिए यह स्वर्णपद्य और इस सारे मुकुरपुरका विचित्र चित्र, हमें और हम जैसे इस मार्गके सब पथिकोंको, ऐसी सूचना करता है कि—चाहे भयसे हो या प्रीतिसे किसी तरह भी सर्वस्वका त्याग कर सारा भार उसके ऊपर

डाल, इस मार्गमें आनेवाला पथिक, समर्थ, अच्युतप्रभुके शरणागत है. इसलिए शरण आनेकी इच्छा करनेवालेके सब योगक्षेमको वही वहन करते हैं * इस लिए तुम सब बातोंसे निश्चिन्त हो जाओ और इस क्षुद्र तथा दुःखदायी वस्तुमें आसक्ति करानेवाले 'मैं' और 'मेरे' पनका समूल त्याग करो; क्योंकि अब तुम्हें 'मैं' और 'मेरा' कहनेका अवसर नहीं रहा. इस अभय अच्युतपथमें आरूढ़ होकर तुम अच्युत प्रभुके शरण आये और शरण आनेपर सब तरह उसीके हुए. अब विचार करो कि जब तुम स्वयम् उसके हो गये तो फिर तुम्हारा क्या रहा? और जब उसके अधीन हो तो मैं-पनका अभिमान भी क्यों रहना चाहिये? फिर इस मार्गमें ऐसी विचित्रता है कि जो पथिक 'मैं और मेरा' भूल गया, जिसकी मिथ्या कामना मर गयी और जो सिर्फ निःस्पृहतासे चला, उसका सारा भार आप ही आप कम हो जाता है और वह सिर्फ शान्तिके स्थानरूप अच्युतपुरमें पहुँच जाता है. अपनी इस पथवीथिनीमें भी एक बात ऐसे ही अर्थवाली है:—

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥"

अर्थ—जो जीव कामना—वासना त्याग निस्पृह होकर विचरण करता है और जिसकी अहंता ममता दूर हो जाती है वही शान्ति पाता है.

इस लिए अब इस बातको अच्छी तरह ध्यानमें रख, जिनके पास भार है, वे सारा भार यहीं छोड़कर आगे चलें. इस जलप्रवाहके जलचर, वृक्षोंके पक्षी और दूसरे वनचर प्राणी तुम्हारा भाररूप पाथेय क्षणभरमें पूर्ण कर देंगे. बस, चलो अब समय होगया है और हमें अभी संध्यातक बहुत रास्ता तय करना है.

इतना कह वह सत्साधक चलनेको तैयार हुआ; तुरंत ही बहुतसे बुद्धिमान् और अंतर्निष्ठ पथिकोंने झटपट अपने सिरका पाथेय त्याग कर जलमें और वृक्षोंके नीचे छितरा दिया और छुट्टे होकर निश्चिन्ततसे खाली

---

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थ—जो जन अनन्य (संपूर्ण) रीतिसे मेरा चिंतवन कर उपासना करता है, उस नित्ययुक्तका योगक्षेम मैं वहन करता—चलाता हूँ.

हाथ ताली बजाते और हँसते खेलते चलने लगे. इतना होनेपर भी अभी उस संघमें ऐसे अनेक पुरुष थे, जिनके अंतःकरणमें इस बातका जरा भी असर नहीं हुआ. वे तो अबतक भी अपनी पोटली ज्योंकी त्यों ही उठाकर चलते थे !

कर्ममार्ग—यज्ञमार्ग.

संघ चलता हुआ. पुण्यजनोंका विमान भी धीरे धीरे उसके पीछे अंतरिक्षमें तैरने लगा. फिर गुरु वामदेवजी बोलेः—"वरेप्सु ! इन मूर्ख पथिकोंकी जड़ता देखी ! कोई उदाहरण या कोई उपदेश उनके काममें आया ? मुकुरपुरका चित्र कैसा सुस्पष्ट हृदयग्राही उपदेश करता है और महात्मा सत्साधकने उसका कैसा उत्तम व्याख्यान कह सुनाया, तो भी मूर्खोंको उसका कुछ अर्थलाभ नहीं हुआ ! जिनके मनमें मैं और मेरे पनका दीर्घकाल[1]से दृढ़ संस्कार हो गया है उनकी आसक्ति एकाएक किस तरह छूटे ? उस ओर देखो ! कई स्त्री पुरुष अपने सिर, कंधे, बगल और हाथमें अनेक भिन्न भिन्न पोटली, मानो किसी बड़े जोखों और वजनकी हों, इससे उठा भी नहीं सकते, तो भी मथमथकर उठाये जाते हैं. अरे ! इतनी बड़ी मूर्खता होते भी वे ऐसे पवित्र पथपर आरूढ़ हुए हैं यह सिर्फ सत्साधकके प्रथमोपदेश और आवेशमें आये हुए अधिकारी पथिकोंकी देखादेखीसे ही है, पर देखो अब क्या होता है."

बहुत देरतक इसी तरह यह संघ चला गया. मार्गमें दोनों बाजुओंमें सुन्दर सफल कुसुम[2] वृक्षोंकी श्रेणी, छायाके लिए छा रही है. थोड़ी थोड़ी दूरपर दोनों ओर मीठे अमृत जैसे जलके सरोवर, कुंड, बावली आदि स्वच्छ जलाशय स्थित हैं. स्थान स्थानपर नाना प्रकारके [3]निर्लेप निर्बाध्य और पवित्रतासे बनाये हुए पक्वान्नादि पदार्थोंके सदाव्रत स्थापित किये हुए हैं. जो पथिक ऐसा धर्मार्थ अन्न ग्रहण न करें उनसे उसका उचित बदला लेकर देनेका नियम भी है. अनेक प्रकारके स्वादिष्ट फल, मार्गके वृक्षोंके नीचे जितने चाहिये उतने पड़े हैं. उनके द्वारा अन्नसे भी अधिक तृप्ति होती

---

१ दीर्घकाल, सिर्फ इसी जन्मका नहीं पर अनेक जन्मान्तरोंका समझना चाहिये क्योंकि देह तो प्रत्येक जन्ममें बदलता है, पर जीवात्मा उसका वही रहता है अर्थात् उसकी पड़ी हुई अच्छी बुरी आदतें वही रहती हैं. २ सफल कुसुम=फल और फूलवाले वृक्ष. ३ जो अपवित्र न हो.

है. इतनी सब सुविधाएं होते भी वे अज्ञान पथिक अपने कर्मका पाथेय उठाये मरते हैं, यह बहुखेदप्रद है. विमानवासी वरेप्सु राजा महात्मा वटुकसे वारंवार खेद प्रदर्शित करते हैं. इतनेमें उन महात्माने सबका चित्त आकृष्ट कर कहा:—"देखो, फिर इन सब पथिकोंके लिए एक बड़ा भुलावा आया है." यह सुन वरेप्सु बोले:—"हां कृपानाथ ! मार्गमें आगे जाकर अनेक शाखाएं फूटी हुई दीखती हैं. वही है क्या ? सदाका अग्रणी सत्साधक भी देखो, वहीं पर रुक गया है. अब क्या होता है, वह देखो."

सत्साधकको खड़े देख सब पथिक उसके पीछे आकर खड़े रहे. सबकी ओर फिरकर उँगलीद्वारा दिखाते हुए सत्साधक जोरसे कहने लगा:—"सचेत हो ! सचेत हो ! फिर भी संकट आया है. अब हमें खूब सावधान होकर आगे पैर रखना चाहिये. हमने जैसे पुरद्वारमें देखे हैं वैसे और भी अनेक भुलावे अपने रास्तेमें आकर उपस्थित हुए हैं, इससे सच्चे सनातन सरल मार्गको भूलकर भयपूर्ण दूसरे रास्ते भटक जानेका पग पग पर बड़ा भय रहता है. देखो ! देखो ! यहांसे अपने मार्गकी दोनों बाजुओंमें दो बड़े पवित्र, रम्य और समृद्ध मार्ग आरंभ होते हैं. मार्गके सच्चे रहस्यसे अज्ञात मनुष्य कदाचि इस रास्तेमें आरूढ हो जाय तो इससे उसे कुछ अकस्मात् दुःख, संकट या भयप्राप्ति नहीं होती और न वह इस मार्गसे जाकर निर्भय अविनाशी सुखधाम अच्युतपुरमें ही जा सकता है. इस रास्तेसे जानेमें मार्गके नियंता (प्रबंध करनेवाले) जानेवालेको कुछ समयतक उत्तम प्रकारका स्वर्गसुख या दूसरा सुख देते हैं:—परंतु उसका निर्माण किया हुआ समय पूर्ण होते ही उसे तुरंत वहांसे निकाल देते हैं."

सत्साधकके ये अंतिम शब्द पूरे होते ही उस मार्गके मूलके पास स्थित एक भव्य भवनसे, कोई दिव्य पुरुष शीघ्रतासे इस संघकी ओर आते दीखा. वह बड़ा तेजस्वी और सुशोभित था. उसकी आकृति कुछ विचित्र प्रकारकी थी. उसके मस्तकपर सुन्दर सुवर्ण जैसा तेजस्वी जटामुकुट सुशोभित था. कानोंमें कनककुंडल, गलेमें रुद्राक्षमाला, बगलमें दर्भका पूला और मृगचर्मका आसन, एक हाथमें स्रुव और स्रुक्, एक हाथमें घृतपात्र, एक हाथमें समिध तथा एक हाथमें श्रुतिसमूह (वेदसंहिताकी पुस्तकें) धारण किये था. सारे शरीरमें यज्ञभस्म लगायी थी. दूरसे धुएंसे घिरी हुई धुँधुवाती अग्निके समान दीखता था. वह बड़ी शीघ्रतासे

चलता था, तो भी ऐसा जान पड़ता था मानो शास्त्रकी आज्ञाके बाहर एक पैर भी रखनेको बहुत डरता है. अपने नित्य नैमित्तिक कर्मरूप तपके अनुष्ठानके तेजसे वह ऐसा प्रज्वलित दीखता था कि अधिक देर-तक उसकी ओर देखा भी नहीं जा सकता था. महात्मा सत्साधकके अंतिम शब्द सुनकर उसका प्रत्युत्तर देनेको तैयार हुआ वह, संघके समीप आते ही, बहुत गंभीर और शांत वाणीसे बोला:—"अहो महात्मन्! आपके दर्शन मात्रसे सिद्ध होता है कि आप कोई बड़े तत्त्वज्ञ और पवित्र पुरुष हैं और इस समग्र पथिकसमाजके अग्रणी होनेसे बड़े मार्गवित् मालूम होते हैं तो भी अपने साथियोंको विपरीत उपदेश क्यों करते हैं! इस पवित्र और सनातन मार्गके रहस्यका जाननेवाला महात्मा कभी इसकी निंदा नहीं करता." यह बात सुन इसकी तेजस्वी आकृतिपरसे कोई देव समझकर सत्साधक प्रणाम कर बोला:—"नारायण! नारायण! कृपासिन्धु, कहो, आप कौन हैं? और यह आप किस परसे मानते हैं कि मैंने इस मार्गकी निन्दा की है." उसने उत्तर दिया:—"मैं इस मार्गका रक्षक अधिकारी हूं और जिस मार्गका अनुसरण करनेसे, दिव्य लोकमें, चिरकालपर्यंत दिव्य सुखके भोक्ता होते हैं उस मार्गमें आरूढ़ होनेसे तुम अपने साथियोंको मना करते हो, यह इस पवित्र मार्गकी निन्दा नहीं तो क्या है?" सत्साधक बोला आप किस मार्गके लिए कहते हैं? जिस पवित्र मार्गमें हम आरूढ़ हैं, वह तो सदा सर्वदा ही स्तुत्य है:—पर ये दोनों नये, अर्थात् इस मुख्य मार्गकी शाखा जैसे दीखनेवाले मार्गोंके लिए ही तो मैं कहता हूँ. यह मार्ग कहांके हैं कि जिनके लिए मेरे कहे हुए शब्दोंको आपने निन्दा-रूप माना?" यह सुन उस मार्गाधिकारीने कहा:—"ये पवित्र मार्ग अनेक अद्भुत दिव्यलोकोंमें जानेके हैं. वहां जानेवाला प्राणी चिरकाल-पर्यंत अनेक सुखोंका भोक्ता होता है." सत्साधकने कहा:—"अस्तु! पर इससे क्या लाभ? इस मार्गसे होकर दिव्य लोकमें जानेवाला प्राणी चिरकाल दिव्यसुख भोगता:—पर यह दीर्घकाल पूर्ण होते ही उसकी क्या

---

१ स्नान, संध्या, पंचमहायज्ञ, देवार्चन इत्यादि प्रतिदिन अवश्य किये जानेवाले कर्म, नित्य और किसी प्रसंगविशेष पर ही किये जानेवाले जो कर्म हैं वे नैमित्तिक कर्म—जैसे पिताकी मरणतिथि आनेपर पितृश्राद्ध करना आदि. २ तत्त्व—परमात्मरूप तत्त्वको जाननेवाला. ३ मार्गवित्—मार्ग जाननेवाला.

गति होती है ?" मार्गाधिकारीने उत्तर दियाः—"दीर्घकाल पूर्ण होनेकी बातही क्यों करते हो ? वहां जानेवाला तो अक्षय सुखका भागी होता है. हरे ! हरे ! क्या तुम इस श्रुतिप्रतिपादित मार्गकी महिमा या उसके नामसे भी अज्ञात हो ?"

सत्साधकने कहाः—"नहीं निरे तो ऐसे नहीं हैं पर आपके जैसा पूर्ण अनुभव कहांसे हो ? इस लिए हम सबपर कृपा कर इसका सविस्तर माहात्म्य बताओ." यह सुन मार्गाधिकारीने कहाः—"यह मार्ग अनेक प्रकारके दिव्य सुख देनेवाला और अविनाशी परम पदमें जानेका है तथा इसका अनुधावन करनेवाले प्राणीको किसी न किसी सतत अमुक अमुक प्रकारकी नियमित क्रियाएं अर्थात् कर्म करने पड़ते हैं:—इससे इसका नाम कर्ममार्ग है और इस मार्गका नियामक होनेसे मेरा नाम भी कर्मदेव है." सत्साधकने पूछा:—"इस मार्गसे जानेवालेको कौन कौनसी क्रियाएं सतत करनी पड़ती हैं और वे किसके लिए."

कर्मदेवने कहा:—"हे ब्रह्मन् ! तुम जहांसे आये उस जगत्-पुरमें निवास करनेवाला और इस अभयपथपर आरूढ़ होनेवाला कोई भी प्राणी, शरीर और मनद्वारा निरंतर कोई न कोई क्रिया किये विना क्षणभर भी नहीं रह सकता:—क्योंकि प्राणीमात्र, प्रकृति—ईश्वरी मायाके अधीन है अर्थात् इस प्रकृतिके गुण उन सब जीवोंसे बलात्कार क्रिया कराते हैं. तुम्हारे पास तुम्हारी मार्गबोधिनी तो होवे ही गी. हो तो देखो. यह बात उसमें है:—

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

"इसमें कहा है कि 'कोई भी प्राणी एक क्षण भी कर्म किये विना नहीं रह सकता, क्योंकि सबको धर पकड़ कर (बलात्कार) प्रकृतिके गुण कर्ममें ही प्रेरित करते हैं.' ऐसी प्रकृतिके वश रहनेवाले प्राणी जो जो क्रियाएं करते हैं उनका नाम कर्म है. अब प्राणीमात्र जब इस प्रकार निरंतर क्रिया—कर्म किया ही करते हैं तब उन क्रियाओंका व्यवहार निरा मिथ्या ही न होकर उत्तरोत्तर उनकी अभिवृद्धि और उन्नति करनेवाला होकर अंतमें उन्हें उत्तम गतिमें पहुँचावे, इसलिए उनके कल्याणका विचार कर सृष्टिके आरंभमें ही, सृष्टिकर्ताने उन क्रियाओंको कल्याणकारी व्यवहारोंके साथ नियमिततासे जोड़ दिया है. सृष्टिकर्ताके स्थापित किये हुए जो ये कर्म—क्रियाके कल्याणकारी नियम प्रयोग हैं—वे यज्ञ हैं. इस प्रकार कर्ताने—जब सृष्टि—प्रजा

उत्पन्न की तो उसके साथ ही उसके कर्म-क्रिया भी उत्पन्न हुए. उपरोक्त कथनानुसार उन कर्मोंके यज्ञरूप कल्याणदायक नियम भी साथ ही उत्पन्न किये और उन प्रत्येकके नियामक और योग्य फलदाता अधिकारी किसी न किसी देवताको ठहराया. फिर उसने समस्त प्रजाको आज्ञा दी कि 'इस यज्ञके योगसे तुम वृद्धि प्राप्त करो और यह (यज्ञ) तुम्हारे इष्ट मनोरथ प्राप्त करानेवाला हो.' देखो पथबोधिनी प्रस्थान प्रथम, उसमें इस अर्थका स्पष्ट उल्लेख है.

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

"अर्थ—प्रजापतिने * पहले यज्ञाधिकारी प्रजा पैदा कर कहा, इससे तुम वृद्धि प्राप्त करो. यह तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करनेवाला कामधेनु हो.

"इसके बाद फिर उस सृष्टिपिताने कहा है:—

"देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

"इस वार्तामें ऐसा भी कहा है कि, इस यज्ञद्वारा तुम देवोंको संतुष्ट करो जिससे देव तुम्हें आनन्द दें. इस प्रकार परस्पर-एक दूसरेको संतुष्ट करनेसे तुम भारी सुख प्राप्त करोगे, अर्थात् तुम्हारी की हुई यज्ञरूप क्रियासे तृप्त हो कर देवता तुम्हें इच्छित सुखभोग देंगे. पर उनकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुए पदार्थ यज्ञक्रियाद्वारा उन्हें अर्पण किये विना ही भोग किये जायँ तो वह यथार्थ चोरीका ही काम समझो. ये देव ही सब सुखके दाता सब कामना पूर्ण करनेवाले परम प्रभु हैं और इनको प्राप्त करना ही जरूरी है. इसलिए हे साधो ! सृष्टिके आरंभसे ही उस सृष्टिकर्ताकी आज्ञासे यह यज्ञरूप कर्म प्रवृत्त हुआ है, जो परम कल्याणप्रद होनेसे, अच्युतमार्गारूढ़ पथिकको अवश्य करना पड़ता है और इसीसे तरना होता है—मुक्ति मिलती है. यह पवित्रपथ 'कर्ममार्ग'के नामसे प्रसिद्ध है."

---

* सृष्टिकी उत्पत्ति तो अच्युत परमात्माकी माया शक्ति (प्रकृति) द्वारा होती है. पर उसमें सबसे पहले पैदा होनेसे परमात्माने ब्रह्माको सृष्टिका मुख्य नियामक अधिकारी ठहरा कर, अधिक सृष्टि पैदा करनेकी आज्ञा दी. अर्थात् उनसे ही दूसरी सब सृष्टि पैदा होने लगी. इसीसे ब्रह्मदेवके स्रष्टा, सृष्टिकर्ता, सृष्टिपिता, पितामह इत्यादि नाम हैं.

यह सुन सत्साधकने पूछाः—"सृष्टिकर्ताने प्रजाके प्रति जो यह आज्ञा दी थी उसे आपने मुझे भले ही कह सुनाई, पर यज्ञके योगसे ही प्रजा उन्नति और वृद्धि प्राप्त करती है यह कैसे, क्या इसीसे 'यह यज्ञकर्म आवश्यक माना जाता है." कर्मदेवने उत्तर दियाः—"हे ब्रह्मन्! जैसे कोई सुन्दर नवपल्लव और फलपुष्पादि समृद्धिसे अतिशय शोभायमान और अनेक प्राणियोंको आहार, निवास और छायादानसे पोषण करता हुआ सुवृक्ष किस तरह सीधा निराधार खड़ा है, कैसे बढ़ता है और किससे हरा रहता है, ऐसा कोई विचार करने लगे तो बाहरसे उसे उसका कुछ कारण समझमें नहीं आयेगा, पर आंतर्दृष्टिसे विचार कर देखते ही मालूम होगा कि इस वृक्षके सुपोषित होनेका मार्ग उसका मूल है और मूलद्वारा भूमिके पेटसे जलके साथ उसका चूसा हुआ पोषक रस, उसके प्रति अंगोंमें जाकर उसे जिलाता और बढ़ाता है; उसी तरह इस समस्त प्रजाका यज्ञकर्मसे संबंध है. पहले प्राणी मात्रकी उत्पत्ति और वृद्धि किससे होती है, इसका विचार करें तो साफ जान पड़ता है कि, यह काम अन्नका है. जिस प्राणीका जो आहार वह उसका अन्न है. अपना अपना अनुकूल आहार किये विना प्राणी जी या बढ़ नहीं सकता. इस अन्नकी उत्पत्तिका आधार आकाशसे होनेवाली जलवृष्टि है और वृष्टि यज्ञके पुण्यसे होती है. सृष्टिकर्ताने यज्ञ उत्पन्न कर उसका नियामक देवताओंको ठहराया है, वही देवता आकाशसे होनेवाली वृष्टिरूप क्रियाके नियामक हैं; जो प्रजाके भूमिपर किये हुए यज्ञरूप कर्मसे प्रसन्न हो कर, उनकी वृद्धिके लिए जल बरसाते हैं. यह बात साधारण मनुष्यके विचारमें नहीं आसकती. पर पवित्र पथबोधिनीमें इसका स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया है. देखो प्रस्थान प्रथममें:—

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

अर्थ–प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न पर्जन्य अर्थात् जल–वृष्टिसे उपजता है, पर्जन्य यज्ञसे होता है, यज्ञकी उत्पत्ति कर्मसे है, कर्म वेदसे है, वेद अक्षर ब्रह्मसे होता है, इससे सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञमें नित्य बसता है.

" इसलिए सबमें व्याप्त होकर रहनेवाला यह ब्रह्मस्वरूप, यज्ञमें तो सर्वदा परिपूर्ण है अर्थात् यह स्वयं ही अच्युत परब्रह्म है. श्रुतिमें कहा है कि, ' यज्ञो वै विष्णुः—(यज्ञ व्यापक परमात्मा है) ऐसा यह सनातन यज्ञरूप कर्ममार्ग है. ये जो दो मार्ग दीखते हैं, वे उसीके भेद हैं. एक श्रौत और दूसरा स्मार्त, अर्थात् एकमें श्रुति अर्थात् वेदमें बताये हुए नियमानुसार यज्ञक्रिया की जाती है और दूसरेमें स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्रमें बताये हुए नियमोंसे यज्ञक्रिया होती है. ऐसे सुन्दर मार्गमें आरूढ होनेसे तुम अपने साथियोंको मना करते हो, वही इसकी निन्दा है. ऐसा करनेसे तो तुम सर्वेश्वर अच्युत प्रभुकी आज्ञाका भंग करनेवाले कहलाओगे और बड़े दोषके भागी बनोगे.

देखो पद्मबोधिनीः—

" एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
" अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

अर्थ—ऐसे प्रवृत्त हुए चक्रका अनुसरण जो नहीं करता वह पापी जीवात्मा —निरा इंद्रियोंका ही पोषण करनेवाला है और अपना जीवन व्यर्थ विताता है.

कर्मदेवका ऐसा सप्रमाण वचन सुन सत्साधक बोलाः—" हे देव ! आपने जो कहा वह यथार्थ है और कर्ममार्ग आदरणीय, आचरणीय और निःसंशयी है; क्योंकि उस मार्गसे होकर भी अविनाशी अच्युतपुरमें जा पहुँचते हैं; परन्तु उस मार्गसे जानेवालेको बीचमें कभी कभी बड़ी रुकावटें होती हैं, तब कहो भला, इस मार्गके नियामक सिर्फ आप ही एक हैं या दूसरा भी कोई है ?" तब कर्मदेवने कहाः—" इस मार्गपर दूसरेका भी अधिकार है. मैं अधिकारी हूँ, पर मेरा काम प्रत्येक कर्मकी परिपाटी बना रखना है और मुझसे बड़ा अधिकारी एक दूसरा है. उसका नाम कामदेव है. उसकी बड़ी सत्ता है और जहांसे तुम आये उस जगत्पुरसे लगाकर इस मार्गके सारे भागोंपर उसीका अधिकार है. "

यह सुन सत्साधक बोलाः—धन्य ! धन्य ! सही कहा; ठीक याद आया ! हम जो कहते हैं वही वह है. वही इस मार्गका विघ्नकर्त्ता है. बड़े परिश्रमसे चल कर आगे गये हुए बेचारे पथिकोंको रोकनेवाला भी वही है और वही उनको थोड़ेसे सुखमें ललचा भटका कर पीछे गिरानेवाला है. हे देव ! मैं इस सनातन कर्ममार्गकी कुछ निंदा नहीं करता, पर मेरा पहलेसे ही यह

कथन है कि, इसमें कामदेवका ही सबसे बड़ा विघ्न, पथिकोंको पीड़ित करता है. हजारों और लाखों पथिकोंमेंसे कोई एकाधिक ही पथिक कामदेवकी सत्ताको लांघकर आगे अच्युतपुरकी ओर जा सकता होगा. सिर्फ आपके मुँहसे अपने इन साथियोंको अधिक स्पष्टीकरण करनेको ही मैंने आपसे प्रश्न पूछा है, नहीं तो जिसमें अच्युतपुरतकके समग्र मार्गका यथार्थ रहस्य वर्णित है, वह पथबोधिनी प्रभुकी कृपासे हम सबको मिली है और हम सतत उसके आधारसे ही चले जाते हैं. कोई भी पथिक इस कर्ममार्गकी निंदा कैसे कर सकता है ? आप तो कर्ममार्गमें श्रौत और स्मार्त ऐसे दो भेद बताते हैं पर हम तो अंततकके सारे मार्गको कर्ममार्ग ही जानते हैं. क्योंकि किसी भी मार्गके अनुधावकको कुछ समयतक भी क्रिया तो करनी ही पड़ती है. अधिक तो क्या, पर सिर्फ मार्गमें चलना भी एक क्रिया है और क्रियामात्रका समावेश कर्ममें विलीन है. प्राणीमात्रका उत्पन्न होना कर्ममय है, जीना कर्ममय है और अंतमें मृत्युवश होना भी कर्ममय ही है. यह सारी सृष्टि कर्ममय है. पर जहां जहां आपके श्रेष्ठाधिकारी कामदेवकी सत्ता है, वहां वहां सर्वत्र ये कर्म, अपने आचरण करनेवालेको बलात्कार बंधनमें डालनेवाले और दूर फेंककर धक्का देनेवाले होते हैं. इसी लिए हे देव ! हमने बीचका यह छोटा पगडंडी जैसा सबसे सादा मार्ग ही अच्युतपुर जानेके लिए योग्य माना है. क्यों कि इसमें बहुधा कामदेवका अधिक आगमन न होने और प्रभु अच्युतकी सत्तासे, वह विघ्न नहीं कर सकता. रही कर्मकी बात, सो तो इस मार्गमें जाते भी हमें वैसा ही (श्रौत-स्मार्त विधिके अनुसार ही) मानना पड़ता है. पर तुम्हारी जैसी दृढ आसक्ति–कामनासे नहीं और इसीसे उसकी पद्धतिमें कभी कभी कुछ परिवर्तनसा दीखता है. शौच, स्नान, भोजन, पान इत्यादि कायिक कर्म तो सर्वत्र समान ही हैं. ये ऐसे आवश्यक हैं कि इनके किये विना गुजर ही नहीं होती, इससे नित्य प्रति आसक्ति विना भी करने ही पड़ते हैं, इसी तरह दूसरे वाचिक और मानसिक आदि सब कर्म भी हम आसक्ति अर्थात् प्रीति विना, या उनसे कुछ फलाशा रखे विना किया ही करते हैं. कहो भला, अब हम कर्ममार्गके निंदक हैं या पोषक ?" इतना कह सूर्यकी ओर दृष्टि कर महात्मा सत्साधक फिर बोला:—"बस, कृपानाथ ! अब तो हम आज्ञा लेते हैं, क्यों कि समय थोड़ा और चलना बहुत है, आपको जो परिश्रम दिया उसके लिए क्षमा करना." कर्मदेवने आजकी

रात वहीं रहनेका आग्रह किया तब उसने कहा कि:—" आप जैसे सत्पुरुषका एक घड़ी भी अधिक समागम होनेसे बड़ा लाभ है, पर इस मार्गमें हमें प्रतिक्षण तुम्हारे बड़े अधिकारी कामदेवका भारी भय है. उसका छलबलिया स्वभाव हम जानते हैं. वह क्षणमें पथिकके मनको भ्रमाकर अनेक प्रकारके सुखका लालच दे आगे जानेसे रोक देता है. वह बड़ा स्मरणगामी* और स्वेच्छानुगामी† होनेसे जहां हो वहां क्षणभरमें आकर खड़ा हो जाता है. इसलिए बस अब तो सर्वेश्वर प्रभु अच्युतका स्मरण पूर्वक प्रणाम करते हैं." ऐसा कह कर्मदेवको प्रणाम कर अच्युत प्रभुकी जयध्वनि करते सत्साधकका संघ वहांसे चलता हुआ.

कामागमन.

विलंब हो जानेके भयसे, एकचित्त होकर सब पथिक, सत्साधकके पीछे पीछे श्री अच्युत प्रभुका स्मरण करते हुए शीघ्रतासे चले जाते थे. कुछ रास्ता तय किया था कि फिर सत्साधक सारे संघको सावधान कर कहने लगा:—" प्रिय पथिको ! निष्काम अच्युतमार्गियो ! सचेत रहना, जागृत रहना ! किसीके कथनपर ध्यान नहीं देना, क्योंकि फिर अपने सिरपर एक भारी संकट आरहा है." यह सुन कुछ पथिकोंने पूछा:—" महाराज ! अब फिर कौन संकट आनेवाला है ? देखो न वह सामने कोई सुन्दर पुरुष आता दीखता है. यह तो बड़ा तेजस्वी और पवित्र जैसा मालूम होता है:— " क्या इसीको आप संकटरूप कहते हैं ? " सत्साधक बोला:—" हां, हां, यही ! यही ! यही अपना संकट है. यही हमें गिरानेवाला है ! यह पवित्र नहीं महामैला है, दुष्ट है. यही मनुष्य प्राणीको, इच्छा न होनेपर भी बलात्कार वासनाकी ओर प्रेरणा करता है ! यही सबको पवित्र मार्गसे भ्रष्ट करता है, यही डुबाता है, यही ऐसे सन्मार्ग—अति पवित्र मार्गमें आरूढ़ और अपार परिश्रमसे यहांतक था यहांसे भी दूर पहुँचे हुए पथिकको चाहे जैसे भुलावेमें डाल फँसाकर फिर जगतमें रगड़े खिलाता है. "

---

*स्मरणगामी अर्थात् स्मरण करते ही तुरंत वहां जा पहुँचनेवाला. †स्वेच्छानुगामी—जहां जहां जानेकी अपनी इच्छा हो वहां वहां तत्काल जा पहुँचनेवाला. देखो, काम—फलप्राप्तिकी इच्छा—मनुष्यके मनमें स्मरण होनेके पहले ही पैदा होती है. इसीको इस मार्गके बड़े अधिकारीका रूपक दिया है.

यह सुन पथिक बोले:—"महाराज ! यह कौन है" सत्साधकने उत्तर दिया:— "यह राजराजेश्वर कामदेव* है जिसकी हम लोग अभी बातें करते आये यही इस मार्गका प्रधनाधिकारी कामदेव है. यह भारी बटमार है. इसकी भूख किसी प्रकारसे भी तृप्त नहीं होती. यह अत्युग्र है, महाप्रपंची, कुटिल और महाबलवान् है. इस पवित्रमार्ग या सारे लोकमें यही भारी शत्रु है. अपनी इस पथबोधिनीमें इसकी यथार्थ पहँचान कराकर इससे बारंबार बचते रहनेके लिए आज्ञा की है. पहला प्रस्थान देखो:—

"काम एप क्रोध एप रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण दुष्प्रेन दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मंनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येप ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥"

अर्थ—काम यही, क्रोध भी यही, क्योंकि यह काम आया हो और इसे कुछ बाधा उठानी पड़े तो न जाने क्रोध कहांसे आप ही आप वहां तुरंत आ पहुँचता है. इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे है. जैसे आगको धुआं ढँक रखता है, स्वच्छ दर्पणको मैल ढँक देता है और गर्भके जालसे जैसे गर्भ ढँककर आवृत हो जाता है उसी तरह इस सारे संसारको इस कामने अपने जालसे ढँक दिया है. यह दुष्ट कामरूप नित्यका शत्रु, कभी भी तृप्त न होनेवाली अग्नि है. बड़े ज्ञानी पुरुषोंके ज्ञानको भी इसने अपने मोहजालके आवरणसे ढँक दिया है । मनुष्यके ऊपर किस तरह यह अपनी सत्ता चला सकता है यह देखो । मनुष्यकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि सब उस (काम)के आश्रयस्थान कहाते हैं. पहले उन स्थानोंमें बलात्कार पैठकर वहां यह अपना मुकाम करता है और फिर तत्काल देहधारी मनुष्यके ज्ञानको ढँककर मोहमें फँसा देता है."

"इस लिए मनुष्यको इससे बहुत ही सचेत रहना चाहिए." जो कामके फंदेमें फँसा उसके जप, तप, व्रत, दान, भक्ति सब ऐश्वर्यहीन हो जाते हैं."

---

* काम अर्थात् यहां प्राकृतलोग जो अर्थ करते हैं, वह मलिन वासना नहीं परन्तु फलकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मोंको ही जानो. राग (अभिलाषा इच्छा).

इतनी बातचीत होते होते तो अतिचपल और दर्शनमात्रसे ही प्राणियोंको मोहित करनेवाला यह देव संघके समीप आ पहुँचा और अपने चातुर्यपूर्ण मधुर वचनोंद्वारा सबका चित्त आकृष्ट कर कहने लगाः—"अहो! हे पुण्यशाली जनो! हे भाग्यवंतो! ऐसे निर्भय और पवित्र पथमें भी मानो पीछे कोई बड़ा भय आरहा हो, इस तरह तुम सब इतनी उतावलीसे क्यों भागे जाते हो? क्या तुम्हारे मार्गका कोई अगुआ गुम होगया है या आगे चला गया है कि जिससे उसकी खोजमें इस तरह दौड़ धूप करते हो? या कि रास्ता भूल गये हो? वास्तवमें तुम्हें किसीने भ्रमाया है और इससे तुम सत्य, सरल तथा शीघ्र फलप्रद* मार्गको छोड़कर टेढ़े मार्गपर आरूढ़ हुए जान पड़ते हो, खड़े रहो! खड़े रहो! घबराना नहीं, तुम्हारे सौभाग्यसे ही मैं अनायास यहां आ पहुँचा हूँ. यहांसे कुछ दूर पीछे दो सुन्दर धुरंधर रास्ते हैं, उन्हें तुमने यहां आते क्या देखा नहीं है? ऐसे समृद्ध मार्ग त्यागकर आगे चले आये यह तुमसे भारी भूल हुई है. वहां लौटकर उस कर्ममार्गमें फिरो. सारा विश्व कर्मके अधीन है और भले या बुरे कर्मका ही फल प्राणी सुखदुःखादि रूपसे भोगते हैं. कर्म कैसे करना चाहिये और उनका उत्तम फल किस प्रकार प्राप्त हो सके इसके लिए यह कर्ममार्ग निर्माण हुआ है. यही मार्ग आचरण करनेके योग्य है और इसमें तत्काल सिद्धि मिलती है. देखो! तुम्हारी पथबोधिनी इस बातकी साक्षी देती है—

"क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।

अर्थ—मनुष्यलोकमें कर्ममार्गमें आरूढ़ मनुष्यको शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है.

"इतना होते भी तुम ऐसा व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो? पीछे फिरो, पीछे आओ, मैं तुम्हें उत्तम श्रेयस्कर मार्ग दिखाऊं. वहां जानेसे तुम कुछ ही समयमें बड़े सुखके भोक्ता होगे. अहा! तुम विना जाने बूझे आगे बढ़ आये, तो भी चिन्ता नहीं. अभी तो आगे बहुत दूर तक मेरी सत्ता है. पर इससे आगे जानेमें फल नहीं है. जिस मार्गमें तुम जा रहे हो वह तो निराश्रय मार्ग है, बिलकुल उदासीन मार्ग है. इस मार्गमें कृत कर्मोंका कुछ फल ही नहीं है. हरे! हरे! व्यर्थ ही परिश्रम है! ऐसा कौन निर्बुद्धि होगा जो बड़े परिश्रमसे अनेक अन्नसामग्री एकत्र

---

* तुरंत फल देनेवाला.

कर उसका सुन्दर पाक बना, पेटमें क्षुधा होनेपर भी उस स्वादिष्ट पाकका भोजन न करे और मतंग सांडको खिलादे. समर्थ अच्युत—प्रभुने ही सारे कर्मोंके फल रचे हैं, उनका अनादर कर व्यर्थ परिश्रम क्यों उठाते हो ?"

ऐसे ऐसे अनेक मोहित वचनोंसे मुग्ध करके उसने अनेक जीवोंपर प्रभाव डाला, पर उसके आते ही महात्मा सत्साधक अपने साथियोंको पहलेसे भी अधिक शीघ्रतासे लिये जाता था और जोर जोरसे कहता जाता था कि 'सँभलो! यह सब बिगाड़ेगा, इसकी सिर्फ बातें मधुपूर्ण हैं पर भीतर हालाहल भरा हुआ है, इस लिए उन्हें कोई नहीं सुनना. दौड़ो, चलो, इसकी सीमा शीघ्र पार कर दो." इतना होनेपर भी कामने अपना बोलना बंद नहीं किया. कुछ दूरतक उनके साथ जाते हुए भी उसने पथिकोंको पीछे फिरानेका प्रयत्न किया. वह फिर बोला:—"अरे मूर्ख पथिको ! तुम मेरा कहना न मान कर दौड़े जाते हो, इससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, पर इस मार्गसे जैसे अनेक जीव आगे जाकर अंतमें कुछ फल न देखनेसे निराश हो पीछे लौटे हैं वैसे ही तुम भी लौटोगे, पर तबतक व्यर्थ ही भटक मरोगे. अब भी मेरी बात मान कर सुखी हो. देखो, कर्ममार्ग फल देनेमें कैसा उदार है. चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय सुकृत—पुण्य होता है जिससे वह चिरकाल तक स्वर्गसुख भोगता है. सोमयज्ञ करनेवाला अक्षय अर्थात् कभी नाश न होनेवाला सुख भोगता है. अरे ! और तो क्या, पर एक मात्र शरीरका मल दूर करनेवाले स्नानके समान सामान्य नित्यकर्म भी जब बड़ा फल देनेवाला है तो फिर दूसरे श्रेष्ठ कर्मोंका तो कहना ही क्या ? इस लिए हे पथिको ! अपने भलेके लिए मेरा कहना नहीं मानते तो अब आगे जब बड़ा भयंकर निराशारण्य आयेगा और उसमें तुम सब प्रकार निराश हो जाओगे तो हाथमें आयी हुई यह संधि खो देनेसे तुम्हें भारी परिताप होगा."

उसके ये अंतिम वचन सुन, अस्थिर चित्तके पथिक घबराये और तत्काल मंद पड़ गये. एकको देखकर दूसरा और दूसरेको देखकर तीसरा ऐसे अनेक लोग कामके जालमें फँसे. महात्मा सत्सायकने बहुत कुछ मना किया तो भी भ्रमित हुए वे भले बुरेका विचार शीघ्र न कर सकनेसे पीछे रह गये. संघसे उनका फासला पड़ गया. बस हुआ, कामको इतना ही

चाहिए था. वह उनको अनेक आशाओंमें ललचाते और रिझाते पीछे फिराकर कर्ममार्गकी ओर ले चला.

यह सब घटना देखते हुए विमानवासी तो इस समय निरे स्तब्ध ही हो गये. कामदेवकी चमत्कारिक सत्ताके लिए उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ. वरेप्सुने महात्मा वटुकसे कहा:--"गुरुदेव! वास्तवमें इस पवित्र मार्गमें कामदेव तो बड़ा विघ्नकर्ता है. देखो, महात्मा सत्साधकके संघमें उसने फूट डालदी. उसने इन अनेक पथिकोंको पीछे फिराकर सच्चे मार्गसे भ्रष्ट किया. अब न जाने वह बेचारे भोले लालचियोंको कैसे कुमार्गमें घसीट फेंकेगा? शिव! शिव! ऐसे मार्गमें ऐसे अधिकारीको कैसे योग्य माना होगा?" यह सुन वटुकने कहा:--"राजन्! तेरी समझमें फेर है. काम कुछ अंत:करणसे दुष्ट या पथिकोंका अनिष्ट करनेवाला नहीं, और यदि वैसा हो भी तो उसकी यहां आवश्यकता है. काम सारे पथिकोंका शुद्ध परीक्षक है. अच्युतपंथ जैसे निर्भय और सीधे मार्गसे तो सब निरुपद्रवरूपसे चले जायँ और बिलकुल अच्युतपुर तक जा पहुँचें, पर वहां तक सिर्फ जानेसे ही क्या? वहां जाकर भी पुरमें प्रवेश करना, सर्वथा दुर्लभ है. बहुत बड़ा अधिकार और अन्त:करणकी बहुत बड़ी स्थिति हो तभी पथिकोंको पुरमें प्रवेश करनेकी योग्यता प्राप्त होती है. इसके लिए दुर्बल हृदयके सहज श्रद्धावान्--सहज आत्मनिष्ठ अधिकारी जनोंको काम यहींसे रोक देता है और दृढ अंत:करणको अधिक दृढ कर आगे बढ़ाता है. अच्छा, अब मार्गपर क्या होता है, उसपर ध्यान दो. देखो! उन पीछे लौटनेवालोंको तो कामदेव इतनी देरमें बिलकुल ही कर्ममार्गपर ले गया और अनेक प्रकारका रुचिकर बोध कर जिसकी जैसी इच्छा है वैसे फलवाले कर्मोंमें वह उनको नियोजित करता है. पर स्थिर मनका साधु सत्साधक अब क्या करता है, वह देखो."

बहुत देरतक तो सत्साधक अपने समस्त पथिकोंको स्थिरतापूर्वक साथ ले सपाटेसे इसी लिए चला जा रहा था कि कहीं कामका उल्टा उपदेश उसके अनुयायी पथिकोंको न सुनना पड़े और न उसका असर अपने या अपने साथियोंको हो, परन्तु जब उसको मालूम हुआ कि अब काम लौट गया और जिनका भाग्य फिर गया था उन अनेक पथिकोंको भी साथ लेता गया; तब तो वह कुछ धीरे चलने और कहने लगा:--"प्रिय पथिको!

काम कैसा बलवान् और विघ्नरूप है, उसे तुमने अब भलीभांति जाना होगा. देखो, हममें अनेक कच्चे मन और अस्थिर बुद्धिके आत्मरसायनसे विमुख—जीव थे, वे उसकी बलि हो गये. हरे हरे! उन बेचारोंका, अंतमें अब कालपुरुषके मुँहमें जाकर ही छुटकारा होगा. आरंभमें काम उन्हें कदाचित् न्यूनाधिक सुख दिखायेगा, पर उससे क्या ? इसलिए अपने संघमें जो अब शेष रहे हैं, उनसे मेरा यही कथन है कि पहले हम सब स्थिरबुद्धि हों और अपने पवित्र मार्गके मुख्य तत्त्वोंको अच्छी तरह समझकर वारंवार उनका मनन करनेवाले बनें. जो कामके अधीन हुए हैं उनकी बुद्धि अनेक प्रकारकी शाखावाली होती है. वे वेद-वचनोंके प्रमाण देकर व्यर्थ बड़बड़ करते सही हैं पर उनका सिद्धान्त ऐसा होता है कि जगत्में दूसरा कुछ भी नहीं है, श्रेष्ठ यही है कि उत्तम कर्म करना और उसके फलमें स्वर्गसुख—वैकुंठ—कैलास—इन्द्रलोकका सुख भोगना. पर ये मूढ़जन ऐसा नहीं समझते कि इन कर्मोंका फल फिर पुनर्जन्म अर्थात् जगत्पुरमें पीछे फिर कर कालपुरुषके मुँहमें जा पड़ना है. इनकी दृष्टि सिर्फ ऐश्वर्यभोगहीकी ओर होती है, पर उनकी बुद्धि अवि-नाशी अच्युतपुरकी ओर जानेके लिए दृढ़ प्रवृत्ति करानेवाली नहीं होती. वह बेचारा कर्मदेव फिर भी कुछ अच्छा था, अधिक ममता नहीं करता था, पर यह चपल कामदेव और उसके अनुयायी तो कर्ममार्गके नामसे बड़ी धांधल मचाते हैं.

उनके कहने और समझानेका मूल मंत्र यही है कि सिर्फ इस कर्ममार्ग-हीका अनुसरण करना, अर्थात् यज्ञादिक क्रियाएं ही करना कर्म है. इसमें उन्हें फलकी आशा है. पर अच्युतमार्ग और तदंतर्गत कर्मादि सब मार्गोंका, सच्चा सिद्धान्त, सब पथिकोंके कल्याणके लिए, परम दयालु श्रीअच्युत प्रभुने स्वतः गुरुरूप होकर, अपने एक प्रियतम पथिकसे कहा है, वही इस अच्युतपथबोधिनीके नामसे इस लोकमें प्रसिद्ध है. उसमें प्रभुने श्रीमुखसे कहा है:—

" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

अर्थ—"हे प्रिय पंथी ! तेरा अधिकार मात्र कर्म करनेका है, कर्मके फलोंमें तेरा अधिकार कदापि नहीं है. फलकी आशासे कर्म करनेवाला तू न हो तथा कर्म बिलकुल न करनेका अनादर भी न करना क्योंकि जो पथिक स्थिरप्रज्ञ और विचारशील होते हैं, वे कर्मके फलकी आशा छोड़ देनेसे, जन्मबंधन अर्थात् जगत्पुरमें फिर जा पड़नेके भारी भयसे मुक्त होकर दुःखरहित अच्युतपदमें जा पहुँचते हैं."

"फिर हे पथिको ! ये फलमार्गी, जो फल पानेकी इच्छासे काम करनेवाले हैं, अपने कर्ममें वेदविहित नियमसे जरा भी भूल करें तो उनका वह कर्म बिलकुल व्यर्थ जाता और परिश्रम भी योंही जाता है, या इससे विपरीत वे कर्मदेवके अपराधी हो कर बड़ा अनिष्ट फल भोगते हैं. कहा है कि, शास्त्रविधि छोड़कर यज्ञ करनेवालेका यज्ञ, शत्रुरूप अर्थात् बुराई करनेवाला हो जाता है. उनके मार्गमें यह एक भारी भय है. अपने सरल मार्गमें वैसा कुछ भी नहीं है. हम लोग तो अपने आवश्यक कर्म निष्कामरूपसे करते ही रहते हैं और उनके करनेमें यदि अपनी कुछ भूल भी हो तो उसका दोष (प्रत्यवाय) हमें नहीं लगता; क्योंकि हमारा तन, मन, सर्वदा श्रीअच्युतके स्मरण तथा गुणगानमें प्रवृत्त रहता और अपनी बुद्धि उस समर्थ प्रभुके चरणोंमें जा पहुँचनेके विचारोंमें स्थिर रहती है इससे वे कृपालु प्रभु, हमारे सब दोषोंको क्षमा करते हैं ! पथबोधिनीमें इसकी स्पष्ट साक्षी है. इसमें कहते हैं कि, 'न इसमें आरंभका नाश है न पाप ही लगता है' अच्छा, अब ऐसा है तो मन तथा बुद्धिको भ्रममें डालनेवाली कामदेवकी वाणी न सुन हमें बुद्धिको अपने मार्गमें स्थिर रखना चाहिए. अब देर होने लगी है और विश्रामस्थान दूर है, पर तुम सबको वारंवार मेरी यही चितावनी है कि काचका टुकड़ा दिखाकर हीरा खींच लेनेवाले कामदेवसे सदा सचेत रहना. वह तो बहुरूपा है. इतना कह वह महात्मा शीघ्रतासे आगे चलने लगा.

कर्ममार्ग—दानमार्ग.

कुछ रास्ता तय कर वे आगे गये, इतनेमें फिर एक नूतन घटना घटी. उस मार्गकी दाहिनी बाजूसे एक सुन्दर मार्ग फूटता था. "यह मार्ग अपना नहीं है; तुम सब और आड़े तिरछे कहीं न देख केवल मेरे ही पीछे लगे चले आओ." ऐसा पथिकोंसे सत्साधक कहता ही था, कि इतनेमें उस मार्गसे एक सुंदर, श्रीमान् और अनेक प्रकारके विचित्र सुख भोगनेवाला

ऐसा दिव्य पुरुष, उस संघकी ओर आते दीखा. उसके मुखमंडलसे सहज ही मालूम होता था कि वह अतिशय उदारमना था. शीघ्रतासे पास आकर संघके आगे पीछे घूम फिरकर उसने सत्साधक आदि सब पथिकोंको प्रेमसे प्रणाम किया. फिर गंभीर किन्तु नम्र स्वरसे बताया कि "हे पुण्यात्माओ ! इस निर्भय मार्गसे इतने घबराये हुए तुम क्यों जाते हो ? घबराओ मत और न दौड़ादौड़ करो. दिन थोड़ा है, यह विचार कर उतावली करते होगे पर अब तो तुम पथिकाश्रमके* समीपमें ही आ पहुँचे हो. वह जो सुशोभित और विशाल मंदिर दीखता है वही तुम्हारे उतरनेका पथिकाश्रम है. इस पवित्र मार्गके सारे पथिक यहां पड़ाव डालते हैं, क्योंकि इसमें पथिकोंके लिए सब प्रकारके सुखोंकी योजना की गयी है. यह देखो, इसकी दोनों बाजुओंमें दो पवित्र जलाशय हैं जिनमें, एकका जल स्नानके और दूसरेका पीनेके काम आता है. इसके निकटही वाटिका है, जिसमें अगणित वृक्ष, अनेक प्रकारके स्वादिष्ट पके फलोंसे झुक रहे हैं, वे पथिकोंके सुखके लिए ही हैं. फिर यहांसे आगे पासमें अब दूसरा कोई पथिकाश्रम नहीं है, इस लिए प्रिय भाइयो ! तुम यहीं विश्राम करो." मुख्य मार्गके पाससे यहीं निकले हुए इस दूसरे मार्ग और उससे आये हुए इस पुरुषको देख, सत्साधकके मनमें भारी भय समा गया कि, कहीं यह उस काम जैसा फिर कोई हमारा अनुयायी न हो और हमें फँसा कर अपने कामुक और नाशवंत मार्गपर लेजानेको न ललचावे, इस लिए हम यहां खड़े ही न हों, ऐसा उसका निश्चय था. पर यहांसे आगे पासमें कोई दूसरा पथिकाश्रम नहीं है ऐसा उस पुरुषका वचन सुन और उसके वचनोंमें अबतक बिलकुल निःस्वार्थभाव देख, सत्साधक तुरंत खड़ा हुआ और सब पथिकोंके एकत्र होने पर, उन्हें लेकर उस पथिकाश्रमकी ओर गया. वह आनेवाला नूतन पुरुष भी संघके उतरनेकी व्यवस्था कराकर तुरंत ही वहांसे चला गया.

दिन कुछ बाकी था, सायंसंध्योपासनाको देर होनेसे, अवकाश मिला देख, सत्साधक अपने साथियोंके प्रति समर्थ अच्युत प्रभुके अद्भुत चरित्रोंका कथन करने लगा और उस कृपालुके अलौकिक सामर्थ्यका वर्णन

---

* पथिकाश्रम—पड़ाव, पथिकोंके विश्राम करनेका स्थान, रातको निवास करनेका मुकाम.

कर उसीकी शरणमें जा रहना सबसे श्रेष्ठ अभयस्थान है, और उसकी शरणमें जानेके लिए हम लोग जा रहे हैं, यही सबसे उत्तम मार्ग है, इस लिए चाहे कोई कारण हो, पर इस मार्गसे पतित न होनेके लिए सचेत रहना चाहिए, ऐसे अनेक दृष्टान्तोंसे दृढ़ीकरण करने लगा.

इतनेमें वह मार्गस्थ दिव्य पुरुष वहां फिर आता मालूम हुआ. इस समय उसके साथ दो दूसरे लोग थे, एक नवयौवना स्त्री और एक अत्यन्त सुन्दर युवा पुरुष. उन दोनों पर स्वाभाविक ही सबका चित्त चला जाता था. वे बिलकुल पथिकाश्रममें संघके समीप आ पहुँचे, तब पथिकसमाज दूसरी सब बातें छोड़कर इकटक उनकी ओर देखने लगा और चाहने लगा कि वे हमारे समीप आकर बैठें तो अच्छा हो. केवल सत्साधकका मन उनको देखकर नहीं लुभाया. वह युवा पुरुष आते ही विनय पूर्वक बोलाः—"अहो! धन्य है! ऐसे वीरपुरुष! अरे ऐसे अच्युतप्रिय[1] पुरुष ही परम नाशवंत और दुःखमय जगत्पुरसे सारे प्रयत्नोंद्वारा निकल इस पवित्र मार्गमें आ सकते हैं. मार्गमें आ जानेपर भी (सत्साधककी ओर उँगली उठाकर) ऐसे पुरुषका अनुसरण करनेसे ही परम श्रेय प्राप्त होता है. अहो महापुरुष! आप धन्य हो, क्योंकि इस जनसमूहको कालभयसे बचाकर यहांतक ले आये हो. आप जो संघको लेकर दौड़ते थे, वह भी मुझे जान पड़ता है इस महाभयके कारण ही होगा. इस दौड़ादौड़में ही रास्तेमें आया हुआ अत्युत्तम मार्ग लांघकर आप सब आगे चले आये होंगे. नहीं तो आप जैसे परम सुज्ञ ऐसे परमावश्यक मार्गका अतिक्रमण करेंगे ही नहीं. पर होगा! हर्ज नहीं. आप अभी कुछ उसकी परिसीमासे बाहर नहीं हो गये. आपका यह पवित्र मार्ग भी उस महामार्गका अंग है और अंतमें अपार दिव्य सुखके स्थानमें पहुँचानेवाला है."

उसका ऐसा अंतिम वाक्य सुन सत्साधक तो मनमें चमक उठा. उसने देखा वास्तवमें यह तो उस कामदेवका छोटा भाई है! अरे यहां तो लिया! और उस उचाटमें ही वह बोल उठाः—"अच्छा, यह तो सब ठीक है, पर आप हैं कौन? आपको क्या उस कामने भेजा है कि जिससे बीचमें पड़े हुए श्रेयस्कर मार्गकी आप बड़ाई कर रहे हैं?" यह सुन वह पुरुष बोलाः—"ब्रह्मन्!

---

१ अच्युतप्रिय अर्थात् जिसे प्रभु अच्युत ही प्रिय हैं या प्रभु अच्युतको जो प्रिय हैं, वे.

आप शान्त हो निर्भय रहो. इस निर्भय मार्गमें आपको कोई भी सता नहीं सकता. हम तो सिर्फ यह जाननेके लिए अपना धर्म ही पालते हैं कि सत्य क्या है. मैं इस दीखते हुए सुखद मार्गका अधिकारी हूँ. यह मार्ग उस कर्ममार्गका सिर्फ प्रकारान्तर ही है, और इसमें की जानेवाली मुख्य क्रिया दान होनेसे इसका नाम दानमार्ग है. इस मार्गका परिपालक होनेसे मेरा नाम दानाधिप है. मेरे साथका यह युवा मेरा पुत्र है. इसका नाम द्रव्य है. यह मेरे दानाधिपत्यकार्यमें प्रधान सहायक है. पर इससे भी बढ़कर इसकी करुणा, दया और उदारता नामकी स्त्रियां सहायिका हैं. हमारे मार्गमें आनेवाले पथिकमात्रसे ये दोनों आवश्यक पदार्थका प्रबंध कर बारंबार दानकर्म कराते हैं; अन्नार्थीको अन्न, तृषातुरको जल देते हैं रोगीकी सेवा करते हैं. कन्यादान दिलाते हैं और उनके द्वारा पथिकोंको खूब धर्मात्मा और उन्नत बनाकर अनेक प्रकारके दिव्य सुख दिलाते हैं. आपके सारे संघको वे उसी तरह दिव्य सुख देनेवाले हों."

इतना कहकर वह दानाधिप फिर बोला; "हे साधो ! आप जिसका अतिक्रमण कर आये उस श्रेयस्कर मार्ग— यज्ञमार्गकी कुछ मैं ही तारीफ नहीं करता, पर सर्वेश्वर अच्युत प्रभुने भी स्वयं कहा है. अपनी पथदर्शिकाका तीसरा प्रस्थान देखो.

"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

अर्थः—कर्म सदा दोषवाला है, इसलिए त्याग देना चाहिए ऐसा अनेक पंडित (ज्ञानी) कहते हैं, पर यह सत्य नहीं हैं. यज्ञ, दान और तपरूप कर्मका तो कभी त्याग ही नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये यज्ञ, दान, और तपादि कर्म तो पंडितजनोंको पावन करनेवाले हैं.

परन्तु होगा, कुछ चिन्ता नहीं. आप इस यज्ञमार्ग—कर्ममार्गको छोड़कर जो आगे चले आये यह एक तरहसे अच्छा ही हुआ. क्योंकि हमारा यह दानमार्ग यज्ञमार्गका ही अंग है पर उसके जैसा कठिन नहीं है. यज्ञकी क्रियाओंमें पग पग पर बहुत सचेत ही रहना चाहिए पर यहां तो मार्ग चलते ही तुरंत मेरा पुत्र द्रव्य, और पुत्रवधू करुणा, तुम्हारे साथ होगी और जिस पथिककी जैसी तथा जहां जानेकी इच्छा और शक्ति होगी, तदनुसार ये

दोनों आवश्यक साधनोंका प्रबंध कर इसको उन सुखमय स्थानोंमें पहुँचा देंगे. इसके सिवा फिर परम साध्वी परमार्थश्रद्धा नामकी देवी है, वह भी नित्य आकर सहायता करती रहेगी. हमारे इस दानमार्गका मुख्य तत्त्व इतना ही है कि रास्ता चलते हुए पथिकके पास जो कुछ उपयोगी पदार्थ या निर्वाह वा सुखका साधन हो, उससे अपना स्वत्व उठा कर वह उसे किसी दूसरे पात्र मनुष्यके उपयोगके लिए श्रद्धापूर्वक देदे. इसीका नाम दान है. इस दानकर्मके फल बहुत बड़े हैं. जैसा दान, वैसा फल. दानमार्ग बड़ा परोपकारी मार्ग है. परोपकारशील और दयालु मनुष्योंको तो यह मार्ग बहुत ही प्रिय लगता है. वे तो स्वभावसे ही दानमार्गमें चलते हैं और इस मार्गमें आरूढ़ पथिक अच्युत प्रभुको बड़ा ही प्यारा लगता है. वास्तवमें, जो परोपकारार्थ और दयाके कारण भी दानमार्गमें आरूढ़ नहीं होते, वे जगत्पुरसे यहां तक आनेका व्यर्थ प्रयास भोगते हैं, वे भक्त ऐहिक और पारलौकिक सुखके भोक्ता कैसे हों ? सिर्फ थोड़ेसे परिश्रम और जरासी वस्तु परोपकारमें सुपात्रको दान करनेसे लोग कैसे दिव्य लोकमें जाते और कैसा दिव्य सुख भोगते हैं, इस विषयमें शास्त्रकी क्या आज्ञा है, यह देखना चाहिए. दान अनेक प्रकारके हैं, पर दश उनमेंसे महादान माने जाते हैं.

> " कनकाश्वतिला नागा दासी रथमहीगृहाः ।
> कन्या च कपिलाधेनुर्महादानानि वै दश " ॥

अर्थ—सुवर्ण, घोड़ा, तिल, हाथी, दासी, रथ, भूमि, घर, कन्या और कपिलाधेनु इनमेंसे किसी भी वस्तुका दान करना, महादान माना जाता है.

इस दानका फल बहुत बड़ा है. विधिपूर्वक केवल सोनेकी सौ मुद्राओंका दान करने वाला पुरुष ब्रह्मलोकमें जा पहुँचता है और ब्रह्मदेवके साथ वहां आनन्दसे रहता है. सब शृंगारोंसे सजा हुआ और निर्दोष तरुण घोड़ा किसी सुपात्रको दान देनेवाला मनुष्य सूर्यलोकमें जाकर आनंद करता है. उसी प्रकार पूर्णिमाको तिलका दान देनेवाला अश्वमेधयज्ञ जितने पुण्यका भोक्ता होता है. हाथीका दान करनेवाला स्वर्ग या शिवलोकमें जाता है. दासीके दानसे अक्षय सुखभोग, रथदानसे शिवलोक-प्राप्ति, भूमिदानसे स्वर्गादि दिव्यलोक, गृहदानसे ब्रह्मलोक, कन्यादानसे सपितृ ब्रह्मलोक और कपिलाधेनुके दानसे भी इच्छामें जो आवे उस स्वर्ग या चिरकाल तक रहनेके लिए ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है. इनके

सिवा और भी अनेक दान हैं जो करनेमें सरल होने पर भी अपार पुण्य-प्रद और उत्तम स्वर्गसुखके देनेवाले हैं. ऐसी दशामें हे राजन्! कौन ऐसे पुण्यदायक मार्गके अनुसरण करनेकी इच्छा न करेगा? आप सब पथिकों सहित रात भर यहां सुखसे रहें. सवेरा होते ही दूसरी सारी चिन्ताएं छोड़ कर इस पुण्यपथसे प्रयाण करें. मेरा पुत्र और स्नुषा* (द्रव्य और उदारता) दोनों तुरंत आपके साथ होंगे और जब जितनी सहायता चाहिए देंगे. श्रद्धादेवी भी सदा साथ ही रहेगी.

दानाधिकारीने जब इस प्रकारका सप्रमाण उपदेश दिया तो अनेक पथिक जो अकाम† अच्युतपथके सचे तत्त्वसे अभी पूर्ण ज्ञाता न हुए थे निश्चय-पूर्वक अपने मनमें समझ गये कि हमारे गुरु महात्मा सत्साधक अब हमसे आगे चलनेका आग्रह नहीं करेंगे; क्योंकि हमें तो ऐसा जान पड़ता है यह दानमार्ग उन्हें अच्छी तरह पसन्द है. इतनेमें वह महात्मा दानाधिकारीको संबोधन कर बोला:—"देव! आपने जो कहा वह ठीक है. आपके कथनानुसार दानमार्ग अतिशय पुण्यप्रद है और उससे परोपकार-रूप बड़ा परमार्थ सिद्ध होता है. इस लिए इसमें संदेह नहीं कि दानमार्गी अच्युत प्रभुको प्रिय होते हैं. क्यों कि अच्युत प्रभुको सिवा इसके और कुछ भी प्रिय नहीं है कि परोपकार अर्थात् दूसरेके दुःख दूर करना, आवश्यकतावालेके अभाव दूर करना और प्राणिमात्रका भला कर उन्हें सुखी करना. पर आपके मार्गमें पथिकोंको जो एक सर्वोच्च भय सताता है वह तो आप जानते ही होंगे. आपके ऊपर क्या कोई बड़ा अधिकारी है?" दानाधिपने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया:—"हां, सारे कर्म-मार्ग पर जिनकी संपूर्ण सत्ता वे कामदेव हमारे बड़े अधिकारी हैं." सत्साधक बोला:—"बस हुआ, यही तो बड़ा भय है. यह कामदेव सारे पंथानुयायियोंको भ्रष्ट करता है. वह पथिकोंके दानादि कर्म करते समय ही आकर उन कर्मोंके उत्तम फलके लिए ललचाता है अतः बेचारा भोला पथिक उत्तम दानकर्म करने पर भी उनके फल भोगनेके लिए पृथ्वी पर जगन्नगरमें आकर ऐसी दशाको प्राप्त होता है.

"दानं दत्त्वा वाञ्छति स्वर्गलोकं स्वर्गं गत्वा भुञ्जते दिव्यभोगान्।
भोगान् भुक्त्वा क्षीयते पुण्यमेतत् क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके गतिर्वै॥"

---

* स्नुषा—लड़केकी स्त्री. † अकाम—कामनारहित—फलेच्छाहीन.

अर्थ—दान देकर दाता उसके फलद्वारा स्वर्गादिके सुखकी वाञ्छा करता है, इससे स्वर्गमें जाकर दिव्य भोग भोगता है, पर यह भोगरूप फल भोगनेसे दान-कर्मसे होनेवाला पुण्य भुक्त (पूर्ण) होजाता और उसके पूर्ण होते ही उसे मृत्यु-लोकमें पुनः आना पड़ता है.

"यह मृत्युलोक उस कालपुरुषके मुँहमें पड़ा हुआ जगत्पुर है, जहांसे हम बड़ी कठिनाईसे छूटकर यहां तक आ पाये हैं. इसी प्रकार, उस श्रेयस्कर यज्ञमार्गमें भी जिसे तुमने अभी बताया, कामदेवके बड़ा अधिकारी होनेसे बेचारे भोले पथिकोंकी महादुर्दशा होती है. इस विषयमें तो प्रभुश्री अच्युतने अपने ही एक प्रियतम पथिकसे पहले कहा है कि:—

" त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

अर्थ—कर्मका प्रतिपादन करनेवाले तीनो वेदोंको* अनुसरणकर चलनेवाले और सोमरस† पीनेवाले जो लोग यज्ञद्वारा मेरा यजन कर, पापोंसे शुद्ध हो उसके फलमें स्वर्गकी इच्छा करते हैं, वे पुण्यवान् सुरेन्द्र‡ लोकको प्राप्त करते हैं और वहां स्वर्गमें वे देवों जैसा दिव्य सुख भोगते हैं. फिर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य पूर्ण होते ही मृत्युलोकमें आते हैं. इस प्रकार यद्यपि वे वेदोंके अनुसार ही चलते हैं तथापि कामके भ्रमानेसे भोगेच्छासे काम करते हैं, इससे उन्हें बारम्बार आवागमन § प्राप्त होता है."

" हे मार्गाधिप ! उस घोर कराल कालके पंजेसे छूटनेकी आशासे यहां तक आने पर भी हमें स्वर्गभोगमें ललचाया, तो फिर जगत्पुर तो जाना आया ही. तो फिर जितना आप कहते हैं उतना श्रेयस्कर मार्ग यह कैसे कहा जा सकता है ? अरे ! नहीं, मैं भूलता हूँ. मार्ग तो सब श्रेयस्कर ही हैं, पर जिसका स्वत्व चपल कामदेवके हाथमें है उस मार्गसे पतन निश्चय है, और जो पथिक गिरता है उसकी दुर्दशा हुए विना रहती नहीं. फिर

---

* वेद चार हैं, पर वास्तवमें जिनमें यज्ञादिक कर्म क्रियाएं विस्तारसे वर्णन की गई हैं वे ऋक, यजुष्, और साम तीन मानेजाते हैं और इससे कर्ममार्गी उन्हें वेदत्रयी कहते हैं. †यज्ञक्रियामें कामआनेवाली सोमवल्ली नामकी औषधिका रस. ‡ देवोंके पति इन्द्रका लोक अर्थात् स्वर्ग. § आनाजाना, जन्ममरण.

इस कामके भुलानेसे पथिक यज्ञ दानादि मार्गोंमें जानेकी भूल भी कर बैठता है. अतः उसके वे कर्म भी यथार्थ नहीं होते. देव ! आप जानते ही होंगे कि प्रत्येक काम तीन प्रकारका है. उत्तम, मध्यम और अधम. सात्विक कर्म उत्तम, राजसी मध्यम और तामसी अधम है. जो काम नित्य नियमानुसार, आसक्तिहीन हो, रागद्वेष त्यागकर और फलेच्छा न रख कर किया जाता है, वह सात्विक कर्म कहाता है. पर जो काम कामना रख कर (फलकी इच्छा रख कर) या अहंकारसे बड़ा क्लेश उठा कर किया जाता है वह राजस कर्म कहाता है और जो काम करनेसे भला या बुरा क्या परिणाम आवेगा, धन और समयादिका कितना क्षय होगा, औरोंको कितना कष्ट होगा, और हम इसे कर सकेंगे वा नहीं इत्यादिका विचार न कर मोहसे किया जाता है वह तामस कर्म कहाता है. "

" इस लिए हे मार्गाधिप ! मैं जानता हूँ कि खास कर उस (कर्म) मार्गसे जानेवाले पथिकोंमेंसे कोई विरला ही पुरुष कामको कुछ न समझ, ऐसा उत्तम सात्विक कर्म कर सकता होगा और वैसे महात्माको तो अंतमें कृपालु अच्युत प्रभु अपने ही मार्गकी ओर खींच लेते हैं. कोई कोई लोग जो जरा सचेत होंगे वे कदाचित् मध्यम राजसी कर्म करते होंगे, पर वे स्वर्गादि भोग कर फिर जगत्पुरमें जा पड़ते होंगे, पर शेष तो सब अधम– तामसी ही कर्म करते होंगे, ऐसा मेरा निश्चय है और इससे उन्हें ' अतो भ्रष्टास्ततोऽपि भ्रष्टाः, अर्थात् न यहांके न वहांके; धोबीका बैल न घरका न घाटका, ऐसा समझना चाहिए.

इसके उत्तरमें क्या कहूँ, इसके लिए दानाधिप विचार कर रहा था, इतनेमें महात्मा सत्साधक फिर बोलाः—" मार्गाध्यक्ष ! इस परसे आप शायद यह सोचते होंगे कि, इस तरह कह कर मैं दानादिक कर्ममार्गका निषेध करता हूँ, पर ऐसा नहीं है. इससे तो उस मार्गका तत्त्व खुलता है. अंधपरंपराके समान दानादिमार्गोंमें गये हुए पथिकोंको यह तत्त्व शिक्षारूप है. इससे वे यह जानेंगे कि दान क्यों है और किस तरह करना चाहिए. यज्ञ दानादि जो जो कर्म तुम्हारे मार्गमें किये जाते हैं, वे ही सब, हमारे इस निर्द्वन्द्व शान्त अच्युतमार्गमें भी अवश्य किये जाते हैं, पर उस मार्गसे जानेवालोंके जैसे तुच्छ हेतुसे नहीं, किसी फलाशासे नहीं,

स्वर्गादि लोकोंमें जानेकी इच्छासे नहीं, किंतु इस अच्युतमार्गमें चलते हुए तन, मनकी अत्यंत पवित्रता रखनेके लिए किये जाते हैं. क्योंकि उसे न रखे तो मार्गसे पतित हो जाय और अंतमें अच्युतपुर भी न पहुँचे, इस लिए वे सब अच्युतार्पण करके किये जाते हैं. उनके करनेसे तन, मन सदा उत्तरोत्तर पवित्र–शुद्ध होते जाते हैं. हमारे मार्गसे अंतमें अखंड प्रेमानंद जैसे समर्थ अच्युत प्रभुका योग होता है; इसलिए वहां जानेवाले पथिकोंको हमारी मार्गबोधिनीमें ' योगी ' नामसे बताया है. अतः वे योगी अच्युत प्रभुसे योग होनेकी इच्छा करनेवाले—मंथन करनेवाले अपने चित्तकी शुद्धि होनेके लिए फलाशा त्यागकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और सिर्फ इन्द्रियोंद्वारा भी कर्म करते हैं. पथबोधिनी प्रस्थान प्रथममें कहा है:—

" कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

अर्थ—संग त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों द्वारा योगी भी आत्मशुद्धिके लिए कर्म करता है.

" पर तुम्हारे दान–मार्गकी व्यवस्था इससे विपरीत है. प्रत्येक कर्म जैसे उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारका है, वैसे ही प्रत्येक दान भी है. तुम्हारे मार्गसे जानेवाला मध्यम तथा अधम दो ही प्रकारके दान कर सकता है, पर जो सत्य श्रेयस्कर उत्तम प्रकार है उसका आचरण वह नहीं कर सकता. प्रत्युपकारार्थ अर्थात् किसीने कुछ उपकार किया हो, उसके बदले उसे जो दान दिया जाय, या फलाशासे, अथवा मनमें दुःख–क्लेश पाकर बलात्कारसे दिया जाय, वह दान राजस अर्थात् मध्यम प्रकारका कहा गया है; और जो अयोग्य स्थान, अयोग्य समय और अयोग्य पात्रको—जो मनुष्य दान लेनेके योग्य न हो *अहंकार और तिरस्कारसे दिया जाय वह तामस अर्थात् अधम प्रकारका दान कहा गया है. पथबोधिनी प्रस्थान तीसरेमें कहा है:—

" यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ "

* महाभारतके वनपर्वमें दान ग्रहण करनेका अधिकारी कौन है, यह बताया है.

अर्थ—उपकारके बदले या फलाशा रख (कि मुझे धन, पुत्र, स्त्री और सुख मिले) कदराते मनसे दान करना, राजस दान है और देश कालका विचार किये विना असत्कार और अनादरसे जो दान दिया जाता है, वह तामस दान है.

" तुम्हारे दानमार्गमें ऐसे दो प्रकारके ही दान हो सकते हैं. मुख्य अधिकारी कामदेवकी सत्तामें रह कर पहले या दूसरेसे श्रेष्ठ, निष्कामपनसे दान किसीसे नहीं हो सकता. क्योंकि यह प्रकार तो इन कहे हुए प्रकारोंसे निराला है. किसी भी उपकारके बदलेमें नहीं, पर ऐसा जान-कर कि यह मनुष्य दानरूप मेरे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकेगा, योग्य स्थान, योग्य काल और योग्य पात्रको, किसी फलकी आशा विना, दान देना मेरा कर्तव्य है, ऐसा समझ कर जो दान दिया जाता है, वह सात्विक अर्थात् उत्तम दान कहा गया है.

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः ॥

अर्थ—देना ही चाहिए ऐसा मान कर अनुपकारीको देश, काल या पात्रापात्रके भेद विना जो दान दिया जाता है, वह सात्विक दान है.

अर्थात्, हमारे पास जो कुछ है, हमें जो कुछ प्राप्त होता है और जो कुछ हमारे उपयोगमें आता है, वह सब प्रभु अच्युतका है, और उनही की कृपासे हमें मिला है, तो वह सब उनके पवित्र आज्ञानुसार, उनकी प्रीतिके लिए, उनकी शरणमें पड़े हुए योग्य मनुष्यको यदि दें तो इसमें किसी भी फलकी आशा हम कैसे रख सकते हैं ? यह तो सिर्फ हमारा कर्तव्य ही कहा जायगा. यह कर्तव्य सतत करते रहनेसे हमारा मन प्रभु अच्युतके अपराधरूप पापमें लिप्त न होकर, सदोदित पुनीत होता जायगा. इस लिए भूखेको भोजन, प्यासेको पानी, नंगेको वस्त्र, बलहीनको सहायता और अज्ञानीको सच्चा मार्ग बतानेका दान करानेवाला हमारा कर्तव्य ही हमारे प्रत्येक पथिकको सदा समझनेका विषय है. तुम्हारे मार्गसे हो कर भी सचेत पथिक वैसा ही कर्तव्य पूर्ण कर न्यूनाधिक फेरमें भी, पड़-कर कदाचित् निर्भय पदमें* जा सके; पर चपल कामकी सत्ता लांघ कर तो कोई बाहर ही नहीं जा सकता. इसलिए आप अपने घरको पधारो.

* निर्भय स्थान, विना भयका स्थान, अभयस्थान.

इस संघसे कोई भी पथिक आपके मार्गमें नहीं जायगा." ऐसी सार्थक और सप्रमाण बात सुन कर निरुत्तर हुआ मार्गाधिप प्रसन्न होकर बोलाः— " अहो महापुरुष ! आप धन्य हो ! मार्गका सत्य तत्त्व पूर्ण रूपसे जानते हो, इसलिए आप अनेक विघ्नदुर्गों † को लांघकर अवश्य सुरक्षितरूपसे अच्युतपुरकी ओर जा पहुँचोगे. आपके निष्कामपनसे मुझे बड़ा संतोष होता है; इससे मैं प्रसन्न होकर कहता हूँ कि, मेरा यह पुत्र और यह पुत्रवधू तुम्हारे मार्गमें, सेवा करनेके लिए अंत तक तुम्हारे साथ जायँगे." सत्साधकने कहाः—" हमें इनकी जरूरत नहीं है; पवित्र और सुखरूप मार्गमें तो ये उल्टे हमें उपाधिरूप हो पड़ेंगे. प्रभु अच्युतकी कृपासे जिस समय हमको जो चाहिए, वह, सब सदा तैयार ही रहता है, तो वहां द्रव्य और उदारताका क्या काम है ? ये यहां रह कर आपकी सेवा भले ही करें" यह सुन परम संतुष्ट होकर, दानाधिप, वहांसे चला गया.

संध्याकाल होजानेसे, संध्यावंदनादिसे निवृत्त हो सब पथिकों सहित महात्मा सत्साधक रातको श्रीअच्युत प्रभुके स्मरणकीर्तनमें निमग्न होगया.

कर्ममार्ग—तपव्रतमार्ग.

सुखरूप रात्रि गत होते ही सब जाग उठे. स्नान संध्यादि प्रातःकर्म कर प्रभुके मांगलिक नामकी गर्जना करते महात्मा सत्साधकका संघ पथिकाश्रमसे धीरे धीरे बाहर निकल रास्ता चलने लगा. अंतरिक्षका दिव्य विमान भी चलने लगा. वरेप्सु आदि विमानवासी भी गुरुवामदेवजीको वंदन कर, अपने अपने आसन पर बैठ गये.

संघ चलने लगा. सब पथिकोंको बुलाकर महात्मा सत्साधक बोला; " अच्युतमार्गियो ! सचेत हो जाओ ! कल रातके विश्राममें जो जो घटनाएं घटी हैं, उन्हें तुम भूले न होगे और उनसे तुम्हें अपने मार्गका सत्य तत्त्व भी मालूम हुआ होगा; इतने पर भी किसीकी समझमें वह स्पष्टरूपसे कदाचित् न आया हो तो चित्त लगा कर फिर सुनो. इस लम्बे अच्युत मार्गमें अनेक भूलभुलैयां हैं. अनेक उपमार्ग और काभ जैसे अनेक मोहक अधिकारी आड़े आ रहे हैं और आवेंगे. तो भी उन सबसे बचनेके लिए हमें पथबोधिनी निरंतर स्मृतिपथमें रखनेके लिए सबसे

† विघ्नरूप दुर्ग—किला.

सरल एक ही उपाय बताती है कि:—जो पथिक सब *कामोंको त्याग निःस्पृह होकर चला जाता है और जिसे किसी पदार्थ पर ममत्व या गर्व नहीं होता वह परमशान्तिके स्थानरूप अच्युतपुरको पाता है; इसलिए मनमें इस पवित्र वाक्यका बारम्बार पाठ करते, तुम सब आनन्दसे चले आओ, समर्थ अच्युत प्रभु सबका कल्याण करें. ”

इस प्रकार जाता हुआ संघ, महात्मा सत्साधककी कल्याणकारिणी और अमृत जैसी वाणीका कर्णद्वारा पान करते, बहुत दूर निकल गया. इतनेमें फिर एक घटना घटी. मुख्य पथकी बाजूसे छोटे छोटे पर बड़े शुद्ध, सुप्रकाशित और मानो उस मुख्य मार्गपर होकर जानेवालोंके लिए ही नियमित पैर रखनेके लिए बनाये गये हों, ऐसे दो मंगलमार्ग निकले मालूम हुए. जहांसे ये दोनों मार्ग आरंभ होते थे, वहां पर एक सुन्दर पर्णशाला थी. सुन्दर नवपल्लवित वृक्षलताओंसे चहुँओर आच्छादित उस पर्णकुटीके द्वारके समीप एक छोटे चबूतरेपर, बड़ा कृष्णाजिन बिछा हुआ था. उसके चतुर्दिक् भिन्न भिन्न पांच अग्निकुण्ड बने थे. उनमें अग्नि जल रही थी. यह पवित्र स्थान किसका होगा, ऐसा विचार करते हुए सत्साधकादि पथिक आगे बढ़े जाते थे; इतनेमें पर्णशालाके पाससे एक निर्मल तेजस्वी पुरुप आते दीखा. उसका शरीर अत्यंत कृश, और सर्वांग भस्म लगी थी तथापि बड़ा तेजस्वी मालूम होता था. मस्तकपर दीर्घकालकी बढ़ी हुई लम्बी जटाओंका मुकुटकी तरह जूट बाँधे था. नख बहुत बढ़गये थे. हाथमें जल भरा कमंडलु था, इसलिए जान पड़ता था मानो समीपके किसी जलाशयसे स्नान करके वह आ रहा था.

उसकी पवित्र आकृतिसे स्वाभाविक ही सबके मनमें आया कि यह कोई महात्मा होगा, इस लिए चलो हमलोग उसको प्रणाम करते चलें, और इस लिए संघ जब कुछ मंद पड़ा, तो उसकी मनोवृत्ति ताड़कर महात्मा सत्साधकने, उस महापुरुषको प्रणाम किया और संघको भी प्रणाम करने देकर तुरंत चलनेकी सूचना की. ऐसा देख वंदन करनेवालोंको, 'कल्याण! कल्याण' का आशीर्वाद देकर वह तपस्वी बोला:—“ अरे सन्मार्गगामियो!

---

* कामके अधीनस्थ अधिकारी भी काम ही माने जाते हैं—उन सबको छोड़कर अर्थात् सब प्रकारकी कामनाओंको लाशाओंको) त्यागकर.

चन, नित्यान्नदान, देवंवंदन, दीपपूजन, द्विजपूजन, मासस्नान इत्यादि असंख्य पुण्यप्रद व्रत, और तप्तकृच्छ्र, चांन्द्रायण कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि पापनाशक प्रायश्चित्तरूप व्रत भी करना कठिन होनेसे, यह देवी पंथिकोंको सर्वदा उनके करनेमें सहायता देती हैं, यह पथिकोंकी भलाई सदा चाहती है इस लिए हे पथिको! इस लम्बे रास्तेका आगे जाना छोड़कर इस सीधी सड़कसे चलो, भूल मत करो, इससे थोड़े ही परिश्रमसे दिव्य लोकमें जापहुँचोगे, इतना कह उसने उस श्रद्धा देवीको आज्ञा दी कि; ' तू आगे जाकर उनको इस पवित्र मार्गसे—जिसकी जैसी और जहाँ जानेकी इच्छा हो वहां लेजा. यह सुन महात्मा सत्साधक उस देवीको प्रणाम कर, तपस्वीसे फिर बोला:—" तपोधन ! आपको और इस मातासम कल्याणकारिणी देवीको हमारा प्रणाम है; इस देवीकी सत्ता सिर्फ यहीं नहीं, सारे अच्युतपथपर भी है, इस लिए हमारे मार्गमें ही वह हमें सदा सहायिका हो. क्योंकि आपका यह तपव्रतमार्ग उत्तम-श्रेयस्कर है, पर हमसे इसपर नहीं चला जायगा. क्योंकि हम सब निःस्पृह—किसी चीजकी इच्छा न रखनेवाले हैं और यहां तो हमें तुम्हारे बड़े अधिकारी कामके अधीन होना पड़ेगा यह हमसे कैसे सहा जायगा ? फिर हमारा मार्ग भी महातपोमय है और उसके तप, जिनमें सब व्रतोंका भी समावेश है, तुम्हारे मार्गसे भी निराले हैं. शरीर, इन्द्रियों और मनकी शुद्धि करने और उसी प्रकार उनको स्थिर तथा वश कर, पवित्र प्रभु अच्युतके रास्तेमें दृढ़तासे प्रवृत्त करनेके लिए ' ये तप किये जाते हैं. ये तप तीन तरहसे किये जाते हैं; शरीरसे, वाणीसे और मनसे देव, द्विज—सत्पात्र, ब्रह्मविद्यासंपन्न ब्राह्मण, गुरु—ब्रह्मविद्योपदेशक और विद्वान् का पूजन करना, सदा शरीरसे पवित्र रहना, सबसे सरल स्वभा-

---

१ नित्यप्रति गरीबोंको अन्नादि देना (सदाव्रत)। २ देवस्थानोंमें दर्शनादिको जाना। ३ दीपका पूजन करना । ४ विद्वान् धर्मज्ञ, उपदेशक जैसे ब्राह्मणका पूजन करना । ५ कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, वैशाख आदि महीनोंमें किसी तीर्थादिमें किसी समय विधिवत् स्नान करना । ६ गोमूत्रका ही पानकर नियत दिनोंतक किये जानेवाला व्रत । ७ जैसे सुदीमें चन्द्र बढ़ता है और वदीमें घटता है, वैसे ही प्रतिपदासे पूर्णिमातक एक एक कवल (ग्रास) बढ़ाना और अमावस्यातक एक एक घटाना और उनके अतिरिक्त और कुछ न खाना, तथा दूसरे भी अनेक प्रकारके चान्द्रायणव्रत हैं। ८ यह चान्द्रायणका ही एक भेद है ।

बड़ेसे बर्ताव करना, ब्रह्मचर्य पालना, और अहिंसा अर्थात् प्राणिमात्रके साथ दयापूर्वक और निर्वैरपनसे रहना, कायिक अर्थात् शरीरसे किया जानेवाला तप कहता है. किसीके भी मनको उद्विग्न न करना पर सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना और स्वधर्मका अध्ययन करना, वाचिक अर्थात् वाणीसे करनेका तप कहाता है. इसी प्रकार मनकी प्रसन्नता, शान्ति, और—मननशीलता—इंद्रियोंको विषयोंसे दूर रखना, अन्तःकरणकी शुद्धता—कपटरहित शुद्धभाव—आस्तिक्य—यह मानसिक अर्थात् मनसे करनेका तप कहलाता है. ये तीन प्रकारके तप, श्रद्धादेवीकी भारीसे भारी सहायता द्वारा पथिक करे और उनसे किसी भी प्रकारके फलकी कोई आशा न रखे तभी वे सात्त्विक अर्थात् श्रेष्ठ तप कहे जायँ. पर जो इस ढंगसे किये जाते हैं कि लोगोंमें मेरा सत्कार हो, मान मिले, पूजा हो वह चंचल—अस्थिर तप, तो राजस अर्थात् मध्यम माना जाता है और इससे भी अधम तामसी तप तो दुराग्रह और दुःखकर आचरण करनेपर भी मार्गसे भटककर नरकमें लेजाता है. इस लिए हे तपोधन ! आप तो इस सारे तत्त्वके ज्ञाता हो, तो भी हमें प्रभु अच्युतके सेवकोंसे क्षुद्र कामदेवके सेवक क्यों करना चाहते हो ? क्षमा रखो. आपकी तपश्चर्याका समय बीता जाता है और हमें चलनेको देर हो रही है" इतना कह श्रद्धा देवीको पुनर्वंदन कर, सत्साधक अपने संघसहित चलने लगा. वह तपस्वी तत्काल उस जलती हुई पंचाग्निके मध्य बैठ गया और मन स्थिर कर जप करने लगा.

देवतादर्शन.

संघको तपोधनके पास देर होजानेसे, विलम्ब तो हो गया था, पर उसके बदले आज उसको चलना भी थोड़ा था. समय होनेको आया, साथ ही पथिकाश्रम भी नजदीक आया. दूरसे उसे देखते ही सत्साधक शीघ्रतासे चलते हुए अपने संघसे धीरेसे कहने लगा;—" मित्रो ! अब आज अपना मुकाम यहीं करना है; इसलिए इस रम्य पथिकाश्रममें आनन्दसे उतरो, उस पवित्र जलवाहिनी सरितामें स्नान संध्यादि करो और उन समर्थ प्रभु अच्युतका कीर्तनोत्सव आरंभ करो, जिन प्रभुकी कृपासे हम सारे कर्ममार्गको लांघकर, चपल, घातकी काम देवके पाशमें न फँस, यहाँतक निर्विघ्न आ सके हैं।"

संघको पथिकाश्रममें उतरा देख, विमान भी उसके ऊपर ही अंतरिक्षमें

स्थिर हुआ. संध्याकाल होजानेसे सब विमानवासी नियमानुसार सायंकालके नित्यकर्ममें प्रवृत्त हो गये. नित्य नियमानुसार रात्रि होते ही मंडपरचना हुई और उसमें सब पुण्यात्माओंने गुरुदेवके समक्ष अत्यानन्दसे अच्युतकीर्तन किया और फिर गुरुदेवको प्रणाम कर वे अपने अपने शयनस्थानकी ओर जाने लगे; तब गुरुवामदेवजीने कहा:–" आज तुम अभीसे नींदके वश न हो जाओ. भूमिपर आज अच्युतमार्गी अच्युतकीर्तन करनेवाले हैं, अग्रणी सत्साथकके कथन परसे हमें मालूम हुआ है, उसे क्यों भूले जाते हो ? आज वे सारे कर्ममार्गको पार-कर इस मुकाममें आ पहुँचे हैं और पवित्र अच्युतमार्गका तृतीय सोपान भी यहीं समीपमें समाप्त होता है, इससे कल वे चौथे सोपानमें आरूढ़ होंगे. चलो अपने अपने आसन पर सब बैठ जाओ. जान पड़ता है कीर्तनारंभ हो गया. सुनो, यह कर्णपावन अच्युतनामकी मांगलिक और मधुर ध्वनि सुनाई देती है. देखो, कैसे प्रेमपूर्ण आवेशमें उनका उत्सव प्रारंभ हुआ है ! अनेक प्रेमी पथिक प्रभु अच्युतके नामसे नृत्य कर रहे हैं, अनेक मधुर स्वरसे कीर्तन करते हैं और कई उसके साथ वीणा, ताल, मृदंग आदि वाद्योंको एक स्वरमें मिलाकर बजाते हैं. इसका नाम संगीत अच्युतकीर्तन है.* ये वाजे आदि सब कीर्तन–सामान उन्हें इस पथिकाश्रमसे ही मिला है. देखो, कीर्तनमें प्रत्येक पथिकके चित्तकी कैसी एकाग्रता हो गयी है ! ऐसी एकाग्रता यदि कुछ समय स्थिर रहे तो अवश्यमेव प्रभु अच्युतका यहां प्राकट्य हो. क्योंकि ये परम पुरुष–आनंदमूर्ति केवल प्रेमभक्तिके अधीन हैं. प्रेम, ऐक्यका सच्चा तत्त्व है. ऐक्य होते ही द्वैतापत्तिरूप जड़ग्रंथि छूट जाती है, भिन्नता बतानेवाला अज्ञानपटल दूर हो जाता है, अच्युत और हमारे मध्य रहनेवाला अंतर टल जाता है. फिर जो बच रहता वह स्वयं ही आनंदमूर्ति है. "

अच्युतमार्गमें बहुत देरतक ऐसी एकाग्रतामें कीर्तन हो ही रहा था कि इतनेमें एक चमत्कार दीखा. पथिकाश्रमके द्वारसे बहुतसा प्रकाश पड़ा. उसे देख बहुतसे पथिकोंका ध्यान उस ओर गया. वहां एक स्त्री आती दीखी. इसकी मुखाकृति देखनेपर सबको परिचित जान पड़ी, पर शरीर

---

* संगीत—गाना, बाजे बजाना और नाचना, इन तीनोंके साथ किया जानेवाला संगीत कहाता है.

पर धारण किये हुए दिव्य वस्त्राभूषणों और शरीरका दिव्य तेज देख सब विचारमें पड़े. वह धराकसे उनके कीर्तनके बीच आ खड़ी हुई, और मानो बहुत ही प्रसन्न हुई हो इस प्रकार 'जय जय' शब्द करती हुई कीर्तन-कारोंको आशीर्वाद देने लगी. महात्मा सत्साधकने तो उसे देखते ही पहँचान लिया. उसने इसके चरणोंमें पड़कर साष्टांग प्रणाम किया और अपने सब साथियोंसे प्रणाम करनेको संकेत किया. सत्साधक तुरंत पथिकाश्रमसे एक सुन्दर आसन लाकर उस पर उसे बड़े आदरसे बैठा सामने खड़े हो हाथ जोड़कर बोला:—“ माता ! देवि श्रद्धा ! मैंने तो तुम्हें पहचान लिया पर स्थानस्थले तेरा रूपान्तर हुआ देख, ये पथिक पहले नहीं पहँचान सके. देवि ! इस समय तेरा शुभागमन कहांसे हुआ है ? ”

देवी प्रसन्न मुखसे बोली:—“ साधो ! तपोमार्गपर जो उस तपस्वीकी परिचर्या करते आपने मुझे देखा था, मैं वही श्रद्धा हूँ. इस सारे मार्गपर अनेकरूपसे दर्शन दे, मैं सारे पथिकोंको उनके भिन्न भिन्न शाखामार्गोंमें भी सहायता करती हूँ. तुम्हारा यह अच्युतकीर्तनका प्रेमोत्सव देख कर, यहां सहज ही चली आयी मैं सारे पथिकोंके साथ अदृश्यरूपसे निरन्तर रहती हूँ, पर प्रसंग आनेसे प्रकट दर्शन देती हूँ. पुण्यात्मा ! आज तुम सब पथिक धन्यवादके पात्र हुए हो; क्योंकि महाडीठ और बली काम-देवकी जहां पूर्णसत्ता है, वह कर्ममार्ग आज तुम निर्विघ्नतासे पार कर चुके फिर सारे अच्युतमार्गके मुख्य विभाग, जो भिन्न भिन्न प्रस्थानोंके नामसे जाने जाते हैं, उनका पहला कर्मप्रस्थान भी यहीं पूर्ण हुआ है. मैं सोचती हूँ, पथिकोंको प्रभु अच्युतके दर्शन होनेमें आड़े आनेवाली पापादि मलिनताओंको दूर करनेवाली महा पवित्र देवी चित्तशुद्धि भी तुम्हें यहीं आ मिलेगी. कामदेवके लालचमें जरा भी न लुभाकर अपने सब काम निःस्पृहता और विधिपूर्वक, मात्र प्रभु अच्युतकी प्रसन्नताके लिए, जो सदा मुझे साथ रखकर करता रहता है, उसे इस महादेवी चित्तशुद्धिके अवश्य दर्शन होते हैं. कल तुम्हारे दूसरे प्रस्थानका आरंभ होगा. उसमें भी कामदेवकी सत्ता आजू बाजू बहुत दूरतक फैली है इस लिए उससे बराबर सचेत रहना; मैं अब जाती हूँ, पर अदृश्य रूपसे तुम्हारे साथ रहकर तुमको सदा सहायता देती रहूँगी.” यह अंतिम शब्द बोलते ही वह उठी और पथिकाश्रमके द्वारके पास जाकर अदृश्य हो गयी.

देर हो गयी थी, सब थक गये थे, इससे कीर्तन समाप्त किया. पथिक धड़ाधड़ निद्रावश होने लगे. सत्साधक भी आंखें झपनेसे लेट गया, इतनेमें स्वप्नके समान उसे कुछ आभास दीखा. मानो किसीने उससे कहा:–" अरे पथिक ! उठ ! उठ ! क्यों सो रहा है ? " वह तुरंत ही उठ बैठा और शान्त होकर देखता है तो उसके सामने एक अद्भुत तेजोमूर्ति आकर खड़ी हुई है ! यह उसे पहँचान तो नहीं सका, पर उसकी मंगलमय आकृति देख सहज ही पुण्यभाव पैदा होनेसे उसको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर पूछा:–" पहले कभी न देखनेसे आपको मैं पहँचान नहीं सका. कृपा कर कहो, आप कौन हो ? " उत्तर मिला:– " मैं कौन हूँ, यह तू अपने अन्त:करणमें ही देख, बस स्वयं ही जान सकेगा ! " यह सुन सत्साधक आंखें बंदकर अंतर्दृष्टिद्वारा हृदयमें देखने लगा, तो भीतर मानो एक छोटा सूर्य ऊगा हो, ऐसा स्वच्छ प्रकाश दीखा, उसमें दूसरी कुछ मलिनता नहीं दीखी; इससे उसे सहज हर्ष हुआ. इतनेमें उस दिव्य मूर्तिने फिर कहा:–" साधो ! अबसे मैं इस प्रकाशरूपसे निरंतर तेरे हृदयमें निवास करूंगी. क्योंकि आजतक कुटिल कामको– कर्मके फलको कुछ भी न समझ कर बड़े परिश्रमसे तूने मार्ग तय किया " इस परसे सत्साधक उसे तुरंत पहचान कर बोला:–" अहो ! आप क्या देवी चित्तशुद्धि हैं ! आज आपका दर्शन होगा, ऐसा मुझे श्रद्धादेवीने बताया था. कहो अब मैं कौनसी आज्ञाका पालन करूँ ! " देवी बोली:– तूने मेरी सब आज्ञाएँ मानी हैं; अब तो मुझे तुझपर प्यार करना है. तेरे मार्गमें, अब मैं तेरे चित्तमें बैठी हुई सर्वदा प्रकाश करती रहूंगी और इससे तुझे प्रत्येक वस्तुका यथार्थ तत्त्व मालूम होता रहेगा. जगत्पुरसे लगाकर बिलकुल अच्युतपुर तक दृश्य और अदृश्य जो कुछ है, उन सबमेंसे सार और असार, अच्छा और बुरा, कामका और बिना कामका, सत्य और असत्य, तू ठीक ठीक जान सकेगा, सारका ग्रहण और असारका त्याग कर सकेगा और जो तूने अपने भीतर देखा है उसी शुद्ध प्रकाशके द्वारा तू उसके भीतर ही समर्थ अच्युत प्रभुके व्यापक स्वरूपको देख सकेगा.

इन दोनोंकी ऐसी बातचीत, जो कई सावधान और सजग पथिक, जाग्रत् सुप्तावस्थामें सुन रहे थे, वे तुरंत उठ बैठे और देवी चित्तशुद्धिके पास आ प्रणाम कर खड़े रहे. वह उनसे प्रसन्न चित्तसे कहने लगी:–" तुम भी

इस सत्पुरुषके संगसे पात्र हुए हो. तुम्हारे हृदयमें भी मैं प्रकाशरूपसे निवास करूँगी. मैं प्रभु अच्युतकी दासी हूँ, तो भी उस समर्थ प्रभुकी मुझ पर बड़ी कृपा है, इससे जहां मैं रहती हूँ, वहीं वे स्वेच्छासे आनंदकी तरंगोंके रूपसे प्रकट होते हैं. वे प्रभु सबसे निर्मल और पवित्र हैं. अंधकारसे सदा ही दूर रहते हैं, इसलिए जिसका अन्तःकरण अपवित्र, पापरूप मलसे युक्त और मेरे प्रकाशसे शून्य अर्थात् अज्ञानरूप अंधेरेवाला होता है वहां वे नहीं जाते. मेरा जो प्रकाश है, वह उनके ही तेजका है. देह और इन्द्रियोंके कर्म[1], मनके कर्म[2], नित्यकर्म[3], नैमित्तिक कर्म[4] और यज्ञ, दान, तप, व्रत, तीर्थादिक कर्म, ये सब साधु पुरुष सिर्फ मेरी प्राप्तिके लिए ही करते हैं; क्योंकि मैं प्रभु अच्युतका मिलाप करानेवाली हूँ. पर जिनके हृदयमें, ये सब कर्म करते हुए कामदेवका बताया हुआ जरा भी लालच भरा हुआ है, वे यहां तक नहीं आसकते और कदाचित् कष्टसे इस साधु (सत्साधककी ओर हाथ कर) पुरुष जैसेके संगसे आते हैं, तो भी उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती; और मेरे बिना वे आगे नहीं बढ़ सकते. शायद ऐसे संघके साथ एक दूसरेकी देखादेखीसे चले जाते हैं, तो भी कुछ ही दूर जाने पर जब कोई भूलभुलैयां आती है कि तुरंत उसमें फँस जाते और बीचमें भटकते फिरते हैं. इस लिए तुम सब सचेत रहना. क्यों कि आगे भी अभी बहुत दूर तक कामदेवकी सत्ता है. अपना कर्तव्यकर्म कभी नहीं चूकना और न उसके फलकी आशा रखना. बस, मैं सदा तुम्हारे साथ ही साथ हूँ. तुम्हारा कल्याण हो." ये अंतिम शब्द बोलते ही वह बड़ी विचित्र रीतिसे तेजरूप हो गयी. यह तेजोमय प्रकाश उसके पास खड़े सत्साधक आदि पथिकोंमें बँट कर लय हो गया ! ऐसा देख सानंदाश्चर्यमें मग्न हुए वे जाग्रत पथिक सत्साधककी इस परकल्याणकी सर्वोत्कृष्ट बुद्धिके लिए उसे नमन कर अपने अपने बिस्तर पर जाने लगे. फिर सत्साधक दूसरे सोये हुए पथिकोंके पास निःश्वास छोड़ कर बोला:—

---

१ देखना, सुनना, छूना, सूंघना, खाना, सोना, चलना, श्वासलेना, बोलना, मलमूत्रका त्याग करना, लेना, देना, पहरना, ओढ़ना, जाना, आना, इत्यादि क्रियाएं। २ विचार करना, चिंतन करना, ध्यान करना, इत्यादि क्रियाएं। ३ स्नान, संध्या, पूजन, स्वाध्याय, पंचमहायज्ञ इत्यादि नित्यप्रति आवश्यकरूपसे की जानेवाली क्रियाएं। ४ कारण आ पड़नेसे की जानेवाली क्रियाएं जैसे, ब्याह, श्राद्ध इत्यादि प्रसंगानुसार शास्त्रसंबंधी क्रियाएं।

" अरे ! इन पथिकोंके लिए मुझे बड़ा खेद होता है. इन बेचारोंको देवी चित्तशुद्धिके दर्शन नहीं हुए; न जानें ये अब अपने साथ कहां तक निभेंगे ? होगा, चाहे जैसा हो वे अच्युतपथ पर आरूढ़ हैं, उनका नाश तो होगा नहीं. प्रभु अच्युत उनकी रक्षा करें. " फिर सब निद्रावश हो गये.

मार्गभ्रष्टोंकी गति.

इस प्रकार विमानवासी यथावत् देख रहे थे, उन्होंने सत्साधकको इस प्रकार खेद करते देख गुरु वामदेवसे पूछाः—" कृपानाथ ! इन बेचारे सोये हुए पथिकोंकी, जिनको चित्तशुद्धि देवीके दर्शन नहीं हुए तथा जिनके लिए सत्साधक यों चिन्ता करता है, क्या दशा होगी ? और जब पीछेसे वह चिन्ता करता है, तो उसी समय उसने उन्हें क्यों नहीं जगा लिया ? चित्तशुद्धिकी प्राप्ति न हुई इससे क्या उनके यहां तक आनेका प्रयत्न व्यर्थ जायगा ? " वामदेवजीने कहाः—" चित्तशुद्धिके दर्शनोंके लिए उन्हें जगाना सत्साधकके हाथमें नहीं था; क्योंकि जिनको अधिकार मिला हो उन्हीको इस देवीके दर्शन होते हैं. अधिकार बिना यदि वह उनको जगाता भी तो वह तत्काल अदृश्य हो जाती. क्योंकि जो पथिक किसी भी फलकी आशा रखे बिना अपना कर्तव्य समझकर निरंतर अपने काम अचूकपनसे करते आये हों, उन्हींको यह देवी दर्शन देकर अधिकारी बनाती है. पर जिनका मन ऐसे निष्कामपनके लिए स्वाधीन नहीं हुआ, किन्तु श्रद्धादेवीके दर्शन पा चुके हैं उन्हें वह सदासहायिका देवी श्रद्धा, दुर्गतिमें जाने नहीं देती. ऐसे कल्याणमार्गमें आरूढ़ हुएकी कभी दुर्गति होती ही नहीं. ये कदाचित् महात्मा सत्साधकके साथ अधिक दूरतक नहीं जा सकेंगे और कर्मादिकी बातें सुन बीचमें भटक रहेंगे. तो भी आस पासके चाहे जिस शाखामार्गसे होकर, बड़े पुण्यसे प्राप्त होनेवाले पवित्र लोकमें जा पहुँचेंगे और वहां दीर्घकाल तक सुख भोगकर, यद्यपि फिर जगन्नगरमें जा पड़ेंगे सही, तथापि वहां पवित्र और श्रीमान् पुरुषोंके घर जन्म लेंगे या किसी बुद्धिमान् योगी[1]के घर पैदा होंगे.

---

१ अच्युतमार्गकी योग संज्ञा है क्योंकि इस मार्गसे प्रभु अच्युतका योग (मिलाप) होता है. इस मार्गसे जानेवाले पथिकको योगी कहा है इस लिए जिस घरसे इस मार्गमें अनेक पुरुष आरूढ़ हुए हों, उस घरमें यह योगभ्रष्ट (अच्युतमार्गसे भ्रष्ट हुआ) पथिक जन्म लेता है.

जगन्नगरमें ऐसा जन्म होना भी अतिशय दुर्लभ है; क्योंकि वहां जन्म लेकर पहले जन्ममें अपनी बुद्धिपर होनेवाले उसके संस्कारोंका स्फुरण होता है और वहींसे फिर वह इस पवित्र मार्गमें आरूढ़ हो, अच्युतपुर जानेके लिए प्रयत्नशील बनता है. इस प्रकार प्रयत्न करते करते भी शायद भूल जाय, मन कामनाके वश हो जाय तो भी अनेक वार आवर्जन–विसर्जन–जन्ममरण होते हुए वह पथिक पापसे मुक्त हो शुद्ध होजाता है. इसके लिए जो नियम हैं और अच्युतमार्गमें आरूढ़ होनेका ही सिर्फ कितना माहात्म्य है, उसे प्रभु अच्युतने अपने एक प्रियतम पथिकसे कहा है, वह इन पथिकोंकी पथबोधिनीमें वर्णित है:—

"प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

"ऐसा इस अच्युतमार्गका प्रभाव है क्योंकि जिसको मार्गमें आरूढ़ होनेकी सिर्फ इच्छा पैदा हो वह मनुष्य भी शब्दब्रह्म वेदके परे चला जाता है अर्थात् उत्तम गतिको प्राप्त करता है."

इतना कह कर वह महात्मा बोला:—"उठो, अब रात बहुत हो गयी है." इस लिए सब अपने अपने शयनस्थानमें चले जाओ. गुरुदेवकी आज्ञा होते ही सारा पुण्यजनसमाज अच्युत नामकी जयगर्जनासहित खड़ा हुआ और उनके पवित्र चरणारविन्दको प्रणाम कर सो रहा.

चतुर्थ विन्दु—चतुर्थ सोपान ।

योगमार्ग ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

अर्थ—ज्ञानामृतसे तृप्त हुए कृतकृत्य योगीको कुछ भी करने योग्य नहीं है. यदि कदाचित् हो तो वह तत्त्वको—परमात्माको नहीं जानता है.

महात्मा सत्साधक मनमें बोलाः—" अहो ! पूज्य मुक्त महात्माओ ! तुम्हारे परमतत्त्वका यशोगान, जिस अनादि तत्त्वज्ञानसे पैदा कर, अनेक युगोंसे परम रहस्यरूपसे सुरक्षित रखा है उसे, लोकव्यवहारमें रखना और मार्गमें अनेक तरंगोंमें डूबे हुए जीवोंका कल्याण होनेके लिए टूटे फूटे प्रयत्न करना, इस स्थूल देहद्वारा मनुष्य जो कुछ अणुमात्र करता है उसे कौन कराता है और उसके विना ज्ञानके स्थूलका रहस्य कैसा अद्भुत है, वह देखो. अनेक शास्त्र पुराण हुए हैं, अच्युतपुरमें जानेके अनेकानेक मार्ग दिखाये हैं, पर पंडित, साधुजन, गुह्यागारके द्वारपर जा खड़े होनेवाले, भक्त और महात्मा थककर हार गये हैं और कहते हैं कि, ' यहां नहीं, यहां नहीं, हमारा वहां जानेके लिए प्रयत्न है. इस प्रकार तुम्हारे निःशंक सिद्धान्त, मार्ग, क्रिया, विचार और स्वरूप समझमें नहीं आते. स्थूलमें रहनेवालेको विविध रंग दींखते हैं, और स्थूलको ही मालूम होते हैं; परन्तु प्रेम—विशुद्ध प्रेममंत्रका स्वरूप—जो परमात्मा है उसे वह नहीं जानता, इससे वह इधर उधर भटकता अटकता है और कामनासे, कर्म तथा भक्तिका आदर करनेसे ज्ञानसे भ्रष्ट होजाता है. सिर्फ विशुद्ध साधु तत्त्वदर्शी ही उसे पाते हैं, शेष सब, इस विश्वचक्रके देशमें चिपटे हुए विनाशको ही प्राप्त होते हैं. विनाशसे बचनेके लिए, ब्रह्मतत्त्व—परमात्माके साक्षात्कारका ज्ञान होनेपर ' मैं और मेरा, ऐसी वासनाका

विनाश करनेमें प्रयत्न पूर्वक लगे रहनेसे, धीरे धीरे वासना क्षीण होकर बिलकुल मृतप्राय हो जाती है और यही मुक्तिका मार्ग है. यही सर्वोत्तम है. ऐसा होनेपर भी इस शान्त गहन विश्वमें यह अशेष जगत् कहां लोप हो गया, यह मालूम नहीं होता—यही स्थिति परम परमात्माके विशुद्ध स्वरूपके दर्शन कराती है और उसीमें लीन करती है." ऐसी लहरमें लगा हुआ सत्साधक, अंतिम विचारकी ध्वनि सहित ऊंघकर गिरताही था कि आसनपर बैठ गया और जोरसे हरिका नाम लेने लगा. तुरंत ही उसका संघ जाग उठा. सब लोग निर्मल मनसे स्नान संध्या करने लगे और प्रवासके लिए तैयार हो गये.

विमानस्थित मुमुक्षुजन भी सत्साधकके संघके पथिकोंकी हरिनामकी ध्वनि सुन तुरंत उठ बैठे. यह देख महात्मा वटुकने कहा:—"देखो, संघ प्रातःकार्यसे निवृत्त होकर अपने रास्ते जा रहा है. तुम भी शीघ्र ही तैयार हो जाओ." गुरु–आज्ञा शिरोधार्य कर, विमानवासी विमानस्थित परम पापनाशिनी गंगामें स्नानके लिए गये. स्नान कर ईश्वरोपासन किया और शीघ्र ही गुरुके पास आ बैठे. उस समय गुरुको प्रणाम कर, राजर्षि–मुमुक्षु—मुक्त—वरेप्सुने पूछा:–"देव ! अब यह संघ कहां जायगा ?"

वटुकने कहा:—"अब उनका मार्ग रमणीक है और उसमें अधिक शाखाएं भी नहीं हैं और न वीचमें भय ही है. तो भी नयी नयी शोभासे चलायमान करनेवाला है, और परमतत्त्वके ज्ञाताको भी डगमगा देनेवाला है. यहींसे अब उनकी खरी कसौटी होनी है. पर देखो, यह संघ तो चला. सत्साधक हरिस्मरण करते, सबको उत्तेजन देते, दृढ़ करते और विचलको भी धीरज देते चला जाता है." वरेप्सुने पूछा:–"देव ! क्या ये सभी पथिक अच्युतपुर पहुँच जायँगे या इनमेंसे भी कुछ ही पहुँचनेको भाग्यशाली होंगे ?" वामदेवजीने कहा:—"अधीर ! पूर्वापर जो दर्शन हुआ है, उसका स्मरण कर, फिर प्रश्न कर. अनन्त तेजोरूपी आत्मज्योति नारायणका साक्षात्कार, सबको सहजमें नहीं होता. जो पथबोधिनी सत्साधकके हाथमें है, उसमें बताया है कि अनेक जन्मोंके अंतमें मुझको ज्ञानी पाता है; क्योंकि सब वासुदेवरूप है, ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा तो दुर्लभ ही है. जब तक ऐसा अनुभव न हो तबतक आत्मा और परमात्मामें अभेदता नहीं दीखती, तबतक परमधाम—अच्युतपुरमें

जाना कठिन ही है. परमधाममें—परमात्माके धाममें पहुँचनेका कार्य सिर्फ क्षुद्रश्रमसे या बातोंके तड़ावेसे अथवा वर्ष दो वर्षके प्रयत्नसे या एक ही जन्ममें नहीं होता; पर अनेक जन्मोंमें अनेक कालतक, आत्माको ढूंढ़ा हो, विचार किया हो, निश्चय किया हो कि यह यही है, दूसरा नहीं, इसमें और मुझमें भेद नहीं है—सर्वत्र अद्वैत ब्रह्म व्यापक है—जीव ही शिव और शिव ही जीव है, जब ऐसा स्वरूप निश्चित होता है तभी परमात्माके धामका साक्षात्कार होता है. परमात्माके धाममें जानेके लिए, ये सारी स्थूल भावनाएं कुछ भी सहायता नहीं करतीं, पर सर्वत्र वासुदेवमय–परमात्मारूप ही दिखाई दे और ये प्राणिमात्र तो इसके खिलौने हैं, वे कुछ भी करनेको समर्थ नहीं हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय हो, तभी साक्षात्कार होता है. आत्मासे भिन्न जगत् है ही नहीं, ऐसे निश्चय विना, परमधामकी प्राप्ति नहीं होती. पर ऐसे निश्चयवाला दुर्लभ ही है. सत्साधकके इस संघमें, आत्मा और जगतकी अभिन्नता माननेवाले थोड़े ही हैं. वासनासे मुक्त इनसे भी कम हैं, जगत्–बंधनकी जो थैलियां उनके शिरपर हैं, उनके मोहसे मुक्त भी थोड़े ही हैं, अर्थात् जो जगतके स्थूलरूपपर मोहनेवाले हैं, वे गिरेंगे ही, देखो, अभी भी इस संघके कई लोगोंके शिरपर भिन्न भिन्न प्रकारकी थैलियां हैं, उनके त्यागनेकी वे इच्छा भी नहीं करते. जबतक इन थैलियोंका प्रेम नहीं जायगा, तब तक उनके लिए अच्युतपुरका द्वार नहीं खुलेगा."

सत्साधकका संघ, उसकी अध्यक्षतामें धड़ाकेसे आगे बढ़ता चला जारहा था, इसी बीचमें अनेक पथिक घसड़पसड़ चलते, कई थक–जानेसे, सिरपर अपनी पोटलियोंका भार होनेसे और आग जैसी धूपके तपनेसे मंद पड़ गये थे. वे पानी पानी और भूख भूख चिल्लाकर तड़फ रहे थे; किन्तु सत्साधकको इनमेंसे कुछ भी विकार नहीं होता था, वह तो निर्गुण निर्विकार होकर चला जारहा था और पीछेके पथिकोंको धीरज देरहा था कि " जरा धैर्य धर, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो; तुम्हारे लिए निर्मल जल और उत्तम भोजन तैयार मिलेगा. जिन्होंने व्यर्थ ही सिरपर पोटलियोंका भार उठाया है, उन्हींको यह श्रम मालूम होता है, दूसरोंको नहीं; इस लिए ये पोटलियां फेंक दो, जिससे तुम आनंदसे अनंत आकाशमार्गमें प्रवेश कर सको और सत्त्वोंका दर्शन होते ही आनंदगान, रमणीयस्थान और निर्मलप्रेमके निकट जासको. आनन्दस्थानमें अभी जो प्रगाढ़ भय

व्याप रहा है वह, महापर्वतके भार और काली मेड़ जैसी उन पोटलियोंके कारण ही है जो, तुम्हारे सिरपर हैं, उनके कारण ही अंगारके समान तुम जले जा रहे हो. इनका त्याग करनेसे ही सब यातनाओंसे मुक्त होगे. निर्मल हुए विना—चित्त शुद्धि विना—जो जीव, इस मार्गमें आता है, उसे अनंत कालकी दुःसह पीड़ा भोगनी पड़ती है, पर निर्मल आत्मसंयमवाला—मनको नियममें रखनेवाला आत्मज्ञानी जो अभेदस्थानकी महिमासे मोहित और परम श्रद्धावाला है, उसके लिए यह मार्ग नंदनवन जैसा सुखकर है."

सत्साधकके ऐसे वचन सुन, अनेकोंके मन डिगे. वे सिरकी पोटली फेंकनेको तैयार हो गये. अनेकोंने फेंक भी दी; पर कई पथिक, जो इस पोटलीको ही सर्वस्व मानते थे, और इसीसे अच्युतपुरमें शीघ्र प्रवेश किया जाता है, ऐसी धारणावाले थे, उन्होंने कहा:—"ये पोटलियां भाररूप भले ही हों! पर हम तो इनका त्याग नहीं करेंगे. हमारी पोटलियां हमें भाररूप नहीं पर सुखरूप मालूम होती हैं. हम अच्छी तरह जानते हैं कि जिस परमसत्त्व—परमात्माके हम दर्शन करना चाहते हैं उसकी इच्छावाले पूर्वकालमें अनेकानेक लोग थे और वे ऐसी पोटलियोंसे ही सुखपूर्वक उसके समीप जा सके हैं. सत्साधकको ये पोटलियां भयरूप मालूम होती हैं, पर वह इनके विना वहां पहुँचे तो सही! हम तो निःसंदेह पहुँचेंगे; क्योंकि इन पोटलियोंसे ही अच्युतपुरमें प्रवेश हो सकता है, ऐसा हमें सदासे उपदेश मिलता रहा है."

ऐसे विचारके अनेक लोगोंने पोटलियोंका भार सिरपर रहने भी दिया, कई एकोंने अपनी अपनी पोटलीमेंसे थोड़ा सामान कम कर दिया और कुछ हल्के हुए, तथा दूसरोंसे आगे होकर अधिक शीघ्रतासे चलने लगे. ठीक मध्याह्न होने लगा था और सबको आश्रमकी आवश्यकता थी, इससे सत्साधकने इधर उधर देखा तो उसे एक सुन्दर मंदिर दिखायी दिया. वह उसी ओरको मुड़ा.

सत्साधकके संघको तिरछे मार्गमें मुड़ते देख विमानवासी महात्माओंने, गुरुदेवसे पूछा:—"महाराज! यह तो कुछ नया ही मालूम होता है. क्या यह कोई सुन्दर महल है, या अनंत तेजके धामवासी परमात्माका स्थान है? यह मंदिर बड़ा ही विचित्र और अद्भुत है. देखो, यह सारा मंदिर एक ही अखंड मणिका बना हुआ है. इसके शिखर गगनमंडलमें कहां समाये

हैं, यह मालूम नहीं होता, पर उनकी प्रभासे अपना यह गगनगामी विमान भी प्रतिभासित हो गया है. यह अपने समीप आरहा है. अपने ऊपर होकर चला जारहा है और थोड़ी देरमें अपने स्थानमें जाकर स्थिर हुआ मालूम होरहा है. इसमें अनेक दिव्य स्त्रियां हैं, जो ऐसी मालूम होती हैं मानो प्रभुपार्षद या स्वर्गकी अप्सराएं हों! देखो, देखो, इस मंदिरके निवासी हमसे करोड़ों कोस दूर होते भी, हमारे सामने खड़े हुए, हमारी ये सब बातें सुनते मालूम होते हैं. यह मंदिर भी ऊंचा नीचा होता है और यह गुप्त मंदिरके समान होते हुए भी इसके सब पदार्थ हमें अदृश्य मालूम नहीं होते. यह मंदिर सब सुख, सब लीला और सब आनन्दका धाम मालूम होता है और इसमें निवास करनेवाले जीव क्षणमें अनेक और क्षणमें एक, अभेदताका अनुभव करते हैं! क्या यही परमधाम है? इसमें जो भव्य दिव्यमूर्ति, एक मणिमय आसनपर सुशोभित है, उसका भी दर्शन अद्भुत ही है. क्या यही साक्षात् परमात्मा है? पर इस मंदिरके चहुँओर जो काला भैंसे जैसा पुरुष फेरे किया करता है और इस मंदिरको घेर लेनेका प्रयत्न करते मालूम होता है, पर उसके तेजसे भयभीत हुआ थर थर कांप रहा है, वह कौन है?"

महात्मा वटुकने कहा:—"जगन्नगरके द्वारपर जिस काल पुरुषको हमने सबका संहार करते देखा है, वही यह है. वह नया रूप धरकर, यहां फिरा करता है. यह कुछ उस ज्योतिर्मय प्रभुका धाम नहीं है जो अविनाशी है, अजन्मा है, नित्य यौवनमय है, निर्गुण और निराकार है. सत्साधक जिस स्थानमें इस संघको अपने साथ लिए जाता है तथा जो परम है वह स्थान भी यह नहीं है. पर देखो, सत्साधकका जो संघ जा रहा है उससे मार्गमें एक स्वरूपसौन्दर्यवती देवांगना मिलती है, वह क्या कहती है सुनो."

सुन्दर आश्रम विचार, थोड़ी देर वहां रह, श्रम दूर कर, आगे बढ़नेके हेतुसे ही सत्साधक दूसरे पथिकों सहित उस आश्रमकी ओर फिरा. इस आश्रमका मार्ग नये किसमका था. मार्गपर हीरा मोती, माणिक, नीलम, पुखराज, गोमेद, आदि जड़े हुए थे. वहां अनेक सिद्धियां रमण कर रही थीं और ध्यानस्थ महात्मा, स्थिर चित्त और निश्चल दृष्टिसे, अनेक प्रयोग कर रहे थे तथा उसी तत्त्वके अनेक चमत्कारोंसे वहां आनेवालोंकी जीवन-

शक्तिपर असर करते हुए वे सर्वव्यापी हो रहे थे. वे करोड़ों कोसोंकी बातें जानते, जीवितको मार डालते और निर्जीवको सजीवन करते मालूम होते थे. यद्यपि वे ऐसे जान पड़ते थे मानों हजारों और लाखों वर्षसे भ्रमण कर रहे हैं और उतना ज्ञान भी रखते थे, तथापि वृद्ध होनेपर भी वे तरुण जैसे थे. क्षणभरमें वे अनेक चमत्कार दिखाते और उस चमत्कारमें वे परमात्माके दर्शन भी कराते थे.

इस आश्रमके अनेक लोगोंकी रीति भांति भिन्न ही मालूम होती थी. वें मनुष्य मात्रका कल्याण करनेके लिए अनेक गुप्तज्ञानके बलसे परोपकार और प्रेमकी गहरी छाप मारते थे. उनमें सार्वजनिक कल्याणकी बलवती अभिलाषा थी. उनकी मुखाकृति परोपकार और दयासे परिपूर्ण दीखती थी, पर उनके मुखपर गूढ़ता तो अलौकिक ही थी और इससे यद्यपि वे सिद्ध थे और सिद्धिके स्वामी थे, तो भी उनके सारे मुखपर एक प्रकारकी स्पष्ट उदासीनता मालूम होती थी और इससे प्रेमी होनेपर भी, ऐसा भाव प्रकट होता था मानों वे निष्ठुर हृदयके हैं. उनके बाहरी दिखावेसे तो भय ही होता था. इनमें अनेक तो ऐसे भी मालूम होते थे मानों वे दुनियाको तृणवत् समझते हैं—दुनिया है ही नहीं. वे भला करनेकी वृत्तिसे भी रहित और बुरा करनेकी वृत्तिसे दूर रहनेवाले थे. वे कृत्यसे किसीको सहायता नहीं देते थे और न वाणीसे धैर्य ही देते थे. वे न आवेशमय थे न आवेशशून्य ही थे. उनके पास कुछ पोटली थीं सही पर वे ऐसे मालूम होते थे मानो संसारके बाहरके हैं और समाधिरूपमें मग्न मस्त होकर इन्होंने भोगकी आहुति दे दी है. उनमेंसे अनेक जटाजूटवाले और अनेक तो प्रेममस्त भी थे. सौन्दर्यको देखकर कई उसमें लीन होते और कई वनस्पतिके तत्त्वसे शोध करते मालूम होते थे. इस मंदिरके चहूंओर वृक्षोंका घटाटोप था. ये सारे वृक्ष नवीन और हरित लताभवन जैसे थे. उनकी छाया सुखद मालूम होती थी, पर हृदयमें शान्ति आने नहीं देती थी. यहां एक चमत्कार था. प्रत्येक वृक्षकी डालियोंसे सुवर्ण और रौप्यकी नकासीसे पूर्ण अनेक उथली थाली, प्याले और लोटे आदि निकले हुए थे और उनमें भांति भांतिके पकान्न तथा सब रसमय पदार्थ भरे थे. लोटेमें शीतल जल भी भरा था. इनमेंसे जिसे जो चाहिए उसके लेनेकी मनाई नहीं थी. कई वृक्षोंमेंसे धोतियां और अनेकोंमेंसे गहने (अलंकार) फूटकर लटक रहे थे. उनके भी लेनेकी मनाई नहीं थी.

सत्साधकका संघ इस नवीन और भव्य मंदिरके समीप नहीं पहुँचा इसके पूर्वही, जिस देवीको विमानवासियोंने देखा था, वह उसके समीप आकर बोली:—"महात्मा! इस दैवी लीलाका खेल अनुपम है, इसमें कई लोग फँस गये हैं और अनेक फिसल पड़े है, कोई विरला ही पार उतरा है. इस लिए परम निष्ठापर दृढ़ विचार रखना." ऐसा कहकर देवी मानो सत्साधकके अंगमें समा गयी हो, इस तरह वहीं अन्तर्धान हो गयी. सत्साधक स्थिर हो गया. सत्ववृत्तिको फिर बलवती कर, वह मंदिरकी ओर चला और उस मंदिरमें स्थित अनुपम तेजोज्योतिके दर्शन कर, सब यात्री-पथिक—मंदिरकी गूढ़ता, उसकी अनुपम कारीगरी, उसमें व्याप्त अनुपम शक्ति आदिका विचार करते हुए निकटके मनोहर स्थानोंमें विश्राम करनेको बैठे. अनेक पथिक जिन्होंने अपने पास पाथेयकी पोटली रखी थी उसे खोलकर उसमेंसे थोड़ासा भोजन करने लगे. पर जो बिलकुल ही निर्गुणी थे तथा जिन्होंने पाथेयकी पोटली मार्गमें ही त्याग दी थी, वे हरिनामका भजन और अच्युतपुरकी शोभाका विचार कर आनंदकीर्तन करने लगे. इस लीलाका लाभ वे ही लेते थे जिनकी वृत्ति शुद्ध और शान्त तथा इच्छाएं (कामनाएं) शिथिल हो गयी थीं.

थोड़ी देरमें एक विचित्र घटना घटी. बाह्यलीलाके आवेशसे आत्माको जो विकार होता है वह इस समय सबको होगया और किसी अवर्ण्य तथा अपरिचित शक्तिके प्रतापसे सारे पथिक क्रमशः दूसरी ही तानमें मस्त हो गये. सबकी आंतर सृष्टिमें नये नये तरंग व्याप गये. इतनेमें एक ऐसी सुगंधमय लपटका धुआं (धूम्र) आया कि जिससे अनेक पथिक क्षणभर निश्चेष्ट हो गये. कई उसके सौरभके मजेनें बड़े ही हर्षित हो गये और जो सुगंधित धुएंके टुकड़े वहां फिर रहे थे, वे उन्हें अनेक चमत्कार दिखाने लगे. इस समय सत्साधक और दूसरे कुछ पथिक सावधान मालूम होते थे.

सब आकाशकी ओर देखने लगे. विश्वरचनाके नूतन दृश्योंपर स्थिर हो देखने लगे. उनका आत्मा आत्माको देखने लगा सही, पर सृष्टि-संबंधसे रहित नहीं हुआ. उनकी नसमें बंधनकी जो गांठ थी, वह छूटकर दूर नहीं हुई और काले भैंसेके समान जो पुरुष, इस स्थानके आसपास विकराल आंखें निकाल और दांत कटकटाकर भयभीत कर रहा था, वह भय

न्यून हुआ नहीं जान पड़ा. तो भी सब कोई इस प्रकार आनंदमें तैरने लगे—बल्कि डूब गये अथवा तैर कर पार हो गये मानो उन्हें कोई बड़ा लाभ हुआ हो, कोई अद्भुत—दिव्य स्वतंत्रता प्राप्त हुई हो और यह देह हल्के फूल जैसा हो गया हो! संघके लोग इस विश्वको पैर तले देखने लगे! और सब समाधिस्थ हो आत्माको आत्मासे मिलते हुए देखने लगे.

आकाशवासी विमानस्थ जीव यह सब घटना देख रहे थे. वे भी यह घटना देखकर दंग रह गये और धूम्रदल उन्हें भी पथिकोंकी नाईं अचेत कर देता, पर गुरु वामदेवजीने सबकी ओर देखकर कहाः—“सावधान, जिस स्थानके अलौकिक माहात्म्यसे पथिक अचेत होकर समाधिस्थ हो गये, उस स्थानकी बलि होनेसे बचना! यहीं सँभलना है. इस सबका कारण अहंकार है. यहां भी अहंकार निवास करता है. यह अहंकार इस जगतका नहीं, पर अच्युतपुर जानेवाले मार्गका है. जो स्थान तुम देखते हो, वह योगधाम है और यहां अनेक तरहके योगी निवास करते हैं. उन्होंने जगतको त्याग दिया है, पर परमात्माके धाममें प्रवेश करनेकी जो आत्मनिष्ठा है उसका दूसरे ही प्रकारसे सेवन किया है. धीरजयुक्त नम्रभावसे, परम ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए, पूर्ण श्रद्धा, सत्य और मानसिक साहससे, अनेक वर्षों तक जाड़े, गर्मी और वर्षामें, प्रणव ब्रह्मका आराधन किया है. पर आत्माकी एकता प्राप्तकरनेके बदले मानवव्यवहारमें ही पगे रहे और उसमेंसे दूसरेको तारते रहे तथा वह काम मैं कर सकूंगा ऐसे अहंभावसे, जो सत्य है, उसे उन्होंने खो दिया है. यह भी योग है. यह योग मानुष व्यवहारकी उत्कृष्टताका है. जिन सुगंधपूर्ण धूमदलोंसे तुम तर हो गये हो वे अनेक प्रकारकी सिद्धियां हैं और इन धूमदलोंके द्वारा कालके सिर पर पैर रखा जाता है पर कालान्तरमें यह काल इस स्थानमें रहनेवालोंको पछाड़कर उनका कलेवा करता है. यहां रहनेवाले योगी अनेक प्रकारसे संसारको लाभ पहुँचाते हैं. वही दया और परोपकारका कार्य करते हैं, बहुतेरोंको सृष्टिके दर्शन करानेके लिए समर्थ हैं, नित्य परमात्माको देखते हैं, युगयुगान्तरोंतक तरुण बने रहते हैं, पलभरमें सारे विश्वकी बातें जान सकते हैं, विश्वके चक्रकी गति भी फेर सकते हैं, नई सृष्टि उत्पन्न कर सकते हैं, पर वे कालमानका नाश नहीं कर सकते. क्योंकि वे वासनारहित नहीं हुए हैं, इससे पुनः पतित होते हैं, और अच्युतपुर जानेके सरल मार्गको भूलनेसे, फिर रगड़े खा २ कर, बहु काल पर्यन्त इस लोकका वैभव भोग

कर ही इस मार्गमें फिर आते हैं—और तभी जानते हैं कि अपना मार्ग न्यून था; और इसका संपूर्ण विचार होनेपर, सब वासनाओंका क्षय कर अच्युत-मार्ग—अच्युतपथमें जाकर सुख भोगते हैं।

ये जो सब सुगंधमय धुएंके दल मालूम होते हैं ये उनकी शक्ति है जो बड़ी ही चमत्कृतिवाली है. जो कालके फलपर्यंत परब्रह्मको जानने और देखनेको संसार मधे डालते हैं और देखते भी हैं वे ऐसे ही पीछे रह जाते हैं. इसका कारण उनका अहंकार और वासनाका निर्मूल न होना ही है. वे कामनाहीन नहीं हुए. जगतके कल्याणमें तत्पर हैं ऐसा अहंकार होनेसे वे अनेक विक्षेपोंमें उसी प्रकार विक्षेप भाव (अस्थिरता) भोगते हैं जैसे वायु मेघदलको पीछे हटाता और इसीसे पतित होते हैं. इसके लिए अहं-कारका निग्रह कर, सब इच्छाओंका क्षय करनेके साथ ही विषयका अर्थात् संसारके किसी भी हितकर या अहितकर भोगका चिन्तन (ध्यान) करना रोकना चाहिए अन्यथा जैसे शुष्क काष्ठको जल पुनः जीवनदान करता है वैसे ही अहंकार उनके जगत्—संबंधी ध्यानको पुनर्जीवित करता है."

इतनेमें वरेप्सु बोले:—" गुरुदेव ! देखो इस संघकी ओर वह कोई महात्मा, आता हुआ जान पड़ता है. वह कौन है. ? " गुरु बोले:—" वत्स ! वह इस मार्गका स्वामी है और इस मार्गपर आरूढ़ होनेवाले पथिककी यह रक्षा करता है. इसने असीम पुरुषार्थ प्राप्त किया है और आनंदके दर्शन प्राप्त कर, परम ज्योतिके सूक्ष्मतर तत्त्वको जान लिया है. यह परार्थहीका मूर्ति-रूप है. इसके पीछे जो देवी आती है वह केवल बुद्धिकी ही विलासिनी है और यह योगीन्द्र उस देवीकी सहायतासे अनेक महात्मा पैदा करनेकी शक्ति रखता है. यह बिलकुल ही योगमूर्ति है, इससे वह जिस मार्गमें महात्मा पैदा कर सकता है वह महाविकट और दुस्तर है और ऐसे दुस्तर मार्गमें जाना यह महत्ता मानता है. इसका निश्चय अचल है और उस निश्चयको पूर्ण करनेके लिए चाहे अनेक ब्रह्माण्ड चूर्ण हो जायँ, चाहे उसका संहार हो जाय, अनेक जीव इस मार्गसे आकर लौट जायँ पर उनकी इसे जरा भी परवा नहीं. यह उसकी प्रतिमासे प्रतिभासित होता है और यह उसीमें आनंद मानता तथा मनाता है. उसके ज्ञानसे उसे अनेक भोग प्राप्त हुए हैं और अनेक भोग भोगने पर भी यह तृप्त नहीं हुआ इससे बारम्बार नये नये भोग भोगनेको तैयार होनेसे ही अब भी वह संघकी ओर आया है. योगक्रमकी जो विधि है उसे वह जरा भी

हटानेको तैयार नहीं है और इस विधिके परिपालनसे अनेक भोग पीछे रह जायँ तो उनकी भी उसे परवा नहीं. उसके साथ जो देवी है वह उसकी श्रद्धा है. यह श्रद्धा, स्वरूपमें यदि निर्गुण बने तो परम धाममें सहज ही प्रवेश हो जाय पर वह इस उपाधिके साथ ही जब प्यार करती है तो पीछे गिरना पड़ता है. देखो, यह योगी, अपनी भव्यता दिखाते, अपने दिव्य जीवनको सुशोभित करते, अनेक तरंगोंमें गोते खाते, निष्प्रेम और विरक्तिसे आवृत इन पथिकोंकी ओर देखते चला आ रहा है, सुनो, वह क्या कहता है ? ”

अच्युतपुर जानेके मार्गकी ओर आते हुए उस योगीकी कान्ति, भव्य, गंभीर, किसीको भी दृष्टिपातसे ही घबरा देनेवाली पर कृश, कुछ उदासीनतावाली, प्रेम और भक्तिसे शून्य थी. उसकी दृष्टि निश्चल और चित्तवृत्ति स्थिर थी. वह ऐसा मालूम होता था मानो अनेक पेचीले हिसाबोंको घोखते मार्ग चल रहा है ! उसका पैर जहाँ पड़ता अचल रहता पर कुछ कुछ काँपता था. उसमें ज्योतिर्मय तेजोबिन्दुके गूढ़ तत्त्वसे अद्भुत असर करनेकी शक्ति थी. उसने उस शक्तिका प्रयोग करना आरंभ किया और संघके प्राणियोंकी जीवनशक्ति पर अद्भुत और गूढ असर कर दिया. इस शक्तिमें जीवधारी जंतु खिंच गये, सिर्फ सत्साधक ही बचा और जो उसके आश्रयसे रहे थे तथा जो प्रवासमें पाथेयकी पोटली विना थे, वे ही, खिंचनेसे बच गये.

वह महात्मा इस संघकी ओर आया. उसको देखते ही सत्साधक विचारने लगा कि, “ यह मार्गदर्शक कौन है ? अहो ! इसके पीछे आती हुई इस देवीके मैंने वहां दर्शन किये हैं सही, पर उसका आजका चेहरा उदास होनेसे यह नहीं जाना जा सकता कि वह कौन है. है तो परिचित, पर महात्मा कौन है ? इसके दर्शनसे जो आनंद होना चाहिए वह नहीं होता; पर हृदयमें उदासीनताका उद्भव होता है. इसके मनोविकार विशुद्ध हैं और यह कामको पार किये हुए जान पड़ता है. क्योंकि इसका अनुधावन करनेवाला काल इसके देखते ही थर थर कांपते मालूम होता है, पर वह दूर क्यों नहीं हुआ ? इसके साथ संघमें जो अनेक लोग हैं उनके पास जो पोटलियां हैं वे किस चीजकी हैं ? ” इतनेमें वह महात्मा संघके समीप आया और सत्साधकको सम्बोधन कर उसने बहुत ही उचित उद्गार निकाले.

उसने कहा:—" अच्युतपथप्रवासी ! यहाँ ठहर ! यह वही तेजोमय स्थान है जहाँ अच्युत नारायण निवास करते हैं. इस स्थानमें दीर्घकालपर्यंत रहनेसे भी कालका भय नहीं है. काल डरवाता नहीं और परमात्माके आनन्दमय दर्शन होते हैं. तू जिस गूढ़ मार्गमें जा रहा है उसका यह अन्त है. तेरी धारणा तत्त्वविचारसे शुद्ध हुई है इस लिए यहाँ ठहर, और प्रणवब्रह्मके दर्शन कर. यहाँ रहनेसे तू अनेक परोपकार कर सकेगा, अनेकोंके जीवन सार्थक करेगा और अनेकोंको तार सकेगा. इस विश्वमें अनेक दुर्घट कार्य कर सकेगा और इसमें तुझे अभेदताका अनुभव होगा. यह मार्ग स्वतः वासनारहित है. यहाँ बंधनका नाम नहीं है, पर यहाँ नित्य विश्वलीलाको देखकर आकाशके अवकाश और ताराओंकी गतिसे दिव्यता—भव्यता जान पड़ती है, उससे परब्रह्मका परम तत्त्वमय ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञानद्वारा आत्माकी शुद्धि होती है तथा उसीसे जीव परम तत्त्वमें लीन होते हैं. ये सब इस स्थानमें हैं. परब्रह्मके इस अपार गूढ़ मार्गमें—विश्वके तमागारमें गुप्त रहनेवाली बातें गुप्त नहीं रह सकतीं. इन गुप्त बातोंको भी जानकर हम अनेक जीवधारियोंको अनंत लाभ पहुँचा सकते हैं और वे जीव तर कर पार हो जाते हैं."

सत्साधकने पूछा:—" आप कौन महात्मा हो ? " योगीने उत्तर दिया:—" मैं इस मार्गका पथप्रदर्शक हूँ. मेरा नाम योग और इस मार्गका नाम योगमार्ग है. इस मार्गकी महत्ता विश्वविदित है और स्वयं परमात्माने भी स्वमुखसे वर्णन की है. योगसे श्रेष्ठ दूसरा कोई साधन नहीं है. इस योगसे परमेष्ठी, महेन्द्र और सार्वभौमपद, रसाधिपत्य, योगसिद्धि तथा अपुनर्भव (मोक्ष) प्राप्त होते हैं. इस मार्गका जीव जबतक चाहे इस लोक, देवलोक, इन्द्रलोक, विष्णु या शंकरके लोकमें रह सकता है और सब इच्छित कार्य कर सकता है. हम मनुष्योंपर अनेक उपकार करते हैं. अनेकोंको अपने योगबलसे, धन, संतति और ऐश्वर्य देकर जगतमें बड़े महात्मा बना देते हैं. इससे श्रेष्ठ और मार्ग परमात्माने रचा ही नहीं. जो इस मार्गसे जाता है वह सब सुखोंका भोक्ता होता है. यहाँ सारे विश्वकी सकल लीलाएँ हैं और इनमें डूबे रहनेवालोंको आवागमनका अनेक वर्षों और कालके अंततक भय नहीं रहता. इस स्थानमें सब लीलाएँ प्राप्त होती हैं. यहाँके निवासी गर्मीमें सर्दी और सर्दीमें गर्मी कर सकते हैं. इस पृथ्वीकी घड़ीको चाहे जब फेर सकते हैं, चन्द्र सूर्यको अपने अधीन कर सकते हैं

और सबसे बड़ा सामर्थ्य यह है कि ये चाहें तो नूतन सृष्टिकी रचना भी कर सकते हैं. इस मार्गमें एकनिष्ठ होनेवाला स्वयं ही स्रष्टा है. वह एक ही स्थानमें रहकर तीनों लोगोंकी गति जान सकता है और स्वस्थानमें बैठे हुए तीनों लोकोंको केवल निमिष मात्रमें देख सकता है. ऐसे श्रेष्ठ स्थानमें तुम कल्लोल करो और फिर योगमार्गमें जाकर परमात्माको प्राप्त करो. योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी श्रेष्ठ है."

सत्साधकके संघवाले ऐसा उत्तम स्थान देखकर वहीं रहनेको तैयार हो गये; पर सत्साधकने कहा:—"मित्रो! इस स्थानमें तुम लुभाना नहीं. यह योगमार्ग कामयोगमार्ग है. यहाँ भी महात्मा कामदेवकी दुहाई फिर रही है और यहाँ रहनेवालेको पीछे लौटना पड़ता है; देखो, तुम्हारी पथबोधिनीमें महात्माने स्पष्ट बतलाया है कि कामनावाले योगीको अयोगी होना पड़ता है. क्या यह महात्मा बतायेगा कि इस मार्गमें जानेवालेको वास्तवमें भ्रष्ट होनेका भय है या नहीं? उसे वास्तवमें अहंता ममता है या नहीं?"

महात्मा योगीने कहा:—"हाँ होगा! पर हमारी अहंता ममता जनसुखार्थ और परहितार्थ है स्वसुखार्थ नहीं! हम लोकोपकार कर सकते हैं और जो अनुचित मार्गमें जाता है उसे शासन भी करते हैं. ऐसे प्रयासमें रहने पर भी हम कालको लाँघ जाते हैं. और जिसने कालका अतिक्रमण किया उससे अधिक बली कौन हो सकता है? अपने दिव्य ज्ञानद्वारा हम चाहे जब पूर्ण मोक्षको प्राप्त होते हैं. वेद, यज्ञ, तप और दानमें जो पुण्यरूप कहा है उस सबको जान और अतिक्रमण कर हम परम स्थानको पाते हैं. इस लिए इस मार्गमें लौटकर मोक्ष प्राप्त करो."

सत्साधकने कहा:—"तब तो तुम्हारे हालके प्रयत्नसे मनुष्य बने रहकर मनुष्योच्च होना शेष ही रहा. तुम कहते हो कि मोक्ष चाहे जब होता है. इस परसे समझ पड़ता है कि कामनायुक्त कर्म करनेसे तुम्हें पुनः जन्म मरणके अधीन रहना पड़ता है और मनुष्यमेंसे मनुष्य ही होनेके लिए किये गये श्रमके लिए अधिक दण्ड भोगना पड़ता है और जिस मार्गसे आये उसीमें लौट जानेके लिए ऐसा व्यर्थ परिश्रम—प्रयास करना पड़ता है. हे संत! सच कहें तो इस कामयोग मार्गसे न दिव्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न आत्माकी एकता ही होती है; हाँ, इस कामयोगके सेवनसे लोक-

कल्याणकी वासनाका बल बढ़ता है और वह बल बढ़ते तथा विद्यामदादिसे अहंभाव प्राप्त कर, न्याय अन्याय–पुण्यपापकी खोजमें वासनावृत्ति रहनेसे क्रोधवश या शान्तिके अधीन होकर आशीर्वाद या शाप देनेसे जिस वासनाका क्षय होना जरूरी था, वह बढ़ानी पड़ती है. इस प्रकार इस वासना–बंधनद्वारा भ्रष्ट होना पड़ता है, फिर जन्म लेना पड़ता है और वहाँ रहकर फिर मोक्षसिद्धिके लिए प्रयत्न करना पड़ता है. उसमें सफलता होनेपर ही परब्रह्म प्राप्त होनेवाले मार्गकी ओर फिरा जा सकता है और तब हीं मुक्ति प्राप्त होती है. पर सच्चा योगी वही है जो सारे कर्मोंका त्याग करता है. केवल अक्रिय ही योगी है और वही मोक्षको पाता है. जो कर्मबलता या कर्मफलमें आसक्त है वह योगी नहीं माना जाता. श्रीव्यासजीका वचन है कि:—

"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

भगवानके अंशावतारी व्यासके इस वचनानुसार जिन्हें परमेष्ठिपदादिप्राप्तिकी इच्छा ही नहीं तथा परब्रह्ममें जिसने आत्मार्पण किया है वही योगी है. तुम्हारे मार्गमें वह नहीं है पर उसमें कामनाएँ अनेक बसती हैं और जितना ही जितना संबंध यह जीव अपने मनसे प्रिय मानता है उतना ही उतना उसके हृदयमें शोकका कांटा चुभता है. योगसे परमेष्ठिपदादिकी प्राप्तिको जो आप प्रिय मानते हो वह यथार्थमें किसकी वासना है? सारे संसारके चरित्र देखनेकी इच्छा क्या योगीको होनी चाहिए? मोक्षमार्गमें जानेवालेको ये सब कंटकरूप ही हैं. आपके योगमार्गसे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता सही है और वह मानव व्यवहारकी उत्कृष्टता–पर्यन्त जाता है तथा उससे परम कार्य सधता है और आनंद भी होता है पर उसमें भरी हुई लोकव्यवहारको अंकुशमें रखनेवाली जो तृष्णा है वह नीचसे नीच जड़ताका भक्ष्य बनाती है. इसके सिवा यह मलिन वासना है और यही भ्रष्ट करती है तथा इससे शान्ति नहीं मिलती. इस मार्गमें जैसा आनंद है वैसा दुःख भी है. जबतक लोकवासना–देहवासना–स्वसामर्थ्यवासना–अहंकारवासनाका क्षय नहीं होता तबतक परम आनन्दके मार्गमें फिरा ही नहीं जाता, तब पहुँचनेकी तो बात ही क्या कहें? हमें सिर्फ आनन्दमार्गमें ही जाने और वहीं रहनेकी कामना

है. इस लिए तुम्हारा मार्ग उत्तम है तो अच्छी बात है पर हम तो तुमसे आज्ञा चाहते हैं. कालके कालतक जीवित रहने और जीवित रहकर वेला कुवेला (समय कुसमय) कालका भक्ष्य बननेकी जिसकी इच्छा हो और जो परम योग जाननेसे विमुख रहा हो उसीके लिए यह मार्ग कल्याणकारी होगा. यह हमारे ग्रहण करने योग्य नहीं है. जो स्थिर चित्तमें रहनेवाला योग ब्रह्मभावमें तांता थेई कर रहा हो, वही निष्काम योग अपरोक्ष साक्षात्कारमें मस्त कर अच्युत मार्गमें लेजाता है. फिर हमारी इस पयवोधिनीमें तुम्हारे मार्गसे श्रेष्ठ एक दूसरा मार्ग भी बताया है:—

> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥

"अर्थः—संतुष्ट, सतत योगी, यतात्मा, दृढ निश्चयवाला और मन तथा बुद्धि प्रभुमें ही लगादेनेवाला प्रभुका भक्त और प्रिय है.

"फिर कहा है कि 'सुकृत किये हुए लोग प्रभुको भजते हैं. ऐसे मनुष्य चार प्रकारके हैं; आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी.' इनमें तुम अर्थार्थी हो और इससे कामनायुक्त हो. पर हमें बताया गया है कि एक नित्ययुक्त और भक्त-ज्ञानी ही परमात्माको परम प्रिय है! और निष्कारण अनन्य प्रेमलक्षणा भक्तिसे एकाकार हुआ भक्त परमात्मामय ही बनता है. ऐसा भक्त परब्रह्मको बहुतही प्रिय है. इस प्रकार यह ज्ञानभक्ति-मार्ग तुम्हारे मार्गसे श्रेष्ठ है तो हम उससे नीचे मार्गमें कैसे रह सकते हैं? हम आज्ञा लेते हैं. राम राम!"

इतना कह कर सत्सायकने, जय महेश्वरकी गर्जना करके अपना संत्र आगे चलाया. इस समय भी अनेक पथिक, जिनके सिरपर अनेक थैलियाँ थीं, उन थैलियोंको फेंक कर आगे चले. पर अनेक पथिक वहीं रह गये. वे परस्पर कहने लगे कि:—"जिस योगसे सारा विश्व अपने हाथमें मालाके मनका (गुरिया) के समान फिरा करता है, और जिस योगसे चाहे जैसे दुर्गम कार्य करनेकी शक्ति आती है, उसे त्यागकर हम दूसरे विकट मार्गसे आगे क्यों बढ़ें? और व्यर्थका परिश्रम उठावें? यहाँ रहनेसे हम अनेक लोगोंका कल्याण कर सकेंगे. इससे अधिक लाभ और क्या होगा?" इस विचारसे वहां रहनेवाले जीवोंसे, सत्सायकने कहा:—

"इतनी दूर आनेपर जहाँसे कभी भी गिरनेका भय नहीं, जिसके दर्शन करलेनेपर फिर दूसरेके दर्शन करना ही नहीं पड़ते, उसे त्यागकर जहाँसे गिरने (पतन होने) का डर है, वहाँ रहनेका विचार कर, क्यों इतना श्रम यों ही जाने देते हो ? ध्यान रक्खो कि, जो अच्युत स्थान है, जो कालसे मुक्त है, और जिससे आगे कुछ भी नहीं है, उस ओर एकनिष्टा-वाले पान्थके जो पैर उठते हैं, वे किसी भी संकल्प विना ही उठते हैं. तुम यह मिथ्या संकल्प क्यों करते हो कि इस मार्गसे ऊँचे दिव्य स्थानमें जायँगे ? अंतर (अन्तःकरण) में अनुभव हुए विना, परम स्थानकी दिव्यता अन्य नहीं जान सकता. जैसे नदीके वेगमें लकड़ी चाहे जहाँ ऊँचे नीचे स्थानमें तैरकर जा पड़ती है, वैसे पामर जीव, जो अमृतके स्वादको नहीं जानते और दैवद्वारा अहंकारयुक्त उपभोगकी ओरको खिँच जाते हैं. ऐसी ही पथिको ! तुम्हारी भी गति है."

इतना कहकर उस महात्मा योगी और उसके साथवाली उस देवी–योगश्रद्धा–के विदा होकर पथिकों पर कुछ भी असर फैलनेके पहले ही उस स्थान पर लाये हुए दिव्य भोजनों–सिद्धियोंका त्याग करके, सत्साधक और उसके साथके दूसरे पथिक आगे बढ़े.

गगनस्थित विमानवासी, सत्साधककी इस दृढ़ताको देखकर चकित हो गये. उनमें राजा वरेप्सु अधिक चकित हुआ. उसे विचार हुआ:–"जिस योगसे हजारों योगी परम धाममें जा वसे हैं, वैसे योगियोंके योगमार्गका अनादर करके, सत्साधक आगे चला, इसका क्या कारण है ? और यह परमधाम, सकल दिव्य पदार्थोंसे परिपूर्ण है, यह यदि ब्रह्मधाम न हो तो फिर ब्रह्मधाम कैसा होगा," यह जाननेकी इच्छा हुई ! गुरुदेव उसका मनोभिप्राय जान गये, इससे बोले कि:–"जिस योगसे परमधाम प्राप्त होता है, वह योग वह निर्विकल्प समाधियोग है. वह सिर्फ श्रवण मननसे ही प्राप्त नहीं होता; पर जब एकाकारता–निदिध्यासन–होता है तब हीं उसका उदय होता है. जिसे सब एक ही है, जो विना सुहृद्, मित्र या शत्रुके है, जिसका किसीसे भी संबंध नहीं है, वही योगी है. वह एकान्तमें ही रहता है; अकेला ही रहता है, आत्मापर आसक्त है, चित्त तथा देह स्वाधीन किये है, आशारहित है, जिसने आवरणशक्तिको नष्ट कर दिया है, जो नित्य आत्मयोगहीका साधन करता है, वही योगी, और उसी मार्गमें

जाना ही सच्चा योगमार्ग है. आत्मामें ही आत्माका जिसने लाभ किया है, और परमात्मामें जो एकाकार है, वही योगी है. पर जो अहंकार-वश है, वासनावश है, कर्म करनेमें, सिद्धियां प्राप्त करनेमें, उनकी प्राप्तिका फल भोगनेमें और उनका उपयोग करके किसीका हित और किसीका अहित करनेमें प्रवृत्त है, वह योगी नहीं, पर मात्र तपसे कर्ममें प्रवृत्त हुआ, और मनुष्यमें ही मनुष्य बना हुआ वासनालीन जीव है. उसमें उत्तम गति है सही, पर मृत्युके जिस गड्ढेमें कीच भरा है, उसमेंसे उन्नत स्थानमें जानेकी जो वह आशा रखता है, वह निराशाजन्य हायहाय ही है. उसमें वासना बसती है. उस वासनासे मुक्त होनेके लिए विशुद्ध भावनाके विचारमें जो निमग्न रहना चाहिये, उसे वह योगी जानता ही नहीं. उसमें प्रेम है, पर वह प्रेम हलकेसे हलके और नीचसे नीच मनुष्यमें रहनेवाला जो प्रेम है, वैसा भी बन जाता है. वह प्रेम इस भोगवृत्तिका, अहंकारका ही प्रेम है! ऐसे प्रेमी और वासनावालेसे, भूल चूक होना संभव है; और इससे भूल हुई कि, जो काल इसके आसपास फिरा करता है, वह झटसे आ लिपटता है और उसे भ्रष्ट कर देता है. जो योगी है, वह ज्ञानामृतसे तृप्त और कृतकृत्य रहता है, उसे कुछ कर्तव्य नहीं—हो तो वह तत्ववित् नहीं हुआ, ऐसा श्रुतिवाक्य है. इस योगीका इतना सुभाग्य है कि अपने संस्कारके योगसे भ्रष्ट होनेके पीछे भी, जैसे कोई भी कल्याण करने-वाला दुर्गतिको नहीं पाता, वैसे वह भी नहीं पाता. वह नये जन्ममें पौर्वदेहिक बुद्धियोग पाता है और उसमें रहकर पूर्वके संस्कारके योगसे, सावधान रह, सब वासनाओंका लय करनेसे उस शब्दब्रह्म—परमात्माको प्राप्त करता है."

महात्मा वामदेव, इस प्रकार विमानवासियोंसे बातें कर ही रहे थे, इतनेमें सत्साधकका संघ आगे चला गया. इस समय कुछ पथिक बिना थैलियोंके मालूम होते थे. पर वे बहुत थोड़े थे. संघ जब अगम्नगरमेंसे निकला था, तब उसके साथ असंख्य पथिक थे, पर अब तो उसमें पांच पंद्रह जान पड़ते थे. इनमें भी कई पथिकोंके सिरपर भार था सही पर उनके चलनेकी झपटसे जान पड़ता था कि, वह भार बहुत हलका हो गया है.

इस प्रकार पथिकोंको झपाटेसे चलते देख कर चरेप्सुने गुरुदेवसे पूछा:— "देव! ये पथिक अब बड़े झपाटेसे दौड़ते हैं और उनके सिरका भार भी

कम हुआ जान पड़ता है, इसका क्या कारण है ?" गुरुदेव बोलेः–" वत्स ! अच्युतपुरमें प्रवेश करनेके लिए जीवकी वासनाका क्षय होना चाहिए. जगन्नगरमेंसे निकले हुए सब जीवोंकी वासनाका क्षय नहीं हुआ था और अपनी थैलियोंके भारके कारण उनसे जल्दी जल्दी चला भी नहीं जाता था. वासनाका भार बहुत बड़ा है और वह भार न हो तो जीवका मोक्ष ही है. वासनाक्षयके दो मार्ग हैं, एक तो सगुण उपासना और दूसरा निर्गुण उपासना. सगुण उपासनावाला सगुणोपाधिवाला रहता है, पर उसके अंतःकरणकी शुद्धि हुए विना, अच्युतपुरमें नहीं जाया जाता; पर जो निर्गुण भावनावाला है उसके पास ही अच्युतपुर है. इनमें अनेकोंके सिरपर सगुणोपाधिक थैलियां हैं; पर ये बहुत हलकी हैं. इससे झपाटेसे आगे बढ़े जाते हैं. निर्गुण भावनावाले, सत्साधक आदि तो अकेले ही चले जा रहे हैं."

इतनेमें संघ एक मुकामपर आ पहुँचा. यहाँ भी एक सुन्दर आश्रम था. बहुतसे पथिकोंको क्षुधा तृपा की कोई भी पीडा नहीं थी. वे एकान्तमें बैठ कर हरिकीर्तन करने लगे. अनेक पथिक जिनमें वासनाका कुछ अंश अब भी शेष था. भूखप्याससे पीड़ित हुए, पर उन्हें ऐसी डकार आई मानो कल्पवृक्षके समान उनकी इच्छाके विना ही, उनका पेट भर गया हो, और वे शान्त हो गये हों. दिन भरके थके हुए थे, इससे सब आराम करने लगे. सत्साधक एक स्थानमें लेट गया. उसको निद्रा, तंद्रा, भूख या प्यास कुछ भी नहीं थी. वह जाग्रतावस्थामें, पड़े हुए अनेक ब्रह्मतरंगोंमें विचरण करने लगा.

इस समय नभगामी विमान भी वहीं ठहर गया; और सत्साधक जो तरंगानुभव कर रहा था उन्हें दिव्यदृष्टिसे देख सुन रहा था. सत्साधक थोड़ी देर तक आँखें बंद कर पड़ा हुआ था कि इतनेही में वह एकाएक बोल उठाः—

" शान्ति देवी, शान्ति देवी, शान्ति सर्व व्यापी;
माया त्यागी, मुक्त हुआ वासना सर्व भागी—शान्ति०
निर्विकल्प ब्रह्म बना हूँ, बना हूँ विरागी;
अविद्यान्धकार हट्यो, देखता ज्योति जागी—शान्ति०
मैं हूँ ब्रह्म मैं हूँ स्रष्टा, कृष्णका उपासी;
सर्वव्यापी मैं रहा हूँ, निर्गुणका हूँ भागी—शान्ति०

इसके बाद वह विचारकी तरंगोंमें निमग्न हो गया. वह स्वतः बोल उठा:—"जगत् गया, वासनाका क्षय हुआ, अब मैं तेजरूपमें लीन हूँ और उसीमें लीन रहूँगा. जिसका जिसपर प्रेम है, उसमें उसका निवास. अब मुझसे कुछ लगता लिपटता नहीं है. मार्गमें आनेसे जब अहंता ममताका नाश होगया है तो अब अच्युतपुरमें ही प्रवेश होगा. विश्वव्यवस्थानुसार कल्पान्तमें चाहे जो रचना हो, पर उसमें पिण्डब्रह्माण्डैक्यके अनुभव करनेमें बाधा नहीं है. मुक्तका सुख कल्पान्तरस्थायी सुखसे भी अधिक है—उसका वर्णन कैसे हो सकता है? तो भी इस मार्गमें आनेवाले अनेक पथिक उससे कैसे दुर्भागी बने रहते हैं? यह वास्तवमें कौतुक ही है.

ममत्वकी दृढ़ता ही दुःखका कारण है.

यह मुझे निश्चयपूर्वक जान पड़ता है. किसी पुरुषने कमाकमाकर एक लाख रुपया एकत्र किया, और वह 'मेरा है' इस वासनासे, उसमेंसे किसीको एक पाई भी नहीं देता और न अपने काममें ही—लाता—उसे यह भय लगा रहता है कि वह धन जाता रहेगा या कम होजायगा, और इससे शोक होता है. पर पूर्वजन्मके संस्कारसे वैराग्य प्राप्त हुआ और वह सब त्यागकर वनमें चला गया, उस समय, 'मेरा है,' यह वासना जाती रहनेसे, वह धन कोई लूट ले जाय, खर्च कर डाले, फेंक दे, दे दे, या जल जाय, इसका उसे कुछ भी शोक नहीं होता. इस प्रकार ममत्वकी दृढ़ता ही दुःखका कारण है. पर वह ममत्व जिस मनमें होता है, उस मनका निरोध (रोकना), इस सुखकी प्राप्तिका स्थान है. जीवको सर्वथा इस ममत्वका त्याग करना आवश्यक है. पर

माने हुएमें ही ममत्व है.

जीवने जिसे अपना मान लिया है, उसमें ही ममत्व है. जगन्नगरमें मैंने देखा है कि, एक मनुष्यके पासमें तोता था. वह मर गया तो वह मनुष्य रोने लगा. एक संतने उससे पूछा कि, 'भाई! क्यों रो रहे हो?' तब वह मूढ़बुद्धि बोला कि, 'मेरा तोता मर गया! अहा! वह मेरे घरमें रहता था, मेरा अन्न खाता था, घरमें रौनक मचा देता था, वह मर गया तो क्यों न रोऊं?' संतने कहा:—'मूढ़ात्मा! तेरे घरमें बहुतेरे चूहे रहते हैं, वे तेरा ही दाना खाते हैं, रातदिन शोर मचाये रहते हैं उन पर तेरा प्रेम नहीं है और इस तोतेका शोक करता है?'

यह उचित उपदेश है. पर सत्य तो यह है कि, उस पुरुषने तोता 'मेरा है!' ऐसा मान लिया है. मेरा माननेके कारण उसकी सुन्दरता मनमें वसी है, पर चूहेकी सुन्दरता उस मनुष्यके मनमें नहीं वसी. वह 'मेरा नहीं है' ऐसा माननेसे उसे शोक नहीं होता. यह मेरा मनानेवाला मन है. इस मनको किसी भी ओर ढलने नहीं देना चाहिए, ऐसा होनेहीसे शान्ति मिलती है. मनही सबका कारण है. किसी विषयी पुरुषके पासमें आँखें बन्द कराके एक सुन्दर कुटनी स्त्रीको खड़ी करो या किसी गायन-शौकीनके पास उसके कानमें फाहा लगाकर गान करो, तो इससे उसे कुछ भी असर नहीं होता. वह आनन्दित नहीं होगा, मोहित नहीं होगा. यदि स्त्रीमें आनन्द हो तो वह पास ही खड़ी है, तो भी आनन्द क्यों नहीं है? सुख क्यों नहीं है. गायनमें आनंद हो तो, पास ही मनुष्य गा रहा है. क्यों आनन्द नहीं होता? इसपरसे जाना जाता है, कि स्त्रीमें सुख नहीं है, गायनमें सुख नहीं है, धनमें सुख नहीं है, पर जो आनंद होता है, वह मनके माने हुए ममत्व—अहंकारमें ही हमें प्रतीत होता है. यह आनंद-मोह और मनकी मानी हुई सुन्दरताहीमें है. जगन्नगरमें किसी सेठका गुमास्ता है. इसे वर्ष भरमें पांच सौका वर्षाशन (सालभरका भोजन-वेतन) मिलता है. वही सेठका कामकाज करता है. पर सेठको लाख रुपयेकी हानि होती या लाभ मिलता है तो न उसको हर्ष होता है और न शोक ही; क्योंकि उसे यह धन मेरा है, ऐसा ममत्व नहीं हुआ।

"इसी नगरमें मैंने यह भी देखा कि, एक सेठके एक लड़का था. उसके लिए उसने एक दूध पिलानेवाली रक्खी थी. लड़केके सुखके लिए धाय परहेज रखती थी. पर वह लड़का मर गया तो धायको शोक नहीं हुआ. उसने तो मनसे ऐसा मान रक्खा है कि एक लड़का गया तो दूसरा लड़का पालन करनेको मिलेगा, इससे उसको दुःख नहीं होता. सच्चा दुःख तो उसकी माताको ही उपजा था; क्योंकि उसने 'मेरा लड़का' ऐसा मान रक्खा था, और वैसा ही निश्चय भी कर लिया था. यह सब मनने मनाया है. सारा संसार वह मन ही है, तीनों लोक भी मन है, मनसे सुख, दुःख, काल और रोग है. मनसे संकल्प और मनसे जीवन है. माया, शोक, मोह, ये सब मन ही है. स्पर्श, रस, गंध, कोश, ये सब मन ही है. समुद्र पिया जा सकता है, मेरु पर्वतको जड़मूलसे उखाड़

सकते हैं, अग्निका प्राशन (भक्षण) भी किया जा सकता है पर मनका निग्रह इन सबसे कठिन है. यह निग्रह करनेवाला ही तर जाता है.

दुःखका कारण, 'मैं' और 'मेरा'

ऐसा जिसने मुझे मनाया हैं, वही है और वही वासनाको बढ़ानेवाला और ब्रह्ममार्गमेंसे गिरानेवाला है और उससे ही जगन्नगरमेंसे इस संघके साथमें आये हुए अनेक पथिक पीछे फिर रहे हैं. यदि यह 'मेरा' 'मेरा' मनमेंसे निकल जाय तो मनुष्यकी वासना क्षयको प्राप्त हो. यह मेरा मेरा मनानेवाला मनका माना हुआ ममत्व ही है. एक साहूकार व्यापारके लिए देशान्तर गया था. वहाँ वीस वर्ष हो गये, पर घर नहीं आया. कागज पत्रसे सब कुशल समाचार मिलते थे. घरमें एक पुत्र छोड़ गया था, पर वह छोटा था, उसे वैसी ही अवस्थामें छोड़कर वह साहूकार देशान्तर चला गया था. बहुत वर्ष हुए पिता घर नहीं आये, इससे वह पुत्र उससे मिलनेके लिए निकला. उधर पिता भी घर आनेको निकला. मार्गमें आते हुए किसी धर्मशालामें दोनोंका मुकाम हुआ, दोनों आमने सामने बैठे, पर एक दूसरेको नहीं पहँचानते. दैवेच्छासे उस लड़केको हैजा हुआ. इस समय, उसके साथ उसका लड़का और स्त्री थी, वह इनको उस साहूकारको सौपने लगा. उस साहूकारने कहा कि, "भाई हम कहां और तुम कहां! हमें तो कल चले जाना है, इस लिए किसी औरको सौंपो." वह साहूकार तो इतना कहकर अपनी कोठड़ीमें आकर जो रसोई बनाई थी उसे खानेको बैठ गया, और उसी क्षण इस लड़केका आत्मा उसका देह त्यागकर चला गया. पर वह सेठ ऐसा समझकर कि इस मनुष्यके मरणसे, न मुझको स्नान करना है और न सूतक है, महाप्रसाद उड़ाते बैठा ही रहा! इतनेमें उस मृतककी पत्नी विलाप कर रोने लगी कि, 'हाय! हाय! मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि श्वसुरजीसे भी भेट नहीं हुई! वे तो दूर ही रहे! नहीं तो इस लड़केकी सेवा करते. हे जगज्जीवन श्वसुरजी! अपने इस पुत्रकी सँभाल करो!' इस प्रकार जोरसे खूब रोई. इस समय उस सेठके नौकरने पूछा कि, 'तुम्हारा श्वसुर कौन है? उस स्त्रीने नाम निशान बतलाया, जिसे वह सेठ भोजन करते हुए सुन रहा था. वह झटसे उठ बैठा और सब भोजनसामग्री छोड़कर उस स्त्रीके पास आकर सब हाल पूछने लगा, जब उसे मालूम

हुआ कि मेरा ही पुत्र मरणको प्राप्त हुआ है तो, 'हा पुत्र ! हा वीर !' इस प्रकार रोते हुए मूर्छा खाकर गिर पड़ा.

इस परसे जान पड़ता है कि, जब तक 'मेरा' यह ममता नही है तब तक शोक नहीं होता, भय नहीं लगता. पर 'मेरा' माना और 'मैं' 'मैं' ऐसा अहंकार उत्पन्न हुआ कि सारी वासना आ लिपटती है. इसी प्रकार एक दूसरे सेठकी भी बातका मुझे स्मरण होता है. बहुत कुछ धन अपनी स्त्रीको सौंपकर कोई सेठ कमानेके लिए विदेशको गया था. कर्म धर्मके योगसे उसकी स्त्रीके पास पैसा जाता रहा और उसने उदरनिर्वाहके लिए भीख माँगी, जैसे वैसे दिन काटनेका समय आया और मनमें विचार करने लगा कि, घर जाकर स्त्रीको कुछ बनवाकर खुश करूँगा और उसका विरह-दु:ख शान्त करूँगा तथा अमुक वस्त्र देकर आनंद दूँगा. अब अपने घर आते समय रास्तेमें उस सेठने पड़ोसके किसी गाँवकी धर्मशालामें मुकाम किया. जिसके लाड़ प्यार करनेकी तरंगोंमें उस सेठका मन आनंदमें लहरें ले रहा था वही उसकी गृहिणी भीख माँगती हुई वहाँ आ पहुँची ! उसने बहुतेरा गिड़गिड़ाकर सिर्फ एकही पैसा माँगा कि, मैं तीन दिनोंकी भूखी हूँ, इसलिए पैसेसे लाई लेकर देहको आधार देती ! उस समय उस सेठने कि जिसने जिसने अपनी घरवालीको आनन्दित करनेके लिए अनेक विचार मनमें किये थे और कर रहा था जरा भी दया न दिखाकर नौकर द्वारा धक्का मारकर, बड़ा अपमान कर, निकलवा बाहर किया. वह स्त्री फटे पुराने कपड़े पहिरे और पेटमें पैर लगाए, रात भर धर्मशालाके बरामदेमें पड़ी रही. सबेरा होते ही, सेठके गुमास्तेने सेठानीको पहँचाना और सेठसे जाकर यह बात कही, तब सेठ तुरंत दौड़ते हुए वहाँ आया और सेठानीसे लिपट गया और रातको जो निरादर किया था, उसके लिए बड़ा दु:खित हुआ.

'इससे मालूम होता है कि जबतक 'मेरा' माना है तभी तक शोक या हर्ष होता है. यह सब मनका कारण है—इसलिए मनको मारना—निरोध करना चाहिए, जिससे ममत्व न हो सके. ममत्व होते ही हर्ष शोक होता है. इस ममत्वका नाश होते ही शोक हर्ष भी नष्ट होजाता है, और जब शोक या हर्ष, मेरा या तेरा नष्ट हो जाता है और अद्वैत ब्रह्मभाव प्राप्त होता है तो नित्यकी अपूर्व आनन्दमय स्थिति हो जाती है.

मायावश जीव.

निश्शंक, मनने ही सारा माना है, इससे मन ही बंध और मोक्षका कारण है. मनमें ही आनंद और शोक हैं; पर अन्य पदार्थमें नहीं है. यदि अन्य पदार्थमें आनन्द हो तो, विषयी पुरुषकी आँखोंमें पट्टी बाँध कर सुन्दर स्त्रीको खड़ी रक्खो, पर उसको आनन्द नहीं होता; क्योंकि आँखोंसे उसकी सुन्दरता नहीं दीखती. वह सुन्दर है या बदशकल है यह मनको मालूम नहीं होता है और मनको मालूम हुए विना आनंद नहीं होता. इसलिए मनको रोककर, इस जगतमेंसे सारी वासनाका क्षय करना ही परब्रह्मप्राप्तिका उपाय है. जैसे ईंधन विनाकी अग्नि अपने ही स्थानमें स्थिर रहती है, और कुछ उपद्रव नहीं कर सकती, वैसेही मायिक वस्तुके ऊपरके प्रेमकी वृत्तिका क्षय होनेसे, मन--चित्त अपने मुख्य स्थानमें ठहरता है।

स्वप्नमें राजाकी कंगालीका दुःख जाग्रतके राजसुखमें नहीं है; जाग्रतके राजवैभवका सुख, स्वप्नकी कंगालीमें नहीं है. उसी प्रकार ब्रह्ममें जगतका संकल्प नहीं—और जगतमें ब्रह्मानन्दका सुख भी नहीं है. प्रश्न होगा कि एकमें सब कैसे? इसपर एक बात याद आती है. कोई राजा किसी वेश्याके चंगुलमें जा फँसा था। वेश्या जैसा कहती वह वैसा ही करता. उसका राजपद वेश्याके आगे निर्जीव था. उस वेश्याके सिखावपरसे राजाने एक सच्चे अपराधीको अपराधमुक्त कर दिया। पर इसी वेश्याको राजा अपने केही समक्ष, न्यायालयमें खड़ी रखता तो वह राजाको भ्रममें नहीं डाल सकती. वेश्या, यही माया है. राजा, यह जीव है. मायावश जीव मिथ्या संकल्प कर फँसता है, पर वह मायाको लात मार कर दूर कर दे तो वह उसे कैसे फँसावे? वह कभी फँसा नहीं सकती। जिसने इस मायाका बल तोड़ दिया है, वही अच्युतपुरको जा सकता है. पर कई जीवोंकी—

ज्ञान होनेपर भी स्थिति वही.

रहती है, इसका क्या कारण है? और उसको परम शान्ति प्राप्त नहीं होती, इसका क्या कारण है? इसका कारण प्रत्यक्ष है. कोई रोगी है. वह रोज वैद्यके पास जाकर औषध लेता है. वैद्य ऐसी अच्छी दवा देता है कि, रोग दूर हो और वह सुखी हो. जो पथ्य—बताकर वह पालन

करनेका आदेश करता है, रोगी उसका पालन नहीं करता और तेल मिर्च आदि मन माना खाता है; इससे उसका रोग कैसे जा सकता है? वह नहीं जा सकता बल्कि रोग और बढ़े तो इसमें आश्चर्य नहीं है और रोग न जाय तो वैद्यका दोष नहीं है; उसी प्रकार महावाक्य–उपदेशरूप 'तत्त्वमसि'का ज्ञान प्राप्तकरके उसे ठीक ठीक जान लिया हो तो भी संसारकी विषयवासना वनी रहे तो शान्ति कैसे हो सकती है? और उसमें गुरु तथा शास्त्रका क्या दोष है ? जिसने वासनाका क्षय किया है, उसको ही महावाक्यका फल मिलता है, वह आसक्तिवालेको नहीं मिलता; छुरी मोममें पैठ जाती है पर पत्थरमें नहीं पैठती। पत्थरके समान आसक्तिसे भरे हुए चित्तवालेको कुछ भी असर नहीं होता; तो शान्ति कहाँसे हो ? पर जो निर्गुण भक्तिवाला होता है और जिसका वैराग्य दृढ़ होता है, उस जीवको उपदेश लगता है और वह स्वरूप-स्थितिको जानता है. अनेक काचमणि हैं, पर चन्द्रोदयसे चन्द्रकान्त ही द्रवने लगता है; अनेक पक्षी हैं, पर मेघाटोपसे मयूर ही प्रफुल्लित होता है; जलके अनेक फूल हैं,पर सूर्योदयसे कमल ही खिलता है; ऐसे ही लाखों जीव हैं पर अधिकारी–संस्कारी–श्रद्धावान्–आत्मामें परमात्माको देखनेवाला परब्रह्मस्वरूप जाननेका उपदेश ग्रहण कर सकता है और वही मुक्ति-मार्गपर जा सकता है.

एकही जन्ममें कैसे हो सकता है ?

पर यह महत् कार्य एकही जन्ममें कैसे हो सकता है? यह तो अनेक जन्मोंमें हो सकता है. लगे रहनेसे हो सकता है. नित्यके वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है. कोई एक राजा महापराक्रमी था. उसने विवाह किया. प्रथम समागमके समयमें उसकी रानीने कहा:—"आप तो समर्थ हैं; इस लिए ऐसा गर्भदान दें कि जिससे इस प्रथम समागमसे ही मुझे गर्भ रह जाय और पराक्रमी पुत्र पैदा हो." राजाने कहा:—"ऐसा कैसे हो सकता है? गर्भ तो समयमें ही रहता है, उसके लिए तुझको योग्य होना चाहिए." रानी बोली, तो क्या तुम पुरुषत्वहीन हो या मेरे स्त्रीत्वमें कुछ कमी है?" राजाने कहा, "ऐसा नहीं है, पर ऋतुकालमें ही गर्भधारण होता है." इसी प्रकार 'ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान तत्क्षण नहीं हो सकता. जिन्होंने वहुत समय तक परिश्रम कर भोग भोगकर मुक्त

होकर वैराग्यवृत्तिमें प्रवेश किया है और जो निष्काम हो गये हैं, आत्माको ढूँढ़ लिया है, वासनाका क्षय कर दिया है, सब कर्मको त्याग कर एक आत्मज्ञान–भक्तिहीको जाना है, जिनकी चित्तवृत्ति निर्मल हो गयी है, और जिनका कुछ अधूरा संस्कार पूर्ण हो गया है वे ही ब्रह्मकी प्राप्ति कर सकते हैं, और वे ही अच्युतपुरमें प्रवेश कर सकते हैं.

वासना–त्याग ही श्रेष्ठ है.

पर इस सब संकटका मूल वासना है. इस वासनाका त्याग करनेके लिए निर्मल और दृढ़ वैराग्य होना चाहिए. प्रिय पुत्र या स्त्रीके मरणसे, द्रव्यके हरणसे, शरीरके रोगसे या किसी और कारणसे, जगतपरकी आसक्ति न्यून होकर जगतपरका भाव उठ जाय, सबको असार समझे तो न यह दृढ़ वैराग्य है और न वासनाका क्षय ही है. पर उपदेशसे, विचारसे, शोधनसे, अनुभवसे, ऐसा निश्चय हो कि, जगत् मिथ्या है और इसके पीछे सबका त्याग करे, वही दृढ़ वासनात्याग कहा जाय. किसी मनुष्यके यहाँ दश करोड़ धन है पर उस पर सर्प बैठा है और इससे धन काममें नहीं लाया जा सकता, पर वह देख देखकर दुःखी होता है. किसीके उपदेशसे तेल आगपर रख कड़कड़ा कर उस सर्प पर डाल, सर्पको भस्म किया, इससे उसके मनको सुख हुआ, पर धनका सुख नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वयं मृत्युको प्राप्त हुआ, उसी प्रकार जगतमें रह कर दूसरेकी कामना या वासना रहे—स्वर्गलोक मिले, इन्द्रलोक मिले, ऐसी वासनाका, श्मशानवैराग्यवालेने त्याग नहीं किया, इससे उसे केवल व्यवहारके त्यागनेसे ही सुख नहीं होगा. जगतको मिथ्या जानने और वैसा ही व्यवहार करनेसे दुःखकी निवृत्ति होती है, पर अन्यलोककी प्राप्तिकी कामना होनेसे परमानंदकी प्राप्तिका सुख नहीं मिलता. ब्रह्मानंदकी प्राप्ति आत्माको जाने विना नहीं होती; आत्माको जानना, यह वासनाके क्षय विना नहीं हो सकता, वासनाका क्षय किये विना परमानंदकी प्राप्ति नहीं होती, एकाग्रता विना आत्मसुख नहीं मिलता; यह आत्मसुख एक जन्ममें नहीं, पर अनेक जन्ममें प्राप्त होता है. आज इस जीवके अनेक जन्म सार्थक होनेसे, वह अच्युतपुर जायगा और अच्युत प्रभुमें लीन हो जायगा. जय हरि !"

ऐसे ऐसे अनेक तरंगोंमें तैरता हुआ सत्साधक, कुछ समयमें शान्त हो गया.

पंचम बिन्दु—पंचम सोपान.

भक्तिमार्ग

आत्मारामापि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ श्रीमद्भागवत ।

अर्थ—आत्माराम होने और जगतकी मायाकी ग्रंथि टूटने पर भी मुनिगण, महा विक्रमवाले विभुकी निर्हेतुक भक्ति रखते हैं—हरि प्रेम भक्तिरूपही है ।

निर्मल प्रभात हुआ वनके पक्षी मधुरस्वरसे बोलने लगे । सुगंधमय पवन मंद मंद बहने लगा. अरुणोदयसे दिशाएँ रक्तवरणी दीखने लगीं. जलाशयोंमें कमल खिलने लगे. ऐसा देख कर पिछली रातका जागरण होने पर भी, प्रातःसंध्योपासनाका अमृतवत् समय निकल जायगा ऐसा विचार कर, महात्मा सत्साधक झटसे उठ बैठा; और अपनी जिह्वासे प्रातःस्मरणके निमित्त प्रभु अच्युतके मंगल नामका घोष करनेके लिए, मधुर और उच्चस्वरसे उपदेश करने लगाः—

" श्रीकेशवाच्युत मुकुंद रथांगपाणे । गोविन्द माधव जनार्दन दानवारे ॥
" नारायणामरपते त्रिजगन्निवास । जिह्वे जपेति सततं मधुराक्षराणि ॥
" अच्युताच्युत हरे परमात्मन् । रामकृष्ण पुरुषोत्तम विष्णो ॥
" वासुदेव भगवन्ननिरुद्ध । ईश्वरेति सततं जप जिह्वे ॥

अर्थ—हे जिह्वा ! तू निरन्तर हे केशव, हे अच्युत, हे मुकुंद, हे रथांगपाणि (चक्रपाणि), हे गोविन्द, हे जनार्दन, हे दानवारे, हे नारायण, हे अमरपते, हे त्रिजगन्निवास[1], ऐसे सम्बोधनपूर्वक, प्रभु भी अच्युतके नामवाले मधुर अक्षरोंका जप कर । हे जिह्वा, तू निरंतर हे अच्युत, हे हरे, हे परमात्मन्, हे राम, हे कृष्ण, हे

१ सब स्वर्ग, सारा पाताल और यह मृत्युलोकरूपी जगत इत्यादि तीनो जगत् कि जिनमें सारे विश्वका समावेश होता है, उसमें व्याप्त हुए अच्युत प्रभु.

पुरुषोत्तम, हे विष्णो, हे वासुदेव, हे अनिरुद्ध, हे ईश्वर, ऐसे प्रभु अच्युतके हेतुक नामोंका उच्चारण कर।

क्योंकि—

" अक्षरं हि परं ब्रह्म अच्युतेत्यक्षरत्रयम् ।
तस्मादुच्चरितं येन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

अर्थ—" श्री ' अच्युत ' ये तीन अक्षर साक्षात् अविनाशी परब्रह्मरूप हैं, इस लिए जो इनका (सदैव) उच्चारण करता है, वह ब्रह्मप्राप्ति (अच्युत प्राप्ति) के योग्य होता है. "

वह इतने ऊंचे स्वरसे उपदेश दे रहा था कि सोये हुए पथिकोंको भी जाग्रत करनेके सम्बोधनरूप था। अच्युतके नामसे मिली हुई इसकी अमृतमय वाणीसे पथिक तड़ाक फड़ाक उठ बैठे और शौच स्नानादिक कार्यमें प्रवृत्त होने लगे.

यहाँ अंतरिक्षमें विमानस्थ पुण्यजन समाज भी उस समय तैयार हो आसनासीन हो गया था. महात्मा सत्त्वावकका इस प्रकारका अच्युतस्मरण सुनकर महाराजा वरेप्सु, वटुकको प्रणाम करके बोले; " गुरुदेव ! सत्त्वावक अपनी जिह्वाको समर्थ अच्युत प्रभुका स्मरण करनेको सूचित करता है, तो उसमें केशव, मुकुंद, गोविन्द, कृष्ण इत्यादि नाम बोलनेको क्यों कहता है ? " वटुकने कहा; राजा ! ये केशवादिक सब नाम अच्युतके ही हैं. उनके जुदा जुदा गुणोंपरसे ऐसे ऐसे असंख्य नाम प्रसिद्ध हुए हैं. वे कृपालु प्रभु अनंत अद्भुतगुणोंके सागररूप हैं. इससे उनके अनंत नाम हैं. वे अनंत शक्तिमान् हैं. अनंतरूपी हैं. अनंत आनंदमय हैं. देखो, अब उस अनंत सामर्थ्यवान् प्रभुके मंगल नामोंकी ध्वनि करनेको पथिक तैयार हुए हैं. आज उनमें नया उत्साह और नया धैर्य भरा हुआ दीख रहा है. "

पथिकाश्रमके द्वारके पास आकर पहले सत्त्वावक खड़ा रहा और उच्च स्वरसे सारे पथिकोंको बुलाकर कहने लगा; " अच्युत मार्गियो ! आज अब हम लोगोंको नये मार्गमें प्रयाण करना है. उत्तरोत्तर अच्युतपुर अब समीप आता जाता है. अब प्रत्येक पंथीको, अच्युत मार्गके रक्षक साधन जैसे निर्मल मन, मनोनिग्रह, वासनाक्षय, दृढ वैराग्य, परमश्रद्धा, निर्गुण भावनासे पूर्ण होना होगा. इसलिए मार्गके आरंभमें हम सबको जो साधन, मार्गके अधिकारियोंको पाससे प्राप्त हुए हैं, वे प्रत्येकके पास हैं या नहीं

यह देख लो; क्योंकि विना साधनके मनुष्यको हर समय वीचमें ही अटक जाना संभव रहता है." उस महात्माकी ऐसी सूचना होते ही, प्रत्येक पथिक अपने अपने पासके सुवर्णपत्र, जो 'उनको पुरद्वारसे मिलेथे, और पथवोधिनीकी पुस्तक खोलकर, उसे वतला वतलाकर वाहर निकलने लगे. जव सव निकल गये तो वार वार अच्युत नामकी जटाध्वनि करते हुए, संघ पवित्रमार्गमें चलने लगा. उस समय सत्साधक वोला; "मेरे पुण्यवान् पथिको! तुममेंसे जिन लोगोंको देवी चित्त शुद्धिके दर्शन हुए हैं, उनको तो मैं पूरा भाग्यवान् मानता हूँ. क्योंकि उन्हें अव उनके मार्गमें ठेठ तक, उलटा सीधा समझाकर कोई नहीं फँसा सकेगा. चित्तशुद्धिके देवी प्रतापसे अव उनमें सत्यासत्य—नित्यानित्यके यथार्थ निर्णय करनेकी वुद्धि और निर्वासनापन प्राप्त हुआ है; तो भी हम सवको अभी उस छलवलिया कामदेवसे वहुत सचेत रहना है. मार्गमें अभी गुप्तरूपसे सव उसकी वनी हुई है. उसमें अधिक सचेत रहना यह है कि, वह कामदेव शायद आधी दूर हो, तो भी उसीके समान अद्भुत गुणवाली उसकी स्त्री श्रद्धादेवी, पथिकोंको वारंवार अपने सैकड़ों जाल फेककर फँसा लेती है. पर वह अभी दूर है. मैं तुरंत ही तुम्हें उन सवकी पहिचान करा दूँगा."

इतना कह कर वह फिर वोला; "यहाँ तक आनेका भारी कष्ट उठाकर भी उसके उत्तम फल स्वरूपसे होनेवाले देवी चित्त शुद्धिके दर्शन जिनको अवतक नहीं हुए, उनके लिए मुझसे वड़ा दुःख होता है. तो भी कभी कुछ विगड़ा नहीं है. इस पवित्र देवीकी प्राप्तिके लिए एक सरलसे सरल उपाय मेरे ध्यानमें है. उसका अवलंवन करनेसे अवश्य ही श्रीअच्युतप्रभुकी प्रिया देवी चित्तशुद्धि पथिकोंको प्राप्त होती हैं."

इतना कह कर वह महात्मा फिर वोला; "प्रिय पथिको! प्राणीमात्रका चित्त! अविद्याके अंधकारमें ढँका होता है, इससे उन्हें सत्य मार्ग नहीं सूझता और न सत्यासत्यका विचारही हो सकता ऐसी स्थितिमें भला अच्युतप्रभुका प्रवेश उनमें कैसे होता अच्युतप्रभु तो अंधकारसे परे हैं. यह जानना आवश्यक है, कि जीवमें जो अज्ञान भरा हुआ है. वह अज्ञान किसका है, कि जो सारे चित्तमें व्याप्त होकर उसको अशुद्ध—मलीनकर डालता है. मनुष्यप्राणी जो कुछ कर्तव्य करता है, वह सव अपने चित्तमें निश्चय करके करता है. जिस कर्तव्य कर्ममेंसे दूसरे किसी प्राणीको दुःख

होना संभव नहीं है, और न उसके किये बिना हमें छुटकारा ही है तथा जो परम्परासे चला आता और सत्पुरुषों द्वारा स्थापित किये गये मार्गसे जो कर्म उल्टा नहीं है, वैसा कर्तव्य कर्म करनेसे, करनेवालेका चित्त शुद्ध ही रहता है! पर उससे विपरीत कर्म करना, परम मार्गसे गिरा देनेवाला है.

उससे चित्तमें अंधकार (अज्ञान) पैठता है. अज्ञानीकी जो वासना है, वही अंधकार और वही पाप है! पाप अर्थात् जगतकी वासना! यही वासना प्राणीको नीचे गिराती है. इसीसे उसको नाम पातक[1] पड़ा है. ज्यों ज्यों पाप बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अंधकार बढ़ता जाता है और पवित्र चित्तको अपवित्रकर ढँकता जाता है. पाप ही गाढ़ी मलीनता है. जैसे किसी स्वच्छ आयनेमें, सामनेकी प्रत्येक वस्तुका यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है, पर ज्यों ज्यों वह मैलसे आच्छादित होता जाता है, त्यों त्यों उसमें वस्तुका प्रतिबिम्ब धुँधला पड़ता है और जब सारा आयना मैला हो जाता है तो प्रतिबिम्ब पड़ता ही नहीं; उसी प्रकार, मनुष्यके चित्तकोभी पापरूप काला मैल ढँक देता है—और वह मलीन अपवित्र होजाता है. उसको कोई सहज कारण मिलते ही तुरंत वह निम्नमार्गको दौड़ जाता और फिर असह्य दुःख सहन करता है. इस प्रकार वह पाप, प्राणीमात्रका अहित रूप है. वह ऐसा चिकना मैल है कि किसी तरह नहीं निकलता. वह सब घना अंधकार है और सारे दुःखोंका बीज है, पर जैसे कोई धातुका बर्तन अधिक मैलसे ढँककर मैला हो गया हो, और उसको पहले जैसा स्वच्छ-तेजस्वी करनेके लिए खट्टे पदार्थसे अच्छी तरह माँजना पड़ता है, तबहीं वह अमित प्रयत्नोंके अंतमें शुद्ध होता है, उसी तरह पापरूप मैलसे, मलीन हुए मनुष्यप्राणीके चित्तको शुद्ध करनेके लिए भी निष्काम कर्म करके भलीभांतिसे माँजना पड़ता है; क्योंकि काम्यकर्म तो इस समय कर्ममार्ग में जैसे हम आज तक देखते आये, उसतरह सबही उस कामदेवके कारण दूषित हो गये हैं; इससे वे चित्तको शुद्ध करनेके बदले उलटा उसको और मैला कर देते हैं. पर जिसे कामदेव दूषित न कर सके ऐसा बलिष्ट एक ही कर्म सुप्रसिद्ध है जिसको करनेसे चित्त बहुत शीघ्र शुद्ध होजाता है. इतना ही नहीं, वह कर्म यदि यथार्थ और निर्मल प्रेम—भक्ति—श्रद्धा से किया जाता है तो,

१ पातक अर्थात् गिरानेवाला; सत्यमार्ग—उत्तम मार्ग उच्चस्थितिसे जो गिरानेवाला हो वह पाप है.

देवोंके देव और सर्वेश्वरके समान अच्युत प्रभु पथिकको अच्युतपुर पहुँचनेके पहले मार्गमें ही कभी कभी आमिलते हैं. पुराकालमें ऐसी अनेक घटनाओंके होनेके अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं."

इतना कह कर वह फिर बोला; "प्रिय पथिको ! इसपरसे तुम्हें सहज ही शंका होगी कि, ऐसा कौनसा कर्म होगा कि जिसके द्वारा पथिकके सारे पाप दूर होकर, चित्त शुद्ध हो ? उसके समाधानके लिए सुनो. ऐसा सर्वोत्तम कर्म यही है कि सिर्फ प्रभु श्रीअच्युतकी शरणमें जाना चाहिए. इन समर्थकी शरण सारे पाप और समग्र शोक दुःखको दूर करनेवाली है. इसके लिए श्रीअच्युत प्रभुने स्वयं ही एकवार अपने एक प्रिय पथिकसे कहा है कि:—

" सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ "

अर्थः—"सब धर्मोंका परित्याग करके तू मुझ एक ही की शरणमें जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, शोक न कर. "

यह सुन संघका एक पथिक बोल उठा; "महाराज ! जब अच्युत प्रभुकी शरणमें जाना ही मुख्य कर्म है, तब तो इस पंथ (मार्ग) में आरूढ़ हुए सब लोग उनकी शरण ही में जा रहे हैं ! पर अच्युत प्रभुका स्थान तो अभी बहुत दूर है, अतः उनकी शरण तुरंत ही हमें कैसे प्राप्त होगी और हम सब लोग कैसे मुक्त हो सकते हैं ? "

महात्मा सत्साधक बोला; "तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया. यह सत्य है कि हम सब पथिक जबसे इस पवित्र अच्युत पथमें आरूढ़ हुए हैं, तबहीसे उस कृपालु प्रभुकी शरणमें पड़ चुके हैं. कालपुरुषके भयसे भागकर जबसे इस ओरको पैर रक्खा, तभीसे समझना चाहिए कि श्री अच्युतकी शरणको प्राप्त हो गये, और उसी समयसे हम इस बातका प्रत्यक्ष रीतिसे अनुभव भी करते आये हैं कि इस ओर को पैर रखनेवाला जीव काल पुरुषसे बहुत कुछ निर्भय हो जाता है. इस प्रकार इस मार्गमें आरूढ़ जो जीव कहीं, इधर उधर न भटक कर सीधे अच्युतपुर पहुँच गया, वह तो पार ही हो गया, वह सदाके लिए निर्भय हो गया. पर ऐसे मार्गमें सीधे सादे पहुँच-जाना कितना कठिन है यह तो हम सभी लोग देखते आये हैं. मनुष्यका शरीर इन्द्रियोंके अधीन है, इन्द्रियां मनाधीन हैं, मन नित्य अस्थिर और

पलभरमें किंवा—फैल जानेवाला है. इस लिए अन्यत्र कहीं न फैल कर यह मन जब पूरी भावनासे अच्युत प्रभुकी शरणमें जाते तभी, समझना चाहिए कि यथार्थ अच्युत शरण प्राप्त हुए हैं. इसके लिए प्रभुने स्वयं इस पवित्र पथिकसे कहा है कि—

" मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥"

अर्थः—" तू सब पदार्थोंसे अपने मनको खींच कर यदि मेरेमें मुझमें लगा, मेरी भक्ति कर, मेरा पूजन कर और मुझको नमस्कार कर, तो मैं सत्य प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ कि, तू मुझको ही आ मिलेगा, क्योंकि तू मुझे प्रिय है.

" इस प्रकार अच्युतप्रभुमें मनको लगाओ—स्थिर करो. इसके द्वारा सबसे श्रेष्ठ कर्म जो अच्युत शरण गति है, वह सिद्ध होती है. प्रभु परमात्मामें मनको स्थिर करनेके लिए उपरोक्त अच्युत मुखकी गाथामें, 'मेरी भक्ति कर, ऐसी जो आज्ञा है, वह मुख्य साधनरूप है. 'भक्तिकर' इस शब्दको समझनेके लिए 'मेरा पूजनकर' यह आज्ञा प्रभुने फिरसे की है. और 'मुझे नमस्कार कर, यह उपरोक्त दोनों आज्ञाओं—भक्तिकर और पूजन करनेका सरल उपाय बतानेवाली है. इस परसे स्पष्ट मालूम होता है कि, सारा भय, त्रास, दुःख, शोक, नाश इत्यादिसे छूटनेके लिए समर्थ प्रभु अच्युतकी शरण ही श्रेष्ठ साधन है और उसको प्राप्त करनेके लिए इन समर्थ प्रभुकी भक्ति, मुख्य उपाय है।

" भक्ति अर्थात् भजन करना, स्मरण करना, सेवन करना, अनुसरण करना. अच्युतकी भक्ति करना, अर्थात् अच्युतको भजना याने उनका अनुधावन करना, उनकी आज्ञा मानना, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना, उन्हें स्मरण करना, उनकी सेवा करना, उनके गुण गाना, उनमें दृढ निर्गुण प्रीति करना है. अच्युत भक्तिकी अनेक विधि हैं. उनमेंसे सबसे सरल और पहली विधि अच्युतस्मरण है. चित्त बारंबार प्रभु अच्युतको स्मरण करते ही का नाम अच्युतस्मरण है. अच्युतको बारंबार स्मरण करनेसे चित्त शुद्ध और उनमें प्रीति करनेवाला होता है. निर्गुण प्रीति होते ही प्रभु अच्युत इस जीवमें प्रकाशरूपसे प्रकट विराजते हैं. पर जैसा हमने आगे कह दिया है कि यह चित्त इन्द्रियोंसे क्षुब्ध होनेसे अस्थिर और मलीन है. इस लिए बारंबार प्रभुका स्मरण करेगा ? क्यों इस लिए उसको धीरे धीरे

और क्रम क्रमसे इस काममें लगाना चाहिए. चित्त जब इन्द्रियोंके साथ गुँथा हुआ और उनसे गाढ संबंध किये हो, तो उन इन्द्रियोंके द्वारा ही उसे अच्युतस्मरणका अभ्यास कराना चाहिए. हस्तपादादि कर्मेन्द्रियोंकी अपेक्षा चक्षुश्रवणादि ज्ञानेन्द्रियाँ यह कार्य अधिक अच्छा कर सकती हैं. चक्षु इन्द्रिय अच्युत प्रभुकी दिव्य मूर्ति, सृष्टिलीला इत्यादिका अवलोकन करनेके साथ ही उन कृपालुका स्मरण करावे, तो श्रवणेन्द्रिय उन सर्वेश्वरके गुण, कथा चरित्र, कीर्तन आदिको सुननेसे चित्तमें उनका स्मरण कराती है. इन दोनोंसे भी जो स्वयं ही प्रभुका स्मरण करके, चित्तको भी स्मरण कराती है, ऐसी ज्ञानेन्द्रिय तो वाचा (वाणी) है. इसेबाहरके साधनकी अपेक्षा नहीं रहती. इस लिए सबसे पहले उसीको अच्युत स्मरणका अभ्यास कराना चाहिए ! इस स्मरण भक्तिके भी अनेक भेद हैं, अच्युतके गुणोंका स्मरण, उनके चरित्रोंका स्मरण, उनके रूपोंका स्मरण, उनके नामोंका स्मरण इत्यादि. इन सबमें नामस्मरणही सबसे सरल भेद है. अनंत शक्तिमान अच्युत प्रभुके अनंत पवित्र नाम है. उनमेंसे जो जो याद हो आवे और उच्चारण करनेमें सुगम जान पड़े; उनका या उनमेंसे एकाधिक नामका उच्चारण करना नाम-स्मरण है. स्मरण करनेके लिए कौन नाम लेना चाहिए, इस बातका पहले निश्चय किये बिना, प्रभुके अनंत नाम होने और उन नामोंको स्वतः न जान-नेके कारण, स्मरण करनेवाला पथिक, इसका स्मरण करूँ, या उसका स्मरण करूं ऐसी गड़बड़से भुलावेमें न पड़े इसके लिए, जो महानुभाव पहले इस मार्गसे होकर प्रभु अच्युतकी शरणमें पहुँच गये हैं और उन समर्थ प्रभुके प्यारे हो चुके हैं पवित्र पथिकोंने दूसरे पीछे रहनेवाले सब पथिकोंके लिए अच्छे अच्छे नियम बना दिये हैं. पहले तो जगत्पुरमें अज्ञानके अँधेरेमें पडे रहकर, अंतमें कालपुरुषके मुखमें जापड़नेवाले मनुष्यप्राणीको उस अज्ञानमेंसे जाग्रत कर, वहाँसे समयानुकूल भगाकर, इस निर्भय पथमें आरूढ़ करानेवाला जो सत्पुरुष है, वही इस प्राणीका तारनेवाला माना जाता है. इस लिए इस पथिकको उसीकी शरणमें जाना चाहिए, उसीके उपदेश मानने चाहिए उसीकी आज्ञा माननी चाहिए और अनन्यभावसे उसीकी सेवा करनी चाहिए. अभयमार्ग कल्याणमार्गमें आरूढ़ होनेसे वह इसका गुरु है; इस प्रकार उसका अनुसरण करनेसे वह इसको मार्गमें आनेवाले अनेक संकटोंके मुखमेंसे मुक्त करता है, भुलावे और विडंबनाओंमेंसे बचाता है,

और मार्गमें साथ रहकर देखते हुए सकल साधनोंकी योजना करता है. अच्युत शरण प्राप्तिका सरल साधनरूप जो अच्युत नामस्मरण है, उसकी भी कठिनाई दूरकरके वह सरल उपदेश करता है. ऐसे पवित्र गुरुदेवकी मैंने स्वतः भी हो सकने योग्य सेवा की है; और उनकी कृपासे मुझे सर्वोत्कृष्ट-मार्गके सारे सिद्धान्त प्राप्त हुए हैं. "

यह सुनकर सब पथिक एक साथ बोले; "कृपानाथ ! तो जैसे पवित्र गुरुका अनुग्रह आपको प्राप्त हुआ है, वैसेही पवित्र गुरुदेव हम सबको आप मिले हैं, तो हमें भी अब इस मार्गमें कौनसी कमी रहेगी ? हम सब आपकी शरणमें हैं, आपके भक्त हैं, आपके अनुयायी हैं और आपके आज्ञा पालक हैं; इस लिए हम पर कृपा कर, अच्युत नामस्मरणका निश्चयपूर्वक सरल उपदेश कीजिए आपही हमारे तारनेवाले हैं और आपही काल पुरुषके नाशकारक पाशमेंसे मुक्त कर हमें अभयपदके दाता भी हैं। हम पुनः प्रार्थना करते हैं कि, हम तो आपकी शरणमें हैं. आपकी कृपासे ही हम पापियोंको सर्वथा अलभ्य समर्थ अच्युत प्रभुको सुखप्रद शरण प्राप्त होगी." इस प्रकारसे प्रार्थनाकर वे सब पथिक तत्काल महात्मा सत्साधकके चरणोंमें गिर पड़े और वारंवार चरण रजकी वंदना करने लगे. तब वह दयालु महात्मा बोला; "ब्रह्मपदके जिज्ञासुओं अपने निर्माण किये हुए इस ब्रह्म-मार्गपर समर्थ अच्युत परब्रह्मकी, कितनी प्रीति है, और इस मार्गके अनुयायों पर कितनी वड़ी कृपा है उसे प्रकट करनेको, वे कृपालु, वारंवार अपने इस मार्गके भेद स्पष्टकरने और मार्गके पथिकोंको उनके सफल साधन प्रकट कर देनेके लिए, किसी प्रीतिपात्र पथिकमें, अपनी अद्भुत ज्ञानशक्ति प्रेरण करते हैं, या किसी समय स्वयं ही पथिक रूप धर कर दूसरे अज्ञ पथिकोंके अग्रणी बन इस मार्ग पर विचरते हैं. पहले ऐसा कई बार हुआ है और अच्युतके प्रीतिपात्र पथिकोंने उनकी प्रेरणा की गई ज्ञानशक्तिके द्वारा स्मरण भक्तिके लिए अनेक साधन प्रकट किये हैं. उन्होंने अच्युतके अनंत नामोंमेंसे उत्तमोत्तम सहस्र नाम एकत्र कर, उनका एक साथ पाठ होसकनेके लिए स्तोत्र रच दिया है; और उसमेंसे भी अत्यंत विख्यात अनेक नाम चुनकर, शतनामस्तोत्र, तथा उससे भी छोटा मुख्य मुख्य नामोका संक्षिप्त स्तोत्र, पथिकोंको अहर्निश स्मरण करनेके लिए एकत्र किया है. फिर उससे भी सरल किसी एक नाम

पर ही अभ्यास रखनेकी सूचना की है. वैसा एक नाम भी संक्षिप्त, थोड़े अक्षरवाला, बोलनेमें सरल, अद्भुत और गूढ़ अर्थ—सामर्थ्यवाला हो तो उसको श्रेष्ठ गिना है. इसके सिवा स्मरण करनेवाला कभी न भूले और उसकी लगन निरन्तर लगी रहनेके लिए, प्रभुके नामके साथमें 'मैं उस–अच्युतकी शरणमें हूँ' ऐसे अर्थवाला पद जोड़ दिया है। ऐसा नाम सबसे उत्कृष्ट माना जाता है. यह परम पावन करनेवाला मंत्र है. इसका स्मरण करनेसे पथिकके मनमें सदा ऐसी भावना रहती है कि "मैं प्रभु अच्युतकी शरणमें हूँ," इस प्रकार यह स्मरणशक्ति साधनेके लिये एक ही अर्थके अनेकप्रकारके साधन हैं. उनमेंसे अपनी अपनी रुचि, प्रीति और स्मरणशक्तिके प्रमाणसे, पथिक ग्रहण करते हैं. इस स्मरणका हेतु ऐसा है कि, जैसे अविवेकी विषयोंसे कभी न हटनेवाली जो प्रीति है वैसी ही प्रीति तुममें रहे और तुम्हारा स्मरण—ध्यान मेरे हृदयमेंसे क्षण-भर भी दूर न हो—सदा तुममें प्रीति रहे, अथवा पथिकके चित्तमें ऐसी दृढ़ निष्ठा बँधनी चाहिए कि 'मैं प्रभु अच्युतकी शरणमें हूँ' उनके बिना सब झूठा है'. इस लिए यह नामस्मरण सतत–अहर्निशि–सदाकाल होते ही रहना चाहिए. इस विषयमें इस पथबोधिनीमें स्वतः प्रभु अच्युतकी ही पवित्र आज्ञा है कि; "मुझमें मन बुद्धि अर्पितकरनेसे तू निःसंदेह मुझको ही आमिलेगा, इस लिए (मन बुद्धि मुझमें स्थिर करने के लिए) नित्य मेरा स्मरण कर. क्योंकि जो अनन्यचित्तसे सदा सर्वदा मेरा स्मरण करता है, उस निरंतर समाधानवाले योगी अर्थात् पथिकको मेरी प्राप्ति होना बहुत सरल है. इस लिए हे पथिको! यह अच्युत नामस्मरणरूप साधन, सब साधनोंसे श्रेष्ठ है और सब साधनोंसे सुलभ है, तो फिर उसको सा-धनेके लिए विलम्ब क्यों करना चाहिए? चलो, शीघ्रता करो, आगे के विश्राममें मैं तुम्हें अपने सद्गुरुपरंपरासे* प्राप्त हुए भगवान् अच्युतके, समस्त पापोंका नाश करनेवाले परम पावन नामोंका उपदेश करूँगा."

---

*सद्गुरुपरंपरासे अर्थात् अपने सद्गुरुसे जो विधिपूर्वक उपदेश मिला है और उन गुरुजीको उनके गुरुसे मिला है और उन गुरुजीको उनके गुरुसे मिला है, इस प्रकार उत्तरोत्तर सबके गुरु अच्युत परब्रह्मके मुख्य प्रत्यक्ष सेवकसे उत्पन्न हुआ नाममंत्र, अनु-क्रमसे उतरता हुआ, अपने गुरुको प्राप्त हुआ हो, उनके पाससे उनकी सेवा स्वागतद्वारा उन्हें प्रसन्न कर जो मंत्र प्राप्त किया जावे वह मंत्र सद्गुरु परंपरासे प्राप्त हुआ कहलाता है.

यह सुन संघ, उस महात्माके पीछे आनन्दित होकर चलने लगा. इस हर्ष और उमंगमें थोड़ी ही देरमें वे बहुत दूर निकल गये. थोड़ी देरमें मार्ग पर एक अत्यंत रमणीक स्थान आया. अनेक प्रकारके सुवृक्ष फल फूल आदि समृद्धिसे गर्विष्ठ हो, शान्त पवनकी लहरों की मानो उपेक्षा करते हुए मंद मंद हिल रहे थे. उनसे होकर आनेवाला वायु अनेक प्रकार की सुगंधवाला होनेसे वहु सुखकर लगता था. तीसरापहर (मध्याह्न) भी होने लगा. इससे ऐसी सुखमय भूमि देखकर, पथिकोंको बहुत आनंद हुआ. यह अमराई, मार्गपर और उसके आसपास बड़े विस्तारमें थी. उसमें होकर कुछ देर तक चलते रहनेपर उनको एक आह्लादक पवित्र सरिताके दर्शन हुए। मार्गकी पश्चिम दिशाके दूरस्थ सुन्दर पर्वतसे उतरकर, पवित्र अच्युत मार्गको अपने पावन और मोती जैसे स्वच्छ जलसे विशेष पवित्र और सुशोभित करती हुई वह नदी सूर्यकी ओर प्रवाहित हो रहीथी। उसके उत्तर तटपर एक सुन्दर पथिकाश्रम बना था। नदीके दोनों तट, उत्तमोत्तम वृक्षघटा (अमराई) से और अपने खिले हुए विचित्र कमलपुष्पोंसे आच्छादित थे।

तट पर आतेही आनंद प्राप्त सब पथिकोंको महात्मा सत्साधकने, उस पुण्यरूप जलमें स्नान करनेकी आज्ञा दी. स्नानकर शुद्ध होकर वे जलमें पूर्वाभिमुख (पूर्वकी ओर मुँह करके) कृतांजलिपूर्वक[1] खड़े रहे, तब वह महात्मा तटपर ऊंचे स्थानमें उत्तराभिमुख खड़े होकर, उच्चस्वर किन्तु मिष्टवाणीसे, प्रभु अच्युतको प्रणाम कर बोला; "पथिको! अ अक्षर नकार वाचक है, इस लिए अ अर्थात् नहीं, और च्युत अर्थात् पतन—विनाश—जिसका वह अच्युत अर्थात् जिसकी शरणमें जानेसे जानेवालोंका पतन–पीछे गिरना आवागमन (जन्म मरण) नहीं होता है वही अच्युत है! जो सदा सर्वदा अविनाशी है, स्वतंत्र है और जिसके शरणागत—भक्तों—सेवकोंको—भी फिर इस दुःखरूप संसार अर्थात् कालके भक्ष्यरूप जगत्पुरमें कभी आना नहीं पड़ता, वही अपना प्रभु अच्युत नामसे जाना

वही यथार्थ फलदेनेवाला होता है. सद्गुरुपरंपरा बिना चाहे जहाँसे—अधिकार बिनाके मनुष्यसे यद्यपि वही मंत्र प्राप्त हुआ हो, तो भी वह वैसा फलदायी नहीं होता. इस लिए अधिकारी जीवको सद्गुरुकी शरण जाना आवश्यक है.

१ हाथ जोड़कर.

जाता है। उसकी शक्ति अनंत है, वह अनंत गुणोंका सागर है, उसके अनंत रूप हैं और इसीसे उन उन रूप गुणोंके अनुसार उसके नाम भी अनंत हैं। जैसे एकही मनुष्य अनेक व्यवहारिक कार्योंमें योग देनेसे उन कार्योंके व्यवहारको देखकर उसके अनेक नाम रखता है, इसी प्रकार प्रभु अच्युतके नामोंके लिए समझना चाहिए. उसके अनंत रूप गुणोंपरसे समस्त वेद, उपनिषद, शास्त्र और पुराणादिकोंने उसको अनंत नामोंसे गाया था. उन नामोंमेंसे उत्तमोत्तम गुणोंद्वारा ग्रथित (संयुक्त) वारंवार स्मरण करने योग्य नामोंका समूह उद्धृत[1] कर उसके अनेक स्तोत्र बनाये गये हैं. उनमेंसे एक छोटा स्तोत्र तुम्हारे नित्य स्मरण करनेके लिए मैं तुमको सुनाता हूँ, उसे तुम सब लोग सावधान होकर सुनोः—

अच्युत केशव माधव मोहन, ईशहरे।
श्री पुरुषोत्तम हरि जगदीश्वर, जपजिह्वे ॥ १ ॥
सर्वेश्वर नारायण वामन, ईशहरे।
भक्तसखा जनपाल सुरेश्वर, जपजिह्वे ॥ २ ॥
लीलाधर भूधर गिरिवरधर, ईशहरे।
श्रीगोपाल प्रणतपातकहर, जपजिह्वे ॥ ३ ॥
अवतारिन् आनंदरूप शिव, ईशहरे।
रामकृष्ण गोविन्द गदाधर, जपजिह्वे ॥ ४ ॥
कालान्तक शरणागतवत्सल, ईशहरे।
एक अखंड अनामय शंकर, जपजिह्वे ॥ ५ ॥
विश्वेश्वर विश्व पिता विश्वंभर, ईशहरे।
व्यापक विष्णु महायोगीश्वर, जपजिह्वे ॥ ६ ॥
देव दयानिधि दुःखदुरितहर, ईशहरे।
दीनबंधु दयानिधि दामोदर, जपजिह्वे ॥ ७ ॥
धर्मसहाय विधर्मविनाशक, ईशहरे।
ध्यानगम्य धरणीश धराधर, जपजिह्वे ॥ ८ ॥
नारसिंह नरकांतक नरवर, ईशहरे।
नटवर नाथ जगन्नाटकधर, जपजिह्वे ॥ ९ ॥
परब्रह्म परिपूर्ण परात्पर, ईशहरे।
पुण्यश्लोक प्रभु परमेश्वर, जपजिह्वे ॥ १० ॥

---

१ चुनकर.

प्राणनाथ पुंडरीकाक्ष जय, ईशाहरे ।
पद्मनाभ पावन पीताम्बर, जपजिह्वे ॥ ११ ॥
फणिधरशायि फणधरमर्दन, ईशाहरे ।
बलिमर्दन बलभद्र बलानुज, जपजिह्वे ॥ १२ ॥
भवनाशन भगवान् भक्तपति, ईशाहरे ।
भावरूप भयहारक भूधर, जपजिह्वे ॥ १३ ॥
माय्यापति मधुसूदन मुकुंद, ईशाहरे ।
मत्स्यादिक तनुधारि महीधर, जपजिह्वे ॥ १४ ॥
मुरलीधारि मुरारि मुक्तिपति, ईशाहरे ।
यादवेन्द्र यशोनिधि यज्ञेश्वर, जपजिह्वे ॥ १५ ॥
राघव रतिवरतात रमापति, ईशाहरे ।
लोकनाथ लक्ष्मीवर विठ्ठल, जपजिह्वे ॥ १६ ॥
वासुदेव वैकुंठ वेदमय, ईशाहरे ।
श्रीधर सागर शयन चक्रधर, जपजिह्वे ॥ १७ ॥
त्रिभुवनतात अनंत तिमिरहर, ईशाहरे ।
स्वयंप्रकाश अनादि आदि विभु, जपजिह्वे ॥ १८ ॥
इति अच्युतपदपति नामस्तव शुभकारी ।
शुद्धभाव सह पठत निरंतर भवहारी ॥ १९ ॥
पाप समूल विनाशक शुद्धिप्रदं त्रितम् ।
श्रीअच्युतपददर्शनदायक परमहितम् ॥ २० ॥ *

महात्मा सत्साधक फिर बोला, "कोई जीव यह सब स्तोत्र याद न रख सके तो इससे भी बहुत छोटा अच्युत नामाष्टक है उसे सुनो. यह निरन्तर जिह्वाग्रमें रह सकता है.

"अच्युतः केशवो विष्णुर्हरिः सत्यं जनार्दनः ।
हंसो नारायणश्चैवमेतन्नामाष्टकं शुभम् ॥"

"इसमें मंगल (शुभ) रूप प्रभुके आठही नाम हैं—अच्युत, केशव, विष्णु, हरि, सत्य, जनार्दन, हंस और नारायण. फिर इससे भी अत्यंत सुगम एकही नामका अभ्यास रखनेवालेके लिए नारायण, जनार्दन, अच्युत, गोविन्द, केशव इत्यादिमेंसे चाहे जो एक और इससे भी संक्षिप्त और ह्रस्वाक्षरवाले नाम, राम, कृष्ण, विष्णु, हरि, हर, शिव इत्यादिमेंसे चाहे जो एक ह्रस्वाक्षरवाला संक्षिप्त नाम, चाहे जिस समय पथिक

* प्राचीन.

विना परिश्रम अचूकपनेसे निरंतर जप सकता है और अच्छी तरहसे उसका अभ्यास होनेसे, किसी समय एकान्तमें उस जपनेवालेका चित्त ऐसा ध्यानस्थ होजाता है कि जिससे उसको इस बातका भी स्मरण नहीं रहता कि " मैं स्वयं कौन हूँ और कहां हूं "—वह केवल अभेदताका अनुभव करता है और ऐसे अच्युतानंदका लाभ लेता है कि वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती. इस प्रकार अपनत्वकी अत्यंत विस्मृत होते ही एक नूतन वासना पैदा होती है—वह सर्वत्र ब्रह्मको ही देखता रहता है और उसके देखनेको ही मथन करता है. उसका लौकिक मन मृतप्राय होजाता है और दूसरा अलौकिक मन उत्पन्न होता है वह उन्मत्तकी तरह सर्वत्र विचरता करता है नूतन वासनाके जन्मसे वह दिगंबर (नग्न), साम्बर (कपड़े सहित) या चिदम्बर (ज्ञानरूपी वस्त्र) रहता है. पर उसे जगतकी किसी भी प्रकार की वासना नहीं रहती. तो भी उसमें एक नूतन वासना उत्पन्न होती है और उसीमें वह जीवन्मुक्तदशाका अनुभव करता है. यद्यपि जीवन्मुक्तों की जो ऐसी वासना है वह वासना नहीं, पर यह तो शुद्ध, सत्य नामकी सामान्य सत्ता है और उस स्थितिमें अद्वैत साक्षात्कारका अनुभव करता है—यही सर्वेश्वर अच्युत प्रभुका साक्षात्कार ! ऐसा होने पर फिर क्या रहता है ? सर्वोत्कृष्ट अलभ्यलाभ मिलनेमें क्या शेष रहता है ? जो अलभ्य लाभ प्राप्त होने पर, उससे बढ़कर दूसरा कुछ भी अधिक लाभ नहीं रहजाता वही विधिपूर्वक प्राप्त किया हुआ गुप्त मंत्र. गुरुके बताये हुए विधानके साथ बड़े परिश्रमसे साधकर, बहुत समयतक सिद्ध किया हो, तो वह मंत्र अपना योग्य अवसर आतेही, नियोजित करनेपर अत्यंत अद्भुतरीतिसे शीघ्र कार्य कर देता है और वासनायुक्त जीव, मुक्त हो जाता है.

"प्रिय पथिको ! अपना मुख्य कर्तव्य क्या है ? भगवच्छरणमें लीन होना ही न. पर यह कब होय जब अपना चित्त शुद्ध निर्मल होकर, जगतकी सारी वासनाका क्षय करके, उसके चरणमें दृढतासे प्रीति करे. पर जगत्पुरमें अनेकवार जन्म लेकर जो असंख्य पाप किये हैं उनसे चित्त लिप्त होनेसे, महा मलीन है. उसकी वह दृढ मलीनता दूर करनेको, प्रभु अच्युतका स्मरण ही अत्यंत चमत्कारपूर्ण औषध है. उस औषधको दयाकर देनेवाला सद्गुरु ही कृपालु वैद्य है. अच्युत नामस्मरणरूप औषधमें पापरूप मलको जला देनेका जितना सामर्थ्य है उतना दूसरे किसी भी प्रयोग या साधनमें नहीं है.

" अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथाऽनलः ॥

अर्थः—जाने या बिना जाने भी यदि उत्तमश्लोक भगवान् अच्युतका नाम संकीर्तन किया जाता है तो वह कीर्तन करनेवाले प्राणीके सारे पाप वैसे ही जला देता है जैसे इंधनके ढेरको अग्नि जला देती है. "

" इन उत्तमश्लोकके गुणोंका स्मरण करानेवाले नामोंका उच्चारण करनेसे, पापी मनुष्य जैसा शुद्ध—पवित्र हो जाता है वैसा, कर्ममार्गमें हम लोग जैसे देखते आये हैं वैसे, तप, व्रत, यज्ञ, योगसाधनादि अनेक साधनरूप बहुतसा प्रायश्चित करनेसे भी शुद्ध नहीं होता है. वैसे प्रायश्चित्त अत्यंत शोधक अर्थात् पापमूलक अविद्याका समूल नाश कर अंतःकरणको अत्यंत स्वच्छ करनेवाले नहीं होते. एकवार प्रायश्चित्त करके अंतःकरणको धोया-जाय, पर कुछ समयके पीछे वह फिर उस *असन्मार्गमें जावे तो वह ज्योंका त्यों हो जाता है. पर अच्युतके गुणोंका † स्मारक नाम उन पापोंहीको धोता है सो नहीं; पर वहाँसे आरंभ कर अन्तःकरणको शीघ्र अच्छे मार्गमें फिराता है और जब तक पाप नहीं धुलता तबतक चित्त अच्छे मार्गकी ओर फिरता भी नहीं. परब्रह्मका यह पवित्र नाम जानबूझकर तो क्या, पर केवल किसी प्रकारके संकेतसे—अर्थात् यदि किसी मनुष्यका वैसा नाम हो तो उसको बुलानेके लिए उस नामको लेनेसे—परिहाससे—हास्यभावसे किसीकी चुगली करनेके लिए या ठठ्ठासे भी यदि लिया जाय, तो वह अशेष पापको हरण करनेवाला है, ऐसा तत्त्वोंका रहस्य जाननेवालोंका विश्वास है‡.

" अविनाशी परमात्माका यह नाममात्र, सब पापों ही को नाश करता है सो बात नहीं है, वह सारे ताप—दुःखका भी नाश करता है. इस नामके स्मरणमात्रसे जो पुण्य होता है, वह तीनों लोकमें दूसरे सब पुण्य कर्मोंसे बड़ा है. सार बात यह कि—भगवान् अच्युतके नामस्मरणका पुण्य गंगादि सब तीर्थोंद्वारा होनेवाले पुण्यसे भी बड़ा है, सारे वेदाध्ययनके पुण्यसे भी बड़ा है, अश्वमेधादि यज्ञोंके पुण्यसे भी बड़ा है; इस देहको त्याग कर परलोकमें गमन करते हुए प्राणात्माको, मोक्षधाम—अच्युतपुरके मार्गमें लेजानेवाले पथप्रदर्शकके समान है; इस संसाररूप महाव्याधिका औषधरूप

---

* असन्मार्गमें—बुरे रास्ते; उल्टे रास्ते, पापमार्गमें † स्मरण करानेवाला ‡ पंचदशी. और श्रीमद् भागवतमें अजामिलका चरित्र देखो.

है और समस्त दुःख क्लेशोंका नाश करनेवाला है; और कृपालुके अनंत नामोंमेंसे इस छोटे और ह्रस्वाक्षरवाले—ह और रि हरि—इन दो अक्षरोंका ही नाम, जिहाने सतत लिया हो तो भी वह पर्याप्त है. जैसे अनिच्छासे भी स्पर्शकरनेवालेको अग्नि अपने स्वभावसे ही जला देती है, वैसे 'हरि' उच्चारणका स्वभाव ही पापोंका हरण करता है. उसको चाहे जैसे दुष्टात्माने स्मरण किया हो वह उसके पापोंका हरण ही करता है. इस पवित्र पुरुषका नाम इतना पवित्र है और इतना सरल—सुभीतेवाला है, कि उसके भजनेवाले स्मरणकरनेवालेको उसके भजनके स्थान, समय और स्थितिका कुछ भी नियम रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा कुछ भी नियम नहीं है कि वह किसी विशेष स्थान, समय और स्थितिमें ही हो तभी उसका स्मरण किया जा सकता है. यज्ञकर्म करना हो तो उसमें समयका नियम अवश्य है; दान कर्म, स्थानकर्म और दूसरे उत्तम जपादिक सत्कर्म करनेके लिए, समयादिका नियम है—वे कर्म तो शास्त्र में उल्लिखित समयमें हो सकते हैं. पर भगवान् अच्युतके नाम संकीर्तनके लिए वैसा कोई नियम नहीं है. उसे तो चाहे तब और चाहे जैसी स्थितिमें भी भज सकते हैं चलते हुए, खड़े रहना, लेटे हुए, खाते, पीते, उठते, बैठते भी यदि हरि हरि अच्युत प्रभु, कृष्ण ऐसा नामोच्चार करे तो वह प्राणी, पापोंसे मुक्त होजाता है

"इसका कारण यह है कि, पवित्र प्रभुका यह नाम स्वतः ही परम पावन और महापापीको भी पवित्र करनेवाला है. इस लिए चाहे अपवित्र हो, पवित्र हो, या चाहे जैसी अवस्थामें हो, पर जो मनुष्य इन वासुदेव अच्युतका स्मरण करता है; वह अपने शरीरके बाहरसे और भीतरसे अंतःकरणमेंसे—भी शुद्ध—पवित्र बनता है. हे प्रिय पथिको ! ऐसी सर्वोत्तम अच्युत शरण प्राप्तिका साधन, अच्युतनामस्मरण है, इस लिए तुम सब आलस्य त्यागकर, उस प्रभुमें प्रेमभावसे दृढ़तापूर्वक मनको लगाओ, निरन्तर उनका स्मरण करो, भली भाँति सावधान होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक अपनी जिह्वेन्द्रियको उन्हींके स्मरण अभ्यासमें लगाओ. जिससे वह उनका स्मरण नित्यही किया करे. अभ्यास हो जानेसे चाहे जिस समय चाहे जैसी अवस्थामें भी वह उनका स्मरण करती ही रहेगी ऐसा करते करते, उसका संस्कार बिलकुल अन्तःकरणमें पहुँच जायगा, और अंतरमें उसकी लाभ—लगन लगेगी तथा अंतःकरण उसमें लय—लीन हो.

जायगा। ऐसा हुआ कि बस। फिर क्या चाहिए ? फिर तो प्रभु अच्युत पासमें ही है। वे तुरंत पार लगा देंगे। इस लम्बे मार्गमें चलनेका परिश्रम तक छुड़ाकर कदाचित् एकदम अपने पवित्रधाम—अच्युतपुरमें ले जायँगे। इस लिए, प्रमाद और आलसको छोड़कर, तैयार हो जाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मंगलकर्ता प्रभु तुमपर प्रसन्न हों।"

इस तरहका अत्युत्तम उपदेश सुनकर, सब पथिक बड़ेही हर्षित हुए और स्तोत्रमेंसे अपनी अपनी रुचिके अनुसार हर एकने सतत स्मरण करनेके लिए प्रभुका एक एक नाम, उस महात्मासे, बार बार स्पष्टरीतिसे, पृथक् पृथक् सुन लिया। सत्साधककी आज्ञासे प्रभु अच्युतकी जयगर्जना कर, उन कृपालुको प्रणाम कर सब पथिक जलसे बाहर निकले।

फिर उस महात्मा गुरुने सबको इस पवित्र सरिताके तटमेंसे, थोड़ी थोड़ी सुन्दर श्वेत मृत्तिका लेने, और उसको जलमें घोलकर, उसके द्वारा अपने अपने ललाट, कंठ, बाहु, हृदय इत्यादि स्थानोंपर, ऊर्ध्वपुंड्र—त्रिपुंड्र आदि, जिनकी जैसी इच्छा थी, वह करनेकी आज्ञा दी। फिर सत्साधक बोला; "अच्युत प्रभुके पवित्र मंत्रका उच्चारण करके सब लोग ऊर्ध्वपुंड्र करो। यह ऊर्ध्वपुंड्र उच्चस्थानके निवासीका बोध करता है, अर्थात् अपने प्रभु अच्युत, सबके ईश्वर होनेसे, वे सबसे उच्च स्थानमें विराजते हैं। उनसे ऊँचे कोई भी नहीं, वे ही सबके ऊपर हैं, ऐसा यह ऊर्ध्वपुंड्र सूचित करता है। फिर, ऊर्ध्वपुंड्र अपने उच्च मार्गका भी बोध करता है, कि अपना मार्ग सबसे ऊँचा है और उच्च स्थानको जाना है—वहांसे नीचे—जगत्पुरमें या नरकादि स्थानमें पतन नहीं होता. तीसरे, यह ऊर्ध्वपुंड्र हम लोगोंको तत्पर—जाग्रत सचेत रहनेकी सूचना देता है. बैठे या लेटे हुए अर्थात् आलसी, प्रमादी, असावधान और भक्तिश्रद्धा रहित पथिकसे इस मार्गमें नहीं चला जा सकता—असावधान पथिकको तो कालादिक शत्रु देखते देखते फँसादेते हैं. चौथे, ऊर्ध्वपुंड्र यह सूचित करता है कि अपना मार्ग सरल सीधा, और दोनों ओरसे मर्यादा बद्ध होकर सुरक्षित है और सरल स्वभावसे रह कर, पहले होजानेवाले महात्मा पथिकोंको बाँधी हुई मर्यादाका उल्लंघन न कर, जो सीधे सादे चला जाता है, वह पथिक सुखसे अच्युतपुर पहुँच जाता है. पाँचवें, ऊर्ध्वपुंड्र करते समय, अच्युतनामोच्चारण करना, यह सूचित करता है कि, यह अच्युत मार्ग सरल सावधानतापूर्वक विचरने योग्य और उच्चपदमें ले जानेवाला

है, इसमें विचार करनेवाले पथिकको सबसे अधिक सुरक्षित रखनेवाला पुण्यश्लोक प्रभुका यह नामोच्चाररूप महामंत्र है, इस लिए पथिकोंको सबसे अत्यावश्यक इस अद्वैत परब्रह्मके स्मरणके महामंत्रका सतत जाप करते रहना चाहिए. त्रिपुंड्र, परमात्माकी तीनों कालकी, तीनों कार्यकी, परम अद्भुत शक्ति प्रदर्शित करता है. यह महामंत्र, जापककी कायाका कवच-वख्तर है, मनका मल धोनेवाला क्षार है, पापसमूहकी प्रलयाग्नि है, चित्तकी शुद्धिका सरल साधन है, मुक्तिमार्गका मूल है, अच्युतपथका सेतु है, सकल कल्याणका निधान है, सारे दोषोंका शोषण करनेवाला है, पवित्रसे भी पवित्र है, मंगलसे भी मंगल है, भवरोगका औषध है, जीवका जतन है, जीभका अमृत है, संसार सिन्धुकी तरणि-नाव है. इस मंत्रका जप करना, मनकी सबसे सुन्दर कृति है और अंतमें इससे निश्चय पूर्वक श्रीहरिचरणकी शरण प्राप्त होती है. इसलिए हे प्रिय पथिको! इस समयसे आरंभकर अब तुम सब, अपने प्राप्त हुए अच्युतनामरूप महामंत्रका सदाकाल जप करना और जब जब हृदय शुद्ध हो तब तब अच्युत शरणागतके इस चिह्नको धारण करना लो अब चलो, समय हो गया है, इस लिए उस पार जाकर मुकाम करें. " ऐसी आज्ञा होते ही, सब पथिक तैयार हो गये, और बारंबार आनन्दपूर्वक अच्युतेश्वरकी जय गर्जना सहित, इस पवित्र सरिताको पारकर दूसरे तट पर स्थित रम्य पथिकाश्रममें जाकर, मध्याह्न बितानेके लिए उतर पड़े.

अच्युतपुरद्वारका झांकी दर्शन—स्मरण समाधि

अद्भुत विमानमें बैठे हुए पुण्यात्मा, नीचे अच्युत मार्गपर होनेवाली सब क्रिया इत्थंभूत (आदिसे अंत तक) देख रहे थे. इन्होंने भी पथिकाश्रम पर, अर्थात् जहांसे सारी क्रिया भलीभाँति दिख सके उस स्थानमें, अंतरिक्षमें विमानको खड़ा किया. ठीक मध्याह्न हुआ. पुण्यजन और पथिक अपने अपने संध्योपासनादिक नित्य कर्ममें प्रवृत्त हो गये, संध्या होने लगी, तो भी पथिकाश्रममेंसे संघ नहीं निकला. इससे मालूम हुआ कि, वे आजकी रात भी इस पथिकाश्रममें ही बितायँगे. रात हुई, पुण्यजन नित्यकर्मसे अवकाश पाकर गुरु वामदेवजीके सहित, अपने अपने आसन पर बैठ गये और सब पुण्यात्मा पथिकाश्रमकी ओर एकाग्रतासे देखने लगे.

उनका आजका साज कुछ और ही प्रकारका था. पथिकाश्रममेंसे

ऐसा मधुर और एकसा अटूट शब्द सुनाई पड़ता था, मानो दूरसे भ्रमर गुंजा रहा है. यह किसका शब्द है, यह जाननेके लिए, विमानवासी बिल्कुल शान्त होकर सुनने लगे, तब उन्हें स्पष्ट मालूम हुआ कि यह तो अच्युत नाम मंत्रके स्मरणकी वह अद्वितीय ध्वनि है जिसको प्रत्येक पथिकने, गुरुसे प्राप्त किया है. पहले अच्युत नामस्तोत्र गानरूपसे रातका कीर्तन किया. फिर सब पथिक अपने अपने आसनोंपर शान्त होकर बैठ गये और फिर एकाग्र चित्तसे अच्युतनाम मंत्रका स्मरण करने लगे. कोई किसी की ओर या अन्यत्र कहीं भी इधर उधर देखते नहीं थे; किसीसे जरा भी बातें नहीं करते थे; सबकी दृष्टि अपनी नासिकाके अग्र भागपर स्थिर थी. हस्त पादादि अवयव समेटे हुए हैं, मुँहसे सरिताके सरल प्रवाहकी भाँति एक समान—अखंडरूपसे. नामध्वनि हुआ करती है; विशेष कर सब छोटे और ह्रस्वाक्षर वाले 'हरि' इस सरल नामका जाप जपना आरंभ किया था. ज्यों ज्यों समय होता गया और रात व्यतीत हुई, त्यों त्यों कई पथिकोंको निद्रादेवीने वहांका वहां ही आ घेरा और धीरे धीरे बैठे बैठे ही उन्हें निद्रासमाधि लग गई। अनेक सचेत पथिक अपने मुखसे होनेवाले मंगल नामोच्चारणके साथ मग्न हो जानेसे स्थिर चित्त हो गये, अनेकोंको नामस्मरणसे ऐसी लय लग गई, कि उनका श्वासोच्छ्वास भी पैठना निकलना रूप लोम विलोम (उल्टी सुल्टी) गति त्यागकर, मात्र एक समान वहिः प्रवाह करने लगा. ऐसा करते करते कुछ देरमें कई एक जड़वत स्तब्ध हो गये, कोई कोई तो उन्मत्तकी भाँति खड़े होने लगे, कई एकोंका शरीर कंपित होकर रोमांचित हो गया. अनेक जोरसे ध्वनि करने लगे, और कोई कोई तो 'अहो! ब्रह्म!' 'अहो! अच्युतप्रभु!' इत्यादि की ऐसी ध्वनि करने लगे मानो आनंदके प्रवाहमें तैर रहे हों.

फिर इन सबकी अपेक्षा एक पथिककी स्थिति तो और भी विलक्षण देखनेमें आई. वह पहले तो एकाग्रतासे नामस्मरण करता था. उसमें मग्न होकर मानो अपने समीप किसी प्रियतम पदार्थको प्रत्यक्ष देखता हो, इस प्रकार आंखें खोलकर स्थिर दृष्टिसे देखने लगा; थोड़ी देरमें वह एकदम खड़े होकर; "वाह! वाह! धन्य! धन्य! अहोजन्म! अहोभाग्य! अहोगुरु!" ऐसे शब्द बोलते हुए आसनपरसे एकदम बाहर, पथिकाश्रमके मैदानकी ओर दौडा बाहर आते आते मानो उसे अकस्मात ठेस लगी हो

इस प्रकार यह गिर पड़ा और "अहा ! हे नाथ ! हे स्वामिन्! हे कृपालु ! हे सर्वेश्वर ! हे प्रभु अच्युत ! मैं दीन पापी सर्वथा आपकी शरणमें हूँ !" इतने शब्द बोलते हुए, भूमिपर गिरते ही वहां एक अद्भुत महा प्रकाश प्रकट हुआ, और उसीसे यह देखते देखते आवृत्त हो गया अर्थात् उस महा-प्रकाशके अपार तेजसे वे विमानवासी आदि सभी जन चकाचौंध होगये और फिर वहां क्या हुआ, यह कुछ भी नहीं देख सके.

कुछ देरमें वह प्रकाश अदृश्य हो गया. आश्चर्य चकित हुए सत्साधक आदि सब पथिक, यह क्या हुआ, इसके जाननेकी उत्कंठासे, तुरंत बाहर चौकमें आये और देखते हैं तो वहां एक पथिक मानो दण्डवत प्रणाम कर रहा हो, इस प्रकार लम्बा दो हाथ जोड़कर भूमिपर पेटके बल पड़ा हुआ था. उसको ऐसी दशामें अचेतसा पड़ा हुआ देखकर कई पथिक जोरसे चिल्ला कर बुलाने लगे और शरीरको छूकर पहिचानने लगे. महात्मा सत्साधकने उसे तुरंत पहिचान कर कहा, "अरे! यह तो वह पवित्र प्रेमी पथिक है. इसे क्या तुमने अच्युत तीर्थमें अच्युत प्रतिमाका प्रेमावलोकन करते समय विस्मित हो जाते नहीं देखा, था ? यह परम प्रेमी* है और ऐसा जान पड़ता है कि आज सबके प्रेम भक्तिपूर्वक अच्युतके स्मरणमें तल्लीन हो जानेसे, उस कृपालु प्रभुने, आज इसे कुछ चमत्कार बतलाकर भाग्यशाली किया है. यहां पर उस कराल काल पुरुषकी भीतिकी तो लेश भी संभावना नहीं है, पर मात्र प्रेमावेशमें ही यह इस प्रकार अचेत पड़ा हुआ मालूम होता है; इस लिए चलो, उधर हटो, हम इसे सचेत करें."

ऐसा कहकर वह महात्मा उसके पास जा बैठा और सिर तथा शरीर पर हाथ फेर कर, मृदुस्वरसे कहने लगा; "प्रिय पथिक ! अच्युत प्रिय ! † तू क्यों इस तरह पड़ा हुआ है ? सावधान हो, सचेत हो." इस प्रकार दो तीन बार पुकारनेके साथही उसे अच्छी तरहसे पकडकर इधर उधर हिलाया तो जैसे कोई सोनेसे जागकर उठ बैठे इस तरह घबराये हुएके समान चारों वह तरह देखते हुए उठकर बैठे गया और महात्मा सत्साधकको अपने पास खड़े हुए देखते ही, "अहा ! धन्य गुरुवर्य ! बस ! आपने

---

* यहां प्रेमी अर्थात् निष्काम भक्तिमान समझना चाहिए. † अच्युतप्रिय—अच्युत प्रभुको अत्यंत प्यारा पथिक ! क्योंकि ! ऐसा अच्युतपद प्रेमी पथिक अच्युतको सबसे अधिक प्रिय है.

कृतार्थ कर दिया!" ऐसा कहते हुए तुरंत उसके पैरोंपर पूर्ववत् गिर पड़ा. तत्साधकने उसका हाथ पकड़कर उठाकर प्रेमसे अपने हृदयमें लगा लिया और ऐसी घटना क्यों हुई यह बतलानेकेलिए उसको आदेश किया. उसने पुनर्प्रणाम करके, हाथ जोड़कर कहा; "कृपालु गुरुदेव! अहा! जो बहुवार महात्मा पुरुषोंसे सुनता था कि सद्गुरुकी महिमा अपार है, उसका आज मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है. आप कृपालुके पारमार्थिक उपदेशको सुनकर, सब पथिकोंके साथ मैं भी कालभय जानकर जगपुरसे भागकर इस अभय पथमें आया, मेरा यह आना आज सफल हो गया. आज मैं यथार्थ ही निर्भय हो गया! अच्युततीर्थमें परब्रह्मका जो दिव्य रूप देखा था आज उसको मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देखा है! क्या देखा? नहीं, नहीं, बस इसी स्वरूपमें मैं लीन होऊँगा! अरे हो गया हूँ. पर यह वही है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता! दूसरा नहीं! अहा जबसे मैं अच्युत तीर्थमेंसे निकला था तभीसे यह दृश्य मेरी आँखोंके आगे झूल रहा था, पर जब आपने मुझको उस कृपालुके नाममंत्रका* उपदेश दिया, तबसे तो, जब जब मैं उस नाम मंत्रका उच्चारण करता हूँ तब तब. मेरे हृदयमें उस घनश्याम मूर्तिके खड़े होते ही मुझे रोमाञ्च हो आता है और प्रेमावेशसे ऐसा लगता है मानो मैं उसे लिपट जाऊँ। पर यह कैसे हो!! ऐसे ही आवेशमें आजमें सबके साथ नामध्वनि करते हुए बैठा था, इतनेमें हृदयमें दीखने-वाले स्वरूपानंदमें बंद आँखें खुल गईं और स्वरूपानुसंधान हो गया. मेरे आगे भी यही अद्भुत मूर्ति प्रत्यक्ष रमण करती हुई मुझे दीख पड़ी. उसका अपार तेज था. सूर्य, चंद्र, तारे, बिजली या अग्निके प्रकाशसे भी वह प्रकाश श्रेष्ठ था. उसके प्रकाशमें ही सब कुछ थे. वह ऐसा प्रकाश था कि उसकी ओर देखा भी नहीं जा सकता था. तो भी प्रेमावेशमें मैं अक-स्मात् उससे लिपटनेको दौड़ा. मैं तुरंत अद्भुत दिव्य मूर्तिके चरणार-विंदमें सहज ही जा पड़ा. मेरे मनमें धारणा थी कि मेरे और सबके लिए एक निर्भयस्थान सिर्फ यही है, इस लिए मैं उन महामंगल मंजुल युगल† चरणारविन्दसे लिपट कर, उनके बीचमें सिर रख दिया, पर मेरे कुछ भी

---

* ऊपर जहाँ जहाँ नाममंत्र शब्द उपयोगमें लिया गया है वहाँ वहाँ सगुणोपाधिक भक्तिपक्षमें ईश्वरका नामोच्चार और निर्गुण उपासना पक्षमें वासनाक्षय और परब्रह्मरूपमें लय होनेका साधन समझना चाहिए. † युगल—दो; उभय.

प्रार्थना करने और आँखें खोलकर उस महामंगल स्वरूपको अच्छी तरह अवलोकनको सामर्थ्यवान् होनेके लिए उस कृपालुसे कुछ भी भिक्षा माँगनेके पहिले ही मुझे अपनी अंक (गोद) खाली जान पड़ी और मेरे सम्मुखसे मंगल मंजुल चरणकमल न जाने कहाँ अदृश्य हो गये! अहा! कृपानाथ! अब मुझ पापीको वे फिर कहाँ प्राप्त होंगे!! क्या मैं उस परम पूज्य कल्याणकारी स्वरूपके दर्शन करनेके लिए फिर कभी भाग्यशाली हो सकूँगा?"

उसकी ऐसी बात सुनकर, सब पथिक विस्मित होगये. महात्मा सत्साधक बड़े हर्षसे उसको अपने हृदयसे लगाकर बोला; "अहो! भगवत्प्रेमी! तू सबसे बड़ा भाग्यशाली है क्योंकि तुझे भगवत्स्वरूपका भास हुआ है. तेरे शुद्ध प्रेमके वश होकर कृपालु अच्युत प्रभु तुझको शीघ्रही अपने दर्शन देंगे. पुत्र तुझको धन्य है, तेरा कल्याण हो." फिर वह सब पथिकोंसे कहने लगा, "पथिको! देखो, इसका नामही अच्युत स्मरण है! इस प्रकारसे प्रभुकी दिव्य मूर्तिको प्रेमसे अंतःकरणमें देखते हुए मुँखसे स्मरण किया जाय तो यह नामस्मरण है. शीघ्र फलदायी है, और यह उपाय पथिकको सरलतासे साध्य होनेके लिए ही मार्गमें अच्युत तीर्थका पवित्र दर्शन होता है. अच्युत तीर्थकी अच्युत प्रतिमा, प्रत्येक पथिकको अपने अन्तःकरणमें चित्रित कर लेनी चाहिए; और अंतर्चक्षुद्वारा[1] दिनरात उसका अवलोकन–शोधन करते रहना चाहिए. अपने इस प्रेमी पथिकने इस अर्थको यथार्थ सिद्ध किया है इससे उसको जो फल प्राप्त होने लगा है उसे भी हम सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है. अहा! अंतर्यामी अच्युत प्रभु कैसे परम दयालु और प्रेमाधीन है कि अपना केवल नामस्मरण करनेवाले और स्वरूपका स्मरण–ध्यान करनेवालेसे आकर मिले विना नहीं रहते हैं. इस लिए हम सब लोग भीतर उनके स्वरूपको देखते हुए और मुखसे नामस्मरण करते चलें. प्राणिमात्रका निदान यही है कि उनको जो निरंतर भजता है–अनुभव करता है–वही इन ब्रह्ममें लीन होता है. निष्काम भक्तही इन अच्युत प्रभुमें स्थिर होता है. उन कृपाके सागरकी लहर हम लोगोंपर भी अवश्य ही आवेगी."

---

१ अंतर्चक्षु–अंतःकरणके चक्षु; अर्थात् मनोमय चक्षु.

इतना कहकर वह महात्मा फिर बोला; "परन्तु प्रिय पथिको! प्रभुके नामकी इतनी बड़ी महिमा मैंने तुमको सुनाई और हम सब लोगोंने प्रत्यक्ष भी देखा है तो भी कई मूर्ख लोग टेढ़े रास्तेमें दौड़ जाते हैं वैसा न होनेके लिए तुम सबको सचेत रहना चाहिए. अनेक दुष्ट और मिथ्याचारी लोग ऐसा विचार कर देते हैं कि, 'जब प्रभुका नाम मात्र सारे पापोंका नाश करनेवाला, सब मलीनता मिटानेवाला और पुण्यका भंडाररूप है, तो अब पापोंके लिए हमें क्या चिन्ता है और कौन कुकर्म हमें पीड़ित कर सकता है? चाहे जितना पाप होगा, तो भी वह सिर्फ प्रभुका एकाधिक नाम उच्चारण करके दूर कर देंगे! वाह! यह तो बहुत अच्छा हुआ! अब तो शास्त्रमर्यादा, परलोक अथवा नियंता आदि किसीका डर नहीं रहा! ऐसा विचार कर स्वेच्छाचारी बनने लगते हैं और अंतमें, कष्ट ओघमें डूब मरते हैं. परन्तु पुण्यवान् पथिको! भगवानके नामका प्रभाव जानकर किसीको भी सदाचरण या सन्मार्गका त्याग नहीं करना चाहिए. जगतकी वासना क्षय हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी. जिसकी वासनाका क्षय हुआ है, वही जीव शुद्ध आत्मा—परमात्माको पा सकता है, दूसरा नहीं. राजाके राज्यमें रहकर खुल्ले उसका चाहे जितना यश गाता हो परन्तु उसको बुरा लगनेवाला कार्य—उसके स्थापित किये हुए सदाचारकी मर्यादाका उल्लंघन करता हो, तो वैसा मनुष्यको राजा कबतक क्षमा करेगा? चाहे जैसा दयालु राजा हो उसको वैसे मिथ्याचारी मनुष्यको, राज्यकी रक्षाके लिए—धर्मकी रक्षाके लिए अवश्य बड़ा दण्ड देना पड़ेगा. इसी प्रकार हम, सर्व समर्थ परम दयालु प्रभु अच्युतको जरा भी बुरा लगनेवाला कार्यही करें और उसके निर्मित नियमोंका भंगकर—या जगत् मिथ्या है और परमात्माही सत्य है ऐसा न जान, मोहमें रहें, तो फिर चाहे जितना उनका नामस्मरण * करें तो भी क्या फल होगा? हम उनके किस प्रकार प्यारे

* टीका—भगवन्नामस्मरण अर्थात् परमात्माका विचार करना ऐसा अर्थ बताना चाहिए. उपासना पक्षमें प्रभुका स्मरण. प्रभुस्मरण प्राणीको सब पापोंसे मुक्त करनेवाला और उन गुणोंसे युक्त है सही, पर उसको जपनेवालेको दस अपराधोंसे बचना चाहिए, इसके लिए शास्त्रकर्ता इस प्रकार कहते हैं:—सत् पुरुष, सज्जन या सत्पदार्थ या सद्धर्म—सन्मार्ग, प्रभु-नाम इत्यादि की निन्दा; अनधिकारी, दुराचारी असत् व्यक्तिसे स्मरण माहात्म्य बतलाना; विष्णु, शिव इत्यादि नामान्तरसे धारणकिये हुए प्रभुके अनेक जुदे जुदे स्वरूपोंमें

होसकते हैं ? और वे हमपर कैसे दया करें ?" इस प्रकार वार्तालाप करते वे सब पथिकाश्रममें आये और नामस्मरण करते हुए थोड़ी देरमें सो गये.

दूसरे दिन सूर्योदयके पहले, नित्यनियमपूर्वक महात्मा सत्साधक, स्मरण करते हुए तुरंत साथरीमेंसे उठ बैठा. नामध्वनि सुनकर एक एक कर सब पथिक भी बैठकर प्रातःस्मरण करने लगे. फिर निर्मल नदीके तटपर स्नान संध्यादि नित्य कर्म करनेके लिए गये. वहाँसे बाहर ही बाहर सब संघ एकत्र हुआ औ सर्वेश्वर प्रभु अच्युतकी जयध्वनि सहित तुरंतही रास्ता चलने लगा. कुछ दूर पहुँचकर महात्मा सत्साधक बोला, " प्रिय पथिको ! यद्यपि अपना मार्ग उत्तरोत्तर सरल आता जाता है सही, तो भी जैसे अपनेमेंसे अस्थिर मनवाले पथिकोंको कर्म मार्गमें अनेक भूल भुलैयाँ सहजमें भुला देनेके लिए मालूम होती थीं, वैसीही इस मार्गमें भी आवेंगी. इसलिए चाहे जैसा लालच हो उसको देखकर कोई भूलना नहीं. यह देखो उस ओर अपने मार्गकी दाहिनी बाजूमें एक भूलभुलैया है, इस प्रस्थानमें भी अंत तक उस कामदेवकी ही सत्ता है और पथिको—लालची पथिकोंको इस शुभ श्रेयस्कर मार्गसे भ्रष्ट करनेमें यही मूल कारण हो जाती है. इसलिए पहले इस मार्गसे होकर जो महानुभाव पथिक गये हैं वे प्रत्येक पथिकको निष्काम होकर—आशा—तृष्णा कामना—चाहे वह सत् हो अथवा असत्से विमुख—निःस्पृह होनेकी विशेष आज्ञा दे गये हैं और उसका अनुसरण करना ही कल्याणकर है."

सगुणोपाधि मार्ग.

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे कुछ देरमें एक विश्राम स्थानपर जा

निन्दात्मक भेद बुद्धि; वेदशास्त्रपर अश्रद्धा; महात्मा—ईश्वर अंशी सत्पुरुषोंकी वाणीपर अश्रद्धा; नाममें अर्थवाद (जैसे कि रामका नाम लेकर प्राचीनकालमें नल, नील वानरोंने पानीपर पत्थर तैराया था, पर आज कोई एक छोटासा कंकड भी क्यों नहीं तैरा सकता ? इत्यादि वितंडा करना) फिर नाम ऐसा सरल साधन है तो चाहे जैसा व्यवहार करें तो भी चिन्ता नहीं, ऐसा विचार कर निषिद्धव्रत न करने योग्य कर्म—आचरण करना और ऐसा सोच कर जो विहित—अर्थात् अपने योग्य—आवश्यक कर्म हैं उन्हें न करना और दूसरे धर्मोंसे नामरूप साधनकी तुलना करना. इस प्रकारसे प्रभुका नाम स्मरण करनेवाले अर्थात् दश अपराधोंसे बहुतही सचेत रहना चाहिए, नहीं तो नाम स्मरणका यथार्थ फल नहीं होगा.

पहुँचे. दोपहर होनेको अभी कुछ देर थी, इस लिए मध्याह्न बितानेके लिए विश्राम स्थानपर न उतर कर संघ आगे बढ़ने लगा, इतनेमें एक तेजस्वी हृष्ट पुष्ट मनुष्य संघके पास आते हुए दिखाई दिया. वह शरीरसे सुन्दर होने पर भी बोलनेमें बड़ा चतुर था, वह लाल कपड़े पहने था और मस्तक पर सेन्दुरका तिलक था. गलेमें लाल कनेरके फूलोंकी माला और हाथमें हाथी दाँतकी सुमरनी थी. अपने विचित्र वेशसे वह सारे संघका चित्त अपनी ओर खींचकर बोलाः—

गणपति उपासना "पुण्यजनो! अब तुम किसके लिए और कहाँ जानेके लिए शीघ्रता कर रहे हो? प्राप्य—प्राप्त होने योग्य पदार्थकी प्राप्ति हो जानेपर क्या चिन्ता है? मेरे कहनेका मर्म तुम नहीं समझ सके, इसलिए मैं कहता हूँ कि, जिस निर्भयस्थानकी ओर जानेके लिए तुम निकले हो, वहाँ जानेका सत्यमार्ग अब तुमको प्राप्त हो चुका है; इस लिए उसको लाँघकर आगे बढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है. जो मार्ग तुम्हारी दाहिनी बाजूसे प्रारंभ होता है, यही मार्ग तुम्हारे लिए आगे बढ़नेका है और यही मार्ग सत्य है तथा सबसे श्रेयस्कर, सरल और ऐसे सुखके स्थानमें पहुँचा देता है जहाँ दुःखका लेश भी नहीं है. इस सुखस्थानके स्वामी श्रीगणेश हैं जिनको सारा संसार आदिदेवके समान वंदन करता है और जो सब देवगण, मनुष्यगण, पितृगण तथा संक्षिप्तमें समग्र सृष्टिगणके स्वामी होनेसे, गणपति, गणाधिपति, गणनाथ, गणेश, इत्यादि अनेक नामोंसे, जाने जाते हैं, उन समर्थ प्रभुके पास इस मार्गसे पहुँचना होता है. इनकी शरणमें जानेवाला मनुष्य सब ऋद्धि सिद्धिका भोक्ता होता है, क्योंकि वे सब ऋद्धि सिद्धिके भी स्वामी हैं. फिर ये सब विद्याके भी अधिपति हैं, सब मंगलके दाता और सारे विघ्नोंके विनाशक हैं। इस लिए सब विद्याओं सब शास्त्रों और सारे शुभ कार्योंमें सबसे प्रथम उनका ही स्मरण—पूजन होता है। इसलिए निरंतर सुख भोगनेकी इच्छावाले तुम लोग, जो नाशवंत जगत्पुरके भयसे भाग आये हो, इस शुभ मार्गसे होकर परम स्थानकी ओर चले जाओ. कहो तो मैं भी अंत तक तुम्हारे साथ चालूँ, जिससे रास्तेमें तुमको किसी बातकी तकलीफ न हो."

यह सुनकर अनेक पथिकोंके मन लालचमें पड़े और कई एक खिसक कर पीछे रहनेके लिए झटपट बैठ भी गये; पर महात्मा सत्साधकने उस

गणेश भक्तको प्रमाण कर इतना ही कहा कि; "हम लोग बहुतही ऋद्धि सिद्धिका त्याग करके आये हैं, इसलिए हमको उसकी आशा नहीं है. विघ्न वहीं है जहाँ निर्विघ्नका नाम नहीं है. जगतकी सारी विद्याओं- मेंसे अपरा विद्या श्रेष्ठ है. वह हमें प्राप्त है; जिस मार्गमें हम जाते हैं वह मार्ग मंगलमय ही है; शास्त्रकी बीचमें जो फँसता है वह निकल नहीं सकता. इस लिए हम तो इस सीधे सड़कसे अच्युतपुर जाना चाहते हैं. हम लोग श्रीगणेशजीको प्रेमपूर्वक प्रणाम कर आगे बढ़ते हैं जिससे हमारे इस अच्युत मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आवे." इतना कहतेही वह पथिकों सहित आगे चलने लगा.

थोड़ी दूर जानेपर फिर सामने एक अत्यंत देदीप्यमान एक राजमार्ग आया. वहाँसे सूर्यके समान तेजस्वी एक पुरुष आकर, पथिकोंको अपने मार्गका सिद्धान्त समझाने लगा. उसने कहा; "भाग्यवान् पथिको! अपने प्रकाशसे निखिल जगतको जीवन देनेवाला और प्रकाशित करनेवाला हिरण्यरूपके समान सविता—सूर्य-देवको छोड़कर दूसरे देवकी उपासना कौन करता है? जिसकी उपासना करनेके लिए वेदत्रयी आवश्यक आदेश देते हैं और जिसका निरंतर गान करनेसे उसकी उपासनाके महामंत्रका पवित्र नाम 'गायत्री' पड़ा है. इस "गायत्री" मंत्रमें सिर्फ इस जगत्प्रकाशक देवके सर्वोत्कृष्ट तेजका ध्यान करनेके विषयमें कहा गया है और पवित्र योगी मुनिजन, सब महात्मागण और सब संस्कार युक्त द्विजगण, निरंतर इस सर्वोत्कृष्ट तेजका ही ध्यान करते हैं, उसीका स्तुतिपाठ पढ़ते हैं और सब प्रकारसे उसीकी उपासना करते हैं. इस प्रतापी देवके उपासक इस लोकमें परम सुखी रहते हैं. वे शरीरसे आरोग्य और दारिद्र्यसे मुक्त रहकर, अंतमें उसके दिव्य लोकको जाते हैं और वहाँ उसीके जैसे दिव्य शरीरवाले होकर अनंतकाल तक सुख भोगते हैं; इस लिए पथिको! नारायणके दूसरे रूपके समान सूर्यनारायणके समीप जानेका मार्ग प्राप्त होने पर भी, उसको पारकर तुम लोग आगे जानेकी इच्छा क्यों कर रहे हो?" इसके उत्तरमें सत्साधकने कहा; "देव" आपका कथन सत्य है, पर हमें तो इस सीधे सड़कसे अच्युत पुरको जाना है, जहाँ सूर्य, चंद्र या अग्नि इत्यादि किसीके प्रकाशकी जरूरत नहीं है और जहाँ सारा लोक स्वयं ही प्रकाशित है, आनंदमय है और वहाँ जाकर फिर कभी

सूर्य उपासना

लौटना नहीं पड़ता है. . यह सत्य है कि आपका मार्ग श्रेष्ठ है पर हमें तो देवयान मार्गमें जानेकी कामना है. यह अचिंत्यमार्ग परम श्रेष्ठ है, ऐसा हमारी पथबोधिनीमें बताया गया है और हम लोग उसीका अनुधावन करनेवाले हैं. इस सूर्यमंडलको पारकर जहाँ महात्मा शुक गये हैं उसी ओरको हमारा भी प्रयाण है." इतना कह कर वेदमें भी श्रेष्ट कहे हुए इस राजमार्गका त्यागकर वह आगे बढ़ा.

कुछ दूर जानेपर एक सुन्दर तेजस्वी पुरुष आगे मिला. उसके गलेमें तुलसी–कमलकी मालाएँ. मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड्र तिलक, शरीर पर निर्मल श्वेत वस्त्र था और वह हरि, गोविन्द, नारायण, आदि नामोंका उच्चारण करते हुए शान्त रूपसे उसी मार्गकी दाहिनी बाजूकी एक अतिरम्य पगडंडी देखकर सब पथिकोंसे कहने लगा; "पुण्यवान पथिको ! सारी भक्ति मुक्तिके दाता, सब लोकोंके ईश्वर और लक्ष्मीके पति इस प्रकार वैकुंठवासी विष्णुभगवानका यह परम मार्ग मनुष्य देहमें जन्म लेकर, अवश्य प्राप्त करनेके योग्य है. सब इन्हीकी सत्तासे ही है, इनकी कृपाको प्राप्त करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है. इनकी शरणमें जानेवाला अर्थात् इनका बाना–शरण चिह्न धारण कर, इस मार्गसे जानेवाला जीव अंतमें इनके वैकुंठ लोक–विष्णु लोकमें जा पहुँचता है और वहाँ दिव्य चतुर्भुज रूप धारण कर, नित्य सुख भोगता है. भगवान् विष्णुकी शरणमें जानेसे जगत्पुरके सारे दुःखोंसे बिलकुल मुक्त हुआ पथिक, वैकुंठमें नित्य अधिकाधिक आनंद मानते हुए फिर किसी समय उन दुःखोंके प्राप्त होनेके भयसे बिलकुल मुक्त हो जाता है. इस प्रकारके इस वैष्णव मार्गको लाँघ कर आगे जानेमें न जाने तुम लोगोंने अधिक क्या प्राप्त करना विचार रक्खा है ? इससे तो यही मालूम होता है कि तुम लोग इस मार्गसे अनभिज्ञ हो. इस मार्गमें प्रवेश करते ही सुख और शान्तिका लाभ होता है और सारे दुःखोंके कारण नष्ट हो जाते हैं, इस लिए अंतमें इस मार्गमें कैसा सुख होगा इसके बतलानेकी जरूरत नहीं है. तुम सब ऊर्ध्वपुंड्र धारण किये हो और मुखसे हरिका नामोच्चारण करते हो, इससे स्वाभाविक वैष्णवही हो; तब फिर इस अति पवित्र विष्णुमार्गका अतिक्रमण क्यों करते हो ? यहाँसे आगे बढ़ाही नहीं जाता. इससे परे और कुछ भी नहीं है. इससे परे जो अक्षर कहलाता है वह यही है."

विष्णु उपासना

जिनको अच्छा लगा वे पथिक पीछे रहते गये, पर सत्साधक उनकी इच्छा किये विना एकही रीतिसे चलता रहा, और साथके पथिकोंको सावधान करता रहा कि; यहाँ हमें खड़े होकर अभी बात भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि अधिकांश ये सारी भूल भुलेंयाँ हैं और मैं आगे चलकर तुमको इन सबका सार कह सुनाऊँगा. अपने संघमेंसे जो जो पथिक पीछे रह गये हैं उनको ऐसा समझना चाहिए कि वे सत्य मार्गसे डिगने वालोंमेंसे हैं."

आगे चलकर कुछ दूर पहुँचा तो, फिर भी एक मस्त मदोन्मत्त पुरुष उनको सामने मिला. वह मस्तकपर कुंकुम लगाये था और भौंहोंके मध्यमें सेन्दुरकी और काली पीली आदि भाँति भाँतिकी विन्दी किये था. हाथमें अनेक तावीज, डोरे, कड़े और ऐसेही दूसरे विचित्र आभूषण पहने हुए था. आँखें घिरी हुईं, लाल और बातें विवेक शून्य थीं. वह आतेही मानो अपनेको सबसे ज्ञानी समझता हो इस प्रकार आडम्बरसे कहने लगा; "अरे मूढ़ो! जो सत्य वस्तुसे बहिर्मुख रहनेवाला अज्ञानी है वही विना समझे भटका करता है! जिस सत्तामें समग्र जगत् और ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि जगत्पति बँधे हुए हैं, वह महासत्ता—महाशक्ति, जगत्की जन्मदात्री होनेसे जगन्माता, जगदंबा, और जो सबको कारण किये हुए है ऐसी आद्यशक्ति, ईश्वरीको पहिचाने विना; जो कुछ है वह सब व्यर्थ दौड़ धूप है. जो आदि माया महाशक्ति जगदंबा, सब प्राणियों और पदार्थोंमें शक्ति–सत्तारूपसे निवास कर रही है और जो शक्ति नामसे ही जानी जाती है वह सबकी आधाररूपा और माता है. वह शरणमें आनेवालेका मातारूपसे लालन पालन करती है. इसीके घर–लोकमें जानेका यह सुखमय मार्ग है, उसको लाँघ कर तुम लोग कहाँ जाते हो? पीछे फिरो, चलो तुमको मैं वहाँ ले जाऊँ. अरे! साक्षात् विश्वमाताको त्यागकर दूसरेकी शरणमें कौन मूढ़ जायगा? छोटा बच्चा भी अपनी माताको त्यागकर दूसरी स्त्रीका दूध नहीं पीता, तुम इसीपरसे समझो और भूलोंमें न भटको. देखो, मार्गमें प्रवेश करते ही वह तुमसे कैसा प्यार करती! अरे! सब प्रकारके सुख और वैभव तो इस आदि माताके घरहीमें हैं."

शक्ति उपासना

इसके कथनका कुछ भी मान न कर, सत्साधक संघ सहित आगे बढ़ा.

पर अब समय हो जानेसे विश्राम किये बिना नहीं चल सकता था. कुछ दूर आगे जाने पर एक पथिकाश्रम आया, उसीमें सब पथिकोंने मुकाम किया यहाँका उपवन बहुत ही सुन्दर था और पथिकाश्रमके समीपसे होकर प्रवाहित होनेवाली छोटी नदीकी शोभासे और भी शोभायमान हो गया था. सत्साधक सहित बहुतसे पथिकोंने इसको देखा और समय हो जानेसे संध्यावंदनादि करनेके लिए, पथिकाश्रमसे बाहर गये. वह सुयोग पाकर, एक विचित्र पुरुष, पथिकाश्रममें घुस गया! और इस प्रकारसे उपदेश करने लगा कि जिसको सुनकर पथिकाश्रमके भीतर बैठे हुए पथिकोंका मन विह्वल हो जाय. पहले उसने सत्साधक आदि सब पथिकोंको निरा मूर्ख ठहराया. फिर कहने लगा; "अरे मूर्खो! क्या तुम साक्षात् जग-दीश्वरी महामायाको नहीं जानते? अरे इसके बिना संसारमें है ही क्या? जो इनकी शरणमें नहीं आया, उसने सारा संसारमोंही (व्यर्थ) खोया. इस लोक और परलोकके सुख तो इन्हींके हाथमें हैं. देखो! आरंभमें ही कैसा प्रत्यक्ष चमत्कार है, कि मोक्ष प्राप्तिके दूसरे सब मार्ग—अरे सब तुच्छ मार्ग, जिनमें अपार दुःख, कष्टरूप साधन, दुःखमें ढकेलनेवाले नियम, सुखका त्याग, विराग, स्मरण भजन और दूसरे अनेक झंझट हैं और वैसा होनेपर भी चूका कि बस गया! पर इस भगवती भवतारिणीके मार्गमें किसी प्रकारके वैसे कष्ट तो क्या बल्कि उल्टा परम सुख है. माता जैसे अपने प्रिय पुत्रका प्यार करती है और पुत्र जो जो इच्छाएँ करता है उन्हें वह माता पूर्ण करती है उसी प्रकार यह जगन्माता, अपने शरणागत बालकका प्यार करती है और सब इच्छाएँ पूर्ण करती है! ऐसा सरल मार्ग छोड़कर भ्रममें पड़कर आगे जाना चाहते हो? सोचो और शीघ्र चलो. मैं तुमको यह सुन्दर मार्ग दिखाऊँ. जगन्माताके लोकमें जानेका एक मार्ग जो तुम पार कर आये हो यह उससे भी बहुत सुखकर है. पर यह गुप्त मार्ग है. जो कुछ जितना सुन्दर होता है वह उतनाही गुप्त और अलभ्य भी होता है. इसी प्रकार यह मार्ग अति सरल और सुखरूप होनेसे ही गुप्त है! इस लिए चलो, मैं इस मार्गका प्रदर्शक हूँ. तुमको सही सलामत वहाँ ले जाऊँ. वहाँ पर तुम्हें मुँह माँगी सिद्धियाँ मिलेंगी! और वहाँ परम प्रेम समागम होगा!" इस प्रकार उसकी लुभानेवाली बातें सुनकर, जिनके पास अब भी कुछ संसार भारकी

पोटलियाँ थीं, उनके मन दुष्ट भोगकी आशाओंकी उत्तेजनासे विचलित हो गया! अनेक लोग उस भक्तसाथमें चले भी गये.

यह सब बनाव अंतरिक्षसे एकाग्रता पूर्वक देखनेवाले महाराजा वरेप्सु आदि विमानवाली, गुरु वामदेवकीसे नम्रता पूर्वक पूछने लगे कि "कृपालु! महात्मा सत्साधकके संघमेंसे जो पथिक अच्युत मार्ग—सबके मध्यमें रहनेवाला शुद्ध शान्त निरुपद्रव मार्ग त्यागकर, टेढ़े मार्गोंपर चले गये हैं, अंतमें उनकी कैसी गति होगी? और उनमें भी वह मदमत्त पुरुष, देवीके अति गुप्त मार्गका नाम बतलाकर, पोटलियोंके भारवाले पथिकोंको, सत्साधकसे छिपाकर घसीट ले गया है, वहाँ उनको कहाँ ले जायगा?" बटुक वामदेवने कहा; "राजा! यह पवित्र अच्युत मार्ग तो बिलकुल सादा, मिथ्या लालचोंसे रिक्त और सत्त्वशील है; अंतमें यह सात्विक सुखकी प्राप्ति कराता है. दूसरे मार्ग तो कोई रजोगुणी, कोई रज—तम—सत्व इन तीनों गुणोंसे मिश्रित है. जो सुख आरंभमें विषके तुल्य लगता है—अर्थात् प्राप्त करनेमें अत्यंत कठिन होने और बुरे लालचसे शून्य होनेसे अप्रिय लगता है, पर अंतमें—अर्थात् उसमें यथार्थ प्रवेश होजाने पर अमृतके समान मधुर लगता है और किसी प्रकारके विषयोंसे नहीं परन्तु आत्मविचारमें—अच्युत प्रभुकी प्राप्ति होनेवाले विषयोंके विचारमें मग्न होनेवाली सुप्रसन्न बुद्धिसे प्राप्त होता है, वह सुख सात्विक कहलाता है. पर जो सुख विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होता है और आरंभमें अमृत जैसा मधुर लगता है तथा अंतमें नाशवान् होने और दुःखोंको पैदा करनेवाला होनेसे विषयवत् कटु हो जाता है, वह राजस सुख है; तथा जो सुख आरंभ अंतमें भी चित्तको मोह उत्पन्न करानेवाला होकर निद्रा आलस्य और प्रमाद—भ्रमसे उत्पन्न होता है, वह तामस सुख है. इस भेदसे समझ लो कि वास्तवमें देखा जाय तो सात्विकके सिवा दूसरे सब सुख दुःखरूपही हैं.

"परमसात्त्विक अच्युत मार्गके अनुगामियोंको आरंभसे मार्गमें प्रत्यक्ष कोई लाभ या सुख नहीं दिखलाई देता, इससे उसके अंतिम गुणको न जाननेवाले बेचारे कामनावाले—जगतके सुखकी इच्छा वाले—फलकी कामनावाले और जिनकी वासना प्रबल हैं, वे इस सादे, फीके और रूखे मार्गको दुःखरूप मानकर, देखनेमें सुन्दर, पर कीच कंटकसे परिपूर्ण टेढ़े मार्गोंपर

चले जाते हैं. वहाँ तो जो होता है वही मिलता है. वहाँ जानेवाला अनेक दुःखोंमें पड़ता है. हम लोगोंने जो जो टेढ़े मार्ग देखे, जिनमेंसे किसीको भी सराहे विना यह सत्साधक यहाँ तक चला आया और आगे भी इसी प्रकार चला जायगा, वे सब टेढ़े मार्ग अच्युतपुरको नहीं जाते, पर वे अंतमें फिर भी उस नाशवंत लोककी ओर मुड़ जाते हैं और उनके अनुगामी, वासनायुक्त होनेसे, कामनाकी वासनामें फँसकर, आगे जानेके लिए असमर्थ होकर, मार्गमें भटक भरते हैं, दुःखी होते और अंतमें उन्हें फिर जगत्पुरमें जाकर निवास करनेका समय आता है और वहाँ जाकर, कालके भक्ष होकर आवर्जन विसर्जन—जन्म मरणहीका भोग भोगते हैं. परमात्माविना का मार्ग, भयप्रवृत्तिका ही मार्ग है. ऐसे मार्गमेंसे पीछे फिरने और बंधनाशक निवृत्तिमार्गमें जानेके लिए सत्साधकने बहुत उपदेश दिये हैं और उपदेश देनेपर भी जिसे किसी तरह भी अनुभव नहीं हुआ ऐसी नराकृतिको मिट्टीके बावाजी ही समझना चाहिए. उसको किस तरह उपदेश दिया जा सकता है ?—श्रेय एक है; प्रेम (प्रेय) एक है. जीवको ये दोनों भिन्न भिन्न कार्योंमें नूतनतासे दर्शन देकर बंधन पैदा करते हैं, पर इनमेंसे जो श्रेयका ग्रहण करता है, वह कल्याण—परम बंधनाशको प्राप्त करता है और जिसको प्रेमकी लगनि लगी है वह अर्थहीन होता है. राजन् ! जीवको श्रेय प्राप्तिमें वासना त्याग ही श्रेष्ठ है. जीवको देहकी वासना त्यागकर, भोगकी भी वासना त्याग देनी चाहिए, फिर भाव अभाव दोनोंको त्याग देना चाहिए. इनका त्याग करनेसे ही निर्विकल्प सुखका भोक्ता हो सकता है. यह वासना क्या है ? पूर्वापर विचार किये विना दृढ़ भावनासे, पदार्थोंपर जो आसक्ति होती है वही वासना है ! गुरु उपदेश दे शास्त्र समझले, विचार करे, पर वासनासे मुक्त हुए विना मुक्तिही नहीं है. इस संघमें इस प्रकारसे मुक्त हुए बहुत कम हैं, इसीसे फिर चौरासीके चक्करमें फिरते हैं. उसमें भी अंतिम गुप्त टेढामार्ग, जो अच्युत मार्गकी बायीं बाजूपर है और जिसको, पहले यहाँसे होकर जानेवाले महात्मा अच्युत पथियोंने वारंवार त्यागते रहे हैं इस कारणसे उस मार्गके अनुगाभियोंने, उसको सिरेपर गुप्त कर डाला है; वहाँ जानेवालेको जगत्पुरमें तो क्या परन्तु सबसे नीचे नरकमें भी ले जाकर वह पटक देता है. इस लिए वह मदोन्मत्त पुरुष, जो मूर्ख पथिकोंको उल्टा समझकर पथिकाश्रमसे चुप

चाप ले जानेका यत्न करता है, उन विचारोंकी जो दुर्दशा होगी, तदर्थ बड़ा खेद होता है!"

गुरुवामदेवजी फिर; बोले:—"परन्तु पुण्यात्माओ! यह दीखनेवाला भ्रष्ट मार्ग, यद्यपि क्रियाओंसे भ्रष्ट सही है, परंतु पथिकोंको इस प्रकारसे भ्रष्टकर नाश करनेका उसका हेतु नहीं है, मालूम होता है कि सच्चे दृढ़ विरागी मनके पथिकोंकी परीक्षाके लिए ही उसकी रचना की गई है. जगत्पुरसे जिसकी अरुचि होजाती है वह मनुष्य अच्युतमार्गमें आरूढ़ होता है और उसमें भी जगत्पुरके पा टेढ़े मार्गोंके इंद्रियजन्म सारे सुखोंसे जिसको दृढ़ विराग हुआ हो वही पथिक, प्रयत्न करते हुए ठेठ अच्युतपुर पहुँचता है. उसका दृढ़ विराग कब समझमें आता है जब इस भ्रष्ट मार्ग पर हमको मालूम होनेवाली सब विषयपोषक सामग्री अनायास प्राप्त होने पर और उनसे गाढ़ा संसर्ग होनेपर भी उस महाभागका मन ज़राभी उसके उपभोग करनेकी ओर नहीं डिगता उसीको सच्चा वैराग्यवान् समझना चाहिए. दूसरेकी स्त्री माताके समान, परधन मिट्टी जैसा मानकर सब प्राणियोंपर जिसकी समदृष्टि है, वही सच्चा विरागी है! यह विराग जगतका त्याग करनेसे ही होता है यह जगत त्याग किस प्रकारसे हो? स्त्री धनका त्याग होते ही जगतका त्याग होता है और जगतका त्याग हुआ कि सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं. जगतके दिखलाई देनेवाले ये सारे पदार्थ विषयपूर्ण हैं. ये विषय आज नहीं तो कल, वर्ष या पांच वर्ष पचीस वर्षमें जानेवालेही हैं, तब जीवही उन्हें हर्ष पूर्वक क्यों न त्याग दे? जो जीव स्वेच्छासे विलासको तज देता है, वही अपार सुख भोगता है. पर इस विलाससुखका त्याग कठिन है. उसका त्यागी महात्मा, अपनी उस विरक्तिके फलरूपसे सुखमय अच्युतपदको प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार सबसे विरक्ति प्राप्त चित्तसे ही अच्युत परब्रह्म की अनन्य उपासना की जा सकती है. पर उस बातका सच्चा मर्म न जानकर, मूर्ख लोग इस विषयसागरमें पड़कर अपना विनाश करते हैं. इन पथिकोंको यदि भला बुरा जाननेकी शक्ति नहीं थी तो उनको अपने गुरुरूप सत्साधकके कथनपरही विश्वास रखकर रहना चाहिए था. अज्ञ मनुष्य भी सिर्फ शास्त्र अथवा गुरुके वचनोंपर दृढ विश्वास रखकर चलते हैं तो विना प्रयत्न सिर्फ श्रद्धा—अंध श्रद्धा भक्तिसे

ही अपना कल्याण करते हैं. पर इन मूढोंनें तो महात्मा सत्साधककी पवित्र आज्ञाका भंग किया, उसीका यह फल—फिर जन्ममरणरूप कालका विलास भोग प्राप्त करेंगे. इस लिए पुण्यजनो! प्रत्येक पथिक उपासक—साधक, अपने उपदेश करनेवाले गुरुकी दृढ मनसे आज्ञा पालन करना चाहिए, यह उसका प्रधान धर्म और प्रथम कर्तव्य है. चलो अब समय हो गया है. कीर्तनका आरंभ करें."

अब यहां क्या हुआ वह देखना चाहिए. स्नानसंध्यादिसे निवृत्त होकर पथिक समूह सहित महात्मा सत्साधक अच्युत नामकी गर्जना करते हुए पथिकाश्रममें आया और सब लोग बैठ गये तब सारे संघको देखकर वह बोला; "अहो! कैसा आश्चर्य है. देखो, हमलोग जगत्पुरसे बाहर हुए थे तो हमारे साथ चलनेके लिए कितने बहुतसे मनुष्य निकलतेथे. उस समय मनुष्योंके बाहुल्यके कारण संघको चलनेके लिए मार्गभी नहीं मिलता था. अब हम कितने लोग रह गये हैं! मार्गमें बहु बार आनेवाले लोग और भूलभुलैयोंमें मुग्ध होकर फँसते फँसते अंतमें यहाँतक हमसिर्फ थोड़ेही बच रहे है और अभी कौन जानता है कि ठेठ अच्युतपुर पहुँचने तक क्या होता है? इसके लिए सर्वेश्वर प्रभु—अच्युतने स्वयंही श्रीमुखसे स्पष्ट कहा है कि:—हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एकाधिक मनुष्यही मुझको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करता है और वैसे हजारों यत्न करनेवालोमेंसे मेरे मार्गमें लगे हुए—मेरा भजनकरनेवालों—मेरे लिए सर्वस्व त्याग करनेवालोंमेंसे कोई एकाधिकही मुझे यथार्थसे भले जानता है,' जानलेने पर भी प्राप्तकरना तो दूरकी बात है. इस प्रकार पथिकोंको सच्चे कल्याण मार्गसे गिरानेका काम जहाँ देखो वहाँ वह दुष्ट कामदेवहीका है! जबसे हम लोग इस उपासना सोपानमें आरूढ हुए हैं तबसे जितने मार्ग देखे, उनमेंसे प्रत्येक मार्गका उपदेश करनेवाला मनुष्य यद्यपि उस मार्गका अनुयायी जैसा दीखता था, पर यथार्थ देखनेपर गुप्तरूपसे वह इस कामदेवकाही अनुयायी था; क्योंकि उनमेंसे प्रत्येकके उपदेशमें यदि तुम समझसके हो तो गुप्तरूपसे अनेक कामनाएँ—वासनासेही हलचल मचा रही थीं. गणेशका उपासक उस मार्गमें आरूढ होनेवालेको गणेशकी कृपासे अनेक ऋद्धिसिद्धियोंकी प्राप्तिकी आशा बतलाता था; सौरमार्गी मर्त्यलोकमें आकर सूर्यके समान तेजस्वी शरीरसे अनंतकाल सुख और

इस लोकमेंभी सुख भोगनेकी वात वतला रहा था; और उसी प्रकार विष्णु मार्गी तथा शक्तिमार्गीभी अनेक अनेक आशाओं और परस्परकी निन्दामें मस्त मालूम होता था अव भी ऐसे कई मार्ग, सत्य मार्गसे भुलानेवाले आयेंगे, जिनसे हमे भलीभाँति सावधान रहना चाहिए." इसके वाद नित्य नियमानुसार कीर्तन करके सो सो रहे।

दूसरे दिन सवेरे स्नानसंध्यादि करके अच्युतका स्मरण करते हुए संघ आगे वढा. कुछ दूर जानेपर फिर उनको एक वड़े राजमार्गमेंसे, एक भव्य पुरुष आगे मिला. वह सारे शरीरमें भस्मका लेप किये थे, सिरपर जटाजूट वाँधकर, गलेमें वड़े वड़े रुद्राक्षोंकी मालाएँ पहना था; एकहाथमें लोहेका वड़ा त्रिशूल और दूसरेमें डमरूनामका वाजा, डिमाक् डिमाक् ध्वनिपूर्वक जोरसे वजाकर अपने आनेकी सूचना देता था,

शिवमार्ग

'हर हर महादेव, जय पार्वतीपते, जय शंभो' इत्यादि शब्द वोलते हुए वह पथिकोंको सम्वोधन करके वोला; "अहो! तुम्हारा धन्यवाद है कि जिससे तुम इस कल्याणमार्गरूप शिवमार्गतक कुशल पूर्वक आ पहुँचे हो! पुण्यात्माओ! आज तुम्हारा परिश्रम सफल हो गया; क्योंकि तुम जगद्गुरु और सर्वेश्वरके समान शिवजीके लोक परम सुखरूप कैलास लोकमें आनेवाले मार्गके सिरपर आ पहुँचे हो. देवोंकेभी देव शंकरकी शरणमें आकर उनके मार्गका अनुसरण करनेवाला प्राणी, अवश्यमेव शिवलोकमें जाकर, परम सुख भोगता है. शिवलोक—कैलास, विलकुल आनंद और सुखकाही घर है. शिव कल्याणवाचक और शंकर 'सुखकर्त्ता' हैं—अर्थात् शरण आनेवालेको अवश्य परम सुखके दाता होनेसे ही उनका नाम शंकर है! भगवान् शिवजीके शरणागतको परलोकमेंही सुखमिलता है सो वात नहीं है, इस लोकमेंभी वह परम सुखी होता है क्यों कि जगत्में अपने भक्तको धन, धान्य और पुत्र पौत्रादिकका सुख देनेमेंभी ये शंकर भोलानाथही सवमें अग्रणी हैं. वे ऐसे कृपालु और प्रसन्न स्वभावके हैं कि थोड़ीसी सेवाके वदलेमें अपने भक्तको वड़ीसी समृद्धि दे देते हैं. फिर शंकर भगवान् सवके गुरुभी हैं! उन्हीं शंकर की शरणमें चलो!"

सामने खड़े होकर इस प्रकार उपदेश देनेवाले शिवमार्गीको उत्तर दिये विना काम नहीं चल सकता था. इस लिए महात्मा सत्साधक वोला; "अहो! भगवान् शंकर जो हमारे और सारे विश्वके श्रेष्ठ गुरु तथा

ईश्वर हैं और स्वयं सुखरूप हैं, दूसरोंको सुखके देनेवाले हैं, उनको हमारा अनेकबार प्रणाम है. हम लोग इनके मार्गका उल्लंघन नहीं करनेपर इनके बतलाये हुए मार्गका अनुधावन करते हैं. आपने जिन सुखोंका वर्णन किया वे तो आत्माके सुख नहीं हैं, इन्द्रियोंके सुख हैं. साक्षात् शंकरने भी कहा है कि, 'इन्द्रियाँ अपना अपना विषय तृप्त करें, तो इससे सुख नहीं होता, सिर्फ मनके औत्सुक्यकी क्षणभर शान्ति ही होती है.' श्रीशं-कर अनेकरूप धारी हैं. 'त्रयी' 'त्रिमूर्ति' और ॐ श्रीशंकर हैं. इनके धामका नाम कैलास है, पर महादेवका मुख्य धाम तो 'तुरीय' है. हम वहीं जाना चाहते हैं, क्योंकि जिन देवने, सारे जगतको नाशके मुखमें फेंकनेवाले कामको भस्म कर दिया है उन देवके मुख्य श्रेष्ठ धाममें निवास करना क्या अहोभाग्य नहीं है? हरि और हर दोनोंको प्रणाम है! जहाँ हरिहि प्रथम हैं, उस ओरको हमारा प्रयाण है; क्योंकि वहीं हर भी निवास करते हैं. आपके वर्णन किये गये सुख, सुख नहीं पर विषय हैं, इन विष-योंसे मनुष्यको सुख कैसे हो सकता है? भ्रांतिवाले जीवही इस दुःखमें सुखकी कल्पना करते हैं. हम तो सत्–चित्–आनंदसे शंकरके भक्त हैं आपको प्रणाम! और शंकरको प्रणाम! जय अच्युत!" इतना कह प्रणाम कर संघ सहित वह अपने मार्गमें चलने लगा. उस समय, उस महात्माके कथनका यथार्थ रूपसे गर्भित अर्थ न समझ सकनेसे अनेक पथिक, शिव-मार्गमें जानेके लोभसे पीछे रह गये.

अब जो मार्ग था वह सीधा था और उसमें किसी ओरसे भी शाखाएँ नहीं फूटीं थीं. वह दोनों ओर खड़े हुए सुन्दर घिरावदार वृक्षोंकी छायासे आछन्न था स्वतः गिरकर पड़े हुए रंगबिरंगे फूलोंसे सुशोभित और अनेक प्रकारके पक्षियोंके सुललित शब्दोंसे कूजित उस मार्गसे होकर, महात्मा सत्साधक अपने संघ सहित चला जा रहा था. उस समय उसके मनमें विचार हुआ कि, 'बीचमें पड़े हुए अनेक मार्गोंका अतिक्रमण कर, उनके * अनुगामियोंके उन मार्ग संबंधी किये हुए उपदेशोंकी परवा न करता हुआ, और उनको उनके उपदेशोंका उत्तर भी न देता, मैं संघको इसी प्रकार अपने साथ घसीटते हुए तो आया हूँ, पर ऐसा होनेसे मार्गका रहस्य न समझनेवाले कवि अज्ञान पथिक, पीछे रहते गये और साथमें आनेवाले भी

* उन मार्गोंका अनुसरण करनेवाले।

यद्यपि चले आये हैं सही, पर शंकाशील तो अवश्य ही होंगे; इस लिए अब उनका समाधान करना चाहिए.' ऐसा विचार कर वह अपनी गति मंद करके सब पथिकोंको सम्बोधन कर इस प्रकार बोलना आरंभ किया कि जिससे सब समानतासे सुन सकें.

वह बोला; "मेरे प्रिय पथिको ! हमारे यहाँ तक आते अपने इस मार्गमें अनेक उपासना मार्ग मालूम हुए हैं. उन मार्गोंके अनुयायियोंने हमें अपना साथ बनानेके लिए नाना प्रकारके उपदेश दिये; पर उनमेंसे एककी भी परवा न कर और उनको कुछ भी उत्तर दिये विना हम लोग सरलतासे चले ही आये हैं. पर इसके संबंधमें तुमको बहुत कुछ जानना है. इन टेढ़े मार्गोंमें योगमार्ग, गणेशमार्ग, सूर्यमार्ग, विष्णुमार्ग, देवीमार्ग, और शिवमार्ग इत्यादि प्रधान मार्ग हैं ! उन मार्गोंके अनुयायियोंने अपने अपने उपास्य देवोंको सर्वोत्कृष्ट मानकर ही ऐसा कहा है कि उनकी शरणमें जाना चाहिए. इसके विना यथार्थ उपासना नहीं हो सकती. पर पहले तो उपासनाही किसी करनी चाहिए, इस विषयका बहुत विचार करना है. दृश्य और अदृश्य स्थावर और जंगम सारी सृष्टिका पिता— नियंता प्रभु तो सिर्फ एकहीं है. जगत्‌में कहीं भी दो प्रभु नहीं हैं. वे प्रभु–ब्रह्म निर्गुण, अचिन्त्य और गूढ़ होनेसे, समजमें प्राप्त नहीं हो सकते. उनकी उपासना करते, अर्थात् उनकी शरणमें जाकर उनको प्राप्त कर- लेनेका मार्ग बहुत ही सूक्ष्म है. सब उपासकोंका आवश्यक धर्म भी इन अविनाशी परमेश्वरकी ही उपासना करता है, पर उन सर्वेश्वरकी उपासना तो, इस जगत्पुर और मार्गके इंद्रियजन्य नाशवंत सुखोंकी कामना न कर सिर्फ अविनाशी परम पद–सुखमय ब्रह्मपदकी प्राप्तिके लिए, अनन्य भावसे उन कृपालु प्रभुकी शरणमें जानेकी ही कामना करनी हैं. अपनी इस पथबोधिनीमें कहा है कि, उपासना कौन सत्य है कि जिससे ऐसा अनुभव न होता है कि, 'मैं सब प्राणियोंमें समानसे निवास करता हूँ, मुझको किसीसे द्वेष नहीं है न मुझको कोई प्रिय है पर भक्तिसे मुझको जो भजता है वह मुझमें और मैं उसमें हूँ,' ऐसा माननेवाला ही सच्चा उपासक है. ऐसी उपासनाका सच्चा अधिकारी, शुद्ध और दृढ़ मनके उपासक विना क्यों कर हो सकता है ? अब जिनकी ऐहिक और मार्गके इंद्रिय जन्य नाश होनेवाले सुखोंकी उपासना दूर नहीं हुई इनको अनेक

तरहके सुख प्राप्त करनेकी विविध रुचियाँ होतीं हैं और जहाँ अपनी रुचिके अनुसार सुख प्राप्त होनेकी आशा लगी रहती है वहीं अपना सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव मानकर वे उसका अनुसरण करते हैं. हम लोग देखते आये हैं–कि, योगादि समस्त मार्गोंके उपदेशक अपने मार्गमें अनेक प्रकारकी ऐहिक सुखसमृद्धि मिलानेका लालच, पथिकोंको दिखलाते थे; जिसमें लालचकर अपने संघके अनेक अस्थिर मनके यात्रीम मुमुक्ष लोग, जिनकी वासनाका क्षय नहीं हुआ, उन मार्गोमें चले गये. पर वास्तवमें वे सत्य मार्गसे पतित ही हुए हैं. पतित इसलिए कि, प्रथम तो वे ऐहिक सुखकी लालसावाले थे. अनन्यभाव विना–भ्रष्टचित्तवाले होनेके कारण ही, उन मार्गोंके अधिकारी देव, अर्थात् उन मार्गोंके अंतमें प्राप्त होनेवाले ये गणेशादि देव या उनके लोक गणेशलोक, सूर्यलोक इत्यादिमें पहुँच ही नहीं सकेंगे. कदाचित् कोई अनन्यभाववाला पथिक दृढचित्तसे मार्ग चल कर—उपासना करके उस उपास्य देवके लोकमें जा पहुँचे, तो भी वे देव और वे लोक, बहुत समयके वाद भी, अपने सर्व शक्तिमान् परमेश्वर अच्युत परब्रह्ममें, अंतमें लय हो जानेवाले हैं, इसलिए उन लोकोमें जा कर भी अविनाशी सुखकी आशा तो व्यर्थ ही है–अंतमें भी उसको अच्युतपुरमें आये विना दूसरी गति नहीं है. इसलिए स्वयं अच्युत प्रभुने ही अपने श्रीमुखसे इस विषयमें एक प्रियतम पथिकसे कहा है कि—

" कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

अर्थः—भिन्न भिन्न कामनाओंके द्वारा जिसका ज्ञान गुम हो गया है ऐसा मूढ पथिक अन्य मुक्तको छोड़कर दूसरे देवोंको भजता हैं. और अपनी प्रकृतिके अनुसार उन देवोंमें नानाप्रकारके नियमोंसे बँध जाता है.

" फिर परमात्माने कहा है कि–'जो मनुष्य, जिस देवमें भक्ति रखकर श्रद्धासे उसकी आराधना–उपासना करनेकी इच्छा करता है, उसकी श्रद्धा उस देवतामें मैं स्थिर करता हूँ; क्योंकि सब देवोंका देव और ईश्वर मैं ही हूँ;' फिर वह मनुष्य उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवकी उपासना करता है और मेरी ही निर्मितकी हुई कामनाओं फल उसको प्राप्त होता हैं; क्योंकि सबका नियंता मै हूँ; सारी सत्ता मेरे हाथमें है.' पर इससे क्या लाभ ? ऐसे अल्पबुद्धि मनुष्यको उसकी उपासनाका जो फल

मिलता है. वह तो नाशवान ही होता है. इस प्रकार इच्छा—कामना या द्वेष—से जो सुख दुःख पैदा होता है—अर्थात् नानाप्रकारकी कामनाओंसे उपासना करनेपर जो सुखादि फल प्राप्त किये जाते है. उनके कारण फिर जगत्पुरमें जा पड़नेकी वला—जन्म मरणके रगडेमें वह जा पड़ता है. इस कामसे द्रव्य, पुत्र, कीर्ति इत्यादि भोगोंके भोगने की जो इच्छा होती है, वही वासना है. इस वासनासे भेद बुद्धि होती है और भेदबुद्धिसे अन्तःकरण इधर उधर खिंचता है और इससे ब्रह्म लग्नसे दूर होता है. देवगुर्वादिमें एक प्रकारकी वासनायुक्त श्रद्धासे बँधता है पर इस बँधनेवाले जगत्पुरमें फिर जानाही पड़ता है और 'इस प्रकार जगत्पुरसे लगाकर ठेठ ब्रह्मलोक पर्यन्त (जिसमें सब दिव्य स्वर्ग और अंतरिक्षके सारे लोक भी आ जाते हैं उसमें निवास करनेवाले सारे जीव) मनुष्य देव, राक्षस, इत्यादि सब, फिर जगत्पुरमें आपड़ने अर्थात् जन्म मरणके भारी भयमें ही रहते हैं. सिर्फ मेरी शरणमें आनेवाला जीवही इस बड़े भयसे—जन्म मरणके दुःखसे सदाके लिए मुक्त हो जाता है;' इस प्रकार श्री प्रभुकी स्वयं आज्ञा है. इस लिए ही इस दिव्य मार्गमें आरूढ़ होनेवाले प्राणियोंको, दृढ़ भावसे केवल उन्हींका आश्रय लेना चाहिए और उन्हींके प्राप्त करनेकी उत्कंठा रखनी चाहिए कि जिनमें निवास कर लेने पर फिर जन्मही नहीं लेना पड़ता. मात्र प्रभुके भक्तही उनके निकट जा सकते हैं. पर इस मार्गमें आ जाने पर भी जो अन्य देवके उपासक हैं वे उसी देवसे जा मिलते हैं, ऐसा स्वयं प्रभुने ही कहा हैं. फिर, 'जो देवोंकी उपासना करते हैं, वे देवलोककी ओर जाते हैं, जो पितरोंकी भक्ति करते हैं, वे पितृलोकमें जाते हैं भूत प्रेतादिककी भक्ति करनेवाले उनके लोककी ओर जा पहुँचते हैं;' परन्तु प्रभु कहते हैं कि, 'जो मेरी भक्ति करते हैं, वे मुझसे आ मिलते हैं.' इस लिए दूसरे मार्गमें गये कि फिर पुनरावर्तन—जन्म मरणका झगड़ा मत्थे मढा ही हुआ समझो ! क्योंकि जो देवादि स्वयंही पुनरावर्तनके भयमें हैं, उनकी शरणमें जानेवाले जीव, भयसे कैसे मुक्त हो सकते हैं ?"

"इस लिए प्रिय पथिको ! मार्गमें आनेवाले ऐसे शाखामार्गों और भूलभुलैयोंमें न फँसकर, सिर्फ अपने प्रभु अच्युतकी प्राप्तिके लिए, हमें बीचके इस सीधे मार्गसे ही चले जाना है. ये परम पुरुष अच्युत, जिनमें सारे

प्राणियोंसे पूर्ण यह सृष्टि समाई हुई है और जिनका शक्तिसे हिल और चल सकती है, तभी प्राप्त हो सकते हैं जब उनके चरणोंमें अनन्य भक्ति होती है. जिन्हें इन परम पुरुष अच्युतकी प्राप्ति होगई, वे सबसे भाग्यशाली हैं सब साधन कर चुके. इनके संबंधमें प्रभु अच्युतने स्वयंही कहा है कि, 'जिन्हें मैं प्राप्त होगया' वे महात्मा हुए, और उनको महासिद्धि प्राप्त होगई. तथा इससे उनके दुःखके स्थानरूप और अशाश्वत–नाशवान् जो जन्म है, वह फिर प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि, मेरा परमधाम–श्रेष्ठ स्थान, जो अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म इत्यादि नामोंसे जाना जाता है, उसीको परमगति कहते हैं.' उस स्थानके प्राप्त हो जानेपर फिर वहाँसे मनुष्य नहीं लौटता."

इतना कह कर महात्मा सत्साधक फिर बोला; "पुण्यवान् पथिको! ऐसे अच्युत धामकी ओर जानेका यही पवित्र मार्ग है. इसीसे दूसरे किसीभी मार्गको हमें गणनामें नहीं लेना चाहिये. इस पवित्र पंथकी एक और भी विशेषता है, उसको तुम देखो. चाहे जैसा दुराचारी मनुष्य हो वह भी यदि विशुद्ध अंतःकरणसे, अच्युत प्रभुकी शरणमें आकर, इस मार्गमें आरूढ़ होता है वह अंतमें अच्युतधाममें पहुँच जाता है, नाशको प्राप्त नहीं होता. इसके लिए प्रभुने स्वयंही कहा है कि; कदाचित् कोई बड़ा दुराचारी हो, तो भी अनन्य भावसे यदि वह मेरा भजन करता है तो उसको साधूही जानो. क्योंकि वह उत्तम मार्गमें आया है और इससे उसकी बुद्धि शीघ्रतासे धर्ममें लग जाती है तथा अंतमें उसे अविनाशी शान्ति–सुख प्राप्त होता है.' इस परसे हमें दृढ़तापूर्वक ध्यानमें रखना चाहिए कि, कालान्तरमें भी, विशुद्धि प्राप्त प्रभुका भक्त नाशको प्राप्त नहीं होता."

"फिर प्रिय पथिको! अपने इस अच्युत पथमें ऐसी भी कोई अडचन या प्रतिबंध नहीं है कि मनुष्य विशेषही इस मार्गमें आ सकता है. अच्युत प्रभुको तो हम सब एकसे ही हैं. इसलिए इस मार्गमें आनेके लिए उन कृपालुने सबको समान स्वतंत्रता दी है. उन्होंने स्वयं कहा है कि, "मेरा आश्रय करनेवाला चाहे स्त्रीहो, वैश्यहो, शूद्र हो या जो हो और चाहे जैसी पापरूप नीच योनिमें जन्म लिया हो, तथापि वह परम गतिको प्राप्त होता है और मेरे परमधामकी ओर जाता है, तब पुण्य पवित्र कुलमें जन्म लेनेवाले मनुष्य, पुण्यरूप कर्म करनेवाले ब्राह्मण और भक्तिमान् राजर्षि, मेरे

पदको प्राप्त करें, तो इसमें कहनाही क्या है ? इस लिए यह देह जो सबको प्राप्त हुई है, अनित्य और असुख दुःखरूप है, इससे उसमें लुब्ध न होकर, प्रभुको भजो, उनकी आज्ञाका अनुसरण करो, उनकी भक्ति करो, उनसे एकता करो और उन्हीमें लीन हो जाओ. प्रभु कहते हैं कि; "सब प्राणियोंमें मैं समान हूँ, अर्थात् मेरे लिए सभी समान हैं, कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है;' परन्तु जो मुझको भक्तिपूर्वक भजता है, वह मुझमें है, और मैं उसमें हूँ.' अर्थात् जो भक्त है—जिसकी विश्वकी सारी वासनाएँ दूर होगई हैं, उससे परब्रह्मका ऐक्य शीघ्र हो जाता है.

"अच्युतमार्गियो ! प्रभु श्री अच्युत परब्रह्मके इन वचनोंसे हमें सहज ही मालूम होता है कि नाशवंत जगत्पुर और काल पुरुषके भयसे भाग कर अपनी शरणमें जानेवाले जीवोंपर उनकी कितनी बड़ी दया और प्रीति है ! जो उन कृपालुकी शरणमें जानेके मार्गमें आते उनके आते ही प्रसन्न होकर उन्हें कई प्रकारसे सहायता करके वे उनको अपनी शरणमें खींच लेते हैं. इस विषयमें उन समर्थ प्रभुने स्वयं ही कहा है कि, 'मैं सारी सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला हूँ और यह सारा विश्व मुझसे चलता है, ऐसा समझकर ज्ञानीजन प्रीतिपूर्वक मेरा भजन और नित्य मेरा कीर्तन करते हैं तथा बड़े प्रयत्नसे, दृढ़ नियमोंको धारण कर, भक्तिसे नम्र होकर, एकाग्र मनसे मेरी उपासना—सेवा करते हैं और मुझमें मन लगाकर, मुझमें निर्गुण भाव रखकर, परस्पर मेरे विषयका उपदेश करते हैं, मेरे गुणोंका गानकर संतोष प्राप्त कर, अपना मनरंजन करते हैं, ऐसे विशुद्ध चित्तसे जो मुझको प्रीतिसे भजते हैं उनको मैं इस प्रकारका बुद्धिरूप साधन देता हूँ कि जिनके द्वारा वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं, उनपर अनुग्रह करनेके लिए मैं उनके अंतःकरणमें निवास कर सुप्रकाशित ज्ञानदीपकद्वारा अज्ञानमूलक अंधकारका नाश करता हूँ. इतनाही नहीं पर इस प्रकार अनन्य भक्तिद्वारा जो मेरा ध्यान धारण कर मेरी उपासना करते हैं और ऐसी प्रीतिके बलसे जिनका चित्त मुझमें लग जाता हैं उन्हें इस मृत्युरूप संसारसागरसे मैं तुरंतही अपने पास खींच लेता हूँ.' इसलिए, पथिको ! सारी कामना त्याग कर, उस एककीही कामना करो, प्रकृतिका नाश करो, विकृतिको प्राप्त करो, वासनाको वासनामें लय करो, ब्रह्ममें ही मनको लगाओ और उसीमें बुद्धिको स्थापित करो, जिससे उसीमें यह मन—चित्त निरंतर निवासकर दूसरेकी ओर देखनेको समर्थ ही न हो सके."

"प्रिय पथिको ! यह श्रेष्ठ मार्ग ऐसी महत्तावाला है. इस बातको

भली भाँति ध्यानमें रखकर, प्रयत्नपूर्वक चित्तको नियममें रख, श्रद्धासे मेरे साथ चले आओ. जिससे अंतमें सुखरूप अच्युतपुर पहुँच जाओ. हमलोग जगत्पुरसे अच्युतपुर जानेके लिए ही निकले थे, वहाँ जानेसेही काल पुरुषके महाभयसे मुक्त होंगे. जब कालपुरुषके मृत्युरूप कराल मुखमेंसे मैं बाहर निकल पड़ा और क्षमा याचनापूर्वक मैंने उससे निर्भयस्थानको भाग जानेके लिए पूछा तब उस महात्मा कालपुरुषरूपी भगवानने भी मुझसे इसी मार्गमें भाग जानेकी सूचना दी. उस समय बतलाया था कि, 'मैं दीखने और न दीखनेवाली सादी सृष्टिका भक्षक होनेसे मृत्युरूप हूँ और जिसमेंसे मेरा यह कालरूप पैदा हुआ है और बहुतही समयके अंतमें जिसमें फिर मेरा लय हो जायगा, तथा सारी सृष्टिका लय कर डालनेवाले मेरे स्वरूपका भी लय हो जानेसे, अंतमें जो स्वतंत्र महापुरुष अकेलाही रह जायगा, उस परम पुरुषकी शरणमें जानेवाला प्राणी, मेरे भयसे बिलकुल मुक्त हो जाता है और उसकी शरणमें जानेका यह ब्रह्मैक्यही मार्ग है. यह तत्व न समझ अच्युतमार्गका त्यागकर, चंचल चित्त रखकर, जिस नित्यसिद्ध मार्गमें हम लोग चलते हैं, उसका त्याग करने और दूसरे मार्गमें चले जाने अथवा बीचमें ही प्रमादवशभटक मरनेसे बढकर दूसरी कौन मूर्खता है? और फिर, अहा! ऐसे समर्थ सर्वेश्वर अच्युत प्रभु कि जिनसे विशेष तो क्या, पर समान भी कोई नहीं है और सबके नाशरूप कालपुरुषको भी जिनकी शरणमेंही रहना पड़ता है, ऐसे प्रभुकी प्रभुताका वर्णन कौन कर सकता है? ऐसे समर्थ प्रभुको छोड़कर, किसी दूसरे क्षुद्र देव—कामनावाले देवको जो प्रभुकरके माने उसकी मूर्खताकी भी वर्णन कौन कर सकता है? विषयोंका ध्यान करनेवालेको, पदार्थ अविद्यमान हो तो भी, स्वप्नमें भी अनर्थ पैदा करनेवाला पदार्थ मालूम होता है और जो नहीं है तथा जो नाशवान है उसका भी स्मरण रहता है; इस लिए असन्मार्गमें लेजानेवाली वस्तुकी भक्ति और विरागद्वारा आसक्ति त्याग देनी चाहिए और जब ऐसा करोगे तभी परमधाममें जा सकोगे. तत्वज्ञान संपादन करने, मनोनाश और वासना क्षय करनेसेही वहाँ पहुँच सकते हैं. अब समय भी हो गया है और यह पथिकाश्रम आगया है इसलिए यह बात अब हम लोग एकान्तमें करेंगे." फिर अच्युत परब्रह्मकी जयध्वनिसहित वे लोग उस मार्गकी दाहिनी बाजूपर बने हुए, वृक्ष समूहसे आच्छादित रमणीयपथिकाश्रममें जा उतरे.

सायङ्कालके स्नान संध्यादि नित्य कर्म और अच्युत कीर्तनसे निवृत्त होकर सब पथिक अपने गुरु सत्साधकको घेर कर बैठ गये. तब वह महात्मा बोला; "प्रिय साथियो! समस्त वेद, स्मृति, पुराण और संक्षिप्तमें ऐहिक पारलौकिक सब शास्त्र, यथार्थ रूप किंवा रूपान्तरसे प्रभु श्री अच्युतके ही गुणोंका वर्णन करते हैं. वे सब अंतमें एक मत होकर कहते हैं कि सर्वेश्वर तो प्रभु अच्युत ही हैं और प्रत्येक प्राणीको उनकी शरणमें जाना आवश्यक है; क्योंकि उन प्रभुने संक्षेपमें अपनी अद्भुत सत्ताके संबंधमें कहा है कि; मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, डोरेके सहारे जैसे अनेक मणि गूँथे (पिरोये) जायँ तो वे स्वसत्ता–बलवान् मालूम होते हैं, पर सबका आधार तो डोराही है, उसी प्रकार यह सारा विश्व मुझमें पिरोया (गुँथा) हुआ है अथवा इस सबके जाननेकी अपेक्षा ध्यानमें सिर्फ इतना ही अच्छी तरह रक्खो कि इस सारे जगत्में मैं एकसमान व्याप्त हो रहा हूँ, मैं, सर्वत्र, मैं और मैं ही हूँ, मेरे सिवा कुछ भी नहीं है।'

"इस प्रकार सबसे श्रेष्ठ, सबसे अधिक, सबसे परे, सबका स्वामी, सबसे पवित्र, सबसे शुभ, सबसे समर्थ, सर्व शक्तिमान्, सबका कर्त्ता, सबका हर्त्ता, सबका पालक पोषक, सबका परमेश्वर, सबसे सुखमय, सबका देव, सबमें व्यापक और सबमें समान प्रभु अच्युतको भूल कर सुखकी आशासे जो मूढ़ यहाँ वहाँ भटकता है, उसकी मूर्खताका वर्णन कहाँ तक करें? जैसे प्यासा मनुष्य पुण्यतोया और सबके सुपासका मुक्त द्वाररूप श्रीमती भागीरथीके तट पर रहते हुए भी अपनी तृषाको दूर करनेके लिए कुआ खोदने लगे तो उसका ऐसा कृत्य जैसी मूर्खता मानी जायगी, वैसी ही वासुदेवके समान प्रभु अच्युतको छोड़कर दूसरी उपासना करनेवालेकी मूर्खता भी समझनी चाहिए. अन्य देवोंको लघुता प्रदर्शित कर मैं उनकी कुछ निन्दा नहीं करती; पर यह वर्णन करता हूँ कि प्रभु अच्युत उन देवोंसे कितने बड़े (श्रेष्ठ) हैं. किसी भी देव या सृष्टिके किसी जीवकी निन्दा करना, प्रभु अच्युतका अपराधरूप है. क्योंकि उन कृपालुने स्वयं ही अपनी स्थितिको बतलाते हुए कहा है कि, 'सब देवोंका देव मैं हूँ, सबका आत्मा मैं हूँ. और सबमें समान रूपसे व्याप्त हो रहा हूँ.' ऐसी बात है, इस लिए सब रूपोंमें अच्युत ही प्रभु हैं इस लिए जिस किसीकी निन्दा करोगे वह प्रभु अच्युतकी ही निन्दा मानी जायगी. इस

बातपर तुममेंसे किसीको शंका हो कि अच्युत प्रभुकी सर्व व्यापकताके कारण जब कोई भी निन्दा अच्युत निन्दा ही मानी जायगी तो फिर किसीकी उपासना करें तो वह अच्युतोपसना क्यों न मानी जायगी? बेशक, वह भी अच्युतकी उपासना मानी पर इसमें कुछ भेद हैं. इसके लिए उन कृपालु प्रभुने ही स्वयं कहा है कि; जो श्रद्धासे अन्य देवोंका भजन करते हैं, वे यथार्थ देखते मेरा ही भजन करते हैं; परन्तु मेरी वह सेवा अविधि है, विधिवत् नहीं है, क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि मैं ही सब यज्ञ और उपासनादि क्रियाओंका भोक्ता—अधिकारी—ग्रहण करनेवाला और प्रभु—नियंता, उन उपासनादिका फल देनेवाला हूँ. इससे च्युति—पतन—जन्ममरणको प्राप्त करते हैं.' जैसे कोई वृक्ष अपने मूल, धड़, डालियों, शाखाओं, पत्तों फूल और फलादि अवयवोंके कारण चाहे जितना विस्तृत होने पर भी स्वयं एकही है. उसी प्रकार सारे विश्वरूपमें विस्तृत होने परभी, प्रभु अच्युत एकही है और जैसे शाखाएँ, पत्ते या फल, वृक्षके अंग होनेसे वृक्षही हैं—भिन्न नहीं हैं; वैसे विश्वके पदार्थ, प्राणी, देव इत्यादि अच्युतके अंग होनेसे अच्युत ही हैं. परन्तु देखना यह है कि, वृक्षको जल सिक्त करनेपर वह परम फल देता है, यदि जल सींचनेवाला उसके पत्तों डालियों या फल फूल पर जल डाले तो उससे परम फल नहीं मिल सकता और इस लिए उसका जल सिंचन जितना अविध माना जायगा, उतनाही दूसरे देवोंकी उपासना करना भी यद्यपि अच्युतकी ही उपासना है, विधि-हीन उपासना मानी जायगी. क्योंकि डाली पत्तोंको सींचनेसे जैसे वृक्षका परम फल नहीं मिलता, पर मूलमें जल सींचनेसेही वृक्ष सर्वाङ्गमें आन-न्दानुभव करता है और फल देता है, वैसे अच्युतके अंग प्रत्यंगरूप अन्य देवोंकी उपासना करनेसे प्रभु अच्युत प्रसन्न नहीं होते, सकलविश्व वृक्षके मूलरूप अच्युत परब्रह्मकी उपासनासेही, उनके सहित सारे विश्वके देव संतुष्ट होते हैं और परम फल—मुक्ति देते हैं. इस लिए सबको चाहिए कि उन सर्वेश्वरकी हीं उपासना किया करें. चलो अब रात अधिक होगई है और दिनको चलनेके परिश्रमसे थके हुए पथिकोंको श्रमपरिहार्यकी आवश्यकता है, इस लिए आराम करो." वारंवार प्रभु अच्युतके पवित्र नामकी जयध्वनि करके सब अपने अपने आसन पर जाकर अच्युतका स्मरण करते हुए विश्राम करने लगे.

षष्ठ बिन्दु—षष्ठ सोपान ।

विज्ञान भक्तिमार्ग.

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतिः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥
उद्ध्वस्तमसदाभासमुत्पन्ननगरोपमम् ।
वर्षप्रोन्मृष्टचित्राभं जगत्पश्यत्यवासनः ॥

अर्थ—इस जगतमें जो अत्यंत मूढ है और जो बुद्धिकी पराकाष्ठाको पहुँच चुका है, वह दोनोंही सुख भोगते हैं. मध्यमें रहनेवाले मनुष्यको क्लेशही होता है. वासना शून्य ज्ञानी इस जगतको उजड़ा हुआ, असत, आभासरूप, गन्धर्व नगरके समान और वर्षासे बिगड़े हुए चित्र जैसा देखता है.

सवेरा हुआ, प्रभु अच्युतका नाम स्मरण करते हुए पथिक उठ बैठे. फिर स्नान संध्यादिसे निवृत्त होकर चलनेकी तैयारी करने लगे. महात्मा सत्साधकने उन्हें अपने अपने मार्गकी सामग्री संभाल लेनेकी सूचना देकर चलनेकी आज्ञा दी. नियमानुसार महामंगल शकुनरूप प्रभु अच्युतके नामकी भव्य गर्जनाएँ करके संघ चलने लगा. समय सवेरेका था. ऋतु वसंत थी. मार्गकी दोनों बाजुओंमें खड़े और वृक्षोंकी तरुण समृद्धिसे आच्छादित जलप्रवाहित छोटे बड़े पर्वत, वन और मार्गकी दोनों बाजूपर पड़े हुए नानाप्रकारके नवपल्लव तरुवर, उन परसे हटकर गिरते हुए विचित्र फूल, उनको गिराकर उनके उत्तम परिमल संयुक्त बहता हुआ मंद मंद पवन, उन वृक्षोंपर बैठे, उड़ते और नीचे फिरते हुए अनेक प्रकारके निरीद पक्षी, पक्षियोंका मधुर कलरव, चहुँ ओर आनंदसे ठहरते और दौड़ते हुए निरुपद्रव मृगादि वनपशु, वृक्षोंकी धड़ और घटाओंसे होकर आती हुई बाल रविकी कोमल किरणें और पवित्र प्रेमभक्ति सहित

उत्साही मनसे महात्मा सत्साधकके मुखसे मनोहर स्वरमें गाये जानेवाले प्रभु अच्युतके अवतार चरित्र—ये सब चाहे जैसे निरुत्साही पथिकके मनको भी, उत्साह और आनंदमें मग्न कर देते थे. ऐसे उत्साह मग्न पथिक ज्यों ज्यों आगे वढते गये, त्यों त्यों उनको मार्गके आसपास अनेक दिव्य वस्तुएँ दीखने लगीं. जगत्पुरमें रहकर उन्हें जो तारे और नक्षत्रगण सिर्फ चंद्रिकारूप और बहुत दूर दीखते थे, वे यहाँपर बिलकुल निकट और बड़े दिव्य मंडलके रूपमें दीखने लगे. इससे विस्मित होकर इसका मर्म जाननेके लिए उन्होंने महात्मा सत्साधकसे पूछा. सत्साधकने कहा, "प्रियजनो! तुम लोग इतने हीसे जान सकते हो कि जब हमलोग जगत्पुरमें थे जो कितने निचाईमें थे और इस ऊँचे मार्गमें आकर कितनी ऊँचाईमें आ पहुँचे हैं! आकाशमें चारो ओर चमकनेवाले तारे, तुम जगत्पुरमें रहकर देखा करते थे वैसी चंद्रिकाही नहीं पर प्रत्येक विविध भाँतिकी दिव्य सुख सामग्रीसे परिपूर्ण दिव्य भूमि है. जो वस्तु बहुत दूर होती है, वह यद्यपि बहुतही बड़ी होती है, तो भी बहुत छोटी मालूम होती है. वैसेही ये दिव्य मंडल जगत्पुरसे बहुत ऊँचे होनेके कारण और हमलोग जगत्पुरमें निवास करते थे, इससे अपनी दृष्टि भी वहाँके झूठे व्यवहारोंसे बहुत छोटी होनेके कारण, हमें ये दिव्य स्थान बिलकुलही छोटे दिखलाई देते थे. इस परसे तुम्हें सहजही मालूम होगा कि, अपना मार्ग उत्तरोत्तर कितने ऊँचे जा रहा है! और जगत्पुरसे हम लोग कितने ऊँचे पर आ गये हैं! वास्तवमें हमलोग दिव्य लोकके बहुत समीप आ पहुँचे हैं. अब इन सारे दिव्य स्थानोंको भी अतिक्रमण करके हमें ऊँचे जाना है—वह स्थान अब दूर नहीं है, परन्तु वहाँ बड़े परिश्रमसे पहुँचना होगा. सबके महेश्वर प्रभु अच्युतका कभी नाश न होनेवाला लोक—अच्युतपुर तो इन सब दिव्य लोकोंके ऊपर है. सबसे परे है, उससे परे कुछ भी नहीं है. वहाँ न सूर्यका प्रकाश है न चंद्रकी चंद्रिकाही और न तारोंकी जगमगाहट या बिजलीकी चमकही है. वहाँ तो दिव्य प्रकाशही प्रकाशित हो रहा है, जिसके प्रकाशित होनेसे सारा विश्व प्रकाशित होता है. फिर वहाँ जाकर लौटनाही नहीं पड़ता. ऐसे ऊँचेसे ऊँचे और श्रेष्ठ स्थानकी ओर जानेके लिए कितनी सावधानी और कितने बड़े प्रयत्नकी आवश्यकता है, वह तुम जानतेही हो. फिर मार्गकी अनेक भूल भुलैयाँ—माया, लालच—आशा और विडंबना—

कामक्रोध, ऐसी हैं कि चाहे जैसा सचेत पथिक भी लिबड़े विना नहीं रहता. तो भी अंधश्रद्धाके सहारे विचरण करनेवाले पथिकको अपने मार्गसे पतित न होने देनेके लिए, कृपालु प्रभु स्वयंही अनेक प्रकारसे सहायता करता है. मार्गकी भूल भूलैयाँ, लालच और विडंबनाएँ प्रभु अच्युतकी ऐसी दुस्तर माया हैं कि जो जानी नहीं जा सकती. ऐसी दुस्तर होनेपर भी वह माया, प्रभुके अधीन होनेसे प्रभुके शरणागत—उपासक भक्तको नहीं सताती. इसके लिए स्वयं समर्थकाही वचन है कि:—

" दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥

"अर्थ—अति दिव्य और त्रिगुणात्मक मेरी माया—विलक्षण शक्ति बड़ी दुस्तर है; पर जो मुझको अनन्यभावसे भजता है, वह उस मायाको तर जाता है.

"इस लिए उस कृपालुकी शरणमें पड़े हुए हम लोगोंको उसके आश्रयके बलपर ही सब बातोंसे निडर होकर चले जाना है." इस प्रकार मार्ग संबंधी और प्रभुके सामर्थ्य संबंधी अनेक प्रकारकी बातचीत करते हुए वे बहुत ऊँचे स्थान तक चले गये. इस समय बहुत दिव्य भूमि उनको नीचे परमाणु जैसी मालूम होने लगी और उच्चस्थान समीप मालूम होने लगा. दोपहर हुई, आराम करनेकी आवश्यकता थी. दुपहर एक अत्यंत रमणीक और पुष्पित लताओंसे आच्छादित पथिकाश्रम भी दीखता था. कुछ देरमें वे वहाँ जा पहुँचे और आनंदसे प्रभुके नामका जयघोष किया. उसको सुनकर आश्रमसे एक स्त्री हर्षपूर्वक आकर दरवाजेके पास बैठ गई. वह अच्युत पथिकोंका बड़े प्रेमसे स्वागत करने लगी. उसके आदरसे संतुष्ट होकर वे भीतर जा बैठे और नित्यकर्मादिमें प्रवृत्त हो गये.

नित्य कर्मसे निवृत्त होकर कुछ देर तो आराम करके संघ फिर चलनेको तैयार हो गया. यह देखकर वह स्त्री, जो पथिकाश्रमके द्वारपर उनका स्वागत करनेको आई थी धीरे धीरे अच्युतका स्मरण कर, हाथ जोड़, संघके अग्रणी महात्मा सत्साधकसे कहने लगी,—"साधु ! उतावली क्यों करते हो अच्युतमार्गके सब संघ इस मुकाममें सारे दिन निवास करते हैं क्योंकि यहाँ किसी प्रकारका उपद्रव नहीं है, शान्ति है निर्भयता है, इतना सब होते हुए भी तुम सिर्फ दोपहर बिताकर

क्यों चले ? आगे जाकर रातमें कहाँ रहोगे[1] ?" यह सुनकर सत्साधक बोला; "साध्वी ! आप कौन हैं ? और इस वेशमें अकेली यहाँ कहाँसे आई ? फिर तुमको क्या मालूम कि अच्युतपदके सारे संघ रातको यही निवास करते हैं ?" वह बोली, "हे महापुरुष ! मैं भी तुम्हारे साथके इन पथिकोंकी तरह एक अच्युत पथिकही हूँ; परन्तु न करनेके योग्य एक अपराधके कारण मैं इस दशाको प्राप्त हो अपने संघसे बिछुड़कर पीछे रहगई हूँ और उस दिनसे अब मैं निरंतर यही रहती हूँ. मैंने बहुकालसे अनेकबार देखा है कि यहाँ अच्युतपथगामी सतत रात्रि निवास करते हैं. अबसे संध्यातक ऐसा कोई पथिकाश्रम नहीं है[2] जहाँ तुम पहुँच सको. इस लिए चलनेवाले यह विचार कर कि यहाँसे चलकर रातको कहाँ रहेंगे, यहीं मुकाम करते हैं." यह सुनकर रात वहीं बितानेके लिए सत्साधककी आज्ञा सुनकर सब पथिक निश्चिन्त रूपसे उस महात्मा और उस साध्वीको घेर कर बैठ गये. उस बाई-स्त्रीका शरीर बहुत उज्वल और पवित्रताके कारण भव्य लगता था. यद्यपि उसकी अवस्था मध्यम थी; तो भी वह अच्युत प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए जो नियमरूप व्रत धारण किया था उसके कारण और सतत सच्चरित्रता (एक पति—अच्युतका मनसा, वाचा और कर्मणासे ध्यान सेवन करने) के कारण उसका वय मालूम नहीं हो सकता था. ललाटपर सुन्दर कुंकुम चंद्र, शिर पर शिखामणि, कंठमें मंगल सूत्र और हाथोंमें कंकण, इन चिह्नोंसे वह सौभाग्यवती होने पर भी वह अपने पतिसे कैसे बिछुड़ गई होगी, यह प्रश्न सबके मनमें उत्पन्न हुआ था. महात्मा सत्साधकने पूछा "साध्वी ! क्या अपने दोष की कहानी सुनाओगी ?" पहले प्रभुका स्मरण कर, फिर वह साध्वी बोली[3] "अच्छा आनंदपूर्वक सुनिये. साधु-

---

१ टीका—यह पथिकाश्रम भक्तिधाम है. बाई–स्त्री भक्ति है. भक्तिको सफल करनेके लिए बहुत समय, बहुत श्रम और बड़ी पवित्रता चाहिए. इस लिए भक्तिधाममें बहुत समय तक रहनेकी सूचना की.

२ टीका—सज्ञान भक्ति दृढ़ हो जानेपर जिज्ञासुके लिए दूसरा कोई साधन शेष नहीं रहजाता—सज्ञान भक्तिही मोक्षका साक्षात् साधन है. सज्ञान भक्ति अर्थात् जानकर विचार कर, वासनाका लय करना और फिर ब्रह्ममें आत्माको मिला देना ।

३ टीका—यह साध्वी स्त्री भक्ति और उसका पति ज्ञान है बिना ज्ञानकी अर्थात् सारी वासना—कामनाके लय बिना जो भक्ति है वह सगुणोपाधिक भक्ति है, और जो

वर्य, हम लोग भी आपकी ही भाँति जगत्पुर निवासी थे. परन्तु अज्ञानताके कारण कालपुरुषके साधारण भक्ष्यके समान वहाँ पड़े हुए थे. किसी सद्गुरु जगद्धितेच्छु[1] महात्माके प्रसादसे मेरे पतिको मालूम हुआ कि हम बड़े भयमें हैं, इस लिए इस भयंकर दुःखरूप स्थानसे भागकर किसी निर्भय स्थानकी ओर जाना चाहिए. ऐसा वृत्तान्त जानकर मेरा पति घरमें आया और अपने साथमें घरकी कोई भी वस्तु न लेकर मुझसे चलनेके लिए कहा. मैंने विस्मित होकर पूछा, 'कृपानाथ! अकस्मात् आप कहाँ पधारते हैं?' उन्होंने कहा, 'बातें करनेका समय नहीं है, संक्षेपमें कहता हूँ कि अपने सिर पर ऐसा भय है जिसको कोई नहीं जान सकता. वह भय न जाने किस समय आकर हमें अकड़ बैठे, यह नहीं कहा जा सकता. इस लिए हमें यहाँसे भाग जाना चाहिए. तू आना चाहती हो तो उठ मैं अधिक समय तक यहाँ नहीं रहूँगा।' मैं अपने स्वामीको बड़े पूज्य भावसे देखती थी, उनकी आज्ञा पालन करती थी, तो भी अपने स्त्री स्वभावके कारण मैंने सोचा कि जो वारंवार स्त्रियों और पुत्रादिकको धिक्कारते हैं और घरको त्यगा कर जहाँ तहाँ भटकते फिर कर, दूसरे पुरुषोंको भी अपने ही जैसा हो जानेका उपदेश दिया करते हैं, ऐसे साधुओंका संग करनेसे, मेरे स्वामीको भी कुछ ऐसा ही होना लगा होगा, चाहे जो हो, मुझको तो उनके साथ ही जाना चाहिए. जहाँ वे हैं वहीं मैं हूँ. स्त्रीसे स्वामी बिछुड़ कर कैसे रह सकता है? मैं साथमें रहूँगा कि तो मौका पानेपर समझा कर घरमें[2] भी ले आऊँगी' फिर वे मुझको स्वयंही साथ चलनेकी आज्ञा देते हैं तो फिर और क्या चाहिए?"

"हम जगत्पुर छोड़कर जब सड़कपर आये, तो वहाँ हमारे समान अनेक लोग किसी और ही स्थानको जाते हुए मालूम हुए. हम उनके साथ हो गये और पुरद्वारको पार कर इस मार्गमें आये. मार्गमें थक जानेसे और

ज्ञान सहित भक्ति है वह निर्गुणोपाधिक भक्ति है. यह कथा प्रसंग समझनेके लिए जिज्ञासुको बतलानेकी ज़रूरत है कि, ज्ञान सहित सगुणोपाधिक—भक्ति शोभा नहीं देती—इससे पतन होना संभव है. परब्रह्म प्राप्तिका विधान ज्ञान सहित निर्गुणोपाधिक भक्ति ही है.

१ टीका—सारे जगतका हित चाहनेवाला; यहाँ आत्मारूपसे रहनेवाला पर आत्मा.

२ टीका—घर सो परब्रह्मधाम. ज्ञान अकेला गोता खाता है परन्तु यदि भक्ति सहित ज्ञान हो तो वह जीव स्थिर शुद्धता प्राप्त कर अपने नित्यके अक्षरधाममें रहता है.

अनेक प्रकारके सुख—वासना—कामना मिलनेसे, अनेक मनुष्य तो जहाँ तहाँ अटक जाते थे, पर हम तो दृढ़ निश्चयसे अनेक टेढ़े मार्गोंको पार कर आगे बढ़ते गये. अपने अज्ञान[1] और स्त्री स्वभावके कारण कामदेवके जालमें फँस जानेके लिए मुझे अनेक अवसर आये, परन्तु मैं अपने पतिव्रत अर्थात् अपने स्वामी (ज्ञान) से छूट नहीं सकी, इसीसे हर वार बच गई. पर अंतमें शक्तिमार्गके पाससे मेरा प्रारब्ध टेढ़ा हुआ. उस आदि शक्तिके अनेक उपासक, पथिको जैसे बनकर हमारे संघके साथ हो गई. उसने नाना प्रकारकी रुचिकर बातें करके मुझको अपने स्नेहमें फँसा लिया. उसने बातें करते हुए कहा; 'आद्यशक्ति सब कामनाएँ पूर्ण करती है, अपार सुख देती है;' आदि कहकर बहुतसा लालच बतलाया.[2] मैं पतिव्रता थी इससे उसके लालचमें मेरा मन इतनाही लुब्ध हुआ कि वह महादेवी अखंड सौभाग्य दायिनी है; अर्थात् इस लोकमें मैं अपने पतिके साथ अनंतकाल तक सुख भोग करूँगी' और यद्यपि इस बातको मेरा स्वामी अभी नहीं मानेगा, पर मैं जब उस मार्गमें जाऊँगी तो उस महाशक्तिकी सत्तासे, वह स्वयं ही मेरे पास चला आयगा. ऐसी आशासे मेरा मन विह्वल हो उठा. उस दिन जिस पथिकाश्रममें हमने डेरा डाला था वहाँसे दूसरे दिन बड़े सबेरे अंधेरेमें ही संघ चलने लगा, अपनी सखीके साथ मैं भी उस समय छिपे हुए टेढ़े मार्गमें गई. हम सीधे मार्गमें ही पीछे फिर कर आद्य शक्तिमार्ग तक जाते तो कदाचित् मालूम पड़ जाता कि मुझको कोई पीछे फिराकर लिए जा रहा है, इस लिए टेढ़े मार्गसे होकर वह मुझे ले चली. वहाँ अंधेरा था. भूमि भी ऐसी थी कि कहीं पर बड़ा गहरा गढ़ा, तो कहींपर टेकरी जगह जगह पर छोटे बड़े पत्थर और अनेक प्रकारकी ऐसी घनी झाड़ी थी कि उसमेंसे निकल जाना कठिन काम था. तो भी मैं शक्ति मार्गमें जानेके उत्साहसे कुछ चली. इतनेमें उस जंगलमेंसे मैंने ऐसा

---

१ टीका—ज्ञान रहित-विना समझकी भक्ति ही अज्ञान है.

२. टीका—आद्यशक्ति अर्थात् दृढ़वासनाके क्षयका बल देनेवाली शक्ति आद्य अर्थात् जबसे जीव संसारमें आया उसी क्षणसे वासना क्षय, संसारमें सार नहीं है और सब अनित्य है, यह दृढ़तासे जान लेने पर होता है और वैसा जान लेनेपर परब्रह्मको जाननेवाली जो शक्ति-भक्ति है, वह अपने पति ज्ञानके साथ नित्य रह सकती है. यह अखंड अहिवातिन–सौभाग्यवती है.

भयंकर शब्द सुना कि बड़े भय और आश्चर्यसे मैं चमक उठी और जब भयके मारे भागने लगी कि न जाने कि घरसे कौन आ जायगा तो सामनेके एक बहुत बड़े गढ़ेमें[1] जिसमें बड़े बड़े नुकीले पत्थर थे खड़ीकी खड़ी गिर पड़ी! हाय! ऐ बहन! मैं गिर गई! गिरी! इस प्रकार मैं बहुत कुछ चिल्लाई परन्तु किसकी बहन और किसका कोई? हो गया. इस अंधकारमेंसे मेरा उद्धार करनेके बदले वह शक्ति भक्ति श्रद्धा अदृश्य हो गई. परन्तु अपना कर्म मैंने भोग किया. पत्थरों पर गिरनेसे मैं अपंग हो गई.

"सूर्योदय होनेपर उस गढ़ेमें कुछ प्रकाश[2] पड़ा, तब मैंने ऊपरकी ओर देखा, मालूम हुआ कि मैं बड़े ही गहरे गढ़ेमें गिर गई हूँ और किसी प्रकारसे भी बाहर नहीं निकल सकती. सौभाग्यसे वह स्थान अच्युत मार्ग और पथिकाश्रमसे बहुत दूर नहीं था. मुझको इस आशासे धीरज हुआ कि मार्गमें आने जानेवालोंमेंसे कोई भी तो मेरी पुकार सुनेगा. परन्तु संघ तो चला, बस वहाँ कौन है? मैंने कई दिनरात इस कारागार जैसे स्थानमें ही परम दुःख और आशाओंमें बिताया. इतनेमें तो मुझे अपने स्वामीके वियोग और उनको छल कर किये अपराधका दुःख असह्य हो उठा. हाय! एक पतिव्रता जो अपने पतिकोही सर्वस्व मानती और उसीकी सेवामें अपना जीवन सफल समझती थी, ऐसे प्रपंचपूर्ण छल लपटसे होनेवाले वियोगके कारण कितने बड़े असह्य संकट सहती होगी, इसका आप सुज्ञ हैं इस लिए स्वयं विचार कर लें."

वह फिर कहनेलगी "सभ्यपुरुष! नरकके इस दबडमें अंधग होजानेके कारण मुझको असह्य पीड़ा हुई. मैं डरी कि ऐसी पीड़ामें मेरे प्राण चले जायँगे! इसमें भी मैंने अपने स्वामीसे जो कपट किया और अपने हाथसे उनका जो असह्य वियोग बटोर लिया इन सब कारणोंसे उनके मनमें कैसे तुच्छ विचारोंने घर कर लिया होगा—इन सब बातोंका संकट मुझको अत्यंत असह्य होगया. इसके सिवा मैं जो पवित्र अच्युतमार्गसे भ्रष्ट होगई थी, इसका संकट तो मुझे भालेकी भाँति हृदयमें सालता था. ऐसे संकटमें जब दो तीन रातें बीत गईं, तो मैं बिलकुल मृतप्राय होगई. मेरी आँखें,

---

१ टीका—यह गढ़ा उस कामना—वासनाका समझना चाहिए.

२ टीका—ज्ञानपूर्वक जान लेना कि वासनाही संकटरूप है, ऐसा विचार.

कान आदि इंद्रियों भी अब अशक्त हो गईं. शरीर और इंद्रियाँ निर्बल हो गईं, परन्तु आत्मबल धीरे धीरे बढ़ा. उसमें महाउग्रशोक—विरागने सहायताकी. बहुत देरतक जोरसे रोते रोते गला बैठ गया, आँखोंमें जल भर गया, और सिर खाली होजानेसे शून्य होने लगा. तो भी हृदयका उफान तो बढ़ताही जाता था. बारंबार ऐसा लगता था कि हाय! हाय!! कोई भी दयालु मनुष्य—सद्गुरु मुझ गरीबकी पुकार सुने और मुझको यहाँसे निकाल दे तो मैं चाहे जैसी दौड़ धूपका रातदिन एक सा चल कर अपने वियोगी स्वामीसे जा मिलूँ और अपने अपराधकी माफी माँगूँ. अपने स्वामीसे जा मिलनेकी तरंगमें मैं अपने देहका भान भूल जाती थी. सद्गुण दंपति (ज्ञान—भक्ति) का परस्परका प्रेमावेश कैसा अद्भुत होता है! वैसा प्रेम (विज्ञानभक्ति) यदि प्रभु अच्युतके चरणोंमें पैदा हो तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि वह कृपालु प्रेमसागर इस प्रेमके अधीन होकर, क्षण भरमें दर्शन दे दे। ऐसे आवेश और ऐसी आशामें अपने निस्तेज हो जानेवाले नेत्रोंको कठिनाईसे खोल खोलकर ऊपर की ओर देखती थी. पर उस खाईके सिरेपर खड़े हुए नाना प्रकारके वृक्षोंके सिवा मुझको कुछ भी नहीं दीखता था. मैं थककर निराश होगई, अंतमें हैरान होकर, ऐसा सोचने लगी कि ऐसे दुःखमें यहाँ पड़े रहनेकी अपेक्षा जैसे दुष्ट कामनाके कारण अच्युतमार्गसे भ्रष्ट हुए अनेक जीव कालपुरुषके पंजेमें पड़ जाते हैं, वैसे मुझको भी वह कालनर अपने लम्बे हाथसे झटक लें तो बहुत अच्छा हो. पर हाय! ऐसा होनेसे तो मेरा नाश हो जायगा—अधोगति होजायगी और मेरे लिए मेरे स्वामीके मनमें नित्यका तुच्छभाव और मेरे मनमें अपने हाथसे बटोरा हुआ उनका सदाका वियोग दुःख जन्ममें सालताही रहेगा और मैं कहीं भी स्वस्थ न हो सकूँगी मुझको अपने अपराध—सकाम उपासनाका दण्ड अच्छी तरहसे मिला. सोचा कि, मैंने परब्रह्मकाही अपराध किया है, उनके विना दूसरा कौन दया दर्शायगा? अपने स्वामीसे नित्य सुना करती थी कि वह प्रभु परमदयालु हैं, क्षमाके भंडार हैं, करुणाके सागर हैं और शरणमें आनेवालेके रक्षक हैं. इस लिए इस परम घोर संकटमें मैं अपने अंतःकरणसे उनकी शरणमें जाऊँ.

---

१ टीका—विना ज्ञानकी भक्तिकी दशा वर्णनकी है।

यही प्रभु मुझको यहाँसे उवारेंगे—ऐसा विश्वास होते ही मैंने उन कृपालुकी प्रार्थना आरंभकी:—

'हे दयासिन्धो! हे सर्वेश्वर प्रभु अच्युत! कभी तुम्हारा नाश—च्युत—पतन न होनेसे और तुम्हारी शरणमें आनेवालोंका भी तुम्हारे पाससे कभी पतन न होनेसे तुम्हारा अच्युत नाम पड़ा है. सारी सृष्टिके स्वामी, पोषक और पिता आपही हो और यह सारा जगत आपसे ही पैदा हुआ है तथा अंतमें आपमें ही लय हो जायगा. आपकी ही संतान होनेसे आपको समानही प्रिय हैं, तो भी हममेंसे जो प्रीतपूर्वक आपकी शरणमें जाते हैं और आपका स्मरण करते हैं, वे आपके अत्यंत प्यारे होजाते हैं तथा उनको आप मृत्युरूप जगत्पुरमेंसे उबार कर अपने पास खींच लेते हो. मैं दीन हीन अवला हूँ; मन, वच, कर्मासे केवल आपही की शरणमें पड़ी हूँ मुझ अवलाको इस महत्संकटसे उद्धार करो. दीनबंधु! आपका ऐसा व्रत है कि चाहे जैसा नीच हो, सारे पापोंसे पूर्ण हो, सारे संसारमें तिरस्कृत किया गया हो पर यदि एकवार भी सच्चे मनसे आपसे कहे कि, 'हे प्रभो! मैं आपका हूँ' तो उसके अपराधोंको भूलजाकर उसको आप अपने लोकमें बुला लेते हो. मैं इस महत्संकटमें हूँ; माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, कुटुम्ब, मित्र, स्नेही या स्वामी इत्यादि सभीकी सहायतासे वंचित होकर पड़ी हूँ अव आपही मेरे ये सब सगा सहोदर हो, इस लिए अपनी शरणमें आई हुई मुझको उबारो. प्रभो! आप सर्वत्र निवास करते हो, आपके पाणिपाद* सब जगह फैले हुए हैं, इस लिए अपने पुनीत हाथोंसे मुझको यहाँसे उठा लो. आपके नेत्र और मस्तक सर्वत्र व्याप्त हैं, उन पवित्र नेत्रोंद्वारा मेरी यह दुर्दशा देखो और अपने श्रीमुखसे मुझको अपनी कहकर पुकारो. सर्वत्र व्याप्त हुए अपने श्रोत्र—कानोंसे मेरी यह दीन प्रार्थना श्रवण करो. क्षमावंत! मैंने अपने स्वामी (परन्तु यथार्थ देखते मेरे स्वामीके भी स्वामी जो आप हैं) के प्रति जो अपराध किये हैं उनसे मेरा हृदय बहुत काँपता है. इस अपराधद्वारा मैं महा पतित होगई हूँ, तो भी आपकी पतितपावनता—चाहे जैसे पतितको भी पवित्र कर देनेकी अद्भुत शक्ति जानकर ही मैं आपकी शरणमें

कीर्तन भक्ति

---

* पाणिपाद—हाथ पाँव. सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ यह गाथामें वर्णित अच्युतरूपका स्मरण है.

आई हूँ; इस लिए मेरे अपराधोंको क्षमा कर आप मुझको अपनी शरणमें ले लो. प्रभो! जगत्पुरमें प्राणियोंको जन्ममरणका जो नित्य दुःख उठाना पड़ता है और जन्म लेकर नाना प्रकारके रोग और आधिव्याधि उपाधिरूप दुःख पड़ता है तथा अनेक जन्मोंमें अनेक दुराचार होजानेसे उत्तरोत्तर, गधा, शूकर, कुत्ता, काग इत्यादि नीच योनियोंमें जन्म लेकर महादुःख उठाना पड़ता है, ऐसी अधमाधम स्थिति होनेपर भी अंतमें नरकमें पड़कर असह्य दुःख भोगना पड़ता है; यह सिर्फ आप परमानंदीको भूलाकर, अनित्य आनंदकी लालसाकाही फल है और इस प्रकार मैं भी आपको भूल जानेसे ही इस दशाको प्राप्त हुई हूँ. इस लिए यह अपराध क्षमा करो. जगदीश्वर! आप जगतको दिखलाई नहीं देते और आपके निर्मित नियमोंके अनुसार जगत् सतत चला आता है, परन्तु उसमें यदि धर्मका उच्छेद होकर अधर्म बढ़ जाता है, दुर्जनोंका बल बढ़ने लगता है और साधुओंपर संकट आता है तो आपसे वह सहन न हो सकनेसे आप तत्काल विश्वमें प्रकट होकर उस बढ़े हुए अधर्म और दुष्टोंका नाश कर, धर्मकी स्थापना करते हो इस प्रकार अनेकवार विभिन्नरूपोंसे प्रकट होकर आपने अनेक चरित्र किये हैं और अत्यंत प्रेमसे भजनेवाले भक्तोंको आपने अपने इस पवित्र मार्गका भी स्वयं ही उपदेश दिया है—सारे शास्त्रोंमें उल्लिखित आपके जिन पवित्र चरित्रोंको मैंने अपने स्वामीसे अनेकवार सुना है. मेरे स्वामीका उपदेश है कि इस प्रकार प्रेमपूर्वक आपके चरित्रोंका सुनना आपकी 'श्रवणभक्ति' कहलाती है सर्वेश्वर मुझपर कृपा करो! पाहि! पाहि!"

इतना कहकर वह बाई सत्साधकसे फिर बोली; महापुरुष! इस प्रकारसे प्रभुकी गुण कीर्तनरूप प्रार्थना करते हुए मैं प्रेमावेशमें अच्युत प्रभुके इस प्रकार बुलाने और पुकारने लगी मानो वे सभी यहीं हों.

स्मरण भक्ति

मैंने कहा, 'अच्युत अविनाशी, परात्पर, सर्वेश्वर, हर, वासुदेव, विश्वंभर, करुणासागर, दया करो; मुझे उवारो.' इस प्रकार उनका स्मरण करते हुए, अच्युततीर्थमें मैंने प्रभु अच्युतकी जिस अत्यद्भुत

१ टीका—क्योंकि यहाँ तक भजन, कीर्तनसेवा आदिसे वासनादिका क्षय नहीं होता. जीवको चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है.

सौम्य प्रतिमाका बड़े प्रेमसे अवलोकन किया था उसका स्मरण हो आया. वह मानो मुझको यहाँसे बाहर निकालनेके लिए मेरे समीप आकर खड़ी है, ऐसा विचार कर मैं उसके चरण पकड़ लेनेके लिए खड़ी हो गई ! इस प्रकार प्रेमावेश चित्तसे प्रभुके चरणोंका सेवन करना 'पादसेवन भक्ति' कहलाती है. पर ज्योंहीमें वलपर खड़ी हुई, त्योंही शरीरके प्रत्येक जोड़ (गाँठ) और रगोंमें ऐसा झटका लगा कि जिससे आँखोंमें अंधेरा छा गया और सिरमें चक्कर आतेहीमें फिर पछाड़ खाकर गिर पड़ी ! मैं एकाएक वेसुध—मूर्छित हो गई !"

इतनी वातें कहकर साध्वी कुछ देर तक चुप रहकर पथिकोंके संघमें चारों ओर देखने लगी. मूर्छित हो जानेके वाद फिर मेरा क्या हुआ, यह जाननेके लिए वह सव लोगोंको अधीर हुए देखा. वे सव उसके मुखकी ओर देख रहे थे कि देखें अव उसके मुखसे क्या शब्द निकलते हैं. ऐसा देखकर उसने उनको वह वृत्तान्त जाननेके अधिकारी समझकर कहने लगी; विना जिज्ञासा अनधिकारी मनुष्यसे अच्युतवार्ता कहना एक अपराध हैं. अव जिनके चरणारविन्दमें अपूर्व प्रीति लगी हुई उन प्रभु अच्युतका स्मरण करके वह वोली:—

"अच्युत प्रिय ! महात्मन् ! अव जो वात मैं कहूँगी वह विशेष जाननेके योग्य है. उस गढ़ेमें मेरा शरीर मृतवत् हो गया और जीव डूव सही गया परन्तु मनकी वासना, जो इंद्रियोंके मूलतत्त्वों सहित सदा जीवके साथ रहकर उसको जन्म मरणके चक्करमें डाल कर अनेक दुःख सुख मिश्रित अवस्थाएँ भुगाती है, मरी या डूवी नहीं थी. ब्रह्मवाक्य है कि; 'मन मरे न माया मरे, मरमर गये शरीर; आशातृष्णा न मरे कह गये दास कवीर,' इसी प्रकार अभी मेरी आशातृष्णाका नाश—वासनाका नाश नहीं हुआ था. उसने तो उल्टा, और सव तत्वोंके शिथिल पड़ जाने और स्वयं अकेली रह जानेसे वड़ाही प्रवल रूप धारण किया था. इस वासनामें ऐसा उत्तम गुण है कि जिस पदार्थ पर इसको लगाओ उस पदार्थपर मनको वड़ी दृढ़तासे जमा देती है—उसकी योजना करनेवाला उसे अच्छे या वुरे चाहे जैसे मार्गमें नियुक्त कर दे, इसका उसे ज्ञान नहीं रहता—वह जैसे मार्गमें लगती है वैसीही

वासनावळ

हो जाती है. मुझको भी ऐसाही हुआ. अपने भारी संकटके समय अपनी मनोवासना मैंने प्रभु अच्युतके चरणोंमें नियुक्तकी थी और उसी समय मेरी मूर्च्छित अवस्था हुई, तब उस मनोवासनाने वहीं प्रवलता पकड़ी. अपने इस पार्थिव–स्थूल शरीरका मुझको भानही नहीं रहा; क्योंकि वह स्वयं ही अपने वलसे एक नूतन देहरूप बन गया, और मेरा जीवात्मा तुरंत उसमें जा रहा।

" इस प्रकार मैं नूतन देहवाली हो गई, तो भी मुझे स्मरण नहीं रहा कि मेरा यह स्थूल देह मुझसे अलग पड़ा है; क्योंकि इस स्थूलमें रहकर भी " मैं " पन रहता है–जो वास्तवमें तो वासनाहीका होता है. जैसे स्वप्नमें उड़नेवाले दौड़नेवाले, दूर चलेजानेवाले प्राणीका स्थूल देह विस्तरेमें पड़ा रहनेपर भी वह अनेक, भिन्न, भिन्न और दूरदूरके स्थानोंमें जानेका अनुभव करता है, तो भी उसे इसका भान नहीं रहता कि स्वयं मैं उसे भिन्न हुआ संयुक्त, वैसाही यह प्रसंग था. पर इस अवस्थामें–वासना देहमें मैं विलकुल आरोग्य, सशक्त और विना किसी उपाधिकी थी, इस स्थूलका दुःखादि तो स्थूलके पासही रहा गया था."

" मेरी सत् वासना अब मार्गमें लग गई थी, वही कार्य मैंने तुरंत आरंभ कर दिया. उस परम दिव्य अच्युत तीर्थकी अच्युत मूर्ति, जो मुझको वासनारूपसे दिखलाई दी थी, कहीं चली नहीं गई थी. उसको देखकर मुझे प्रत्यक्ष अच्युतसे मिलानेके समान भावना हुई. इससे अत्यंत प्रेमभावसे आरंभमें मैंने उन कृपालुके चरणस्पर्श करनेके लिए जो प्रयत्न किया था, तथा जिसके लिए मैं मूर्छित हो गई थी वह मैंने उस समय फिर सफल किया. प्रभुके त्रिलोकपावन चरणोंका स्पर्शकरके मैं कृतार्थ हुई. प्रीतिका बंधाव ऐसाही होता है ! अन्तर्यामीपनसे मेरे प्रेमको जानकर उन सर्वेश्वरने मुझे अपने चरणोंका पुनः स्पर्श कराया. अहो ! हे साधुजन ! धन्य धन्य वे पवित्र चरणार्विन्द ! अहो ! क्या उन्होंकी मृदुता ! कैसी कोमलता ! जानो प्रफुल्लित कमल के उपरही मेरा हाथ न फिर गया हो ! उन्होंका वर्ण (रंग) भी तलियोंके भागमें तो सचमुच खीले हुए नवीन कमलहीके समान गुलावी ! और उन्होंका आकार भी अरविन्दकासा. पादतलियें, वे जानो कमल का मध्यभाग, और सुंदर अंगुलियें, वे जानो कमलकी मृदु पांखडियें ! उन (अंगुलियों)

पादसेवन भक्ति

के तले में जो अनेक प्रकारकी रेखाएं, उनमें भी मुख्य रेखा पद्म, अर्थात् कमलकी थीं. इन कारणोंसेही शास्त्रोंमें उन प्रभुचरणों को चरणारविन्द, चरणकमल और पादाब्ज इत्यादि नाम दिये गये हैं.

उपरके भागमें देखूं तो वह घनश्यामवर्णा चरणोंकी अंगुलियोंके नखरत्न जानो अंधेरी रात्रिमें श्यामवर्ण आकाशमें तेजस्वी तारे चमकते हों वैसे दीखते थे. ऐसे मंगलमय चरणारविन्दोंको वारंवार सेवनस्पर्शन करनेसे जब मैं तृप्त नहीं हुई तब उन्होंके उपर मैंने अपना मस्तक धर दिया. अबतक मेरा प्रेम* बढताई जाताथा, इसलिये इतना संतोष न होनेसे वे चरण मेरे मस्तकपर धारण करनेकी तथा अपने हृदय से चांपनेकी मुझे प्रबल उत्कंठा होगयी. उस प्रभुने वे दोनो मृदु चरणारविन्द मेरे मस्तक उपर धरे, और मैंने प्रेमसे उन्होंको अपने हृदयसे चांपा. त्रिलोकमंगल वे चरणारविन्द मुझे समग्र सुखके स्थान, और सकल साधुसंतोंका आश्रय रूप हुए. वे सकलश्री, समृद्धि, प्रताप और अद्भुत ऐश्वर्यके धामरूप थे. सर्व देवताओ, महर्षियो, और साधुजनो जिनका ध्यान करते हैं, एवं श्री शिव–ब्रह्मादिक सृष्टिके ईश्वर जिनका निरंतर वंदन, तथा सेवन करते हैं, ऐसे वे अच्युतचरणारविन्द, ध्यान करनेवालेके अन्तःकरणमेंके सर्व पाप–दुःख, वासना तथा अज्ञान का समूल नाश करदेते हैं !

चरण, यह समस्त शरीरमें नीचा अंगहै; और उनसे ऊपर के उत्तरोत्तर चढते अंग विशेष उत्तम हैं. प्रभुकी मूर्त्तिके वे वे अंग कैसे सुखमय होंगे,! ? यह देखनेके लिये फिर मेरी वासना–उभर आई.†

---

*टीका–यहां लौकिक प्रेम नहीं समझना, किन्तु परब्रह्म कौन? और जीव कौन? उन्होंका संबंध क्या? यह जाननेरूप जो श्रम वही प्रेम. † टीका–जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता संबंध में इस भक्तिका प्रकार निरालाही है. परब्रह्मके शोधन में प्रथम तत्त्व का विचार करना चरणभक्ति है; पंचभूतका विचार कीर्तनभक्ति है; पंचकोशका विचार स्मरणभक्ति है; पंचतत्त्व, पंचमहाभूत, पंचकोश इन सबसे मैं न्यारा हूँ, ऐसा जो दृढ निश्चय है वह अर्चनभक्ति है; मैं कौन हूँ, इस प्रकार महावाक्यसे विचार करना वंदनभक्ति है; आत्मा और परमात्मा एकही है, मैं दूसरा नहीं हूँ—अर्थात् आत्मा परमात्माकी एकताका विचार, दास्यभक्ति है; 'वह तू है' ऐसा निश्चय करना सख्यभक्ति है, यह सब ब्रह्म है, ईश्वररूपही है, ऐसा दृढ निश्चय होना आत्मनिवेदन है और परमात्मा तथा आत्मा एकही है, इस प्रकार परमात्मामें आत्माको लीन करना अनन्यभक्ति है. प्रभुके स्वरूपकी सेवाके संबंधमें ऐसा

"पहले मैं उनके चरणारविन्दसे मुकुटपर्यन्त सारा स्वरूप अचल दृष्टिसे देखने लगी; पर जब संतुष्ट नहीं हुई तो फिरसे मैंने उनका प्रत्येक अंग देखना प्रारंभ किया सुन्दर भरी हुई पिंडलियाँ, केलेकी पींड जैसी जंघाएँ, अत्यंत गोल और पुष्ट नितंब जगतके उत्पत्ति स्थानरूप गुह्यांग, सिंहकी कमरके समान कटिभाग और, उसपर बड़ी छटासे पहरा हुआ बिजलीके समान तेजस्वी पीताम्बर, गंभीर नाभि, अत्यंत मनोहर और उदार वक्षस्थल—हृदय, अपनी अद्भुत आभा और शोभासे प्रदीप्त कौस्तुभ मणि, उनके अत्यंत विशाल और सिंहके समान स्कंध, दिव्य बाहु उनपर पहरे हुए रत्नजड़ित बाहुभूषण—बाजुबंद, सुन्दर पहुँची, नूतन प्रस्फुटित कमलके समान अरुण और सुकोमल हस्तकमल-चंद्रसम प्रदीप्त नख, और उँगलियाँ, सुन्दर सुकोमल कंठप्रदेश, तेजस्वी हीरकासे प्रदीप्त चिबुक, बिम्वाफल सम अधरोष्ठ, मंद—मधुर मुस्कुराता हुआ मुखारविन्द, हँसते हुए कभी कभी दिख जानेवाली—मणियोंसे जड़ी

अर्चन भक्ति
ध्यान भक्ति

समझना चाहिए कि—मैं कहाँसे आया, कैसे आया, कहाँ जाऊँगा, मेरा क्या होगा. ऐसा विचार होना चरणप्रक्षालन है; संसार असार है और मैं मृत्युवश मानवी हूँ, ऐसे विचारसे संसारसे अलग होजाना प्रभुकी स्नानादि क्रियाका भेद है; मैं जीव नहीं हूँ, पर और कुछ हूँ, ऐसा विचार होना वस्त्रपरिधान है; मैं पंचभूतसे न्यारा हूँ, पंचकोशसे न्यारा हूँ ऐसा विचार होना अलंकार परिधान किया है; जो वह है वही मैं हूँ ऐसा निश्चय पुष्पचंदनादि किया है; मैं विश्वव्यापी हूँ, मेरा इस संसारसे कुछ संबंध नहीं है— मैं किसीका नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है ऐसा जो विचार है वह मंगल आरति है; मैं ही वह हूँ, ऐसा नखशिखपर्यन्त अखंड एकरस भाव प्रकट करना और परमात्माका अनुसंधान करना परम दर्शन है. प्रभुके चरण तत्त्वविचारका स्थान; घुटने पंचभूत विचारका स्थान, जानु पंचकोश विचारका स्थान; कटि, द्वैत अद्वैतके भेद विचारका स्थान, पेट परमात्मा और आत्माकी एकताके विचारका स्थान; हाथ 'वह तू है' इस निश्चयका स्थान; हृदय, 'मैं सर्वत्र हूँ, किसीसे जुदा नहीं हूँ ऐसे निश्चयका स्थान; कपोल, सब वासनाक्षयका स्थान; मस्तक, विज्ञानब्रह्मको जाननेका स्थान और मृदु मैं ही परब्रह्म हूँ ऐसा जानकर परब्रह्ममें लीन—लय होनेका स्थान है—ऐसा वेदान्तपक्षमें परमात्माकी उपासनाका स्वरूप है।

१ जाननेवाला जानता और कि परमात्माके अंग, वस्त्रालंकार लौकिक अलंकारों जैसे नहीं हैं, पर वे सब दिव्य—कल्पनामें न आनेवाले अनिर्वचनीय और अकथ्य हैं. परन्तु उनके समझाने या दिखलानेके लिए इहलोककी भाषामें शब्द न होनेसे उनके समझनेके लिए ही इस भाषाके व्यावहारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है.

हुई जैसी दशनपंक्ति, सुन्दर सुकोमल लावण्यमयी नासिका, तुरंत प्रस्फुटित हुए लाल कमलके समान सुन्दरतापूर्ण तेजकी खानके समान विशाल कोमल नेत्र, सुन्दर बांकदार भृकुटी, गोल सुकोमल गाल विजलीके समान शोभा देनेवाले कोमल कर्ण, उठे हुए कपोलपर झूलती हुई श्याम स्निग्ध (सकिरण) केशकी लटें, भ्रूमध्यसे आरंभ होकर भव्य ललाटका कस्तुरी तिलक, मोतीकी माँग और मयूरपुच्छकी चंद्रिकाओंसे अलंकृत महाशोभायमान मुकुट जिसपर सुशोभित था वह सर्वोपरि कोमल केशावलियुक्त श्रीमस्तक, गलेमें पड़ी हुई कमलफूलोंकी लम्बी वनमाला कंधोंमें पड़ा हुआ सुवर्णक पीन (मोटा) उपरणा और क्रीड़ाके लिए हाथमें धरा हुआ लम्बी डाँडीवाला प्रफुल्लित कमलपुष्प—इस प्रकार अंग प्रत्यंग और वस्त्रालंकार पूर्ण प्रेमसे अवलोकन कर, मैं वारंवार उनकी परिक्रमा करने लगी और अबसे फिर उस दिव्य स्वरूपको कभी भूल न सकूं इस प्रकार बड़ी एकाग्रतासे अपने आत्ममंदिरमें उसकी दृढ़ स्थापना कर ली."

"अब मेरा प्रेम उत्तरोत्तर उस स्वरूपमें बढ़तेही गया. मुझे उसका अर्चन करनेकी इच्छा हुई. उन कृपालु प्रभुकी इच्छासे मेरी सारी मनोवृत्तियाँ—जो अंतःकरणमें नित्य अदृश्यरूपसे रहती हैं—उस समय अनेक प्रकारकी दिव्य पूजनकी सामग्रीरूप होने लगीं. उल्लासयुक्त मनसे मैं प्रभुकी मानसिक सेवा करने लगी. पुष्पांजलिद्वारा उनको स्वागत किया. मनोमय रीतिसे विधिपूर्वक यह सब अर्चनविधिकी, जो प्रत्येक जिज्ञासु जानता है, तू भी जानता है और यह संघ भी जानता है. तुम्हारे हृदयमें वह भराहुआ है; इस लिए इस आनंदका विशेष वर्णन नहीं करती."

इतना कहकर वह साध्वी कुछ देर चुप रह कर फिर बोली; "फिर यह जतलानेके लिए कि यह कृपालु प्रभु, मेरे सबसे श्रेष्ठ, पूज्य, मान्य और सेव्य हैं और मैं उनके अधीन हूँ, मैंने उनके चहुँ ओर अनेक वार प्रदक्षिण करके, उनके चरणारविन्दमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके वंदन किया. 'प्रभो आप सदा सर्वदा मेरे वंदनीय हो, मैं प्रेमसे आपके पदकमलको प्रणाम करती हूँ. आप सबके वंदनीय हो. सारा विश्व आपके नत आगे मस्तक है. आप दृश्यादृश्य समग्रसृष्टिके पदार्थों और प्राणियोंसे श्रेष्ठ हो. आपसे बढ़कर कोई अधिक नहीं है. इसलिए हे दीनबंधु ! आप मेरे, जो कि प्रारब्धयोगसे यहाँपर बिलकुल

वंदन भक्ति

अनाथ हो गई हूँ, उद्धारक बंधु हुए हो, उसका पल्टा चुकाकर आपको प्रसन्न करनेके योग्य मेरे पास कुछ नहीं है; सवरूपसे केवल मैं आपको वंदन करती हूँ. कृपासिन्धु ! महात्मा लोग आपको केवल एकवार एकही प्रणामसे वंदन करनेका बड़ा फल बतला गये हैं. अश्वमेघ जैसा बड़ा श्रौत यज्ञ दश वार करनेवालेको जो महापुण्य हो, उससे भी अधिक फलका भागी वह होता है जो तुमको विशुद्ध अंतःकरणसे शरण होकर एकवार साष्टाङ्ग प्रणाम करता है. क्योंकि दश अश्वमेध करनेवाला उसे पुण्यसे दिव्यलोकमें जाकर अपार सुख भोगता है सही, पर वह पुण्यभोग पूर्ण होतेही उसे फिर जगत्पुरमें—मृत्युलोकमें जन्म लेना पड़ता है और तुमको प्रणाम करनेवाला तो तुम्हारी शरणमें होजाता है, इसलिए उसे फिर जन्म लेना नहीं पड़ता है[1] सर्वेश्वर ! विश्वरूप ! आप मेरे आगे ऐसी मनोहर मूर्तिसे विराजमान होनेपर भी, अव्यक्तरूपसे सारे विश्वमें समानतासे निवास कर रहे हो. उस विश्वरूपसे आपही हो. उसे देखते तो सारा विश्वही मुझको वंदनीय है और मैं विश्वकी जड़चेतन सभी वस्तुके आगे नम्र हूँ और इसलिए, परमपुरुष ! परमेश्वर ! मैं आपको सहस्रवार प्रणाम करता हूँ. आपको वारंवार नमस्कार करता हूँ. आप सर्वत्र हो और सर्वरूप हो, इस लिए आपके आगे पीछे, आजू बाजू, ऊँचे नीचे और सर्वत्र मेरा आपको नमस्कार है[2] परात्पर प्रभु ! आपको जो नहीं जानता वही जानता है, जो जानता है, वह नहीं जानता. आप चाहे जैसे हो पर मैं नहीं जानती. चंदनके भारको ढोनेवाला पशु भारको जानता है, पर चंदनको नहीं जानता, ऐसी मेरी दशा है !

"मेरे मनमें अब प्रश्न होने लगा कि, इस सर्वेश्वरके आगे मैं किस अधिकारमें हूँ—अर्थात् कैसी भावनासे मुझको रहना चाहिए और कैसा संबंध जानना चाहिए ? मैं उनकी शरणमें हूँ और वे कृपालु मेरे शरण-दाता हैं; वे परमेश्वर हैं और मैं तो उनकी अनंत सृष्टिका एक दीन हीन जीव हूँ, वे एक महातेजस्वी सूर्य हैं, और

दास्य भक्ति

---

१ एकोऽपि कृष्णस्य सकृत्प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

२ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमोनमस्ते ।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥

मैं तो अँधेरेकी एक क्षुद्र तलैया हूँ. वे समर्थ तो महासमुद्र हैं और मैं तो एक बूँद भी नहीं हूँ वे सबसे स्वतंत्र हैं और मैं तो उनके अधीन हूँ. वे विद्यासागर हैं और मैं तो अविद्यामें सनी हुई एक क्षुद्र जीव हूँ. वे मायाके पति हैं और मैं तो उनकी प्रबल मायाके वशमें हूँ. वे सर्वज्ञ हैं और मैं अल्पज्ञ हूँ, वे परमपावन—अधमोद्धारण हैं और मैं अधमाधम हूँ. वे महा मंगल हैं और मैं अमंगल हूँ. परन्तु वे यदि कृपाकरके पवित्र करलें तो उनकी भक्त हो जाऊँ. यथार्थ देखनेमें तो वे मेरे और मैं उनका अंश हूँ. इस प्रकार वे सब तरहसे मुझसे श्रेष्ठ हैं, इस लिए वे सेवा किये जाने योग्य (सेव्य) और मैं उनकी सेविका हूँ. वे स्वामी और मैं उनकी दासी—टहलनी हूँ[1] अब मैं सदा उन्हींकी परिचर्यामें रहूँगी ! ऐसी भावनासे मैं हाथ जोड़कर कोमल हृदयसे यह प्रतीक्षा करते हुए सामने खड़ी रही कि वे कृपालु मुझको क्या आज्ञा देते हैं."

अबतक अपनी मूर्छावस्थाका वर्णन कर सब श्रोताओंको अच्युत भक्तिमें तल्लीन कर, वह फिर बोली; " इस प्रकार बहुकालपर्यन्त सम्मुख रहकर एकाग्रता और दास्यभावसे प्रभुका स्वरूपानुसंधान करते हुए उनकी मुख मुद्रा मुझपर बहुत प्रसन्न देखनेमें आई. उस परसे मुझको ऐसा जान पड़ा मानो अपने स्वामीसे की हुई मेरी वंचना और अच्युत मार्ग त्यागकर जाने तथा विना जाने किये गये मेरे पापोंको वे प्रियनाथ कृपा कर क्षमा कर रहे हैं. जैसे कोई सुज्ञसखा—मित्र अपने अत्यंत प्यारे सखासे या, स्नेही स्नेहीसे प्रिय प्रियसे, माता संतानसे और पति अपनी पत्नीसे, परस्पर प्रीतिके बदले या प्रीतिके संबंधसे ऐक्य प्रदर्शित करता है उससे भी अधिक ऐक्य मुझे प्रभुके साथमें दिख पड़ा ! सखा अपने प्रिय सखाको प्रीतिके संबंधमें अपना गुप्तसे गुप्त और प्रियसे प्रिय जो कुछ भी हो दे देता है; उसी प्रकार इन कृपालुने अपने गुप्तसे गुप्त स्वरूपका अनुभव कराकर, मुझको कृतार्थ कर दिया सर्वेश्वर प्रभुसे मेरी लगन लग गई ! मेरे अंग अंगमें व्याप्त हो गये. मेरे नेत्रोंमें जो अद्भुत दिव्य मूर्ति थी वह अदृश्य हो गई और नूतन मूर्ति

---

[1] टीका—भक्ति नव प्रकारकी है. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ दास्यभक्ति सातवाँ प्रकार है. गीतामें कहा है कि, सब धर्मोंका त्यागकर, मुझ एकको शरणमें आ, इस प्रकारका अत्यंत वर्णन किया गया है. यह शरण मृदु है, परन्तु मोक्षकी दाता है.

हृदयमें खड़ी हो गई. तब मैंने जाना कि यह मूर्ति चली तो गई पर मेरे हृदयसे कहाँ जायगी ?' अब मुझको ऐसा अभयदान मिला हुआ जान पड़ा मानो किसीका भी भय मुझको नहीं है. इसके सिवा उनकी प्रसन्नतापूर्ण मुखकी तथा कृपाकटाक्षसे मुझको ऐसा मालूम हुआ कि उनके द्वारा मुझे कोई बड़ा गुप्त लाभ होनेवाला है. अहा ! वे कृपालु प्रभु अपने शरणागतको कैसा और कितना चाहते हैं ! अहा ! कहाँ मैं और कहाँ वे ! तो भी मुझ जैसे एक क्षुद्र जीव पर उनका इतना बड़ा प्रेम कि जो मेरे हृदयसे जाताही नहीं है. ऐसा सख्यभावदेखकर मेरा सख्यप्रेम असीम हो गया. मुझको उत्साह हुआ कि सख्यसंबंधमें उन कृपालुने जब मुझे अपने स्वरूपका अनुभव कराया है तो उसके बदलेमें मैं उन्हें क्या देऊँ ?

"इनको देने योग्य मेरे पास क्या ? ऐसी कौनसी वस्तु है कि जिससे वे प्रसन्न हों ? फिर इस जगतमें जो कुछ है वह सब उन्हींका है और मेरे पासमें भी जो कुछ है, वह सब उन्हींका है; मेरा कुछ भी नहीं है, तो फिर इनको ऐसा क्या देउँ कि जो मेरा हो ? दूसरा तो कुछ भी मेरा नहीं है, यह देह भी मेरा नहीं है. मन भी मेरा नहीं है और अंतःकरणकीदृढ़ अहंकार ग्रंथि, जिसको मैंपनका अभिमान है, उसपर इन कृपालु प्रभुका आभास पड़नेसे, 'जीव' संज्ञा होती है; वह भी मेरी नहीं है. अब क्या करूँ ? यह सब मेरा नहीं है तो भी उनकी वस्तुपर 'मेरी है' ऐसा जब दृढ़ाभिमान हो रहा है तो उस मिथ्याभिमानको समूल त्यागकर दातव्यरूपसे वही वस्तु उनको अर्पण करनी चाहिए. काम्यकर्मके फलके त्यागको महात्माओंने त्याग कहा है. पुत्रैपणा (पुत्रकी इच्छा) त्यागना, वित्तैषणा त्यागना, स्वर्गादि लोकैषणा त्यागना, निर्विषय मन करना, चित्तनिग्रह करना, चित्ताभाव होना, ऐसी जो आत्मरति आत्मतृप्ति है, वह आत्मामेंही संतुष्ट रहती है—उसको कुछ कर्तव्य नहीं है—इससे आत्माही अर्पण करना श्रेष्ठ है. ऐसा निश्चयकर

आत्मनिवेदन भक्ति

---

१ टीका—यह मध्यम शरण है. श्रीकृष्ण जब गोपियोंका हाथ झटककर भाग गये तो गोपियोंने कहा; "कृष्ण, हाथ झटककर, बलात्कारसे भाग कर चले गये इसमें क्या आश्चर्य है ! जब हमारे मानस मंदिरसे चले जाओ तभी तुम्हारा पराक्रम जानें." यहाँ पर जिस प्रकारका वर्णन किया गया है वह ऐसा ही है.

मैंने अपना तन-मन—धनरूप सर्वस्व प्रभुको अर्पण कर देना ठीक समझा. तुरंत बड़े प्रेमावेशसे मैं उनके चरणारविन्दोंपर जा पड़ी और अहंकार ग्रंथिमें पड़ा हुआ चिदाभासरूप जो मेरा जीवात्मा था उसे मैंने उनको अर्पण कर दिया. उनके स्वरूपमें मेरी एकाग्रता हो गई! * उनपर अनिर्वार्य प्रेम, और उनके आवेशसे इस प्रकारसे होनेवाला आत्मनिवेदन—आत्मार्पण—आत्मैक्य इस सबसे मैं तद्रूप हो गई. मुझे देह या जीवका कुछ भान नहीं रहा. इस समय मेरी विलक्षण स्थिति हो गई. पहले संसारिक दशा देहको होती है; अर्थात् देहरूपसे ही प्राणी दिखलाई देता है; देहकी स्थिति इंद्रियों सहित मनसे प्रतिष्ठित है और इस मनको जो अत्यंत चपल और सब विकारों, व्यवहारोंमें कारणरूप होते हुए भी स्वतः जड़ और पर प्रकाशित है, अपना प्रकाश देकर, चिदाभास–परमात्माका प्रतिबिम्ब अथवा अंशरूप जीव जाग्रत करता है इस प्रकारसे जाग्रत हुआ मनही, प्राणीको पुनः बंधनरूप होता है. परन्तु मनादि जड़का संग (आसक्ति) दूर होतेही जीवात्मा शुद्ध चिद्रूप—अर्थात् परमात्माका अंश होनेसे अंशीके साथ मिलकर एक हो जाता है. उसकी स्थिति फिर सबसे निरामय, सुखमय, चिन्मय और सन्मय सच्चिदानंदरूप है. मेरी स्थिति इन जड़ादिकोंका संग दूर होतेही ऐसी वासना रहित हो गई! मेरा कुछ नहीं है! उसी तरह मैं भी कुछ नहीं हूँ! वह भी कुछ नहीं है. सर्वथा केवल प्रभु अच्युत ही है. मुझको कुछ भी ज्ञान न रहा. इस प्रकार मेरी अचेतनता उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ गई कि मानो मेरी दैहिक स्थितिका भय हो गया हो और जिनको मैंने अपना सर्वस्वार्पण कर दिया था उस अच्युत स्वरूपका सावयवी—निरावयवी—साकार निराकार मन भी शनैः शनैः लय होने लगा और कुछ देरमें वह अद्भुत स्वरूप समूल अदृश्य हो गया.

"पर मेरे हृदय—'अंतरके गुह्यागारमें जहाँका कुछ भी कोई देख नहीं सकता, परन्तु जो स्वयं ही अपने द्वारा देखा जा सकता है, वहाँ एक नई मूर्ति—नया स्वरूप—दिव्य स्वरूप दिखलाई दिया. स्वयं एक ज्योतिर्मूर्ति

* यह अवधिशरण है. यह गोपियों और श्रीकृष्णके संबंधका तादृश्य स्वरूप है, भागवतमें वर्णन कीगई रासलीला, गोपीप्रेम, कृष्णको स्वात्मार्पण, आदि आध्यात्मिक विषयकी यह सब गूढ़ता आत्मनिवेदन भक्तिका रहस्य समझनेसे बुद्धिमान सहजही समझ जायगा.

प्रकट होगई ! अहा ! गुहाग्रन्थि भिद् जानेसे, शोक दूर हो गया, वह पापको भी पारकर गई, वासना भी मर गई और विश्व लयको प्राप्त होते हुए मालूम हुआ. तथा भयको प्राप्त हो गया, इस स्वरूपके सहजानंदमें विहार करनेवालेकी गतिको कौन जान सकता है ? वह अत्यंत गूढ़ है—जो जानता है वही जानता है. पानीमें रहनेवाली मछलीकी गतिकी कल्पना की जा सकती है, आकाशमें उड़ते हुए पक्षी की गति जानी जा सकती है वायुकी गति मालूमकी जा सकती है, परन्तु सहजानंद स्वरूपकी गति अकलित है. वह अत्यंत गूढ़ और अतिशय गुप्त है ! अहा ! उसको जो जानता है वही जानता है; परन्तु जाननेवाला बोल नहीं सकता है. देखनेवाला दिखला नहीं सकता है, सुननेवाला सुना नहीं सकता है. अब मेरी जो स्थिति होगई उसका वर्णन मैं नहीं कर सकती क्योंकि उसका वर्णन करनेके लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं, उसकी तुलना करनेके लिए इसका नाम अकथ—अनुपम स्थिति—यही ब्रह्मदशा है ! यही नेति नेति है ! !

"इस प्रकार मुझको मूर्छामें महामूर्छा प्राप्त हुई ! ! अच्युत प्रिय महात्मा ! इसका वर्णन बहुत आनंद प्रद है. मुझ अधम अज्ञात और विना किसी साधनवालीको केवल अपनी शरणमें आई हुई देखकर, ऐसी सर्वोत्तम ब्राह्मी स्थितिका दर्शन देनेमें उन कृपालु प्रभुकी कितनी बड़ी कृपा है. इसी लिए महात्मा पुरुषोंने उन्हें 'कृपाके सागर' कहा है. ऐसी अपने दशामें कितना समय बीता होता इस बातका मुझको स्मरण नहीं है."

"फिर मुझको एकाएक कुछ चेत हुआ. उस समय अपनी आँखोंके आगे मैंने अत्यंत आश्चर्य और आनंद पैदा करनेवाला निर्मल प्रकाश देखा. उस प्रकाशमेंसे ऐसे पुरुष निकल कर मेरे समीप आये मानो उस प्रकाशसे ही पैदा हुए हों. वे मुझको प्रकाशमें ले गये ! नजर फेककर देखा तो जहाँसे प्रकाश आ रहा था वह मुझको ऐसा लगा मानो एक विचित्र वाहन (सवारी) हो. उसमें अनेक तेजस्वी लोग मुझको बैठे हुए दिख पड़े. यह सवारी शून्य (आकाश) में थी और उसको खींचनेके लिए पशु, पक्षी मानवादि किसीकी सहायपर अपेक्षित नहीं थी. ऐसा देखकर अपने स्वामीसे मैंने पहलेही सुन रखा था वह बात मुझको याद हो आई कि यह

वाहन नभगामी विमान है' मैं उसमें बैठाई गई और विमानके भीतर जो लोग बैठे हुए थे वे बड़े प्रेमसे मेरा सत्कार करने लगे—मानो वे मेरे अत्यंत निकटवर्ती प्रेमी कुटुम्बी हों. बाहरसे देखने पर यह विमान मुझे वायुसागरमें तैरती हुई एक छोटी नौका जैसा मालूम हुआ, पर भीतर जानेपर जो इसका बहुतही बड़ा विस्तार मालूम हुआ. उसकी शोभा और रचनाका भी कुछ पार न था. मेरा मन भीतरी रचना देखनेमें लीन हो गया था इतनेमें छोटे आकारके बाजों और अच्युतनामके मंगल शब्दोंकी ध्वनि हुई. विमान चला. विमान चलते समय मैं नीचेकी ओर चारोंतरफ देखती जाती थी. मैं बहुत स्वच्छ प्रकाशमें थी इससे नीचेकी भूमि और इतर पदार्थ मुझको बहुत धुँधले जान पड़े—मानो वे एक सामान्य अंधकारमें ही पड़े हों ! विमान नभ—मार्गमें शीघ्रतासे बढ़ा, पर वह किस ओरको जायगा और मुझको कहाँ ले जायगा, इसके लिए मुझे जरा भी शंका नहीं हुई. मैं तो केवल चहुँ ओर दिखती हुई भूमि और अंतरिक्षकी अद्भुत चमत्कृतियाँ देखनेमें ही निमग्न थी. अपने पास बैठे हुए पवित्र पुरुषोंसे वार्तालाप करनेका भी मुझे स्मरण नहीं रहा. कुछ आगे जाकर मैंने जमीनकी ओर देखा तो एक सादी और शुद्ध मार्ग, उभय दिशिकी लताओंसे आवृत्त देखनेमें आया। वह उत्तर दिशाकी ओर जाता था और उत्तरोत्तर अत्यंत उच्च सूर्यमंडलको भेदकर जाता हुआ मालूम हुआ. उस पर अनेक मानव—समुदाय क्रमशः चले जाते थे. ऐसे अनेक जन—समाज़को पीछे छोड़कर हमारा विमान आगे बढा. उसे मानो भूतलके इस मार्गके सहारेहीं चलना है इस प्रकार उसने इसकी सीमा नहीं छोड़ी अतः उस मार्गकी स्थिति अवलोकन करनेका मुझे सहज ही सुयोग प्राप्त हो गया. जब मैं विचारपूर्वक देखने लगी तो उस पर जो जन समाज चला जा रहा था उसके सब लोग ऐसे परिचित मालूम हुए मानो मेरे साथी हों. वे बार बार अच्युतनामकी जय ध्वनि करते थे इससे मैं समझ गयी कि यह मार्ग (पगडंडी) वह परमपावन अच्युत ही मार्ग है और पथिकोंके ये छोटे बड़े टोले (संघ) उस कालपुरुषके भयसे भागे हुए जगत्पुरवासियोंके हैं.

---

१ लौकिकमें जाना माना हुआ विमान नहीं, पर स्वात्मस्वरूपसे, ज्ञानी जो अधर रहकर अवकाशमें उड़ता है, वह विमान.

एक संघमें सबसे आगे चलनेवाले और साथी पथिकोंको मार्गका उपदेश देनेवाले एक पुरुषको मैंने भलीभाँति पहिचाना. मेरी पूज्यस्वरूप और चिरकाल परिचयमें आई हुई इसकी पावन मूर्ति, प्रेमपूर्ण मुखाकृति और उससे अभी सम निर्भर होनेवाले मधुर तथा हितकर वचनोंने मेरे मनको उसकी ओर अकस्मात् खींच लिया. मुझको तुरंत स्मरण हुआ कि मैं उसकी अपर्णधनी हूँ. इस समय भी, वह भूमिपर सादे स्वभावसे* चला जा रहा है और मैं उससे ऊँचे अंतरिक्षमें दिव्य स्थानमें विचरण कर रही हूँ. यह भी गंभीरापराध है. हरे ! हरे ! पतिव्रताके संबंधमें यह कितना विपरीत और खेदप्रद है ! हे अच्युतपथगामी महात्मा ! तू समझ तो गया ही होगा कि, यह पुरुष कौन है ? यह पुनीत पुरुष अच्युतपुर जानेके लिए घरसे निकला और मुझसे विछुड़ा हुआ मेरा स्वामी है ! सत्साधक बड़े दुर्धर वियोगके अंतमें अपने स्वामीको देखकर मुझको अत्यंत आश्चर्य और आनन्द हुआ. पर साथ ही, मैंने जान बूझकर उन प्रति जो अपराध किया था तदर्थ मुझको उस समय बड़ी ग्लानि और विषाद भी हुआ. तथापि एक बातसे मुझे धैर्य था कि, उनका स्वभाव बड़ा शान्त, प्रेमी तथा क्षमाशील है, अतः मैं यदि उनके पैरों पर जा गिरूंगी तो वे मुझको देखते ही मेरे सारे अपराध भूल जायँगे और मेरा स्वीकार करेंगे पथिकवर ! प्रेमिणी और धर्मशीला स्त्री अपने पतिव्रत और पुरुष अपने स्वामीपनका वास्तविकता हो तो ऐसे दम्पतिका परस्पर प्रेम कैसा उत्कट होता है. धर्म यदि जान और यह बात आपसे कुछ छिपी नहीं है कि उस प्रेमके प्रबल प्रकाशमें दूसरी सारी वस्तुएँ कैसी निस्तेज हो जाती हैं. मैं उस प्रेमावेशमें निरी अंधप्राय बन गई† मैंने सोचा कि मैं कैसी दुष्ट ! और पाषाण हृदया हूँ कि मुझ अपराधिनीको इतना भी स्मरण न हुआ कि यदि मैं उनसे विलग हो जाऊँगी तो फिर उनकी पवित्र सेवा कौन करेगा ? स्वामीके सकल कार्योंमें अंतःकरणसे सहायक होनेवाली मैं जबसे विलग हुई हूँ तबसे उनके इस एकान्तमार्गमें कौन सहायता करता होगा ? प्रतिदिन मार्ग चल कर मेरे श्रमित स्वामी जब विश्रमार्थ ठहरते होंगे तो

---

* टीका—क्योंकि भक्ति साथमें नहीं है. † टीका—यहाँ भक्ति और ज्ञानकी समीपी संबंध बनाते हैं. यद्यपि भक्ति श्रेष्ठ है सर्वोपरि है पर ज्ञानरहित वह शोभा नहीं देती.

उनके लिए आसन कौन बिछा देता होगा? वनफलादि भोज्य सामग्री कौन ला देता होगा? उनके मुखसे झरनेवाला अच्युतकथामृत कौन पीता होगा? ऐसी प्रेमसी सेवासे प्रसन्न होकर उनके मुखसे निकलते हुए, 'प्रिये तेरा कल्याण हो! कल्याण हो.' ऐसा आशीर्वाद ग्रहण करनेको कौन भाग्यशाली होता होगा? यह तो जो हुआ सो हुआ. किन्तु अब अपने वियोगी स्वामीको प्रत्यक्ष देखती हुई भी मैं किस ओरको देख रही हूँ? चलो, मैं उनसे जा मिलूँ! ऐसे आवेगसे मैं तुरंत खड़ी होकर, गिर पड़ने, दौड़ने या मेरे और उनके बीच कितनी दूरी है अथवा मेरी और उनकी स्थितिमें कितना बड़ा अंतर है आदि किसी भी बातका विचार न कर अकस्मात् नीचे जा पड़नेके लिए बड़े बलसे उछली; पर क्या कहूँ? जैसे स्वप्नस्थ प्राणी भयसे मुक्त होनेके लिए बहुत प्रयत्न करे, पर असीम परिश्रम करनेपर भी मानो उसके पैर टूट गये हैं और वह भाग नहीं सकता तथा बहुत व्याकुल होनेपर अकस्मात गिर पड़ता है और उसी समय उसकी आँखे खुल जाती हैं आँखें खुलतेही सारा स्वप्न और वह भय न जाने कहाँ चले जाते हैं, वैसेही मेरी भी दशा हुई. विमानमें मुझे कोई रोकता नहीं था, पर तौभी बहुत बड़ा परिश्रम करनेपर भी मैं कूद नहीं सकी. अंतमें जानपर खेलकर मैं ज्योंहीं बड़े बलसे कूदने लगी त्योंही विमानने एकाएक झटका खाया और साथही बडे वेगसे आकाशमें समा-गया तथा मेरे आगेकी सारी रचना अदृश्य होगई" *

इस प्रकार अपना पूर्ववृत्त कहकर यह अबला संघमें चहुँ ओर देखने लगी। संघके सारे पथिक उसके मुखकी ओर ऐसी लालसासे कि न जाने उसके मुखसे अब कौनसा विचित्र वृत्तान्त निकलेगा. अचल दृष्टि

---

* टीका—जबतक जीवकी स्थिति, भूतके पृथग् भागका एकत्व अनुभव नहीं करती तबतक वह ब्रह्मभावको पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं करती. यह भाव प्राप्त करनेके लिए अनन्यताकी आवश्यकता है—यह विश्वब्रह्म है ऐसा भाव हुए बिना, पूर्णब्रह्म प्राप्त नहीं होता. यहाँतक जीव कुछ अविद्याग्रस्त रहता है! जबतक ज्ञानाभिमान नष्ट नहीं होता तबतक विशुद्धज्ञान नहीं होता है. इस संगति (अविद्याग्रस्तता) का नाश होना चाहिए. अविद्याका कुछ नाश कथालापसे, कुछ शास्त्रविचारसे, पर पूर्ण नाश तो आत्मप्रत्ययसे होता है. जान लेने पर सबका त्याग करना चाहिए, ऐसा शंकर स्वामीका आदेश है.

तथा वह आतुरतासे देखने लगे. फिर वह सूर्यकी ओर देखकर बोली; "प्रिय पथिको ! स्वात्मकथाको यहीं अंत करती हूँ. सूर्यनारायण अस्ताचलके शिखरपर पहुँच गये हैं, वे हमें सूचित करते हैं कि, मुझको अपनी अपार तेज प्रदान कर सारे ब्रह्माण्डको आलोकित करनेका आदेश देनेवाले सर्वेश्वर प्रभु अच्युत परब्रह्मकी संध्याकालीन उपासना करनेका समय हुआ है; इसलिए हम सब आलस्यको त्यागकर सायंसंध्यारूप अच्युतोपासनके लिए तत्पर हों." यह सुनतेही प्रभुनामकी जयध्वनि कर सब पंथी खड़े होगये और पथिकाश्रमसे कुछ दूर बहनेवाली एक निर्मल नदीके तट पर संध्योपासन करनेको गये.

अंतरिक्षमें रहकर एकाग्रतासे यह वृत्तान्त सुननेवाले वरेप्सु आदि विमानवासी भी तुरंत नित्यकर्ममें प्रवृत्त हो गये.

संध्योपासनसे अवकाश पाकर सारे पंथी पथिकाश्रममें आये. फिर प्रेमपूर्वक अच्युत कीर्तनका आरंभ हुआ. वह पूर्ण होतेही महात्मा सत्साश्रक फिर अपने संघसहित उस साध्वीको घेरकर बैठा, तब उसने प्रभुका स्मरण कर पुनः बोलना आरंभ किया.

"इसके बादका वृत्तान्त याद करतेही मेरा हृदय भर आता है और गला बैठ जाता है; क्योंकि अंजलिमें आया हुआ अमृत, अनन्यताके अभावसे मैं पी नहीं सकी. मेरा विमान बड़े वेगसे बहुत देरतक आकाशमें उड़ता रहा; उस समयके उसके अपार वेगके कारण मैं अपने आसपासका कुछ भी देख नहीं सकी, पर इतना तो जाना जा सकता था कि गगनस्थ उच्चावित्तच अनेक दिव्य मंडलोंको भी पीछे छोड़ कर विमान धीरे धीरे ऊँचे ही चढ़ता जाता है. अंतमें वह किसी ऐसे गाढ़ आवरणमें जा पहुँचा जहाँ ही प्रकाशका नाम न था, पर वायु अपार था. इस तमाच्छन्न परदेको फाड़ कर दिव्य विमान आगे बढ़ा. इस अंधकारसे विमानस्थ जनोंको कुछ भी उद्वेग या व्यथा नहीं हुई; विमान स्वयम् परम प्रकाशित और उसका वाहक भी प्रकाशमयही था, तथा उसमें बैठनेवाले सब प्रकाशरूपही थे. आवरणरूप अंधकारका अंत आते ही उत्तरोत्तर कुछ नव्य दिव्य प्रकाश आने लगा. इससे हम सबके दिव्यनेत्रभी उसकी प्रभासे बंद हो जाने लगे। दर्शन होते ही ऐसा जान पड़ा मानो यह अकथ पुण्य प्रकाश हमें अपना वह अद्भुत तेज दान कर रहा है. जैसे किसी जलते हुए

दीपकी शिखाको दूसरा तैलपूर्ण दीप स्पर्श करते ही उसमें भी उसीके समान नूतन आलोक प्रकट होता है वैसा मुझे मालूम हुआ; अर्थात् हम सब भी वैसे ही सुप्रकाशित हो गये और उसे अनुपम प्रकाशमें हिलोरें लेने लगे."

"अब मैं तुमसे एक और चमत्कारका वर्णन करती हूँ वह सुनो. वैसे चमत्कारके भोगनेका समय आनेपर, और चित्तको विज्ञानसंगी रखनेसे तथा वासनाका लय करनेसे, तुम्हें भी उसका अनुभव होगा. जैसा मैंने देखा वैसे अनन्त सूर्योंकी एकत्र प्रभाके समान अद्भुत प्रकाश था, वह सिर्फ प्रकाश ही था, अथवा दूसरा कुछ था? अतिशय प्रकाश तो अति उष्णता करता है. बहुत दूरसे हम पर पड़नेवाले एकही सूर्यके प्रकाशसे हमें कितनी बड़ी गर्मी लगती है? तो अनंत सूर्यके समान प्रकाश और उसकी गर्मी किसीसे सहन नहीं होती! पर यह वैसा नहीं था. जैसा यह प्रकाश अनंत था, वैसा उससे होनेवाली अपार उष्णताके बदले हमें अपार सुख होने लगा. यह सुख किस प्रकारका और कितना था, यह मैं नहीं कह सकती; क्योंकि जगत्पुरसे यहाँतक अनुभवमें आनेवाले उत्तमोत्तम सुखकी भी उसके साथ जरा समता नहीं दी जा सकती. इस अपार सुखकी प्राप्ति तो दूर रही, पर उसका आभास मात्र देखते ही, यहाँका सारा सुख निरा तुच्छ मालूम होता है. यह सुखमय पुण्य प्रकाश अपने सूर्यके प्रकाशकी भाँति अमुक स्थानसे आने और अमुक स्थानको जानेके जैसा नहीं था; यह तो जहाँका तहाँ सर्वत्र स्थायी–अटल–अचल और परिपूर्ण था. अतः मैं उसे किस नामसे तुम्हें परिचित कराऊँ, यह मैं नहीं जानती. सर्वत्र स्थायी और अचल तथा सर्वोत्तम होनेसे सत्–सत्यरूप था; प्रकाश होनेसे चित्–चैतन्य–ज्ञानरूप था; अपार सुखमय होनेसे आनंदरूप था. अतः ये तीनों नाम संयुक्त कर हम उसे (सत्–चित्–आनन्द) सच्चिदानन्द कहेंगे. ये सच्चिदानंद कितने विस्तार थे, यह जाननेकी सबको स्वाभाविक इच्छा होगी; तदर्थ मुझे तो वहाँ ऐसा प्रत्यक्षानुभव हुआ है."—

"जलपरिपूर्ण जैसे कोई अपार महासागरहो ऐसा वह था. पर नहीं; यह उपमा उसे निरी तुच्छ मानी जायगी; क्योंकि महासागर चाहे जैसा जितना गंभीर और विस्तृत हो, पर उसके आसपास पार–सीमा–किनारा है. यह प्रकाश तो निःसीम—अपार–अगाध है!! इसे क्या उपमा दीजाय? शायद संकुचित होकर इतनी उपमा दीजा सकेगी कि, जलसे

परिपूर्ण महासागर जैसे अपरिमित है और उसमें, उस जलसेही पैदा हुए और वृद्धिप्राप्त असंख्य मत्स्यादि प्राणी रहते हैं, विचरण करते हैं और उसीमें, लय भी हो जाते हैं उसी प्रकार इस अपार सच्चिदानन्दसागरमें एक छोटेसे छोटे मत्स्यकी भाँति यह सारा ब्रह्माण्ड और ऐसे दूसरे असंख्य ब्रह्माण्ड मुझे दिखायी दिये—जो इस सच्चिदानंद सागरमें ही जन्मते, विचरते और उसीमें लीन समाप्त हो जाते हैं! इस परसे तुम्हें ज्ञान हुआ होगा कि ये सच्चिदानंद कैसे अगाध, अपार, अपरिमित और अनुपम हैं! ये अज, अनिद्र, अस्वप्न, अनाम, अरूप, एक, चिन्मय और सर्वज्ञ हैं. उन्हें कार्य या कारण नहीं, सम नहीं, विपम नहीं, इनकी पराशक्ति विविध प्रकारकी है, उन्हें सूर्य चन्द्र प्रकाशित नहीं कर सकते, वायु उन्हें शोपण नहीं कर सकता, अग्निका वहाँ तापही कहाँसे हो. वहाँ जो जाता है वह फिर नहीं आता, उनके लाभसे और लाभ नहीं, उनके सुखसे दूसरा सुख नहीं. उनके ज्ञानसे अन्य ज्ञान नहीं, उनके दर्शनके बाद और दर्शन नहीं, उनको जान लेनेपर और कुछ जाननेको नहीं, उनको प्राप्त हो जानेपर मनसहित वाणी पीछे फिर आती है, वेही अनादिपरब्रह्म हैं. वे सत्य नहीं वैसे असत्य नहीं, वे सर्वत्र हस्तपादवाले हैं सर्वत्र चक्षु, मुख, मस्तक और श्रवणयुक्त हैं. इनको सिवा वहाँ और कुछ भी नहीं है! सर्वत्र यही परिपूर्ण हैं—और कुछ नहीं, अतःकिसके सहारे (आधार) पर हम दिशाओंकी कल्पना करें? अथवा अमुक स्थानकी कल्पना करें? इसी तरह सूर्य चंद्रादिक कालमान बतलानेवाले भी वहाँ कोई नहीं हैं. वे सत्यरूप सनातन है—उनको आदि, मध्य, और अंत भी किसका हो? इस परसे मुझको निश्चय हुआ कि, देश, काल और अवसान रहित सच्चिदानंदमय अच्युत परब्रह्मका ऐसा यह मूल स्वरूप है, ऐसा मेरे स्वामीनाथ ज्ञानमूर्ति मुझसे अनेकवार कहते थे, वह यही है! उस स्वरूपका अनुभव अर्थात् साक्षात्कार तो सबसे दुर्लभ है! उसे उस प्रभुकी पूर्ण कृपाका पात्र हुआ सर्वोत्कृष्ट भाग्यवान् प्राणी ही प्राप्त कर सकता है, ऐसा भी मेरे स्वामी ज्ञानमूर्ति मुझसे कहते थे; वह बात स्मरण हो आनेसे मुझे अपने परम भाग्यके लिए अपार हर्ष हुआ. मेरे स्वामी कहते थे कि, सच्चिदानंद अच्युत परमात्मा अखंड एकही हैं, अद्वैत हैं, अर्थात् प्रत्येक प्राणी परस्पर एक दूसरेसे भिन्न मानते हैं, वैसा न

होकर भी सब जीवरूपसे वे स्वयम्‌ही हैं. यह अनुभव भी मुझे वहीं प्रत्यक्ष हुआ. मैं तुरंत ही अपने विमानमें अपने साथियों, विमान वाहक, तथा अपनी ओर स्वयम् देखने लगी, तो सब एक रस सच्चिदानंदही मालूम हुए! सबही तन्मय जान पड़े! तद्रूप मालूम हुए! अहा! सर्वेश्वर अच्युत परब्रह्मकी गति कैसी विचित्र है! इस प्रकार कई कारणोंसे मैंने सुनिश्चित-रूपसे जाना कि, यही अच्युत—यही परमात्मा—यही परब्रह्म—यही अद्वैत—यही पूर्ण—यही उन सर्वेश्वरका सच्चिदानन्दमय निराकार अव्यक्तरूप है!! तो फिर उनका साकार और व्यक्तिमान् स्वरूप कैसा होगा, ऐसी मुझे स्वाभाविक लहेर हुई, क्योंकि, मैंने अपने स्वामी द्वारा जाना था कि, एकही ब्रह्म दो प्रकारका है: निराकार और साकार, अव्यक्त और व्यक्त."*

"इतनेमें एक अद्भुत चमत्कृति मेरी आँखोंके आगे प्रादुर्भूत हुई! पतले घीमें कुछ जमा हुआ घी पड़ा हो, वह एक होने पर भी स्वरूपमें जैसे भिन्न नज़र आता है, अथवा शुद्ध जलसे भरे हुए पात्रमें बरफसे जमा हुआ पानीका टुकड़ा यद्यपि जलही है, तथापि भरे हुए जलसे बिलकुल जुदा और मनोहर श्वेत लगता है, वैसीही इस सच्चिदानन्दकी मुझे कोई अद्भुत आकृति दिखने लगी. अपार विस्तारवाला और अत्यंत दिव्य ऐसा सच्चि-दानंदमय एक भूमंडल तथा उसपर वैसाही सच्चिदानन्दमय सारा दिव्य लोक मेरी दृष्टि पड़ा. विचित्र दिव्य फल फूलोंसे परिपूर्ण वृक्ष वाटिकाके मध्य भागमें सुशोभित असंख्य मणिमय तेजस्वी दिव्य मंदिर; उनमें आनंद क्रीडा करते हुए दिव्य लोक तथा उनकी निरी निर्दोष और दिव्य क्रीडा सामग्री; वहाँ सर्वत्र विराजमान अपार सुखशान्ति, निर्दोष, अवर्ण्य अद्भुत प्रेम—ये सर्वत्र अनंताश्चर्यमय थे. इन सबके बीचमें एक अपार विस्तृत और शोभाका मूर्तिरूप दिव्य अखंड मणिमंदिर था. उसीमें उस समग्र सच्चि-दानन्दमय दिव्यलोककी सारी सत्ता विराजमान है, समग्र सच्चिदानंदरूप महाधनने इसीमें एकत्र होकर निवास किया है, समग्र जानने और प्राप्त करने योग्य शरण होने योग्य और सतत भजने योग्य पूर्ण सच्चिदानन्द तत्त्वका यही मूल धाम है; अजन्मा, अचिन्त्य, अतर्क्य, अकथ्य, अपार, स्वतंत्र, स्वयंप्रकाश ऐसे पूर्ण पुरुषोत्तमका मुख्य दरबार—सर्वोत्तम स्वधाम

---

* द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च। ब्रह्मके दो स्वरूप हैं. एक साकार और दूसरा निराकार.

वही है ऐसा मुझको निश्चय हुआ. क्योंकि उस दिव्य महामंदिरमें अनंत सूर्यके समान सुप्रकाशित सुकोमल रत्न सिंहासनपर विराजमान एक महा अद्भुत, अति मनोहर, अतुल तेजोमय और लावण्यका भंडाररूप एक सुललित बालस्वरूप देखा. यह अतुल तेजस्वी होनेपर भी सुप्रकाशित नीलमणिके समान श्याम और नीलकमल जैसा सुकोमल था. सैंकड़ो सौन्दर्यवान् कामदेवसे भी कोटि गुण सुन्दर था. यह मनमोहन बालस्वरूप देखतेही मुझे अच्युततीर्थकी अच्युतमूर्त्ति, एवम् उस गढ़ेमें पड़ी हुई मूर्छितावस्थामें देखी हुई दिव्य भगवन्मूर्तिका स्मरण—दर्शन—हुआ. यह स्वरूप निःसंशय तेज था. पर उसमें मुझे इतना तो कहनाही पड़ेगा. कि अच्युत तीर्थके अद्भुत स्वरूपकी अपेक्षा गढ़ेमें दिखा हुआ स्वरूप अति दिव्य था; और उस स्वरूपसे भी इस सच्चिदानंद धाममें विराजमान स्वरूप सर्वोत्कृष्ट और अत्यंत दिव्य था. यह मुख्य था, वे दो गौण थे. प्रथम प्रतिमारूप था, दूसरा ध्यानस्थ था. यह तीसरा स्वरूप शुद्ध साक्षात् ब्रह्मका था. इस प्रकार इस क्षरपुरुष—अर्थात् अच्युत तीर्थकी नाशवंत जड़ प्रतिमा और अक्षर पुरुष—गढ़ेमें मूर्छितावस्थामें देखा हुआ अच्युतरूप इन दोनोंसे भी इस सच्चिदानंद धाममें प्रतिष्ठित पुरुष—बालस्वरूप पुरुष अनिर्वचनीय, अकथ्य, और वाणीसे परे था; इस लिए इन्हें पुरुषोत्तम अथवा परब्रह्म नामसे हम जानेंगे. इस पवित्र पथबोधिनीमें भी श्रीअच्युत प्रभुने अपनेको पुरुषोत्तम नामसे जनाया है."*

"ऐसे सच्चिदानंद प्रभु अच्युतके प्रत्यक्ष दर्शन होते ही हम सब कृतार्थ हुए. इन सर्वेश्वर प्रभुकी सेवामें असंख्य दासदासियाँ, जो, इस बातकी मार्गप्रतीक्षा करते अनेक सेवा सामग्री लेकर तत्पर खड़ी थीं, कि उन कृपालुकी अब क्या आज्ञा होगी; तथापि वे सब ही निरी सच्चिदानंदमय और उस प्रभु स्वरूपमय थीं. वहाँ जो कुछ था, सब बिलकुल सच्चिदानंदमयही था. अन्य जैसा कुछ भी नहीं था! जहाँ अन्य जैसा हो वहाँ अन्य अन्यको देखे, अन्य अन्यसे बोले, अन्य अन्यसे सुने, अन्य अन्यको मनमें लावे, अन्य अन्यका स्पर्श करे, और अन्य अन्यको जानें; वहाँ जो द्रष्टा है वह

---

* यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।
क्षरसे मैं जुदा, और अक्षरसे उत्तम होनेसे शास्त्र और वेदमें पुरुषोत्तम कहाता हूँ.

स्थिर जलकी भाँति एकाकार एक अद्वैत सच्चिदानंदमय है. यही ब्रह्मलोक, यही परम गति, यही परम सम्पत् और यही परमानंद ! ऐसे इस सच्चिदानंद प्रभु अच्युतके निवासधामरूप सारे लोकको देखकर मुझको जो आनंद हुआ, उसका वर्णन कौन कर सकता है. मुझे संपूर्णतः निश्चय हुआ कि, यही अच्युत प्रभु, और यही अच्युतपुर–ब्रह्मलोक–अक्षरधाम है."

"हमारे विमानको आया हुआ देख अनेक अच्युतपुरनिवासी अच्युत सेवक, प्रभु अच्युतके साथ, अनेक मधुर बाजोंका घोष करते और जयध्वनि करते हमारे स्वागतार्थ आये. विमान स्थित प्रत्येक हरिजनको दिव्य पुष्पोंसे स्वागत कर बड़े आदरमान सहित पुरकी ओर लेजाने लगे. सारा विमान खाली होगया. पर मुझको किसीने भी इस सच्चिदानंदमय भूमि पर नहीं उतारा. सबको अच्युतपुरमें प्रवेश करते देख मुझको धैर्य न रहनेसे जब मैं स्वयम् उतर जानेके लिए प्रयत्न करने लगी, तो स्वागतार्थ आये हुए अच्युत सेवकोंने मुझे मना कर दिया; और कहा कि, अनन्य भक्तिसे रहित किसी भी प्राणीको अच्युतपुरमें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है. प्रथम अनन्य भक्तिद्वारा अपने स्वामीकी सेवा करनेसेही, तू तेरे स्वामीको अपनी अनन्य भक्तिद्वारा जो अक्षर धाम हुआ है उस अक्षरधाममें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त कर सकी है. किन्तु पीछेसेअपने स्वामीकी सेवा भंग करनेके कारण तेरी अनन्यताका भंग हुआ है, और इसे अब तुझे इस पवित्रपुरमें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है, मात्र अनन्य भक्तिसे–प्रेमभावसे तूने जो अपने अच्युत प्रिय पवित्र स्वामीकी सेवा–इतनी अधूरी सेवा की उस अधूरी सेवाका भी कितना उत्तम फल है, यह प्रत्यक्ष जाननेके लिए ही तुझे इस अच्युतपुरके दर्शन कराये गये हैं. जा तुझे फिर तेरा पूर्वलोक प्राप्त होगा; वहाँ फिर अनन्य भक्तिका परिपाक होगा तबही तू यहाँ आनेको अधिकारिणी होगी.' *

"फिर अनेक अच्युत प्रिय पथिकोंका एक बड़ा संघ, अच्युतनामकी

---

* क्षर और अक्षर इन दोनोंसे जो उत्तम है वह पुरुषोत्तम. निर्वासनामय हो, मान मोह रहित बन, संगदोषको त्याग, सुख दुःखादिसे मुक्त हो, तीव्र वैराग्य और निष्काम भक्ति स्वीकार कर, जीवही शिव–जीव शिवका भेद नहीं है, ऐसी अद्वैत स्थिति जिसकी हो जाय, वही पुरुषोत्तम–परब्रह्मके धामका अधिकारी है. ऐसा तबही होता है, जब जीव निर्वासनामय–अनन्य भक्त बनता है.

जयध्वनि करते वहाँ आ पहुँचा. उनका आदर सत्कार करनेके लिए एक बृहत् समाज अच्युतपुरसे आया; और अति हर्षध्वनिसहित एक एक कर प्रत्येक पथिकका अच्युतपुरके मुक्त हरिजनोंने स्वागत किया. पुरमें प्रवेश करतेही सब अद्भुत दिव्य देहवान् हो, अच्युतरूपमें लीन हो, भाग्यके भोगी हो जाते थे. वहाँसे पतन या परावर्तन (जन्म-मरण) पानेका उन्हें कुछ भय नहीं था. इस संघमें मैंने अपने स्वामीका दिव्य स्वरूप देखा. उन्होंने सबसे पीछे म्लानमुखसे अच्युतपुरमें प्रवेश किया और फिर सच्चिदानंद स्वरूपमें लीन होगये.† स्वामीके इस समयके वियोगसे मुझको जो महाविषाद उत्पन्न हुआ, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकती. स्वामीने परमपद पाया और मैं रह गई; ऐसे अपरिहार्य वियोगावेशसे मैं एकाएक मूर्छित होगई. क्षणभरमें मेरी आँखोंके आगेका यह अद्भुत दृश्य बिलकुल लुप्त होगया. बाद मुझे कहाँ लेगये, अथवा मेरा क्या हुआ इत्यादि कुछ भी भान मुझे नहीं है. अहा ! अच्युत परब्रह्मकी कैसी अद्भुत—अगम्य लीला है ! कैसी विचित्र गति है ! साक्षात् स्वरूपदर्शन होनेपर भी पूर्णाधिकार विना पुरप्रवेशही नहीं ! अच्युत परब्रह्मका ऐसा स्वातंत्र्य होनेपर भी, उन्हें जाने विना हमारे वे शुष्क तत्त्व ज्ञानी जो ब्रह्मकी बातें मात्र करना सीखकर, 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा झटसे निश्चय कर बैठते हैं, कितने बड़े मूर्ख हैं !! वे पूर्ण पुरुषोत्तम परमात्मा, और हम सब उनकी अंशभूत आत्माएँ ! वे तो हमारे सेव्य स्वामी और हम सब उनके सेवक, उनके हृदयमें हम नहीं हैं, पर वे हमारे हृदयमें हैं. वे सर्वत्र हैं अभेदतासे सर्व व्यापक, चराचरमें वे ही, वे मुझमें और मैं उनमें—जहाँ दृष्टिपात करो वहाँ भी वेही, ऐसी दृढ़भावना हमारे अंतःकरणमें स्थिर होकर, इनके जैसा दूसरा श्रेयस्कर है ही नहीं, यह समझना और सच्चिदानंदमें लीन होना, बहुत बड़ी और गूढ़ बात है !

"अस्तु इसके पश्चात् मेरा क्या हुआ वह सुनो. मेरी मूर्छितावस्थामें

---

† टीका—ज्ञान और भक्तिवालेका प्रवेश परब्रह्मधाममें कैसे हो सके यह बताते हैं. केवल ज्ञान या भक्ति—सगुणभक्तिके लिए ब्रह्मप्राप्ति नहीं है, पर दूसरे भी स्थान हैं. ज्ञानीकी भक्ति और भक्तिमय ज्ञान विशुद्ध होता है. भक्ति, यदि ज्ञान रहित हो तो वह फल प्राप्त नहीं करा सकती. ज्ञान सहित जो भक्ति है वह निर्गुण निर्वासनामय है. ज्ञानको पीछेसे अच्युतधाममें प्रवेश होनेका कारण यही है, कि वह भक्तिरहित अकेला है.

कितना समय बीता होगा, उसकी मुझको खबर नहीं किसी समय एका-एक मुझको ऐसा बड़ा मानो झटका लगा, कि जिसके जोरसे जैसे मैं गढ़ेमें नींदसे जाग उठी थी, उसी प्रकार जाग उठी. मेरा हृदय श्वाससे भर गया और जोरसे धड़कने लगा. मेरी आँख खुल गयी और मैं देखने लगी तो, वृक्षघटासे आच्छादित और पाषाणादिसे परिपूर्ण उस गढ़ेसे कोई दो सज्जन पुरुष मुझे उठाकर बाहर निकालते मालूम हुए. उनके पकड़नेसे मेरे अंगोंमें पीडा हुई थी, और उसीसे मुझे झटका लगा था. मुझको व्यथित हुई देखकर उन्होंने फिर वहीं छोड़ दिया, तथा मधुर वाणीद्वारा मुझे धीरज और शान्ति देने लगे. उनकी पवित्र, शान्त और सुन्दर मूर्ति देखकर मैंने अच्युतस्मरणपूर्वक नमन कर पूछा कि, 'आप कौन हैं?' वे बोले, 'अच्युतसेवक! प्रभुकी आज्ञासे अच्युतमार्गपर विचरण कर मार्गसे भ्रष्ट हो तेरी नाईं व्यथित हुए पथिकोंको हम पुनः मार्गारूढ़ करते हैं. तेरे शरीरपरके अच्युत पथिकोंके जैसे सौम्य चिह्न देखकर हम तुझको इस खंदकसे बाहर निकालनेके आये हैं.' मैंने निःश्वास छोड़कर रोते हुए उनसे प्रार्थना की कि, 'इस दुष्टाको अब बाहर निकालनेसे कुछ लाभ नहीं है! अब यहींपर मरणशरण होने दो! मेरे अपराधका फल मुझे मिला है, और पुनः मिलने दो!' यह सुन उन्होंने मेरा आश्वासन कर, वैसा कर-नेका कारण पूछा; तब मैंने अपने स्वामीवियोगरूप सारा पूर्ववृत्तान्त कह सुनाया. उन्होंने कहा, "तू महाभाग्यवती है. तेरे जैसा अच्युत स्वरू-पानुसंधान करनेवाला पथिक कुछ साधारण नहीं माना जाता. देवि! तेरे दर्शन होनेसे हम कृतार्थ हुए हैं. तू चिन्ता न कर. प्रभुकी इच्छाका अनुसरण करनाही अपना कर्तव्य है. अपना सच्चा अधिकार, होनेपर, तुरंतही वह परम कृपालु प्रभु हमें अपने समीप खींच लेंगे. मार्गमें विचरण करनेपर जो अनुभव हुआ, वह कुछ सबके लिए सामान्य नहीं है; पर जिस मार्गसे होकर तेरे पुण्यात्मा पतिने परमपदको पाया, यही अच्युतका सब मार्ग पथिकोंके लिए साध्य है. प्रयत्न करते उसी मार्गसे होकर तू भी पार पा-जायगी.' मैंने कहा, 'अब मार्गमें क्योंकर चला जायगा? मार्गमें चलनेके साधनरूप मेरे पैर तो आप देखते हो, बिलकुल टूट गये हैं.' तब उन्होंने कहा कि, "तूने जिस अद्भुत स्वरूपके दर्शन किये है, उस प्रभुका सेवन स्मरण तू यहीं रहकर करेगी, तो तेरा चित्त उसमें दृढ़तासे लग

जायगा. तेरी मार्ग चलनेकी चिन्ता दूर होजायगी और तेरा उद्धार भी होजायगा; क्योंकि इन कृपालुने स्वयमही उसके लिए अपने श्रीमुखसे कहा है कि:—

" मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

" अर्थ—जो मुझमें चित्तको स्थिर कर नित्य मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मृत्युरूप संसारसागरसे मैं उद्धार कर-उठा लेता हूँ. मुझमें चित्त लगानेवालोंको उद्धार करनेमें मैं विलंब नहीं करता. "

" फिर मैंने पूछा, मेरा प्रत्यक्ष देखा स्वरूप यद्यपि मुझको अंतःकरणमें ज्यों का त्यों दिखाई देता हैं, अतः उसके दर्शन तो कर सकती हूँ, पर सेवन किस तरह करूँ ? प्रभुके प्रत्यक्ष हुए विनासेवा किस तरह होंसके ?' उन्होंने कहा कि, अहा देवि ! तेरे अन्तःकरणमें स्वरूपानुसंधान होजानेसे तुझको तो सब वातें सुगम हैं. तेरे गुह्यागारमें—हृदयके गहनसे गहन भागमें—जो स्वरूप दिखाई देता है, उसके पूजनके लिए सब मानसिक-मनोमय सामग्रीसे तुझे उसका पूजन करना चाहिए. हे पतिव्रते ! तू हीनाधिकारिणी नहीं है, पूर्णाधिकारिणी है; और ब्रह्मस्वरूपानुसंधान होजानेसे तुझे अपना बनालेनेके लिए, परमात्मा देर नहीं लगावेंगे. तेरा कल्याण हो !' ऐसा कह तुरंत उन्होंने मुझको बहुतही सावधानीसे बाहर निकाल, नदीमें स्नान कराया और इस रम्यपथिकाश्रममें जा रखा. "

" मानसिक सेवाका प्रकार तो अच्युतकृपासे मेरे हृदयमें स्फुरित हुआही था; पर मनकी स्थिति-वृत्ति बहुत चपल होती है, इससे उसकी बहिर्वृत्ति स्थिर करनेके लिए सब कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको भी अच्युतसेवामें लीन करनेके लिए उन अच्युतसेवकोंने, मेरे निकटसे जाते समय मुझको अच्युतसेवाका वाहरीसाधनरूप एक लिंग-चिह्न अर्पण किया है, जो यह मेरे कंठका शृंगार है. " *

" हे महात्मापंथीवर्य ! इस प्रकार इस परब्रह्मलिंगको नित्यप्रति हृदय प्रेमसे पूजकर मैं उनके सम्मुख कर जोड़कर मधुरालापसे उनके गुण गाती हूँ, और वारंवार अच्युत नामकी जयध्वनि कर उनको प्रणाम करती हूँ

* टीका—भक्तिपक्षमें यह चिह्न शालिग्राम है, ज्ञानपक्षमें परब्रम्हका प्रेमसे शोधन है.

तथा प्रार्थना करती हूँ कि 'प्रभो! पवित्र और आपके चरणकमलोंमें स्थिर चित्तवाले मेरे स्वामीको तो आपने कृपा करके शरणमें ले लिया है; किन्तु मैं, जो अपनेही अपराधसे* ऐसे महात्मा पतिकी महत्ताको न जान वियोगिनी हुई हूँ, आपके चरणारविन्दसे भी तिरस्कृत हुई हूँ, और अकेली निराधार हो गई हूँ, मेरे स्वामी तो सब तरहसे अब आपही हो. इस लिए हे नाथ! अब इस असहाय अपराधिनी अबलापर कृपा करो! कृपा करो!'† हे पथिको! मेरा हृदय प्रेमावेश और ब्रह्मस्वरूपके वियोगसे नित्य आकुल व्याकुल हो जाता है, घबरा जाता है, कंठ गद्गद् होजाता है, शरीरसे पसीना छूटता है, नेत्र अश्रुसे भर जाते हैं, और मेरे सम्मुखके परब्रह्म लिंगके स्थानपर तेजोमय अच्युतरूप खड़ा होजाता है और उसमें मैं लीन हो जाती हूँ. इस आवेशमें मैं मूर्छितसी हो जाती हूँ, पागल हो दौड़ती हूँ, नाचती हूँ, हँसती हूँ, गिरती हूँ, रोती हूँ, और जब होशमें आती हूँ, तो तेजोमय स्वरूप इस विश्वमें लीन हुआ देखती हूँ. इस तरह बहुत समयसे मैं अच्युत प्रभुका वियोग सहन करती हूँ. कभी कभी अपने प्रिय पतिसे विलग होजानेसे प्रेममयी पतिव्रताकी भाँति अपने स्वामी अच्युतको जोरसे और धीरेसे बुलाती हूँ; तो कभी कभी अपनी सर्व समर्थ, कृपालु और संतानवत्सल मातासे अरण्यमें विलग हो जानेसे एक बालकुमारिकाकी भाँति जगत्पिता अच्युतको बुलाती हूँ; और कभी कभी अपने प्रियपुत्रसे विलग होनेके कारण मुग्ध पिताकी भाँति प्रभुको प्रेमसे पुकारती हूँ; तो कभी कभी, अपने बहुकालीन बड़े परिश्रमसे कहीं संचित किए हुए प्यारेसे प्यारे महाधनको खोकर निर्धन होजानेवाले कृपण मनुष्यकी तरह प्रभुके लिए निःश्वास युक्त रोदन करती हूँ; तो कभी कभी बहुत रोती हूँ, और कभी कभी तो उस कृपालुकी मुझ जैसी पामरपर होनेवाली अचल कृपा स्मरण हो आनेसे अपार आनंद पाती हूँ; और किसी किसी समय मेरे और मेरे समान दूसरे पामर पथिककी, जो सहज वासनासे अच्युतमार्गको

* ज्ञानरहित ब्रम्होपासना. सिर्फ परमात्माके दर्शन, स्मरण और सेवनसे मुक्ति नहीं है, पर जो ज्ञानपूर्वक सेवन–शोधन है उससे मुक्ति है. परमात्माका जो स्वरूपानुसंधान है वह परमात्माको मायिक नहीं, पर अमायिक स्वरूपसे देखनेसे होता है, यह शक्ति आत्मामेंही आत्माका लय होनेसे आती है.

† टीका—यहाँसे निर्गुण प्रेम–ब्रह्मज्ञान भक्तिका स्वरूप प्रदर्शित होता है.

छोड़कर पतित होजाते हैं, स्थिति देख बड़ा खेद करती हूँ; और कभी कभी उनकी कमबुद्धिके लिए खिलखिलाकर हँस पड़ती हूँ. मैं आँखें रहते अँधी, कान रहते बहरी, जिह्वा रहते गूँगी, और मनरहते बेमन हूँ, तो मुझमें दृष्टि क्या, वाणी क्या और मनन कहाँ है ? फिर ऐसी अवस्थामें कभी कभी आपके समान जो महात्मा पथिक, ऐसे पुण्यरूप साधक संघोंको लेकर यहाँ आते हैं, उनका प्रेमसे समागम करती हूँ, और उनके मुखसे समर्थ प्रभुके अनेक विचित्र पुण्यचरित्र* सुनकर भाग्यवती होती हूँ. पर निर्भाग्य इसी लिए हूँ कि, असमर्थ होनेसे ऐसे संतमहात्माओंकी पवित्र सेवा कुछ नहीं कर सकती.† सिर्फ दर्शन करकेही अपनेको कृतकार्य मानती हूँ."

इस प्रकार महापतिव्रताके मुखसे निर्झर होते हुए चरितामृतका प्रेमसे पान करते हुए सत्साधकादि सब पथिकोंसे, जो एकाग्रतासे उसके मुँखकी ओर देख रहे थे, बहुत निकट संबंध प्रदर्शित करते हुए वह बोली; "अहा ! मेरे प्रिय बंधुओ ! मेरे सुहृदो ! अपने दयालु पिता अच्युतके समीप जानेके लिए जो यह पुनीत मार्ग है उसका सोपान यहीं समाप्त होता है. उसके साथ सारे मार्गका छठा, और जो तीन प्रस्थान कल्पित किये गये हैं, उनमें का मध्यम अथवा दूसरा प्रस्थान भी यहीं—इस पथिकाश्रममेंही पूर्ण होता है. यहाँसे आगे अब तीसरा प्रस्थान आरंभ होगा, जिसमें सातवें अंतिम सोपानका समावेश होता है. यह तीसरा प्रस्थान बहुत कठिन है. इस मार्गसे जाते प्रत्येक संघ इस स्थानपर कई रातें आनंदमें व्यतीत करते हैं; बड़े प्रेमभावसे अच्युतसाधनका अनुष्ठान करते हैं, और इसमें अद्भुत चरित्रोंका मनन निदिध्यासन करते हैं. तुम्हारा और हमारा यह अंतिम समागम है; क्योंकि मैं अपंग अबला यहीं पड़ी रहूँगी, और तुम सब प्रभुके कृपापात्र होनेसे कल सबेरे उठकर पथारूढ होजावेंगे, इस लिए चलो, सब मिलकर, मेरे संतोषार्थ एकबार फिर अच्युत कीर्तन करें." ऐसा कहकर उसने पथिकाश्रमसे ताल, मृदंग, वेणु आदि सुन्दर स्वरवाले बाजे, पथिकोंसे मँगाया और उत्कट प्रेमावेशसे अच्युतप्रार्थना आरंभकी ।

---

* टीका—स्वरूपानुसंधानके प्रकार—ब्रह्मस्वरूपको जाननेकी विधियाँ.

† टीका—विज्ञान भक्ति कैसी है, वह अकेली—ज्ञानरहित भक्ति प्रदर्शित नहीं कर सकती. यहाँ भक्ति, पूर्ण ज्ञानमय है यहीं, पर अहंकार ग्रन्थि छूटनेके लिए यह वचन है.

मृदंग, ताल, वीणादि बाजोंके अत्यंत मधुर स्वर और उनके साथ अति प्रेमावेशसे महासती अच्युतव्रताके मधुर कंठद्वारा होनेवाले स्तोत्रपाठ तथा उस समयके उत्कृष्ट प्रेमानंदका वर्णन नहीं हो सकता. सत्साधकादि सारा संघ, अच्युतके प्रेमानंद सागरमें निमग्न होगया. महासती अच्युतव्रताको इस समय अपने शरीरका कुछ भान नहीं रहा; वह उस समय अपनी आँखोंसे मानो कुछ विचित्रता अवलोकन कर रही है और उन सबको दिखानेके लिए प्रयत्न कर रही है ऐसा मालूम होने लगा. कीर्तन करती वह बोल उठी; 'अब हूँ तव पदकमल मलिन्दे.' उसके साथही, वह अति गद्गद् होगई! उसने ज्योंही सिर झुकाया, त्योंही वह ब्रह्ममय होगई.

क्षणभरमें उसके शरीरसे एक तेजोमयी दिव्य और सुन्दर आकृति निकली और अधर अंतरिक्षमें, मानो किसीका रास्ता देखती हो इस प्रकार खड़ी रही कुछही देरमें, पथिक समूहमेंसे एक और ऐसा दिव्य स्वरूप प्रकट हुआ; और उसके पासही अंतरिक्षमें जा खड़ा हुआ. एकत्र होतेही दोनों स्वरूपोंने सत्साधकादि पथिक समूहको कर जोड़ प्रणाम कर, अच्युतनामकी जयध्वनि सहित सूचित किया कि, "प्रिय अच्युतप्रिय बंधुओ! भक्तोंके समागमसे हमारी सब अंतराय–वासना दूर हो जानेसे, और अभेदपनका अनुभव होनेसे हम अब अच्युतपुरको जाते हैं. देखो ऊँचे आकाशमें जो वह सुप्रकाशित विमान दिखाई दे रहा है उसमें चढ़ा कर हमें ले जानेके लिए प्रभु अच्युतके पार्षद आये हैं. अच्युत कृपासे शायद अच्युतपुरमें हम सब जनोंका आज मालूम होता हुआ भेद दूर होजायगा और हम सब अच्युतरूपमें लीन होजायँगे! अद्वैतरूपसे निवास करेंगे! जय ब्रह्मरंग!!"

ये अंतिम शब्द बोलनेके साथही वे दोनों महापुण्य पवित्रात्माएँ झपाटेसे ऊँचे जाकर विमानारूढ़ होगईं. विमान आकाश मार्गमें चला गया! इस अद्भुत चमत्कारसे निरे स्तब्ध होजानेवाले सब पथिकोंको बड़ा आश्चर्य तो यह हुआ कि, जिसकी प्रेम दशाको सब बारंबार हँसते थे, उस प्रेमी पथिकके भाग्यका आज कुछ पार नहीं! उसीका स्वरूपानन्दसन्धान परम फलका दाता है! प्रेमही ब्रह्महै प्रेमही विश्वका सत्त्व है! प्रेमही सबका कारण है! हरिप्रेम भक्तिरूपही है! प्रेमीमें वह निरंतर वास करता है. प्रेम कहो, ब्रह्म कहो, अद्वैत मानो, सब एकही है! ब्रह्म प्रेममय है! प्रेम ब्रह्ममय है! प्रेम अद्वैत है! अद्वैतही प्रेम है! और वही ब्रह्मस्वरूप है!!

महाबिन्दु—सप्तम सोपान.

कैवल्यपद प्राप्ति.

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ यदानन्दलेशैः समानन्दि विश्वं यदाभाति सत्त्वे तदाभाति सर्वम् । यदालोचने हेयमन्यत्समस्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥

अर्थ—उसको सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते, वहाँ जाकर आवर्तन (जन्म-मरण) नहीं होता, वही मेरा परम धाम है. जिसके आनंदलेशसे यह विश्व संपूर्ण आनंदमय है, जिसके सत्त्व भावमें सबका भाव है, जिसके आलोचन (विचार) के बाद दूसरा समस्त होता है, वही नित्य परब्रह्म मैं हूँ.

प्रभात निर्मल प्रभात ! इसे प्रभात कहो, रस कहो, आनंद कहो. सूर्यका प्रकाश न होता, तो फिर इसे प्रभात कैसे कहते ? चंद्रका प्रकाश न होता, तो रात्रि कहाँसे होती ? अंधकार न होता, तो प्रकाश कहाँसे आता ? वहाँ सब आनंदमय था, रसमय था, प्रेममय था, अद्भुत–विचित्र—वाणीसे परे था. वहाँ इस व्यावहारिक वाणीका प्रभात हुआ ?

नित्यके आह्निकसे अवकाश पाकर पथिकसमूह आगे चला. मार्गमें जाते हुए महात्मा सत्साधकने कहा; "अहा ! अच्युतप्रभुकी लीला कैसी अद्भुत और अगम्य है ! अपने श्रीमुखसे कहे हुए वचनोंके यथार्थ दर्शन करानेके लिए जरा भी विलंब नहीं करते, वे दयाके भंडार हैं, क्षमाके सागर हैं, और न्यायकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं. यह सब हमें महासती अच्युतव्रताके वृत्तान्तपरसे इत्थंभूत मालूम हुआ है ! यह सब प्रभुकी सगुण–सज्ञान—उपासनाका फल है; निर्गुण उपासना इतनी सरल या सुखरूप नहीं है—यद्यपि अंतमें वह भी अच्युतपदमेंही पहुँचानेवाली है; पर उसके

उपासकको बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है. इसके लिए प्रभु श्रीअच्युतने स्वयंही अपने श्रीमुखसे कहा है कि, 'जो मुझमें—मेरे सगुण स्वरूपमें सर्वदा चित्त स्थिरकर परम श्रद्धायुक्त हो सती अच्युतव्रतकी तरह मुझे भजता है, वह अत्यंत श्रेष्ठ योगी है, ऐसा मैं मानता हूँ; और जो मेरे अविनाशी जैसे ब्रह्मस्वरूपकी, जो नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु है, पर जो अव्यक्त है, सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त है, पूर्ण है, पूर्णका भी पूर्ण है, पूर्णमेंसे पूर्ण लिया जाय तो भी पूर्णही रहता है, पूर्णमें पूर्ण मिले तो भी पूर्णही रहता है, अचिन्त्य है, कूटस्थ अर्थात् माया प्रपंचमें होते हुए भी स्थिर है, अचल है, और नित्य है, उपासना करता है; तथा समग्र इंद्रिय समूहका संयमकर सर्वत्र समान बुद्धि रख, सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहता है, वह भी मुझको पाता है. पर इस तरह अव्यक्त ब्रह्मस्वरूप निर्गुणमें जिनका चित्त आसक्त हो गया है, उन्हें बड़े बड़े क्लेश होते हैं; वे पार पाते हैं सही, पर शरीरधारी प्राणीको अव्यक्त अर्थात् विदेहगतीका ज्ञान होना, बड़े कष्टका कार्य है.'

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे चले जाते थे, इतनेमें मार्गकी बायीं बाजूसे एक रास्ता दिखा. वह बिलकुल निस्तेज और सूनसान दिखता था. उसकी दोनों ओर, वृक्षादिकी शोभा या छाया नहीं थी. वह रेतीला कंटकमार्ग बहुत दूरतक, जल, फल, फूल या पान इत्यादि किसी भी सुभीतेसे हीन दिखता था. इसको छोड़कर संघ आगे चलने लगा, इतनेमें एक उदास और निस्तेज मनुष्य, उस मार्गसे आकर संघके आगे खड़ा हुआ. संघमेंसे किसीने भी उसको आदर नहीं दिया. तथापि वह बोल उठा; "अहा ! कैसा आश्चर्य है कि भोले भाविक लोग, भेड़िया धसान एकके पीछे एक बिना सोचे समझे चले ही जाते हैं ! कोई समझावे तो समझते भी नहीं हैं ! ऐसे अनेक संघ बिना समझे बूझे अंध परंपरासे इस मार्गसे होकर गये हैं, वे कहाँ समा गये हैं, वह मालूम भी नहीं होता है ! मैंने उन्हें बहुतेरा रोका, तथापि कोई सुमतिमान विरलाही समझकर वहाँसे मुड़कर, इस परम शुद्ध निर्वाण मार्गमें आरूढ़ हुआ है ! अहा ! कैसा मनस्वी सिद्धान्त वे ग्रहण कर बैठे हैं कि, जिसका कुछ पाया (मूल) ही नहीं है. अच्युतपुर कैसा और बात कैसी ! अरे ओ मूढ़ो ! अनेक सुखोंको लातमार अतिशय कष्ट झेल तुम जहाँ जानेके लिए यहाँतक चले आये हो,

और जहाँ जाते हो, वहाँ कौनसी वस्तु प्राप्य है ? अहा ! मोक्ष कहाँ ? अहा ! ब्रह्म कहाँ ! वास्तवमें कहीं भी नहीं है. यह जगत प्रवाही है, निरंतर चलाही आता है, चला जाता है, और उसमें प्रत्येक प्राणीको अपना कर्म फल अवश्य भोगना है. कर्मछूटे—मुक्त हुए बस समाप्ति ! ग्रंथि छूट जाती है, और अंतमें कुछ भी नहीं रहता. आत्माएँ नहीं और अनात्माएँ भी नहीं. निरा शून्यही ! अंतमें शून्यही ! दूसरा कुछ नहीं है. उसके अनेक रूप कल्पित कर उसकी प्राप्तिके लिए अनेक कष्टसाध्य उपाय करना, स्वप्नकी बात सत्य करनेके समान है. जानते नहीं कि, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अग्रे यह सत्रूप, एकही तथा अद्वितीय था अर्थात् शून्यही था, तब वहाँ और क्या हो ? कुछ भी नहीं ! शून्यही ! पर मूढ़को कौन समझावे ?"

इसी प्रकार 'अंतमें कहीं भी नहीं, कुछ भी नहीं, शून्य है, ऐसी अनेक बातें कहनेपर भी किसीने उनपर ध्यान नहीं दिया, न पीछे फिरकर उसकी ओर देखा; क्योंकि अच्युतव्रताके प्रत्यक्ष चरित्रसे और सब वासनाओंका लय होनेसे सबका मन बहुत जाग्रत् हो गया था; और महात्मा सत्साधकके चलन परही श्रद्धायुक्त था.' इस तरह कुछ समय चलने पर एक और मार्ग आया.

यह मार्ग भी अपने शुद्ध सनातन मध्यवर्ती अच्युतमार्गसेही फूटा था. वह उद्गमस्थान (मुख) पर तो बड़ा भव्य और शुद्ध सत्स्वरूप दिखाई देता था, पर आगे जाने पर प्रायः उस शून्य मार्गसेही मिलता था. छोड़कर इस संघको आगे जाते देख, उसके मुखपर स्थित सुन्दर मठसे परम हंस दीक्षाधारी महात्माके समान एक हृष्टपुष्ट मनुष्य निकल संघकी ओर आने लगा उसके मस्तक दाढ़ी और मूछके सारे बाल मुड़े हुए थे, कटिपर लज्जारक्षणार्थ एक कषायांबर लिपटा हुआ था, एक हाथमें जलका कमंडलु और दूसरेमें एक पुस्तक थी. दूसरे मनुष्य अपने मार्गमें मुड़ आवें और अपनेको ईश्वरतुल्य मान वे सब सेवा करें, ऐसी उसकी इच्छा मालूम होती थी. - संघको देखकर वह आपही बोला, "भाइयो ! लोगोंकी भूल भरी समझके अनुसार क्या सब भी परब्रह्मकी शोध करने निकले हो ? अरे ! जो परब्रह्म है वह क्या कहीं दूर है या किसी गुप्त स्थानमें है ? नहीं रे नहीं; वैसा नहीं है. वह तो अपने शरीरमें ही है. अरे ! अधिक तो क्या ? पर तुम स्वयंही वह हो !

तुम सब अद्वैत देखो, बस वहीं ब्रह्म है! ऐसा अभेद देखो, और स्वयमही तुम अपनी तईं अपनेमेंही अपने ब्रह्मको देखलो. इसके लिए ऐसी किसी दौड़ादौड़ या किसी साधनका काम नहीं है. अहा! यह सब परिश्रम किसके लिए? किस लिए मुखसे निरंतर नामस्मरण कर जीभको दुखित कर रहे हो और मानो तुम्हारे पीछे कोई आ रहा है, इस तरह भयातुरकी भाँति दौड़ रहे हो. यह कितना भारी अज्ञान है? निश्शंक, तुम्हें किसी सच्चे सद्गुरुके दर्शन नहीं हुए. भोलो! अरे भोलो! अब हाय हाय त्याग-कर, सद्गुरुकी शरण जाओ; वह तुम्हें तत्काल परब्रह्म दिखा देंगे और सारा परिश्रम दूर करेंगे. 'तत्त्वमसि' जो ब्रह्म है वह तू स्वयमही है, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इत्यादि वाक्योंका उपदेश मनमें पैठा कर, सारी खटपट मिटा दो. ऐसे सद्गुरुओंका समागम इस धुरंधर मार्गमें होगा, इस लिए आगे जानेका मिथ्या परिश्रम छोड़ दो, इस सुगम मार्गमें दान करना नहीं पड़ता, पुण्य करना नहीं पड़ता, तप करके शरीरको दुःख देने या उपवासादिसे क्षीण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, तीर्थोंमें भटकना नहीं, यज्ञ, याग या अध्ययन करना नहीं, वारंवार राम राम, कृष्ण कृष्ण और हरि हरि करके मुँह दुखानेका काम नहीं है. यहाँ तो यह समझनेकाही काम है, कि मैं स्वयम् ब्रह्म हूँ—बस तरे सागर! उतरे पार! यह सब गुरु एक क्षणभरमें समझा देते हैं. साधन—कर्म करनेसे तो उनके फल भोगने पड़ते हैं, और ब्रह्म जाना, बस गुरुके उपदेश मात्रसे ही पाप पुण्य सब जलकर क्षार हो जाते हैं, फिर क्या करना शेष रहा? बस सदा सर्वदा आनंद आनंद और आनंद ही! ऐसा यह मोक्षके द्वार पर्यन्त ले जानेवाला मार्ग है, इस लिए भूलना नहीं, और न आगे दौड़, कर मरना."

इतना सब कहकर अपने सब सिद्धान्त वह गा रहा था, कि उसके उत्तरमें महात्मा सत्साधकने सिर्फ एकही वचन कहा:—"हे महात्मन्! आपके निर्माण किये हुए वेदांतमार्गको और आप जैसे वेदान्तियोंको मैं प्रणाम करता हूँ." जो—

"कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेप्यज्ञानतया नूनं पुनरायांति यांति च॥"

अर्थ—"ब्रह्मकी बातें करनेमें कुशल होनेपर भी वैसी वृत्ति नहीं रख सकते,

और विरागहीन अर्थात् विषयी होते हैं. वे वैसी अज्ञानताके कारण आगे जा जा कर पीछे आते हैं अर्थात् जन्म लेते और मरते हैं."

"और उनके दर्शन भी महद् -अकल्याण करनेवाले हैं, इस लिए आप अपने स्थानको पधारें ! !"

यह सारी लीला अपने वे विमानवासी इत्थंभूत (इस तरह) देख रहे थे. उनसे गुरु वामदेवजीने कहा; "पुण्यजनो ! संघके अग्रणी सत्साधकने इस हृष्ट पुष्ट वेदान्तीको जो प्रत्युत्तर दिया, वह कहाँ तक सत्य है, यह तुमने क्या जान लिया ? देखो, हम लोग अंतरिक्षमें हैं, इसलिए बहुत दूर तक देख सकते हैं. इन शुष्क वेदान्तियोंका मार्ग अंतमें किस ओरको मुड़ता है ? देखो, कुछ दूर तक तो वह सीधा दिखता है, पर अंतमें दक्षिण दिशाकी ओर मुड़ा है और फिर ठेठ नरक तक पहुँचा है. ऐसे मिथ्याचारी, भोले लोगोंको भुलाकर नरकमें ले जानेके लिए ही उत्पन्न होते हैं. वे लोगोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिए जप, तप या यज्ञादि साधनकी, अथवा भजन, कीर्तन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, नीति कृतिकी, स्वच्छता, निर्वासनामय होने आदिकी कुछ आवश्यकता नहीं, ऐसा समझाते हैं, और लोगोंको भी जैसे बने खटपट कम हो ऐसा दिखाई देनेसे यह सिद्धान्त बहुत पसन्द है. जिससे दान, पुण्य, पूजन, अर्चन, तप, यज्ञ, क्रिया, कर्म, इत्यादि सब मार्ग त्यागकर तुरंत वे इन शुष्क वेदान्तियोंके मार्गमें आजाते हैं, और अंतमें मनोवृत्तियाँ मलिन–जड़–और विषयवासनाके वश हो जानेसे वे नरकमें जाते हैं ! ऐसे साधन संपत्तिहीन मनुष्योंको अपना मार्ग दिखाने या अपने मार्गका वृत्त तक सुनानेके लिए जब प्रभुने स्वयम् श्रीमुखसे बिलकुल मना किया है, तो फिर स्वतः प्रभु–परब्रह्मकी प्राप्तिका तो वहाँ नामही कहाँसे हो ?

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥"

अर्थ—"जिसने तपादिक साधन कर अपने चित्तको शुद्ध और स्वाधीन नहीं किया, मुझमें और मेरा मार्ग दिखानेवाले सद्गुरुमें भक्ति नहीं की, अथवा जो मेरी निन्दा करता है, उस मनुष्यको इस मेरे मार्गका वृत्त, अर्थात् मुझे प्राप्त कर लेनेके संबंधका ज्ञान कदापि देना नहीं चाहिए."

"इस प्रकार प्रभु अच्युतने पहले कहा है. पर देखो, महात्मा सत्साधक

पथिकोंसे कुछ बातें करते जा रहा है. महात्माओंकी सामान्य बातचीतमें अथवा घरेलू व्यावहारिक-विनोदादि बातचीतमें भी अक्षर और शब्द, स्वभावतःही तत्त्वज्ञानसे पूर्ण होते हैं; क्योंकि इनकी सकल मनोवृत्तियाँ और वासनाएँ नितान्त अच्युतपरायण होती हैं. ”

चलते चलते महात्मा सत्साधकके एक पथिकने हाथ जोड़कर पूँछा; “ गुरुवर्य ! सती अच्युतव्रताकी प्रशंसा करते आपने बताया है कि, यह सब सज्ञान उपासनाका फल है जब निर्गुण उपासना उतनी सरल नहीं है, तो वह कैसी है कहिए ! ” इसके उत्तरमें सत्साधकने कहा; “ प्रिय पथिक ! पहले तो निर्गुण अर्थात् अव्यक्त स्वरूपके उपासकको ऐसी भावना करनी चाहिए कि प्रभुका स्वरूप अव्यक्त अर्थात् सर्वत्र समान व्याप्त है, फिर ध्यान–हृदयमें उस बातकी दृढ़ता करनी चाहिए, पर वैसा अव्यक्त निराकार स्वरूप एकाएक किसतरह मालूम हो ? समग्र जगतरूपसे उसे देखनेसेही मालूम होता है. पर ऐसे ध्यानसे चित्त व्यग्र रहता है, और अपने स्वरूपमें भलीभाँति पैठता नहीं है, इससे उसे जगतमें उस परमात्माकी जो मुख्य विभूतियाँ हैं, उनमें उसकी भावना करनी चाहिए. सूर्य, चंद्र, इन्द्र, देवों, वेदों, ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश, जल, पर्वतों, समुद्रों, मुनियों, संतों, विद्वानों, यज्ञों, पवित्र राजों, गायों, पवित्र वस्तु, सुन्दर वस्तु, चैतन्यवान् वस्तु, पवित्र तीर्थं, नदि, दिव्य पदार्थों, सत्यवान् मनुष्यों, कवियों सज्जनों, सच्छास्त्रों इत्यादिमें परब्रह्मका विशेष-रूप अर्थात् विभूति देखनी चाहिए। इससे भी चित्त ऊब जाय तो इन सबमें श्रेष्ठ और मुख्य विभूति सूर्यविम्ब है, उसमे भगवद्भावना करनी चाहिए और उसके तेजका नित्य ध्यान धरना चाहिए. पर भूलना न चाहिए कि यही परमात्मा है वह तो सिर्फ परमात्माकी एक विभूति है, और परमात्मस्वरूपका ध्यान या भावना धरनेके लिए सिर्फ साधन है। उसमें जो तेज है वह परमात्मा—अच्युतका है, और अच्युत तो इस सूर्यका भी सूर्य है, तेजका भी तेज है—ऐसा दृढ़तासे समझ रखना चाहिए. इस तेजोमय स्वरूपका दृढ़ ध्यान–अभ्यास करते करते साध्य हो जाता है और फिर सती अच्युतव्रताको मूर्छामें जिस तेजोमय स्वरूपको प्रथम दर्शन हुए थे, उसका लाभ होता है; और ऐसा होनेसे धीरे धीरे प्रभुके निर्गुण स्वरूपका ज्ञान स्वयमही होता है. इसका नाम अव्यक्त

उपासना । इस उपासनामें स्वात्मस्वरूपमें लय, मुख्य मंत्र है । इस पवित्र मंत्रमें प्रभुके सर्वोत्तम तेजका ध्यान समाया है; जो ध्यानकर्त्ताकी बुद्धिको परब्रह्ममें लीन करती है ।"

इतना कह सत्साधक फिर बोला; "प्रिय पथिको ! यह उपासना कठिन इस लिए है कि, प्रभुका निराकार–निर्गुण स्वरूप ध्यानमें लानेमें कसोटीमें चढ़ना पड़ता है. इसमें कष्ट भी परम है. प्रभु अच्युतका उपासक–भक्त कैसा हो, तो प्रभुको प्रिय लगे, यह प्रभु अच्युतने श्रीमुखसे ही कहा है कि, 'जो किसीसे भी द्वेष नहीं करता, जो सब प्राणियोंका मित्र है, दयालु है, मैं पन और मेरापन जिसे नहीं, सुख दुःख दोनों जिसे समान हैं, जो क्षमाशील, सर्वदा संतुष्ट, स्थिर चित्त, मनोनिग्रही और दृढ़ निश्चय-वाला है, तथा अपना मन और बुद्धि जिसने मुझे अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है. जिससे किसीको दुःख नहीं होता, एवं किसीसे वह दुःख नहीं पाता; हर्ष, इर्ष्या, भय, खेद इत्यादि सबसे जो मुक्त रहता है, वह भक्त मुझे प्रिय है. जो कुछ मिले उसमें संतोष मानता है, सदा पवित्रतासे रहता है, सारासारका पूर्ण विवेक समझता है, सारे संसारसें उदास–विरागी रहता है, किसीसे दुःख नहीं मानता, फलाशासे कोई काम नहीं करता, आनंदमें जो फूलता नहीं, दुःखसे जो त्रसित नहीं होता, किसीका शोक या कामनाकी इच्छा नहीं करता, शुभाशुभ दोनोंका जिसने त्यागन किया है, और मुझमें जो श्रद्धा रखता है, वह मुझे प्रिय है. फिर शत्रु–मित्र जिसे समान हैं, मानापमान एकसे हैं, शीतोष्ण और सुख दुःख भी जिसको बराबर हैं, सारी आसक्तिसे जो मुक्त है, निन्दास्तुति जिसे समान हैं, जो असत्य भाषण नहीं करता, प्रारब्धवशात् जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट होकर, जो यह दुरभिमान–वासना–ममत्व नहीं करता कि यह स्थान या घर मेरा है, जो स्थिर चित्तसे मेरी भक्ति करता है, वह मनुष्य मुझे प्रिय है.' इस लिए हे प्रिय पथिको ! हम भी जब ऐसे ही होंगे तो प्रभु हमें अपनायेंगे."

इस प्रकार बातें करते हुए पथिक बहुत समय तक चलतेही रहे. इस समय किसीके सिरपर, अथवा हाथोंमें या किसी और जगह पोटली मालूम नहीं होती थी; किन्तु सब रिक्तहस्त मालूम होते थे, उत्साह मग्न थे, आनन्दित थे, प्रेमपगे थे, अलौकिकताका अनुभव कर रहे थे, निर्भय थे, विशुद्ध

थे, लोकप्रिय थे, विश्वव्यापी थे, सर्वत्र समदर्शी थे, और सर्वत्र अपने स्वरूपको देखते थे. चलते चलते एक सुन्दर पथिकाश्रम आया. वहाँ मुकाम किया. यद्यपि वे जरा भी श्रमित नहीं हुए थे, तथापि संध्या हो जानेसे अपने स्नान संध्यादिक नित्य कर्म कर नियमानुसार सब अच्युत कीर्तन करनेको तत्पर हुए. बहुत समय तक आनंदसे कीर्तन स्मरणादि* कर वे अपने गुरुरूप सत्साधकको प्रणाम कर लेट रहे. महात्मा सत्साधक प्रभुका स्मरण करता था, इतनेमें उसे जान पड़ा मानो कोई अपने पास आ रहा है. वह एक दिव्य और सुन्दर लावण्यमयी बाला थी. उसको देखतेही वह महात्मा उभय कर जोड़ खड़ा हो गया और प्रणाम करके कुछ पूछनाही चाहता था कि वह दिव्य बाला स्वयमही बोल उठी; "अच्युत प्रिय! विदेह मुक्त! तेरा कल्याण हो! तेरे आज्ञानुसार अनुसरण करनेवाले तेरे साथियोंका भी मंगल हो. सर्वेश्वर प्रभु अच्युत, ही हमारे सर्वस्व हैं, और हम सब उसकी शरणमें हैं, ऐसी सुदृढ़ भावनारूप उस प्रभुकी उपासना तुझे और तेरे साथियोंको परिपक्व हुई है; उसके फलस्वरूपसे मैं तेरे चित्तको प्रसन्न करने आयी हूँ. मैं प्रभु अच्युतकी आज्ञाकारिणी और प्यारी सखी हूँ. देवी चित्तशुद्धि मेरी माता है. हम दोनों साथही रहती हैं. जहाँ मैं रहती हूँ वहाँसे प्रभु अच्युत पलभर भी नहीं हटते. मेरा नाम देवी चित्तस्थिति है. मैं जिस पर प्रसन्न होती हूँ, उसके चित्तमें जाकर निवास करती हूँ, और फिर प्रसन्नतापूर्वक उस चित्तको जरा भी चलायमान होने नहीं देती. क्योंकि मेरा तो सदा सर्वदा प्रभु अच्युतकाही समागम है, अतः इनसे किसी चीजको अधिक उत्तम मानूँ, या उसके लिए अन्यत्र ललक कर जाऊँ? चेत्यांशसे विलग हो चित जब आत्मा परमात्मा—परब्रह्म—सच्चिदानंदमें प्रविलय पावे और अति विशुद्ध तथा परम पवित्र हो असत्वत् हो रहे और अभावकी अत्यंत भावनासे क्षीण हो जाय, तभी इस चित्तकी परम गति जाननी चाहिए. तेरी गति यही है. महात्मन्! मैं तुझ पर अत्यंत प्रसन्न हूँ, इस लिए आजसे अब मैं तेरे ही हृदयमें निवास करूँगी. अच्युत प्रभुको मैं बहुत प्रिय हूँ, और मुझे प्रभु अच्युतके भक्त बहुत प्रिय हैं, क्योंकि

---

* टीका — यहाँ स्वरूपानुसंधान नामका कीर्तन समझना चाहिए और जो स्मरण है उसे सच्चिदानंद स्वरूपकी आसक्ति जानना चाहिए.

वे सिवा अच्युतके और किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और सिवा अच्युतके उन्हें अन्य किसीकी कामना या आशा भी नहीं होती."

उनकी ऐसी बातचीत सुनकर दूसरे अधिकारी पथिक भी झटपट जाग उठे, और देवी चित्तस्थितिको प्रणाम कर खड़े रहे तथा वह देवी उनपर भी कृपा करे ऐसी जिज्ञासापूर्वक, अपने गुरु सत्साधककी ओर देखने लगे. उनके लिए सत्साधकके प्रार्थना करनेके पूर्वही, वह महादेवी स्वयम् ही प्रसन्नता पूर्वक उनसे बोली; "धर्मात्मा पथिको! अपने सद्गुरुकी सेवा कर उनकी आज्ञा मान कर तुमने जो अच्युत भावना दृढ़की है, इसके लिए मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ; मैं निरंतर तुम्हारे चित्तमें निवास करूँगी. तुम्हारा कल्याण हो, बोलो प्रभु श्रीअच्युतकी सदा जय." यह अंतिम शब्द बोलतेही वह तेजका बिम्बरूप होकर सत्साधकादिमें प्रविष्ट हो गई.

आगे बढ़ते हुए महात्मा सत्साधकने कहा; "हृदयप्रिय बंधुओ!* अतिशय परिश्रमके पश्चात् अच्युत कृपाके हम यहाँ तक आ पहुँचे हैं. उन समर्थकी कृपाके सारे विघ्नोंसे बचेंगे और पार भी पायेंगे. पर अब विकट घाटी आती है—यह आगत घाटी सबसे कठिन है. 'अच्युत प्रभु ही मेरे सर्वस्व हैं, अन्य किसी बातकी आशा-वासना नहीं है,' ऐसा दृढ़तासे समझनेवाले बंधुको और अहंकार भावका नाशकर जिसकी बुद्धि सर्वत्र वासुदेवात्मक हुई है, उसको किसी भी अडचनके आनेकी संभावना नहीं है; पर कचेदिलके भाइयोंके लिए मुझे बड़ी चिन्ता है. इस लिए हमें तीव्र वैराग्य धारण करना चाहिए. कोई अपना नहीं है, वैसेही हम भी किसीके नहीं हैं; सारा जगत्, जन्म, मृत्यु, जरा, आधिव्याधि आदि दुःखरूप दोषोंसे परिपूर्ण होनेसे, सारहीन है, बंधनरूप है, और कालके मुखमें है, ऐसा समझ, किसी वस्तुपर प्रीति न कर, केवल प्रभुके चरणोंमें ही प्रीति जोड़कर चलनेवालेको तो सब कल्याणकारी है. इस लिए चलो, सचेत हो जाओ, और अच्युत प्रभुका स्मरण करो जिससे वे कृपालु, हमें सब संकटसे पार उतार सायुज्य पदमें लीन करें!"

संघ चलने लगा. सब पथिक कुछ आगे बढ़े. पर नित्यकी नाईं आज

---

* टीका—यह नया संबोधन है, अबतक सत्साधक साथ चलता था, इससे पथिक था—द्वैत माल्म होता था, अब वह और ये समान हुए हैं—एक हो गये हैं—अद्वितीय हुए हैं, इससे 'बंधु'का संबोधन किया है.

कुछ आनन्दमय नहीं लगता था. जैसे पथिक उदास मन दिखाई देते थे, वैसे उनका मार्ग भी उत्तरोत्तर वनशोभा रहित आने लगा. ज्यों ज्यों वे आगे चले, त्यों त्यों वृक्ष, जलाशय, वनपशु इत्यादि सब सौन्दर्य पीछे ही छोड़ते गये. अब तो निरा उद्ध्वस्त-शून्य अरण्यही आने लगा. रास्ता चलते पथिकोंकी आहारके लिए फल और पीनेके लिए जलकी आशा तक भंग होने लगी. ऐसे निराशारण्यमें* चलते हुए उन्हें अपना मार्ग बहुत लंबा जान पड़ा. बहुतसे सहज ओछे ज्ञानी तो थोड़ेमें ही थकने लगे. चलते चलते बहुत समय बीत गया; मध्याह्न हो गया; भानुतापसे सब अकुलाने लगे; अनेकोंको भूख लगी; अनेक प्यासे हुए और कई एक अश्रद्धालु हो गये. उन्हें सत्साधकने समझाया कि, -"यह अंतिम घाटी उतरते ही हम लोग श्रीअच्युतपुरसे द्वारके समीप जा पहुँचेंगे."† तथापि जिनके पास किसी गुप्तरीतिसे वासनारूपी पोटली थी, वे थक जानेसे मृतकसे हो, थक थक कर बैठने लगे. ऐसा करते कुछ देरमें कुछ भीगीली और हरित तृणांकुरोंसे आच्छादित पृथ्वी आने लगी, तब फिर कुछ धीरज रख आगे चढ़े.

कुछ दूरसे उन्हें मार्गके मध्यमें एक बड़ा जलाशयसा दिखाई दिया‡.

---

* टीका—पूर्ण ज्ञान होनेके बाद ज्ञानीकी स्थितिका यह वर्णन है. यह जो निराशारण्य है वह जगतके सब पदार्थोंके प्रति विराग वृत्ति है. जगतपर विराग प्राप्त हो जानेपर, देहसे जो व्यवहार करता है, वह मात्र एक पुतलेकी तरह करता है. अरण्य यह ज्ञानी होनेके पीछेकी वैराग्यवाली स्थिति है. इसमें जो ताप है वह ब्रह्मप्राप्तिमें होनेवाला विलंब-अधैर्य है; जो क्षुधा है वह परम पदकी सत्वर प्राप्त होनेकी इच्छा है और जो अश्रद्धा है वह जगतके मिथ्यात्व संबंधी संशय है.

† टीका—सत्साधकने जो पिछली घाटी कही है, वह जीवको मरण समयकी घाटी है. जीवनभर आत्म तत्ववेत्ता रहनेपर भी—प्रभु भक्तिमें तत्पर रहनेपर भी—अंतकालमें वासनाका अंकुर अकस्मात फूट निकलता है, जिससे फिर जन्म मरणके फेरेमें पड़ना पड़ता है; इससे यह समय सबसे अधिक सावधानी करनेका है. भरतादि इस घाटीमें फँस गये थे, इस लिए इस घाटीमें बहुत सावधान रहना चाहिए. अंतकालमें जैसी मति तैसी गति, ऐसा भी कहा है.

‡ टीका—ज्ञानीकी अंतकालीन स्थितिमें, अनेक ज्ञातियोंको सत्वोंके दर्शन होते हैं, उस मोहमें भी अनेक पथिक फँस कर पीछे गिरते हैं, इसलिए जीवको ठेठ तक स्वस्वरूपमें निमग्न रह, स्मरण रख, विश्वमें—चाहे वह यह लोक हो या दूसरा उच्च लोक—देवलोक—वैकुण्ठ—कैलास हो, वहाँ भी वासनासे अलिप्त रहना चाहिए.

जलकी लालसासे अत्यंत आनन्दित होकर पथिक जब शीघ्रतासे वहाँ पहुँचे तो वह एक बड़े विस्तारवाली और पूर्वसे पश्चिमको बहनेवाली नदी थी. उसकी लम्बाईका तो पारही न था, पर चौड़ाई भी इतनी बड़ी थी कि, सम्मुखका किनारा दृष्टि मर्यादा तक दिखाई नहीं देता था. इस नदीमें जल गंभीर या जोरसे प्रवाहित होनेवाला नहीं था, पर उसके ऊपर रंगबिरंगे कमलपुष्प खिल रहे थे; एवम् जलमें होनेवाली अनेक सुन्दर लताएँ भीतर रही थीं. यह सब देख प्रसन्न हुए और जलमें जा पड़नेकी तैयारी किये हुए पथिकोंको किनारे परही रोककर महात्मा सत्साधकने सचेत किया कि; "प्यारे भाइयो! तुम सब निराशारण्यमें चलकर बहुत हैरान तथा श्रमित हो गये हो, यह मैं जानता हूँ; पर उससे अब कोई शीघ्रता करनेकी ज़रूरत नहीं है. क्योंकि यह महाविस्तृत सरिता पारकर हमें उस ओरही जाना शेष है. उस–ओर अत्यंत सुखपूर्ण मार्ग है. पर यह सरिता पार करना बहुत कठिन है.* ऐसा जान पड़ता है कि जगत्पुरसे यहाँ तक आये हुए पथिकोंके सत्वकी संपूर्णतः परीक्षा करनेके लिएही मानो यह सरिता मार्गमें निर्मित हुई है. क्योंकि इसमें जल ज्यादा गहरा न होनेसे नाव नहीं तिर सकती; एवम् अज्ञानियोंसे पैदल चलकर भीतर पैठा भी नहीं जा सकता, क्योंकि भीतर चिकना अपार कादव होनेके सिवा, मगरादि जलचर प्राणियोंका भी बहुत भय है. तुम सब प्यासे हुए हो सही, पर यह जल पीने योग्य नहीं है. इसलिए तटपरसेही सावधानीपूर्वक चले आवो. यहाँ अधिक विलंब होना ठीक नहीं। मैं आगे जाता हूँ और तुम सब एक एककर इस तरह मेरे पीछे चले आओ कि जिससे गिरो नहीं† क्योंकि यह छोटा, जलपूर्ण मात्र एकही मार्ग उस ओर जानेके लिए है; उसपर होकर दो मनुष्य भी साथमें नहीं चल सकते, ऐसा संकीर्ण होनेसे मैं तुम्हें एक एक कर श्रेणीमें चलनेको कहता हूँ. फिर

---

* टीका—यह सरिता अंतकी वासना जानो. किसी भी पदार्थ पर दृढ भावना ही वासना है. अंतकी वासना, मनमें ऐसी इच्छा होना कि, 'मैं ब्रह्मको पाऊँगा,' 'मैं ज्ञानी हूँ इसीसे इस अवस्थाको पाया हूँ' इत्यादि. इसमें 'मैं' वासनाका जबतक लय नहीं होता, तबतक यह चाहे जैसी उपासना और चाहे जैसे तत्त्वज्ञानका नाश करती है. यह अंतिम घाटी दुःसाध्य है. यह साध्य होनेसे मोक्ष होता है—परब्रह्म मंदिरमें प्रवेश हो सकता है.

† टीका—अर्थात् मैंपनका अभिमान त्याग ब्रह्ममय बनो.

यह मार्ग निरंतर जलसे ढका* रहनेके कारण, दोनों ओर सेवार—मायासे परिपूर्ण रहता है, और इस लिए यदि चलनेवाला जरा भी प्रमादीया अचेत होकर इधर उधर देखता है, तो तुरंत उससे फिसलकर जलमें जा पड़ता है, और कुछ समय तक फिर मार्गपर नहीं आ सकता. इसलिए भलीभाँति सचेत होकर मेरे पीछे चले आओ." ऐसा कहा वह जलस्थित मार्गपर आ खड़ा हुआ. उसके इतनी चेतावनी देनेपर भी, भूख, प्यास† और तापादि परिश्रमसे व्याकुल पथिक, जल पीनेके मिषसे नदीमें उतरने लगे. जो पथिक परम श्रद्धालु, और सद्गुरु महात्मा सत्साधकके प्रतिपूर्ण भक्त थे वे तो उसके आज्ञानुसार उसीप्रकार श्रेणीबद्धसे हो मार्गपर जा खड़े हुए; पर जो श्रद्धालु होनेपर भी पूर्ण विरागी नहीं हुए थे, वे अपना ताप शान्त करने, क्षुधानिवृत्त्यर्थ और अपने हाथों अपना नाश करनेके लिए, जलमें गिरे ! सत्साधकने बहुतेरा रोका, जोरसे चिल्लाकर उन्हें भीतर न जाकर किनारेसेही निकलकर मार्गपर जानेको कहा, पर वे जलकी सुन्दरता देख ज्यों ज्यों भीतर पैठते गये त्यों त्यों कीचमें फँसते गये; और देखते देखते कोई कमर तक तो कोई छाती तक और कोई गले तक उसमें धँस गये; और ज्यों ज्यों निकलनेका प्रयत्न करते त्यों त्यों अधिक गहरे धँसते गये ! ऐसा देख महात्मा सत्साधकको धर्मसंकट आ पड़ा; क्योंकि यदि सन्मुख डूबे हुओं और धँसे हुओंको बाहर निकाले बिना आगे जाय तो उसपर निर्दयता और स्वार्थपरताका दोष लगे और उन्हें निकालने जावे तो स्वयमृही उस गुप्त कर्दममें धँसकर उनकी तरह नाशको प्राप्त हो ! ! ऐसा होते हुए भी अतिशय दयाके आवेशसे वह महात्मा उन्हें फिर निकल जानेके लिए कहते कहते दयार्द्र हो गया और स्वयम् जलके गुप्त मार्गपर जहाँ खड़ा था, वहाँसे हाथ फैलाकर उन ढँसे हुओंको खींच निकालनेका प्रयत्न करने लगा. जो उसके समीपमें थे,‡

* टीका—जिसे गुह्यागार कहते हैं, उस गुप्त स्थानमें भी वासना रहती है.

† टीका—यहाँ क्षुधातृषा व्यावहारिक नहीं, पर दैवी समझना चाहिए. क्षुधा अर्थात् सर्वेच्छ, तृषा अर्थात् कुछ है या नहीं ऐसा संशय; ताप अर्थात् वासना छूटते समयकी घबराहट.

‡ टीका—पूर्ण श्रद्धालु विरागवान्, ज्ञानसहित भक्तिवाला और वासनासे छूटनेके लिए मंथन करनेवाला.

उन कुछ पथिकोंने उसका हाथ पकड़ लिया और बड़ी खींचातानी बाद बड़े प्रयाससे वे मार्गपर आये* दूसरे अनेक, अधिक हलचल करनेसे उल्टा अधिकाधिक गहरे धँसने लगे.† अहा ! मनका स्वभाव कितना बड़ा उच्छृंखल है ! इतना रोकनेपर भी जिन्होंने नहीं माना, उनकी कैसी दुर्दशा हुई, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले न्यूनाधिक पथिक, जो सिर्फ जलहीको ओर न देख, मार्गस्थ होनेके लिए तैयार खड़े थे, बड़े ही खिन्न हृदयसे सत्साधकसे आगे चलनेकी प्रार्थना करने लगे. पर वह महात्मा ठहर गया, और अधीर स्वभाववाले उन भाइओंसें कहने लगा, "क्षणभर ठहरो ! अच्युत नामका ध्यान करो, तुम्हारे अंगपर जो कुछ भार‡ हो उसे फेंक दो, तुम हल्के हो जावगे तो मैं खींच लेऊँगा." तुरंत उन डूबनेवालोंने वैसाही किया और प्रभु अच्युतकी जयध्वनि करते हुए वह संघ निर्विघ्नतासे चलने लगा; तथा फिर सब पथिक बड़ी सावधानीसे एकही लक्ष रख कर चलने लगे.

नदीका मार्ग बहुतही विलक्षण और भयपूर्ण था. वह जलसे भरा, सँकरा और दोनों बाजू सेवार युक्त होनेसे उस परसे प्रतिक्षण और पद पद पर फिसल पड़ना संभव था. गिरा कि बस हुआ ! उस कुण्डसे बाहर निकल सकता तो ईश्वराधीनही था ! वह ऐसी भयंकर नदी थी कि यदि चलनेवालेने इस वासनारूपी नदी अथवा उसके कमल पुष्पादि मनहर पदार्थों, या जलमें क्रीडा करते विचित्र सुवर्णमय रंगवाले मत्स्यादिकी ओर, जरा भी नजरकी कि अवश्य वह उसमें फिसल पड़े, और उसके कर्दममें धँस जावे. इस लिए महात्मा सत्साधकने उन्हें चलते हुए बारंबार सावधान किया था कि, "इस मार्गपर चलनेवाले पथिकको, अपने मार्ग (ब्रह्म मार्ग) के सिवा दूसरे किसी स्थान पर नज़र नहीं डालनी चाहिए. एकाग्र दृष्टिवाला पथिकही इस दुःखद प्रसंगके उसप्पार जा सकेगा !" यह बात ध्यानमें रख सब पथिक बहुत समय तक तो सचेत रहे, पर इनमेंसे न जाने कब कितने पथिक नदीमें गिरे और अदृश्य हो गये, यह मालूम

* टीका—स्वरूपानुसंधान तो कायम रहा, पर जो वासना थी, वह भोगकर एक जन्ममें छूटा.

† चारमेंसे एककी न्यूनतावाला कुछ काल जगतमें रहकर छूटा.

‡ वासनाके अंकुररूपी जो भार हैं वे.

नहीं हुआ. पर जिन्हें आशा (वासना) नहीं थी, वे निराश (निर्वासनावाले) पथिक, महत् कष्टके बाद उस दुस्तर नदीके उस पार पहुँच गये; और उनके सम्मुख मणि माणिक्यसे जड़ित उज्वल तट दिखाई देने लगा!

ब्रह्मतट—हजारोंमें कोई एकही अंतर्निष्ठ.

नदीका इस तरफका (जगतका दक्षिण किनारा जैसा भीषण और भयंकर था, वैसा सामनेका किनारा सुरम्य और सुखरूप था. किनारे पहुँचते तक सत्साधकने अथवा किसी पथिकने पीछे फिर कर देखा नहीं था. सब अपनी अपनी तानमेंही थे. पर किनारे पहुँच अति दिव्य भूमिपर जब वे सब एकत्र हुए, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि "अहो! यह क्या?" सत्साधक बोला; "इतना बड़ा संघ कि जिसमें करोड़ों पथिक हैं और जिनकी गणना नहीं हो सकती, उसमेंसे अहो! एक–दो–तीन–चार–पाँच–बस! सिर्फ इतनेही तरे! हरे! हरे! आश्चर्य है! जगन्नगरसे निकलते समय अपने संघमें पहले हजारों, लाखों और कोट्यावधि मनुष्य थे; पर उसमेंसे अबतक यह पिछली घाटी उतरनेपर ये पाँचही मैं अपने आगे खड़ा देखता हूँ! यह क्या आश्चर्यमें डालनेवाली बात नहीं है? पर इसके लिए प्रभु अच्युतके स्वयमूही श्रीमुखसे कह रखा है कि:—

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥"

अर्थ—"सहस्रावधि मनुष्योंमेंसे कोई एक मनुष्य मेरी सिद्धि प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करता है; और वैसे हजारों प्रयत्न करनेवालोंमेंसे कोई एक दोही मुझे तत्त्वसे जानता है–प्राप्त कर लेता है."

"परमात्माकी यह वाणी सत्य है. ऐसा जो हुआ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है. उसी तरह अच्युत मार्ग ऐसा सरल नहीं है कि जिस पर असावधान मनुष्य चल सके. जिसके हृदयमें ज्ञान भक्तिपूर्वक अच्युतकी प्यारी भक्तिका निवास है, जिसने सर्वत्याग दिया है–जो तत्त्वके तत्त्वको जानता है–वही पुण्यात्मा प्राणी प्रभु अच्युतकी पूर्ण कृपासे यहाँ तक निर्विघ्न आ सकता है. इस लिए बोलो श्री सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु अच्युतकी जय जय जय!"

लय.

आज—अबतक उस जगत्पुरके पाँच पथिक, परमानंद भूमिपर पहुँच चुके हैं. अब सबको स्वाभाविकही आनंद हो रहा है. सबसे पिछला लय भी पीछे छोड़कर वे यहाँ आये हैं. यहाँ कालपुरुष का तो नाम भी नहीं, पर दूसरा कुछ भी भय उनको नहीं है. सर्वत्र विज्ञानानंद फैल रहा है. देखते हैं तो किसीके पास प्रेमानंद, किसीके पास कैवल्यानंद किसीके पास सच्चिदानंद रम रहा है! वहाँ अनेक अद्भुत चमत्कार मालूम होते हैं; अनेक दिव्य यान तथा दिव्य लोक उनके सम्मुखसे होकर जाते आते दिखाई देते हैं. अनेक दिव्य प्राणियोंका उन्हें समागम होता है. उनका भी शरीर दिव्यता प्राप्त करनेसे उनकी दृष्टि दिव्य होगई है. अच्युत प्रभु कैसे होंगे, अच्युत नगर कैसा अद्भुत होगा, वहाँ बसनेवाले अच्युत प्रियजन कैसे होंगे, उनका पारस्परिक ऐक्य कैसा, और प्रेम कैसा होगा, तथा वहाँ परमानंद प्रभु अच्युत सब पर कैसी कृपालुता और स्वात्मभावना दर्शाते होंगे, वह कुतूहल मिट गया है! अब उस कृपालुसे कब जा मिलेंगे, ऐसी उत्कंठामें वे तल्लीन हो कर आगे बढ़ते हैं.

इतनेमें अति विचित्र प्रकाश जो सती अच्युत व्रताने वर्णन किया था, समीप आया. वहाँ इन पथिकोंका अपना कारण—देहाभिमान गल गया और वे स्वयं प्रकाशरूप हो गये. उसीमें अच्युत पुरकी लीला देखने लगे. दूसरे सब दिव्य मंदिरोंमें सबसे श्रेष्ठ अच्युतके शिखरवाला दिव्य मणिमय प्रभु अच्युतका निज मंदिर, अच्युतके प्रेमी सेवकोंको अपने विचित्र तेज-द्वारा आदर देता था. अच्युतपुरके द्वारके समीप पहुँचतेही पहले तो अनेक दिव्य वाजों और दिव्य सामग्री सहित अच्युत सेवक उन्हें लेनेको आदरसे आगे आये; और बड़े सत्कारसे सत्साधकादि पथिकोंसे भेटकी. परस्पर महत्प्रेम सह जयध्वनि कर अगवान उन्हें लेकर पीछे फिरे. सब पथिकोंने पुण्यरूप मंदिरके दिव्यासनपर विराजकर अच्युतमें ज्योंही अंतः-प्रवेश किया, कि तत्काल दिव्य होकर सब पथिक उस ब्रह्मस्वरूपमें लय वा गये! अहोभाग्य! महाभाग्य!! धन्यभाग!!!

उपसंहार.

पुरप्रवेश और निजमंदिरतकका सारा वृत्तान्त, वरेप्सु आदि विमान-वासी इस तरह अवलोकन कर सके, पर निजमंदिरके भीतरके महत्प्रका-

शमें उनकी गति नहीं चली. सत्साधकादि पथिकोंको प्रकाशमें प्रकाशरूप हुए देख आगे, वे कहाँ गये, यह उनको दिखाई नहीं दिया. महाराजा वरेप्सुने एकबार अनुभव किया था, वे भी इस समय सबके साथ विक्षिप्त चित्तसे आगेका दृश्य नहीं देख सके. उन्होंने सब महात्माजनोंके सहित, सद्गुरु देव ऋषिपुत्र वामदेवजीसे प्रार्थनाकी, तब बटुक वामदेवजीने कहा "पुण्यजनो! अधिकार बिना वस्तु कहाँसे प्राप्त हो? सब वासनासे मुक्त और अभेद अनुभवी होने अच्युतपरायणांतःकरणवाला होनेसे उस पथिक समाजने तो परमपदको पाया है! जिसकी यह दशा, वही मुक्त दशा! यही सायुज्यमुक्ति! उनकी परम भक्ति, और अच्युतप्रात्यर्थ सहन किये हुए अपार परिश्रमसे—आत्मशोधनसे क्या तुम अनभिज्ञ हो? अपनी निष्काम भक्तिके लिए तो वे धन्य धन्य हैं!" तब सब पुण्यात्मा साथ बोले; "कृपानाथ! उनका परिश्रम यथार्थ है! हम लोग भी आपके कृपाप्रसादसे, अब अच्युत पदके सिवा दूसरी आशा या कामनावाले नहीं हैं. आपने जबसे अग्निस्नान कराया, तबसेही हम अच्युतपुरकी आशासे समस्त आशा—देहाभिमान—वासना—त्यागकर, देह प्राणादिकको भी तुच्छ समझ, जब आपके सन्मुख आये हैं, तो अब हमें दुराशा—कुवासना—या सुवासना क्योंकर बाधा करेंगी? आप तरण तारण हो, इस लिए तारो! तारो! पार उतारो! आप हमारी नौका हो, इस लिए हमें तारो!" ऐसा बोलते ही सब पुण्यात्माजीव—जो सब साधन संपन्न थे गुणातीत, समदर्शी, बंधन मुक्त होगये! वे अशरीरी मालूम होने लगे; प्रियाप्रियका भाव भी दूर हो गया; अभिमान ग्रंथि छूट गई वे अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम हो गये! निस्संगी, निरर्गल (स्वतंत्र) हो गये और स्वस्वरूपके सहजानंदमें विचरण करने लगे.

ऐसी स्थिति पूर्ण होते ही विमानवासियोंमें अति कौतुक हुआ. सब विमानवासी अशरीरी अवस्थामें थे, और सब कारणसे रहित थे, ऐसेमें ही विमान एकाएक लोप होगया, और सभी मानों नभमंडलमें तारागणोंकी भाँति अपनेको अधर देखने लगे. ज्ञानसे सब विभ्रांतके समान मालूम हुए. यहाँ सब भयहीन थे. परंतु विमानकी यह गति होते ही सबकी स्थिति भयरहित वासनारहित हो गई. तत्काल सब एक स्वरूप मालूम होने लगे. न राजा वरेप्सु, न गुरु वामदेव और न पुण्यसमाज! सर्वत्र वासुदेवमय ही

मालूम हुआ ! सब अद्वैत स्वरूप हो जाते ही, दशों दिशाओंमें एक दिव्य प्रकाश व्याप रहा. और उसमें वे कहाँ समा गये, यह मालूम नहीं हुआ !

कवियोंके दिव्य नेत्र होते हैं, ज्ञानियोंके भी दिव्य नेत्र होते हैं. उनकी गति सर्वत्र है. यद्यपि हम कवि नहीं, ज्ञानी नहीं, पर हमें कोई दिव्य नेत्रोंद्वारा दिखलाता है कि, जो पुण्यसमाज समागया, उनमेंसे प्रत्येकको दिव्य देहकी प्राप्ति हुई थी. उनमें देखा तो अगणित सुमधुर दिव्यबाजोंका शब्द करते अच्युत सेवक उनके आदरार्थ आगे आये हैं. जो कभी नहीं देखे ऐसे विचित्र दिव्य देहधारी प्रभु अच्युतके समानही दिखनेवाले पार्षदोंको देखकर सब पुण्यात्मा उत्कट प्रेमोत्साहसे जा मिले ! और उनके साथ एकताका अनुभव करने लगे ! * तत्काल यह समाज पुरप्रवेश कर परम रमणीय मूर्ति प्रभुके निजधामके पास गया और सर्वेश्वर, सर्व समर्थ, सर्वकाम प्रभु अच्युतसे भेट कर सदा सर्वदाके लिए कृतार्थ हुआ ! तदाकार ही बनगया ! कृपा, करुणा, सुख, सामर्थ्य और प्रेमादिके पूर्ण समुद्र प्रभु अच्युतने अपने प्रत्येक भक्तको, अपार प्रेमसे, निज हृदयके साथ लगा लिया; और अपने समान अभय कर अपने धाममें निवास कराया.

वहाँ सर्वत्र चिदानंदमय प्रकाश व्याप रहा है । सब एक स्वरूप अद्वितीय जान पड़ते हैं । वहाँ चंद्र नहीं, सूर्य नहीं, देव नहीं, दानव नहीं, मानव नहीं, वहाँ पिता नहीं, माता नहीं, स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, धन नहीं, वहाँ काम नहीं, क्रोध नहीं, भेद नहीं, वहाँ ब्राह्मण नहीं, चाण्डाल नहीं, पुण्य नहीं,

---

* टीका—प्रभुकी शरणमें होनेके तीन भेद मैं प्रभुका हूँ । प्रभु मेरे हैं, और हम दोनों एकही हैं, अर्थात् मैं वही हूँ । प्रथम शरण यद्यपि मृदु है, तो भी इसमें भेदबुद्धि रहती है, जो नहीं होना चाहिए; तथापि यह शरण भी श्रेष्ठताको पहुँचाती है । इसमें जीवकी वृत्ति श्रेष्ठ है, और वह परमात्माको महद्भावसे देखता है, वह प्रार्थना करता है कि, " हे नाथ ! आपके बीच भेद है, तथापि मैं तुम्हाराही हूँ । तुम मेरे हो ऐसा नहीं । जैसे तरंग समुद्रका है, पर समुद्र कुछ तरंगका नहीं । " दूसरा भेद मध्यम है । गोपियोंने ऐसा माना कि, कृष्ण हमारे हैं, इससे वे कहती हैं कि, " हेकृष्ण ! हाथ खींच बलकर तुम जाते रहे, इसमें कुछ विचित्रता नहीं है । हमारे इस हृदयमें जाओ तब तुम्हारा पराक्रम है ! " तीसरी शरण श्रेष्ठ है । उसमें सब वासुदेवमय है, यही एक परम पुरुष ईश्वर है, ऐसा अनन्य हृदय हो जानेपर उसी स्वरूपमें विलास करना सर्वोत्तम है । यहाँ अवधि शरण है, तथापि दूसरी दो गौणका प्रथम संग रखा है । गीता १८ अध्यायके ६५–६६ श्लोकमें जो शरण दर्शायी है उसमें जो अवधिभेद है, वही यह है ।

देखनेवाला नहीं, देखने योग्य नहीं, वहाँ ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं, श्वेत नहीं, रक्त नहीं, पीत नहीं, श्याम नहीं, किसी प्रकारका रंग नहीं; वहाँ द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप नहीं है—इस प्रकारकी अनंत अभिन्नता व्याप रही है! वहाँ सब अविनाशी हैं! अपनेसे अन्य कुछ भी नहीं, कि अपनेसे अन्य कुछ भी देखें ! एकही अद्वितीय—ब्रह्म—परमात्मा—प्रेम.! वहाँ जो है वह कोई जानता नहीं हैं । वहाँ चक्षुकी गति नहीं, वाणीकी गति नहीं । वहाँ क्या है, मनकीभी गति नहीं। वह हम नहीं जानते; जानते भी हों तोभी उसे बतावें कैसे, यह भीन हीं जानते । जिसने जाना है, उसने जनाया नहीं—जो जानता है वही जानता है फिर जिसने जान लिया है, वह कह नहीं सकता, और जो कह सकता है, उसने जाना नहीं है। जो जानता है, उससे वह दूसरा है, एवम् जो जानता नहीं, उससे वह अधिक है! पर जो जानता है वह तो जानता है। हम कहते हैं कि, यह वही है! यह वही है ! और पुनः कहते हैं कि यह वह नहीं हैं ! यह वह नहीं है ! सर्वेश्वर ! सर्वात्मा ! भक्तवत्सल ! प्रेममूर्ति ! सच्चिदानन्द ! जय ! अद्वितीय—आत्मा—परमात्मा—ब्रह्म—परब्रह्म प्रेम ! शान्ति ! जय !

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण जब अपने बड़े भाई बलदेवके साथ कंसके सम्मुख रंगभूमिपर गये, तब भिन्न भिन्न लोगोंने श्रीकृष्णको भिन्न भिन्न रूपमें देखा था. वीरोंने वज्र जैसा देखा था, सत्पुरुषोंने महात्मा जैसा देखा था, मथुराकी नारियोंने मूर्तिमान् कामदेवके रूपमें देखा था, गोपियोंने अपने संबंधीरूपमें देखा था, दुष्ट राजाओंने दण्ड देनेवालेके रूपमें देखा था, मातापिताने बालकरूपमें देखा था, भोजपति कंसने मृत्युरूपमें देखा था, मूर्खोंने शस्त्रसे घायल होनेके कारण बीभत्सरूपमें देखा था, योगियोंने परम तत्त्वरूपमें देखा था और यादवोंने परम देवरूपमें देखा था.